बसंतलाल मुरारका स्मृतिग्रंथ

——:०:——

[भारत में समाज-सुधार आन्दोलन]

प्रकाशक

श्री बसंतलाल मुरारका स्मारक समिति

१५२ बी, महात्मा गांधी रोड,

कलकत्ता-७

वर्ष : १९५७
प्रथम संस्करण : १००० प्रतियाँ
मूल्य : रु० १०)

प्रकाशक :
श्री बसंतलाल मुरारका स्मारक समिति
१५२ बी, महात्मा गाँधी रोड,
कलकत्ता-७

मुद्रक :
शशिभूषण मिश्र
मिश्रा एण्ड कम्पनी
१२, ग्रांट लेन, कलकत्ता-१२



आमुख

भाई बसन्तलालजी न तो समाज-विज्ञानके विद्वान् थे और न राजनीति के, परन्तु सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रोंमें उन्होंने दीर्घ काल तक लगन, दृढ़ता एवं साहस के साथ जो और जितना कार्य किया, उसके लिए इन दोनों क्षेत्रोंमें ही उन्हें अत्यधिक लोक-प्रियता प्राप्त हुई। सामाजिक सुधारोंके क्षेत्रमें तो उनकी कार्येच्छा और कार्य-क्षमता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उनका नाम और समाज-सुधार लगभग समानार्थक शब्द बन गए थे। समाज-सुधारकी कोई बात हो, वे हर क्षण उसके लिए तत्पर रहते थे। बाल-विवाहको रोकने, अनमेल विवाहको बन्द कराने, विधवाओंका पुनर्विवाह सम्पन्न कराने, पर्दा और दहेजके विरुद्ध सत्याग्रह करने, तथा जात-पाँत और साम्प्रदायिकताके घेरेको तोड़ने आदिका कोई काम हो, और किसी वक्त हो, बसन्तलालजी सबसे पहले और सबसे आगे तैयार मिलते थे। वे सामाजिक सुधारका कार्य करनेवाले कार्यकर्ताओंके चौबीस घंटोंके साथी थे। समाज-सुधारके क्षेत्रमें जो गाली-गलौज, लांछना, बहिष्कार और ताड़ना मिलती है (आजकी अपेक्षा पहले यह सब बहुत ज्यादा था), वह सब उन्होंने सहा और झेला, बल्कि यों कहना चाहिए कि उसे निमन्त्रण देकर बुलाया। ऐसे थे बसन्तलालजी। इसलिए जब यह विचार हुआ कि उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाय, तो तुरन्त यह निर्णय हो गया कि ऐसे समाज-सुधारक के अभिनन्दन के लिए समाज-सुधारका एक विवेचनात्मक इतिहास प्रकाशित कर उनको भेंट किया जाय। जो अभिनन्दन-समिति बनी, उसकी ओरसे जब यह विचार लोगोंके सामने आया, तो सभीने उसे पसंद किया। और, ग्रंथकी योजना तैयार की गयी। देशके विभिन्न भागोंसे लेखकों और कार्यकर्ताओंके साथ पत्र-व्यवहार किया गया। सब ओरसे इस विचारका स्वागत हुआ और सहयोगका भरोसा प्राप्त हुआ। इस प्रकार अभिनन्दन-ग्रन्थकी योजना को शीघ्रातिशीघ्र साकार करनेका उद्योग किया गया पर दुर्भाग्यसे ग्रंथ तैयार होनेमें विलम्ब हो गया।

इसी बीच श्री बसंतलालजीका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। उन्हें कैंसरने आक्रांत कर लिया था। जब यह लगने लगा कि ग्रंथ तैयार हो सकेगा, उस समय तक शायद वे न बचें तो ८ अक्टूबर, १९५६ को अभिनन्दन-समारोहका आयोजन कर लिया गया तथा उसमें ग्रंथकी आंशिक पाण्डुलिपि मात्र उनको समर्पित करदी गयी। हाँ, ग्रंथकी योजनाके सम्बन्धमें स्वयं श्री बसन्तलालजी से चर्चा-परामर्श किया गया था। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि ग्रंथका निमित्त चाहे वे हों, पर ग्रंथमें जो सामग्री हो, वह "व्यक्ति" की नहीं, "समाज" की हो। उसमें समाजकी रचना और विकास के मौलिक तत्त्वों से प्रारम्भ करके सामाजिक जीवनके भावी विकास तकके संघर्ष और संगठनकी लम्बी

कहानी हो ताकि उसके द्वारा हम अपने अतीतकी सबलता-दुर्बलताको समझ सकें, अपने पूर्वकालीन समाज-सुधारकोंके कार्योंकी पृष्ठभूमिको पहिचान सकें, उनसे प्रेरणा ले सकें और उनके कार्यमें जो त्रुटियाँ रह गई हों, उनसे बचकर चल सकें। ऐसा भी हो कि आनेवाली पीढ़ियाँ वर्तमानको, जिसके हम सब अंग हैं, देख सकें और साथ ही भावी समाज-व्यवस्थाके आधारों और मूल्योंको भी न केवल जानें, पहिचानें और समझें ही, बल्कि उनको गढ़नेमें योग दे सकें। इस ग्रंथके सम्बन्धमें यही विचार और लक्ष्य रहा है।

जिसकी 'अभिनन्दन-ग्रंथ' के रूपमें परिकल्पना की गई थी, वह काल-गतिसे 'स्मृति-ग्रंथ' के रूपमें निकल रहा है, परन्तु इससे उसमें कोई अन्तर नहीं हुआ। ग्रंथका आधार तो "व्यक्ति" नहीं, "समाज" था और है; "व्यक्ति" तो निमित्त था। निमित्त वर्तमान था तो और अवर्तमान है तो, उसका कार्य तो हो गया। 'व्यक्ति' (श्री बसन्तलालजी) की स्मृतिके निमित्तसे यह ग्रन्थ 'समाजका और समाजके लिये' रूपमें आपके समक्ष प्रस्तुत है। इसके निर्माणमें बहुतोंका बहुत तरहसे सहयोग संकलित है और वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। श्री सत्यदेव विद्यालंकार का सहयोग विशेष उल्लेखनीय है। प्रयत्न किया गया है कि ग्रंथके विभिन्न खंडोंमें हमारे सामाजिक आधारों, विचारों, मूल्यों-मापदण्डों और आन्दोलनोंका यथासंभव पूरा क्रमागत इतिहास आ जाय और वह हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्यका निर्वैयक्तिक दर्शन हो। कई बड़े-बड़े विचारकों, लेखकों और कार्यकर्त्ताओंका सहयोग पाकर भी हम इस प्रयत्नमें कितने सफल हो सके हैं, यह तो पाठक और समीक्षक ही बताएँगे। हमारा खयाल यह जरूर है कि समाज-सुधार के सम्बन्धमें इस प्रकार का कोई ग्रंथ अभी तक शायद प्रकाशित नहीं हुआ है। यदि इस ग्रंथसे उस अभावकी पूर्त्ति हुई तो हम अपने प्रयासको सफल मानेंगे।

यह ग्रंथ समाज-सुधारकी उत्क्रान्तिके इतिहासमें एक कड़ी है। आगे बढ़नेके लिए प्रगति-पथका एक सम्बल और सोपान है, पथका अन्तिम छोर नहीं। समाज सतत विकास-शील है और विकासके क्रममें व्यक्ति और समाज के सम्बन्धोंकी स्थिति मुख्य तौरसे क्रियाशील होती है। इन सम्बन्धोंमें जब किसी कारणसे असंतुलन उत्पन्न हो जाता है, तब समाजमें विकारकी सृष्टि होती है और सुधारकी आवश्यकता और प्रेरणा का प्रादुर्भाव होता है। विकार और सुधारकी यह गतानुगतिकता आजतकके इतिहासपर समाज-वेत्ताओंका दर्शन और निदर्शन है। यह गतानुगतिकता और प्रवहमान विकासशीलता ही स्थायी है। समाज कभी कहीं ठहरा नहीं, ठहरता नहीं और ठहरेगा नहीं; व्यक्ति भी समाजकी इसी गतिशीलताके साथ चलता है और चलनेको बाध्य है। कभी ऐसा व्यक्ति आता है जो एक जीवनसे बहुतोंके जीवनको गढ़कर या धकेलकर या तोड़कर सारे समाजका मार्ग बदल देता है और कभी समाजमें—यहाँके समाजमें, वहाँके समाजमें और सारी दुनियाके समाजमें —ऐसा बवण्डर पैदा हो जाता है (ऐतिहासिक आधारपर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियोंके झंझावातमें) कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति तिनकोंकी तरह उड़ जाते हैं। तभी तो कहा गया है कि इतिहास बड़े-से-बड़े व्यक्तित्व की भी परवाह नहीं करता और आवश्यकता होनेपर उसको कुचलकर फेंक देता है। तो समाजको—बल्कि, कहिए कि समाज और व्यक्तिके सम्बन्धोंपर आधारित सामाजिकता को—देखनेवाला इतिहास जितना सही होता है, उतना व्यक्तिका दर्शन नहीं क्योंकि वह

देश, काल और पात्रकी सीमाओं और उनके कारण उत्पन्न निहित स्वार्थोंकी गण्डीमें बँधा होता है। इतिहास स्वयं निर्जीव है, पर वह कितने सहस्रों वर्षोंके असंख्य जीवनोंके निर्माण और अवसानकी कहानी है! इसलिए उसकी दृष्टिमें सच्ची दार्शनिकता होती है और वह दार्शनिकता ही समाजको सच्चा मार्ग-दर्शन देती है। इस दृष्टिसे समाज-सुधार की कहानी व्यक्ति और समाजके पारस्परिक सम्बन्धोंके संतुलनकी कहानी है। कभी व्यक्तिपर जोर देनेकी स्थिति आती है और कभी समाजपर जोर देनेकी। कभी व्यक्ति दब जाता है और उसे बचानेके लिए सामाजिकताके बंधन काँटने-छाँटने पड़ते हैं; और कभी व्यक्ति उच्छृंखल और स्वार्थाभिभूत होकर समाजमें शोषण और वैषम्य फैलाने लगता है, तब उसे योजनापूर्वक नियंत्रणमें रखना पड़ता है। इस संतुलनके प्रयासको ही व्यापक अर्थमें समाज-सुधार कहना चाहिए——राजनीतिक भाषामें समाजवाद। आज विज्ञानने भौगोलिक दीवारें तोड़कर सारे विश्वको काल और स्थानकी दृष्टिसे इतना सन्निकट ला दिया है कि समाज और सामाजिकता सारे विश्वमें एक-रूप, एक-हृदय हो रहे हैं। मानवताको यह एक नया वरदान मिला है, जो सामाजिक विकासकी दिशामें सहस्रों वर्षों के संघर्ष और सहयोगाधारित प्रयत्नोंका सार-फल है। प्रस्तुत ग्रन्थकी योजनाके पीछे विचारोंकी यही पृष्ठभूमि रही है और नये समाजकी रचनाका यही दिशा-संकेत दिया गया है।

अन्तमें इतना ही और कहना है कि ग्रन्थमें जो-कुछ अच्छा बना है, उसका श्रेय उन लेखकों और कार्यकर्ताओंको है, जिनके सहयोग और सहायताके बिना यह प्रयास सम्भव न होता और जो कुछ त्रुटि रह गयी है, उसके लिए मैं उत्तरदायी हूँ। निर्धारित पृष्ठ-संख्यासे कुछ पृष्ठ अधिक कर देनेपर भी मंगाए-आये हुए सारे लेख ग्रंथमें नहीं दिये जा सके। इसके लिये हम उन लेखकोंसे क्षमा-प्रार्थी हैं, जिनके लेख सम्मिलित नहीं किये जा सके।

आज स्व० बसन्तलालजीकी प्रथम निधन-तिथिके अवसरपर श्रद्धा और सम्मानके साथ,

भँवरमल सिंघी
सम्पादक

कलकत्ता,
१० अक्टूबर सन् १९५७

-::००:

श्री बसंतलाल मुरारका स्मारक समिति*

अध्यक्ष :

श्री प्रफुल्लचन्द्र सेन,

खाद्यमंत्री, पश्चिम बंगाल

मंत्री :

श्री भंवरमल सिंघी

,, भालचन्द्र शर्मा

सदस्य :

डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

अध्यक्ष, विधान परिषद्, पश्चिम बंगाल

श्री शैलकुमार मुखर्जी

अध्यक्ष, विधान सभा, पश्चिम बंगाल

" अतुल्य घोष

अध्यक्ष, प०बं० प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी

" मूलचन्द्र अग्रवाल (स्वर्गीय)

संचालक, 'विश्वमित्र'

" ईश्वरदास जालान

स्वायत्त-शासन मंत्री, पश्चिम बंगाल

" भागीरथ कानोड़िया

" सीताराम सेकसरिया

" प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका

एम० पी०

" रामदेव चोखानी

" तुलसीराम सरावगी (स्वर्गीय)

" गोविन्दप्रसाद कानोड़िया

" रामेश्वरलाल टांटिया

एम० पी०

" मंगतूराम जयपुरिया

" विजयसिंह नाहर

प्रधान मंत्री, प० बं० प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी

" रामेश्वरलाल नोपानी

" रघुनाथप्रसाद सिंहानिया

श्री दामोदरदास खन्ना

" बजरंगलाल लाठ

" कृष्णचन्द्र अग्रवाल

" आनन्दीलाल पोद्दार

एम० एल० ए०

" हरदत्तराय सुगला

" रघुनाथप्रसाद खेतान

" कृष्णदयाल जालान (स्वर्गीय)

" सत्यनारायण मिश्र

" रामलगनसिंह

एम० एल० ए०

" रामकुमार भुवालका

एम० एल० सी०

" वेणीशंकर शर्मा

" नन्दकिशोर जालान

" काशीप्रसाद मोदी

" धर्मचन्द सरावगी

" पन्नालाल गुजराती

" विजयसिंह कोठारी

" बहादुरसिंह

" इन्द्रचन्द्र संचेती

" रामशंकर उपाध्याय

" मूलचन्द सेवक

---

*आरंभमें इस समितिका गठन श्री बसंतलाल मुरारका अभिनन्दन समितिके नाम से किया गया था ; श्री मुरारकाजीके निधनके बाद नाम बदल दिया गया ।

अर्थ-सहायक

२५००)	श्री ब्रिजमोहन बिड़ला
१०००)	" भागीरथ कानोड़िया
५००)	" रामकुमार भुवालका
५००)	" मंगतूराम जैपुरिया
५००)	" राधाकृष्ण कानोड़िया
५००)	" रामकुमार केजडीवाल
५००)	" नन्दलाल जालान
५००)	" केशरदेव झुंझनूंवाला
५००)	" रामेश्वरलाल नोपानी
५००)	" प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका
५००)	" रामेश्वरलाल टांटिया
५००)	" रघुनाथप्रसाद खेतान
५००)	" आनन्दीलाल पोद्दार
२५०)	" सीताराम सेकसरिया
२५०)	" भगवतीप्रसाद खेतान
२५०)	" मूलचन्द्र अग्रवाल
२५०)	" गोविन्दप्रसाद कानोड़िया
२५०)	" वेणीशंकर शर्मा
रु० १०२५०)	

अनुक्रमणिका

प्रथम-खण्ड

जीवन-वृत्त एवं संस्मरण

द्वितीय खण्ड

समाज के मौलिक तत्त्व

तृतीय खण्ड

भारतीय समाज पर बाह्य प्रभाव

चतुर्थ खण्ड

सामाजिक समस्याएँ और सुधार-आन्दोलन

पंचम खण्ड

महिला-जागृति

षष्ठ खण्ड

कुछ विशिष्ट समाज-सुधारक

सप्तम खण्ड

प्रान्तीय सुधार-आन्दोलन

अष्टम खण्ड

नये समाज की ओर

समाजको बदल डालो !

प्रथम खण्ड

जीवन-वृत्त एवं संस्मरण

जीवन-वृत्त

एक सामान्य परिवारमें जन्म लेकर और सीमित साधनोंमें रहते हुए भी मनुष्य अपने अध्यवसाय, बुद्धि, लगन और दृढ़ संकल्पके बलपर किस प्रकार उन्नति कर सकता है, श्री बसंतलाल मुरारकाका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है । उनका जन्म जयपुर राज्यके मुकुन्दगढ़ नामक स्थानमें शिवरात्रिके दिन फरवरी १८९३ ई० में हुआ था । उनके घरकी स्थिति साधारण थी और साधन बहुत सीमित । बाल्यावस्थामें उनका लालन-पालन उसी स्थितिके अनुसार हुआ ।

शिक्षा

जब उनकी आयु शिक्षा प्राप्त करने योग्य हुई, तब उन्हें एक स्थानीय पाठशालामें विद्याध्ययनके लिए भेजा गया । उस पाठशालाके गुरु थे श्री सेढमलजी जो अपनी अनुशासनप्रियता, कठोरता और विद्यार्थियोंके प्रति निर्दय व्यवहारके लिए प्रसिद्ध थे । शायद उस समय यही समझा जाता था कि विद्यार्थियोंको डाट-डपटकर ही पढ़ाना चाहिए । बसंतलालजीका विद्यारम्भ उसी पाठशाला में हुआ । वहाँ विशेष रूपसे महाजनी ढंगकी शिक्षा दी जाती थी जिसमें हिसाब-किताबपर अधिक जोर दिया जाता था ।

कुछ समय इस विद्यालयमें बितानेके बाद एक दूसरे विद्यालयमें उनको भरती कराया गया । उस विद्यालयमें हिन्दी, उर्दू और अँग्रेज़ीकी शिक्षा भी दी जाती थी । इस प्रकार शिक्षाके दूसरे सोपानमें पहुँचकर बसन्तलालजीको आधुनिकताकी हवाके एक हल्केसे झोंकेका अनुभव हुआ । परन्तु उससे उन्हें कोई विशेष प्रेरणा मिली हो, ऐसी बात नहीं थी । केवल अंग्रेज़ी पढ़ने और शिक्षाके पुराने ढंगसे कुछ भिन्न ढंगकी पढ़ाईका अनुभव हुआ । यह क्रम लगभग तीन वर्ष तक चला । इसके बाद उनके पिता श्री रामदेवजी उन्हें कलकत्ता ले आये ।

कलकत्ता आकर उनकी शिक्षा-दीक्षाका अधिक अच्छा प्रबंध हुआ । उस समय स्थानीय विशुद्धानन्द विद्यालय मारवाड़ी समाजमें सबसे अधिक उत्तम शिक्षालय माना जाता था । श्री रामदेवजीने बसन्तलालजीको उसी विद्यालयमें भरती करा दिया । यहाँ बसन्तलालजीकी प्रतिभाकी थोड़ी झलक दिखलायी पड़ी । विद्यालयकी ओरसे उन्हें कई पुरस्कार भी मिले । यह सब होते हुए भी उनका शिक्षा-क्रम अधिक समय तक न चल सका ।



दम्पत्ति



बाँयीसे दाहिनी ओर—(कुर्सीपर बैठे हुए) श्रीमती भागीरथी जालान (पुत्री), श्रीमती रमादेवी मुरारका (पत्नी), श्री बसंतलालजी मुरारका, श्री पुरुषोत्तमदास जालान (जामाता)

" (पीछे खड़े हुए) श्री मदनमोहन मुरारका (द्वितीय पुत्र), श्रीमती सुशीला मुरारका (श्री मदनमोहन की पत्नी), श्री श्यामाप्रसाद मुरारका (तृतीय पुत्र), श्री भागीरथ मुरारका (ज्येष्ठ पुत्र), श्री राजेन्द्रप्रसाद मुरारका (चतुर्थ पुत्र)

" (सामने बैठे हुए) कुमारी नीरजा जालान (दौहित्री), बेबी मुरारका (पौत्री), प्रवीनकुमार (पौत्र), ईवा (पौत्री), मुन्ना (पौत्र), कुमारी वंदना (छोटी पुत्री)

विवाह

उस समयकी प्रचलित विवाह-प्रथाके अनुसार उनका विवाह छोटी उम्रमें ही कर दिया गया। विवाह होनेके बाद उनका शिक्षा-क्रम समाप्त हो गया। हाँ, निजी तौरसे कुछ-कुछ स्वाध्याय वे बाद में भी करते रहे। इस प्रकार शिक्षा तो बहुत नहीं हो सकी, पर उनमें बुद्धि, विवेक और सूझ-बूझ अच्छी थी और आगे चलकर जो सफलताएँ उन्हें मिलीं, वे सब इन्हीं गुणोंके फलस्वरूप मिलीं।

उनकी प्रथम धर्मपत्नीका शरीरान्त थोड़े ही समय बाद हो गया। इसके बाद उनका दूसरा विवाह १९१६ ई० में फतेहपुर निवासी श्री केदारनाथ गोएनकाकी कन्या रमादेवीके साथ हुआ। इस बार उन्हें ऐसी धर्मपत्नी मिलीं, जो सच्चे अर्थमें सहधर्मिणी निकलीं। रमादेवीजीने बसन्तलालजीके सभी समाज-सुधार सम्बन्धी कार्योंमें पूरा साथ दिया। घर और बाहरके वाग्वाण सहे, महिलाओंके बीच अपमान उठाये, सार्वजनिक रूपसे भद्दी-भद्दी गालियाँ तक सुनीं। सारांश यह कि पथसे विचलित करनेवाले कठिनसे कठिन प्रसंग उनके सामने आये परन्तु उनका दृढ़ संकल्प उनके पतिके संकल्पकी भाँति ही अटल-अचल रहा और वे कभी अपने मार्गसे विचलित नहीं हुईं।

रमादेवीजीसे ही बसन्तलालजी के वर्तमान पुत्र-पुत्रियाँ हैं।

अर्थार्जन

शिक्षाका क्रम टूट जानेके बाद बसन्तलालजी अर्थार्जनके प्रयत्नमें लगे। उन्होंने दुबराजपुर जाकर कपड़ेकी दूकान की। यद्यपि इस कार्यमें उन्होंने यथेष्ट परिश्रम किया और अनेक कठिनाइयाँ उठा कर भी काममें जुटे रहे तथापि उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। शायद भविष्य उन्हें दूसरी ओर खींच रहा था। दुबराजपुरके कामसे उन्हें केवल इतना ही लाभ हुआ कि व्यापार सम्बन्धी कुछ ज्ञान प्राप्त हो गया।

दुबराजपुरसे वे फिर कलकत्ता आये और यहाँ आकर गल्लेकी दलाली करने लगे। दुबराजपुरके किञ्चित् अनुभवके कारण इस काममें कुछ दिन तक टिके रहे परन्तु अंतमें यह काम भी उन्हें छोड़ना पड़ा। तब सन् १९१३ में उन्होंने बिड़ला-बन्धुओंके यहाँ रु० ३०) मासिक वेतनपर नौकरी करली। एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति इस प्रकारकी नौकरीसे कितने दिन संतोष करता? अंतमें अवसर पाकर उन्होंने नौकरी छोड़दी और श्री घनश्यामदास लोयलकाके प्रतिष्ठानमें उनका शेयर संबंधी काम सँभालने लगे। यहाँ आकर उन्हें सफलता मिली।

बसंतलालजी बड़े सरल स्वभावके मिलनसार व्यक्ति थे। जहाँ-जहाँ रहे, वहाँ सब जगह मिलनेवालों से अच्छे संबंध स्थापित किये। इस प्रकार लोयलकाजीके यहाँ रहने तक उनके संबंध शेयर बाजारमें तो अच्छे हो ही गये थे, सार्वजनिक कार्योंमें रुचि रखने और सेवा करनेके कारण बाहर भी उनकी बड़ी ख्याति हुई। मारवाड़ी समाजमें तो वे बहुत लोकप्रिय हो ही गये थे।

इसीलिये जब उन्होंने अंतमें लोयलकाजीके यहाँसे पृथक होकर शेयर बाजारमें मुरारका कम्पनीके नामसे अपना कार्य शुरू किया, तब उन्हें अच्छी सफलता मिली। इस व्यापारमें उन्होंने धन भी कमाया।

व्यक्तिगत जीवन

अपने व्यक्तिगत जीवनमें बसन्तलालजी बड़े सरल, मृदु, उदार और सेवापरायण थे। सार्वजनिक रूपसे वे जो सेवा-कार्य करते थे, वह तो करते ही थे, व्यक्तिगत रूपसे भी वे लोगोंका बड़ा उपकार करते थे। उनकी ख्यातिके कारण उनके पास आनेवाले व्यक्तियों की कमी न रहती थी और जो आता, उसके लिए अपनी शक्ति भर सहायता करनेकी वे सदा चेष्टा करते थे। आये हुए व्यक्तियोंके काम सदा हो ही जाते थे, ऐसा न था परन्तु यह भी न होता था कि जो कुछ प्रयत्न बसंतलालजीके लिए सम्भव हो, उसमें वे कोई कोर-कसर रखें। इस प्रकार सैंकड़ों आदमियोंके काम उन्होंने किये होंगे।

अपने परिवारमें उनका बरताव सबके साथ समानताका होता था। जिन बातों को वे सभा-मंचसे कहते थे, जिन्हें करनेका दूसरोंको उपदेश देते थे, उनका अपने-आप भी पालन करते थे। जिन्होंने उनके घरके वातावरणको देखा है, वे जानते हैं कि उन्होंने पत्नीकी तो बात ही छोड़ दीजिये, अपने पुत्रों, पुत्रियों, बहुओं सबको कितनी स्वतंत्रता दे रखी थी। उनके घरमें पुत्र और पुत्रीके साथ किये जानेवाले व्यवहारमें अथवा बहुओं और बेटियोंके साथ किये जानेवाले व्यवहारमें कोई भेद न था। वे कड़ा रुख रखकर कभी किसीसे बोले हों, ऐसा प्रसंग तो शायद कभी आया ही न होगा।

उनके रहन-सहन, पहनावे-ओढ़ावे, घरके साज-सामान सबमें सादगी प्रमुख थी। सादगी उनका स्वभाव था। बातचीतमें भी सादगी की ही छाप रहती थी।

सामाजिक सेवाएँ

यह तो स्वाभाविक ही होता है कि आदमी अपनी स्थिति सुधारनेका, आर्थिक अवस्था सुधारनेका प्रयत्न करता है। इसीके अनुसार बसंतलालजीने व्यापार-व्यवसायमें लग कर अर्थोपार्जन का प्रयत्न किया था; परन्तु जिसके मनमें सेवाकी भावना होती है या कोई अन्य प्रकारकी लगन होती है, वह अधिक दिनों तक परिवार और घरकी चहार-दीवारीमें ही बन्द रहना पसन्द नहीं करता। वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सपना देखता है और अपने सामनेके सम्पूर्ण समाजकी सेवाके लिए अग्रसर होता है। बसंतलालजीमें भी कुछ ऐसी ही महत्वाकांक्षाएँ थीं। अतः वे अपना गार्हस्थिक कर्त्तव्य पालन करते हुए सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमें अग्रसर हुए।

उस समयका समाज प्राचीन परम्पराओं और जर्जर रूढ़ियोंसे बुरी तरह ग्रस्त था। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, परदा, मृतक बिरादरी-भोज, समुद्र-यात्राका निषेध, स्त्रियोंके प्रति दुर्व्यवहार, जबर्दस्ती लादा हुआ वैधव्य और दूसरी न जाने कितनी बुराइयाँ समाजमें प्रचलित थीं। बसन्तलालजीका ध्यान इन सबकी ओर गया। इन कुप्रथाओंको वे समाजोन्नतिमें बाधक मानते थे। अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि इस संबंधमें सुधार-कार्य करना चाहिए। सौभाग्यसे इस कार्यमें उन्हें साथी और नेता भी बड़े अच्छे मिले थे। सबको लेकर बसंतलालजीने समाज-सुधारका बीड़ा उठाया।

मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशन

उन्होंने सबसे पहले यह प्रयत्न किया कि उस समय समाजमें जो प्रभावशाली व्यक्ति थे, उनके द्वारा समाज-सुधारका कार्य किया जाय, परन्तु वे सब व्यक्ति पक्के रूढ़िवादी थे। पुरानी प्रथाओंसे, वे चाहे कितनी ही हानिप्रद और समय-विपरीत क्यों न हों, वे जरा भी

इधर-उधर चलना नहीं चाहते थे। उस समय मारवाड़ी समाजमें मारवाड़ी एसोसियशन एक बड़ी प्रभावशाली संस्था थी। इसके द्वारा समाज-सुधार करवानेकी चेष्टा स्वाभाविक ही थी, परन्तु इस संस्थामें प्राचीन विचारवाले व्यक्तियोंका ही प्रभुत्व रहा। अतः यहाँसे किसी प्रकारकी आशा न थी।

बसंतलालजी तथा उनके अन्य उत्साही साथी नवयुवक समाजको नीचे धकेलनेवाली इस स्थितिको बदलनेके लिए छटपटा रहे थे। इस मित्रमंडलीमें बसंतलालजीके साथ सर्वश्री पद्मराज जैन, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, भागीरथ कानोडिया, सीताराम सेकसरिया, मोतीलाल लाठ, गंगाप्रसाद भोतीका, रामकुमार भुवालका आदि समाजके उत्साही और प्रभावशाली कार्यकर्त्ता थे। इन लोगोंने मिलकर मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशनको जन्म दिया और उसके द्वारा समाज-सेवा सम्बन्धी कार्योंमें जुट गये। मारवाड़ी ट्रेड्स-एसोसिएशनकी ओरसे अनेक कार्य हुए। आगे चलकर मारवाड़ी अग्रवाल महासभा की स्थापनाके बाद और भी अधिक विस्तृत, व्यापक और मज़बूत संस्था हाथ आयी और उसके द्वारा समाज-सुधारके बहुत कार्य हुए।

मारवाड़ी अग्रवाल महासभा श्री जमनालालजी बजाजकी प्रेरणासे स्थापित हुई थी और वह सार्वदेशिक संस्था थी। अतः उसके द्वारा न केवल स्थानीय कार्यकर्ताओंका ही सहयोग मिला, प्रत्युत समस्त देशके कार्यकर्त्ताओं और नेताओंका साथ मिला। इससे कार्यमें आशातीत सफलता मिली।

मारवाड़ी अग्रवाल महासभा, जो आगे चलकर केवल अग्रवाल महासभा रह गयी थी, मुख्यतः समाज-सुधारके उद्देश्यसे स्थापित हुई थी। इसलिए उसके द्वारा समाज-सुधार सम्बन्धी कार्य करना उपयुक्त भी था। बसंतलालजीने इस सुविधासे यथेष्ट लाभ उठाया। वे समाज-सुधार संबंधी कार्योंमें अग्रवाल महासभाको माध्यम बनाकर जुट गये।

विलायत-यात्रा

उस समय सबसे प्रमुख चर्चा विलायत-यात्रा की थी। आज विलायत-यात्रा सरल हो गयी है, परन्तु उस समय इसका इतना प्रबल विरोध था, जिसका ठिकाना नहीं। सारा समाज विलायत-यात्राके नामसे चौंक पड़ता था। श्री कालीप्रसाद खेतान उन्हीं दिनों बैरिस्टरी पढ़नेके लिए विलायत जा रहे थे। रूढ़िवादी समाजके धुरंधर महानुभाव इसका विरोध कर रहे थे। उस समय श्री बसंतलालजीने अपने साथियों सहित कालीप्रसादजीकी यात्राका समर्थन किया। कालीप्रसादजी और उनके परिवारके अन्य भाई भी दृढ़ थे और वह विलायत-यात्रा हुई।

समाज-सुधार संबंधी प्रायः सभी कार्य समाजमें हलचल मचा देनेवाले होते हैं। जो परिपाटी पूर्वकालसे चली आ रही है, उसके विपरीत चलनेमें एक बार हिचकिचाहट होती ही है। परन्तु जो दूरदर्शी हैं, समयकी गतिको पहचाननेवाले हैं, समाजोन्नतिके लिए आवश्यक सुधारके पक्षपाती हैं, वे इस हिचकिचाहटको दबाकर सुधारकार्यमें जुटे रहते हैं और जो रूढ़ि और परंपराके गुलाम हैं, उनकी हिम्मत बँधी हुई लकीरसे इधर-उधर चलनेकी नहीं होती।

नवजीवन मण्डल

सन् १९२६ में इस क्षेत्रमें अधिक द्रुतगामी और प्रभावशाली कार्य करनेके लिए 'नवजीवन मण्डल' नामसे एक संस्थाकी स्थापना हुई। इस

संस्थाके सभापति श्री घनश्यामदास बिड़ला, मंत्री श्री ब्रिजलाल बियाणी और संयुक्त मंत्री श्री बसंतलाल मुरारका बनाये गये। यह मण्डल जिस उद्देश्यसे स्थापित किया गया था, उसकी पूर्त्तिके लिए इसके कार्यकर्त्ताओं ने बड़ी चेष्टा की। इसने बाल-विवाहका अंत करनेके लिए यह निश्चय किया कि १४ वर्षसे कम आयुकी कन्या और १८ वर्षसे कम आयुके लड़केका विवाह न किया जाय। और जहाँ इसके विरुद्ध विवाह होता था, वहाँ उसको रुकवानेका प्रयत्न किया जाता था। ऐसे विवाहमें मण्डलके कार्यकर्ता सम्मिलित नहीं होते थे। बसंतलालजीने इसके पूर्वसे ही यह निश्चय कर रखा था कि जिस विवाहमें १२ वर्षसे कम उम्रकी कन्या और १६ वर्ष से कम उम्र का लड़का होगा उसमें सम्मिलित नहीं होंगें।

वृद्ध-विवाह

वृद्ध-विवाहोंको रोकनेके लिए भी प्रबल आन्दोलन किया गया। जहाँ-जहाँसे वृद्ध-विवाहोंकी सूचना आती, वहाँ-वहाँ जाकर बसंतलालजी की मण्डली उनको रुकवाने की चेष्टा करती थी। इसका परिणाम यह हो गया था कि जो वृद्ध अपना विवाह डंकेकी चोट करते थे, उनकी हिम्मत पस्त हो गयी और कुछ दिन लुक-छिपकर विवाह होने लगे। तिसपर भी पता लगा-लगाकर ऐसे स्थानोंमें जाकर अनेक उपायोंसे वृद्ध-विवाह रुकवाने का प्रयत्न जारी रहता था। इस कार्य में नवयुवकों की तत्परता यहाँ तक थी कि कहीं-कहीं ऐसे विवाहोंमें लड़कियोंको समझा-बुझाकर विवाह-मंडपसे उठा लाया गया और उसी समय उपयुक्त वर खोजकर उनका विवाह करा दिया गया। उसके बाद वृद्ध-विवाहोंकी संख्या बहुत कम हो गयी और अब तो कदाचित् ही कहीं वृद्ध-विवाह होते हुए सुने जाते हैं।

विधवा-विवाह

सुधारोंमें विधवा-विवाह शायद सबसे प्रमुख है। श्री बसंतलालजीने समाजमें विधवाओंकी अवस्था देखकर यह अनुभव किया था कि इनके पुनर्विवाहकी व्यवस्था होनी चाहिए। अतः वे इसके पक्षमें आन्दोलन कर रहे थे। विधवा-विवाह जैसी 'भयंकर' बात समाजके पंच भला कब स्वीकार कर सकते थे? वे इसका विरोध करनेमें एड़ी-चोटीका पसीना एक कर रहे थे।

इसी बीच विधवा-विवाह करानेका एक प्रसंग आ उपस्थित हुआ। हवड़ाकी एक विधवा बहन पुनर्विवाह करनेके लिए राजी थी। उधर विधवा-विवाह के पक्षमें जो प्रचार-कार्य हुआ था, उसके कारण कुछ युवक भी विधवाके साथ विवाह करनेके लिए तैयार हो गये थे। अतः इस बातका प्रयत्न होने लगा कि यह विवाह कराया जाय। इसके लिए झरियाके श्री नागरमल ल्हीला से बात की गयी। वे इसके लिये तैयार थे। बस, इस पुनर्विवाहकी तैयारी होने लगी। एक ओर नवयुवक दल इस विवाहकी तैयारी कर रहा था, दूसरी ओर प्राचीन पंथी इसको रुकवानेकी चेष्टा में थे। दोनों ओरसे पूरी ताकत लग रही थी। इस आंदोलनमें रूढ़िवादियों की ओरसे गंदीसे गंदी स्थितियां पैदा की गयीं परन्तु नवयुवक दल अपने निश्चयसे रंचमात्रभी विचलित नहीं हुआ। अंतमें यह विधवा-विवाह बड़ी धूमधामके साथ सम्पन्न हो गया।

समाजके पंचोंको यह काम बहुत बुरा लगा। उन्होंने इसका बदला नवयुवकोंसे

चुकाया। १२ नवयुवकोंको, जो इस विधवा-विवाहके करानेमें शामिल हुए थे, समाजसे बहिष्कृत कर दिया। इन बहिष्कृतोंमें सर्वश्री पद्मराज जैन, भागीरथ कानोडिया, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, सीताराम सेकसरिया, ओंकारमल सराफ, जगन्नाथ गुप्त, रामगोपाल सराफ, फूलचन्द चौधरी, रामकुमार भुवालका, नागरमल मोदी, धर्मचन्द रानीवाला के साथ बसंतलालजी भी थे। समाज-बहिष्कार ही एकमात्र ऐसा प्रभावशाली अस्त्र था, जिसके प्रयोगसे साधारणतया लोग दब जाते थे। परन्तु बसंतलालजीकी मण्डली ऐसी नरम धातुकी बनी हुई न थी। वह इस दण्डकी परवाह न करते हुए अपने निश्चयमें अटल बनी रही।

परदा प्रथा

समाजमें प्रचलित परदा-प्रथाके विरोधमें भी इन नवयुवकोंका आंदोलन बहुत प्रबल था। इन्होंने इस बातका अनुभव कर लिया था कि परदाके कारण नारी जातिके स्वास्थ्य, उसके ज्ञान और मानसिक विकासपर जो आघात होता है, उसके स्वास्थ्यके खराब होनेसे समाजमें उत्पन्न होनेवाले बच्चोंका स्वास्थ्य जिस प्रकार खराब होता है, संसारके नानाविध आविष्कारों और प्रगतियोंसे नारियोंको जिस प्रकार अनभिज्ञ रहना पड़ता है, उस सबका फल यह हो रहा है कि सामाजिक उन्नति रुक गयी है। जिस समाज का आधा अंग एकदम पंगु बना दिया जाय, उसकी निर्बलता और अयोग्यताका क्या ठिकाना? इसलिए परदेके खिलाफ जेहाद बोल देनेका दृढ़ निश्चय किया गया।

नवजीवन मण्डलके कार्यसे श्री बसंतलालजीको देशके अनेक स्थानोंका दौरा करने का अवसर मिला था। अपनी इस यात्रामें वे ऐसे सभी स्थानोंमें गये जहाँ मारवाड़ी समाजका आवास था। इन स्थानोंमें बसंतलालजीने समाज-सुधार संबंधी सभी विषयों पर भाषण दिये। इन भाषणोंका अच्छा प्रभाव पड़ा हालांकि विरोध भी कम नहीं हुआ।

इसके बाद नवजीवन मण्डलकी ओर से एक डेपूटेशन बनाकर परदा-प्रथाका संगठित और जोरदार विरोध करनेका निश्चय किया गया। यह निश्चय किया गया कि परदा-विरोधी डेपूटेशन देशके अनेक स्थानोंका भ्रमण करके समाजमें परदा-विरोधी वातावरण उत्पन्न करे। डेपूटेशन बन गया। इसमें श्री पद्मराज जैन और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्दादेवी, श्री नवलकिशोर भरतिया और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलादेवी, श्री वसंतलाल मुरारका और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमादेवी और श्री मोतीलाल लाठ सम्मिलित हुए। जिस समय इस डेपूटेशनके साथ बसंतलालजीके सपत्नीक जानेकी बात उनके परिवारवालोंने सुनी, उस समय परिवारमें तहलका मच गया। सारा परिवार एक स्वरसे और कठोर से कठोर व्यवहारके साथ इसका विरोध करने लगा। मुरारकाजीकी माता तो बहुत ही अधिक नाराज हुई और उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि मेरी मृत्युके बाद भी वह मेरे शवका स्पर्श न करे। परन्तु इन सब विरोधोंकी अवहेलना करके भी बसंतलालजी अपने निश्चयपर दृढ़ रहे।

परदा-विरोधी डेपूटेशन निकला और झरिया, भागलपुर, कानपुर, दिल्ली, रेवाडी, भिवानी, जयपुर, आगरा, मथुरा, ग्वालियर, उज्जैन, अकोला, धामनगाँव, भुसावल आदि स्थानोंमें दौरा किया और परदाके विरोधमें जोरदार प्रचार किया। इस

दौरेमें विरोधियोंने काले झंडे दिखाये, भद्दी-भद्दी गालियाँ दीं, कीचड़ उछाला, ईंट-पत्थर फेंके, सभाएँ भंग करनेमें कोई कसर उठा नहीं रखी। ऐसे-ऐसे कार्य इस डेपूटेशनके विरोधमें किये गये जिनको देखकर गुण्डापन भी लजा जाय। खुलेग्राम समाजके बीच इस प्रकार के अपमानजनक व्यवहारका सहन करना कोई साधारण बात न थी परन्तु जिनके हृदयोंमें लगन थी, जिनके सामने एक लक्ष्य था और जो उस लक्ष्य तक पहुँचनेके लिए अधिकसे अधिक कष्ट उठाने, अपमान सहनेका पहलेसे ही निश्चय कर चुके थे, वे अपने पथसे कैसे च्युत होते ? इस डेपूटेशनने परदा-प्रथाकी जड़ें हिलादीं।

इसके बाद भी प्रयत्न जारी रहे। देवोत्थान एकादशीके दिन प्रति वर्ष सारे देशमें परदा-विरोधी दिवस मनानेकी योजना बनायी गयी। कलकत्तामें दो बड़े सम्मेलन हुए जिनमें एक की अध्यक्षता श्रीमती जानकी देवी बजाजने की और दूसरेकी श्रीमती राधादेवी गोयनकाने। कई बर्षों तक प्रति वर्ष परदा-विरोधी दिवस मनाया जाता रहा और उस दिनकी सभामें हज़ारों स्त्रियाँ परदा छोड़कर सम्मिलित होती थीं। उसके बाद अ० भा० मारवाड़ी सम्मेलनकी समाज-सुधार समितिके तत्वावधानमें परदा-विरोधी सत्याग्रह जोरोंसे शुरू हुआ। इसमें भी बसंतलालजीने पूर्ण रूपसे सहयोग दिया। इस अभियानमें सर्वश्री सीताराम सेकसरिया, भँवरमल सिंघी, गोविन्दप्रसाद कानोड़िया, रघुनाथप्रसाद खेतान, सुशीला सिंघी, माँग कुमारी भूतेड़िया, चंपादेवी गंगवाल, बजरंगलाल लाठ, पुरुषोत्तम केजड़ीवाल श्रीचद मेहता, सुशीला भंडारी, जवाहरलाल जैन आदि नवयुवक और नवयुवतियोंने मुख्य तौरसे भाग लिया। जहाँ पता लगता कि परदेके साथ विवाह हो रहा है, ये लोग पिकेटिंग करनेके लिए अपने दल-बलके साथ पहुँच जाते और परदा हटवानेकी चेष्टा करते थे।

मृतक बिरादरी-भोज

दूसरी प्रथा जिसके विरोधमें आन्दोलन हुआ था, मृतक बिरादरी-भोजकी प्रथा थी। यह कितना वीभत्स, हृदयहीन और अमानुषिक था कि जब एक परिवार अपने कुटुम्बीकी मृत्युके कारण शोक-संतप्त, दुखी और व्याकुल हो रहा हो तब समाजके लोग उसके यहाँ भोजन करने जायँ। इतना ही नहीं, इस प्रथाकी क्रूरताकी पराकाष्ठा तो तब होती थी, जब ऐसा शोक-संतप्त परिवार अपनी धनहीनताके कारण भोज देनेमें असमर्थ होता था और तिसपर भी उसे मजबूर किया जाता था कि भोज दे। जिस परिवारका एकमात्र आश्रयदाता मर गया हो, जिसके पास सम्पत्तिके नामपर भूँजी भाँग भी न हो, जिसके भविष्यके निर्वाहका कोई ठिकाना न हो, उसको मदद देनेके बजाय उससे भोजन करानेके लिए कहा जाय और इस प्रकार उसे कर्जदार बनाकर और भी गहरे गर्तमें धकेला जाय, इससे बढ़कर हृदयहीनता और क्या हो सकती थी? पता नहीं यह किस प्रकारका भाईचारा था जिसका निर्वाह कराया जाता था।

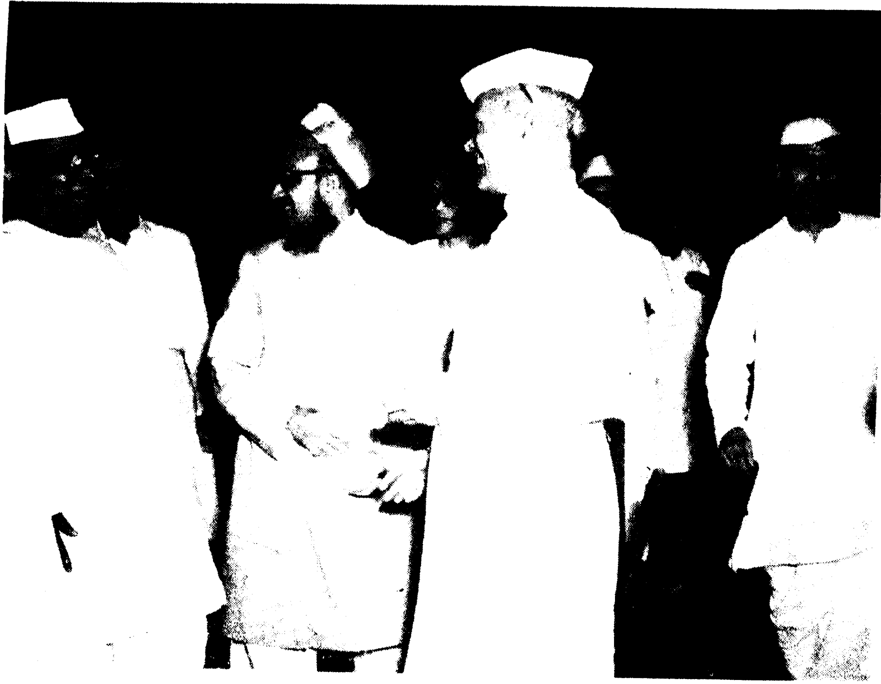
इस कुप्रथाके विरोधमें भी सुधारक-दलने बड़ा सराहनीय कार्य किया। इसके लिए समझाने-बुझाने, कागजी आन्दोलन करने, लिखा-पढ़ी करने आदिसे लेकर पिकेटिंग तक की गयी। जहाँ कहीं पता चलता कि मृतक बिरादरी-भोज होने जा रहा है, वहाँ सुधारकोंका यह दल पहुँच जाता और जब किसी तरहसे उसको रुकवानेमें सफल न होता तो पिकेटिंग तक करता। इसके लिए भी इस दलको अनेक प्रकारके अपमान सहने पड़े। इन्हें



मञ्च पर



आकाशवाणी पर



भूतपूर्व पश्चिम बंग गवर्नर डा० कैलाशनाथ काटजू के साथ



भूतपूर्व पश्चिम बंग गवर्नर डॉ० एच० सी० मुखर्जी (स्व०) के साथ

बुरा-भला सुनाने से ही विरोधियोंको संतोष न होता था। वे इनपर जूठी पत्तलें तक फेंकते थे। परन्तु अपनी धुनके पक्के इन वीरोंका उत्साह इससे जरा भी न दबता था।

बसंतलालजी उन दृढ़व्रती लोगोंमें से थे जो केवल दूसरोंको उपदेश देकर ही नहीं रह जाते वरन् उनके उपदेशोंपर स्वयं भी अमल करते हैं। उन्होंने जिन-जिन बातोंके लिए समाजमें आंदोलन किया, उन सबको अपने ऊपर घटित किया। आभूषणोंका बहिष्कार कर अपनी पत्नीको सादगीके साथ शुद्ध खादीकी वेश-भूषामें रखा, उससे परदा छुड़ाया, उसे स्वतंत्रतापूर्वक रहने और मानवीय व्यवहार पानेके अवसर दिये और समाज-सेवामें प्रवृत्त किया। अपने पुत्र श्री भागीरथका विवाह माहेश्वरी जाति की कन्यासे किया। इस विवाहमें परदाका पूर्ण बहिष्कार किया और दहेजके नामपर एक पैसा भी नहीं लिया। इसी प्रकार अपने दूसरे पुत्रका विवाह विधवाके साथ करके समाज-सुधारका दूसरा उदाहरण उपस्थित किया। अपनी कन्याके बारेमें यद्यपि उनके घरवालों और समाजवालोंका बड़ा विरोध था तथापि जब तक उसने मैट्रिक पास नहीं कर लिया और उसकी आयु १६ वर्षकी नहीं हो गयी तब तक उसका विवाह नहीं किया। घरके अन्दर बहुओंको भी वह स्वतंत्रता दे रखी थी जिसका प्रचार वे समाजमें करते थे। व्यवहारमें घरकी बहुओं और लड़कियोंमें जैसे कोई भेद ही न था। इस प्रकार जितने सुधारोंका वे प्रचार करते थे, उन सबका व्यवहार अपने परिवारमें उन्होंने किया।

सेवाका सम्मान

उनके इन गुणों, समाज-सेवाओं, उदात्त भावनाओं आदिके उपलक्षमें समाजने भी उन्हें समय-समयपर सम्मानित किया। उन्हें अग्रवाल महासभाके मंत्री आदि पदोंपर प्रतिष्ठित कर उनका जो सम्मान किया, वह तो किया ही, उत्कल प्रान्तीय अग्रवाल महासभाके अधिवेशनका सभापतित्व देकर और फिर अखिल भारतीय अग्रवाल महासभाके प्रयागवाले अधिवेशनमें उन्हें सार्वदेशिक सभाका सभापति बनाकर भी उनका सम्मान किया। अभी कुछ समय पूर्व गोहाटीमें मारवाड़ी सम्मेलनका जो आसाम प्रान्तीय अधिवेशन हुआ था, उसमें भी उन्हें सभापति निर्वाचित किया गया था। बसंतलालजी इन सब पदोंके पूर्ण अधिकारी थे, यह तो निर्विवाद है ही।

राजनीतिक क्षेत्र में

एक बार सार्वजनिक कार्योंमें रुचि उत्पन्न हो जानेके बाद फिर किसी क्षेत्रमें क्यों न हो, कार्यकर्त्ता काम करनेके लिए लालायित हो उठता है। श्री बसंतलालजी इस नियम के अपवाद न थे। सामाजिक क्षेत्रमें ही सीमित रहकर काम करते, यह शायद स्वाभाविक भी न था। उन दिनों विदेशी शासनके कारण देशकी तबाही हो रही थी, स्वतंत्रता-प्राप्तिके लिये देशके नेतागण छटपटा रहे थे, राजनीतिमें बड़े जोरोंसे हलचल हो रही थी, कांग्रेस, लिबरल फेडरेशन, होम रूल लीग, आदि अनेक संस्थाएँ देशको स्वतंत्र करानेकी चेष्टामें लगी हुई थीं। ऐसे समयमें सार्वजनिक कार्य की इच्छा रखनेवाले किस कार्यकर्त्ता का ध्यान उस ओर न जाता?

रौलट एक्ट

प्रथम महायुद्ध समाप्त हो चुका था। उस युद्धमें महात्मा गांधीके आग्रहपर भारतवर्षने जन-धनकी स्वेच्छापूर्ण सहायता दी थी। आशा यह थी कि लड़ाईके बाद अंग्रेज भारतवर्षको कुछ शासनाधिकार देंगे; परन्तु शासनकी सुविधाएँ देना तो दर किनार, उल्टा रौलट एक्ट जैसा कानून पास किया गया जिससे देशवासियोंकी रही-सही स्वतंत्रता पर भी आघात होता था। यह बात देशवासियोंके लिए असह्य थी। स्वयं महात्मा गांधीभी अंग्रेज शासकोंकी इस दुर्नीतिसे बहुत असंतुष्ट हुए और उन्होंने इस क़ानूनको वापस लेनेकी माँग की। सरकार अपने मदमें मत्त थी। वह इन बातों, माँगों और विरोधोंकी क्या परवाह करती ?

वह जमाना १९१९ का था। कांग्रेस देशकी सबसे अधिक प्रभावशाली संस्था बन चुकी थी। महात्मा गाँधी भारतीय राजनीतिपर हावी हो रहे थे। चम्पारन और खेड़ाके सत्याग्रह हो चुके थे। उनमें महात्मा गांधीको पूर्ण सफलता मिल चुकी थी। सत्याग्रहका जो प्रयोग उन्होंने दक्षिण अफ्रीकामें आजमाया था, वह यहाँ भी उक्त दोनों स्थानोंमें सफल हो चुका था। अतः महात्माजीका विश्वास इस प्रयोगपर और भी अधिक दृढ़ हो गया था। उन्होंने रौलट कानूनके विरोधमें भी सत्याग्रह करनेका निश्चय किया और उस निश्चयकी सूचना उन्होंने सरकारको भी दे दी।

देशव्यापी हड़ताल

६ अप्रैल सन् १९१९ का दिन इसी सिलसिलेमें देशव्यापी हड़ताल करनेके लिए निर्धारित किया गया। इसकी खूब जोरदार तैयारियाँ हुईं। सरकार हड़तालको असफल बनानेकी कोशिशमें लगी और कांग्रेसकी शक्ति उसे सफल बनानेमें। अंतमें ६ अप्रैल कादिन आया और सारे देशने ऐसी हड़ताल की जो उस समय अभूतपूर्व थी। इस हड़तालसे दो काम सिद्ध हुए। एक ओर कांग्रेसने यह देखा कि देशकी जनतामें राष्ट्रीय जागरण किस हद तक हो गया है और वह कहाँ तक कांग्रेसका साथ दे रही है और दूसरी ओर सरकारको भी यह मालूम हो गया कि देशमें उसके विरुद्ध कैसी व्यापक धारणाएँ फैल गयी हैं।

कलकत्तामें इस हड़तालका संचालन सर्वश्री पद्मराज जैन और अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी कर रहे थे। श्री बसंतलालजीने इन नेताओंके साथ कंधेसे कंधा मिलाकर ऐसा काम किया जिसकी प्रशंसा सभी लोगोंने की। पहिले कहा जा चुका है कि बसंतलालजीके साथ सहकर्मियोंका एक दल था और इन सब साथियों ने मिलकर हड़ताल को सफल बनाने का काम किया था।

दमन-चक्र

इसी सम्बन्धमें पंजाबमें जो काण्ड हुआ, उसने बड़ा ही भयंकर रूप धारण कर लिया। पंजाबके क्रूर अधिकारियोंने जलियानवाला बागमें होनेवाली सार्वजनिक सभामें उपस्थित लोगोंपर गोलियाँ चला दीं। उनमें लड़के, जवान, बूढ़े स्त्री-पुरुष सभी हताहत हुए। इसके कारण सारे देशमें और भी भयंकर उत्तेजना फैली। उस समय उत्तेजित जनतामें हिंसा और रक्तपात तककी चर्चा होने लगी थी। यह तो कहिए कि महात्मा गांधी

जैसा शांत और धैर्यवान नेता सूत्र-संचालन कर रहा था अन्यथा क्या होता, कह सकना कठिन है।

कलकत्ताके नवयुवकोंको दबानेके लिए भी पशु-बलका प्रयोग किया गया। उनपर लाठी चार्ज हुआ, वे जेलमें भेजे गये और उनपर मशीनगनें तक चलवायी गयीं। मगर नवयुवकोंका उत्साह इससे जरा भी शिथिल नहीं हुआ। जब सीधी कार्यवाही में सरकार सफल न हुई तब उसने व्यापार-व्यवसायमें बाधा उपस्थित करके उन्हें परेशान करनेकी युक्ति अपनायी। इस दुरभिसंधिमें बंगाल चेम्बर आफ कामर्स और यूरोपियन एसोशियेशन भी उनसे मिल गये। डा० कैलाशचन्द्र बोस भी, जिनका उस समय के मारवाड़ी समाजपर अच्छा प्रभाव था, सरकारकी हिमायत करते हुए नवयुवकोंको निरुत्साहित करने में लगे। मगर सब कोशिशें बेकार गयीं। नवयुवकोंने अपना मार्ग कभी नहीं छोड़ा। इस नवयुवक मंडलीमें बसंतलालजी भी थे।

असहयोग आन्दोलन

देशकी राजनीतिक अवस्था बड़ी विकट हो चली थी। उस स्थितिमें क्या किया जाय, राजनीतिक आन्दोलनका भविष्यमें क्या रूप हो इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्न सामने थे। अतः इनपर विचार करनेके लिए सन् १९२० में कलकत्तामें कांग्रेसका विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशनमें महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन करनेका प्रस्ताव रखा। देशके लिए यह बिलकुल नया कार्यक्रम था। लोगोंका इसपर सहसा विश्वास न हुआ। परिणाम यह हुआ कि श्री मोतीलाल नेहरू और सेठ जमनालाल बजाजके अतिरिक्त प्रस्तावका और किसीने समर्थन नहीं किया। तथापि अधिकांश प्रतिनिधियोंके समर्थनसे प्रस्ताव गृहीत हो गया। इस कांग्रेस अधिवेशनमें भी बसंतलालजी ने बड़ा काम किया था।

महात्माजी देशकी स्थितिका अध्ययन कर रहे थे। जनताकी सहानुभूति प्राप्त करने और उसकी रुचि जाननेके प्रयत्न भी जारी थे। इन अनुभवोंके आधारपर महात्मा जी का विश्वास असहयोग आन्दोलनपर और भी दृढ़ हो गया था। अतः उन्होंने इसका आग्रह नहीं छोड़ा। उसी वर्ष नवम्बरमें नागपुरमें कांग्रेसका अधिवेशन हुआ। अधिवेशनमें असहयोगके प्रस्तावपर विशेष रूपसे विचार होना था। पक्ष-विपक्ष दोनों ओर से तैयारियाँ हो रही थीं। बंगालसे देशबंधु चित्तरंजनदास अपने दल-बलके साथ महात्माजीका विरोध करनेके लिए पहुँचे थे। बड़ा बाजारकी ओरसे बसंतलालजी और उनके कुछ साथी भी वहाँ गये थे। बड़ा बाजार दल महात्माजीका समर्थक था। अतः बंगाल कैम्पमें दो दल हो गये थे। एक दिन आपसी बहस-मुबाहसेमें दोनों दलोंमें संघर्ष हो गया। झगड़ेकी बात सुनकर महात्माजी बंगाल कैम्पमें आये। उन्होंने अपने समर्थकोंको सम्बोधित करते हुए कहा कि बंगालके नेता देशबंधु दास हैं। बंगालको उनके ही आदेश पर चलना चाहिये। उन्हें समझाया जा सकता है परन्तु उनके साथ लड़ाई नहीं की जा सकती।

इसके बाद महात्माजीने दास बाबूसे इसी विषयमें लम्बी बातचीत की। इस बातचीतमें दासबाबू महात्माजीकी नीतिसे सहमत हो गये। फिर तो उन्होंने स्वयं नागपुर

कांग्रेसमें असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव रखा। जब इतने प्रधान विरोधी स्वयं प्रस्तावक हो गये, तब विरोध क्या होता ? असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया।

अब व्यवहारमें असहयोगका श्रीगणेश किया गया। वकील लोग अदालतोंका, विधान सभाई अपनी-अपनी धारासभाओंका, विद्यार्थी सरकारी स्कूल-कालेजोंका बहिष्कार करके आन्दोलनमें शामिल होने लगे। अनेक व्यक्तियोंने सरकारी नौकरियाँ छोड़ीं, अनेकोंने सरकारी उपाधियाँ लौटाईं, विदेशी वस्त्र जलाये गये, विदेशी मालके विरुद्ध पिकेटिंग हुई और सबने एक स्वरसे यह घोषित कर दिया कि वे विदेशी शासनका अंत चाहते हैं। इस आन्दोलनसे एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि उस समय तक देशकी जनतामें जेलोंका जो भय समाया हुआ था, वह समाप्त हो गया। इस आन्दोलनमें हजारों आदमी जेल गये। इसलिये जेलका जो आतंक जन-साधारणके हृदयमें छाया हुआ था, वह समाप्त हो गया। इस आन्दोलनमें श्री बसंतलालजीने देशबंधुके साथ मिलकर खूब काम किया।

प्रिंस आफ वेल्स का बहिष्कार

सन् १९२१ के नवम्बर महीनेमें प्रिंस आफ वेल्स भारत आये। सरकारका स्वाभाविक प्रयत्न था कि उनका शानदार स्वागत किया जाय। परन्तु महात्माजीने इसके बिलकुल विपरीत यह निर्णय किया कि उनका बहिष्कार किया जाय। १७ नवम्बरको वे बम्बई उतरनेवाले थे। उसी दिन सारे देशमें पूर्ण हड़ताल करनेका निश्चय किया गया। उसीके अनुसार सब तैयारियाँ हुईं और १७ नवम्बर १९२१ की हड़ताल अप्रत्याशित रूपसे सफल हुई। कलकत्ता में भी यह हड़ताल मनायी गयी। बड़ाबाजारमें हड़ताल करवानेमें बसंतलालजीने बड़ी कोशिश की। वह हड़ताल इतनी सफल हुई कि जिसकी कोई मिसाल आज तक नहीं है। कलकत्ताका सारा कारोबार एकदम बंद था, यहाँ तक कि पानकी दुकान तक खुली न थी। हबड़ा स्टेशनपर यात्रियोंको जाने-आनेकी लिए सवारियाँ न मिलती थीं, सारे शहरमें सन्नाटा छाया हुआ था, रोगियोंको देखनेके लिये डाक्टरोंको छोड़कर और कोई सड़कपर चलता हुआ नजर न आता था। रातमें बिजली तक फेल करदी गई। उस दिन सन् १९२१ में ही ब्लैक आउटका नजारा दिखलायी पड़ रहा था।

प्रिंस आफ वेल्सका यह बायकॉट देखकर अंग्रेज़ शासक बड़े क्रुद्ध हुए। और उसी समय तो नहीं, १० दिसम्बर को देशके अनेक नेताओं और कार्यकर्त्ताओंको इसी अपराधमें पकड़कर जेल भेज दिया। बंगालके नेतागण भी इस बार बचे नहीं। १० दिसम्बरको ही देशबंधु दास, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद आदि पकड़कर जेल भेज दिये गये। उन्हीं के साथ श्री बसंतलालजी भी जेल भेज दिये गये। उन सबको प्रेसीडेंसी जेलमें एक साथ रखा गया। जब उनपर मुकदमा चला तब बसंतलालजीने बड़ा ओजस्वी और निर्भीक बयान अदालतमें दिया, जिसमें उन्होंने बताया कि अंग्रेजी हुकूमत अत्याचार पर तुली है और भारतवासी अब उसको बिलकुल बरदाश्त नहीं कर सकते। उस मुकदमेमें उन्हें डेढ़ वर्ष का सश्रम कारावास—दण्ड मिला।

असहयोग आन्दोलन जोरोंसे चल रहा था। देशने पहले-पहल इस प्रकारका

राजनीतिक जागरण देखा था। चारों ओर सन्नाटा-सा छाया था, लोग बड़ी उत्सुकता के साथ आनेवाले दिनकी प्रतीक्षा करते थे। अंग्रेज़ सरकारके लिये भी यह एक नया मोर्चा था। इस प्रकार के आन्दोलनका उसे कोई अनुभव न था। वह भी बड़ी दुविधा में पड़ी हुई थी। जेलें भरी जा रही थीं। कैदियोंको रखना और सँभालना उसके लिए एक समस्या बन रहा था। वह भी इस चेष्टामें थी कि किसी प्रकार आन्दोलन शान्त किया जाय। कुछ समय बाद महामना मालवीयने मध्यस्थता करके गांधीजी और वायसरायके बीच समझौतेकी बातचीत करानेकी चेष्टा की। इसी बीच चौराचौरी काण्ड हो गया, जिसमें महात्माजीको हिंसाकी गंध आयी। अतः उन्होंने असहयोग आंदोलन स्थगित कर देनेकी घोषणा करदी।

नये नेतृत्व की माँग

यह निश्चय कुछ नेताओंको बड़ा अप्रिय लगा। उनकी दृष्टिसे देश बिलकुल तैयार था और वह समय था कि आन्दोलन और आगे बढ़ाया जाता परन्तु महात्माजीने बिलकुल उलटा निर्णय करके इसे स्थगित कर दिया। देशबंधु दासकी पत्नी श्रीमती बासंती देवी तो इतनी क्षुब्ध हुईं कि फरीदपुरमें हुए प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलनमें उन्होंने देशके नेतृत्वको बदल देनेकी माँग की। इससे सारे देशमें बड़ी खलबली मच गयी। जेलों में भी इसकी चर्चा होने लगी। उस समय बसंतलालजी देशबंधु आदि नेताओंके साथ अलीपुर जेल भेज दिये गये थे। वहाँ भी यह प्रसंग छिड़ा। मगर बसंतलालजी ने सदा महात्मा गांधीके पक्षका समर्थन किया।

स्वराज्य पार्टी

कुछ समय बाद कांग्रेसमें परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दल हो गये। परिवर्तनवादी दलने स्वराज्य पार्टी स्थापित की और कौंसिल प्रवेशका समर्थन किया। इस पार्टीमें देशबंधु दास, मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल आदि थे। देशबंधुका बसंतलालजी पर अच्छा प्रभाव था। परन्तु फिर भी बसंतलालजीने इस मामलेमें उनका साथ न देकर अपरिवर्तनवादी दलके ही साथ रहे। अपने सिद्धांतके समय बसंतलालजी बड़ेसे बड़े व्यक्तिसे भी समझौता करनेके लिए तैयार नहीं होते थे।

देशबंधुकी मृत्युके पश्चात् श्री जे० एम० सेनगुप्त और तत्पश्चात् श्री सुभाषचन्द्र बोस बंगालके नेता बने। उन दोनों महानुभावोंके साथ भी बसंतलालजीका घनिष्ट सम्बन्ध रहा। सन् १९२८ में कलकत्तामें कांग्रेसका जो अधिवेशन हुआ था, वह बहुत महत्वपूर्ण था। उसमें पूर्ण स्वतंत्रताकी चर्चा हुई थी। उसी अवसरपर सर्वदल सम्मेलन भी हुआ था। उन सबमें मुरारकाजीने बड़ा महत्वपूर्ण सहयोग दिया था।

कानून अमान्य आन्दोलन

एक वर्ष बाद लाहौरमें कांग्रेसके अधिवेशनमें पूर्ण स्वतंत्रताका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। २६ जनवरीको स्वतंत्रता-दिवस मनानेका निश्चय किया गया। उस आयोजनको सफल बनानेके लिये बसंतलालजीने भी बड़ा प्रयत्न किया। उससे देशमें फिर नवजीवनकी लहर दौड़ी। अब क़ानून अमान्य आन्दोलनका श्रीगणेश हुआ। श्री जे० एम० सेनगुप्तने उसमें सबसे पहले काम किया। वे कानूनकी अवज्ञा करके जेल

गये। उसके बाद इस आन्दोलनको बंगालमें सफलतापूर्वक चलानेके लिए सिविल डिस-ओबीडिएन्स कमेटीकी स्थापना हुई जिसके सभापति श्री अमरेन्द्रनाथ चटर्जी और मंत्री बसंतलालजी निर्वाचित हुए। इस काम को भी उन्होंने सुचारु रूपसे चलाया।

इधर गांधी-इरविन पैक्टकी बात चल रही थी। गाँधीजी उस समझौतेके पक्षमें थे, परन्तु भय यह था कि कहीं सुभाष बाबू इसका विरोध न करें। अतः जब सुभाष बाबू जेलसे छूटे तो बसंतलालजी जेलके फाटकपर ही उनसे मिले और सुभाष बाबूसे भी पैक्टका समर्थन करवानेमें सफल हुए। परन्तु कराँची कांग्रेसके समय नौजवान कान्फ्रेंसके सभापतिकी हैसियतसे सुभाष बाबूने फिर पैक्टका विरोध कर दिया। इससे महात्माजी बहुत चिंतित हुए। तब बसंतलालजी सुभाषबाबूसे मिले और महात्मा गांधीसे उनकी मुलाकात करवाई। इस मुलाकातके बाद सुभाष बाबूने पैक्टका विरोध बंद कर दिया।

राउण्ड टेबुल कान्फरेन्स

नमक सत्याग्रहके समय बसंतलालजीने बड़ा काम किया। जन-धनकी जो सहायता जहाँ आवश्यक होती थी, वहाँ वह सहायता यथाशक्ति पहुँचायी जाती थी। बंगालके इस आन्दोलनमें बसंतलालजीकी सहायता अनुपम थी।

इसके बाद राउण्ड टेबुल कान्फरेंसका नाटक रचा गया। महात्माजी भी उसमें शामिल हुए। वे लन्दन गये, परन्तु वहाँसे खाली हाथ ही उन्हें लौटना पड़ा। जब राउण्ड टेबुल कान्फरेन्ससे कोई समस्या सुलझ न सकी तब यह निश्चय ही था कि सत्याग्रह आन्दोलन आगे बढ़ाया जाता। इसलिए सरकारने महात्माजी तथा अन्य नेताओंको लन्दनसे वापस आते ही जहाज पर गिरफ्तार कर लिया। देशके विभिन्न स्थानोंके नेतागण भी गिरफ्तार हुए और बसन्तलालजी भी उसीमें गिरफ्तार कर लिये गये। वे दो महीनोंके लिए नजरबन्द किये गये थे। परन्तु बादमें छूटते ही अवज्ञाके अपराधमें फिर गिरफ्तार कर लिये गये।

हरिजन-उत्थान

१९३२ में जेलसे मुक्त होनेके बाद बसन्तलालजीने महात्माजी द्वारा संचालित हरिजन-उत्थान का कार्य अपने हाथमें लिया। कलकत्तामें हरिजन उत्थान समिति की स्थापना करके आपने उसके माध्यमसे हरिजनोंमें शिक्षा प्रचार करने, उनको साफ-सुथरा रखने, उनके निवास-स्थानोंकी सफाई करने आदिमें खूब काम किया। समय-समयपर अपने हाथमें झाड़ू लेकर हरिजन-बस्तियोंकी सफाईके लिए उनका जाना और हरिजनोंके साथ बराबरी का व्यवहार करना, उनसे गले मिलना आदि बातें समाजवालोंको असह्य थीं। इसके लिए भी उनका बहुत विरोध हुआ परन्तु उसकी परवाह न करके वे इस कार्यमें जुटे रहे।

१९३५ में रींगसकी राजनीतिक कांफरेन्सके सभापतिकी हैसियतसे भी उन्होंने हरिजन-उत्थानका बहुत काम किया। वहाँ हरिजन सेवक संघकी स्थापना करके उन्होंने इस कामको बहुत आगे बढ़ाया।

आगे चलकर वह समय आया, जब कांग्रेसकी भीतरी व्यवस्थामें थोड़ी उथल-पुथल

मची। सुभाषबाबू हरिपुरा कांग्रेसके सभापति निर्वाचित हुए थे। उसके बाद त्रिपुरी कांग्रेसके सभापतिके निर्वाचनका जब समय आया, तब सुभाष बाबू और डा० पट्टाभि सीतारमैयामें संघर्ष हो गया। महात्मा गांधी डा० पट्टाभि को सभापति बनाना चाहते थे परन्तु जनताने सुभाष बाबूको निर्वाचित किया। इस विवादमें बसंतलालजीने सुभाष बाबूका ही समर्थन किया।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

१९४२ के अगस्तमें बम्बईमें कांग्रेस कमेटीकी ऐतिहासिक बैठक हुई जिसमें 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो'का प्रसिद्ध प्रस्ताव गृहीत हुआ। बसंतलालजी जबसे कांग्रेसमें शामिल हुए थे, तबसे प्रायः प्रतिवर्ष प्रति अधिवेशनमें और कांग्रेस कमेटीकी प्रायः सभी बैठकोंमें भाग लेते थे। वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीके सदस्य थे। बम्बईमें भी वे उक्त बैठक में सम्मिलित होने गये।

उस समय देशका राजनीतिक वातावरण उत्तेजनाकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। जनतामें उत्साहका सागर हिलोरें मार रहा था। अंग्रेज अधिकारी इस स्थितिसे परिचित थे और आन्दोलनको शुरू होनेके पहले ही दबा देनेकी चेष्टामें थे। इसलिये ज्योंही यह प्रस्ताव पास हुआ, त्योंही बम्बईमें उपस्थित नेता तो गिरफ्तार कर ही लिये गये, अन्य सब स्थानोंके नेता और खास-खास कार्यकर्त्ता भी गिरफ्तार कर लिये गये। बसंतलालजी भी बम्बईसे लौटते ही अपने अनन्य साथी श्री सीतारामजी सेकसरिया सहित हवड़ा स्टेशनपर ही गिरफ्तार कर लिये गये और जेल भेज दिये गये।

मगर आन्दोलन इसके बावजूद भी चला और उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि अंग्रेजी शासनकी जड़ें हिल गयीं। समय अपना काम कर रहा था। ये लोग १९४४ के फरवरी महीनेमें छोड़ दिये गये।

१९४५में बम्बईमें कांग्रेसका अधिवेशन हुआ। नेताजी सुभाषचन्द्रके भाई शरच्चन्द्र बोस जेलसे छूटते ही सीधे कांग्रेसमें शामिल होनेके लिए वहाँ पहुँचे। बसंतलालजीके साथ वहाँ उनकी मुलाकात हुई। उसके बाद कलकत्ता वापस आनेपर शरत बाबूके सार्वजनिक स्वागतकी व्यवस्था की गयी। उसमें उन्हें एक लाखकी थैली भेंट की गयी। इस कार्यमें भी बसंतलालजीका बहुत बड़ा हाथ रहा। उसके बाद शरत बाबूके साथ बहुत दिनों तक उनका पूर्ण सहयोग रहा।

साम्प्रदायिक उपद्रव

१९४६ में कलकत्तामें भयंकर मारकाट हुई। हिन्दू-मुसलमानोंकी इस लडाईके पीछे अंग्रेज़ी सत्ताका कुचक्र था। १४ अगस्तको बंगाल विधान-सभामें तत्कालीन मुख्य मंत्री सुहरावर्दीने सूचना दी कि मुसलिम लीगने सीधी कार्यवाही करनेका निश्चय किया है। दूसरे दिन इसके विरोधमें सभा हुई जिसमें बसंतलालजीने इस की तीव्र निंदा की और समझदारी तथा शांतिसे काम लेनेकी अपील की। मगर १६ अगस्तको यह मार-काट छिड़ ही गई। वह स्थिति इतनी भयंकर थी जिसका स्मरण करनेसे रोमांच होता है। आदमी पशु और राक्षससे भी गया-बीता हो गया था। इस अवसरपर शांति-स्थापना तथा दंगा-पीड़ितोंकी सहायता आदिके कार्यमें बसंतलालजी

ने बड़ा काम किया था। जब १९२६ में पहले-पहल कलकत्तामें साम्प्रदायिक दंगा हुआ था, तब भी बसंतलालजीका सेवा-कार्य बड़ा प्रशंसनीय हुआ था।

यह प्रयत्न हो ही रहे थे कि महात्माजी अन्य सब कार्य स्थगित करके कलकत्ता दौड़े आये और शान्ति-स्थापनाके लिए आमरण अनशन की घोषणा की। इस अवसरपर बसंतलालजीने दोनों समुदायोंके नेताओंसे मिलकर महात्माजीका अनशन भंग करवाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। अन्तमें दोनों सम्प्रदायोंके नेता महात्माजीसे मिले और उन्हें आश्वासन दिया कि शांतिकी स्थापना होगी और भविष्य में भी मैत्री रहेगी, इस प्रकार की घटना फिर न हो, इसका प्रयत्न किया जायगा। तब महात्माजीने अनशन भंग किया।

विस्थापितों की सेवा

१९४७ में स्वतंत्रता-प्राप्तिके साथ ही देशमें फिर भयंकर उपद्रव हुए। इसमें अनेक परिवारोंको जन-धनकी अपार हानि उठानी पड़ी। अनेक जन विस्थापित होकर भारत आये। उस समय विस्थापितोंके निवास और पुनर्वासकी समस्या बड़ी विकट थी। दिल्लीमें विस्थापितोंकी अपार भीड़ एकत्र हो गई थी। बसंतलालजी मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटीकी ओरसे वहाँ गये और विस्थापितोंके निवास आदिके लिए यथासाध्य व्यवस्था की। बंगालकी विस्थापित समस्याको सुलझानेमें भी उन्होंने बड़ा सहयोग दिया।

विधान सभाके सदस्य

सन् १९४६ में विधान-सभाका जो आम चुनाव हुआ, उसमें बड़ाबाजार क्षेत्रसे बसंसतलालजीको भी कांग्रेस की ओरसे उम्मीदवार किया गया और वे अपनी लोकप्रियता के कारण सफल होकर विधान सभा के सदस्य हो गये। वहाँ उन्होंने अपनी राजनीतिक सेवाओं का अच्छा परिचय दिया।

जब विधान सभामें कांग्रेस दलके अन्दर फूट हो गयी, उस समयके मुख्य मंत्री डॉ० प्रफुल्लचंद्र घोष और डा० सुरेशचन्द्र बनर्जीका दल एक ओर था और हुगलीके श्री प्रफुल्लचन्द्र सेन और श्री अतुल्य घोषका दल दूसरी ओर। इस संघर्षमें हुगली दल विजयी हुआ। डा० घोषने इस्तीफा दिया और उनके स्थानपर डा० विधानचंद्र राय मुख्य मंत्री निर्वाचित हुए। बसंतलालजीने डा० रायका समर्थन किया।

सन् १९५२ में बालिग मताधिकारके आधारपर प्रथम बार निर्वाचन हुआ। कांग्रेसने भी अपने उम्मीदवार खड़े किये। उस समय तक बंगालकी राजनीतिमें बसंतलालजी का अच्छा स्थान बन गया था। इसलिए कांग्रेसने इस बार उन्हें वीरभूमसे विधान सभाके लिए अपना उम्मेदवार मनोनीत किया। बसंतलालजीके मुकाबलेमें जो उम्मेदवार खड़ा था, वह काफी प्रभावशाली व्यक्ति था परन्तु फिर भी निर्वाचनमें बसन्तलालजी विजयी हुए। वीरभूम, जो शुद्ध बँगला-भाषी क्षेत्र था, से अपने प्रबल प्रतिद्वंदीको परास्त करना बसंतलालजीकी लोकप्रियता और उनकी राजनीतिक सेवाओंके प्रति जनता के विश्वासका द्योतक था। मुरारकाजीका जन्म राजस्थानमें हुआ था परन्तु बंगालमें निवास करनेके कारण उन्होंने अपनेको बंगालीसे भिन्न कभी नहीं माना।

जब बिहार-बंगालकी सीमाका प्रश्न आया, तब भी उन्होंने बंगालके पक्षका समर्थन किया। बंगालके राष्ट्रीय कार्यकर्ताओंमें उनका विशिष्ट स्थान था।

बसंतलालजी जब से कांग्रेसमें शामिल हुए, तबसे यावज्जीवन उसमें बने रहे। इस सम्बन्धमे उनकी दृढ़ता इतनी अधिक थी कि पिछले दिनों स्वतंत्रता प्राप्त हो जानेके बाद कांग्रेसमें स्वार्थपरता और पदलोलुपता आदिकी भावना देखकर जब उनके कुछ साथी उससे अलग हो गये, तब भी उन्होंने कांग्रेसको नहीं छोड़ा।

भाषा और साहित्य की सेवाएँ

बसंतलालजीका कार्य-क्षेत्र बहुमुखी था। उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्यके क्षेत्रमें भी काम किया। जब-जब वे जेल गये, तब-तब जेलके अपने साथियोंको हिन्दी-भाषाकी शिक्षा देनेका काम वे करते रहे। सुभाष बाबूको भी हिन्दी सिखानेकी उन्होंने समुचित व्यवस्था की थी। इसके अतिरिक्त बंगाल, आसाम और उत्कल प्रान्तोंमें हिन्दीका प्रचार करनेके लिए पूर्व भारत हिन्दी प्रचार सभा नामसे जो संस्था स्थापित की गई थी, उसके वे सभापति थे और श्री विष्णुदत्त शुक्ल मंत्री थे। इस सभा द्वारा हज़ारों रुपये वार्षिक व्यय करके तीनों प्रान्तोंमें राष्ट्रभाषा हिन्दीका प्रचार किया जाता था। उत्कल प्रान्तीय राष्ट्र भाषा प्रचार समिति इसी प्रयत्नका फल था, जो आज तक उड़ीसामें हिन्दी प्रचारका अच्छा कार्य कर रही है।

मुरारका पारितोषिक

बसंतलालजीकी शिक्षा तो सीमित थी ही, इसलिए वे स्वयं साहित्य-निर्माणमें कोई विशेष कार्य नहीं कर सके परन्तु उन्होंने दूसरोंको उसकी ओर प्रेरित करनेका प्रशंसनीय प्रयत्न किया। प्रयागके हिन्दी साहित्य सम्मेलनको उन्होंने एक धनराशि इसलिये दी थी कि उससे ५००) प्रति वर्ष उस लेखकको पुरस्कार स्वरूप दिये जायँ जो समाजवाद पर हिन्दीमें सर्वोत्तम पुस्तक लिखकर दे। मुरारका पारितोषिकके नामसे यह पुरस्कार हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी ओरसे प्रति वर्ष दिया जाता है।

देशके विभिन्न भागोंमें जो साहित्यिक संस्थाएँ काम कर रही हैं, उनकी सहायताके लिए भी बसंतलालजीने समय-समयपर बहुत काम किया था। इस प्रकार उनकी साहित्य-सेवा अनेक प्रकारसे हुई थी।

उपसंहार

बसंतलालजीका जीवन सेवा, सादगी, सिद्धान्तप्रियता, दृढ़ता और लगनका एक तेजस्वी उदाहरण है। अनेक वर्षों तक नाना प्रकारके कष्ट, अपमान उठाकर उन्होंने यावज्जीवन समाज और राष्ट्रकी सेवाकी और अंतमें १० अक्टूबर सन् १९५६ को शान्ति-पूर्वक इह–लीला समाप्त की। उनका जीवन-चरित्र अनुकरणीय है। उससे आनेवाली पीढ़ियोंको सदैव प्रेरणा और उत्साह मिलता रहेगा।

—::००::—

सार्वजनिक अभिनन्दन

"श्री बसंतलालजी मुरारका सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रोंमें समान रूपसे अपनी सेवाओंके लिए प्रसिद्ध हैं। न केवल बंगाल बल्कि देशमें दोनों क्षेत्रोंका समन्वय करनेवाले व्यक्ति बहुत कम हैं। गत चालीस वर्षोंसे मुरारकाजीने देशकी जिस लगन, स्वार्थ-त्याग और निष्ठाके साथ सेवा की है, उसके लिए कार्यकर्त्ता-समाज अपनेको गोरवान्वित अनुभव करता है।" इन शब्दोंमें पश्चिम बंगाल प्रदेश काँग्रेस कमेटीके अध्यक्ष श्री अतुल्य घोषने सुप्रसिद्ध समाजसेवी एवं राजनीतिक नेता श्री बसंतलालजी मुरारकाके अभिनन्दन-आयोजनपर मुरारकाजीके प्रति उद्‌गार प्रकट किए। उन्होंने आगे कहा कि मुरारकाजीने देशकी सर्वांगीण उन्नतिके लिए निरंतर देश एवं समाज-विरोधी तत्वोंसे मोर्चा लिया। मुरारका जीका यह संघर्ष-काल देशकी वह घड़ी थी जब राजनीतिक या सामाजिक सुधारके नामपर कार्यकर्त्ताओंको हर प्रकारसे तिरस्कार मिलता था। राष्ट्रके निमित्त आपने जेल-यात्रा की, परिवार और स्वजनोंको भुला दिया, किसी भी प्रकारके कष्टका कभी ख्याल नहीं किया। मैं बंगाल प्रदेश काँग्रेस कमेटी और उसके शत-शत कार्यकर्त्ताओंकी ओरसे मुरारकाजीका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

कठिन कैंसर रोगग्रस्त मुरारकाजीका अभिनन्दन उनकी अत्यधिक अस्वस्थता के कारण उनके निवास-स्थानपर ही विशेष रूप से निर्मित पंडालमें आयोजित हुआ। आयोजनका सभापतित्व करनेके निमित्त राजस्थान प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष लोकनायक श्री जयनारायणजी व्यास आज ही हवाईजहाजसे कलकत्ता पहुँचे। समारोह में उपस्थित विभिन्न प्रान्तों और जातियोंके नर-नारियोंकी उपस्थिति मुरारकाजीके प्रति सार्वजनिक प्रेम और उनके व्यापक सेवा-क्षेत्रकी द्योतक थी। मुरारकाजी एक चारपाईपर मंचपर लेटे हुए थे।

अभिनन्दन-ग्रंथ (जो तैयार नहीं हो सका था) की रूप-रेखा का पत्रक एक चाँदी की पेटीमें रखकर अभिनन्दन समितिके अध्यक्ष श्रीप्रफुल्लचन्द्र सेनने आपको भेंट किया। समितिके मंत्री श्री भँवरमल सिंघी द्वारा पढ़े गये एक मान-पत्रमें आपकी सेवाओंपर प्रकाश डाला गया।

माननीय श्री प्रफुल्लचन्द्र सेनने मुरारकाजीके जीवनपर प्रकाश डालते हुए कहा कि वे केवल एक राजनीतिक विप्लवी ही नहीं, अपितु सामाजिक कार्यकर्त्ता भी हैं, जिन्होंने सामाजिक दुर्नीतियोंका खुला विरोध किया।

लोकनायक श्री जयनारायण व्यासने मुरारकाजी का अभिनन्दन करते हुए कहा कि जिन कारणोंसे मुरारकाजी इतने सर्वप्रिय हुए, उनके मूलमें उनकी वह भावना थी जो देश की सारी सामाजिक कुरीतियोंका उन्मूलन करने तथा समाजको अन्तर्राष्ट्रीय जीवनमें स्थान दिलानेके लिए व्यक्त होती रही। मुरारकाजीने वह क्षेत्र अपनाया जिसमें कोरा धिक्कार ही नहीं, शाब्दिक लांछना भी मिलती है।



अभिनन्दन-समितिके अध्यक्ष श्री प्रफुल्लचन्द्र सेन (खाद्य मंत्री, पश्चिम बंगाल)
द्वारा रजत-पेटिका में अभिनन्दन ग्रंथकी पांडुलिपि भेंट



अभिनन्दन समारोहके सभापति श्री जयनारायण व्यास (अध्यक्ष, राजस्थान प्रदेश
काँग्रेस कमेटी) भाषण देते हुए

परम श्रद्धास्पद श्री बसन्तलालजी मुरारका

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

अभिनन्दन-पत्र

आदरणीय साथी,

आज हमें आपका अभिनन्दन करते हुए अतीव आनन्द हो रहा है। ४० वर्ष पूर्व आपने समाज और राष्ट्र की सेवा का जो संकल्प और व्रत ग्रहण किया और जिस पर निरन्तर यात्रा करते हुए आपने अनुपम आदर्श-निष्ठा, अदम्य उत्साह, अप्रतिम निर्भीकता एवं अचल धैर्य का परिचय दिया, उसके लिए आपके जीवन का प्रति वर्ष, प्रति मुहूर्त अभिनन्दित रहा है।

स्वाधीनता-संग्राम के सेनानी,

जब हम उस दिन का स्मरण करते हैं, जब आप राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी के आह्वान पर देश को विदेशी शृंखलाओं से मुक्त करने के लिए अहिंसक संग्राम के समरांगण में अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की तमन्ना लेकर जूझ पड़ने वाले नौजवानों की अग्रपंक्ति में दिखाई पड़े और समस्त बाधाओं, विपत्तियों एवं संकटों का सामना करते हुए अविचलित भाव से उस पर बढ़ते गये; जब राष्ट्र-गुरु द्वारा दिये गये मन्त्र से दीक्षित होकर आप ऊंचा सिर, ऊंची छाती रख कर पुलिस की लाठियों और गोलियों का, जेल की लौह-शृंखलाओं का सामना करते हुए अपने संकल्प पर बढ़ते गये। सुदीर्घ काल की आपकी यह भव्य-साधना एक इतिहास है और उस इतिहास का हर पृष्ठ, हर शब्द और हर अक्षर अभिनन्दनीय है।

सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत,

जो समाज अगण्य सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों में जकड़ा हुआ हजारों वर्षों से प्रगाढ़ निद्रा में सुषुप्त था, जिसकी सामाजिक चेतना निर्जीव हो गई थी, जिसने भेद, वैषम्य और अन्याय को धार्मिक मान्यताओं में सन्निविष्ट कर रखा था, जिसने नारी को निरा चेतनाविहीन, अधिकारविहीन पशु बना कर कैद में रखा था, उस समाज को झकझोर कर जाग्रत करने के लिए, जो मन्त्र आपने फूंका, उसकी सफलता आज स्वयं आपका अभिनन्दन कर रही है। आपके शब्द हैं ये कि "सामाजिक क्रान्ति के इस युग में प्राचीन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों को हमें उसी तरह जला कर खाक कर देना है, जिस प्रकार प्लेग और हैजे के कीटाणुओं से आच्छादित वस्तुएं उन कीटाणुओं का प्रसार समाप्त करने के लिए खाक कर दी जाती हैं। उस समय यह नहीं देखा जाता कि अमुक वस्तु काम की है, कीमती है, उसे रख लिया जाय। काम की होगी, कीमती भी होगी, वह है तो कीटाणुओं से भरी हुई। वह हमारे लिए उपयुक्त नहीं।" समाज में से इन कीटाणुओं को सदा-सर्वदा के लिए नेस्तनाबूद करने के लिए आपने जिन प्रचण्ड आन्दोलनों का नेतृत्व किया, ईंट-पत्थरों के सामने छाती खोल कर, जूठी पत्तलों को सिर पर झेल कर, गाली-गलौज को फूल मान कर, सामाजिक बहिष्कार का अभिनन्दन मान कर और माता-पिता, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी सब के कोप-भाजन बन कर भी आपने इन विचारों को अपने जीवन में उतारा, इन आदर्शों को साकार किया, और हजारों-हजारों नौजवानों को इस पथ पर चलने की प्रेरणा दी। घोर सामाजिक-धार्मिक अन्याय और अत्याचार से पीड़ित नारी को बाल-विवाह, अनमेल विवाह, बहुपत्नी-प्रथा, अनिवार्य वैधव्य-पालन और पर्दा की पैशाचिक यन्त्रणाओं से मुक्ति प्रदान कर आपने जो जागृति और नवचेतना उत्पन्न की, वह कभी भी विस्मृत नहीं होगी।

तूफानों के जयी वीर,

आपका जीवन सामाजिक और राजनीतिक तूफानों का जीवन रहा है। तूफानों ने आपको प्रेरणा और शक्ति दी, आपको झुकाया नहीं। तूफानों पर बैठकर आप युग के नये क्षितिजों की ओर उड़े। आज हम जिस क्षितिज पर पहुंच गये हैं, वह कितने तूफानों, कितने संघर्षों के बाद मिला है! इन बड़े-बड़े तूफानों के बाद प्राप्त हुई राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के नव प्रांगण में खड़े होकर हम आज, हे जयी वीर, आपका अभिनन्दन करते हैं और अभिनन्दन करने में गौरव अनुभव करते हैं।

राष्ट्रीयता की आदर्श भावना के उन्नायक,

आपने अपने जीवन में सदा राष्ट्र-कल्याण को ही सबसे ऊंचा स्थान दिया। जातीयता, सांप्रदायिकता और प्रांतीयता की घातक संकीर्णताओं का आपने हर जगह, हर समय डट कर मुकाबला किया, और राष्ट्रीय ऐक्य के उन्नयन में आप सतत अग्रसर रहे। समस्त देश में एक राष्ट्रीयता की भावना जागृत रहे, हर प्रांत, हर जाति, हर सम्प्रदाय अपने-अपने क्षुद्र स्वार्थों को भूल कर मातृभूमि के व्यापक हितों को ही सर्वोपरि मान कर चले, इस आदर्श का जो उदाहरण आपने रखा, उसका ही परिणाम है कि आप सब जन-प्रिय हैं—आपकी लोकप्रियता जाति, धर्म, प्रान्त, भाषा सबकी सीमाओं से परे है।

नव-निर्माण के उद्गायक,

संघर्ष और बलिदान की दीर्घकालीन साधना के बाद आज हमारा राष्ट्र बन्धन-मुक्त होकर नवनिर्माण के सिंहद्वार पर खड़ा है। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की पुरानी जड़ परम्पराएं टूट रही हैं—आपका स्वप्न आज साकार हो रहा है। नये समाज के निर्माण की बुनियादें डालने के लिए भूमि साफ हो गई है—सामाजिक और आर्थिक जीवन के क्षेत्रों में आमूलचूल परिवर्तन का आह्वान हमारे सम्मुख खड़ा है। आपके साथ हम इस नवनिर्माण का स्वप्न लेकर बढ़े थे—आज अभिनन्दन की वेला में इस स्वप्न को साकार देख कर हम और आप आनन्दित हैं।

सरलता और सौम्य की मूर्ति,

आपकी गुण-गरिमा महान् है—आपकी सरलता, आपकी पर-दुख-कातरता, आपके सौम्य, आपकी निश्छलता ने सबका हृदय जीत रखा है; जो विचारों में आपके विरोधी हैं, वे भी आपके इन गुणों के कायल हैं और आपके व्यक्तित्व के प्रशंसक हैं और एक विशाल जन-समुदाय आपके स्नेह-सूत्र में आबद्ध है। और वे सब आपके विचारों और भावनाओं का अभिनन्दन करते हैं, और कामना करते हैं, आपको विश्वास दिलाते हैं कि हम समाज और राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए हर क्षण कटिबद्ध रहेंगे—आपके प्रिय गान रवि ठाकुर के "एकला चल रे, एकला चल" की भावना रखकर समस्त बाधाओं के बावजूद अपने ध्येय की ओर अग्रसर होंगे, उसकी पूर्ति अवश्य करेंगे।

प्रिय साथी, अभिनन्दन के रूप में हमारी विनम्र श्रद्धा स्वीकार कर हमें कृतार्थ करें।

हम हैं,

आपके साथी, सहयोगी और शुभचिन्तक

बसंतलाल मुरारका अभिनन्दन समिति
१५२ बी, हरीसन रोड, कलकत्ता
सोमवार, ता० ८-१०-५६

स्वर्गीय मुरारकाजी का अंतिम संदेश—
"सामाजिक क्रांति जिन्दाबाद !"

आज मेरा अभिनन्दन करनेके निमित्त यह जो आयोजन हुआ है और अभी आपने मेरे बारे में जो कुछ कहा और सुना है, उसके लिए मैं किसका और क्या आभार मानूँ ? यह आयोजन उन साथियों के द्वारा किया गया है, जिनके साथ मैंने कन्धे से कन्धा मिला कर पिछले ४० वर्षों में स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी और सामाजिक क्रान्ति का बीज बोया। उन साथियों के उत्साह और लगन से ही यह कार्य हुआ है। अतः यह अभिनन्दन जितना मेरा है, उतना ही उन सबका भी है। और, मेरा और उनका भी क्या, उन विचारों और कार्यों का है, जिनसे समाज में परिवर्तन आया है।

मुझे तो फिर आपसे यही कहना है कि यद्यपि हमने राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करली है, पर आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी बाकी है। यह आज भी एक बड़ा क्रान्तिकारी कार्य है। बिना सामाजिक स्वतंत्रता के हम कभी भी आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकते और सामाजिक क्रान्ति बहुत कुछ निर्भर करती है पुरानी परम्पराओं के ध्वंस करने पर। जिन सड़ी-गली परम्पराओं से प्लेग के कीटाणु उत्पन्न हो गये हैं, उनसे आज हमको संघर्ष करना है। अच्छी से अच्छी वस्तु भी त्याज्य हो जाती है, जब उसमें संक्रामक रोग के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। किसी मकान में संगमरमर के कमरे हों, फिर भी जब वह पुराना हो जाय और नई रहन-सहन के काबिल न हो, तो उसे तोड़ना ही पड़ता है। इसलिए जो परम्पराएँ पुरानी हैं, सड़ गई हैं, वे कितनी भी अच्छी हो, कितनी भी कीमती हों, उन पर निर्भय होकर आक्रमण करना है। अगर हम पुरानी परम्पराओं को बचाने में ही फँसे बैठे रहेंगे, तो नये समाज का निर्माण नहीं कर सकेंगे।

आज नये समाज का जो निर्माण हो रहा है, उसमें जातपांत, साम्प्रदायिकता आदि राक्षस नहीं रहेंगे, ऊंच-नीचका भाव नहीं रहेगा। मैं यह अनुरोध करूंगा कि हम सब मिलकर प्राचीन परम्पराओं के कीटाणुओं को नष्ट कर नये समाज की रचना करें। तभी देश में नया जीवन आयेगा और राष्ट्रीय नवनिर्माण की योजनायें सफल होंगी। अब तो समाजवाद का जमाना है।

देश बड़ी तेजी से बदल रहा है। इसमें जो पुरानी रूढ़ियों को पकड़े बैठे रह जायेंगे, उन्हें पीछे ही छोड़ कर देश आगे निकल जायगा। आज हम सबका एक ही कार्य है कि युग की आवाज को पहचानें और जिस प्रकार हम एक दिन राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में जुट गये थे, उसी प्रकार आज सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता के लिये जुट जांय।

सामाज़िक क्रांति जिन्दाबाद! सामाजिक क्रांति जिन्दाबाद!! सामाजिक क्रांति जिन्दाबाद!!!

-:०::०:-

ता० ८ अक्टूबर सन् १९५६ को सायंकाल ६ बजे श्री बसंतलालजी का जो सार्वजनिक अभिनन्दन उनकी विशेष रुग्णावस्था के कारण उनके घर पर ही किया गया था, उसमें वे बोल नहीं सके, पर उससे एक दिन पहले जब उनकी अवस्था कुछ अच्छी थी, उनके उद्‌गार टेप-रिकार्डर पर भर लिये गये थे और वे ही अभिनन्दन-समारोह में सुना दिये गये। उनके इस अंतिम संदेश को समारोह में समागत हजारों नर-नारियों ने रुद्ध कंठ से सुना और वहां से लौटते वक्त तक वह कानों में गूंजता रहा।



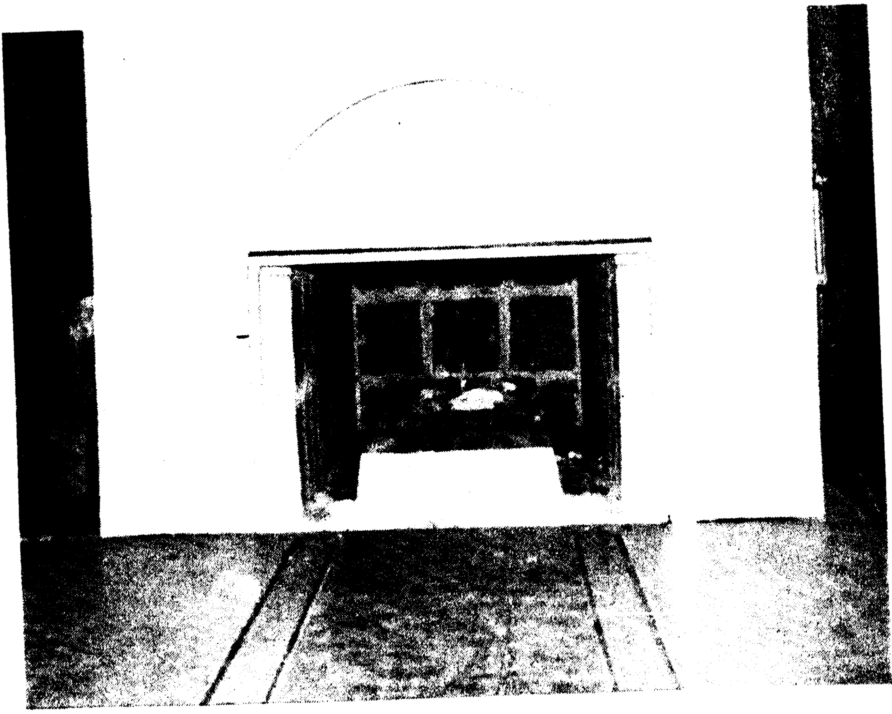
अंतिम दर्शन



शोक—संतप्त कुटुम्बी-जन और साथी



अंतिम इच्छानुसार विद्युत-संचालित दाहगृहमें रखा हुआ शव



केवल भस्म रह गये

अविस्मरणीय समाज-सेवी

श्री बसंतलालजी मुरारकाने ४० वर्षों तक लगातार जो समाज-सेवा की, वह अविस्मरणीय रहेगी ।

—श्री उच्छंगराय नवलराय ढेबर,
काँग्रेस-अध्यक्ष

अभिनन्दनीय सार्वजनिक जीवन

श्री बसंतलालजी मुरारकाका ४० वर्षोंका सार्वजनिक जीवन सचमुच अभिनन्दन करने योग्य था ।

—श्री गोविन्द वल्लभ पंत,
गृहमंत्री, भारत सरकार

एक कर्मठ जीवन

मुरारकाजी तो मेरे पुराने—पिछले २८ वर्षोंसे—मित्र थे । उनका जीवन एक संस्था था । कलकत्तेके सभी सार्वजनिक कार्योंमें उनका सहयोग रहता था । उनका जीवन एक कर्मठ जीवन था ।

—श्री जगजीवन राम,
परिवहन मंत्री, भारत सरकार

कांग्रेसके पुराने कार्यकर्ता

श्री बसन्तलाल मुरारका कांग्रेसके पुराने कार्यकर्ता थे। विगत तीस वर्षोंसे सार्वजनिक क्षेत्रमें काम करते आ रहे थे। भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राममें उनका काफी अवदान रहा है।

—डॉ० हरेकृष्ण मेहताब,
मुख्य मंत्री, उड़ीसा

एक कर्मठ समाज-सेवी

जिस समय श्री मुरारकाजीने समाज-सेवा का व्रत धारण किया था, उस समय समाज अन्धविश्वासोंके कूपमें इस प्रकार डूबा था कि उसके उत्थानकी कल्पना करना भी साहस का काम था। श्री बसन्तलाल मुरारका एक कर्मठ समाज-सेवी और सुधारक थे। आशा है, हमारे नवयुवक मुरारकाजीके जीवनसे स्फूर्ति लेंगे। यद्यपि आज हमारा सामाजिक स्तर ऊँचा है फिर भी अभी कई ऐसी रूढ़ियाँ हैं, जिनका निर्मूलन किए बिना राष्ट्रकी प्रगति नहीं हो सकती।

—डॉ० पट्टाभि सीतारमैया
राज्यपाल, मध्यप्रदेश

जिनकी सेवाएँ सर्व-विदित थीं

श्री बसंतलाल मुरारका हम लोगोंके परिवारके साथ घनिष्ठता रखनेवाले व्यक्तियों में से थे। उन्होंने राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रमें देशकी जो सेवाएँ कीं, वे सर्व-विदित हैं।

—श्री जुगलकिशोर बिड़ला

आदर्श और स्फूर्ति-प्राप्तिके श्रोत

भाई बसंतलालजी हमारे देशके स्वतंत्रता-संग्रामके एक प्रमुख सेनानी थे। उन्होंने तथा उनकी धर्मपत्नी बहिन रमादेवीजीने अपने जीवनका अधिकांश एवं सर्वोत्तम भाग राष्ट्रकी सेवामें लगाया। वह देशके उन मूक सच्चे सेवकोंमें रहे, जिनका जीवन-कार्य आजके नवयुवकों और आनेवाली पीढ़ियोंके लिए कई मानोंमें आदर्श उपस्थित करेगा। गुलामी और रूढ़िवादके विरुद्ध भीषण संग्राममें भाई बसंतलालजी सपरिवार उस समय कूद पड़े, जब पर्दे, छुआछूत आदिके खिलाफ़ और अन्तर्जातीय एवं विधवा-विवाहके पक्षमें मुँह खोलना एक बड़ी बात थी। अपने अथक परिश्रम द्वारा जो निस्वार्थ सेवा भाई बसंतलालजीने देश और समाजकी की, वह स्वर्णाक्षरोंमें अंकित रहेगी।

स्वतंत्रता-संग्रामका वह सिपाही जीवन-भरके त्याग और तपस्याके बाद हम सबके लिये आदर्श और स्फूर्त्ति--प्राप्तिका स्रोत बन गया।

भाई बसंतलालजीका सरल स्वभाव, निष्कपट व्यवहार और निर्मल चरित्र हम सबके लिये अनुकरणीय रहेगा। दूसरोंका दुःख जीवनमें उन्होंने अपना ही दुःख माना। उसको मिटानेके लिये जो कुछ भी उनकी शक्तिमें था, वह कर डालनेमें कभी कोई कोर-कसर उठा न रखी।

—श्री राजबहादुर

उप-परिवहन मंत्री, भारत सरकार

सामाजिक जागरणके प्रतीक

श्री मुरारकाजीने सक्रिय रूपसे कांग्रेस आन्दोलनमें योग दिया। यही नहीं, सामाजिक जागरणके वे बंगालके प्रतीक माने जा सकते हैं। पश्चिमी बंगालकी धारासभाके वे एक क्रियाशील सदस्य थे और एकनिष्ठ कांग्रेसीके रूपमें अ० भा० कांग्रेस कमेटीके सदस्य।

ईश्वरसे मेरी प्रार्थना है कि उनके विचारों और कार्योंसे आगे आनेवाली पीढ़ीको मार्ग-दर्शन मिले।

—सेठ गोविन्द दास

जिनकी सेवाका वर्षों तक स्मरण रहेगा

श्री बसन्तलालजीके साथ मेरा बहुत वर्षों तक घनिष्ठ संबंध रहा। सार्वजनिक कार्योंमें और विशेषकर कांग्रेस संस्थामें उनका उत्साह व लगन अभिनन्दनीय था। कुछ वर्षोंसे तो उनका सारा ध्यान कांग्रेसके कार्योंमें ही लगा रहा, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जो सेवा उन्होंने विभिन्न क्षेत्रोंमें की, उसका बहुत वर्षों तक हम सभी को स्मरण रहेगा।

—श्री श्रीमन्नारायण
प्रधान मन्त्री, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी

नई पीढ़ी के सामने एक आदर्श

श्री मुरारकाजीने समाज-सुधारके नानाविध आन्दोलनोंमें सक्रिय भाग लेकर देश की नई पीढ़ीके सामने एक आदर्श उपस्थित किया।

—श्री तख्तमल जैन,
मुख्य मन्त्री, मध्यभारत

जिनसे हमेशा मार्ग-दर्शन और प्रेरणा मिलती रही

श्री मुरारकाजी लगभग ४० वर्षों तक समाज व देशकी प्रसंशनीय सेवा करते रहे। उनका क्षेत्र विशेषत: समाज-सेवाका था। समाज-सुधारमें उनकी विशेष रुचि थी। राजनीतिक क्षेत्रमें भी मुरारकाजीने जो काम किए, वे अनुकरणीय थे। उनके सहयोगी के रूपमें मुझे हमेशा उनसे मार्ग-दर्शन एवं प्रेरणा मिलती रही।

—श्री मिश्रीलाल गंगवाल,
वित्त मंत्री, मध्यभारत

प्रियदर्शन बसंतलालजी

मैंने अपने स्नेहियोंमेंसे एक वर्ग बनाया है, जिनको मैं 'प्रियदर्शन' कहता हूँ–जिनको देखते ही खुशी होती है, जो हमेशा प्रसन्न रहते हैं—औरोंको प्रसन्न करते हैं और इस तरह अनजाने भलाई का प्रचार करते हैं। ऐसे लोगों को मैं प्रियदर्शन कहता हूँ।

श्री बसंतलालजी मुरारका ऐसे ही प्रियदर्शनोंमें से एक थे। उनकी कांग्रेस-निष्ठा सब जानते हैं, किन्तु उनमें दलबन्दीका माद्दा नहीं था। रचनात्मक कामोंमें उनकी दिलचस्पी छिछली नहीं थी।

श्री सीतारामजी सेकसरियाके द्वारा जिन अनेक सज्जनोंका स्नेह मुझे मिला, उनमें बसंतलालजी भी थे। फिर उनके द्वारा मुझे अनेक स्नेही मिले और इस तरह स्नेहकी बिरादरी बढ़ती गई। सात्त्विक स्नेहकी बिरादरी बढ़ाते जाना, यह आजके युगके लिये सबसे महत्वका काम है।

—काका कालेलकर

बंगालकी बड़ी क्षति

पश्चिम बंग प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी द्वारा गृहीत निम्न लिखित प्रस्तावसे स्पष्ट है कि श्री मुरारकाजीने बंगालके सार्वजनिक जीवनमें अपनेको किस प्रकार एकरूप कर लिया था :

"पश्चिम-बंग प्रदेश कांग्रेस कमेटीकी कार्यकारणी समिति बड़े दु:खके साथ बंगालके जनप्रिय देश-सेवक बसंतलालजी मुरारकाकी मृत्यु पर शोक प्रकट करती है। बसन्तलालज़ी मुरारकाने कांग्रेसके एकनिष्ठ कर्मीके रूप में तथा विशिष्ट समाज़-सेवीके रूपमें अपना सारा जीवन बिताया। उनके मधुर स्वभावकी स्मृति सभीको अनन्त काल तक बनी रहेगी। उनकी आकस्मिक मृत्युसे बंगालकी बड़ी क्षति हुई है। यह सभा बसंतलाल मुरारका के परिवारके प्रति समवेदना ज्ञापन करती है।"

आया ? वे इतनी ऊपर कैसे उठीं ? तो मानना पड़ेगा कि उनको बनानेमें भाई बसन्तलालजीका बड़ा हाथ रहा है ? १२ दिनके भीतर ही सार्वजनिक कामोंमें जुट जाना—कोई मामूली बात नहीं। ऐसा तो केवल गाँधीजी ही कर सकते थे। या फिर कोई अपरिग्रह करनेवाला ही। रमा बहन तो अनाथ बहनोंके लिए ही जीती-मरती हैं। घरमें बहुओंके साथ भी वे जैसा व्यवहार करती हैं, देखकर किसीको भी ईर्ष्या हो सकती है।

भाई बसंतलालजीका समाज-सुधारके कार्योंमें जो अवदान रहेगा, उसमें विशेषतः नारी-जागरणका स्थान रहेगा। अगर उनको नारी-जागरणका अग्रदूत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं।

-:o:-

भाई बसन्तलालजी और उनका व्यक्तित्व

—श्री हीरालाल शास्त्री

भाई बसन्तलालजी मुरारकासे मेरा लंबा व घनिष्ठ परिचय रहा। मैंने उनका नाम तो बहुत पहलेसे सुन रखा था और मिल भी चुका हूँगा। पर मुझे उनकी विशेष याद सन् १९२८ के अप्रैल मासके उस दिनकी आती है, जिस दिन वे मुझे और मेरे परिवार को लेनेके लिये सियालदह स्टेशन पहुँचे थे। उनका चेहरा सदाकी भाँति उस दिन भी खिलता हुआ और हँसता हुआ था और उनकी सीधी-सादी लापरवाही मुझे उनकी ओर खींच रही थी।

मैं जयपुरमें एक छोटा-सा छात्रावास चलाया करता था। उस छात्रावासके लड़कों को न जाने क्या सूझी कि वे सब मुझसे कहे-सुने बिना ही किसी प्रकार एक तरफके किराये के पैसोंका जुगाड़ करके, १९२८ का कांग्रेस अधिवेशन देखनेके विचारसे, एक दिन सबेरे अचानक कलकत्तेमें मेरे द्वारपर आ धमके। मैं बड़ी उलझनमें पड़ गया पर भाई बसंतलालजीने लड़कोंके भोजन-निवासादिकी व्यवस्था करके मुझे निश्चिंत कर दिया।

कुछ महीनोंतक मेरा कलकत्तेमें ठहरना हुआ। उस अर्सेमें भाई बसन्तलालजीसे मेरा काम बराबर पड़ता रहा। बसंतलालजी मज़ेदार आदमी थे। वे विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे, यह उनसे बातें करनेसे मालूम हो जाता था। पर वे नये युगकी बात बड़े अधिकार के साथ करते थे। उनकी कही हुई एक बात मुझे बहुत अखरती रही। वह बात इस आशयकी थी कि वेदादि शास्त्र बेकार हैं, उन्हें समुद्रमें फेंक दिया जाय। मैं बसन्तलालजीसे कहता रहा —"भले आदमी, आप पढ़े-लिखे तो हो नहीं, शास्त्रका एक अक्षर आप जानते नहीं और आप वेदादि शास्त्रोंको समुद्रमें फेंक देने योग्य बताते हो।" मैं याद करके देखता हूँ, तो मुझे लगता है कि बसन्तलालजीने एक बार भी मेरे इस कड़े उपालम्भका बुरा नहीं माना। और न कभी उन्होंने ज़रूरत समझी अपने मतमें संशोधन करनेकी। न उन्होंने कभी कोई सफाई पेश की।

एक बार भाई बसन्तलालजी 'जोड़े से' (सपत्नीक) वनस्थली पहुँचे। उस ज़मानेमें वनस्थलीकी यात्रा करना सबके लिये कठिन था। बसन्तलालजी व रमादेवीको विदा करनेके समय वर्षा हो रही थी। इसलिए उस अनूठे जोड़ेको मैंने एक बैलगाड़ीमें बिठाया। और उनके चारों ओर मोमजामेका एक मज़बूत-सा पर्दा लगवा दिया। फिर मुझे धुन सवार हुई गानेकी—

"पर्देकी बीबी बन गए, बाबू मुरारका!"

बसन्तलालजी बीबी रमादेवीका पर्दा छुड़वानेके काममें अग्रणी रहे होंगे पर उस दिन उन्हें खुद पर्देकी बीबी बनना पड़ा। भाई बसन्तलालजीकी उस दिनकी प्रसन्नता मुझे सदा याद रहेगी।

भाई बसन्तलालजीसे आप किसी भी विषयपर भाषण दिलवा सकते थे। वे झिझकना तो जानते ही नहीं थे और संकोच उनसे बहुत दूर रहता था। उनका कोई विरोध करता, तो वे विचलित नहीं होते थे। बसंतलालजी आगे बढ़कर बात करनेवाले सुधारक थे। उनसे भूल-चूकसे भी किसी तरह की ग़लती हो जानेकी शंका का अवसर आ जाय तो लोग कब उन्हें बख्शने वाले थे। पर ऐसा समय वे कम आने देते थे। उस दिन पुरुलियामें मारवाड़ी सम्मेलनमें बसंतलालजीके विरुद्ध लोगोंने ज़ोरकी आवाज़ उठाई, पर बसन्तलालजी हँसते ही रहे। न उन्होंने बुरा माना, न उन्हें गुस्सा ही आया। विरोधियोंकी उपेक्षा करते हुए वे अपनी बात ज़ोर-शोरसे कहते रहे। दूसरा आदमी ऐसी स्थितिमें दब जाता, बुरा मान जाता, चिढ़ने लगता, पर बसन्तलालजी उस पिताके पुत्र साबित हुए, जिनकी एक ढाबेमें जीमनेकी वह कथा मशहूर है जिसमें ढ़ाबेवालेको अपनी जानकी माफी माँगनी पड़ी थी।

पिछली बार जब मैं कलकत्तामें था, तब भाई बसन्तलालजी काफ़ी बीमार थे। मैं अपने कामका लोभी ठहरा। सो इनके पास भी पहुँच गया। बसन्तलालजी कमालके आदमी थे! उस बीमारीकी हालतमें भी वे अनेकों बार मेरे साथ हो लिये। और उन्होंने अपने हिस्सेका कार्य पूरा करवा दिया। वैसी अवस्थामें वे मुझे आसानीसे टाल सकते थे। पर न बसंतलालजी टालनेवाले थे, न टलने वाले थे। उन दिनों बसंतलालजी को एक दर्दनाक घटनाका टेलीफोन मिला। उन्होंने मित्रोंको खटखटाया—चलो, वहाँ चलना है। पता नहीं मित्र लोगोंमेंसे कौन पहुँचे और कौन नहीं। पर जहाँ तक मुझे मालूम है, बीमार बसन्तलालजी मुरारका ज़रूर पहुँचे। ऐसे अदम्य उत्साहकी हमें सराहना करनी होगी।

समाजमें भाई बसन्तलालजी-सा व्यक्तित्व मुझे नहीं दिखायी देता। बस "बसंता" जैसा तो "बसन्ता" ही था।

-:०:-



जीवन-साथी

ऐसा वह साथी था!

श्री सीताराम सेकसरिया

जब मैं १७ वर्षका था और बसंतलालजी भी प्राय: इतनी ही उम्रके, तब हम लोग राजस्थानके अपने गाँव नवलगढ़में पहले-पहल मिले। बसन्तलालजीके एक दूरके भाई मेरे मित्र थे, जिनको आज कोई नहीं जानता। २० वर्षकी उम्रमें ही उनकी मृत्यु हो गयी। उनमें देश और समाजकी उन्नति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। हिन्दी की उन्नतिके लिए वे बहुत ही प्रयत्नशील थे। एक प्रकारसे उन्होंने ही मुझे दीक्षित किया। मेरी धार्मिक भावनाओंको उन्होंने जगाया और देश तथा समाजकी सेवा करनेकी अभिरुचि पैदा की। हम दोनों मित्रोंके प्रयत्नसे नवलगढ़में सन् १९०८ में 'नवलगढ़ विद्या-विवर्धन पुस्तकालय' की स्थापना हुई। उस समयकी स्थितिको जब याद करता हूँ और युगके आजके परिवर्तनके रूपको देखता हूँ, तो ऐसा लगता है कि वह सब जैसे स्वप्न था। वास्तवमें रात और दिनमें जितना अन्तर है, उतना ही उस समयकी स्थिति और आजकी स्थितिमें है।

एक दिन उसी मित्र, भाई मोहनलाल मुरारका, ने एक समवयस्क युवक को मेरे सामने लाकर खड़ा किया और कहा "यह मेरे भाई हैं बसन्तलाल मुरारका। मुकुन्दगढ़के हैं। इनकी इच्छा भी अपने गाँवमें पुस्तकालय खोलनेकी है।" इस घटनाके दो-चार महीने बाद ही भाई भागीरथजी और बसन्तलालजीने मुकुन्दगढ़में पुस्तकालय स्थापित कर लिया। यही बसंतलालजीके साथ मेरा पहला परिचय था।

सन् १९११ में मैं कलकत्ता आया। यहाँ पहुँचनेके कुछ दिन बाद ही भाई मोहन लालजीके यहाँ बसंतलालजीसे मुलाकात हुई। उन दिनों कलकत्तामें हिन्दी साहित्य सम्मेलनका अधिवेशन हो रहा था। इस अधिवेशनके सभापति थे चौधरी बद्रीनारा-नारायण प्रेमघन। आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदीके सभापति होनेकी बात थी पर कई कारणोंसे वे सभापति नहीं हो पाये। मुझे उस समयकी स्थितिका ज्ञान नहीं था, पर भाई बसन्तलालजी, जिन्होंने सम्मेलनमें भाग लिया था, ने मुझे बताया कि द्विवेदीजी सभापति न चुने जानेके कारण असंतुष्ट हो गए। हम लोगोंकी उम्र उस समय बहुत कम थी और हम बहुत बातोंको समझ-सोच नहीं सकते थे। आजकी तरह विकासके साधन भी उस समय उपलब्ध नहीं थे। हां, तो भाई बसन्तलालजी उसी समयसे सार्वजनिक क्षेत्रमें काम करने लगे थे।

भाई बसन्तलालजी बिड़ला-बंधुओंके यहाँ बलदेवदास जुगलकिशोर फर्ममें तीस

रुपए महीनेपर काम करने लगे और मैं सूरजमल शिवप्रसादके यहाँ पच्चीस रुपये महीनेपर। दोनोंको काम इतना अधिक रहता था कि बहुत इच्छा रहनेपर भी हम लोग आपसमें मिल नहीं पाते थे। उन दिनों टेलीफोनकी सहूलियत भी नहीं थी। हम पत्रोंके जरिए ही आपसमें मिला करते थे।

जब मैथिलीशरणजी गुप्तकी भारत-भारती प्रकाशित हुई, तो बसन्तलालजीने पत्र द्वारा ही मुझे ये पंक्तियाँ लिखकर भेजीं—"हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी। आओ, विचारें आज मिलकर यह समस्याएँ सभी।" उन दिनों गद्दियोंमें रातमें काम करना पड़ता था। बसंतलालजीको दस बजे छुट्टी मिल जाती पर रोकड़का काम होने के कारण मुझे अधिक समय तक काम करना पड़ता था। जिस दिन मुझे जल्दी छुट्टी मिलनेकी सम्भावना मालूम होती, उस दिन हम लोग मिलनेकी व्यवस्था करते और बड़तल्ला की मोड़की कोठीके पास बैठकर घण्टों बातें करते। हमारी चर्चाका विषय होता था देश और समाजकी समस्याएँ। हम इन कामोंको कैसे करें—इस संबंधमें सोचते-विचारते थे। कभी-कभी देशके गण्यमान्य नेताओंके सम्बन्धमें भी चर्चा कर लेते थे जिनमें लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल, गोखले, लाजपतराय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा गाँधीजी और बंगालके क्रांतिकारियोंकी बातें होती थीं। हमारे साथियोंमें ऐसे युवक भी थे, जो जेलकी या सरकारी दमनकी स्थितिके लिये अपनेको तैयार करनेके लिए जमीनपर सोते थे, ईंटका तकिया लगाते थे और खिचड़ी खाते थे। उन दिनोंकी भावनाएँ इतनी तीव्र थीं कि हर आदमी, जो ज़रा भी देश, समाजकी सेवाके बारेमें सोचता था, हर तरह से अपने-आपको कष्टोंमें डालना चाहता था। कुछको छोड़कर ऐसी विचारधारा रखने वालोंकी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी। फिर भी अपनी आमदनी का एक हिस्सा वे सार्वजनिक कार्योंमें देनेके लिए बाध्य थे। संयोगसे इसी समय एक स्वामीजी आए, जिन्होंने नवयुवकोंको सादगी, सेवा, सत्य-निष्ठा और देश-प्रेमका पाठ पढ़ाया। उन्होंने सात जीवनोपयोगी व्रत दिलाए—(१) सूर्योदयसे पहले उठना (२) उपासना करना (३) व्यायाम करना (४) स्वाध्याय करना (५) स्वदेशी वस्त्र पहनना (६) स्त्री-संबंधी चारित्रिक पवित्रता बरतना (७) आमदनीका एक हिस्सा, जो कमसे कम १० प्रतिशत हो, देशके कार्योंमें देना। इसके अलावा उन्होंने राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना भी जागृत की और सार्वजनिक कार्य करनेके तरीके भी बताए।

मैं और भाई बसंतलालजी उन दिनों कार्यकर्त्ताओंकी दूसरी पंक्ति थे। इसलिए सारी बातोंकी पूरी जानकारी हमें नहीं मिलती थी, पर इस गति-विधिसे हम सम्बन्धित थे और आकर्षित भी। स्वदेशी आन्दोलनने बंगालमें ही नहीं समस्त भारतवर्षमें राजनीतिक जागृति और स्वाधीनताकी प्रबल भावना पैदा कर दी थी। सामाजिक कार्य उन दिनों कम होते थे पर समाज-सुधारकी चेतना लोगोंमें जग चुकी थी। समाज-सुधारके कार्योंमें पंचोंसे, घरके बड़े-बूढ़ोंसे और समाजसे सीधा विरोध होने के कारण यह आन्दोलन मारवाड़ी-समाजमें बहुत धीमा चल रहा था। सुधारकी बात अगर कभी आती भी तो पंचोंकी मार्फत ही आती। नवयुवक बिचारोंकी दृष्टिसे आगे थे पर काम करते समय उन्हें बड़ोंकी ओर देखकर ही आगे बढ़ना पड़ता। समय-समयपर इस नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ीमें समाज-सुधारके कार्योंको लेकर परस्पर संघर्ष भी होता था।

कई बार वह संघर्ष काफी गहरा और उग्र भी हो जाता था, जैसे आर्य-समाज और सनातन धर्मके संघर्षका आन्दोलन हुआ। इस आन्दोलनका नाम चाहे जो रहा, पर वास्तवमें यह नए-पुराने विचारोंका ही संघर्ष था।

उन दिनों "देशकी बात" नामक एक पुस्तक की चर्चा हम लोगोंमें खूब थी। इस पुस्तकने अंग्रेज़ी राज्यके विरोधमें बहुत अच्छा वातावरण पैदा किया था। इस पुस्तक को पढ़कर हर भारतीय अंग्रेज़ोंका कट्टर विरोधी बन जाता था। पुस्तक ज़ब्त थी। ऐसी स्थितिमें उसका किसीके पास मिल जाना ख़तरेसे खाली नहीं था। सरकारी दमनका डर बहुत था। ऐसी बात नहीं थी कि हम डरते नहीं थे। हम डरते थे किन्तु इस प्रकारकी पुस्तक पढ़ने, नेताओंके बारेमें जाननेकी जिज्ञासा रखते थे और समय आनेपर कुछ करने-धरनेका साहस भी।

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। इसकी प्रतिक्रिया चारों तरफ दिखाई दी। सरकार भारत-रक्षा क़ानून बनाकर आतंकवादियोंको गिरफ्तार करने लगी। अंग्रेज़ी राज्यके पिट्ठू लोग युद्धमें सहायता करनेके लिए आन्दोलन और प्रचार करने लगे। मारवाड़ी समाज व्यापारी समाज होनेके कारण राजभक्त माना जाता था। विदेशी कपड़ेका व्यापार मारवाड़ी समाजका मुख्य व्यापार था। विदेशी कपड़ेका आयात अंग्रेज़ी आफिसोंके द्वारा होता था। मारवाड़ी समाजके बड़े नेता या पंच इन आफिसोंके दलाल या मुसद्दी थे। पर मारवाड़ी समाजमें कुछ युवक थे जो अंग्रेज़ी राज्यके ख़िलाफ़ विचार रखते थे और आतंकवादी आन्दोलनकारियोंके साथ उनका सम्बन्ध था। डा० कैलाशचन्द्र बोसका मारवाड़ी समाजके धनी और प्रभावशाली लोगों पर उन दिनों काफी दबाव था। ये सब लोग नवयुवकोंके रवैयेसे सख्त नाराज़ थे। इसी समय एक घटनामें पाँच-सात युवक भारत रक्षा क़ानूनके अन्तर्गत गिरफ्तार हो गए जिनमें भाई हनुमानप्रसादजी पोद्दार, प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, कन्हैयालालजी चितलांगिया, ओंकारमलजी सराफ, ज्वालाप्रसादजी कानोड़िया एवं फूलचन्दजी चौधरी थे। श्री घनश्यामदासजी बिड़ला पर भी वारंट था पर वे कलकत्तेसे बाहर होनेके कारण गिरफ्तार नहीं हो सके। इस घटनाका समाजपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सारा नवयुवक समाज भयसे काँपने लगा। साथ ही कैलाश बाबूके नेतृत्वमें पंच लोग सरकारके पास अपनी राजभक्तिके संदेश भेजने लगे। वर्तमान मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटीका नाम उन दिनों मारवाड़ी सहायक समिति था। इस संस्थाका संचालन नवयुवकों द्वारा ही होता था। बंगालमें आतंकवादी आन्दोलनकी भावना रखनेवाली दो समितियाँ थीं—एक, युगान्तर समिति और दूसरी, अनुशीलन समिति। 'मारवाड़ी सहायक समिति' नाम रहनेके कारण और नवयुवकोंकी संस्था होनेके कारण कैलाश बाबूने राय दी कि इस संस्थाका नाम न बदला गया तो सरकारकी निगाहमें मारवाड़ी समाज शंकाकी दृष्टि से देखा जाएगा। एक तो गिरफ्तारीके कारण, दूसरे पहलेके दो-तीन सामाजिक आन्दोलनोंके कारण (जिनमें विलायत-यात्राका आन्दोलन मुख्य था) युवक लोग पंचों के समक्ष मुठभेड़ लेनेकी स्थितिमें नहीं रह गए थे। इसलिये इच्छा न रहते हुए भी मारवाड़ी सहायक समितिका नाम बदल कर मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी रखा जाना स्वीकार कर लिया गया। इन सब बातोंका ऐसा व्यापक प्रभाव हुआ कि युवक समाज

उनसे त्रस्त हो गया और सार्वजनिक कामकी चर्चा बंद-सी हो गई; परस्पर मिलना-जुलना और विचार करना भी छूट-सा गया।

कानपुरसे प्रकाशित 'प्रताप' उन दिनों हिन्दीके पत्रोंमें नवयुवकोंका पथ-प्रदर्शक था। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थीके लेखोंको युवक-समाज आदरकी दृष्टिसे देखता था। मारवाड़ी सहायक समितिका नाम बदलनेपर यहाँकी जो स्थिति हो गई थी, उसपर विद्यार्थीजीने 'प्रताप' में एक बहुत ही प्रभावशाली लेख लिखा। विद्यार्थीजीकी क़लम में वह शक्ति थी, वह जादू था, जिसका प्रभाव सर्व-साधारणपर पड़े बिना नहीं रह सकता था और ख़ासकर युवक वर्गपर तो उनके लेखोंका अत्यधिक प्रभाव पड़ता था।

भाई बसन्तलालजीकी पत्नी बहुत बीमार थी। वे उसको लेकर जसीडीह गए हुए थे। 'प्रताप' के लेखको पढ़ कर मेरे मनमें जो प्रतिक्रिया हुई, उसको लिखकर विद्यार्थी जीके लेखके साथ मैंने भाई बसन्तलालजीके पास जसीडीह भेजा। मैंने उनसे यह पूछा था—आप विचार करें, हम लोग क्या कर सकते हैं और जितना जल्दी हो सके आप कलकत्ता आ जायँ। बसंतलालजीपर उस लेखकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक ही थी। उन्होंने मुझे पत्रमें लिखा—"चाहे जो हो, हम चुप नहीं बैठ सकते; हमें कुछ-न-कुछ करना ही होगा। आप लोगोंसे मिलना-जुलना शुरू करें। मैं जल्दीसे जल्दी आ रहा हूँ।" एक सप्ताह हीमें वे आ भी गए। इस समय जो स्थिति थी, उसमें पहली पंक्तिके लोगों के साथ मिलना-जुलना या काम करनां सम्भव नहीं था। दूसरी पंक्तिके लोगोंमें संगठन मुश्किल हो रहा था। कई दिनोंकी कोशिशके बाद कुछ मित्रोंको इकट्ठा किया गया और एक संस्था "ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मंडली" नामसे स्थापित की गई। इस संस्थाके उद्देश्योंमें यह साफ़ तौरसे लिखना पड़ा कि राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कामोंसे इस संस्थाका कोई सम्बन्ध नहीं होगा। यह संस्था ज्ञान-वर्धनके कामों तक अपना कार्य सीमित रखेगी। उस समयकी स्थितिको ऊपरका संकेत साफ करता है कि राजनीतिक काममें सरकारी भय, धार्मिक काममें ब्राह्मणोंकी बाधा, सामाजिक कामों में पंचोंका आतंक पूर्ण रूपसे नवयुवकोंमें व्याप्त था। यदि ऐसा न किया जाता तो संस्था का आरंभ करना ही मुश्किल हो जाता। आज वे सब बातें कल्पनाके बाहरकी चीज हो गई हैं। मुझे स्वयं आश्चर्य होता है उस दिनकी और आजकी स्थितिकी तुलना करने पर। ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मंडलीका काम शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने लगा। पुराने साथी भी आने लगे, स्थिति बदलने लगी, आतंक, आशंका, निराशा और भय दूर होने लगा। ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मंडली तो एक साधारण बहाना था। जो काम आगे करना था, वह काम उस मंडलीके द्वारा हो नहीं सकता था। ऐसी स्थितिमें एक और संस्थाकी जरूरत महसूस होने लगी। आहिस्ते-आहिस्ते वातावरण भी बदल रहा था। पुराने लोगों के साथ संघर्ष था ही। उनकी संस्था मारवाड़ी ऐसोसिएशन ही उन दिनों मारवाड़ी समाजकी मुख्य संस्था थी। समाजके धनीमानी और बड़े व्यापारी सबका इस संस्था से सम्बन्ध था। सरकारमें इसी संस्था तथा इसके संचालकोंका प्रभाव था। नए लोग इसके जोड़-तोड़की एक संस्था खड़ी करना चाहते थे। कई दिनोंके सोच-विचार

के बाद मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसियेशन नामसे एक संस्थाकी स्थापना की गई, जिसके सभापति स्वर्गीय देवीप्रसादजी खेतान और मंत्री श्री जगन्नाथ प्रसादजी अग्रवाल चुने गए। सवाल था इस संस्थाके द्वारा वे सब काम कैसे हों, जो नवयुवक करना चाहते थे अथवा जो उन्हें करना उचित था। केवल व्यापारकी बातोंसे तो नवयुवकोंको संतोष नहीं हो सकता था। इसलिये इस संस्थाके अन्तर्गत कई विभाग खोले गए, जैसे ज्ञानवर्द्धक विभाग, जिसमें ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मंडली अन्तर्भुक्त करदी गई। सेवा-विभागका मंत्री भाई बसन्तलालजी को बनाया गया और इस विभागके द्वारा बहुत काम हुआ। यों तो मारवाड़ी ऐसोसियेशनकी सारी धाक और महत्व को इस संस्थाने खत्म कर दिया, फिर भी समाजपर बड़े आदमियोंका जो प्रभाव था, वह तो था ही।

इसी बीच स्वर्गीय जमनालालजी बजाजने समाज-सुधारकी दृष्टिसे अग्रवाल महासभा की स्थापनाकी बात सोची। कलकत्ता मारवाड़ी समाजका खास केन्द्र था और जमनालालजीका यहाँके युवकोंसे सम्बन्ध भी था। इसलिए वे अग्रवाल महासभाकी चर्चाके लिए कलकत्ता आए। नवयुवकोंका तो सारा सहयोग उन्हें प्राप्त था ही, पर वे चाहते थे कि पुराने विचारवाले या पंच-पंचायतीवाले लोगोंका भी सहयोग प्राप्त किया जाय। बहुत कोशिश करनेपर भी जमनालालजी उनका सहयोग प्राप्त नहीं कर सके। पर बम्बई तथा दूसरे प्रान्तोंमें उन्हें सहयोग मिला। वर्धामें अग्रवाल महासभाका प्रथम अधिवेशन हुआ जिसमें श्री देवीप्रसादजी खेतान और भाई बसन्तलालजी नवयुवक समाज के प्रतिनिधिके रूपमें सम्मिलित हुए। लेकिन उसी समय जमनालालजीके परिवार में एक दुखद मृत्यु हो जानेके कारण अधिवेशन विशाल रूपमें नहीं हो सका। महासभाका दूसरा अधिवेशन बम्बईमें बड़ी धूमधाम से हुआ। प्रसिद्ध सनातनी और समाजके पुराने घरानेके वयोवृद्ध श्री रामलालजी गनेड़ीवालको सभापति चुना गया। इस अधिवेशनमें कलकत्ताके नवयुवकोंने काफी संख्यामें भाग लिया। ताराचन्द घनश्यामदासकी ओरसे सेठ जयनारायणजी पोद्दार भी इस अधिवेशनमें सम्मिलित हुए और कार्यवाहीमें उन्होंने उत्साहपूर्ण हिस्सा लिया। यह सम्मेलन बहुत ही सफल रहा। महात्मा गाँधीभी इस सम्मेलनमें एक दिनके लिए आए और बोले। उन्होंने दक्षिण भारतमें हिन्दी-प्रचारकी आवश्यकताके लिए अर्थ-संग्रहकी अपील की। इसपर पचास हज़ार रुपएका चन्दा तत्काल इकट्ठा करके उनको दे दिया गया। इसी अधिवेशनमें ६ लाख रुपयोंसे अग्रवाल सहायक कोषकी स्थापना हुई। समाज-सुधारके प्रस्तावोंमें बाल-विवाहके प्रस्तावपर काफी वाद-विवाद के बाद यह तय हुआ कि बारह वर्षसे पहले लड़की और सोलह वर्षसे पहले लड़केका विवाह न किया जाय। इसके साथही संशोधनके रूपमें यह छूट दे दी गई कि अगर किसीको इस सम्बन्ध में आपत्ति हो, तो वह स्थानीय पंचायतकी अनुमति लेकर कन्याका विवाह बारह वर्षसे पहले भी कर सकता है। इस संशोधनको नवयुवकोंको स्वीकार करना पड़ा। पर इससे उनको संतोष नहीं था। इसलिये बहुतसे युवकोंने प्रतिज्ञा की कि बारह वर्षसे कम उम्रकी लड़की और सोलह वर्षसे कम उम्रके लड़के के विवाहमें वे सम्मिलित नहीं होंगे। कहना नहीं होगा कि भाई बसंतलालजी प्रतिज्ञा करनेवालोंमें थे। इसके बाद तो प्रतिज्ञा करनेका एक अभियान-सा चल पड़ा, जिसमें भाई बसंतलालजीने काफी काम किया।

आज ये सब बातें साधारण और बहुत हल्की लगती हैं, पर उस समय ये बहुत बड़ी-बड़ी बातें थीं। प्रतिज्ञा करनेवालोंको कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता था। ऐसे अवसर भी आए, जब भाई अपनी बहनको चुनरी उढ़ाने तक नहीं जा सका। बाल-विवाहके आन्दोलनने एक विशेष आन्दोलनका रूप लिया और भाई बसंतलालजीको अपने साथियोंके साथ काले झंडेका प्रदर्शन भी करना पड़ा।

महासभाका तीसरा अधिवेशन कलकत्तामें हुआ, जो बहुत ही प्रभावशाली और वृहत रूपमें था। पंचायतके लोग इस अधिवेशनमें सम्मिलित नहीं हुए। अधिवेशनके बाद महासभाका कार्यालय कलकत्तेमें ही रहा। भाई बसंतलालजी महासभाके प्रधान मंत्री चुने गए। भाई पद्मराजजी जैनके सहयोगसे महासभाका काम और प्रभाव मारवाड़ी समाजमें खूब बढ़ा। हज़ारों शाखाएँ भारतके बड़े-बड़े शहरों और ग्रामोंमें स्थापित हुईं, जिनके द्वारा बाल-विवाह आदिका विरोध किया गया। इन सारे अभियानोंमें बसंतलाल जीका प्रमुख स्थान था। इन सामाजिक आन्दोलनोंके बराबर-बराबरमें राष्ट्रीय आन्दोलन भी जोर पकड़ता जा रहा था। पूज्य जमनालालजीके प्रयत्नसे कांग्रेस कमेटीकी स्थापना करके बड़ाबाज़ारमें कांग्रेसका काम आगे बढ़ानेका प्रयत्न किया गया। भाई पद्मराज जी जैन मंत्री और बसंतलालजी सहायक मंत्री बनाए गए। इस प्रकार सामाजिक और राजनीतिक कार्य साथ-साथ होने लगे।

पूज्य महात्माजीके आह्वानपर सन् १९२१ का आन्दोलन शुरू हुआ। बसंतलालजी ने इसमें प्रमुख भाग लिया। फलतः वे गिरफ्तार किये जाकर प्रेसीडेंसी जेलमें भेज दिये गये। उन दिनों जेल जाना मामूली बात नहीं थी, फिर बसंतलालजीका तो परिवार भी काफी बड़ा था। उनका विवाह हुए भी चार-पाँच वर्ष ही हुए थे। इन सब कठिनाइयोंकी परवाह किए बिना बसंतलालजीने आन्दोलनमें पूरा भाग लिया। बसंत-लालजीको डेढ़ वर्षके कठिन कारावासकी सज़ा सुनाई गई। मेरा खयाल है कि मारवाड़ी समाजमें देशके लिए जेल जानेका यह पहला उदाहरण था, जो भाई बसंतलालजीने ही उपस्थित किया था। बसंतलालजीकी माँ उनके जेल-जीवनकी बातोंसे बहुत ही दुखी हो गई थीं। पर अन्तमें उन्होंने हम लोगोंसे कहा कि "बसंतियो शिवरात्रिके दिन जनम्यो है, वो भोलो शंभु है। ऊँकी रक्षा भागवान् शिवजी महाराज ही करैगा।" इस आंदोलन में देशबन्धु दास, सुभाषचन्द्र बोस तथा बंगालके अनेक दूसरे नेता जेलमें गए। मौलाना अबुल कलाम आजाद, मौलाना अकरमखाँ (जो बादमें मुस्मिल लीगी बन गए), बड़े बाज़ारसे पद्मराजजी जैन, पं० अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी, भाई मूलचन्द्रजी अग्रवाल, भोलानाथजी बर्म्मन, माधोजी शुक्ल, पं० लक्ष्मण नारायणजी गर्दे आदि अनेक लोग जेलमें बसंतलालजीके साथी हो गए। बादमें पू० महात्माजीने चौराचौरी काण्डपर आन्दोलन बंद कर दिया और यह एलान कर दिया कि जो लोग जेल गए हैं, वे वहाँ न रहना चाहें, तो सरकारसे अनुरोध करके बाहर आ सकते हैं। बसंतलालजीने ऐसा नहीं किया। जो लोग जेल गए हैं, वे समझ सकते हैं कि आन्दोलनकी गति धीमी पड़ जानेपर जेलमें रहने-वालोंकी मनोदशा क्या होती है; जेलके अधिकारियोंका व्यवहार कितना क्रूर और यातनामय बन जाता है। फिर आन्दोलनका अनिश्चित काल तक बंद हो जाना कितना दुखद होता है। जिन लोगोंकी सजा कम थी वे तथा दूसरे लोग भी आहिस्ते-आहिस्ते

बाहर ग्राने लगे। पर बसंतलालजीकी सज़ा तो लम्बी थी। उनके साथ जेलमें बहुत कम ग्रादमी रह गए थे। पर वे ग्रपने ग्रानन्दी स्वभावके कारण दुःख-सुखकी परवाह किए बिना जेल की ग्रवधि पूरी कर रहे थे।

जेलसे बाहर ग्रानेपर वे फिर ग्रपने सामाजिक कामोंमें लग गए। ग्रग्रवाल महासभाका काम तथा दूसरे सामाजिक काम करने लगे—बाल-विवाहों ग्रौर वृद्ध-विवाहोंको रोकनेके ग्रान्दोलनों तथा उनके परिणामोंसे हम तंग ग्राने लगे थे ग्रौर ऐसा सोचने लगे थे कि हमें समाज-सुधारका कोई क्रांतिकारी क़दम उठाना चाहिए, जिससे समाजमें क्रांतिकी भूमिका तैयार हो सके। इसी समय हमने सुना कि एक बाल-विधवा जानकीदेवी साह वैधव्य-दुःखसे तंग ग्रा गई है ग्रौर पुनर्विवाह करना चाहती है। वह हो कैसे ? यह एक बड़ा सवाल था। काम तो बड़ा भारी था, पर जोश ग्रौर उत्साह-वश इसकी कौन परवाह करता था ? जानकीदेवीको उसके घरसे तो ले ग्राए पर ग्रब उसके विवाहकी व्यवस्था कैसे हो, यह एक समस्या थी। पुराने ग्रार्य-समाजी भाई नागरमलजी लील्हा विवाह करनेके लिए तैयार हो गए। नागरमलजीकी उम्र करीब छत्तीस वर्षकी थी ग्रौर जानकी देवीकी बाईस वर्ष की। दोनोंको एक-दूसरेको दिखला कर विवाह तय हो गया। विवाहके लिए स्थानका सवाल था। ग्रार्य-समाज मंदिर तो मिल सकता था, पर वहाँ विवाह हो, यह हम पसंद नहीं करते थे। भाई नागरमलजी मोदी ग्रपना मकान देनेके लिए तैयार थे। जानकी देवीको उनके घरपर ही छिपाकर रखा गया था। किन्तु वह मकान छोटा था। इसलिए स्वर्गीय छाजूरामजी चौधरी का मकान ठीक किया गया। यह मकान बहुत सुन्दर ग्रौर बड़ा था। साथही यह बड़े बाज़ारके बीचमें था। छाजूरामजीसे बात करनेपर वे सहर्ष राजी हो गए। यह विवाह ग्रपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। इसका इतिहास लिखनेके लिए एक ग्रलग लेख लिखा जा सकता है। इस कार्यमें बसंतलालजीका महत्वपूर्ण हाथ रहा। परिणाम स्वरूप पंचायत की सभामें बारह समाज-सुधारोंकोंको इस विवाहमें भाग लेने के लिए ग्रलग-ग्रलग इल्जाम लगाकर जातिसे बाहर कर दिया गया। भाई बसंतलालजीको भी जातिसे बाहर किया गया। जाति-बाहरका भी एक ग्रान्दोलन बन गया। बसंतलालजीका निजी कुटुम्ब बड़ा होनेके कारण ग्रौर भाइयों ग्रादिमें विचारोंकी भिन्नता होनेके कारण उनको तथा उनकी पत्नीको काफी परेशानियाँ उठानी पड़ीं, परन्तु बसंतलालजीके पिता पूज्य रामदेवजीने उनके कामोंका पूरा समर्थन किया। ग्रौर उनके भाइयोंने भी साथ दिया।

बसंतलालजीके छोटे भाई शुभकरणका विवाह था। इस विवाहके समय राष्ट्रीय ग्रान्दोलन ग्रौर ख़िलाफत ग्रान्दोलन चल रहे थे। ख़िलाफत ग्रान्दोलनके कारण बसंतलालजीका मुसलमान भाइयोंसे गहरा सम्बन्ध था। इसलिए इस विवाहमें उनको भी निमंत्रित किया गया। स्वर्गीय देशबंधु दास भी इस विवाहमें भोजनके लिए पधारे। उनके साथ मौलाना ग्रकरमखाँ ग्रौर पचासों ग्रन्य मुसलमान भी ग्राए थे। उन मुसलमानों को भोजन कराते समय समाज के कुछ लोगोंकी नाराजगी रही। उनके भोजन करनेके बाद जूठी पत्तल उठानेके लिए नौकरोंने इन्कार कर दिया। कुछ मिनटोंमें ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि भाई बसंतलालजी ने उन मुसलमानोंको बुलाकर ग्रौर भोजन

कराकर एक हंगामा-सा कर दिया है। लेकिन बसंतलालजीने अपने मुसलमान दोस्तोंकी जूठी पत्तलोंको उठाकर सारे लोगोंको चकित कर दिया। मुसलमानोंको बुलाकर घरपर भोजन कराना और फिर उनकी जूठी पत्तलें उठाना साधारण बात नहीं थी। इसकी चर्चा और विरोध बहुत रहा। पर बसंतलालजीका उत्साह और दृढ़ता ऐसी थी कि उनके घरके लोग तथा दूसरे विरोधी भी उनसे नाराज़ नहीं होते थे।

सन् १६३० तक अग्रवाल महासभाके द्वारा जो भी सामाजिक काम हुए, उनका बहुत-सा श्रेय भाई बसंतलालजी और पद्मराजजीको था। काँग्रेसके द्वारा जो राजनीतिक काम होते थे, उनमें भी बसन्तलालजी पूरा-पूरा हिस्सा लिया करते थे। सन् १६३० में पू० गाँधीजीने नमक सत्याग्रहका देशव्यापी आन्दोलन चलाया। गांधीजीकी डांडी-यात्रा के दिनोंमें बंगालमें एक आइन-अमान्य कमेटीकी स्थापनाकी गई। उसके संचालनमें भाई बसंतलालजीने बहुत बड़ा हिस्सा लिया। वे बड़ा बाज़ारसे संगठन करके नमक सत्याग्रह करनेके लिए कलकत्तेसे ७–८ मील दूर महिसाबथानमें सत्याग्रहियोंके जत्थे भेजने लगे। फलस्वरूप उनको गिरफ्तार कर लिया गया और बंगालके कई नेताओंके साथ उनको डेढ़ वर्षके कठिन कारावासकी सज़ा दी गई। जेलमें कलकत्ताके तथा बंगालके अनेक नेताओं और कार्यकर्ताओंसे भाई बसंतलालजीका सम्बन्ध हो गया और वे आन्दोलनके ख़ास आदमी माने जाने लगे। अपने विनोदी और सरल स्वभावके कारण वे जेलमें बहुत ही प्रिय रहे। कोई घटना होनेपर बसंतलालजी कहा करते थे—आनन्द हो गया। जेलमें सब लोगोंको एक-एक काँचका गिलास मिलता था। संयोगवश किसी के हाथसे गिलास गिरकर टूट जाता तो टूटनेकी आवाज़ सुनकर, जिस सज्जनका गिलास टूटता, उनको सम्बोधन करके बसंतलालजी तुरन्त कहते— आनन्द हो गया क्या? इस तरह वे दुःखको स्वभावतः सुखका रूप दे देते थे। उनके इस स्वभावके सम्बन्धमें एक घटना और याद आती है। सन् १६३२ में जेलसे छूटनेके बाद हम लोग स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टिसे राजस्थान गए। बसंतलालजीके मुकुन्दगढ़ स्थित मकानमें एक ब्राह्मण-परिवार रहता था। उनके लड़केके नाकमें तकलीफ थी। इसलिए उसका आपरेशन करानेके लिए उस लड़के और उसकी माँको पिलानी ले गए। संयोगवश उस लड़केकी माँ ऊँटसे गिर पड़ी और उसे चोट लगी। वह गर्भवती थी। बसंतलालजीने मुझे आकर सूचना दी— "भाई साहब, आज तो आनन्द जोरको होगो।" कहने का मतलब यह कि वे किसी भी घटनासे घबराते नहीं थे और उसको अपनी सरलताके कारण विनोदमें बदल दिया करते थे। जेलोंके कष्ट और सामाजिक आन्दोलनोंकी तीव्रताके समय जब-जब निराशा, दुःख और असफलता सामने आती, तब-तब वे अपनी भाषामें कहते थे 'आँटो-साँटो लागकर सुख होबा हालो है' यानी जो दुःख आता है, या असफलता आती है, वह सुख और सफलता देनेके लिए आती है।

उन दिनों समाजमें मृतक बिरादरी-भोज हुआ करता था। साधारण स्थितिके आदमीको भी अपना घर, जो भी कुछ सम्पत्ति होती, वह बेचकर अथवा ऋण लेकर मृतक बिरादरी-भोज करना पड़ता था। इसका दुःखद अनुभव नवयुवक समाज किया करता था। अन्त में इसके लिए पिकेटिंग करनेका निश्चय किया गया और इस पिकेटिंगका संगठन करनेमें भाई बसंतलालजीने बहुतही उत्साहपूर्ण काम किया। मृतक बिरादरी

भोजके स्थानोंपर जाकर जोरदार पिकेटिंग की गई। कई जगहोंपर भोजन करनेवालों के सामने लेटना भी पड़ा। विरोधियोंकी ओरसे इस आन्दोलनका ज़ोरदार विरोध किया गया और सत्याग्रहियोंपर जूठी पत्तल और गंदा पानी भी गिराया गया पर इस का कुछ ही दिनोंमें इतना व्यापक और गहरा प्रभाव हुआ कि बिहार, मध्यप्रदेश आदि प्रान्तोंमें भी यह पिकेटिंग शुरू हुई और मृतक विरादरी-भोज बन्द हो गया।

मारवाड़ी समाजमें पर्दा-प्रथाभी बहुत ज़ोरोंसे प्रचलित थी। नवयुवक समाजको इस प्रथाको तोड़नेके लिए काफी आन्दोलन करना पड़ा। भाई बसंतलालजीके नेतृत्व में सन् १९२९ में एक शिष्टमंडल पर्दा-प्रथाके विरोधमें आन्दोलन करनेके लिए बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश आदि स्थानोंमें गया और जगह-जगह सभाएँ आदि करके पर्दा-प्रथाके विरोधमें आन्दोलन किया गया। इस आंदोलनको स्थायी बनानेके लिए सन् १९२९की कार्त्तिक शुक्ला ११ (देवोत्थान एकादशी) के दिन सारे भारतवर्षके नगरोंमें पर्दा-निवारण दिवस मनाया गया, जिसका अधिकांश श्रेय भाई बसंतलालजीको दिया जा सकता है। मतलब यह है कि विलायत-यात्रा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, मृतक बिरादरी-भोज और पर्दा-प्रथा-निवारण आदि कोई भी आंदोलन, सन् १९२० से सन् १९५६ तक, उनकी मृत्यु पर्यन्त, नहीं हुआ, जिसमें भाई बसन्तलालजीने सचाई और ईमानदारीके साथ हिस्सा न लिया हो। हिस्सा ही नहीं, वे इन सारे आन्दोलनोंके सूत्र-धार रहे। इसी प्रकार राजनीतिक आन्दोलनोंमें सन् १९२० से लेकर सन् १९४२ के 'करेंगे या मरेंगे'—आन्दोलन तक ऐसा एक भी आन्दोलन नहीं हुआ, जिसमें वे जेल न गये हों और अधिकसे अधिक भाग न लिया हो। सेवा और शिक्षाके काममें भी वे सदा आगे रहते थे। सन् १९३४ में बिहारमें जो भयंकर भूकम्प हुआ था, उस समयकी बात है। उनकी स्त्रीको बच्चा होनेकी पीड़ा हो रही थी। ऐसी हालतमें वे उसे छोड़कर भूकम्प-पीड़ितोंकी सेवा करने चले गए। बसंतलालजी एक ऐसे बहादुर समाज-सुधारक और देश-सेवक थे, जिन्होंने अपने घरकी, अर्थकी, शरीरकी और परिवारकी जरा भी परवाह किए बिना देश और समाजकी सेवा की।

सन् १९४५–४६ में ऐसा लगने लगा था कि निश्चय ही देश स्वाधीन होगा और तब जो विधान-सभाएँ बनेंगी, वे स्वाधीन देशकी विधान-सभाएँ होंगी। इसलिए उनकी इच्छा हुई कि वे विधान-सभामें जायँ। सन् १९४६ की फरवरीमें जो चुनाव हुए, उसमें वे चुनाव लड़नेके लिए खड़े हुए और बड़े बहुमतसे निर्वाचित हुए। तबसे बराबर पश्चिम बंग विधान-सभाके सदस्य रहे। जिस प्रकार स्वाधीनता-संग्राममें भाग लेकर उन्होंने देशकी सेवा की, उसी प्रकार स्वाधीन देशके शासन-संचालन और निर्माणकार्यमें भी उत्साह और जोशसे काम करते रहे। सन् १९५२ में जो चुनाव हुए, उसमें बंगालके वीरभूम जिलेसे वे बंगाल विधान सभाके सदस्य चुने गये जहाँ बंगाली भाइयोंके सिवा अन्य किसी के वोट नहीं थे। इस चुनावकी सफलता बसंतलालजीकी बंगालमें लोक-प्रियताका एक सबूत था।

बसंतलालजी अपने जीवनमें हर तरहसे सफल रहे। वे अपने विचारों और सिद्धान्तों को बराबर अमलमें लाते रहे। उन्होंने अपने बड़े पुत्रका विवाह माहेश्वरी समाजमें किया और अपने द्वितीय पुत्रका विवाह एक बाल-विधवासे किया। उनकी स्त्री

रमादेवीने उस ज़मानेमें पर्दा छोड़ा और सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्यमें हिस्सा लिया जब मारवाड़ी समाजकी इनी-गिनी महिलाएँ ही पर्दा-प्रथासे मुक्त हुई थीं। इस प्रकार बसंतलालजीका जीवन करीब ४० वर्ष तक निरन्तर देश और समाजकी सेवामें लगा रहा। वे स्वभावसे सरल, हृदयसे कोमल, व्यवहारसे उदार, देश और समाजकी सेवासे प्रेरित, सहृदय और बहुतही सच्चे साथी थे। व्यक्तिगत दृष्टिसे भी ऐसे मित्र और साथीका वियोग बड़ा ही दुःखद है। सार्वजनिक कार्यमें उतरनेसे पहले बसन्तलालजीके साथ मेरी मित्रता हुई थी। आज ४७ वर्षके बाद इतने सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनोंकी स्मृतियाँ और रेखाएँ मेरे मन और मस्तिष्कपर अंकित हैं, जिनको मैं भूलना चाहूँ, तो भी भूल नहीं सकता। वे स्मृतियाँ, वे मौके, वे स्थितियाँ इस वियोगके दुःखको हर वक्त ताज़ा रखते हैं।

पिछले कुछ वर्षों से राजनीतिक विचारोंमें मेरा उनके साथ मतभेद रहा, पर अन्तमें उनकी बीमारीने उस मतभेद को भी इस तरह धो डाला कि आज उसका कोई निशान भी खोजनेपर नहीं मिलता। उनकी मृत्युसे कुछ ही दिन पहले हम दोनोंने पहलेकी तरह ही हृदयकी एकताके सुखका अनुभव किया। यदि यह न होता तो आज मेरे दुःखका अन्त कहाँ था? यह ईश्वर की कृपा थी और थी उनके हृदयकी सरलता और सहृदयता।

-:०:-

एक संस्मरण

श्री दीनानाथ सिद्धांतालंकार

जबसे मैं श्री बसंतलालजीके निकट सम्पर्कमें आया, मैंने उनके भीतर समाज-सुधारके लिए एक ऐसी ज़ोरदार आग देखी, जो सामाजिक कूड़ा-करकट और गन्दगीको त्वरित भस्मसात करनेके लिए उतावली हो रही थी। उनके कई साथी उन्हें धीमे-धीमे चलने का परामर्श देते पर हँसमुख और स्पष्ट-वक्ता मुरारकाजी सदा यही कहते—"भाई, आगकी लपटें चिऊँटीकी गतिसे नहीं चला करतीं, वह सिंहके सदृश झपटा मारकर कुछ क्षणोंमें ही अपना काम पूरा कर देती हैं।"

एक घटनाका मुझे स्मरण आ रहा है जिसने समाजमें भूकम्प ला दिया और मुरारकाजीको समाज-सुधारकोंकी प्रथम पंक्तिमें ला खड़ा कर दिया। झरियामें कई मारवाड़ी परिवार रहते थे। प्रायः सभी खुशहाल थे। वे सब सेठ हरदेवदास अग्रवाल के प्रभावके कारण सुधारक विचारोंसे अनुप्राणित थे। इन्हींमें एक सज्जन थे श्री नागर-मल लील्हा, जिनका हाल हीमें देहान्त हुआ है। वे दृढ़ विचारोंके और विरोधकी तनिक भी परवाह न करनेवाले थे। उनकी पत्नीका देहान्त हो गया था। उन्होंने विधवा-विवाह करनेका निश्चय किया। मेरा भी उनसे अच्छा परिचय था। हम झरिया और कलकत्तामें प्रायः मिलते रहते थे। कुमारी कन्या अथवा किसी अन्य बिरादरी की विधवा मिलनी भी मुश्किल न थी, पर लील्हाजीका पक्का निश्चय यही था—मैं मारवाड़ी अग्रवाल विधवासे ही विवाह करूँगा ताकि मारवाड़ी समाजमें विधवा-विवाह प्रचलनको बल मिल सके। कुछ मासके प्रयत्नके बाद इस दिशामें सफलता प्राप्त हो गई।

अब प्रश्न था, विवाह किस प्रकार हो और कहाँ हो? इसी बातको लेकर कलकत्ता का पुरातन-प्रिय मारवाड़ी समाज बौखला उठा। अगर यह विवाह झरियामें या अन्यत्र किसी छोटे स्थानमें चुपकेसे हो जाता तब धर्मके इन ठेकेदारोंको कोई आपत्ति न होती, क्योंकि हिन्दुओंमे चुपकेसे साँप भी निगल जानेपर किसीके कानपर जूं नहीं रेंगती। कुछ सुधारक भी विवाह चुपकेसे करनेके पक्षमें थे पर मुरारकाजी अपने कुछ साथियों सहित कलकत्तामें धूमधामसे इस विवाहके किए जानेके लिए दृढ़ थे! मुझे भी इस आंदोलन में सक्रिय भाग लेनेका अवसर मिला। विरोधियोंने बड़ा बवंडर उठाया, दंगा करने और मारनेकी धमकियाँ दीं। मुरारकाजीके नेतृत्वमें सुधारक चट्टानकी तरह अविचल रहे। मुरारकाजीने सारे आन्दोलनमें जिस साहस और निर्भयताका परिचय दिया, वह सचमुच ही अनोखी बात थी। आखिर चित्तरंजन एवेन्यूकी एक बड़ी कोठीके प्रांगण

में यह विधवा-विवाह बड़ी धूमधामसे सम्पन्न हुआ। इस अवसरपर सैकड़ों नहीं, हजारों नर-नारी उपस्थित थे।

पुराणपंथियोंकी इससे कमर ही टूट गई। उन्होंने अब अपने अन्तिम शस्त्रका प्रयोग किया। वह था "जाति बहिष्कार"। मुरारकाजी आदि युवक इसके लिए पहले ही सजग थे। इससे वह रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। धनका प्रलोभन देकर गुंडों द्वारा सुधारकोंको डराने-धमकाने और अपमानित करनेके ओछे हथियार बरते गए। फिर भी विफल हुए। इसी प्रसंगमें कलकत्ता विश्वविद्यालयके संस्कृत-प्राध्यापक महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मण शास्त्रीकी अध्यक्षतामें बड़ा बाज़ारमें एक विधवा-विवाह विरोधी सार्वजनिक सभाका आयोजन किया गया। पाँच-सात सौ व्यक्ति इसमें उपस्थित थे। सभास्थलके चारों ओर लट्ठ लिए गुंडे खड़े थे। बसन्तलालजी और कुछ मित्रोंके साथ मैं भी वहाँ मौजूद था। विधवा-विवाह विरोधी कुछ सारहीन और तर्कशून्य भाषणोंके बाद यह आह्वान किया गया कि "विधवा विवाहके पक्षमें यदि कोई बोलना चाहे, तो उसे १० मिनिटका समय दिया जाएगा।" मैं उठा। मैंने विधवा-विवाहके पक्षमें शास्त्रीय प्रमाण देने अभी आरम्भ ही किये थे कि तड़ातड़ मेरे ऊपर और मुरारकाजी तथा अन्य साथियोंपर लाठी-वर्षा होने लगी। विरोधियोंमें कुछ ऐसे भी थे, जो इस प्रकारके असभ्य व्यवहारके विरुद्ध थे। उन्होंने हम सबको चारों ओरसे घेर लिया। लाठियाँ फिर भी बीच-बीचमें चलती गईं। किसी प्रकार वहाँसे निकलकर हम सब घर पहुँच सके।

अगले दिन कलकत्ताके सब पत्रोंमें यह घटना बड़े लम्बे-लम्बे शीर्षकोंके साथ ज़ोरदार शब्दोंमें प्रकाशित हुई। उन दिनों कलकत्तासे "स्टेट्समैन" के अतिरिक्त "इंगलिश मैन" नामक एक और अधगोरा पत्र निकलता था। उसने इस घटनाको लेकर कलकत्ता-पुलिसको आड़े हाथों लिया और बंगाल सरकारको फटकार बताते हुए लिखा कि वह नगरके समाज-सुधारक कार्यकत्ताओंको कुछ अनुदार धनिकोंके गुंडों द्वारा पिटवाकर ब्रिटेनकी सुधार-पोषक परम्पराओंको कलंकित करना चाहती है। इससे प्रान्तीय सरकार भी सचेत हो गई और फिर पुराणपंथियोंको ऐसा करनेका साहस न हो सका।

इस विधवा-विवाहके कुछ दिन बाद ही एक और विधवा-विवाह इसी प्रकार सार्वजनिक रूपसे हुआ। उसकी भी खूब धूम रही। बसन्तलालजी मारवाड़ियोंमें इस सुधारके प्रचारके लिए अब विशेष प्रयत्नशील हो गये थे। एक और उल्लेखनीय विधवा-विवाह कलकत्तेसे कुछ मील दूर एक औद्योगिक केन्द्रमें हुआ। वहाँके मारवाड़ी बंधुओं ने अपने नगरमें ही विवाहपर इसलिए ज़ोर दिया कि वहाँकी जनतामें भी इसका प्रचार हो सके। मुरारकाजी अपने कुछ मित्रोंके साथ वहाँ गये। मैं भी साथ था। हम सबका वहाँ बड़ा शानदार स्वागत किया गया। वहाँके मारवाड़ी युवक मुरारकाजीके भाषणसे बहुत प्रभावित हुए। बसन्तलालजी स्पष्टवक्ता तथा राजनीतिक और सामाजिक विषयोंपर एक निश्चित विचार देनेमें सक्षम और समर्थ थे।

—:०:—

समाज-सुधारक बसन्तलालजी मुरारका

—श्री ईश्वरदास जालान

श्री बसन्तलालजी मुरारका इस संसारमें नहीं हैं परन्तु आप की कीर्ति अब भी सर्वत्र व्याप्त है। सार्वजनिक जीवनसे आपका अखूट प्रेम रहा। राजनीतिक क्षेत्रमें आपने प्रारम्भसे ही कांग्रेसका अनुसरण किया। आजीवन उसके भक्त बने रहे। देशकी मुक्तिके आन्दोलनोंमें आपने सदैव भाग लिया। कई बार जेलकी यातना भोगी, परन्तु अपने पथसे विचलित नहीं हुए। सामाजिक क्षेत्रमें भी आपके विचार सदा प्रगतिशील रहे। जीवनके प्रारम्भसे ही सामाजिक सुधारोंमें आप अग्रणी रहे। केवल विचारों हीसे नहीं, कर्मसे भी आपने प्रमाणित कर दिया कि आप रूढ़िवादिताके सर्वथा विरुद्ध थे। मरने तक भी आपने जो अंतिम इच्छा प्रकट की और जो आदेश दिया, वह सिद्ध करता है कि हृदयसे वे सामाजिक प्रथाओंमें आमूल परिवर्तनके पक्षपाती थे। बहुतसे उनके विचारोंसे मतभेद रखनेवाले भी उनकी सरलता और सहृदयताके प्रति आदर रखते थे। किसी भी समय कोई भी आदमी यदि उनकी सहायता चाहता था, तो वे उसी समय उसके लिये तैयार हो जाते थे। बसंतलालजीकी सर्वप्रियता इसीसे जानी जा सकती है कि बंगला भाषामें अपने भावोंको व्यक्त करनेमें असमर्थ होते हुए भी वे बंगला-भाषी-क्षेत्रसे पश्चिम-बंग विधान-सभाके सदस्य चुने गए और मरते समय तक भी अपने क्षेत्रमें उसी प्रकार जनप्रिय बने रहे। सदा प्रसन्नमुख, साहसी, वीर और कर्मठ योद्धा की भाँति जीवन-संग्राममें वे सफल सैनिक रहे। उनका चिर-वियोग उनके मित्रोंको सदा खलता रहेगा।

'कीर्त्तिर्यस्य स जीवति'

श्री नरोत्तमदास जोशी

श्री मुरारकाजी न केवल स्वतन्त्रता-संग्रामके एक निर्भीक और कर्मठ सिपाही ही थे और समय-समयपर अंग्रेजी सरकारने उन्हें कारावास भेजा किन्तु वे उतने ही बल, उत्साह तथा प्रेरणासे नव-समाजके निर्माणमें लगे रहे। पर्दा-निवारण, रूढ़ियोंकी दासतासे मुक्ति, परोपकार और सेवा-भाव उनमें कूट-कूट कर भरा था। बच्चोंका-सा सरल निष्कपट व्यवहार मिलने वालोंका हृदय स्पर्श करता था। उनके निधनसे समाजकी बड़ी हानि हुई है। उनको सच्ची श्रद्धांजलि हम तभी दे सकेंगे जब उनके अधूरे छोड़े हुए कार्यको पूरा करेंगे। उनके कार्य हमें अब भी उस क्षेत्रमें प्रेरित करते रहेंगे। इसीलिये शास्त्रकारोंका कथन है—"कीर्तिर्यस्य स जीवति।"

स्व० बसन्तलालजी

श्री रामदेव चोखानी

स्व० भाई बसन्तलालजी समाजके तेजस्वी श्रौर विशेष प्रतिभाशाली सुधारक थे। श्रापका उत्साह सदा ही दूसरोंको स्फूर्ति देनेवाला होता था। मेरा परिचय श्रापसे इधर प्रायः तीस वर्षोंसे ही था, यद्यपि श्रापने समाज-सेवाका काम उसके बहुत पहले ही करना श्रारम्भ कर दिया था। बसन्तलालजीमें विशेष गुण यह था कि वे श्रपने विरोधीकी समालोचनासे कभी उद्विग्न नहीं होते थे, बल्कि उसका श्रादर करते थे श्रौर प्रसन्नता-पूर्वक श्रावश्यकतानुसार उत्तर देते थे श्रौर जहाँ श्रपनी त्रुटि मालूम होती, उसे स्वीकार करनेमें भी संकोच नहीं करते थे।

एक बार मैंने जब उनकी कही हुई बातोंका विरोध किया, तो उन्होंने पत्र लिखकर मुझे संतोष कराया श्रौर समाचारपत्रोंमें भी श्रपना वक्तव्य देनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं किया। ऐसी प्रवृत्ति यदि समाजके श्रन्य भाइयोंमें भी रहे, तो बहुत ही उत्तम हो।

सन् १९२७ ई० में सर्वप्रथम विधवा-विवाहके प्रश्नको लेकर श्रापके साथियोंसे मेरे मतके लोगोंका विरोध हुश्रा, पर श्राप श्रौर श्रापके मित्रोंने बड़ी सद्भावनासे हमलोगोंके द्वारा उनके विरुद्ध की गई कार्यवाहीको उचित रूपसे स्वीकार किया।

यों तो श्रापके साथ बराबर ही सभा-सोसाइटियोंमें मिलना होता था, पर श्रखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलनके श्रन्तर्गत परदा-विरोधी श्रान्दोलनको लेकर श्रापके साथ मेरा पूरा सहयोग रहा। श्रापने सुधारकी प्रगतिमें प्रशंसनीय कार्य किया, यद्यपि श्रापकी कई एक बातोंसे मैं सहमत नहीं था।

दहेज-प्रथाको लेकर भी श्रापके साथ मेरा काफी सम्बन्ध रहा। श्रापने इधर इस कुप्रथाको लेकर बहुत ही जोरोंका काम किया, जिससे समाजमें फैली हुई इस प्रथाके उन्मूलन में यथोचित प्रगति हुई। मैंने तो एक बार उन्हें यहाँ तक उलहना दिया था कि यदि वे श्रौर भी श्रधिक सचेष्ट होकर सुधार-कार्य को श्रग्रसर करते तो बहुत बड़ा काम हो सकता था। तो भी यह कहा जायगा कि श्रापने व्यवसाय-वाणिज्यका कार्य करते हुए भी समाजका बड़ा काम किया।

राजनीतिक क्षेत्रमें भी बसन्तलालजीकी सेवा प्रशंसनीय रही। श्राप यद्यपि श्रंग्रेज़ी थोड़ी जानते थे, तो भी विधान सभाके मेम्बरकी हैसियतसे बंगभूमिकी सेवा करनेमें कमी नहीं की। ऐसे कर्मठ व्यक्तिके चले जानेसे समाजकी विशेष हानि हुई श्रौर उनके रिक्त स्थानको पूर्ण करना श्रब कठिन-सा प्रतीत हो रहा है।

दृढ़प्रतिज्ञ बसंतलालजी

श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका

स्वयंके विषयमें यदि कभी किसीसे कोई प्रश्न किया जाय, तो उसका उत्तर देना उस व्यक्तिके लिये अत्यन्त दु:सह कार्य हो जाता है। इसी प्रकार आज भाई बसन्तलालजी मुरारकाके सम्बन्धमें अपने संस्मरण लिखनेको जब मुझसे कहा गया है, तो कुछ समझमें नहीं आ रहा है कि क्या लिखूँ? लगभग पिछले ३५ वर्षसे सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रमें मुझे उनके साथ कार्य करनेका अवसर मिला। सदा ही साथ-साथ रहनेके कारण उनसे इतनी अधिक अभिन्न-हृदयता हो गई कि उन्हें पृथक रूपमें देखने-समझनेका न कभी अवसर ही मिला और न कभी चेष्टा ही की। फिर भी आज उनके विषयमें कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ। कह नहीं सकता—कहाँ तक सफलता मिलेगी।

मुझे अच्छी तरह याद है, जब १९२१ के सत्याग्रहके समय बापूजीने कहा था कि यदि काँग्रेसके एक करोड़ सदस्य बन जायँ तथा स्कूल-कालेजों आदिमें विदेशी शिक्षाका एवं अन्य सभी क्षेत्रोंमें विदेशी वस्तुओंका बहिष्कार किया जाय और हिन्दू-मुस्लिम एकताका प्रयत्न हो तो एक वर्षमें स्वराज्य अवश्य प्राप्त हो जायगा। उनकी इस घोषणाके फलस्वरूप देशमें असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो गया और उसके परिणाम स्वरूप हममेंसे अनेक को जेल जाना पड़ा। जेल जाते समय अत्यन्त स्वाभाविक एवं सहज रूपसे भाई बसंतलालजीने घनश्यामदासजी बिड़लासे पूछा—"भाई साहब, जब स्वराज्य मिल जाए, तो मैं आपको कहाँ तार दूँ।" बापूमें असीम निष्ठा और पूर्ण विश्वास तथा उनकी निष्कपट सरलताका इससे अधिक और क्या उदाहरण मिल सकता है?

उनके व्यक्तित्वकी सबसे बड़ी जिस विशेषताने मुझे प्रभावित किया, वह यह है कि उन्होंने जो कहा, उसे अक्षरश: अपने जीवनमें उतार कर दिखाया। सन् १९२६ की बात है। उन दिनों हम सभी सुधारक विचारवाले व्यक्ति यह चाहते थे कि समाजमें विधवा-विवाह एवं अग्रवाल-माहेश्वरी सम्बन्ध प्रचलित हो जायँ। इस प्रस्तावसे चपकनिया दलके सहमत होनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। उसने इसका खूब विरोध किया। उस समय मैं तथा भाई भागीरथजी कानोड़िया आदिने चपकनिया दलसे समझौता करनेका विचार कर लिया, किन्तु बसन्तलालजी अपने निश्चयपर दृढ़ रहे। उन्होंने कहा कि ये लोग तो हमारे प्रस्तावका विरोध करेंगे ही परन्तु हमें अपनी बातपर अड़े रहना है। उन्होंने केवल सैद्धांतिक रूपसे ही यह बात नहीं कही परन्तु उनके स्वयं के जीवनमें जब उसको प्रत्यक्ष प्रमाणित करनेका अवसर आया, तब समस्त विरोधोंके उपरान्त

उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भागीरथका विवाह एक माहेश्वरी परिवारकी कन्यासे (अग्रवाल-माहेश्वरी सम्बन्ध) तथा द्वितीय पुत्र मदनका एक बाल-विधवासे (विधवा-विवाह) सम्पन्न किया। उनके समान दृढ़प्रतिज्ञ एवं दृढ़ निश्चयके कितने व्यक्ति आज मिलेंगे जो कि जो बातें प्लेटफार्मपर कहें, उनका उदाहरण भी समाजके सम्मुख प्रस्तुत कर सकें।

भाई बसंतलालजीने लोक-सेवा एवं समाज-सेवाको ही सदा अपने जीवनका सबसे प्रमुख अंग माना। यदि वे चाहते तो अधिकार एवं पदलोलुपतामें फँसकर अत्यन्त उच्चतम पदपर आसीन हो सकते थे परन्तु जिस व्यक्तिके जीवनका उद्देश्य ही पीड़ित व्यक्तियोंकी सेवा था, उसे इन सबकी लालसा अपने कर्तव्यसे कैसे च्युत कर सकती थी? यदि रात्रिके १२ बजे भी उनके द्वारपर किसी व्यक्तिने आकर यह कहा कि आपके द्वारा अभी अमुक कार्य करनेसे किसी व्यक्तिकी कार्य-सिद्धि हो सकती है, तो उन्होंने उसे करनेमें किंचितमात्र भी संकोच प्रदर्शित नहीं किया। यदि उस मध्य रात्रिमें वह उनसे अपने साथ चलनेको भी कहता, तो 'अच्छा भाया, मैं इबार ही चालू हूँ' केवल इतना कहकर अपना कुरता और चप्पल पहननेमें उन्हें जो समय लगता, उतनी ही देर उस व्यक्तिको उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ती।

आजके इस युगमें इतना आत्म-त्याग कहाँ मिलता है कि पीड़ित व्यक्तियोंकी आर्तना सुनकर मनुष्य अपना सर्वस्व त्याग दे। परन्तु भाई बसन्तलालजी मुरारका इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण थे। उनके समान निष्कपट, निःस्वार्थी एवं स्नेही व्यक्ति आज बिरले ही मिलते हैं। और तो क्या लिखूं, जितना ही अपने जीवनसे पृथक करके उन्हें देखना चाहता हूँ, उतनाही अधिक निकट वे आते जा रहे हैं। लिखनेमें कुछ कष्ट भी हो रहा है और कुछ मनोव्यथा भी। फिर भी अन्तमें केवल यही कह सकता हूँ कि उनके विषयमें जो कुछ भी कहा जाय अथवा लिखा जाय, थोड़ा ही है

सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें अपनेसे ही श्रीगणेश

श्री कन्हैयालाल खादीवाला

भाई श्री मुरारकाजीसे मैं कई वर्षोंसे परिचित था। राजनीतिक क्षेत्रमें तो उन्होंने काफी कार्य किया ही, लेकिन मारवाड़ी समाज में सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें जो कार्य उन्होंने किये, वे निस्संदेह ही उल्लेखनीय हैं। विधवा-विवाहके सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें उन्होंने अपने ही परिवारसे श्रीगणेश किया। अपने खुदके लड़केकी सुयोग्य विधवा कन्यासे शादी करके मारवाड़ी समाजमें एक अनुकरणीय उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया। यह कोई छोटी बात नहीं। मैं उनके इस क़दमको एक महान् क्रांतिकारी क़दम समझता हूँ।

बसन्तलाल

श्री भागीरथ कानोड़िया

बसंतलाल और मैं एक ही गाँवके होनेके कारण बचपनमें एक ही गुरुके पास पढ़ते थे और गुरुकी एकही बेंतसे हम दोनों पिटते थे। उस वक्त मेरी उम्र ७ वर्षकी और बसंतलालकी ६ वर्षकी थी। उन दिनों हमारा जो परिचय हुआ, और संबंध जुड़ा, वह निरन्तर अधिकसे अधिकतर गहरा ही होता गया। बसंतलालकी सरल प्रकृति, स्नेहशील स्वभाव और उदार विचारोंका ही यह परिणाम रहा कि हमारे ५५ वर्षके सम्बन्धमें कभी कोई फर्क का अवसर नहीं आया।

सामाजिक सुधारकी ओर उसकी प्रवृत्ति छोटी उम्रसे ही थी। पुराने ज़मानेके लोगोंको याद होगा कि अपने समाजमें विवाहके अवसरपर अश्लील गीत, जिन्हें "सीठणा" कहा जाता था, गानेकी एक आम रिवाज थी। सारे गाँवमें इस बातका आन्दोलन उठा कि "सीठणें" बन्द होने चाहिएँ। इस आन्दोलनमें बसंतलालने सक्रिय भाग लिया। एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार करके लोगोंसे हस्ताक्षर करवाये गये। यह बात शायद सन् १९११ की है। उसके दो वर्ष बाद उसके छोटे भाईका विवाह होनेवाला था। लड़की के पिता पुराने विचारोंके जिद्दी स्वभावके थे। उन्होंने कहा—हमारे यहाँ जीमनवार के वक्त सीठणें अवश्य होंगे। बात कुछ खिंच गई। बसंतलालके पिता पूज्य श्री रामदेवजीके सामने धर्म-संकट-सा उपस्थित हो गया। बसंतलालने कहा—सीठणें होंगे, तो मैं विवाहमें नहीं जाऊँगा और यह भी कहा कि मैंने जो हस्ताक्षर किए हैं, वह आपकी अनुमतिसे किए हैं, इसलिए आपको साहजीकी बात माननेसे इन्कार करना चाहिए। पूज्य रामदेवजीको उसकी दलील ठीक लगी और वे बसंतलालके पक्षमें हो गए। लड़कीका पिता बहुत नाराज़ हुआ, लेकिन आख़िर मान गया।

इसके पहले दिखावेके विरुद्ध भी बसंतलालने एक छाटा-मोटा आन्दोलन चलाया था। किसी भी अवसरपर दिये जानेवाले या आए हुए दहेजका दिखावा करनेकी याने दी जानेवाली या आई हुई वस्तुओं और रुपयोंको खाटोंपर सजाकर सारे गाँवको बुलाकर दिखानेकी एक प्रथा हमारे समाजमें थी। शायद छोटे-मोटे रूपमें वह आज भी विद्यमान है।

एकबार होलीमें धूल और कीचड़ उछालने तथा अश्लील शब्द बकनेके विरुद्ध आंदोलन करके उसने गाँव (मुकुन्दगढ़) में अच्छा वातावरण पैदा किया था, जिसको लेकर वहाँ के ठाकुरसाहब बहुत नाराज़ हुए थे, लेकिन बसंतलालने कभी किसीकी राजी-नाराजगी की परवाह नहीं की।

गणगौर पूजकर कुएँमें डालनेकी एक रिवाज़ राजस्थानमें प्रचलित थी, जिसके फल-स्वरूप कुओंका पानी ख़राब हो जाता था। उसके विरुद्ध भी बसंतलालने छोटी उम्रमें ही बालकोंकी एक टोली बनाकर कुएँपर पिकेटिंग की थी और उसमें सफल हुआ था।

छोटे-मोटे मेलों-ठेलोंके अवसरपर प्रबन्ध करनेके लिए अक्सर स्वयंसेवक दल जाया करते थे। उनमें हरएक स्वयंसेवक दलके साथ वह अवश्य होता था।

आज ये सब आंदोलन और सेवाएँ बहुत छोटी लगती हैं। किसी-किसीको ये बातें हँसी आने लायक भी लग सकती हैं। लेकिन जो लोग उस ज़मानेसे गुज़रे हैं, उन्हें मालूम है कि उस वक्त इन सबका कितना महत्व था और इनको करनेमें कितनी कठिनाई आती थी।

जो बात बसंतलालको ठीक जँची, उसका उसने निर्भीकतापूर्वक प्रचार किया और उसके अनुसार काम भी किया। उदाहरणके लिए, उसने अन्तर्जातीय विवाहकी बात कही, तो अपने लड़केका विवाह माहेश्वरी समाजमें किया, विधवा-विवाहकी बात कही तो अपने दूसरे लड़केका विवाह बाल-विधवा लड़कीसे किया, अस्पृश्यता-निवारण की बात कही तो हँसते-हँसते उसके लिए धक्के-मुक्के और गालियाँ खाईं और हरिजन सेवक संघ, राजस्थानके सभापतिके नाते राजस्थान-व्यापी दौरा भी किया। पर्देकी बात कही, तो उसे अपने घरमें सबसे पहले उठवाया और दहेजकी बात कही, तो अपने लड़कोंके विवाहमें दहेज नहीं लिया तथा आगे चलकर तो दहेजके विवाहमें शरीक नहीं होनेकी प्रतिज्ञा भी की।

सामाजिक सुधार-आंदोलनोंके अलावा रचनात्मक प्रवृत्ति भी उसकी छोटी उम्रसे रही। हमारे गाँवमें उसके द्वारा सन् १६०६ में स्थापित किया हुआ एक पुस्तकालय आज तक चल रहा है। उस वक्त उस पुस्तकालयके लिए कुल चन्दा १५) इकट्ठा हुआ था, जिसमें ११) की लागतसे एक जाज़म बनवायी गयी थी और "वेंकटेश्वर समाचार" नामका एक साप्ताहिक पत्र बम्बईसे मँगवाया गया था। कुछ फटी-पुरानी पुस्तकें इधर-उधर से माँगकर इकट्ठी की गई थीं, जिन्हें मरम्मत कर-कराके रखा गया था। आज तो इस पुस्तकालयका रूप, साधारण कस्बोंमें ठीक-ठीक जैसा एक पुस्तकालय चाहिए, वैसा हो गया है। काफ़ी पुस्तकें हैं, पर्याप्त पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं तथा गाँवके बहुत लोग उससे लाभान्वित होते हैं। हालहीमें भाई बसंतलालने अपने खर्चेसे इस पुस्तकालयके लिए अपने पूज्य पिताजीकी स्मृतिमें एक अच्छा सुन्दर दोतल्ला भवन भी बनवा दिया है।

कलकत्तामें जितने सामाजिक आन्दोलन हुए, जैसे सनातनधर्म और आर्यसमाजका आन्दोलन, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विलायत-यात्रा, डीडू-कोलवार प्रकरण, हरिजन-समस्या, विधवा-विवाह, पर्दा-प्रथा, मृतक विरादरी-भोज आदि, इन सबमें उसने सुधार-पक्ष या यों कहें कि न्याय-पक्षकी ओरसे खुलकर भाग लिया तथा नेतृत्व भी किया। खुद की पढ़ाई-लिखाई कम होनेके बावजूद शिक्षा और साहित्यके प्रति विशेषकर स्त्री-शिक्षाके प्रति उसका अनुराग सदा रहा, जिसका जीवित उदाहरण हमारे गाँवमें उसकी ओर से चलनेवाला बालिकाओंका एक मिडिल स्कूल है। यहाँपर करीब २५० लड़कियाँ पढ़ती हैं। उसका सुन्दर भवन भी उसने पूरा-पूरा अपने खर्चेसे बनवाया है। इनके अलावा कलकत्ते की तथा दूसरी जगहकी भी ऐसी कई शिक्षण-संस्थाएँ हैं, जिनकी मदद करने-करानेका

बसंतलालने सदा प्रयत्न किया। अहिन्दी प्रान्तोंमें हिन्दी प्रचारके काममें भी उसका सहयोग बराबर रहा तथा समाजवादपर अच्छा ग्रंथ लिखनेवालेको मुरारका-पुरस्कार भी दिया गया।

उसकी सामाजिक प्रवृत्ति कलकत्ते तक ही सीमित नहीं रही बल्कि बाहर भी उसे बहुत जाना पड़ा। जब-जब जहाँ-जहाँ जरूरत पड़ी, वहाँ वह जरूरतके अनुसार दल-बल लेकर अथवा अकेले-दुकेले भी गया और पूरी लगन तथा ताकतके साथ काम किया।

हरिजन-आन्दोलनके दिनोंमें मुकुन्दगढ़में बसंतलालका जो विरोध हुआ और उसका उत्तर उसने अपने मृदुल स्वभावके अनुसार विरोधियोंको जिस तरह हँसते-हँसते दिया था, वह एक स्मृतिकी वस्तु है।

राजनीतिक आन्दोलनमें गाँधीजीके आह्वानपर देशमें सबसे पहले जो लोग जेल गए थे, उनमें बसंतलाल भी एक था। उस वक्त उसकी आर्थिक हालत बहुत साधारण थी। संयुक्त परिवार था, दूसरा विवाह किये थोड़े ही दिन हुए थे, इसलिए पत्नीकी आयु बहुत छोटी थी, घरका वातावरण अनुकूल नहीं था। लेकिन उसने किसी बातकी परवाह नहीं की—किसी बातकी चिन्ता नहीं की। उसके बाद जब-जब राजनीतिक आन्दोलन हुए, वह बराबर जेल गया। सामाजिक क्षेत्रमें वह सदा उग्र सुधारवादी रहा, राजनीतिक क्षेत्रमें अपनेको गाँधीजीका अनुयायी माना और रचनात्मक प्रवृत्तियोंमें भी उसने बराबर सक्रिय भाग लिया। खादी जिस दिन किसी दूसरे आदमीके तनपर आई, उसी दिन उसने भी धारण की और अंत तक उसी प्रेम और निष्ठासे धारण किए हुए रहा।

सहृदय और सहानुभूतिशील वह इतना था कि कोई भी आदमी किसी भी तरह की आपत्तिमें पड़ा हुआ या ज़रूरतमन्द उसके पास पहुँचा, तो उसे निराश नहीं लौटना पड़ा। सदा-सर्वदा उसकी सहायता अपनी सुविधा-असुविधाका और समय-असमयका ख्याल किये बिना की। आनेवाली पीढ़ी बसंतलालको उसकी सेवाके लिए गर्व और कृतज्ञता के साथ याद करेगी क्योंकि उसने स्वयं दुख झेलकर आनेवाली पीढ़ीके लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

—o—

सरल-जीवन मुरारकाजी

श्री कुम्भाराम आर्य

श्री बसन्तलालजी मुरारका समाजके पुराने सेवकोंमें से थे। मुरारकाजीका नाम जब आता है, तो पुरानी सब घटनाएँ स्मरण हो आती हैं। समस्त सामाजिक बुराइयोंसे लोहा लेनेवाले लोगोंमें मुरारकाजी अग्रगणी समाज-सेवक थे। अनमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, पर्दा आदि अनेक रूढ़ियाँ समाजमें घर किए हुए थीं, जिनके कारण हिन्दू समाज का ह्रास होता जा रहा था। उन कुरीतियोंके सामने किसीकी खड़े होनेकी हिम्मत नहीं थी और समाज बुरी तरहसे इन रूढ़ियोंका शिकार था। समाजकी इस भयंकर बीमारी को जड़-मूलसे नष्ट करनेके लिए वे सुधारकके रूपमें जनताके सामने खम्भ ठोक कर आये।

रूढ़िवादिताको नष्ट करनेके लिए उठाए गए क़दमोंका जहाँ स्वागत होना चाहिए था, विरोध हुआ और समाजने बुरी तरहसे उनका तथा उनके साथियोंका तिरस्कार किया। यहाँ तक कि जातिच्युत कर दिए जानेकी नौबत भी आई लेकिन उस समाज-सेवकका मन कमज़ोर नहीं पड़ा। उसकी लगन बढ़ती गई, समाजका विरोध बढ़ता गया; मामला यहाँ तक आगे बढ़ा कि पारिवारिक जनों तकने इसका विरोध किया। किन्तु फिर भी उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, अपने कर्त्तव्यपर डटे ही रहे।

वह घटना बड़ी ही आकर्षक है जब श्री बसन्तलालजी मुरारकाने अपनी धर्मपत्नीको हाथसे लाखका चूड़ा उतारनेके लिए तैयार कर लिया। पत्नीने चूड़ा उतारा कि विरोध की अग्निमें घी डालने जैसा कार्य किया। घर, मोहल्ला, पारिवारिक जन सब ताने और विरोधमें उनको घायल करने लगे। धर्मपत्नीको राँड तक कहा गया फिर भी दोनों पत्ति-पत्नी अपने विचारोंपर अटल रहे और जो क़दम आगे बढ़ा लिया सो बढ़ा लिया। वापिस नहीं लिया। समाज-सुधारकी धुन आपको अंतिम दिन तक बैसी ही लगी रही स्त्री-शिक्षा, सामाजिक सुधार, जन-सेवा आदि कार्योंमें ही आपने अपना समय लगाया। उनका घर एक आश्रम-सा लगता था। उस समाज-सेवकके घर अतिथि बनकर ठहरने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ था। परिवारके हरएक व्यक्तिके व्यवहारका आज भी वैसा ही असर और आकर्षण है। उसके घरसे विदा लेनेको किसी भी अतिथिका मन नहीं चाहता।

उसकी धर्म-पत्नी, लड़के-लड़कियाँ और लड़कोंकी बहुएँ सबके सब एक साँचेमें ढले लोग बड़े प्यारे लगते हैं। उस व्यक्तिने समाज-सुधारका कार्य अपनेसे ही प्रारम्भ किया हो, ऐसा लगता है। स्वयं वह देखनेमें बड़ा सीधा, कमबोला और लगनशील दीखता था

तो उसकी धर्मपत्नी भी इससे कम नहीं रही। पति-पत्नी दोनोंके आचार-विचार एक होनेसे बाल-बच्चोंपर वैसा ही रंग चढ़ा हुआ है। एक बार इस घरके बच्चोंसे मिल लेने और बात करनेके बाद उनको भुलाया नहीं जा सकता। इस प्रकारके जन-सेवकके जीवनके बारेमें मेरा जैसा साधारण व्यक्ति क्या लिखे? मेरे कुछ समझमें नहीं आता। हाँ इतना लिखना आवश्यक समझता हूँ कि इस कर्मठ पुरुषको जन्म देनेवाली मातृभूमि राजस्थानकी शेखावाटी है। इस भूमिको कुछ ऐसा ही वरदान है। यहाँ ऐसे ही पुरुष पैदा होते हैं, जिनसे उनका और मातृभूमि दोनोंका नाम उज्ज्वल होता है। इस भूमिको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ जिसने हमको बसन्तलाल मुरारका-जैसा समाज-सेवक दिया।

श्री बसन्तलालजी मुरारका बड़े लोकप्रिय थे। वे राजस्थानमें नहीं रहे और उनकी सेवाओंका लाभ राजस्थानको इतना नहीं मिला पर हमें इस बातकी प्रसन्नता है कि राजस्थानमें पैदा हुआ बसन्तलाल मुरारका हमारे बंगाली भाइयोंकी सेवा वैसी ही कर सका जैसी वह राजस्थानमें होता, तो राजस्थानियोंकी करता। इसका प्रमाण भी हमारे पास है। वह बंगालकी असेंबलीका सदस्य ऐसे स्थानसे चुना गया जहाँ एक भी राजस्थानी नहीं। बसंतलालजी मुरारकाको बंगालकी धारा-सभामें किसीने भेजा तो वह बंगाली जनता थी। बंगाली भाइयोंने मुरारकाजीको मारवाड़ी नहीं समझा। वे उनको अपना भाई समझकर उनसे व्यवहार करते रहे थे। श्री मुरारकाजी की सेवाओंका ही यह फल था।

समाज-सेवकोंको श्री बसंतलालजी मुरारकाके जीवनसे शिक्षा लेनी चाहिये।

वे अमर हैं!

श्री खेमचन्द्र चौधरी

मुरारकाजीकी मस्ती, उनका नौजवानोंको शर्मिन्दा करनेवाला जोश, उनका अदम्य उत्साह, दृढ़ता और बहादुरीके साथ विरोधसे टक्कर लेनेकी अद्‌भुत क्षमता, बिना घबराए धैर्यके साथ स्थितिका सामना करनेका साहस सदा समाज और साथियोंकी स्मृतिमें अमिट रहकर प्रेरणा देता रहेगा। सुधार, परिवर्तन और क्रांतिके उस पुजारीका हँसता हुआ चेहरा आज भी इन अभागी और गीली आँखोंके सामने थिरक रहा है। सुनो! सुनो!! वे क्या कह रहे हैं? कहते हैं—अधूरे कामको पूरा करो, इसीसे मेरी आत्माको शान्ति मिलेगी। अरे, वही हँसी, वही उत्साह, वही अपनापन! हमें उस जोतको जगाए रखना है, उसे संजोना है।

यह माननेको जी नहीं चाहता कि वे मर गए। सचमुच वे मरे नहीं। वे मर कर भी अमर हैं।

मारवाड़ी समाजके आन्दोलन और बसंतलालजी

श्री गंगाप्रसाद भोतिका

मारवाड़ी समाजमें सामाजिक संघर्षका श्रीगणेश मारवाड़ी एसोसियेशनकी स्थापनाके बाद हुआ। एक तरफ मारवाड़ी एसोसियेशनके प्रमुख कार्यकर्ता थे, जिनमें श्री जुहारमलजी खेमका, श्री रामजीदासजी बाजोरिया, श्री केशोरामजी पोद्दार, श्री रामकुमारजी झुंझनूवाला, श्री चिम्मनलालजी गनेड़ीवाला, श्री दौलतरामजी चोखानी आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दूसरी तरफ उस समाजके युवक कार्यकर्त्ता श्री नागरमलजी मोदी, श्री फूलचन्दजी चौधरी, श्री रामकुमारजी जालान, श्री रामकुमारजी गोयनका, श्री बैजनाथजी केड़िया आदि थे, जिन्होंने कलकत्तेमें वैश्य सभा की शाखा स्थापित की थी और उसका एक अधिवेशन भी यहाँ बुलाया था। इन संस्थाओंका परस्पर संघर्ष चलता रहा, जो पीछे जाकर आर्यसमाज और सनातन धर्मके संघर्षमें परिणत हो गया। मारवाड़ी समाजमें आर्यसमाजके उस समयके प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री जयनारायणजी पोद्दार तथा उनके पुत्र, श्री देवीबक्सजी सराफ, श्री शिवप्रसाँदजी सराफ, श्री नागरमलजी मोदी आदि थे। एक ओर मारवाड़ी एसोसियेशनके कर्णधार श्री केशोरामजी पोद्दार तथा दूसरी ओर श्री जयनारायणजी पोद्दारके विशेष ज़ोर देनेपर यह संघर्ष सक्रिय हुआ। उन दिनों श्री देवीबक्सजी सराफकी माताजीका देहान्त हो गया था। उनके श्राद्धपर भोजन न कराने के लिये ब्राह्मणोंको बहुत भड़काया गया। इसी प्रकार श्री लक्ष्मीनारायणजी खेमानीने अपनी बहनको आर्यकन्या महाविद्यालय, जालन्धरमें भर्ती करा दिया था। इसपर सनातन-धर्मियों में बड़ी खलबली मची और उन्होंने मामले-मुकदमे भी किए। संघर्ष यहाँ तक बढ़ा कि मारवाड़ी एसोसियेशनके कर्णधारोंने एक गश्ती चिट्ठी तैयार की और उन सबके पास भेजी, जिनपर उन्हें आर्यसमाजी होनेका सन्देह था। उसमें यही लिखा था कि या तो वे इस बातकी घोषणा करें कि वे आर्यसमाजी नहीं हैं, अन्यथा उनपर यथोचित कार्यवाही की जायगी। श्री फूलचन्दजी चौधरी आदि कुछ सज्जन मारवाड़ी एसोसियेशनके सदस्य होना चाहते थे। उन्हें सदस्य न बनने देनेके लिए एसोसिएशनने पहले ही यह प्रस्ताव पास कर लिया कि जो गीताकी शपथ लेकर कहेंगे कि वे सनातनधर्मी हैं, वे ही सदस्य बन सकेंगे। आपसकी तनातनी यहाँ तक बढ़ी कि दोनों ओरसे इसी बातको लेकर समाचारपत्र निकलने लगे। सनातन-धर्मियोंकी ओरसे "श्री सनातन धर्म" निकला और सुधारवादियोंकी ओरसे "सत्य सनातन धर्म"। "सत्य सनातन धर्म" के सम्पादनका

कार्य श्री राधामोहन गोकुलजी करते थे और उसमें विशेष लेख श्री शिवप्रसादजी सराफ के हुआ करते थे जिन्हें पढ़कर सनातनी समाजमें बड़ी खलबली मच जाया करती थी।

इस संघर्षको मिटाने और समाजमें एकता स्थापित करनेके लिये देशभक्त सेठ जमनालालजी बजाजने सन् १६१८ में काफी दौड़धूप की, किन्तु सनातनी दल किसी प्रकार भी राजी नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने नवयुवकोंके सहयोगसे ही मारवाड़ी अग्रवाल महासभाकी स्थापना की और उसका प्रथम अधिवेशन वर्धामें बम्बईके श्री रामलालजी गनेड़ीवालाकी अध्यक्षतामें बुलाया। मारवाड़ी अग्रवाल महासभाके अधिवेशन प्रतिवर्ष भिन्न-भिन्न स्थानोंमें होते रहे। कलकत्तेमें भी करीब ४ अधिवेशन हुए। तीसरा अधिवेशन श्री नौरंगरायजी खेतानकी अध्यक्षतामें हुआ। उस अधिवेशनके बाद मारवाड़ी अग्रवाल महासभाका नाम बदलकर अग्रवाल महासभा कर दिया गया, जिससे भारतवर्षके सभी अग्रवाल सम्मिलित होने लगें और इसके अधिवेशन भी स्थान-स्थानपर देशी अग्रवालों द्वारा बुलाए जाने लगे। सामाजिक आन्दोलनको प्रगति देनेमें अग्रवाल महासभासे काफी बल मिला। अग्रवाल महासभाका इतिहास बड़ा स्फूर्ति प्रदान करने वाला है। बम्बईके अधिवेशनके सभापति श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार मनोनीत किये गए थे, किन्तु वे सनातनियोंसे डर कर जुलूसके बीचसे ही चले गए और श्री रंगलालजी जाजोदियाके सभापतित्वमें सभाका कार्य सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार इलाहाबादके अधिवेशनके सभापति महाराजा नशीपुर मनोनीत किए गए थे, किन्तु शायद उन्हें किसीने बहका दिया और ठीक समयपर अस्वस्थताका बहाना करके उन्होंने सभापति बननेसे इन्कार कर दिया। उस समय श्री पद्मराजजी जैनने तुरंत सभापतिका भाषण तैयार करके श्री बसंतलालजीको सभापतिके पदके लिए तैयार कर दिया और अधिवेशन बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

कलकत्ताके एक अधिवेशनमें बम्बईके श्री केशवदेवजी नेवटिया सभापति बनकर आए थे। उनके जुलूसपर सनातनियों द्वारा कीचड़ उछाला गया। जबसे श्री नागरमलजी लील्हाका विधवा-विवाह हुआ, तभीसे महासभामें विधवा-विवाहका प्रश्न किसी न किसी रूपमें आता रहा, किन्तु पास न हो सका। अन्तमें लाहौरके अधिवेशनमें श्री पद्मराजजी जैनके सभापतित्वमें वह पास हो गया। अग्रवाल महासभाके बाद ही मारवाड़ी समाजके अन्य उप-समाजोंने भी महासभाओंकी स्थापना की और उनके अधिवेशन भी समय-समयपर होते रहे। इन महासभाओंके द्वारा सामाजिक सुधारोंमें काफी प्रगति मिली, किन्तु राजनीतिक आन्दोलनोंके कारण कार्यकर्त्ताओंकी रुचि इस ओर कम हो गई। साथही महासभाओंका महत्व कम होता गया ; वैसे तो हालहीमें अग्रवाल महासभाका अन्तिम अधिवेशन नागपुरमें श्री ईश्वरदासजी जालानके सभापतित्वमें हुआ था।

जिस समयमें आर्य समाज और सनातन धर्मका आन्दोलन चल रहा था, उन्हीं दिनोंमें श्री कालीप्रसादजी खेतान बैरिस्टरी पास करनेके लिये विलायत जानेको तैयार हुए थे। यह खबर समाजमें जोरोंसे फैली और सनातन-धर्मियोंने इसका विरोध करनेके लिये उस समय के प्रमुख वक्ता व्याख्यान-वाचस्पति श्री दीनदयालजी शर्माको बुलाया। उनके व्याख्यान श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालयके पुराने भवनमें हुआ करते थे। उपस्थिति

काफी होती थी । जब श्री कालीप्रसादजी विलायत चले गए, तो उन्हें जाति-बहिष्कृत किया गया । अन्तमें उन्हें साधारण-सा प्रायश्चित करना पड़ा और मामला ठंडा हो गया । आज तो विलायत-यात्राका कोई प्रश्न ही नहीं रहा ।

मारवाड़ी समाजमें घृत-आंदोलनका भी काफी मज़ेदार इतिहास है । समाजमें यह चर्चा ज़ोरोंसे होने लगी कि व्यापारी लोग घीमें चर्बी मिलाते हैं । मारवाड़ी एसोसियेशनका समाजपर उस समय काफी प्रभाव था । उसने मारवाड़ी पंचायतकी सभा बुलवाई और जिन-जिन व्यापारियोंका घीमें चर्बी मिलाना प्रमाणित हुआ, उनपर जुर्माना किया गया और आगेसे ऐसा न करनेकी चेतावनी दी गई । सभीने जुर्माना देना स्वीकार किया । इसपर पंचायतकी धाक जम गई । किन्तु जब एक बड़े माहेश्वरी समाजके व्यापारीका मामला सामने आया, तो पंचायतके लोगोंमें मतभेद हो गया और उचित निर्णय न हुआ । इससे लोगोंकी पंचायतसे श्रद्धा उठ गई और घृत-आन्दोलन ठंडा पड़ गया ।

जिस प्रकार आर्य-समाज और सनातन धर्मको लेकर अग्रवाल समाजमें आन्दोलन मचा था, उसी प्रकार श्री रामेश्वरदासजी बिड़लाके दूसरा विवाह एक कोलवार समाजकी कन्यासे करनेपर माहेश्वरी समाजमें आन्दोलन शुरू हुआ । जो अपनेको असली माहेश्वरी मानते हैं वे अपनेको डीडू कहते हैं अर्थात् वे अपनी उत्पत्ति डीडवानासे बतलाते हैं । कोलवारोंको या तो माहेश्वरी मानते ही नहीं या निम्न कोटिके माहेश्वरी मानते हैं । माहेश्वरी समाजमें यह आन्दोलन वहुत जोरसे चला और परस्पर सामाजिक सम्बन्ध होनेमें में भी अडचनें पड़ने लगीं । इसी आन्दोलनके फलस्वरूप डीडू माहेश्वरी विद्यालयकी भी स्थापना की गई, क्योंकि माहेश्वरी विद्यालयका सम्बन्ध बिड़ला परिवारके पक्षके लोगोंसे समझा जाता था । अन्तमें किसी तरहसे समझौता होकर यह आन्दोलन शान्त हुआ और अब तो माहेश्वरी और अग्रवालोंके बीच सम्बन्ध होनेमें भी कोई आपत्ति नहीं रही ।

जैसा ऊपर कहा गया है, अग्रवाल महासभाकी स्थापनाके बादसे समाजमें सामाजिक आंदोलन खूब जोर-शोरसे चले । इन सबमें श्री पद्मराजजी जैनका प्रमुख हाथ था । वे इनका संचालन किया करते थे । श्री नागरमलजी लील्हाको विधवा-विवाहके लिए तैयार किया गया और सब मित्रोंने मिलकर इसका आयोजन छाजूरामजी चौधरीके मकान में किया । सनातनियोंने बड़ा हो-हुल्लड़ मचाया, किन्तु पुलिसके प्रबन्धमें विवाह निर्विघ्न सम्पन्न हुआ । इस विवाहको लेकर सनातनियोंमें खलबली मच गई और उन्होंने पंचायत बुलाकर समाजके १२ प्रमुख सुधारक व्यक्तियोंको जाति-बहिष्कृत कर दिया । इनमें एक श्री जगन्नाथजी गुप्त भी थे । इन्होंने श्री बालचन्दजी मोदी आदिकी प्रेरणा से बहिष्कार करनेवालोंपर मामला भी चलाया । इससे कई दिनों तक हलचल मची रही । कुछ समय तक तो समाजमें इसकी काफी चर्चा रही और सामाजिक सम्बन्धों में भी कठिनाई आने लगी । किन्तु लोग इससे ऊब गये और बहिष्कार का कोई महत्व नहीं रह गया । सामाजिक सम्बन्ध फिरसे उसी प्रकार होने लगे और पंचायतका महत्व घट गया । इसके बाद तो कई मित्रोंने विधवा-विवाह कर लिए, किन्तु किसीके कानपर

जूँ तक नहीं रेंगी। अब तो समाजमें विधवा-विवाहका कोई प्रश्न ही नहीं रह गया।

विधवा-विवाहके आन्दोलनके साथ-साथ कई अन्य आन्दोलन भी समाजमें चलते रहे। इनमें मृतक बिरादरी-भोजको बन्द करनेका आन्दोलन एक प्रमुख आन्दोलन था। इसके लिए नवयुवकोंको स्थान-स्थानपर सत्याग्रह तक करनेपड़े। उनपर जूठी पत्तलें डाली गईं। किन्तु अन्तमें सफलता मिली। आज मृतक बिरादरी-भोजका कोई महत्व नहीं रहा और प्रायः बन्द ही हो गया।

इसी प्रकार वृद्ध-विवाहोंके विरुद्ध भी आन्दोलन किया गया। इन विवाहोंको रोकनेके लिए समाजके कार्यकर्त्ता अन्य स्थानोंमें भी गये और ऐसे विवाहोंको रोकनेकी काफ़ी चेष्टा की। एक लड़कीका तो एक वृद्धसे विवाह रोककर एक नवयुवक से करवा दिया गया। बाल-विवाहका क़ानून बनानेके लिये पहला बिल श्री रंगलालजी जाजोदियाने दिल्लीकी विधान-सभामें उपसिथत किया था। किन्तु उन्हें सफलता न मिली और श्री हरबिलासजी शारदाका बिल पास हुआ। मारवाड़ी एसोसियेशनने इसके विरुद्ध में तार दिया था। इधर मारवाड़ी ट्रेडर्स एसोसिएशनकी ओरसे इसके पक्षमें तार दिया गया। असलमें मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशनकी स्थापना मारवाड़ी एसोसिएशनके कार्योंके प्रतिवादमें ही हुई थी। उसने मारवाड़ी एसोसिएशनको विधान-सभामें जो सदस्यता मिली थी, उसका समय-समयपर प्रतिवाद भी किया और सरकारको बतलाया कि मारवाड़ी एसोसिएशन समस्त मारवाड़ी समाजकी प्रतिनिधि संस्था नहीं है।

समाजमें परदा-निवारक आन्दोलनको प्रगति देनेके लिये देवोत्थान एकादशीके दिन कई वर्षों तक परदा-निवारक दिवस मनाये गए। मारवाड़ी कार्यकत्ता सम्मेलन, जिसमें प्रमुख हाथ श्री बसंतलालजी मुरारकाका था, के तत्वावधानमें परदा निवारक सम्मेलन कलकत्तेमें श्रीमती राधादेवीजी गोयन्काकी अध्यक्षतामें बड़ी धूमधामसे मनाया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त आन्दोलनोंके द्वारा ऐसा वातावरण तैयार हो गया, जिससे समाजकी सारी कुरीतियाँ पूर्णतः तो बन्द नहीं हुईं, किन्तु विचारोंकी चेतना आ गई। इन सभी आन्दोलनों में श्री बसन्तलाल मुरारकाका प्रायः सहयोग रहा।

——:००:——

हमराही

श्री रामकुमार भुवालका

लगभग ४० वर्ष पहलेकी बात है। उस समय सामाजिक सुधारोंकी बहुत ज़रूरत थी। मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशन का जन्म मारवाड़ी एसोसिएशनके विरोधमें हुआ था। उसी समय से कुछ पहले या बादमें मेरी जान-पहचान स्वर्गीय बसन्तलालजीसे हुई। निर्भीकता, उदारता और नई चेतनाकी भावना उनके प्रत्येक कार्यमें दीखती थी। उस समय सभी कार्योंका सम्पादन करनेमें कार्यकर्त्ताओंमें इतना मेल था कि परस्पर कोई किसी से भिन्न नहीं था। गाँधीजीके असहयोग आन्दोलनने देशमें एक नया जोश पैदा कर दिया था। उसमें तथा अन्य राजनीतिक आन्दोलनोंमें श्री बसन्तलालजी बराबर सक्रिय रूपसे भाग लेते रहे। इस लम्बी अवधि में वे एक ही ढंग से देश-सेवाके कार्यों में जुटे रहे। उनके इन कार्योंसे हम लोगोंको प्रेरणा मिलती रहती थी। वे जब १९२१ में जेल गए, उस समय सब बड़ा बाजार काँग्रेस कमेटीमें साथ-साथ थे। वे तब बड़ा बाजार काँग्रेस कमेटीके सेक्रेटरी थे।

क्या गज़बका समय था वह ! स्वर्गीय पद्मराजजी जैन की स्मृति आ जाती है। उनसे जो प्रेरणा साथियोंको मिलती थी, वह सचमुच अद्भुत थी। उस समय काम करनेकी सच्ची लगन तथा संगठन बेजोड़ था। भाई बसन्तलालजी पद्मराजजीके अन्यतम साथी थे। प्रत्येक कार्यमें वे बसंतलालजीको आगे रखते थे। वे भी प्रत्येक कार्य को करनेमें फौरन अपनी स्वीकृति देते थे। वास्तवमें जो व्यक्ति निर्भीक होते हैं, उनमें साहसके कार्य करनेकी अद्भुत क्षमता रहती है। हर नई बातमें भाई बसन्तलाल जी का पहला प्रस्ताव होता—"हमें ज़रूर ही यह कार्य करना चाहिए।" विधवा-विवाह, छुआछूत, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह, दहेज, फिजूल खर्ची, बिरादरी भोज सभी कार्यों में वे आगे रहते थे। १९२३ में एक साप्ताहिक पत्र 'नवयुवक मारवाड़ी' के नामसे उन्होंने निकाला। उसमें ४–५ व्यक्तियोंके लेख या विचार रहते थे। इसके अलावा समाजकी खामियोंकी आलोचना-प्रत्यालोचना रहती थी। उन आलोचनाओंसे समाजमें तहलका मच जाता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि तबका ज़माना आज जैसे सुलझे हुए विचारोंका नहीं था। आज तो हर बातकी आलोचना करनेका सभीको अधिकार प्राप्त है—पर तब ऐसी बात नहीं थी।

विधवा-विवाहकी बात जब सामने आई तो सर्वप्रथम जानकी बाई का विवाह कराया गया। इसके विरुद्ध हम बारह व्यक्तियोंको जाति-बहिष्कृत किया गया। सचमुच

वह समय याद करने लायक है। क्या जोश था? किसीको खयाल ही नहीं होता था कि हमें जातिसे बाहर किया गया है! वास्तवमें इन बातोंका श्रेय उस संगठनको है, जिसमें हम बँधे थे। मृतक बिरादरी भोज आन्दोलन भी काफी सरगर्म रहा। इन सब कामोंमें श्री बसंतलालजी तो सबसे आगे रहते थे।

नमक-सत्याग्रहमें उन्होंने काफी काम किया। जब हम लोग महेशबथान से वापस आगये, तो उनकी राय थी कि बड़ा बाजारमें काम करना चाहिए। एक दिन वे बोले—"रामकुमारजी, मिरजापुर पार्कमें क़ानून तोड़नेके लिये मीटिंग करनी है, उसमें ६ आदमी चाहिए, ५ तो मिल गये हैं, एककी जरूरत है। मैंने कहा—"मैं तैयार हूँ।" वे बहुत खुश हुए। हम लोग एक घंटा तक ६ आदमी मीटिंग करते रहे। उनमें यह खूबी थी कि वे जिस समयके लिए जिस कामको ठीक समझते थे, उसे करते थे। परिणाम कभी नहीं सोचते थे—इसीसे काम बहुत हुआ। जो व्यक्ति परिणाम सोचकर काम करता है, वह काम कर ही नहीं पाता। वास्तवमें उत्साहसे आधा काम तो आरंभ में ही हो जाता है। काम करनेवाले कभी परिणाम थोड़े ही सोचा करते हैं।

उन्होंने समाजमें स्त्रियोंके परदा न रहे, इसके लिए काफ़ी आन्दोलन किया—दौरे किए जिनमें कई जगह बसंतलालजीपर लोगोंने धूल फेंकी कीचड़ फेंका; अपशब्दोंका तो कहना ही क्या—लेकिन उनको तो कामकी लगन थी! क्रोध करना या नाराज़ होना तो जैसे वे जानते ही नहीं थे। भला-बुरा कहना, वह हँस कर टाल देते। तभी बहुतसे भाई विचारोंसे सहमत न होते हुए भी उनसे प्रेम करते थे। आधी रातको भी अगर किसीने जाकर उनसे कह दिया—बसन्तलालजी यह काम है, उसी समय उसके साथ जाकर वे काम कर देते।

राजनीतिक विचारोंमें मतैक्य होना मुश्किल है। लेकिन उनमें यह खूबी थी। वह इस ढंगसे बात करते कि भिन्न विचार वालेको यह पता ही नहीं चलता कि वे भिन्न विचारके हैं। काम करने और करानेकी क्षमता उनमें काफी थी। विशेषकर बंगालमें तो वे इतने ज्यादा जनप्रिय हो गए थे कि हर बंगाली भाई उनका नाम आते ही कह देता था—"तिनि तो आमादेर।" इधर करीब ७–८ वर्षसे मेरा-उनका साथ इतना अधिक था कि कोई भी काम हम दोनों मिलकर ही करनेकी कोशिश करते थे। आज वह हमारे बीचमें नहीं हैं, लेकिन उनकी स्मृति इतनो ताज़ी है कि प्रत्येक काममें वह याद आते रहते हैं। मैं बराबर उनकी याद कर सोचता हूँ: ऐसे साथीके चले जानेपर मनपर कितना असर पड़ता है और असर भी ऐसा जो भुलाया न जा सके। मेरे हृदयसे तो उनका स्थान हट ही नहीं सकता। उनकी बीमारीके समय भी बराबर उनसे बातें होती रहती थीं। कभी-भी उनके मनपर कमज़ोरीके लक्षण नहीं देखे। हमेशा प्रसन्न-चित्त रहे।

-::००:

दृढ़व्रती बसन्तलालजी

श्री राधाकृष्ण नेवटिया

श्री बसन्तलालजी मुरारकासे मेरा प्रथम परिचय मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशनमें हुआ था। उसमें श्री बसन्तलालजीका प्रभावशाली सहयोग था और मैं भी उसके कार्य-कलापोंमें भाग लेता था।

ट्रेड्स एसोसिएशनके साथ एक डिबेटिंग सोसाइटी भी थी जिसमें समाज-सुधार सम्बन्धी विषयोंपर वाद-विवाद होता था। इस सोसाइटीमें बसन्तलालजी बराबर भाग लेते थे। उनकी ज़बान ज़रा तुतलाती थी, इसलिये उनके बोलते समय कभी कभी लोग हँसते और उन्हें निरुत्साहित करनेकी चेष्टा करते थे, परन्तु बसन्तलालजी अपनी धुनके इतने पक्के थे कि इन बातोंकी परवाह न कर बराबर उसमें भाग लेते थे। इसी अभ्यासके बलपर वे आगे चलकर बड़ी-बड़ी सभाओंमें भी भाषण देकर उपस्थित जनतापर अपना प्रभाव छोड़ते थे।

ट्रेड्स एसोसियेशन द्वारा कंगालोंको भोजन कराना, गंगासागरके मेलेके अवसरपर यात्रियोंकी मदद करना आदि सेवा-कार्य भी किए जाते थे। इन सब कामोंमें भी बसन्तलाल जी उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। समाज-सुधारकी अन्य अनेक प्रकारकी हलचलोंमें भी उनका सहयोग बराबर मिलता ही था।

ट्रेड्स एसोसिएशनके अन्तर्गत चुने हुए कुछ मित्रोंकी एक मित्र-मण्डली भी थी। इसमें श्री फूलचन्द चौधरी, श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, श्री बसन्तलाल मुरारका, श्री पद्मराज जैन, आदि महानुभाव योग देते थे। जो काम करना होता, वह पहले इस मित्र-मण्डली में स्वीकृत कर लिया जाता था। उसके बाद ट्रेड्स एसोसियेशनके द्वारा उसे कार्यान्वित किया जाता था। उसके सदस्योंके लिए कुछ शर्तें थीं। उनमें मुख्य बातें थीं:—प्रत्येक सदस्य रोज कुछ न कुछ स्वाध्याय करे, जो काम जिसे सौंपा जाय उसे वह अवश्य करे। मित्र-मंडलीमें दस-बारह आदमी ही थे परन्तु ऐसा संगठन था कि बड़ी-बड़ी सभाओंमें अपने पक्षका समर्थन करवानेमें हम लोग सफल हो जाते थे। सभाके विभिन्न कोनोंमें बैठकर जहाँ हम सब लोग समर्थन के लिये अलग-अलग आवाजें उठाते थे, वहाँ सारी सभा उसीका अनुभव करने लग जाती थी।

समाजमें सबसे पहले जो विधवा-विवाह कराया गया, वह भी इस मित्र-मण्डलीके प्रयत्नसे ही हुआ। इसमें बसन्तलालजीने बड़ा सक्रिय सहयोग दिया। श्री बालकृष्ण मोहता हबड़ासे एक विधवा बहनको लाये जिसके पुनर्विवाहके लिए झरियाके श्री नागरमल

लीलहाको तैयार किया गया। सर्वप्रथम उस विधवा बहनको मेरे ही घरपर लाया गया था और यहींपर उसके विवाहकी बात तय हुई थी। उसके बाद उसे श्री छाजूराम चौधरीके यहाँ रखा गया और वहींपर उसका पुनर्विवाह कराया गया।

बसन्तलालजी समाज-सुधारके साथ राजनीतिक कार्योंमें भी अगुआ रहते थे। पहले लाला लाजपतरायके लोक-सेवक संघके प्रति उनका विशेष आकर्षण था। जब उन्होंने कुछ रुपये कमाये, तब मुझे रु० १०,०००) इसलिये दिए कि ये रुपये लोक-सेवक संघको देकर उसकी ओर से कुछ समाज-सेवक युवक तैयार किये जायें, जो कलकत्तामें रहकर काम करें। यह रुपया कई महीनों तक बैंकमें पड़ा रहा, परन्तु मेरे अपने आलस्य के कारण यह काम हो नहीं पाया और रुपया बसन्तलालजीको वापस कर दिया गया। बादमें तो वे कांग्रेसके अन्यतम अनुयायी हो गये थे।

जब श्री शरत्‌चन्द्र बोस जेलसे छूटकर आये, तब उनका स्वागत किया गया और उन्हें १,११,१०१) रुपये की थैली भेंट की गयी। इस धन-संग्रहमें बसन्तलालजीने बड़ा काम किया था। मैं भी उनके साथ था। थैली भेंट करते समय बसन्तलालजीने शरत् बाबूसे यह कहा था कि मैं तभी तक आपके साथ हूँ, जब तक आप कांग्रेसमें हैं। यदि आप कांग्रेससे अलग हो जायेंगे, तो मैं आपके साथ न रहूँगा। उस समय शरत्‌बाबूका बंगालमें काफी प्रभाव था। साधारण अवस्थामें लोग उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये इस प्रकार की बात करनेका साहस न करते, परन्तु बसंतलालजी बड़े निर्भीक आदमी थे। उन्होंने कांग्रेसको किसी भी व्यक्तिसे ऊँचा मानकर शरत् बाबूसे ऊपरोक्त बातें कही थीं। इतना ही नहीं, जब शरत्‌बाबू कांग्रेससे अलग हो गए, तब उनके घर जाकर बसंतलालजीने यह कहा कि अब हम आपका साथ नहीं दे सकते। जिस प्रांतमें रहकर काम करना था, उसके एक प्रभावशाली नेतासे इस प्रकारकी बातें करना जलमें रहकर मगरसे बैर करने जैसा था। मगर बसन्तलालजी परिणामोंकी जरा भी परवाह किये बिना स्पष्ट रूपसे सब-कुछ कह आये।

मारवाड़ी समाजमें समाज-सुधारका काम अग्रवाल महासभाकी स्थापनाके साथ हुआ। श्री जमनालालजी बजाजकी प्रेरणासे इस महासभाका जन्म हुआ था। बसन्तलाल जीका आरम्भसे ही इसमें बड़ा सहयोग था। जिन लोगोंने समाज-सुधारके कामोंमें सहयोग दिया, उनमेंसे अनेक व्यक्ति समाजका विरोध सह सकनेमें असमर्थ होकर कार्य-विरत हो गये, परन्तु बसन्तलालजी अपने व्रतसे कभी विचलित नहीं हुये। उन्होंने 'परोपदेशे पाण्डित्यं' का भी प्रयोग नहीं किया। जिस बातको उन्होंने अच्छा समझा, उसीको अपनानेके लिए समाजमें आन्दोलन किया और जो आन्दोलन किया, उसे अपने ऊपर भी लागू किया। अपने परिवारसे उन्होंने पर्दा हटाया, अपने लड़कोंके अन्तर्जातीय और विधवा-विवाह किये। अपनी कन्याका विवाह सयानी उम्रमें किया, यद्यपि इन सबके लिये उन्हें समाजका, और स्वयं अपने परिवारका बड़ा विरोध सहना पड़ा था।

बसंतलालजी जैसे दृढ़व्रती बहुत कम मिलते हैं। उनकी निर्भीकता, लोकसेवा, समाज-सुधारकी भावना, देशभक्ति, सादगी आदि सभी बातें अनुकरणीय थीं। उनका निधन देशके लिए एक बहुत बड़ी क्षति है।

कार्यकर्ताओंके शुभचिन्तक

श्री विश्वनाथ उपाध्याय

जब मुझे श्री बसंतलालजीकी याद आती है, तो सोचने लगता हूँ यदि बसन्तलालजी न रहे होते तो पता नहीं मेरे जीवनकी दिशा क्या हुई होती ?

सन् १९४१ की बात है। हाई स्कूलकी परीक्षा पास करनेके बाद मेरे सामने एक विकट समस्या उपस्थित थी। एक तरफ मेरे परिवारके लोगों तथा मेरे परम हितैषी श्री रामलखनजीका, जिनका मेरी शिक्षामें अधिक हाथ था, आग्रह था कि मैं नौकरी पकड़ कर परिवारकी आर्थिक स्थितिको ठीक करूँ और दूसरी तरफ अपनी शिक्षाका क्रम जारी रखनेकी मेरे हृदयमें प्रबल इच्छा थी।

श्री रामलखनसिंह एक चाय-बग़ानमें सहायक मैनेजर थे और उन्होंने उसी बग़ानमें मेरे लिए एक क्लर्ककी जगह ठीक करदी और मुझे यह भी बताया कि निकट भविष्यमें ही मैं हेडक्लर्ककी जगहपर नियुक्त कर लिया जाऊँगा। निवास-स्थान, नौकर तथा चाय-बग़ानोंमें मिलनेवाली अन्य सभी सुविधाएँ मिलाकर मुझे करीब-करीब ३००) मिलनेवाले थे।

परन्तु मैं अपने निश्चयपर दृढ़ रहा। इससे मेरे परिवारवालोंको काफ़ी दुख हुआ और उन्होंने मुझसे यह स्पष्ट कह दिया कि भविष्यमें मेरी शिक्षाके लिए किसी प्रकारकी सहायता नहीं दी जायगी।

निम्नलिखित कारणोंसे चाय-बग़ानकी नौकरी मेरे अनुकूल नहीं पड़ रही थी—पहला, वहाँ शिक्षाका क्रम जारी रखनेका कोई साधन नहीं था; कोल्हूके बैलकी हालत थी; दुनियाकी सारी हलचलोंसे दूर एक ही स्थानपर जीवन पर्यन्त कलम घिसनेकी बात थी! दूसरा, मैं बचपनसे ही राष्ट्रीय विचारोंका था, जिसके लिए चाय बग़ानका वातावरण किसी प्रकार अनुकूल नहीं था; एक अंग्रेज़ मैनेजर यह कैसे बर्दाश्त कर सकता था कि राष्ट्रीय विचार रखने तथा खादी पहननेवाला व्यक्ति उसके दफ्तरमें काम करे; मेरा पूरा विश्वास था कि वहाँपर मेरी अधिक दिनों तक नहीं निभ सकती थी। ऐसी परिस्थितिमें मेरे हृदयमें एक अन्तर्द्वन्द चल रहा था।

इस समय सिलचरमें एक हिन्दी-प्रचारकसे मेरी भेंट हुई और उन्होंने श्री बसंतलालजीकी प्रशंसा करते हुए उनके नाम एक पत्र भेजनेका मुझे परामर्श दिया। मैंने किसी प्रकारकी आशा न रखते हुए केवल उनके पते पर एक पत्र भेज दिया। उस समय तो मेरे आश्चर्य और आनन्दकी सीमा नहीं रही जब मुझे शीघ्र ही उनका उत्साहवर्द्धक

पत्र मिला। उन्होंने सूचित किया कि मेरा पत्र पूर्व भारत राष्ट्रभाषा प्रचार सभाके मन्त्री श्री भँवरमलजी सिंघीको भेज दिया गया है। कुछ ही दिनोंके बाद श्री भँवरमलजी सिंघीका भी पत्र आ पहुँचा।

इसके बाद श्री सिंघीजी के पास मैं कलकत्तेमें करीब १० वर्षों तक रहा। और इस अवधिमें कई ऐसे मित्रोंके सम्पर्कमें आया, जिनसे मेरा पारिवारिक सदस्यका-सा सम्बन्ध स्थापित हो गया। कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि बसन्तलालजीने कृपा न की होती, तो क्या यह संभव हुआ होता?

जबतक मैं कलकत्तेमें रहा, श्री बसन्तलालजीके सम्पर्कमें रहा और जब उन्होंने "नव जीवन संघ" की स्थापना की तब तो मुझे और भी उनके निकट सम्पर्कमें आनेका मौका मिला। एक प्रकारसे मैं उनके प्राइवेट सेक्रेटरीके रूपमें ही काम करने लग गया। वे प्रायः मुझसे देशके विभिन्न समाज-सेवकों, नेताओं तथा कार्य-कर्ताओंके नाम पत्र लिखवाया करते। कभी-कभी मैं मन ही मन उनकी भाषापर हँसता, पर उनकी भावनाओंके प्रति मेरी श्रद्धा अवश्य रहती।

इसके अतिरिक्त एक घटना मैं नहीं भूल सकूँगा। एक बार मैं अस्वस्थ हो गया। १२०, हरिसन रोडके ऊपरी तल्लेपर फर्शपर ही बिस्तर डालकर लेटा हुआ था। बसंतलालजी मेरी अस्वस्थताकी ख़बर पाकर बिना किसी पूर्व सूचनाके मेरे कमरेमें आ उपस्थित हुए और उसी बिस्तरपर बैठकर करीब दो घंटे तक मुझसे बातें करते रहे। उस दिन मुझे पता चला कि कार्यकर्ताओंके प्रति उनके हृदयमें कितनी ममता थी। वास्तवमें, वे कार्यकर्त्ताओंके बहुत बड़े सहायक तथा शुभचिन्तक थे।

हिमालय की तरह दृढ़

श्री जगन्नाथ प्रसाद जालान

देशका शायद ही कोई ऐसा नगर या ग्राम होगा जहाँ पर समाज-सुधार के लिए कोई आयोजन हुआ हो और उसमें श्री मुरारकाजीकी अनुपस्थिति पाई गई हो। इसी प्रकार स्वाधीनता-संग्रामके इतिहासमें कांग्रेस द्वारा जो भी प्रयास या आयोजन हुए, श्री मुरारकाजी हर स्थितिमें उसमें अपना योगदान देते रहे। अपने विचारों एवं उद्देश्योंके प्रति तो वे सदा ही हिमालयकी तरह दढ़ पाए गए। सामाजिक लाँछना, कटु आलोचना एवं शारीरिक प्रहार भी उन्हें कभी अपने पथसे विचलित नहीं कर पाए।

श्री मुरारकाजीका जीवन निःसन्देह महान एवं आगामी पीढ़ीके लिए प्रेरणादायक रहेगा।

कर्मवीर मुरारकाजी

श्री हरदत्तराय सुगला

रूढ़िग्रस्त मारवाड़ी समाजकी कुरीतियोंको दूर करनेके अभियानमें मैंने सर्वप्रथम २५ वर्ष पूर्व भिवानीमें स्व० भाई बसंतलालजी मुरारकाकी सच्ची लगन और क्रियाशीलता देखी तथा उससे प्रभावित हुआ। उनके सादगीपूर्ण और वास्तविकतापूर्ण वक्तव्योंको सुनकर लगा कि पर्दा-विरोधी-आन्दोलनके तो जैसे वे सूत्रधार ही हों।

मई १९४४ के बादसे मुझे कलकत्तामें रहते हुए बसंतलालजीके निकट सम्पर्कमें आनेका अवसर भी मिला। समाज-सुधारके जिस क्षेत्रमें जाता, उन्हें सबसे आगे पाता। विधवा-विवाहके तो वे कट्टर समर्थक थे ही। जहाँ, जिस रूपमें, थोड़ी-सी भी विधवा-विवाहकी संभावना दीखती, वे तत्क्षण वहीं पहुँचते और कार्य सम्पन्न होने तक उसमें अविराम गतिसे लगे ही रहते थे। यहाँ तक कि विधवा-विवाह सम्पादित करवानेके लिए वे हम लोगोंके साथ यथा-समय शिलांग, सिलीगुड़ी, रानीगंज भी पहुँचे। यही क्यों, उन्होंने अपने पुत्र मदनका विवाह भी तो एक बाल-विधवा लड़कीसे ही किया।

उनके साथ काम करनेका बहुत बार मौका मिला। विशेषतया कलकत्ता किरायेदार-संघ और विधवा-विवाह-सहायक संघके कार्योंमें। मुरारकाजी प्रत्येक कार्यकर्ताको सामयिक व यथोचित सहायता देते थे।

बसन्तलालजीका जीवन अपने ढंगका निराला ही था। वे आवश्यकतासे अधिक सरल व सीधी बात कहते थे; और इसीलिए कई बार लोग उनकी बातोंका उपहास किया करते थे। परन्तु सागरकी तरह धीर मुरारकाजीकी कर्मवीरतामें कोई फर्क नहीं आया। घृणा, व्यंग्य और उत्तेजनायुक्त वातावरणमें भी वे प्रेम, शान्ति और दृढ़तासे ही काम लेते थे; उत्तेजित होना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी।

आनेवाली पीढ़ियाँ सदा प्रेरणा लेंगी!

श्री कन्हैयालाल वैद्य

देश, जाति और समाजके लिए उनकी सेवाएँ तथा त्याग और कष्ट सहन करने की बातें इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखी जाएँगी। और आनेवाली पीढ़ियाँ उनसे सदा प्रेरणा लेती रहेंगी। उनके स्थान की पूर्त्ति होना कठिन दिखाई देता है।

सेवामय जीवन

श्री राधाकृष्ण बजाज

भाई बसन्तलालजी गये, इस बातको मन कबूल नहीं कर रहा है। जीवन-भर जिन्होंने सेवामय जीवन बिताया, ऐसे पुरुष जा नहीं सकते। राजनीतिक और आर्थिक सुधार-कार्य उतने कठिन नहीं हैं, जितना सामाजिक सुधार। सामाजिक सुधारमें मान-प्रतिष्ठाको कहीं स्थान नहीं और भीतरी मार चौबीसों घंटे। ऐसे सज्जनोंका स्मरण हमें अनेकों समाज-सुधारकोंको सदा प्रेरणा देता रहेगा। समाज-सुधार उनका विशेष कार्य था बाकी अन्य किसी क्षेत्रमें भी पीछे रहे हों, सो बात नहीं।

भाई बसंतलालजी

श्री मोतीलाल लाठ

आजसे चालीस वर्ष पूर्व ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मण्डली नामकी एक संस्था स्थापित हुई थी। सदासुख कटरेमें उसका कार्यालय था। उसमें बाहरसे आए हुए प्रसिद्ध व्यक्तियोंके व्याख्यान कराए जाते थे। उसीमें बसंतलालजीसे मेरा परिचय हुआ। उनकी उत्साह-भरी बातें मुझे बहुत पसंद थीं। उस समय काम करनेवालोंका एक छोटा-सा दल था, जिसमें भाई बसंतलालजी, सीतारामजी सेकसरिया, प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, गंगा-प्रसादजी भोतिका, बैजनाथजी देवड़ा, भागीरथजी कानोड़िया और रामकुमारजी भुवालका के साथ मैं भी था। इनके सिवाय हमारे भाई स्वर्गीय पद्मराजजी जैन, नागरमलजी केडिया, बिलासरायजी मोदी, बैजनाथजी केडिया, दुर्गाप्रसादजी खेतान और रंगलालजी जाजोदिया भी थे। इन आठ भाइयोंको स्वर्गीय लिखते समय मुझे दुःख होता है परन्तु विधि-विधानके आगे किसकी चलती है? मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि हमारे समाजमें इस समय जो भी जागृति का काम हो रहा है, उसमें इन आठ स्वर्गीय भाइयोंकी आत्माओं

का भी पूरा सहयोग रहा है ! हमारे सब साथियोंमें भाई बसंतलालजीका उत्साह बहुत कुछ काम करता था।

ज्ञान-वर्द्धिनी मित्र-मंडलीके बाद मारवाड़ी अग्रवाल महासभाका बहुत काम हुआ। भाई बसन्तलालजी इसके जेनरल सेक्रेटरी थे। मैं सेक्रेटरी था। बाल-वृद्ध-अनमेल विवाह बन्द करना, बिरादरी-भोज बन्द करना, परदा-प्रथा उठाना, विधवा-विवाह चालू करना, शिक्षा-प्रचार, हिन्दी-प्रचार आदि कामोंको हमारे ऊपरोक्त साथियोंने बहुत कुछ आगे बढ़ाया। इसके बाद हिन्दू सभा और स्वराज्य आन्दोलनका भी बहुत जोरदार काम हुआ। भाई बसन्तलालजी हर काममें सबसे आगे रहते थे। किसी समय भी पूछो—'हाँ तैयार हूँ, चलो' यह ही जवाब उनसे मिलता था। कभी आधी रात को भी यदि कोई भाई उनको किसी कामके लिए जाकर जगाते या टेलीफोन करते तो उनसे होनेवाले कामको वे तुरंत जाकर करते थे। ऐसा उत्साह और ऐसी सेवा-भावना बहुत कम लोगोंमें देखी जाती हैं।

आजसे ४० वर्ष पहलेके समाज और आजके समाजमें रात-दिन का अन्तर है। उस समयके कार्यकर्त्ताओंको घरवालोंसे और बाहरवालोंसे जो-जो गाली-गलोज सुनना पड़ता था, और जो-जो तकलीफें उठानी पड़ती थीं, उनका अनुभव आजकी पीढ़ीवालोंको नहीं हो सकता। पगड़ी और दुपट्टा बिना का पुरुष, घाघरा-ओढ़ना और घूंघट बिनाकी स्त्रीका उस समय समाजमें कोई आदर-मान नहीं था। सनातनधर्मी नाम-धारियोंके मुँहसे उस समय जो निकल गया, वही ब्रह्म-वाक्य समझा जाता था। सामाजिक सुधारके कामोंके लिए जहाँ भी जाना पड़ा, सत्याग्रह करना पड़ा, पिकेटिंग करनी पड़ी वहाँ सब जगह भाई बसंतलालजी आगे रहे। स्वतंत्रता-संग्राममें महात्मा गाँधीकी आज्ञाओंको स्वयं परमात्माकी आज्ञा मानते हुए उन्होंने बराबर काम किया और कई बार वे जेल गए। स्वतंत्रता-संग्राममें घरवालोंसे, जातिवालोंसे और समाजवालोंसे जो-जो दुर्वचन उनको सुनने पड़े, उनको उन्होंने शान्तिपूर्वक सुना। गालियोंके सिवाय जूठी पत्तलें, धूल और लाठियाँ भी उनपर पड़ीं, परन्तु वे कभी विचलित नहीं हुए। हमेशा हँसमुख रहे। मुझे उनका तरीका बहुत पसन्द था और सब कामोंमें मैं उनके साथ रहा ; केवल जेल जानेसे बचता रहा।

देशके वर्तमान बड़े-बड़े नेताओंके साथ उन्होंने आज़ादी की लड़ाईमें कंधेसे कंधा भिड़ाकर काम किया—उन सबके साथ जेल गए। वे बंगाल असेम्बलीके सदस्य थे। बंगालके जिस जिलेसे वे खड़े हुए, वहाँ मारवाड़ी तो क्या हिन्दी-भाषियोंके भी वोट नहीं थे। बंगाली भाइयोंके वोटों द्वारा उन्होंने निर्वाचनमें सफलता प्राप्त की, यह बहुत गौरवकी बात थी।

अन्तमें मैं इतना ही कहूँगा कि भाई बसंतलालजी मुरारका देश और समाजके ऐसे सच्चे कार्यकर्त्ता थे, जिनका रिक्त स्थान हमें एक कमी महसूस कराता रहेगा।

-::००::-

युवक-कर्मी मुरारकाजी

श्री रामेश्वर अग्रवाल

प्रसिद्ध समाजसेवी और राष्ट्रकर्मी श्री बसन्तलालजी मुरारकाकी समाज-सेवा राजस्थानके समाज-सेवाके इतिहासमें चिरस्थायी रहेगी। भाई बसन्तलालजीने जयपुर राज्य प्रदेश सम्मेलन, रींगसके अवसरपर जिस निर्भीकता और उत्साहसे हम लोगोंका मार्ग-दर्शन किया, वह आज भी हमें याद है। मैंने अजमेर जेलसे आनेपर ऐसा सोचा कि समाज-सुधारके कामोंमें लगे हुए राजस्थानियोंका संगठन होना चाहिए और राजस्थानमें समाज-सुधारका काम तेजीसे किया जाना चाहिए। इस काममें बड़ी कठिनाई आई। जयपुर राज्यमें सभाओंपर और संस्थाओंके संगठनपर कड़ी पाबन्दियाँ लगीं हुई थीं जिसके अलावा पुराने रूढ़िवादी लोगोंसे काफ़ी विरोध सहना पड़ता था और ९९ प्रतिशत से भी ज्यादा ऐसे ही विचारोंके लोगोंका बोलबाला था। मुट्ठी-भर लोग इधर-उधर फैले पड़े थे। उन्हें मज़बूर होकर उसी परिस्थितिको सहन करना पड़ता था। इस सबका मुक़ाबला करनेके लिए ही जयपुर राज्यमें एक युवक-सम्मेलन खड़ा करनेका विचार किया गया और इस काममें भाई बसन्तलालजी मुरारकाका उत्साहप्रद सहयोग मिला और उन्होंने उस सम्मेलनकी अध्यक्षता स्वीकार कर ली। इस काममें जयपुर राज्य, सीकर ठिकाने और समाज—इन इन तीनों तरफसे ही काफ़ी बाधाएँ खड़ी की गईं। गाँवके लोगोंने सम्मेलनका बहिष्कार करनेका फैसला किया और ऐन वक्तपर सामान मिलने व रसोई करनेवालोंकी भी समस्या उठ खड़ी हुई। सारी परिस्थितियोंका साहसके साथ सामना किया गया और भाई बसन्तलालजीने काफी हिम्मत बँधाई और कहा कि कोई परवाह नहीं है, चने-गुड़ खाकर भी हम लोगोंको सम्मेलनको सफल करना है। राजस्थानके कोने-कोनेसे प्रमुख लोग इसमें आए और सम्मेलन आशातीत सफलताके साथ सम्पन्न हुआ। इस तरहके और भी कई प्रसंग हैं, जिनमें भाई बसंतलालजीकी दृढ़ता, साहस और निष्ठासे समाज-सुधारके कामोंको बल मिला।

-:०:

श्रद्धेय मुरारकाजी

श्री बजरंगलाल लाठ

वैसे तो बचपनसे ही मैं भाई बसन्तलालजी को जानता रहा हूँ, पर सन् १९३१ के आन्दोलनमें सबसे पहले उनको देखा। मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटीकी कार्य-कारिणी समितिका सदस्य चुने जानेके बाद मुझे उनके साथ काम करने का भी मौक़ा मिला। पिछले एक दशकसे तो मैं उनसे काफी घुल-मिल गया था। वे मुझे छोटे भाईकी तरह स्नेह करते थे, और सामाजिक तथा राजनीतिक बातोंके अलावा घरेलू बातों में भी मुझसे कोई दुराव नहीं रखते। मेरी इच्छा थी कि मैं उनके साथ राजनीतिक क्षेत्रमें काम करूँ और वे भी ऐसा ही चाहते थे, किन्तु ऐसा कुछ हो नहीं सका। मैं उनके साथ तेज़ रफ्तारसे दौड़ नहीं सका। इस दिशामें मैंने अपनेको कमज़ोर पाया। तो ऐसे समाज-सेवक और देशभक्तके बारेमें मैं कुछ लिखूं, यह मेरे लिए गौरवकी बात है।

मुरारकाजीमें काम करनेकी अद्भुत शक्ति थी। उनका जोश भी गज़बका था। निराशा तो जैसे जीवनमें उन्होंने देखी ही नहीं थी। "काम करते जाओ" "आगे बढ़ते जाओ"—गीताके इन प्रेरणादायक विचारोंसे वे सहमत थे और इन्हीं सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारना भी चाहते थे। जब किसी कामको लेकर सोसाइटीके कार्योंमें शिथिलता झलकती, तो मुरारकाजी अपने विचारोंसे स्फूर्त्ति पैदा कर देते और हम लोग दूने उत्साह से काममें जुट जाते।

क्रोधपर तो जैसे उन्होंने कमालका अधिकार पा लिया था। विरोधी चाहे जो कुछ भी उन्हें कहते, उनके चेहरेपर द्वेषके या क्रोधके भाव परिलक्षित नहीं होते। यही स्थिति होती है जहाँ व्यक्तिके व्यक्तित्वको निखार पानेका और समझनेका अवसर मिलता है। उनकी प्रसन्नमुद्रा और हँसकर टाल देनेकी आदत विरोधियोंको पराजित कर देती। ऐसे वक्तमें दूसरा आदमी स्थितिको क़ाबूमें नहीं कर पा सकता है, और बात बनते-बनते बिगड़-सी जाती है। इस प्रकारकी आदतको विशेष गुण कहना चाहिए। इसी सम्बन्धकी एक घटनाका वर्णन करनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। बात बिहार प्रान्तीय मारवाड़ी सम्मेलनके राँची अधिवेशनकी है। सम्मेलनमें सामाजिक सुधार सम्बन्धी क्रांतिकी बात नवयुवकोंसे करनेपर विरोधियोंने 'मुरारका मुरदाबाद' के नारे लगाने शुरू किए। स्थिति गंभीर हो गई। बादमें मुरारकाजीने अपनी वाकचातुरी के ज़रिए स्थितिको काबूमें किया। विरोधियोंको शान्तिपूर्ण ढंगसे समझाया और कमाल की बात है कि जो व्यक्ति 'मुरारका मुर्दाबाद' के नारे लगा रहे थे, वे ही सहर्ष 'मुरारका

जिन्दाबाद' के नारे लगाने लगे। इस घटनाको मामूली कहा जा सकता है, किन्तु इसमें निहित गूढ़ रहस्य को अगर देखा और समझा जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि मुरारकाजीका व्यक्तित्व अद्वितीय था।

अन्तमें यही कहना होगा कि मुरारकाजीके निधनसे समाज और देशका एक सच्चा सेवक चला गया, जिसके स्थानकी पूर्त्ति सम्भव नहीं। उन्होंने देश और समाजके बड़े कामोंके समक्ष अपने निजी तुच्छ स्वार्थोंको प्रमुखता नहीं दी। अनेकों बार देशके लिए जेल गए—समाजसे बहिष्कृत हुए; पर एक सच्चे कार्यकर्ताके रूपमें नए समाजका निर्माण करते गए—आगे बढ़ते गए।

क्रांति-प्रेरक श्री बसंतलालजी

श्री काशीप्रसाद मोदी

जब मैं लगभग बीस वर्ष पहले कालेजमें अध्ययन करनेके लिए कलकत्ता आया, तो श्री मुरारकाजीसे व्यक्तिगत परिचयका सुअवसर मिला। इन २० वर्षोंमें जैसे-जैसे उनकी निःस्वार्थ सेवाओंके प्रत्यक्ष उदाहरण सामने आए, वैसे-वैसे उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती गयी। जब कभी मुरारकाजीको किसी कार्यके लिए किसीने भी अनुरोध किया, बिना व्यक्तिगत असुविधाओंका ख्याल किए वे उस के कार्य में जुट गए। अस्वस्थ होते हुए भी उनका ध्यान दूसरोंकी भलाईकी ओर ही लगा रहता था। यहाँ तक कि बंबई से ऑपरेशन कराने के बाद कलकत्ता वापस आने पर भी और अस्वस्थ होते हुए भी वे कई बार कई लोगोंके मकानोंपर उनके पारिवारिक झगड़ों को मिटानेके लिए गए।

समाजमें और देशमें सार्वजनिक कार्यकर्त्ता और सुधारक बहुत विद्यमान हैं किन्तु बसंतलालजीकी कोटिके प्रगतिशील भी न केवल विचारमें बल्कि उसे कार्य रूपमें परिणत करने में इनेगिने ही मिलेंगे। सामाजिक सुधारके विचारोंको अपने परिवारमें सर्वप्रथम उन्होंने कार्य रूपमें परिणत कर जनताके सामने पथ-प्रदर्शन किया। सौभाग्य से रमादेवीजी जैसी पत्नी भी सच्चे रूपमें सहधर्मिणी एवं सहकर्मिणी उन्हें मिली। उनकी कार्यक्षमता और साहससे जो उनके निकट आए हैं, वे भली भाँति परिचित हैं।

अंतमें, श्री बसंतलालजीके निम्न शब्द मेरे कानोंमें हमेशा गूँजते रहेंगे—देशके नवनिर्माण के लिए पुरातनवादका ध्वंस करना आवश्यक है!

मुरारकाजी और उनका व्यक्तित्व

श्री श्यामदेव देवड़ा

भाई मुरारकाजी और मेरा करीब ४० वर्षोंका संग-साथ रहा। उन्होंने मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसियेशन नामकी संस्थाका कार्य-भार संभाल रखा था और उसीके द्वारा सामाजिक सेवा-कार्य किया करते थे। मैं भी उक्त संस्थाका एक सदस्य था और उनके साथ ही कार्य करता था। उनमें सुधारकी भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी।

भाई बसन्तलालजीके जीवनकी उन दो घटनाओंको मैं नहीं भूल सकता, जिनमें एक साधारण होते हुए भी व्यक्तिके चरित्रको उभारनेमें काफी सबल है और दूसरी तो व्यक्ति के सारे व्यक्तित्वको उलीचकर एकबारगी सामने रख देती है और उसका चरित्र खुले पन्नोंके सदृश हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता है।

सन् १९२५ की बात है। ख़िलाफ़त-आन्दोलन ज़ोरोंसे चल रहा था और हिन्दू-मुस्लिम एकताकी आवाज़ चारों तरफ से आ रही थी। ऐसे समयमें श्री बसंतलालजीके छोटे भाई श्री शुभकरणजी मुरारकाका विवाह होना तय हुआ। आपने अपने घरमें यह प्रस्ताव रखा कि विवाहमें जैसे बिरादरीवालोंको भोजन कराया जायगा, वैसे ही कुछ मुस्लिम भाइयोंको भी भोजन कराया जायगा। ऐसा सुनना था कि घरवाले एवं आपके संबंधी सख़्त नाराज़ हो गए और उनकी बात माननेसे एकदम इनकार कर दिया। मगर मुरारकाजी थे, जो अपनी बातपर दृढ़ रहे। इन्होंने साफ़ कह दिया कि या तो, मैं विवाहमें सम्मिलित ही नहीं होऊँगा या मुसलिम भाइयोंको भी विवाहमें उसी तरहसे उसी सन्मानसे भोजन कराना पड़ेगा, जिस तरह अपने भाई-बंधु करेंगे।

ऐसी कार्यवाही न इसके पहिले कभी हुई थी और न शायद बादमें ही हुई। बड़ी कहा-सुनी और वाद-विवादके बाद मुरारकाजीकी बात सोलह आना मान ली गई और करीब १०० मुसलिम भाइयोंको भोजन के लिये आमन्त्रित किया गया। उनको बड़े प्रेमसे भोजन कराया गया। लोगोंको यह देखकर आश्चर्य हो रहा था और सब मुरारकाजी की दृढ़ताकी तारीफ़ कर रहे थे।

जब भोजनके बाद उनकी जूठी पत्तलें उठानेका सवाल आया, तो जितने नौकर थे, उन्होंने पत्तलें उठानेसे इंकार कर दिया। बड़ी कठिन समस्या उत्पन्न हुई, मगर मुरारका जी इससे बिल्कुल नहीं घबराए। उन्होंने अपने मित्रोंको अपना साथ देनेके लिए आह्वान किया। सभी मित्र तुरन्त तैयार हो गए और सबने मिलकर जूठी पत्तलें उठाना आरंभ कर दिया। पत्तलें उठाकर चौकियोंको, जिनपर बैठकर उन्होंने भोजन किया था,

धोकर साफ कर दिया। ऐसा साहस मैंने भाई मुरारकाजी ही में देखा, यद्यपि बात सुनी बहुतोंसे है।

दूसरी घटना सन् १९२२ की है। स्व० सेठ जमनालालजी बजाजने वर्धामें अग्रवाल महासभाके प्रथम अधिवेशनकी तैयारियाँ आरम्भ कर दी थीं। उन्होंने कलकत्तेसे कुछ कार्यकर्त्ता माँगे थे। हम लोग चार मित्र कलकत्तासे वर्धाके लिये रवाना हुए—बसन्तलालजी मुरारका, नर्मदाप्रसादजी लाठ, बासुदेवजी सराफ और मैं।

उस समय वर्धाकी तरफ बड़े जोरोंसे इन्फ्लुएन्जा फैल रहा था। ऐसा कोई ग्राम नहीं था, जहाँ रोज़ाना दो-चार व्यक्ति मृत्युके ग्रास न होते हों। लोग अपने घर छोड़-छोड़कर दूसरी जगह भाग रहे थे। गाँवके गाँव खाली हो रहे थे। ऐसे समयमें महासभाका अधिवेशन वर्धामें करना और लोगोंको बाहरसे बुलाकर वहाँ इकट्ठा करना सेठजीको नहीं जँचा और उन्होंने महासभाका वह अधिवेशन स्थगित कर दिया। पर हम लोग रवाना हो चुके थे। वर्धा पहुँचतेही हम सेठजीसे मिले। वे बहुत ख़ुश हुए और बोले —"भाई, बड़े जोरोंसे इन्फ्लुएंजा फैला हुआ है; इसलिए हमने महासभाका अधिवेशन स्थगित कर दिया है। पर आप लोग जब इधर आ ही गए हो, तो इस यात्राका लाभ उठाना चाहिये। यहाँसे पासही एलोराकी गुफाएँ हैं—वह देखने लायक ऐतिहासिक स्थान है। उसे देखते जाओ।" उन्होंने वहाँ जानेकी हमारी पूरी व्यवस्था कर दी और साथमें पाँच सेर भुने हुए चने और दे दिये और कहा कि जहाँ ज़रूरत हो, यही खाना। बाज़ारकी कोई वस्तु ख़रीद कर नहीं खाना।" हम लोग अपनी यात्रापर रवाना हुए। उस वक्त सभी नवयुवक थे—बढ़ती हुई उमंगें थीं। किसी तरहका दिलमें भय नहीं था। वर्धासे मनमाड स्टेशन और वहाँसे गाड़ी बदलकर प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर अहमदनगर पहुँचे। वहाँका प्रसिद्ध दुर्ग देखा, जिसको तत्कालीन सरकारने एक बड़ा भारी क़ैदखाना बना रखा था। वहाँसे ताँगा भाड़ा कर रातके समय एलोरा गाँवमें पहुँचे। वहाँ बीमारीके कारण पूरी अशान्ति छाई हुई थी। रात-भर रहनेके लिए कोई सुन्दर स्वच्छ स्थान की खोज की गई, मगर एक पंडाजीके घरके सिवाय कोई स्थान नहीं मिला। पंडाजी घरके भीतर स्वयं रहते थे, इसलिये हमें सिर्फ बाहरका स्थान ही रात बितानेको मिला। खानेके लिये सेठजीके भूने चने खाकर कुँएँका ठण्डा पानी पिया। अब हमारे सामने एक बड़ी समस्या खड़ी हो गई। हम लोग उस छोटी सी जगहको बन्द कर सोना नहीं चाहते थे। हमें दम घुटकर मरजानेका भय था। नई जगह थी, दरवाज़ा खुला रखना भी खतरेसे खाली नहीं था। अतएव यह निश्चय हुआ कि हर एक आदमी रातको दो घंटे पहरे पर रहे। बाकी लोग सोवें। तदनुसार पहरा दिया गया और किसी तरह रात बिताई गई। भाई बसंतलालजीने इस सारी व्यवस्थामें बहुत ही प्रसन्नताका परिचय दिया। वे बहुत ही साहसी और वीर पुरुष थे, आपत्तिके समय घबड़ाना वे नहीं जानते थे। उनकी सफलताओंका यही सबसे बड़ा रहस्य था।

-:०:-

समाज-सेवी मुरारकाजी

श्री कनक 'मधुकर'

मैं वर्षों तक श्री मुरारकाजीके बारेमें सुनता रहा और सामाजिक क्रांति संबंधी उनके विचार पढ़ता रहा। सन् १९३८–३९ में अजमेरमें भाई ऋषिदत्तजीके साथ 'राजस्थान' साप्ताहिकमें उनकी अपीलें छापने और उन्हें समझनेका अधिक अवसर मिला। उनकी लेखनी सदा हृदयको स्पर्श करनेवाली रही। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों और रीति-रिवाजोंके प्रति सदा पुरजोर आवाज बुलन्द की।

सन् १९४४ में कलकत्ताकी यात्रामें उनके निकट आनेका प्रथम सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी आत्मीयताने मुझे और भी काफी मोहा। महसूस किया कि समाज-सेवाके व्रतमें लगे इस महापुरुषमें उस मार्गपर अग्रसर होनेवाले जन-सेवकोंके प्रति कितनी ममता और अनुराग है। 'नवजीवन' की अपीलमें समाज-सेवाके उद्देश्योंके सतत प्रचारकी भावनासे उन्होंने जो सहयोग दिया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता।

सन् १९४५–४६ में वे उदयपुर पधारे और 'नवजीवन' को उसके कार्यालयमें आकर आशीर्वाद दिया। यहाँ भी वे समाज-सेवाकी भावनाको नहीं भूले और मेवाड़में पर्दा-प्रथाके जघन्य कोढ़के निवारणहेतु महिला-मंडलमें उद्गार प्रकट किए,

सन् १९४८ में दो बार अक्टूबर और नवम्बरमें कलकत्ता जानेका फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ और दोनों ही बार उनका पहलेसे भी अधिक सहयोग मिला।

कलकत्तामें मारवाड़ी बंधुओंमें फैली दहेज, बाल-विवाह और पर्दा आदि कुरीतियोंके विरुद्ध श्री मुरारकाजी और उनके साथी लोक-सेवककोंने जो भीषण लोहा लिया, वह बड़ी प्रेरक कहानी है। दहेज प्रथा और बाल-विवाहके विरोधमें आगे आये स्वयं-सेवकों और समाजसेवामें रत अनेक राष्ट्रकर्मियोंकी दिलेरगी की कहानियाँ आज भी भुलाई नहीं जा सकतीं जिनमें मुरारकाजीका विशिष्ट स्थान है।

सभीके हृदयमें स्थान बना लिया!

श्रीमती कमलाकुमारी श्रोत्रिय

नाम लेते ही उनका हँसमुख चेहरा आँखों के सामने आ जाता है। जब कभी भी कलकत्ते आई, उनका बड़े भाई का सा आत्मिस्नेह मिला। उन्होंने अपनी सरलता एवं सहृदयतासे सभीके हृदयमें अपना स्थान बना लिया था। हमारा तो एक सहारा खो गया। समाजको उनके जैसे कर्मठ व्यक्तिका अभाव सदा खटकता रहेगा।

भाई बसन्तलालजी

श्री भालचन्द्र शर्मा

—हमें समाजमें क्रांतिका शंख फूंकना है ; नवयुवको और नवयुवतियो, समाजमें क्रांतिके लिये माता-पिताके विद्रोही बनो।

—घूंघटको जबर्दस्ती हटादो ; स्त्रियोंकी वेष-भूषामें आधुनिक परिवर्तन करो ; दहेज समाज का कोढ़ है।

—लड़के-लड़कियोंका विवाह-संबंध माता-पिताको नहीं, वरन उन्हें स्वयं करनेका अधिकार है।

—तलाक-प्रथा समाजके लिये आवश्यक है।

—हर चीज़में नवीनता होनी चाहिये।

ऊपरोक्त वाक्य भाई बसंतलालजीके भाषण और साधारण बातचीतके सिलसिले में अति प्रिय थे।

सुधार और सामाजिक क्रांतिकी लगन भाई बसंतलालजीमें प्रारम्भसे ही थी। मेरे उनके तीस वर्षके संबंधमें प्रति दिन उन्हें अवनत समाजको उन्नत बनानेकी चर्चा करते ही देखा। साथ ही कार्यकर्त्ताओंको प्रोत्साहित करना, किसी नवीन कार्यक्रमकी सफलतामें संलग्न रहना उनके जीवनकी दिनचर्या थी।

विफलतासे कभी भी अनुत्साहित न होना उनका एक विशेष गुण था। पिछले वर्षोंमें रूढ़िग्रस्त समाजमें विधवा-विवाह, विलायत-यात्रा, परदा-प्रथा, दहेज-विरोध, तलाक आदि क्रांतिकारी सुधारोंका प्रचार साधारण बात नहीं थी। पग-पगपर विरोध और रुकावटें थीं, किन्तु बसंतलालजीने विरोध और बाधाओंकी जरा भी परवाह न की ; दृढ़तासे अपने मार्गपर चलते रहे। उनके क्रांतिकारी विचारोंके कारण उनके परिवारके लोग तथा सगे-संबंधी उन्हें कई बार बुरा-भला कहते, खास अवसरोंपर उनका बहिष्कार करते। किन्तु वे इससे जरा भी विचलित न होकर कहते—"अब मेरा संकल्पित सुधार शीघ्र सफल होनेवाला है, कारण मेरे संबंधी सुधारोंका विरोध करनेका साहस न कर केवल मेरा बहिष्कार मात्र करते हैं।" समय आया ; उनके जीवनमें ही उन्होंने देखा—सुधारोंके कट्टर विरोधी तथा कट्टरपंथियोंके नेताओंने उका अभिनन्दन किया, सुधारोंका समर्थन किया।

भाई बसंतलालजीमें कार्यकी लगनके साथ-साथ अद्वितीय सहिष्णुता थी। एक बार वे परदा-प्रथाके विरोध तथा हरिजन आन्दोलनके समर्थनमें दौरा करते हुये लक्ष्मणगढ़

(शेखावाटी) पहुँचे। वहाँके कट्टरपंथियोंने उनके उद्देश्यकी भर्तस्ना करते हुए बाजारमें धूल, पत्थर, कीचड़ फेंका; गन्दे शब्दोंको उपयोग किया। किन्तु बसन्तलालजीने प्रसन्न मुद्रामें उनके उस आतिथ्यको स्वीकार किया। उग्र सुधारकके नाते उन्हें बिहार के कई मारवाड़ी सम्मेलनोंमें बोलनेसे रोका गया, हँसी उड़ायी गयी, किन्तु उन्होंने सुधारों का संदेश निर्भीकताके साथ दिया। परिणाम-स्वरूप कई स्थानोंपर पुरुषोंकी इच्छा नहीं रहते हुए भी स्त्रियाँ अपने-आप सभामें भागी आईं, चिकें हटा दीं, घूँघट-त्यागकी प्रतिज्ञा ली। साथही नवयुवकोंने अपने माता-पिताओंकी इच्छाके विरुद्ध दहेज तथा परदा-प्रथाके विरुद्ध मंचपर प्रतिज्ञायें लीं। यह निर्विवाद सत्य है कि राजस्थानी समाजमें समाज-सुधारकी लहर फैलानेमें भाई बसंतलालजी की बहुत बड़ी देन रही। कड़े विरोधों के बावजूद उन्होंने जिन कुप्रथाओंके विरुद्ध जिहाद बोला था, समाजसे उन प्रथाओंको दम तोड़ते हुये उन्होंने अपनी आँखों देखा। बाहरमें कहनेके साथ उन्होंने अपने घरमें भी उन सुधारोंको स्थान दिया, जैसे अपने एक पुत्रका विधवा-विवाह कर, और दूसरे पुत्रका अन्तर्जातीय विवाह कर।

भाई बसंतलालजीकी बड़ी इच्छा थी कि आर्य-समाज और ब्राह्म-समाजकी तरह आज के युगमें एक नवजीवन समाजकी स्थापना की जाय, जो युगकी माँगोंको पूरी कर सके। अज्ञान और अन्धकार, अन्धविश्वासोंको हटाकर समाजको नव-आलोक दें। इस संबंधमें मरनेसे कुछ दिनों पहले उन्होंने एक सामूहिक प्रयत्न भी किया, भारतके प्रमुख समाज-सेवियोंके पास अपने विचार प्रेषित किये, किन्तु मृत्युने उनकी यह साध पूरी न होने दी।

जो भी हो, भाई बसंतलालजी अपने पीछे अपने ऐतिहासिक कार्योंकी एक दिव्य स्मृति छोड़ गये हैं। आनेवाली पीढ़ी उनके द्वारा चालित सुधारों तथा क्रांतिकारी विचारोंको अग्रसर करनेमें गति दे; साथही उनकी तरह अपना समय समाजके नव-गठनमें प्रदानकरे।

भाई बसंतलालजी समाज-कर्मीके साथ-साथ उच्च श्रेणीके राष्ट्र-कर्मी भी थे। समय-समयपर स्वतंत्रता-युद्धमें उन्होंने अपनी आहुतियाँ दीं। राजनीतिमें वे इतने घुल गये थे कि देशभरके राजनीतिक नेताओंसे बड़ी घनिष्टता थी। बंगालमें तो वे मारवाड़ी होते हुए भी "बंगाली नेता" माने जाते थे। सी० आर० दास, सुभाष बोस, जे० एम० सेन गुप्ता से लेकर वर्तमान नेता श्री विधानचन्द्र रायका उनपर अति स्नेह रहा था। कई बार वे टूटी-फूटी बंगला भाषामें बोलकर बंगाली भाइयोंको मुग्ध कर देते थे। वे अपने को बंगाली कहनेमें अति गर्व अनुभव करते थे। उनकी सर्वप्रियता इतनी व्यापक थी कि बंगालकी विभिन्न राजनीतिक पार्टियोंके कार्यकर्त्ताओंसे बंधुवत् प्रीति-स्नेह था। उनकी मृत्युसे बंगालके कई कार्यकर्त्ताओंको गहरी वेदना हुई। कारण, वे तन, मन, धनसे उनकी सहायता करनेको प्रस्तुत रहते थे।

कलकत्ताके व्यस्त तथा स्वार्थमय वातावरणमें एक-दूसरेकी सहायता करनेकी क्षमता बिरले ही सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओंमें पाई जाती है। पीड़ित व्यक्ति बड़े-बड़े नामोंको सुनकर अपनी सहायताके लिये दौड़ते हैं, किन्तु उन बड़े द्वारोंसे उन्हें बिना सहानुभूति प्राप्त किये ही वापस लौटना पड़ता है। श्री बसंतलालजीमें परदु:ख—कातरताका स्वभाव-प्रिय गुण था। राज्य और प्रजामें प्रिय बसंतलालजीको पीड़ित लोग अर्ध-

रात्रिमें जाकर जगाया करते थे और वे बिना बहानाबाजीके तत्काल उसके दु:ख-निवारण में लग जाते थे। कहीं भी जाना होता, पीड़ितको अपनी मोटरमें बैठाकर ले जाते थे। कलकत्ता ही नहीं, आसपासके लोग भी उनकी इस तात्कालिक सहायताको कभी नहीं भूल सकते थे! बड़े-बड़े अधिकारी उनकी सिफारिश की बड़ी इज्जत करते थे।

एक साथमें अनेक गुणोंका सम्मिश्रण बहुत कम व्यक्तियोंमें मिलता है। आज अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा गुणोंका जो अमिट प्रभाव श्री बसंतलालजी जनतापर छोड़ गये हैं, उसे स्मरण करते ही प्रत्येक व्यक्तिका सिर श्रद्धासे उनके प्रति नमता है।

उड़ीसा में बसंतलालजी

श्री भैरवलाल नन्दवाना

सन् '४२ के अप्रैल महीनेकी बात है। विजगापट्टम विदेशी आक्रमणका शिकार हो चुका था और उसपर बम पड़ना प्रारम्भ हो गया था। ऐसे समयमें विजगापट्टमके समीप ही उड़ीसा मारवाड़ी कार्यकर्त्ता सम्मेलनका तीसरा अधिवेशन बलांगीरमें श्री मुरारकाजीके सभापतित्वमें करनेकी योजना हुई। अधिवेशनकी पूरी तैयारियाँ हो चुकी थीं, किन्तु निर्धारित तिथियोंके टीक सात दिन पहले विजगापट्टमपर बम पड़ गए। आसपासकी जनता घबरा उटी। अधिवेशनको स्थगित करनेकी बात होने लगी। किन्तु धैर्य और साहसकी मूर्त्ति श्री मुरारकाजी ऐसे भयंकर समयमें भी बलांगीर पधारे और उक्त अधिवेशनको उन्होंने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। मुरारकाजीके इस विलक्षण प्रभावसे वहाँपर हिन्दी विद्यालयकी स्थापनाके साथ ही बाईस हज़ार रुपये हिन्दी प्रेमी राजस्थानी जनतासे तत्काल प्राप्त हो गए। उस विद्यालय के रूपमें मुरारकाजीकी स्मृति आज भी उस दिनकी याद दिलाती है।

सम्मेलन उड़ीसाके मारवाड़ी समाजके विकास-कार्योंका सफल निर्देशन बना। उसके बाद भी बरगढ़, पुरी, बलांगीर तथा कटक अधिवेशनोंपर और अन्य अवसरोंपर मुरारका जी की यात्रा कितनी ही बार उड़ीसामें हुई और लोगोंमें समाज-सुधारकी प्रगति हुई। स्थान-स्थानपर विद्यालयोंकी स्थापना हुई; वाचनालय, पुस्तकालय, युवक संघ, महिला संघ, व्यायामशालाएँ आदि सैकड़ों संस्थाओंको जन्म मिला। कटकका हिन्दी विद्यालय हाई स्कूलके रूपमें उन्नति कर गया। इस तरह सामाजिक विकास तो हुआ ही, राजस्थानी-समाजमें राष्ट्रीय भावनाका जागरण भी हुआ। मुरारकाजीकी भावना थी कि हम पहले भारतीय हैं और पीछे राजस्थानी; ऐसा कोई काम राजस्थानी-समाज द्वारा नहीं होना चाहिए जिसके द्वारा कांग्रेसका विरोध हो अथवा राष्ट्रीय कार्योंकी गति अवरुद्ध हो। मुरारकाजी की इन बातोंका उड़ीसाके राजस्थानी बन्धुओंपर बड़ा प्रभाव पड़ा। आज जो उड़ीसाकी उन्नति दीखती है, उसमें राजस्थानियोंका बड़ा हाथ रहा है और उसके पीछे मुरारकाजीकी प्रेरणा हमेशा चमकती दिखाई देगी।

बसंतलालजी चले गये, बसंतलालजी नहीं गये !

श्री भँवरमल सिंघी

परसों जिन हाथोंसे भाई बसंतलालजीको अभिनन्दन-पत्र भेंट किया, उन्हीं हाथोंसे आज उनकी चिता जला दी। केवल ४० घंटोंमें ही यह सब हो गया। भाई जयनारायणजी व्यास उनको अभिनन्दन देनेके लिए आए थे, चिता जला कर लौट रहे हैं। जिस दिनसे यह पता लगा था कि भाई बसंतलालजी कैंसर जैसी संगीन बीमारीके शिकार हो गये हैं, हम सब इस दिनकी विभीषिकाको देख रहे थे। अभिनन्दन-ग्रंथ पूर्ण होनेके पहले ही अभिनन्दन-समारोह करनेका भी इसीलिए निर्णय कर लेना पड़ा। तथापि आज ही, इतनी जल्दी अंत हो जायगा, ऐसी कल्पना नहीं हुई थी। खैर, जल्दी या देरसे यह दुस्सह दुःख देखना निश्चित था।

हम सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता आज बसन्तलालजीके बिना हैं, यह सोचकर दिल फटने लगता है। उनके जैसे सरल, विनम्र और साथ ही निर्भीक समाज-सुधारक कितने हैं? वे हमारे साथी, रहनुमा और प्रेरक थे। अगर मारवाड़ी समाजकी बात सोचें, तो आज ४० वर्षोंकी सतत साधनासे निर्मित एक संस्था मानो उठ गई। पर बसन्तलालजी और उनके साथियों द्वारा किया हुआ काम गहरी जड़ें पकड़ चुका है, और नये विचारोंका हवा-पानी उनके पौधेको बढ़ा रहा है, बढ़ायेगा।

आज सुबह आठ-साढ़ेआठ बजे ही जब उनके पलँगपर जीवन और मृत्युका संघर्ष हो रहा था, उन्होंने कहा—"सब काम हो गया, भँवरमलजी, अब आप लोग मुझे पहुँचा दीजिए। अब आगे आप लोग काम कीजिए।"

कलकत्तामें और अन्यत्र आज एक बहुत बड़ा कुटुम्ब—बसंतलाल कुटुम्ब—वियोग-विह्वल है, वेदना-विकलित है, पर विह्वलता और विकलताके आँसू पोंछकर उनके अंतिम क्षणोंके संदेशको संकल्प बना कर चलना है—"अब आप लोग काम कीजिए।"

उस दिन अभिनन्दनके समय टेप-रिकार्डपर उनकी टूटी हुई वाणीमें हमने सुना था—'सामाजिक क्रांतिका काम हमें अभी बहुत करना है,' और आज मृत्युके क्षणोंमें उन्होंने कहा—'अब आगे आप लोग काम कीजिए।' हाँ, हमें काम करना है, और समाजमें बसंतलालजीके विचारों और भावनाओंको बढ़ाना है। यही सम्पत्ति वे समाजके लिए छोड़ गये हैं, जो बिरले ही छोड़ जाते हैं।

बसंतलालजी चले गये, बसंतलालजी नहीं गये !

तारीख १० अक्टूबर '५६ को जब श्री बसंतलालजी का शव-दाह हो रहा था, लेखक के मस्तिष्कमें ये विचार दौड़ लगा रहे थे, जो उसी वक्त एक पत्र-प्रतिनिधिको लिखा दिये गये थे।

द्वितीय खण्ड

समाजके कुछ मौलिक तत्व

श्री प्रेमनारायन माथुर

सामाजिक चेतना : उसका प्रादुर्भाव और विकास

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाजमें वह जन्म लेता है, समाजमें ही उसका पालन-पोषण होता है, समाजका वातावरण उसके संपूर्ण व्यक्तित्वको प्रभावित करता है। समाज व्यक्तिके सामने जो अवसर प्रस्तुत करता है, उनका उपयोग करनेसे ही उसकी प्रतिभा निखरती है, सामाजिक जीवनमें जिन जोखिमों को उसे उठाना पड़ता है, उसीमेंसे उसका साहस प्रस्फुटित होता है और सामाजिक संघर्षोंपर विजय पाकर ही वह अपने भावी विकास के मार्ग को प्रशस्त करता है। मनुष्य की भाषा, साहित्य, कला, उद्योग.... मनुष्यके जीवनके प्रत्येक अंग और प्रत्येक पक्षपर उसके समाजकी स्पष्ट छाया हमें देखनेको मिलती है। जिस प्रकार समाज व्यक्तिको प्रभावित करता है, उसी प्रकार व्यक्ति भी अपने समयके समाजका निर्माता है। इस विचित्र और महान् सृष्टि में, जिसकी विशालता और प्राचीनता दोनों ही मानवीय कल्पनासे बाहरकी वस्तुएँ हैं, मनुष्य ही विश्वकी उस अलौकिक सृजनशील शक्तिका सर्वतोत्कृष्ट नमूना है, जिसे हम अपने भावका स्वयं निर्माता कह सकते हैं। कौन नहीं जानता कि मानव सभ्यताओंने समय-समयपर बुद्ध, महावीर, कन्फ्यूशियस, ईसा, मुहम्मद, अरविंद, और गांधी जैसे उन महान व्यक्तियोंको जन्म दिया है जिन्होंने न केवल अपने समयके समाज-को ही सर्वथा एक नया जीवन और नयी चेतना प्रदान की बल्कि जिनके विचारों, आदर्शों और सिद्धान्तों तथा जीवनके व्यवहारोंका आज भी मानव-जीवनपर प्रभाव है और यह प्रभाव जब तक मनुष्य जाति है तब तक रहनेवाला है। ऐसे महान व्यक्तित्व, जिन्होंने समाजको प्रभावित किया—उसको एक नयी दिशा दी, सामाजिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें देखनेको मिलते हैं। साहित्य, कला, विज्ञान, उद्योग, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन, धर्म एवं राजनीति किसी भी पक्षको हम लें, हमें महान आत्माओंकी एक शृंखला सी नजर आती है, ऐसी शृंखला जो प्रत्येक देश और कालमें पायी जाती है। हमारे कहने का आशय यह है कि व्यक्ति और समाजका अन्योन्याश्रित और आत्मिक संबंध है और यह संबंध मानव सभ्यताके प्रारंभिक चरणोंसे लेकर आज तक चला आया है और आगे भी चलता रहेगा।

प्राय: दार्शनिकों और विचारकोंने यह प्रश्न उठाया है कि समाज और व्यक्तिके इस 'द्वय' में प्रमुखता किसकी मानी जाये। आज भी यह प्रश्न हमारे सामने बार-बार उपस्थित होता है। पश्चिमी राजनैतिक विचारधाराका ही यदि हम विचार करें,

तो, एक ओर उन विचारोंका हमें ध्यान आता है जिन्होंने समाजको प्रमुखता दी है; अफ़लातून, अरस्तू, हीगल,....ये कुछ ऐसे ही नाम हैं। दूसरी तरफ हमारे सामने कैन्ट, जान स्टुअर्ट मिल, हरबर्ट स्पेन्सर जैसे नाम हैं, जिन्होंने व्यक्तिको प्रधानता दी है। पूर्वके विचारकोंमें यह दृष्टि-भेद संभवतः नहीं पाया जाता। उसका मुख्य कारण यह है कि पूर्वकी दृष्टिमें संपूर्णता और समन्वय की प्रधानता रही है और फलतः व्यक्ति और समाज दोनोंके उचित महत्वको स्वीकार किया गया है। संस्कृतका निम्नलिखित श्लोक हमारी इस युक्तिको पुष्ट करता है :

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेद्

अर्थात् व्यक्तिको कुलके लिये, कुलको ग्रामके लिये, ग्रामको जनपदके लिये और पृथ्वीको आत्माके लिये त्याग देना चाहिये।

ऊपरोक्त श्लोकमें जहाँ सांसारिक स्तरपर छोटे स्वार्थको बड़े स्वार्थके लिये छोड़ने के लिये कहा गया है, वहाँ आत्मोन्नति के लिये समस्त सांसारिक स्वार्थके छोड़नेकी बात भी कही गई है। इसका आशय यह है कि जहाँ सामान्य सांसारिक स्वार्थोंमें व्यक्ति को अपने संकीर्ण स्वार्थका समाजके व्यापक हितके लिये त्याग करना चाहिये वहाँ व्यक्ति में जो आध्यात्मिक तत्व है, और जो व्यक्तिके व्यक्तित्वकी वास्तविक विशिष्टताका द्योतक है, उसका भी इतना महत्व स्वीकार किया गया है कि उसके हितमें संपूर्ण इहलौकिक समाजके हिततकका त्याग किया जा सकता है। व्यक्ति और समाजके पारस्परिक संबंधका यह वह संपूर्ण चित्र है, जिसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियोंका समावेश हो जाता है।

व्यक्ति और समाजके आत्मिक संबंधका एक भिन्न प्रकारसे भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। व्यक्ति रूपी नींव पर ही समाज रूपी भवनका निर्माण किया जा सकता है। इस अर्थमें व्यक्ति साधन है और समाज साध्य। इस दृष्टिमें व्यक्तिकी अपेक्षा समाजका महत्व अधिक है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह वाह्य दृष्टि है या यों भी कह सकते हैं कि व्यक्ति और समाजका यह संबंध आधिभौतिक और सांसारिक स्तरका संबंध है। इसके अनुसार हर व्यक्तिका यह धर्म है कि अपने सांसारिक हितों को समाजके लिये त्याग दे। लेकिन व्यक्ति और समाजके संबंधकी एक अन्य दृष्टि भी है, जो कहीं अधिक गहरी है। इसको हम आन्तरिक, तात्विक या आध्यात्मिक दृष्टि कह सकते हैं। इस दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति में जो आध्यात्मिक तत्व है, उसपर जोर है। समस्त सांसारिक और सामाजिक व्यवस्थाका एकमात्र लक्ष्य व्यक्ति के इस आध्यात्मिक और आत्मिक विकास में सहायक होना है। इस अर्थमें व्यक्ति साध्य है और समाज साधन; यह संसार साधन है और स्वर्ग साध्य। जिस समाजरूपी भवनका हमने ऊपर उदाहरण दिया है, वह भवन अन्ततोगत्वा व्यक्तिके निवासके लिये, उसके उपयोगके लिये ही है और इसी अर्थमें व्यक्ति साध्य और समाज साधनका रूप ले लेता है। हमारी दृष्टि में व्यक्ति और समाजका यह द्विपक्षीय संबंध ही उसके पारस्परिक संबंधोंको पूर्णतया व्यक्त करता है और इसीके आधार पर सही सामाजिक चेतना का निर्माण भी किया जा सकता है।

यह जिसे हमने 'सामाजिक चेतना' कहा, क्या वस्तु है ? इसका प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? किन-किन अवस्थाओंमें से होकर और किन-किन रूपोंमें हमारी यह 'सामाजिक चेतना' व्यक्त होती है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो व्यक्ति और समाजके पारस्परिक संबंधोंपर से स्वाभाविक रूपमें पैदा होते हैं। अब हम इन्हींके विषयमें कुछ विचार करेंगे।

व्यक्ति और समाज या व्यष्टि और समष्टिके जिस संबंधका विवेचन ऊपर किया गया है, उसीमें से 'सामाजिक चेतना' का प्रादुर्भाव होता है। व्यक्ति जब समाजके साथके अपने संबंधको, उसके साथ अपनी एकताको अनुभव करता है, तो उसकी इस अनुभूतिको ही सामाजिक चेतनाका नाम दिया जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध द्विपक्षीय या द्विस्तरीय है, अर्थात् वह आधिभौतिक भी है और आध्यात्मिक भी, उसी प्रकार 'सामाजिक चेतना' के भी दोनों ही रूप देखनेको मिलते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने पड़ोसीके कष्टोंको अपना कष्ट मानकर उसकी सहायता करनेको तैयार हो जाता है; जब समाजमें व्याप्त बुराइयोंको निकाल फेंकनेके लिये समाज-सेवक अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है; जब राष्ट्रकी स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रके गौरवके लिए राष्ट्र-प्रेमी जनता अपना आत्मोत्सर्ग करनेको तैयार हो जाती है, जब समाजमें स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्वके सिद्धान्तोंकी प्रतिष्टा करनेके लिये सामाजिक क्रांतिकारी अपने क्रांति-मार्ग का अनुसरण करता है....तो इन सबमें हमें 'सामाजिक चेतना' का एक प्रकारका स्वरूप देखनेको मिलता है। व्यक्ति समाजके भलेके लिये अपने दुख-सुखकी चिन्ता न करके अपने जीवनको लगा देता है। हमारे समाज-सुधारकों, राष्ट्रनायकों और क्रांतिकारियोंका जीवन इस 'सामाजिक चेतना' से ही ओत-प्रोत जीवन रहा है। हम अपने देशके आधुनिक कालका उदाहरण लें, तो इस 'सामाजिक चेतना' से ओत-प्रोत व्यक्तियोंकी एक चित्रावली-सी हमारे सामने आ खड़ी होती है, जिसका दर्शनमात्र ही हमें अत्यन्त प्रेरणादायक मालूम पड़ता है। राजाराममोहनरायसे लेकर गांधी तक की इस शृंखलामें अनेक कड़ियाँ हैं और सामाजिक जीवनकी यह शृंखला कभी टूटती नहीं है, वह आज भी मौजूद है और आगे भी रहेगी। 'सामाजिक चेतना' का यह स्वरूप जिसका अभी हमने उल्लेख किया है, उसका बाह्य या आधिभौतिक स्वरूप है। प्रायः हम 'सामाजिक चेतना' के अपने विचारको उसके इस बाह्य स्वरूप तक ही सीमित मान लेते हैं। पर यह एकांगी और अपूर्ण दृष्टि है। 'सामाजिक चेतना' का जो आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक स्वरूप है उसे भी हमें नहीं भूलना चाहिए। जब 'जीवात्मा' अपने 'परमात्मा'के साथके संबंधकी अनुभूति करता है; जब हममें 'अहं-ब्रह्मास्मि'का भाव जाग्रत होता है; जब हममें इस विवेकका उदय होता है कि व्यक्तिका वास्तविक लक्ष्य आत्मोन्नति है तब हममें 'सामाजिक चेतना' के इस दूसरे, अर्थात् आध्यात्मिक रूपका उदय होता है। मनुष्यके इस आध्यात्मिक लक्ष्यको महर्षि अरविंद ने अपनी मानवीय-विकासचक्र (ह्यूमन साइकिल) नामक पुस्तक में इन शब्दों में व्यक्त किया है : "हम देखते हैं कि प्रथम दृष्टिमें मनुष्य स्वभावके दो पक्ष मालूम होते हैं, जीवमय और शारीरिक अस्तित्वका पशु स्वभाव, जो कि अपनी सहज प्रवृत्ति (इंस्टिक्ट), आवेश (इम्पलसेज), इच्छाओं, अपने स्वाभाविक निर्देशन और प्रणाली (ओटोमेटिक ओरियेन्टेशन

एंड मेथड,)के अनुसार अपना जीवन व्यापार चलाता है, और स्वचेतनायुक्त, बौद्धिक, नैतिक, कलात्मक, विवेकमय भावात्मक, विवेकमय गत्यात्मक अस्तित्वका अर्द्ध-दैविक स्वभाव, जो कि अपने कर्मके नियमका पता लगाने और समझनेकी तथा समझ-बूझ कर उसका उपयोग करने और उसका उन्नयन करनेकी क्षमता रखता है, एक ऐसा विचारशील मन (माइन्ड)जो प्रकृति को समझता है,एक ऐसी इच्छा जो प्रकृति का उपयोग करती है, उसको ऊँचा उठाती है, उसको पूर्णता प्रदान करती है, एक ऐसी चेतना (सेन्स) जो विवेकपूर्वक प्रकृतिका भोग करती है। हमारे पशु-स्वभाव का लक्ष्य सांसारिक (वाइटल,)स्वत्व (पजेशन) और सांसारिक आनन्द की अभिवृद्धि करना है; हमारे अर्द्ध-दैविक स्वभावका लक्षण भी अभिवृद्धि करना, संपन्न होना और भोग करना है, किन्तु एक तो शरीर और जीवकी अपेक्षा अधिकतर मनकी शक्तियोंके द्वारा विवेकपूर्वक, कलात्मक और नैतिक दृष्टिसे संपन्न होना और भोग करना है, और दूसरा, जितना एक आधार और प्रारंभके रूपमें, एक प्रारंभिक अनिवार्यता और शर्त्तके रूप में, एक भूमिकाके रूप में आवश्यक है उसके अतिरिक्त, सांसारिक और भौतिक संपन्नता प्राप्त करना और भोग करना उतना नहीं है जितना कि बौद्धिक, नैतिक और कलात्मक संपन्नता प्राप्त करना और भोग करना है और वाह्य-जीवन में अभिवृद्धि करना उतना नहीं है, केवल उस हद तक छोड़कर जहाँ तक यह वाह्य अभिवृद्धि हमारे मानवीय अस्तित्वकी गरिमा, सुविधा और सुरक्षाके लिए आवश्यक है, बल्कि सत्य, शिव और सुन्दरमें अभिवृद्धि करना है। यही मनुष्यकी मनुष्यता है, उसकी अपूर्व विशिष्टता है और अचेतन और आधिभौतिक प्रकृति की इस सामान्यतामें असामान्यता है।"

"इसका यह अर्थ है कि मनुष्यने अपने अस्तित्वकी एक नयी शक्तिका विकास किया है....इसे हम नयी आत्मशक्ति कहेंगे, इस आधारपर कि हम जीव और शरीरको भी एक प्रकारकी आत्मिक शक्ति ही मानते हैं....और जिस अस्तित्वने इस नयी शक्तिका विकास किया है, उसका यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह न केवल इस नये उच्च स्तरसे संसारकी ओर दृष्टिपात करे और उसमें जो कुछ है, उसका पुनः मूल्यांकन करे बल्कि अपने संपूर्ण स्वभावको इस शक्तिकी आज्ञा पालन करनेके लिये विवश करे और एक अर्थमें उस नयी आत्मशक्तिके ढाँचे में अपने स्वभावको फिर से ढाले और जहाँ तक संभव हो अपने आसपासके जीवनका भी इस महत्तर सत्य और नियमकी किसी प्रतिमूर्त्तिके रूपमें पुनः निर्माण करे। इसीमें उसका स्वधर्म है, उसके अस्तित्वका सच्चा नियम और मार्ग है और उसकी पूर्णता और वास्तविक सुख का मार्ग है।" जीवन के जिस आध्यात्मिक लक्ष्यकी व्याख्या ऊपर की गयी है, उसको 'वैयक्तिक मुक्ति' के आदर्श के रूप में नहीं देखना चाहिये। श्री अरविंदको वैयक्तिक मुक्तिकी इतनी चिंता नहीं थी, जितनी समस्त मानव-समाजको ऊँचा उठानेकी। आध्यात्मिक प्रगतिके संबंधमें विचार करते हुए श्री अरविंदने लिखा है, "इस प्रकारका परिवर्तन, मानसिक और जीवमय स्तरसे जीवनके आध्यात्मिक स्तरका परिवर्तन अनिवार्यतः व्यक्तिमें और बहुत बड़ी संख्यामें व्यक्तियोंमें ही होगा इसके पूर्व कि उसका समाजपर असर हो।" "प्रगतिशील और निर्माणकारी व्यक्तिके द्वारा ही आध्यात्मिकता संपूर्ण जाति के मानसके समक्ष एक नयी आत्मसृजनताकी उपलब्धि और संभावना प्रस्तुत करती है।

दूसरे शब्दोंमें श्री अरविन्द एक ऐसे आध्यात्मिक समाजकी कल्पना करते हैं, जो "उसके आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी तरह, अपने 'अहं'में नहीं किंतु अपनी आत्मामें, सामूहिक अहंके रूपमें नहीं किन्तु सामूहिक आत्माके रूपमें, निवास करेगा।" सम्पूर्ण समाज के स्तरको इस प्रकार ऊँचा उठाने की भावनाको हम 'सामाजिक चेतना'का आध्यात्मिक रूप नहीं तो और क्या कहेंगे ? इतिहासमें जितने भी ऋषि, महर्षि, संत, भक्त और आध्यात्मिक व्यक्तित्व हुए हैं, उनमें हमें 'सामाजिक चेतना' के इसी आध्यात्मिक रूपकी अभिव्यक्तिके दर्शन करने चाहिये। परमहंस रामकृष्ण और श्री अरविंद आधुनिक भारतके ऐसे दो उदाहरण हैं।

हमने 'सामाजिक चेतना'के दो रूपोंका ऊपर उल्लेख किया है, सांसारिक या आधिभौतिक रूप। पर हमें यह नहीं समझना चाहिए कि इन दोनों रूपों का वास्तव में कोई संबंध नहीं है। सच बात तो यह है कि 'सामाजिक चेतना' का आधिभौतिक रूप जिस हद तक उसके 'आध्यात्मिक रूप'को व्यक्त करनेका वाह्य उपकरणमात्र है उसी हद तक उसे वास्तविक अर्थमें 'सामाजिक चेतना' कहा जा सकता है। व्यक्ति जब अपने 'स्व'को किसी 'व्यापक सत्य'का अंग मात्र मानता है और उसके साथ अपना तदात्म करना वह अपने अंतिम लक्ष्यके रूपमें समझता है, तभी उसमें 'सामाजिक चेतना' अभिव्यक्त होती है फिर चाहे वह अभिव्यक्तिका रूप इस सांसारिक स्तर पर सांसारिक कार्यकलापोंके रूपमें हो और चाहे आध्यात्मिक स्तरपर आध्यात्मिक उन्नतिके रूपमें। 'अंश'का अपने 'पूर्ण'में मिलने का भाव और अपने समान ही दूसरे 'अंशों'के प्रति एक 'पूर्ण' के अंग होने मात्रसे उत्पन्न एकात्मक भावका नाम ही वास्तवमें 'सामाजिक चेतना' है।

'सामाजिक चेतना' की दार्शनिक व्याख्या करनेका हमने प्रयत्न किया है। अब हम उसके प्रादुर्भाव और विकासके संबंधमें विचार करेंगे।

ऐसा विचार करना संभवतः अनुचित न हो कि 'सामाजिक चेतना'का जन्म 'स्वार्थ भाव'में से ही हुआ यद्यपि उसका विकसित रूप 'समष्टि भाव'में है। अपने जीवन के अत्यन्त प्रारंभिक कालमें जब मनुष्य एक शिकारीका जीवन व्यतीत करता था या, जब वह जीवित रहनेके लिये भोजनका केवल संग्रह करनेवाला था न कि उसका उत्पादन करनेवाला, तभी हिंसक पशुओंसे अपनी रक्षाके लिये उन पर विजय पाने तथा उनका शिकार करनेके लिये मनुष्यको एक-दूसरेके सहयोगकी आवश्यकता अनुभव हुई होगी। इसी आवश्यकता में से उस सहजीवनका प्रादुर्भाव हुआ होगा जो 'सामाजिक चेतना' के विकासकी प्रथम अवस्था थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, मनुष्य का यह 'स्वार्थ-भाव' जागृत होता गया और 'समष्टि भाव' के साथ-साथ 'सामाजिक चेतना'का भी विकास होता गया। 'स्वार्थ भाव' और 'समष्टि भाव' में अन्तर यही है कि जब अपने सामाजिक आचरणसे प्रत्यक्ष स्वार्थसे मनुष्य प्रेरित होता है तब तो उसका भाव भाव होता है और जब मनुष्य अपने सामाजिक आचरणमें ऐसे किसी स्वार्थ भाव से प्रेरित न होकर 'एकत्व भाव,' से सामाजिक आचरण करता है, तो वह उसका 'समष्टि भाव' कहा जायगा। जब मनुष्य किसी प्रत्यक्ष खतरेसे बचनेके लिए एक संगठन और अनुशासन में काम करते हैं तो उनकी इस 'सामाजिक चेतना'के पीछे 'स्वार्थ भाव' होता है। जब मनुष्य बिना किसी

फलकी आशाके या उसका ध्यान किये हुये ही अपने पड़ौसीकी सहायता करता है,तो इस 'सामाजिक चेतना' के पीछे 'समष्टि भाव' होता है। यदि हम बारीकीसे विचार करें, तो मालूम पड़ेगा कि'सामाजिक चेतना' की शुरुआत'स्वार्थ भाव'में और उसका चरम विकास 'समष्टि भाव'में है। मानव-समाजके विकास की यही दिशा रही है कि वह स्वार्थ-भाव को समष्टि-भावमें बदले, ठीक उसी प्रकार जैसे उसे अपनी आधिभौतिकता को आध्यात्मिकता में बदलना है। इस प्रकार देखने से मानव-जाति का संपूर्ण इतिहास 'सामाजिक चेतना' के विकास से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं रह जाता है। एक समय रहा होगा जब मानव की 'सामाजिक चेतना' उसके परिवार तक ही सीमित होगी। पर धीरे-धीरे उसका विस्तार परिवार से कबीला (क्लान) तक और कबीला से जाति (ट्राइब) और जाति से राज्य (स्टेट) में हुआ। राज्यमें से ही आधुनिक राष्ट्रका जन्म हुआ और राष्ट्रमें से ही आजकी राष्ट्रीयताका, जो हमारी 'सामाजिक चेतना'का एक प्रबल प्रतीक समझी जाने लगी है। एक प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता हमारी सामाजिक चेतनाका राजनैतिक सीमाओंमें मर्यादित रूप है। आज हम 'विश्व राज्य' की कल्पना करते हैं पर वास्तवमें हम हैं राष्ट्रीयताके विकास स्तर पर ही। एक मानव-समाजकी कल्पनाको वास्तविक रूप देनेसे अभी हम बहुत दूर हैं। 'सामाजिक चेतना' के आधिभौतिक रूपके समान ही आध्यात्मिक रूपमें भी विकास हुआ है। धर्म, (रिलीजियन) और आध्यात्मिकता (स्प्रिचुएलिटी) में भेद होते हुए भी दोनोंका घनिष्ट संबंध है। मनुष्यने धर्म और ईश्वरकी कल्पना अपने स्वार्थकी रक्षा करनेके लिये ही सबसे पहले की। भयसे बचनेके लिये और आशाओंको फलीभूत करनेके लिये मानवने अपने प्रारंभिक देवताओंकी कल्पना की थी। श्री एच० जी० वेल्स अपनी 'इतिहासकी रूपरेखा' नामक पुस्तकमें लिखते हैं "पिताका भय अदृश्य अवस्थाओंसे होता हुआ जातीय देवता (ट्राइबल गाड) के भयमें परिणत हो गया।" जिससे मनुष्यको भय उत्पन्न हुआ उसको प्रसन्न करनेकी भी मनुष्यने आवश्यकता अनुभव की। इन्हीं आवश्यकताओंमें से 'धार्मिक बलि'की प्रथाका जन्म हुआ। यही अविकसित मानवके धर्म और ईश्वरकी वह अविकसित कल्पना है जिसमें स्वार्थ-भावकी प्रधानता थी और जिसने विकसित होकर भक्ति-मार्गसे वैयक्तिक ईश्वर और ज्ञान-मार्गसे, 'ब्रह्म' का वह रूप ले लिया जिसमें 'स्वार्थ भाव' का स्थान 'समष्टि भाव' ने ले लिया। भक्ति भावसे ओत-प्रोत भक्त अपने सर्वस्वको अपने ईश्वरके प्रति समर्पण कर देनेमें ही अपनी सार्थकता देखता है और इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष आत्मा और परमात्माके अभेदको समझ कर आत्माको परमातमामें विलय कर देना ही जीवनका ध्येय मानता है।

'सामाजिक चेतना'के प्रादुर्भाव और विकासके आधिभौतिक और आध्यात्मिक स्वरूपकी ऊपरोक्त व्याख्याको पूरी करनेके लिये यह संकेत करना अनुचित न होगा कि 'सामाजिक चेतना' के आधिभौतिक स्वरूपने सामाजिक जीवनके विभिन्न अंगोंको विभिन्न समयमें प्रभावित किया है और इस दृष्टिसे भी उसके विकासके किसी ऐतिहासिक क्रमकी कल्पना की जा सकती है।

जब मानव-समूहने एक व्यवस्थित समाजका रूप ले लिया, उसमें राज्य-संस्था और व्यक्तिगत संपत्तिकी संस्थाका उदय हो गया और आर्थिक-सामाजिक असमानता

समाजमें फैल गयी तो समाज शासक और शासित तथा शोषक और शोषित इन दो वर्गों में विभाजित हो गया । समाज आज भी इन दो वर्गों में विभाजित है । इस वर्ग विभाजनने 'सामाजिक चेतना'के सामने शासक और शासित तथा शोषक और शोषित इन वर्गोंके पारस्परिक संबंधों और पारस्परिक महत्वके बारेमें भी प्रश्न उपस्थित कर दिया । 'सामाजिक चेतना'ने, ऐसा कहा जा सकता है, एक लंबे अर्से तक, संभवत: उस समय तक जब कि उसके सामने समाजकी सुरक्षाका प्रश्न प्रमुख रहा होगा, समाजका हित सामाजिक व्यवस्था,उसको चलानेवाली सत्ता और उसकी मान्य परम्पराओं को सर्वोपरि मानने में ही समझा । व्यक्तिका परम कर्तव्य समाजमें जो उसका स्थान निश्चित था उसीके दायित्वको निभाना माना गया । प्राचीन यूनानी दार्शनिक अफला-तूनने तो न्यायकी ही यह व्याख्याकी कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपना समाजमें निर्धारित कार्य करता है तभी समाजमें न्याय कायम रह सकता है । भारतीय चतुर्वर्णकी व्यवस्था के पीछे भी इसी प्रकारकी विचार धारा रही है । यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन कालमें किसी भी समय जनताके अधिकारों और उसकी स्वतंत्रताको शासक के अधिकारोंकी तुलनामें कोई महत्व ही नहीं दिया गया था । प्राचीन यूनान, प्राचीन रोम और प्राचीन भारतमें गणतंत्रोंका अस्तित्व रहा है, इस बातका इतिहास साक्षी है । फिर भी इन प्राचीन गणतंत्रोंके बादके समयमें सभी जगह जनता की स्वतंत्रता और अधिकारोंका लोप होते हुए और राज्य और राजा का वर्चस्व बढ़ते हुए हम देखते हैं । इस बीच के काल में एक प्रकार से हमारी 'सामाजिक चेतना' इस सामाजिक राजनैतिक दृष्टिसे सुप्तावस्थामें थी । पर उसके बाद योरोपमें प्रोटेस्टेंट सुधारवाद और फ्रांसकी राज्य क्रांतिके साथ इस 'सामाजिक चेतना'का भी उदय होने लगता है । पहले यह धर्मके क्षेत्रमें उदीयमान होती है, फिर राजनीति और समाजके क्षेत्रमें यह प्रकट होती है और राजनीतिक जनतंत्रके रूपमें यह हमारे सामने आती है । अब यह राजनीतिक मर्यादाओंको पार करके आर्थिक क्षेत्रको छूना चाह रही है । आर्थिक स्वतंत्रताका जय घोष आज के युगका मुख्य जय घोष है और हमारी आजकी सामाजिक चेतना अपने आधिभौतिक रूपमें इसी आर्थिक स्वतंत्रता के लक्ष्यको लिये हुये है । ''सामाजिक चेतना'के विकासका यह क्रम केवल पश्चिम तक ही सीमित रहा हो यह नहीं कहा जा सकता । वह तो समस्त संसारमें इसी क्रमसे फैला है । आधुनिक भारत वर्षकोही यदि हम देखते हैं तो उसमें भी हमें उसी क्रम की पुनरावृत्ति मिलती है ! भारतके पराधीनताके कालमें जिस राष्ट्रीय चेतनाका उदय होता है वह हमारी उस समयकी सामाजिक चेतनाका ही प्रतिबिम्ब था । यह राष्ट्रीय चेतना पहले सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रमें उत्पन्न होती है । राजाराम मोहनराय और उनका 'ब्रह्म समाज' और रानाडेका प्रार्थना समाज इस चेतनाके प्रवर्तक थे । बाद में आर्य समाज, ब्रह्म विद्या समाज (थियोसोफिकल सोसाइटी) और रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्दने इस राष्ट्रीय चेतना को उसके सामाजिक और सांस्कृतिक रूपमें और आगे बढ़ाया और राजनीतिक राष्ट्रीयताके लिये पृष्ठभूमि तैयार की । कांग्रेसके जन्मके साथ हमारी 'सामाजिक चेतना' अपने राजनैतिक रूपमें व्यक्त होती है । गोखले, तिलक और गांधी इस राजनीतिक चेतनाके उत्तरोत्तर विकासके प्रति-

निधिके रूपमें माने जा सकते हैं। आज भारत राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र है पर उसकी 'सामाजिक चेतना' आर्थिक स्वतंत्रता'के लिए छटपटा रही है।

'सामाजिक चेतना'के प्रादुर्भाव और विकासका जो विशद विवेचन हमने किया है, उसका सार यही है कि मानव समाजके विकासके साथ-साथ हमारी 'सामाजिक चेतना' का भी विकास होता रहा है, बल्कि 'सामाजिक चेतना' के इस विकासको ही मानव समाजका विकास कहा जा सकता है। आजका मानव समाज विकास क्रमकी एक ऐसी मोड़ पर खड़ा है जहाँसे उसका भविष्य उज्ज्वल और अन्धकारपूर्ण दोनों ही हो सकता है। मनुष्यकी वैज्ञानिक प्रतिभाने उसके हाथमें एक अद्भुत शक्ति देदी है। प्रश्न यह है कि इस शक्तिका मानव सदुपयोग करता है या दुरुपयोग। हमारी सभ्यता और सामाजिक चेतना आज इस विषम संकटकी अवस्था में है। इस संकटमें से विजयी होकर मनुष्य तभी निकलेगा जब वह अपनी आधिभौतिक प्रतिभाको आध्यात्मिक चेतना से नियंत्रित करनेमें सफल होगा। आधिभौतिक प्रगतिका त्याग करनेका प्रश्न नहीं है। प्रश्न है इस प्रगतिको मानव हितकी दिशामें मोड़नेका। मानवकी 'सामाजिक चेतना'के आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपोंमें उचित समन्वय से ही यह संभव होगा। क्या इस युग से चले आने वाले सच्चे समाज सुधारकों, राष्ट्र निर्माताओं और क्रांतिकारियोंके ज्वलंत और प्रेरणामूलक उदाहरण हमारा पथ प्रदर्शन करनेमें सफल होंगे? इस प्रश्नके उत्तर पर हमारे समाजका भविष्य निर्भर करता है और उसका सही-सही उत्तर देकर ही आज का मानव उन महान आत्माओंके प्रति अपनी सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकता है जिन्होंने अपनी सेवाओंसे समाजके मार्गको सदा प्रशस्त किया है।

—:o::o:—

श्री गोपीकृष्ण अरोरा

समाज-निर्माण के आधार

समाज-संबंधोंके विना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। अपनी कुछ आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिये उसे दूसरोंके साथ सहयोग करना होता है। कुछके लिये दूसरोंसे संघर्ष करना पड़ता है। लेकिन संघर्ष और सहयोगमें एक संतुलन कायम रहना जरूरी है अन्यथा यदि संघर्ष हो, तो विशृंखलता तथा विनाश और यदि संघर्ष बिलकुल न हो, तो स्थिरता-निष्क्रियता और विनाश ही फल होगा। इसी संतुलनका नाम सामाजिकता है। जीवनको क़ायम रखने और उसे विकसित करने एवं बढ़ानेके लिए जिस सामाजिक व्यवहारकी आवश्यकता होती है उसे ही सामाजिकता कहते हैं। उदाहरणके लिए चोरी करने वालेको दंड देनेमें सहयोग करना और निर्दोषी को दंड देने वाले से संघर्ष करना सामाजिकता के उदाहरण हैं। चोरी करने वाले यदि बढ़ जायेंगे तो जीवन अरक्षित हो जायगा और यदि निर्दोषी को दंड देने वाले बलवान हो जायेंगे, तो भी जीवन सुरक्षित नहीं रह सकेगा।

यह गति कभी एक स्तर पर ही कायम नहीं रहती—रह सकती ही नहीं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिकी प्रक्रियामें ही कुछ नयी आवश्यकताओंकी सृष्टि करके उन्हें भी संतुष्ट करना चाहता है। इसका फल यह होता है कि व्यक्ति और समाजके संबंधों और व्यवहार में लगातार परिवर्तन होते रहते हैं। जो कल मैत्रीपूर्ण संबंध था वह आज उपेक्षापूर्ण बन जाता है, जो कल तक सामान्य संबंध था वह आज विशिष्ट हो जाता है। शास्त्रीय भाषामें इसीको आर्थिक संबंध-परिवर्तन कहते हैं। यह नामकरण इसलिये सार्थक है कि इस नामसे इन संबंधोंका एक प्रमुख आधार प्रकट होता है किन्तु सब कुछ वह ही नहीं है यह भी कह देना जरूरी है। मनुष्य-समाजके आर्थिक विकास का अर्थात् आदिम युगसे जब मनुष्य कन्दराओं में रहता था और परिस्थितिके अनुसार फल अथवा जानवरों का मांस खाकर उदरपूर्त्ति करता था तब से आज के अणु-युग तकका क्रमिक विवरण देनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह उल्लेख करना तो आवश्यक हैही कि जीवनकी मौलिक आवश्यकताओंके उत्पादन तथा उपयोगकी व्यवस्था की प्रक्रियाओं में विशिष्ट संबंध स्थापित होते रहते हैं। उन संबंधोंका विशिष्ट वर्गीकरण भी होता रहता है। इसी प्रक्रियामें नयी-नयी ऐसी कल्पनाओंका उदय होता है, जिनका जीवित मात्र रहनेसे सीधा संबंध नहीं होता किन्तु अच्छी तरह रहने, सुखसे रहने आदिका संबंध अवश्य होता है। यहीं कलाका जन्म होता है। जब मनुष्यने लकड़ी

के टुकड़ेमें गड्ढा किया था तब तो उसने अपने जीवनकी एक सीधी आवश्यकता पूरी की थी किन्तु जब उसे कुछ फुर्सत मिली तो उसने उस कटोरेको चिकना किया, उसे सजाया, उसे रँगा भी। स्पष्ट है कि कटोरेको सजाना उसकी उपयोगिता नहीं बढ़ाता किन्तु आवश्यकता पूर्तिके अतिरिक्त सुख और सौन्दर्यकी भावनाको मूर्त करता है। सुन्दरकी चाह, अतः असुन्दरके तिरस्कारका भाव भौतिक जीवनमें जहाँ कला को जन्म देता है वहाँ नैतिकता और क्रमशः धर्म विचारोंके उदयका मानसिक आधार तैयार करता है। वह भी सुन्दरकी उपासना और असुन्दरके तिरस्कारका एक पक्ष है।

व्यक्ति और समष्टिके संबंधों, जीवनकी आवश्यकताओं, उनके उत्पादन एवं उपभोग की व्यवस्था, आदिमें परिवर्तन होते रहनेकी स्वाभाविक अनिवार्यताके साथ ही साथ उनके स्थिरताका भाव भी सर्वदा व्याप्त रहता है, क्योंकि व्यवस्थित करनेकी आवश्यकता भी उतनी ही स्वाभाविक है ताकि समाज का रूप विश्रृंखलित न हो जाय। अतः कुछ बातें गृहणीय तथा कुछ त्याज्य मान ली जाती है। इनके अतिरिक्त बीचकी भी कुछ बातें होती हैं, जिन्हें व्यक्तिकी इच्छापर स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है। सामाजिकता की श्रृंखलाको सुदृढ़ बनाये रखने वाली बातें ही गृहणीय होनी चाहिए। श्रृंखलाका लक्ष्य स्वतंत्रताको बाँधना नहीं, वरन् विश्रृंखलतासे रक्षा करना होता है। ये गृहणीय विचार ही सामाजिकताके मूल्य होते हैं। सामाजिक संगठनको स्थायी रखनेके लिए, उनको विशृंखल होनेसे रोकनेके लिए तथा सामाजिक-व्यवहारमें एकरूपता लानेके लिए यह आवश्यक है कि कुछ आधारभूत विचार तथा व्यवहार ऐसे हों, जिनपर कसकर व्यक्तिके विचारों तथा व्यवहारोंका मूल्यांकन किया जा सके और उन्हें उचित तथा अनुचितमें बाँटा जा सके। व्यवहारोंका यह वर्गीकरण कुछ ऐसे आदर्शों की स्थापना कर देता है, जो मान्य होते हैं। काल्पनिक आदर्शों तथा सामाजिकताके व्यावहारिक मूल्योंमें यही अंतर है कि एक कभी प्राप्त नहीं होता केवल प्रेरणा देता है, दूसरा प्रेरक होने के साथ-साथ प्राप्त भी होता है। अहिंसा एक आदर्श है। किसीको पीड़ा न देने की प्रेरणा तो देता है किन्तु जीवनमें पूर्ण रूपेण व्यवहार्य नहीं है। जीवनसे हिंसा को बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता। दूसरोंके सम्पत्ति-अधिकारका सम्मान करना सामाजिकताका मुख्य-आधार है। इस सम्मानका अर्थ यही तो है कि दूसरेकी सम्पत्ति, अनधिकार रूपसे उसकी अनुमतिके विना हस्तगत न की जाय अथवा उसे क्षति न पहुंचायी जाय इस नियमके उल्लंघन के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक जीवनकी सुचारुताके लिए वे उल्लंघन वांछनीय हैं। कम्युनिस्ट-दर्शनके अनुयायियोंकी ओर से इस बात पर आपत्ति की जा सकती है क्योंकि उनके विचारसे सम्पत्तिके व्यक्तिगत स्वामित्वकी भावना मनुष्य की परम भावनाओंमें से नहीं वरन् वर्ग-हितपर आश्रित है। कम्युनिस्ट विधि-शास्त्र में सम्पत्तिके व्यक्ति-स्वामित्वका आधार मान्य है, इसलिये सम्पत्तिके सार्वजनिक स्वामित्वकी बात और अन्यके सम्पत्ति-अधिकारका सम्मान कोई परस्पर विरोधी मत नहीं है। उनमें जनक और जन्य का सम्बन्ध है।

इस नियमको यदि ग्राह्य तथा वर्ज्य व्यवहारोंकी परिधिसे परे स्वेच्छाकी श्रेणी में रख दिया जाय तो सामान्य-जीव-समूह तथा मनुष्य-समाजका स्तरान्तर सिद्ध करनेवाली

सामाजिक जीवनकी उपलब्धियाँ–– कभी प्राप्त न हो सकेंगी। श्रम-संचय ही तो सम्पत्ति है। जब किसीका श्रम-संचय सुरक्षित न होगा तो कोई संचय करेगा ही क्यों? और यदि श्रम संचित न हो, तो अवकाश प्राप्ति संभव नहीं होगी अतः कोई भी प्रगति विकास संभव न हो सकेगा। दीन पर बलवानके और उस पर उससे अधिक बलवान के आक्रमण और अपहरणका क्रम बना रहेगा। यह नियम गृहणीय होनेके कारण एक सामाजिक आदर्श है। कितनी ही लोकगाथाओंमें और कहीं-कहीं तो ऐतिहासिक विवरणोंके रूपमें भी यह सुनकर हृदय उल्लसित होता है कि मकानों पर लगानेकी कभी तालोंकी आवश्यकता नहीं थी, द्वार खुले पड़े रहते थे और यदि कोई किसी स्थानपर कोई वस्तु भूल जाता, तो लौटने पर उसको वह उसी स्थान पर मिल जाती थी। आदर्श होने के साथ-साथ वह व्यावहारिक भी है और इसीलिए इसे आदर्श नहीं सामाजिकता का मूल्य माना गया है। चोरी करना अवैध एवं अनियमित है अतः दण्डनीय भी है। इस विधिका शास्त्रीय आधार और सामाजिकताका यह मूल्य अन्यके सम्पत्ति-अधिकार का अपहरण करना है।

यह सामाजिक जीवनको विशृंखल होने से बचानेके लिये तथा सामाजिक जीवनमें और अधिक सुव्यवस्था, सुचारुता और सरलता लाने के लिए व्यावहारिक रूप से प्राप्त जो आदर्श स्थापित किये जाते हैं उन्हें ही सामाजिकता के मूल्य कहा जाता है।

ये व्यावहारिक आदर्श सदा एक-से नहीं रहते। सामाजिक जीवनकी आवश्यकताएँ तथा परिस्थितियाँ बदलती और मनुष्यके 'विश्वासका दृष्टिकोण भी बदलता रहता है। उदाहरणके लिए जिस समय मनुष्य-समूहों को जीवित रहनेके केवल चरागाह अथवा आखेट क्षेत्र ही पर्याप्त थे उस समय युद्धमें पराजित और गिरफ्तार शत्रुकी हत्या कर देना सामाजिकताका मूल्य माना गया था। जब खेती के लिए अथवा अन्य श्रम-कार्योंके लिए श्रमिकोंकी आवश्यकता उत्पन्न हुई तब युद्धमें पराजित शत्रुको मारना वर्जित माना जाने लगा। उस पराजित शत्रुको गुलाम बनाना अमानवीय नहीं माना जाता था। फिर यह नियम भी बदला और अब तो समानाधिकारकी मान्यता ही सामाजिकताका स्वीकृत परम-मूल्य है।

सामाजिकताके इन मूल्यों अर्थात् ग्राह्य और वर्ज्य व्यवहारोंमें कुछ स्थायित्व होना आवश्यक है अतः प्रारम्भिक रूपमें इनके पालनमें इनका वाह्य-रूप ही देखा जाता है। व्यक्ति के किसी व्यवहार के पीछे उसकी मनःस्थिति अथवा भावना कैसी है अगर इस पर ध्यान दे तो व्यवहारों के अनेक वर्गीकरण करने की आवश्यकता होगी। ये वर्गीकरण नवोदित मूल्योंके विषयमें संभव नहीं होती। उससे सामाजिक-जीवनमें एकरूपता भी स्थापित नहीं हो सकती। इसीलिए इन सामाजिक मूल्योंके पालन का कुछ उपहार और उनके उल्लंघन का कुछ दंड निर्धारित हो जाता है। चूँकि इस उपहार अथवा दंडका देना सभी परिस्थितियोंमें संभव नहीं है इसलिए मानव-मस्तिष्क ने उनकी कल्पित पर-लोक में व्यवस्था कर डाली। धर्म और परलोककी भावना के उदयके अन्य कारणों एवं आधारोंके अतिरिक्त यह आधार भी है। सामाजिकता के मूल्य नैतिक आचरणका नाम ग्रहण कर लेते हैं। सामाजिक जीवनकी स्थिरताके लिये आवश्यक होनेके कारण चोरी न करना जहाँ सामाजिकताका एक मूल्य है वह-धर्म में

भी चोरी पाप और अस्तेय धर्माचरण माना जाता है। सहयोगकी भावना सामाजिकता का मूल्य है, वही धार्मिक भाषामें 'वसुधैव-कुटुंबकम्' का रूप धारण कर लेता है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सामाजिकताके मूल्यों, नैतिक-नियमों, धार्मिक-सिद्धांतों अथवा उच्च आदर्शोंका लक्ष्य समाजको शृंखलाबद्ध रखना, जीवनको अधिक सुखी, अधिक सम्पन्न, अधिक सरल तथा सुन्दर बनाना ही है। फिर भी इन सबका रूप एकदूसरेसे कुछ भिन्न होता है। इस रूप-भिन्नताका कारण मानव-ज्ञानकी सीमाएँ हैं।

समाजके विकसित होते रहनेके साथ-साथ मान्यताओं और आदर्शोंके विकासका पूरा विवरण यहाँ देना न तो संभव है और न आवश्यक। किंतु यह बात अवश्य ध्यान देने की है कि एक स्तर तक समाजका विकास हो चुकनेके बाद उसके राजनीतिक रूपका भी विकास होता है, और इसे ही राज्यकी संज्ञा दी जाती है। राज्यकी कल्पनाके विकासकी कहानी बड़ी रोचक है। राज्य अर्थात् समाजके उस राजनीतिक-संगठनकी शक्तिके उदयके बाद ग्राह्य और वर्ज्य-व्यवहारोंका विभाजन कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है। कुछ व्यवहारोंको राजशक्ति दंडित ठहरा देती है और कुछको नहीं। इस प्रकार ग्राह्य और वर्ज्य-व्यवहार कानूनका रूप धारण कर लेते हैं। कुछ ग्राह्य व्यवहार सार्वजनिक कर्त्तव्य बना दिए जाते हैं।

कानून द्वारा नियमित इन व्यवहारोंमें एक बात विशेष रूपसे दृष्टिगोचर यह होती है कि कानूनके आदेशोंका रूप नकारात्मक होता है: जैसे चोरी न करो, किसीको क्षति न पहुँचाओ, धोखा न दो, हत्या न करो आदि-आदि। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर सामान्य रूपसे जो कर्त्तव्य-निर्धारण कानून द्वारा अर्थात् राजशक्ति द्वारा होते हैं उनमें "ऐसा करो" का निर्देश प्रायः नहीं होता। मानलीजिए कोई आदमी डूब रहा है और कोई अन्य तैरने वाला व्यक्ति अपनी जान खतरे में डाल कर उसे बचा ले, तो उसके कार्यकी प्रशंसा होगी किन्तु यदि वह पानीमें न कूदनेका ही निश्चय कर ले, तो कोई क़ानून उसे उसके लिए मजबूर नहीं कर सकता, भले ही उसके उस निश्चयका कारण शत्रु-भाव ही क्यों न हो। अतः कुछ तो व्यवस्था-विषयक सीमाओंके कारण और कुछ व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी रक्षा करनेके आदर्शके कारण व्यवहारोंका नकारात्मक और सकारात्मक विभाजन हो जाता है। 'पापाय पर पीडनम्' का व्यापक नैतिक-आदर्श (धर्म-सिद्धांत) सामाजिकता तथा व्यावहारिकताके स्तर पर आकर अपने पड़ोसीको क्षति न पहुँचाओकी विधिका साकार रूप धारण कर लेता है।

देखने में यह द्विवर्गीय विभाजन कुछ अटपटा-सा अवश्य लगता है किन्तु जरा गहराई से देखा जाय, तो इसका आधार सामाजिकताकी यह परम-पुनीत मान्यता ही है कि नैतिकताका आश्रय स्वेच्छित निर्णय है दण्ड-भय नहीं। सुख उपभोग कर सकनेकी क्षमता तथा साधन रहते हुए भी जो उसे पर-सेवाके उपयोगमें लाता है वह त्यागी कहलाता है। क्लीव ब्रह्मचारी नहीं होता। राजशक्तिके बल पर यदि डूबने वालेकी रक्षाके लिये पानीमें कूदना अनिवार्य हो, तो उसे परोपकारकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। फिर भी नैतिक और विधि-निर्देशित आचरण ऐसे नहीं हैं, जो एक दूसरेसे बिलकुल

अछूते हों। दोनोंका मूल एक ही है—सामाजिक जीवनकी सुचारुता, और दोनोंका भविष्य भी एक ही है—व्यक्तिका व्यवहार। अन्तर यह है कि कानून जहाँ समष्टिमें व्यष्टिके व्यवहारसे संबंधित है, वहाँ नैतिकताका आग्रह केवल व्यक्तिको लेकर ही है। लेकिन आचरण की नैतिकताकी तुला तो लोक-कल्याण ही है। यही कारण है कि मनुष्य-समाजके ज्ञान और उसकी वृद्धिके साथ-साथ विधिका क्षेत्र बढ़ता जाता है। उसमें नैतिकताके नियमोंका क्रमशः अधिकाधिक समावेश होता जाता है। व्यावहारिकताका ध्यान रखनेके कारण नियमोंके रूपमें थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य आ जाता है। जैसे "सत्यं वद" के नैतिक नियमका विधि रूप केवल यही रह गया कि 'किसी को क्षति पहुँचानेकी दृष्टिसे असद् भाषण करना दण्डनीय है।' 'एक पत्नी-व्रत" की बात विधिके क्षेत्रमें आकर "एक समय में एक पत्नीका" नियम बन जाती है। इस प्रकार सामाजिकताके मूल्यमें सर्वथा नयी मान्यताओंका समावेश होता रहता है और वह भी बहुत क्रमिक रूपमें, जिन्हें हम सामान्य रूपसे, सामाजिकताके नये मूल्य कहते हैं, वस्तुतः वह आचरण विषयक अन्य क्षेत्रोंके नियमोंको उधार लेना है।

भारतीय-संविधानकी प्रस्तावनामें स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्वके साथ-साथ सामाजिक न्यायकी स्थापना करना संविधानका उद्देश्य घोषित किया गया है, यह एक नयी मान्यता है।

फ्रांसीसी क्रांतिके स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्वके तीन आदर्शोंने सामाजिक मान्यताओंका रूप धारण कर जहाँ एक ओर सामन्तशाही समाप्त कर राजनीतिक समानता स्थापितकी, वहीं व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी मान्यताने आर्थिक क्षेत्रमें एक नयी असमानताको भी जन्म दे दिया। उस असमानता को ही दूर करनेके लिए एक ओर आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिकी स्वतंत्रतापर पूर्ण नियंत्रणकी मान्यताका उदय हुआ और दूसरी ओर सामाजिक न्यायको ही सामाजिकताका मूल्य माना गया। आज विश्वमें मूल रूपसे इन्हीं दोनों मान्यताओंपर संगठित दो समाज कायम हैं। इस मौलिक अन्तरके कारण ही दोनोंके सामाजिकताके मूल्योंमें भी व्यापक अन्तर-व्याप्त है। प्रथममें आर्थिक नियंत्रणके कारण व्यक्ति-स्वातंत्र्य जरूर समाप्त हो गया, किन्तु व्यक्ति, सम्पन्नता और कार्य-क्षमताके नये स्तर कायम हुए। दूसरी ओर राजशक्ति उतनी बलशाली नहीं किंतु व्यक्ति-स्वातंत्र्य (कहीं कुछ अधिक व्यापक और कहीं कुछ कम व्यापक क्षेत्रोंमें) कायम है।

दोनोंमें ही व्यक्तिकी पूर्ण स्वतंत्रता राजशक्ति द्वारा जनहितके लिए नियंत्रित है। किन्तु एक अंतर है। एक स्वतन्त्रताको ही सारे दोषोंका कारण मानकर चलता है और दूसरा स्वतंत्रताके उसी अंश पर नियंत्रण करता है जहाँ समाजके हितके लिए उसका दुरुपयोग होता है अथवा होने की संभावना है। अभी तक उसका कोई तुला स्पष्ट नहीं है।

यहाँ हम इस राजनीतिक बहसमें पड़ना नहीं चाहते कि हमारे संविधानकी प्रस्तावना में "हम भारतीय जन—" की घोषणा न्याययुक्त नहीं है क्योंकि यह संविधान बहुत सीमित क्षेत्रके प्रतिनिधियों द्वारा ही तैयार किया गया है। यह एतराज स्वीकार करते हुए भी यह उल्लेखनीय है कि "हम भारतीय जन —"कहकर संविधान निर्माताओंने,

कमसे कम सैद्धांतिक रूपमें तो यह स्वीकार किया ही है कि राजशक्ति ईश्वर प्रदत्त नहीं है और न हीं बलपर आधारित है वरन् वह सार्वजनिक रूपसे जनसाधारण में व्याप्त है। यदि जनसाधारण ही राज्यशक्तिका स्रोत है, तो किसी एक व्यक्ति या एक दल या एक गुट को उस पर चिर काल तक अधिकार कायम रखने का कोई अधिकार नहीं है। यह स्वतः स्पष्ट है कि निश्चित अवधियोंके बाद पुनः-पुनः जनमत लेते रहने की और सभीको अपनेमें जन-विश्वास सिद्ध करनेकी व्यवस्था होनी चाहिए। इसलिए बार-बार नियत अवधिके बाद चुनावकी व्यवस्था की जाती है चुनाव वास्तविक होना चाहिए प्रदर्शन मात्र नहीं।

संविधानकी प्रस्तावनाके अन्य अंशोंको हम यहीं इसलिए छोड़ देते है कि उसके अन्य भागोंमें सामाजिकताके किन्हीं नये मूल्योंका समावेश नहीं, वरन पुरानी मान्यताओंकी ही पुनरावृत्ति है। सामाजिकताके कुछ मूल्योंका विवरण संविधानके तीसरे तथा चौथे भागमें दिया गया है। घोषणाएँ सर्वथा नयी हों ऐसी बात नहीं है। तीसरे भागमें जो "मौलिक अधिकार" घोषित किये गए हैं उनका इतिहास हमें १२ वीं सदी से मिलता है। पोपकी घोषणा (बुल) में इनमें से कई का उल्लेख किया गया था। कुछ अन्य देशोंके संविधानोंमें भी येह घोषणायें हैं। जो हो नागरिकके मौलिक अधिकारोंकी घोषणा पूरानी परिपाटी होते हुए भी उसका महत्व कम नहीं किया जा सकता। राज्य सर्वशक्तिमान सर्वाधिकार सम्पन्न नहीं है बल्कि उस पर भी कुछ बंधन और कुछ सीमाएँ हैं।

सकारात्मक कर्त्तव्योंकी घोषणा इस युगकी एक नयी मान्यता है। भावी-निर्माण का एक रूप सामने उपस्थित है जिसकी तुला पर राज्यके कार्योंको आँका जा सकता है। समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्वके नारों पर की गयी फ्रांसीसी क्रांतिके बाद "लैसे-फेयर" अर्थ व्यवस्थाने एक नयी असमानता, एक नयी गुलामी और एक नया शत्रु-भाव स्थापित कर दिया था क्योंकि उस क्रांतिके उद्देश्यमें सकारात्मक निर्देश नहीं थे। इसीलिए उस क्रांतिके बाद राजनीतिक और उसके प्रतिक्रिया स्वरूप आर्थिक समानता के मूल्योंकी स्थापनाके बाद भी समानता पूरी नहीं होती। इसकी पूर्त्तिके लिए सामाजिक समानता भी आवश्यक है। सामाजिक समानता इस युग का एक नया मूल्य है। शिक्षा एवं ज्ञानके प्रसार तथा परस्पर साहचर्यसे तो वह संभव होगा ही किन्तु उसमें गति देने के लिए उसके साधन यही तो हैं कि अज्ञान अथवा अंधविश्वासों पर आधारित रूढ़िगत सामाजिक असमानताओं पर आचरण करना दण्डनीय बना दिया जाय, दूसरी ओर रूढ़िने जिन्हें अधिकारहीन कर रखा है उन्हें विधि द्वारा समानाधिकार संपन्न बना कर व्यक्तिगत विधि-व्यवस्थाके स्थान पर सभीके लिए समान विधिकी व्यवस्था करदी जाय।

स्वतंत्रता-प्राप्तिके बादसे विधि निर्माणकी जैसी गति रही है, उसे पूर्ण संतोषजनक न मानते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इस ओर सर्वथा असावधानी उपेक्षा या उदासीनता नहीं रही। फैक्टरी कानूनोंका नये-नये क्षेत्रोंमें विस्तार, व्यक्तिगत लाभ की प्रवृत्ति पर समाज-हितके उद्देश्यसे (वह पूरा कहाँ तक होता है यह प्रश्न भिन्न है) राज्यका नियंत्रण, स्त्रियों, पिछड़ी जातियों आदिको कुछ विशिष्ट अधिकारोंसे सम्पन्न

कर उन्हें समान स्तर पर लानेके प्रयास, बीमा-योजना आदिके विधि-निर्माण इसी ओर संकेत करते हैं।

सामाजिक समानताकी इस नयी मान्यताने विभिन्न राष्ट्रोंकी सार्वभौमिकता के सिद्धांत को शुद्ध राजनीतिके क्षेत्रसे बाहर निकाल कर उसे एक सामाजिक अर्थ प्रदान कर दिया है। शुद्ध राजनीतिक आधारपर राष्ट्रोंकी सर्व-सत्ता, समानताकी मान्यता का कुफल इतिहास प्रकट कर चुका है। उस मान्यतापर बलहीन, छोटे और पिछड़े हुए तथा गुलाम राष्ट्रोंकी स्वतंत्रताकी माँग को कौन सामने रखे यह समस्या हल नहीं हो सकती। उसका अवसर तो तभी उपस्थित होता है जब सभी राष्ट्र समानताके स्तरपर एक ही मंचपर एकत्र हों। और यह तभी संभव है, जब सभी राष्ट्र अपनी सार्वभौमिकताकी पूर्णताका पुरानी मान्यताओंपर आधारित आग्रह कुछ त्यागें। विगत दो महायुद्धों ने मानव जातिको यही शिक्षा दी है कि सभी अपनी सार्वभौमिकता का कुछ अंश "सामाजिक सहयोग" को "अर्पित" कर दें। इसी अनुभूति ने 'लीग आफ नेशन्स'को जन्म दिया था और इसीकी द्विगुणित अनुभूति ने संस्थाकी कुछ कमजोरियों को दूर करके वर्त्तमान "संयुक्त राष्ट्र संघ"को जन्म दिया।

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह वर्त्तमान संघ भी अभी सही अर्थों में "संयुक्त-राष्ट्र-संघ" नहीं बना है क्योंकि सामाजिक समताका आदर्श सार्वभौम रूप में स्वीकार नहीं किया गया। एक ओर एक विशाल भूखंडके अपार जनसमुदायका कोई प्रतिनिधित्व नहीं है, दूसरी ओर दो विशाल शक्तियाँ—एक आर्थिक स्वतंत्रताके नाम पर और दूसरी सांस्कृतिक समताके नाम पर आश्रित राष्ट्रों पर बलात् प्रभुत्व जमाए हुए हैं अथवा उसके लिए प्रयत्नशील हैं। इस छीना-झपटीने ही विश्वमें द्वितीय महायुद्धके बाद इतनी शीघ्र संतुलन बिगाड़ दिया है और सारा वातावरण शीत-युद्धसे भयभीत हैं। ऐसा लगता है कि मानव जातिको सामाजिक समानता एवं सामाजिक न्यायके नये मूल्यका वास्तविक अर्थ समझनेके लिए एक और युद्ध की अग्नि-परीक्षा देनी होगी—इस महा-प्रलयके काले बादलोंके पीछे एक धूमिल प्रकाश रेखा स्पष्ट दीख रही है। पंचशीलकी स्वीकृति विभिन्न राष्ट्रों में विभाजित मानव जातिको कदाचित इस अनिष्टसे विरत रख सके और मानव-इतिहास में प्रथम वार सामाजिक समता, सहयोग शांति और सम्पन्नता की स्थापना सार्वभौम रूपसे हो सके।

—:o:—

विष्णुदत्त शुक्ल

संस्कृतिके तत्व

मानव समाजमें व्यष्टि और समष्टि रूपोंसे जो व्यवहार आचार-विचार आदि किये जाते हैं, उसीको संस्कृतिके नामसे अभिहित किया जाता है। हम अपने साथ एकान्तमें किस प्रकारके व्यवहार करते हैं, कैसे विचार रखते हैं, यह भी संस्कृतिका एक अंग है और समाजमें अपने मित्रों, पड़ोसियों आदिसे जो व्यवहार करते हैं, वह भी संस्कृतिका एक अंग है। इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक रूपसे हमारा आचरण-व्यवहार संस्कृतिका अधिक प्रख्यात अंग है और वैयक्तिक रूपसे किया गया व्यवहार उतना प्रख्यात अंग नहीं है। परन्तु यदि इनमें से किसी एकको भी हम हटा दें और तब किसी समाज विशेषकी संस्कृतिकी विवेचना करने बैठें, तो वह एकांगी होगी, अपर्याप्त होगी।

हम किस प्रकार एकान्तमें बैठकर पूजा अर्चन करते हैं, किस प्रकार भोजन पान करते हैं, कैसे सोते उठते हैं, कैसे अध्ययन अनुशीलन करते हैं, कैसे सोचते-विचारते हैं आदि सभी बातें, वैयक्तिक होते हुए भी, व्यापक रूपसे संस्कृतिका अंग ही हैं। इनकी उपेक्षा करके किसी समाजकी संस्कृतिपर क्या विचार किया जा सकता है? और उस प्रकार का विचार कैसे पर्याप्त माना जा सकता है? सम्यक विवेचनाके लिए इस अंगपर दृष्टि-पात करना आवश्यक और अनिवार्य ही है।

सामाजिक या समष्टि रूपसे संस्कृतिकी जो विवेचना की जाती हैं, उसमें भी हम संकीर्णतासे काम लेते हैं। इस दिशामें भी हमारा दृष्टिकोण अधिकांशमें सीमित रहता है। हम यह विचार तो करते हैं कि समाज विशेषमें अपने कुटुम्बियोंके साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, अपने मित्रोंके साथ किस प्रकार मिला जुला जाता है, अपने पड़ोसियोंके प्रति कितनी सहानुभूति दिखाई जाती है और बहुत आगे जाते हैं, तो यह विचार भी कर लेते हैं कि उस समाजमें अपने नौकरोंके साथ किस प्रकारका व्यवहार बर्त्ताव किया जाता है। इसके आगे जाते हुए हम प्रायः नहीं मिलते।

परन्तु संस्कृतिकी विवेचना इतने हीसे पर्याप्त या सम्पूर्ण नहीं हो जाती। हमें यह भी देखाना पड़ेगा कि हम अपने अतिथियोंके साथ कैसा बर्ताव करते हैं, उन लोगोंके प्रति कैसा व्यवहार करते हैं, जिनसे हमारा कोई सरोकार नहीं है जो हमारे लिए अपरिचित हैं। इतना ही नहीं यदि किसी समाजकी संस्कृतिका सम्यक् अध्ययन करना है, तो हमें यह भी देखना पड़ेगा कि वह समाज अपने शत्रुओं तकसे और कहा जाय तो पशुओं तकसे कैसा व्यवहार करता है।

जब इन सब बातोंको सामने रखकर विवेचना की जायगी तभी किसी संस्कृतिकी विवेचना ठीक-ठीक हो पायेगी और तभी हम उस संस्कृतिके साथ उचित न्याय कर सकेंगे।

समाजमें बड़े छोटोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, छोटे बड़ोंके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते हैं, समान वयवाले आपसमें कैसा व्यवहार करते हैं, स्त्रियोंके प्रति समाजका क्या व्यवहार है, वर्ग भेद या वर्णभेद आदि की क्या अवस्था है, समाजकी क्या प्रवृत्तियाँ हैं' क्या रुचियाँ हैं, क्या व्यसन है, क्या रूढ़ियाँ हैं, क्या परम्पराएँ हैं, क्या अंधविश्वास हैं इत्यादि अनेक बातोंका विचार संस्कृतिका रूप निरूपण करते समय करना पड़ेगा। संस्कृतिके इन आधारभूत तत्वोंकी उपेक्षा करके उसका उचित विवेचन सम्भव नहीं।

इन व्यवहारों, आचरणों, मान्यताओं और धारणाओंमें अनेक बातें अच्छी हो सकती हैं और अनेक बुरी। इन्हींके आधारपर किसी समाज-विशेषकी श्रेष्ठता और कनिष्ठता का परिचय मिलता है। जो बातें अच्छी हैं, वांछनीय हैं उनके सम्बन्धमें तो अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। परन्तु जो बातें अवांछनीय हैं उनपर सहानुभूति और उदारतापूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता होती है। किसी अवांछनीय बात को देखते ही, उसपर सम्यक् विचार किये बिना, उसकी संस्कृति को निकृष्ट कह देना बुद्धिहीनता ही मानी जायगी। हमें यह देखना पड़ेगा कि जो अवांछनीय तत्व समाजकी संस्कृतिमें आ गए वे कैसे आए? उनके लिए अनुकूलता कैसे मिली? जिन स्थितियों में वे अपनाये गये थे या घुस आये थे वे स्थितियाँ बचायी जा सकती थीं या नहीं? उनके बचानेका कोई प्रयत्न किया गया या नहीं आदि। संस्कृतिविशेष उसी समय हीनताकी दोषी मानी जा सकती है जब उसने स्वेच्छासे विना किसी स्थिति विशेषके दबाव के उस विशेष प्रथाको स्वीकार किया हो।

और यदि ऐसा भी हो तो भी यह मानकर विचार करना पड़ेगा कि संभव है उस समय जब वह प्रथा-विशेष अपनायी गयी थी वह अच्छी मानी जाती हो। यह बात ध्यान देने योग्य है कि संस्कृतिके मूल्यांकन भी युग के प्रभावसे बदलते रहते हैं। आज जो विचारधारा समाजमें प्रचलित है वही भविष्यमें भी बनी रहेगी इसकी कल्पना नहीं की जा सकती और यदि आगे इसकी विचारधारा बदलती है, तो आजके आचार व्यवहार उस बदली हुई विचारधाराके युगके अनुकूल न होंगे। इसलिये उस समयके विचारक आजकी किसी संस्कृतिकी निंदास्तुति कर सकते हैं। इसी आधारपर समाज-विशेषकी भी निन्दास्तुति हो जाती है।

इसमें संदेह नहीं प्रत्येक विचारक अपने युगके धर्मसे प्रभावित होकर ही विचार करता है और उस समय प्रचलित मान्यताओं और विश्वासोंके आधारपर ही वह किसी संस्कृति की आलोचना करता है। यही स्वाभाविक भी है और उचित भी। परन्तु समालोचक के लिए समाजके प्रति उचित न्याय करनेके लिए यह भी आवश्यक है कि यह विवेचन भी किया जाय कि संस्कृतिका आलोच्य अंग किन स्थितियोंमें अंगीकार किया गया और उनमें उसका औचित्य था या नहीं?

नारीके प्रति न केवल हिन्दू समाजमें वरन् सारे संसारमें एक जमानेसे हीन धारणा प्रचलित चली आ रही है। आज भी इस धारणाका पूर्णतया उन्मूलन नहीं हुआ। परन्तु आजका विचारक इस विषयमें जागरूक हो गया है। एक इतने बड़े सम्प्रदाय

के प्रति जो अन्याय हो रहा है, उसके विरुद्ध उसने अपनी आवाज़ उठाई है। दशा सुधरने लगी है। निकट भविष्य में ही उसके और भी अधिक सुधारकी आशा है। ये सब शुभचिन्ह हैं। इनका स्वागत होना चाहिए। परन्तु इसीके आधारपर सारे संसारकी सभ्यता और संस्कृतिको निन्दनीय बता देना उचित नहीं है। संस्कृतिकी आलोचनामें भी एक संस्कृति होनी चाहिए। हम कटु-शब्दोंका प्रयोग करके किसीकी आलोचना न करें। इसकी अपेक्षा सहानुभूतिके साथ मधुर शब्दोंमें त्रुटियोंकी ओर संकेत करें यह अधिक सांस्कृतिक है और यही उचित है।

आजके मनुष्यमें मानवता अधिक विकसित रूपमें आयी है। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, वर्गभेद, वर्णभेद आदि देखकर यह सोचना गलत होगा कि मानवताके अधिकहोने की बात असत्य है। देखना यह नहीं है कि पूँजीवाद या साम्राज्यवाद आदि अभी मिटे नहीं हैं बल्कि देखना यह है कि उनके प्रति जन-साधारणके मनोमें कितना विद्रोह उत्पन्न हो गया है। और धीरे-धीरे किस प्रकार ये परम्पराएँ मिटती जा रही हैं। आज मानवता-विरोधी परम्परा की जड़ें हिल चुकी हैं। यही मानवताके विकासके चिन्ह हैं।

आजका मानव अत्याचार, उत्पीड़न, शोषण आदिका प्रत्यक्ष विरोधी हो गया है। जो प्रथाएँ आजसे कुछ समय पूर्व निन्दनीय न मानी जाती थीं, वे आज निंदनीय ही नहीं घृणास्पद मानी जाने लगी हैं। आज गुलाम बनानेकी प्रथा असह्य है। इसी प्रकार जो जातियाँ वर्णभेद या वर्गभेदके कारण उच्च वर्णोंके सामने हीन, अस्पृश्य मानी जाती थी उन्हें गले लगानेका अपनी बराबरी देनेका भाव आज जितना जाग्रत है, उतना पहिले न था। मनुष्यमात्र समान है, उनमें कोई ऊँच-नीच नहीं, यह मान्यता आज जितनी प्रखर है उतनी पहिले नहीं थी। आज मनुष्य की दृष्टि में मनुष्यका मूल्य पहिलेकी अपेक्षा बढ़ा है। इसी लिए आज मानवता अधिक विकसित मानी जाती है।

पूर्वकालकी अपेक्षा आज का संसार एक-दूसरेसे अधिक निकट आ गया है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंके सम्पर्क बराबर बढ़ रहे हैं। एक संस्कृतिका दूसरीपर प्रभाव भी पड़रहा है। इस प्रकारका प्रभाव नैसर्गिक है। उसे बचाया भी नहीं जा सकता। वह तो जाने या अनजाने, इच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक घुस ही आता है। आजका युग संस्कृतिकी बहुत बड़ी संक्रान्तिका युग है। सारे संसारकी संस्कृतियाँ एक-दूसरेसे टकरा रही हैं। विचारधाराओंमें बड़ी तेज़ीसे परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे महाकाल नाटकीय रंगमंचको पटपरिवर्तनके लिए घुमा रहा है। और उसीसे यह हलचल मच गयी है।

इस दशामें हम अपने-अपने राष्ट्रोंकी (जातियोंकी तो बात ही छोड़ दीजिए।) पृथक्-पृथक् संस्कृतिकी बात छोड़कर विश्वव्यापी संस्कृतिकी भी कल्पना कर सकते हैं। यातायात, संवादवहन, आदिके उन्नत साधनों और नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारोंने विश्वको एक व्यापक समाज बना दिया है। इस स्थितिमें एक सार्वभौम विश्वव्यापी संस्कृति की उद्भावना हो जाय तो आश्चर्य नहीं। यदि ऐसा होता है, तो हमारी विश्वबन्धुत्व की भावना साकार बन जायगी। इस दशामें सांस्कृतिक तत्वोंकी विषमता अपनेआप समाप्त हो जायगी और सारा विश्व संस्कृतिके एक सूत्रमें पिरोया हुआ सुन्दर सुखद जयमाल बन जायगा।

उदारचेता दूरदर्शी मनीषी इस प्रकारकी सभ्यताकी आशा भी करने लगे हैं। सारे संसारको एक व्यापक समाजके रूपमें सोचनेकी परिपाटी बढ़ रही है। सारे संसार की राजनीतिक एकताकी बातें तो होने भी लगी हैं। एक संसार (one World) विश्व राष्ट्र संघ (World Commonwealth) की बात तो आये दिन समाचारपत्रोंमें आती ही है। सारे संसार की शासनका समीकरण करनेकी भी चर्चा है। ये सब ऐसे लक्षण हैं, जो एक विश्वसंस्कृतिकी कल्पना करनेकी प्रेरणा देते हैं। ये शुभचिन्ह हैं। हमें इसका स्वागत ही करना चाहिए। जब हम चंद्रलोक मंगललोक तकके साथ सम्पर्क स्थापित करनेकी बात सोचने लगे हैं, तब अपने इस संसारका एकीकरण भी न करें यह तो अनुदारता और बौद्धिक दरिद्रताका ही द्योतक होगा। यह अनुदारता या दरिद्रता अब सम्भव नहीं है। बुद्धिका विकास इसे होने न देगा और आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों सारा संसार एक विशाल राष्ट्र होगा, सम्पूर्ण मानव समाज एक परिवार होगा और सारी संस्कृतियाँ मिलकर एक सामान्य सर्वमान्य सार्वभौम सांस्कृतिको जन्म देंगी। सारा संसार आज इसी अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए आगे बढ़ रहा है। जो विचारधाराएँ इसके प्रतिकूल हैं, वे अधिक दिनों तक टिक नहीं सकतीं। युग अपना प्रभाव डाले बिना रह नहीं सकता।

समाज-सुधार और समाज सुधारक

समाज-सुधारका काम कबसे शुरू हुआ यह बताना कठिन है। हाँ यह बताना आसान है कि उसका कब अन्त होगा। इसका यह जवाब है। "कभी खतम नहीं होगा'। समाज सुधारके कामका खतम हो जाना और समाजका ख़तम हो जाना एक ही बात है,।

यह काम खतम क्यों नहीं होगा ? इसका जवाब है, कि समाजका बिगड़ना कभी बंद नहीं होगा। मकान नष्ट होनेपर ही मकानका साफ होना बंद हो सकता है। मकानके रहते वह बंद नहीं हो सकता। कूड़ा तो हमेशा साफ करना ही पड़ता है, बिगड़े-समाजको हमेशा बनाना पड़ता है।

समाजके बिगड़नेका क्या कोई और नाम है ? हाँ है, वह है, समाज का रूढ़ियों पर चलना। समाजके बिगड़नेको रूढ़िवाद भी कहा जा सकता है।

रूढ़ि कहते हैं पुराने रिवाजको। रिवाज पुराने होने पर रूढ़ि नाम पाते हैं। समाज-सुधारक इसके सिवाय और करता ही क्या है कि पुराने रिवाजों की जगह नये रिवाजों को दिलवा दे। नये रिवाज फिर पुराने हो जाते हैं और रूढ़ि बन जाते हैं। सुधारकी फिर जरूरत हो जाती है। यों सुधारका काम भी कभी खतम नहीं हो पाता।

रिवाज, अनेक हैं, अनगिनत हैं। हर समय एक-दो दस-बीस रिवाज रूढ़िके रूप में रहते ही हैं: इसलिये हरदम, हर घड़ी, हर क्षण सुधारकी जरूरत है। सबके सब आदमी अगर सुधारक बन जायँ तब भी यह काम कभी न निपट सकेगा। अब आपने समझ लिया होगा कि समाज-सुधारका मैदान कितना लंबा चौड़ा, कितने फैलाव और समाई वाला है।

सुनकर आप दाँतों तले उँगली दबाकर रह जायेंगे कि समाजका कोई सुधार, समाजका कुछ न कुछ बिगाड़ किये बिना हो नहीं सकता। समाज-सुधारक ऐसी बात सुनकर भौंचक्का रह सकता है, पर सचाई यही है।

पहले यह बताइए कि लड़केलड़कियोंको मजबूत बनाना समाज-सुधार है या नहीं ? यदि हाँ, तब यह बताइए कि क्या सुधार हुए समाजके लड़की-लड़के उतने ही बलवान होते हैं, जितने उस समाजके जिनको सुधरे समाज बिगड़ा-समाज या जंगली, आदिम और पिछड़ा समझते हैं ? क्या आज भी अंग्रेज और अमरीकी उस हिन्दुस्तान को पिछड़ा

हुआ देश नहीं समझते, जिसने अभी कुछ दिन हुए सुधरे-अंग्रेजी समाज को अपने देश से बाहर निकाल दिया था ?

आप कहेंगे, इतिहासकारोंका कहना है, कि हमेशा बिगड़ा हुआ समाज यानी जंगली-समाज लड़ाई के मैदान में सुधरे समाज को हराया करता है। इसको साबित करने के लिए इतिहासके जानकार दलील दिया करते हैं कि हिन्दुस्तानके आदिमवासी द्रविड़ ज्यादा सभ्य थे तभी असभ्य आर्योंसे हार गये। इसलिये अभी कुछ दिन पहले जो अंग्रेज हिन्दुस्तानियोंसे हारे वह इसलिये हारे कि हिन्दुस्तानी जंगली थे और अंग्रेज सभ्य आज भी अंग्रेज सभ्य हैं और हम जंगली।

क्या इस दलीलको सच मानकर मैं यह कहूँ कि अंग्रेजी और अमरीकी जंगली हैं, जिन्होंने जर्मनी और जापानको हरा दिया ? अगर मेरी यह बात इतिहासके आधार पर है, तो क्या अंग्रेज और अमरीकी इसको सच मान लेंगे ? क्या दोनों अपने को जापान और जर्मनीसे ज्यादा असभ्य समझेंगे ? अगर नहीं, तो यह बात माननी होगी कि हर सुधारक बिगाड़को जन्म देकर अपनी जगह बनाता है।

मान लीजिये आप समाजको बलवान बनाते हैं, क्योंकि बलवान बनाना एक सुधार है तो आप जरूर समाजको उतने ही अंशोंमें मूर्ख भी बना देंगे। मूर्ख बनाये बिना आप समाजको बलवान नहीं बना सकते। कमजोर बनाये बिना आप समाजको बुद्धिमान नहीं बना सकते। पर हम कभी समाजको बलवान देखना चाहते हैं और कभी बुद्धि-मान। इसलिए बिगाड़-सुधार का सिलसिला बराबर चलता रहता है।

घरोंमें आये दिन औरतें अपनी सोनेकी आरसी तुड़वाकर कंगन बनवा लेती हैं। पता नहीं कंगन-रूपी सुधार आरसी के रूपको बिगाड़ कर ही क्यों बनाया गया ? दलील की खातिर हम यह भी मान लें कि वह नया पाँसा तुड़वा कर ही बनवाया गया पुरानी आरसी से नहीं। पर पाँसा क्या खुद सोनेका सुधरा हुआ रूप नहीं था ? कंगन चोरके हाथ पड़ कर जब सराफकी दूकानपर पहुँचेगा, तो उस कंगनको सुधरे रूप पाँसेकी शकलमें आना होगा। तभी तो वह सराफकी आलमारीमें जगह पानेके योग्य हो सकेगा। संभव है इस नये संस्कारमें उसे कुछ टोटा भी भुगतना पड़े।

समाज-सुधारक बुरा न मानें। वे यह खूब समझ लें कि वह समाजका बिगाड़ किये बिना कोई सुधार नहीं कर सकते। समाज-सुधारक अगर सोलहों आना सुधारक है तो सोलहों आना बिगाड़क भी है, जितना कम सुधारक होता है उतना ही कम वह बिगाड़क भी। उजाले और अँधेरे पाखमें चाँदनीके घंटे एक बराबर होते हैं पर न जाने क्यों हम एक पाखको अच्छा और दूसरेको बुरा कहते हैं ? संभव है कुछ ऐसे लोग भी हों, जो अंधेरे पाखको अच्छा और उजाले पाखको बुरा समझते हों। जो अँधेरे पाखको अच्छा समझते हैं वे कौन हैं उनसे आप खूब अच्छी तरह वाकिफ हैं।

एक बार एक अँगरेज़ और फ्रांसीसीमें वाद-विवाद हो गया। अँग्रेज बोला—"हमारा राज बड़ा।" फ्रांसीसी बोला—"हमारा राज बड़ा"। अंग्रेज बोला—"तुम्हारा राज कैसे बड़ा ?" फ्रांसीसी बोला "हमारा राज बहुत अच्छा है। तुम बताओ तुम्हारा राज कैसे बड़ा ?" अंग्रेजने कहा—"हमारा राज सारी दुनिया

में फैला हुआ है। हमारे राजमें सूरज कभी नहीं डूबता।" फ्रांसीसी बोला—"यह तो कोई अच्छी बात नहीं है। खुदा तुम्हारे राजमें सूरज इसलिये नहीं डूबने देता कि तुम चोर हो। अंधेरा हो जायगा तो चोरी करोगे।" अंग्रेज बिगड़ कर बोला—"तब मैं यह कहूँगा कि हमारे राजमें हमेशा अंधेरा रहता है और कहीं चोरी नहीं होती।" फ्रांसीसी बोला—"तब मैं यह कहूँगा कि खुदाने तुमको किसी पहली चोरी की सजा दी है। तभी तो तुमको हमेशा अंधेरे में रखता है।" हम इस कहानीसे पाठकोंके दिलमें यह बात बैठाना चाहते हैं कि समाज-सुधारक जाने-अनजाने समाजका बिगाड़ कर जाता है। अगर उसे यह मालूम हो जाय कि वह बिगाड़ कर रहा है तो शायद वह समाज-सुधार की बात सोचे भी नहीं।

समाज-सुधार या समाज-सुधारकका आदर्श क्या होना चाहिये? इसके जवाबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि आदर्श कहते किसे हैं?

हम तो आदर्शकी यह परिभाषा मानते हैं—"किसी कामका आदर्श उस कामकी वह काल्पनिक अवस्था है, जहाँ तक कभी नहीं पहुँचा जा सकता।"

आप पूछेंगे कि वह आदर्श ही क्या जिस तक न पहुँचा जा सके? हम उसके जवाब में कहेंगे कि वह आदर्श ही क्या जिस तक हम पहुँच जायँ? क्योंकि आदर्श तक पहुँचने पर हमारे पास करनेको कुछ रह ही न जायगा और वह हालत ऐसी हालत होगी, कि हम चेतनसे जड़ बन जायेंगे हमारे ऋषियोंने मुक्तिको आदर्श माना है। क्या दुनियामें कोई मुक्त जीव मिलता है? मुक्त-जीव तो सुनने-पढ़नेकी चीज है, देखने छूनेकी नहीं। वास्तवमें मुक्ति या तो कभी मिलती ही नहीं या फिर वह हर क्षण मिलती रहती है और वह मुक्ति जिसको ऋषियोंने आदर्श माना है अगर किसी को मिल भी जाय, तो दुनिया की अपेक्षा वह कोरा ठूँठ बन कर रह जाय, ठूँठ। पर मुक्तिके किसी आदर्शने सैकड़ोंको भला आदमी बना दिया, हजारोंको बड़े काम का साबित कर दिया, लाखों करोड़ोंका भला कर रहा है; पर आदर्श ऐसा है, कि जिस तक कभी नहीं पहुँचा जा सकता।

चाँदको निशाना बनाकर तीर फेंकने से ही तीर पूरे जोर से फेंका जा सकता है, चाँद तक तो तीर कभी पहुँच ही नहीं पाएगा।

सुधार का आदर्श क्या हो? यह बात कभी किसीने नहीं सोची। हमें नहीं पता पर हम तो अपने लेखको आगे हरगिज न बढ़ने देंगे जब तक सुधारका आदर्श तय न कर लें। बिना आदर्श हम बढ़ें भी किस ओर? और फिर ऐसी दुनियामें जहाँ हर सुधार एक बिगाड़को जन्म दे देता है। क्या इसी विचारसे बुद्ध-भगवानने मध्यम-मार्ग पसंद किया था? क्या अब आठ आना सुधार और आठ आना बिगाड़ के लिये छोड़ दें ताकि बिगाड़-सुधार का समतोल बना रहे? यानी अगर समाजमें दस-लाख पहलवान हों, तो दस लाख ही बुद्धिमान तैयार किए जायँ, दस लाख साधु-पुरुष हों, तो दस-लाख ही चोर डाकू तैयार किये जायँ? पर यह सब हमारे ही तैयार किये हुए हों, अपने आप उठ खड़े हुए न हों। हम खेती हिसाबसे करते हैं पर प्रकृति खेती बे हिसाब करती है। हम ऐसा कह सकते हैं—प्रकृति देवी ऐसा नहीं कर सकती। प्रकृति देवीका हिसाब वही जाने, वह जरूर सब कुछ किसी न किसी हिसाबसे ही करती होगी। उसके हिसाब

का हमें पता नहीं । इससे हमें लेना-देना भी क्या ? हमें तो समाजको अपनी आँखों ही देखना, उसी हिसाबसे बिगाड़-सुधार और आदर्श तय करना होगा ।

समाज-सुधारके आदर्श निम्न लिखित हो सकते हैं :

१. सुधरे हुए समाजमें कोई अविवेकी न हो ।

२. सुधरा हुआ समाज शासन-विहीन हो यानी उस पर कोई सरकार न हो ।

३. अराजकता ही राजकता का रूप लेले

३. विवाह जैसी प्रथाका अंत हो जाय, फिर भी यौन-उच्छृंखलता न हों ।

४. अस्पताल, स्कूल, अनाथालय, धरमशाला नामके लिये भी न हो ।

५. सोलह बरसकी उमरके बाद चोटके सिवा किसी बीमारीपर ध्यान नहीं दिया जाय ।

६. नौ बरसकी उम्रके बाद बच्चे दवा लेना पसंद न करें । बारह बरस की उमरके बाद वैद्यकी मदद लेना बुरी नजरसे देखा जाय ।

७. जब सरकार नहीं होगी तो अदालतें भी नहीं होंगी ।

८. कोई दो आदमी अपने झगड़ेको किसी तीसरेसे चुकानेमें बहुत शरम मानेंगे खुद ही अपना झगड़ा निपटा लेंगे ।

९. मादरज़ाद नंगा रहना कोई अनोखी बात नहीं समझा जाये ।

१०. अपढ़ शायद कोई भले ही मिल जाय, नासमझ और अज्ञानी ढूंढ़े न मिले ।

११. दुबले-पतले मिलें पर निर्बल कोई न हो ।

१२. आम तौरसे आदमी दो संतानोंसे संतोष माने पर एक घरकी आबादी पाँचसे ज्यादा हरगिज़ न मिले, ।

१३. पच्चीस बरस तक आदमी बचवा ही समझा जाये और बच्चोंकी तरह रहनेकी उसे छूट होगी ।

१४. कोई किसीका नौकर न हो

१५. जब सरकार ही न होगी, तब मौतकी या दूसरी सज़ायें भी नहीं होंगी ।

१६. गुरुजन सज़ाका काम "हा" जैसे शब्दोंसे लिया करें ? हर एक आदमी "हा" सुनकर इतना दुःख माना करेगा जिसका ठिकाना न होगा । "धिक" शब्द तो उसकी जान लेनेके लिए काफी हो ।

१७. धर्मका कोई नाम न होगा । धर्मग्रंथ न होंगा । उनकी जरूरत ही नहीं होगी । मंदिर न हों । उनकी जगह अजायबघर बन चुके हों ।

१८. भगवानकी जगह सत्य और भगवानकी खोजकी जगह सत्यकी खोज ले लें ।

अब हमारे आदर्श साफ़ हैं । हमारे प्रयत्न अब उसी ओर होंगे । हम अपने अपने चरित्रको उसके अनुरूप ही ठीक-ठीक संगठित करके , विश्व-नागरिकताकी नींव डाल सकेंगे ।

सुधारका मतलब है—समाजका हर तरह आज़ाद होना । समाजके आज़ाद होने का मतलब है—व्यक्तिका हर तरह आज़ाद होना । आज़ाद व्यक्तियोंका ही आज़ाद समाज बन सकता है । अब समाज-सुधार व्यक्ति-सुधारके सिवा कुछ नहीं है ।

सुधारकोंको यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यक्तिके बिगाड़े बिना समाज-रचना नहीं

हो सकती। आजकी ईंटका नाम है "गुम्मा" ईंट। पुरानी ईंटोंका नाम होता था --"ककैया" ईंट। आजकी ईंट स्कूलसे निकले हुए लड़केकी तरह सब एक-सी होती हैं। पहली ईंटें घरमें पले बच्चेकी तरह होती थीं। हर एकका अपना रूप होता था। कभी-कभी रंग भी भिन्न होता था। मकान बनानेमें गुम्मा ईंट तकको कहीं न कहींसे छीलना, काटना होता है, तोड़ना-फोड़ना होता है। ककैया-ईंटोंमें तो हर एक ईंटको छीलना और बहुत-सी ईंटोंको तोड़ना-फोड़ना पड़ता था तब कहीं सुन्दर मकान बन पाता था। जिस तरह मकान बनानेमें ईंटोंको बिगाड़ना पड़ता है, वैसे ही समाजका भवन बनानेमें व्यक्तिको बिगाड़ना पड़ता है।

ईंटोंमें अगर जान होती, तो वे न तो आसानीसे छिल सकतीं, न टूट-फूट सकतीं। टूटने-फूटनेका अर्थ है मरना। ठीक इसी तरह यदि व्यक्तिका बस चले, तो समाज-भवन में लगनेके लिये कभी बिगड़ना पसंद ही न करे। यह कह सकते हैं कि व्यक्ति कभी नहीं चाहता कि समाजकी रचना हो और जब व्यक्ति समाज-रचनाकी बात सोचता है, तो कभी यह नहीं चाहता कि वह सुधरनेके लिये बिगड़े। असलमें होता यह है कि उसमें अहंकार जागता है। अहंकारका जागना एक प्रकारका आत्म विकार ही है। पर इस आत्म-विकृतिका ही अगर ध्यान रहे, तो वह समाज-रचनाकी बात भी न सोचे। नशेमें चूर व्यक्ति जिस तरह अपनेपनको भूलकर ऐसे-ऐसे काम कर डालता है, जो दूसरों की नजरोंमें गिरे हुए माने जाते हैं पर वह खुद उन कामोंको गिरा हुआ नहीं समझ पाता। अगर गिरा हुआ ही समझे, तो करे क्यों? ठीक इसी तरह अहंकारी व्यक्ति जब अपनी आत्माको विकृत करके समाज-रचनाकी बात सोचता है, तो समाज रचनाका अर्थ हो जाता है--"सारे समाजका एक आदमीके काबूमें आ जाना।" इसी बातको नासमझ समझदार कवि एक सूतमें माला पिरोनेसे उपमा देते हैं। यह किससे छिपा है कि मोती मालामें आनेसे पहले ही अपनी शान खो चुका होता है--अपना पेट फड़वा चुका होता है। इसलिए व्यक्ति समाज-मालामें पिरो जानेसे पहले अपना बहुत-कुछ नुकसान कर चुका होता है।

व्यक्तिने इतनी तकलीफें यूँ ही नहीं भुगतीं। अलग-अलग उसका जीवन खतरेमें था। उसने इसलिए अपने सिरपर राजाका बोझा उठालिया। यह बोझा आज तक उसके सिरपर रक्खा है। आज तो हाल यह हो गया है कि वह अपने सिरसे एकको हटाता है, तो दो सवार हो जाते हैं, दोको हटाता है, तो चार। मानों उसे शहदकी मक्खियोंके झुण्डने घेर रखा हो। और व्यक्ति है कि अपनी झूठी तालीमके नशेमें इसमें रह ले रहा है। उसको अच्छा समझ रहा है।

क्या समाज-सुधारक हमें यह बता सकते हैं कि जो कुछ वह करते हैं, वह सुधार है या बिगाड़? अगर उन्हें हमारे आदर्श स्वीकार्य नहीं हैं, तो वे अपने आदर्श बतायें। ताकि हम देखें कितने व्यक्ति इन आदर्शोंपर जान देनेके लिए तैयार होंगे।

मूर्ख होते तो कई तरहके हैं पर सुधारमें काम करनेवाले दो तरहके मूर्ख आपसमें में खूब लड़ते हैं एक है--प्राचीन मूर्ख; दूसरे हैं--अर्वाचीन या नवीन मूर्ख। प्राचीन मूर्ख जो-कुछ करते हैं, वे यह कहकर करते हैं कि "सदासे होता चला आया है।" ये कहलाते हैं रूढ़िवादी। इनको वे लोग बुरा कहते हैं, जो सुधारक या सुधारक-भक्त होते हैं,।

दूसरी ओर अर्वाचीन मूर्ख जो कुछ करते हैं यह कहकर करते हैं कि वह बात पुरानी हो गई। आजके लिये जरूरी नहीं। इसलिये उसकी जगह यह नई बात करो।" यह कहलाते हैं सुधारवादी। रूढ़िवादियोंके लिए क़ानून है प्रथा। सुधारवादियोंके लिए कानून है नवीनता। उदाहरणार्थ —विवाहके अवसरपर पूजाके लिये गणेशजी तैयार किये जाते हैं। पीली मिट्टीके डलेपर कलाबा लपेट दिया जाता है; बस गणेशजी तैयार। ये हैं रूढ़िवादी गणेश। अब लीजिये, सुधारकोंके गणेशजी। मैंगनीज़ या भुसपर अगर रेशमका डोरा बँधा हो, तो सुधारकोंको कोई एतराज न होगा। अगर कोई बहुत ऊँचे दर्जेके सुधारक हुए, तो वह अक्लका बहुत जोर लगाकर रामायणके चारों तरफ कलावा लपेटकर गणेशजी बना लेंगे। अब कहिये इन सुधारवादियों और रूढ़िवादियों में क्या अंतर हुआ?

यह बात सुनकर हमारे पाठक कहते होंगे ये क्या उदाहरण है? कहाँ लंबी-चौड़ी शादियाँ और कहाँ सिविल-मैरेज? सिविल मैरेजमें कहाँ होते हैं गणेशजी? कहाँ होता है हवन? कहाँ होते हैं फेरे? कहाँ होती है बरात? यह सब सुधार नहीं तो क्या है? जी हाँ, आप ठीक बिगड़ रहे हैं पर मैं तो देख रहा हूँ कि हमारे सिरसे अगर ब्राह्मण का जूता हटा, तो सरकारका जूता आ गया और आज नहीं तो कल इसी सिविल-मैरेज में वे शाखें फूटेंगी, जो सँभाले न सँभलेगी? अभी सिविल-मैरेज होती ही कितनी हैं? लाख पीछे एक भी तो नहीं। हम अपनी आँखों ही देख रहे हैं, जो मिलें हमें सस्ता कपड़ा देने आई थीं वे आज हमें अधनंगा रख रही हैं। जो नहरें हमारे खेतोंकी पैदावार बढ़ाने आई थीं, वह आज करोड़ोंको अधपेट बनाए हैं। इसी तरह ये सिविल मैरेज इतनी खर्चीली होकर रहेंगी कि हम पुरानी-शादियोंको याद करने लगेंगे क्योंकि सिविल-मैरेजसे उस डंकके निकालनेकी कोशिश नहीं की गई, जो व्यक्तिके सिरपर रहता है। वह है बंधन। हम रूढ़िमें फँसकर सिरसे पैर तक इतने रूढ़िवादी बन गये हैं कि हमारा हर सुधार रूढ़िके बीज लिए हुए होता है। रूढ़िसे ही जन्मा होता है। इसका कारण यह है कि हमारे सामने कोई आदर्श नहीं होता।

समाजका आदर्श हमने ऊपर बहुत विस्तारके साथ लिख दिया। जिसके मनमें हमारा यह आदर्श अपनी जगह बना लेगा, उसमें एक खास तरहकी ताक़त पैदा हो जायेगी। उसका ज्ञान साफ़ हो जायगा। सुधारका मार्ग उसके लिये सीधा हो जायगा। अव्वल तो उसमें भूलें होंगी ही नहीं, अगर हुई भी, तो वे भूलें अपनेआप सुधर जायंगी। वह अपने काममें इतना संलग्न होता है कि अपने आपको ही भूल जायगा। उसे हमारे आदर्श तक पहुँचनेके रास्ते आसानीसे मिल जायेंगे।

हम आदर्श सुधारकमें वे बातें पैदा कर देंगे कि वह मानव समाजको एक समझने लगेगा। उसके लिए अगर कोई पराया है, तो वह है मानवेतर, यानी पशु-पक्षी इत्यादि। मानव-प्रेमके सामने पशु-पक्षी प्रेमको दूरसे ही प्रणाम करना चाहिये। जो सुधारक पशु-प्रेममें फँस गया वह समाज-सुधार क्या कर सकेगा? गायके बेजा प्रेमने मनुष्य-समाजमें क्या-क्या गज़ब ढाये हैं, इससे कौन वाकिफ़ नहीं है? बिल्लीकी पूजा ने मिस्र देश-वासियोंका कितना नुकसान किया इससे कौन अपरिचित है? सूअरके द्वेषने जो-जो टंटे खड़े किये वे किससे छिपे हैं? ईंट-पत्थरके बने मंदिर मसजिदोंने

आदमियोंका कितना खून बहाया—इसकी कोई गिनती हो सकती है ? पत्थरकी मूर्त्तियोंने आदमीसे कितने नाकों चने चबवाये इसका कहीं लेखा-जोखा है ? सुधारक, सुधारक तब तक नहीं हो सकता जब तककि वह इस सब इतिहासका ज्ञाता न हो।

अब सुधारकको यह मालूम हो गया होगा कि समाजमें क्या करना है ? उसका काम है कि मानव-प्रेमको शुद्धसे शुद्धतम और शुद्धतर बना दे। ऐसा करनेके लिए उसे मानवके हृदयसे पर-प्रेम यानी पशु, पक्षी, वनस्पति और जड़-प्रेमको कम से कम और बहुत ही कम कर देना होगा। यह ठीक है कि वह प्रेम मिटाये न मिट सकेगा पर सुधारकको तो कर्मोंका सर्वनाश करके अपने जीवको मुक्त करनेवाले मुनिकी तरह, मानवेतर प्रेमको समाजके व्यक्तियोंसे पूरी तरह मिटानेमें ही लगना पड़ेगा—उसे यह सोचने का अधिकार नहीं है कि यह प्रेम मिटाये नहीं मिट सकता।

सुधारक आमतौरसे समझौतेपर उतर आता है, यह बुरी बात है।....समझौतेके लालचसे बड़े-बड़े ऋषि मुनि न बच सके। समझौतेका अर्थ है, उच्च आदर्शोंसे गिर जाना। सौ बरस जीनेवाला आदमी तत्कालीन सफलताकी ख़ातिर आदर्शोंसे गिर जाना पसंद करता है। हम आज तक एक भी ऐसा महापुरुष पैदा नहीं कर पाये, जो आदर्शोंसे गिरा हुआ न हो। हमारी यह बात सुनकर हमारे पाठक बिगड़ उठेंगे पर हम सच बात कहनेसे कैसे चुप रहें ? यह हमारे महापुरुषोंके समझौतेका ही तो फल है कि हममें से कुछ लोग हिन्दू हैं और कुछ मुसलमान। हममें से कुछ शिया हैं कुछ सुन्नी, कुछ आर्य समाजी हैं, कुछ सनातनी,कुछ जैनी हैं तो कुछ श्वेताम्बरी, कुछ दिगम्बरी, कुछ शैव हैं तो कुछ शाक्त। यह सब समझौते का ही फल है। ये सब सम्प्रदाय हैं—विजयकी आकांक्षाके बच्चे। भले ही हमारे महापुरुषोंने अपनी पूजाकी बात कभी मनमें नहीं सोची हो, न कभी मुँह से कही हो, न कभी इस ओर इशारा ही किया हो। फिर भी उनके अंतस्तलमें पूजाकी आकांक्षा थी। नहीं तो वह पुजते ही नहीं। मोहम्मद साहबके जीमें अपनी मूरत पुजवानेकी बात कभी न आई, तभी तो इनकी मूरत नहीं बन पाई। रसूल कहलवाने की आकांक्षा थी, इमाम बननेकी आकांक्षा थी, बादशाह बनने की आकांक्षा थी, तभी तो ये सब चीजें मुसलमानों में मिलती हैं। जिस तरह और महापुरुषोंने समझौता किया, उसी तरह मुहम्मदसाहबने क़दम-क़दमपर समझौते किये और समझौता करना आदर्शसे गिरना ही है। हम तो यहाँ तक कहनेके लिये तैयार हैं कि अगर संसारने अवतारों, महापुरुषों, रसूलों, पैग़म्बरों, नबियों और संतोंको जन्म न दिया होता, तो आज सभ्य समाजमें वैसी मारकाट देखने को कभी न मिलती जैसी हिन्दुस्तान सन् १९४७ में देख चुका है। हम जंगली हालत में होते तो क्या था ? नागा या एक्सिमों भी तो आपसमें बड़े प्यारसे रह लेते हैं।

महापुरुष हममें जन्म लेकर आखिर क्या कर जाते हैं किसीने यह भी सोचा ? महापुरुषों की जिंदगी का आदर्श क्या होता है—क्या किसीने कभी इस बातका भी जवाब ढूंढ़ा ? महापुरुष इतना बड़ा त्याग किसलिए करते हैं, क्या किसीने इसका कारण भी जाननेकी कोशिश की ? महापुरुषका दूसरा नाम क्या हो सकता है ? "महापुरुष" में से यदि "महा" हटा दिया जाय, तो "पुरुष" का क्या मतलब रह जाता है ? सुधारकको इन सब सवालोंका जवाब देना होगा।

हम पिछले सवालको सबसे पहले लेते हैं महापुरुषका दूसरा नाम है—"महासुधारक" उत्तरप्रदेशमें कोई भी ब्राह्मण अपनेको "महाब्राह्मण" कहलाना नहीं पसंद करता। "महाब्राह्मण" का उत्तरप्रदेशमें दूसरा नाम है—"कट्या"। कट्या उसको कहते हैं जो मुर्देका कफन लेते हैं। इसी तरह हो सकता है कुछ लोगोंको "महासुधारक" शब्द महापुरुषकी शान घटाता मालूम हो, पर इस देशमें ऐसा होना नहीं चाहिये। जिस देशमें 'रसोइया-महाराज' और 'पानी-पांडे' जैसे शब्द प्रचलित हों वहाँ "पॉलिश-पांडे" शब्द भी खप सकता है। इन नामोंकी जड़में भी एक मार्केका इतिहास छिपा है। ये सब शब्द समाज-सुधारकोंकी देन हैं। इसीसे मिलते-जुलते शब्द भंगियोंके लिये "मेहतर" है, कुम्हारोंके लिये "प्रजापति", चमारोंके लिये "भगत" गड़रियोंके लिये "चौधरी" इत्यादि हैं। अब तो शायद हमारा "महासुधारक" शब्द नहीं खटकेगा। अब पुरुष का अर्थ रह गया सुधारक। और पुरुषका अर्थ है मायाका मालिक। माया का दूसरा नाम है चालाकी। इसलिये हर सुधारकको चालाक और कांइयाँ होना चाहिये और वह होता भी है।

वैज्ञानिकोंका कहना है कि कबूतर कबूतरीका जोड़ा या दोनोंमें से कोई एक अगर किसी जगह घूम आयें तो उनका बच्चा बिना रास्ता दिखाये अपने-आप वहाँ जा और आ सकता है। यह गुण उसे विरासतमें मिलता है। वह रास्ता जानता है पर क्यों, यह नहीं जानता। अभिमन्युने चक्रव्यूहमें घुसना माँके पेटमें ही सीखा था। इससे हम कहना यह चाहते हैं कि हमारे त्यागोंकी तह में, बिना जाने हुए भी ग्रहण की भावना मौजूद रहती है। हम भूखे रहकर सच्चे जी से अपनी नज़रों और दुनियाकी नज़रोंमें तपस्या जरूर करते हैं, महीनों नहीं खाते पर हमारे बिना जाने हमारे अंतस्तलमें यह बात मौजूद रहती है कि इस लंबे-चौड़े उपवासके बाद हमारी देह निर्मल हो जायेगी। हमारी उम्र लंबी हो जायगी; हमारी देहका वज़न बढ़ जायगा। हम पहलेसे ज्यादा स्वस्थ और ज्यादा खुश रहेंगे। इस तपस्यासे जो पूजा हाथ आयेगी, जो प्रतिष्ठा हाथ लगेगी वह घातेमें। अब हमें कोई बताये कि महापुरुष तपस्या करके या भूखों रहकर एहसान किस पर करते हैं? पच्चीस-पच्चास या सौ-बरसकी तपस्याके बाद भी अगर महापुरुषोंको अनन्तकालका परमात्म-पद मिल जाय तो क्या यह भी कोई टोटेका व्यापार है? लाखों बरसोंका बिगड़ा हुआ मनुष्य सौ-दो सौ वर्षमें ठीक नहीं हो सकता और वह भी सिर्फ एक जन्ममें? एकके बाद दूसरा जन्म तो तपस्याके लिए मिलता हुआ सुना नहीं गया वहाँ तो तुरन्त उधार चुका दिया जाता है। परमात्मा नहीं बनाया जाता तो देवता बनाकर उसे स्वर्ग भेज दिया जाता है। यह लालच आदमीको न दिया गया होता तो क्या कोई राज-पाट छोड़ता?

महापुरुषकी जिन्दगीका क्या आदर्श है यह एक ऐसा सवाल है, जो हमेशा पूछा जाता रहेगा। और उसके जवाबमें जो कुछ भी कहा जायगा उस सबका निचोड़ हमेशा एक ही रहेगा, शब्द चाहे भिन्न रहें, दुनियाके सारे धर्म, सारे संप्रदाय तभी तो जड़में एक और कर्मकांड में भिन्न हैं। जिस तरह गायके रंगसे दूधके रंगमें अंतर नहीं आता, वैसे ही शब्दोंके आडम्बरसे आदर्शके निचोड़में कभी कोई अंतर नहीं आता।

महापुरुष आदमी ही होते हैं और मेरी रायमें मामूली आदमीसे भी ज्यादा मामूली, होते हैं ज्यादा भोले होते हैं, तभी तो उनको दुनियाकी बहुत मामूली बातें अनोखी मालूम होती हैं। अनोखेपनका कारण सबने मूर्खताको ही बताया है। अचरज मूर्खताका ही प्रभाव है, इसी कारण बच्चे मामूली-सी घटना देखकर हँस देते हैं, उछलने कूदने लगते हैं, रो देते हैं—बेहोश हो जाते हैं। रोज ही दुबले-पतले आदमी सड़कोंपर फिरते रहते हैं क्या किसी बालकने उन्हें देखकर अचरज माना? सफेद बालों वाले, कमर झुके, हाथमें लाठी लिये बूढ़े-बुढ़िया रोज ही चलते-फिरते दीखते हैं, क्या किसीने इन्हें देखकर अचरज किया? गली-गलीसे रोज़ ही तो मरे हुए लोगोंकी अर्थियाँ निकलती हैं, क्या किसी स्कूल जानेवाले बच्चेने उसपर ज्यादा ध्यान दिया? अगर कोई ऐसा बालक निकले, जो ऐसी बातों पर बहुत ज्यादा ध्यान दे और अचरज करे तो उसके साथी विद्यार्थी उसे निरा मूर्ख ही समझेंगे, और ऐसा समझने में वे कोई भूल नहीं करेंगे। आप खुद स्कूल जाकर देख लीजिये। इस तरहका लड़का अपनी क्लासमें हमेशा पीछे बैठा और अध्यापककी नज़रोंमें गिरा हुआ मिलेगा। हमारे अपने युगके महापुरुष गांधीजी भी अपनी क्लास में निरे बुद्धू थे और इसी आधारपर हम ये कहेंगे कि बुद्धभगवान भी ऐसे ही बुद्धू रहे होंगे।

जिस तरहका अचरज महापुरुषोंको होता रहा है वैसा हम सबको नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। हम सबको भी होता है और हम उसे व्यक्त करना अपनी शानके खिलाफ समझते हैं। इन बाल-महापुरुषोंको इतना भी स्वाभिमान नहीं होता या यों कहिये कि इतना भी ज्ञान नहीं होता कि कौन बात कहनेकी है और कौन न कहनेकी। फिर क्या बात है कि हम सबमें से सैकड़ों-हजारों बरस बाद कभी कोई एक महापुरुष बन पाता है?

यूँ तो इस सवालका जवाब बहुत सीधा है कि समाजको ऐसे महापुरुषोंकी जल्दी या ज्यादा संख्यामें जरूरत नहीं होती। असलमें यह सम्मान तो उसीको प्राप्त होता है, जो सच्ची लगनके साथ अपना सारा जीवन अपने आदर्शकी खोजमें लगा दे। मनुष्य के दो आदर्श हो नहीं सकते। कोई महापुरुष ऐसा आदर्श बना ही नहीं सकता जिसे दूसरे लोग आदर्श न मानते हों। यह कोई बड़ी बात नहीं है। आदमी का आदर्श दुखसे बचनेके सिवाय और हो ही क्या सकता है? सब तरह सुखी होना ही आदर्श है। जो सब तरह सुखी है वह सबसे बलवान, सबसे ज्ञानी होगा ही....।

क्या अब यह साफ़ नहीं हो जाता कि जो इस दुनियामें सबसे ज्यादा सुखी होना चाहता है वह यह भी चाहता ही है कि सबसे बड़ा, सबसे धनवान, सबसे ज्ञानवान, सबसे बलवान, सबसे प्रतिभाशाली और सबसे स्वस्थ हो। अब कहिये इतनी चीजें ख़रीदनेके लिये कौन आदमी अपना सर्वसुख त्यागनेको तैयार न होगा? इस दाँवपर तो कर्ज़ा करके भी धन लगा देगा। महाभारत कारने युधिष्टिरको जुआ खिलाकर महापुरुषोंका अच्छा ख़ाका खींच दिया है,। व्यासजीने द्रौपदीसे यह कहलवाकर कि जो आदमी जुएमें ख़ुदको हार चुका हो उसे दूसरेको दाँवपर लगानेका कोई हक़ नहीं रह जाता, यह साफ़ कर दिया है कि महापुरुष कितने हठी और अन्यायी होते हैं। युधिष्ठिर अपनेको हारकर और दास बनकर भी अपने राजापनेको नहीं भूल पाते। यही हाल जर्मनीके विलियम कैसरका था। वह गद्दीसे उतार दिया गया था फिर भी रोज़ राजा होनेका नाटक किया करता था और बेमतलब दस्तखत करके राजापनेकी प्यास बुझाया करता

था। अपने युगके राष्ट्रपिता गाँधीजीको ले लीजिये। वे कांग्रेसके चवन्नी वाले मेंबर भी नहीं थे, पर कांग्रेसका सभापति पद अपनी जेबमें डाले फिरते थे। जिसको चाहे सभापति बना सकते थे। बड़े-बड़े ज़िम्मेदारीके काम कांग्रेसकी तरफसे अपने सिर ओढ़ लेते थे और मौक़ा पड़नेपर ऐसे साफ़ निकल जाते थे मानों वे कांग्रेसके कुछ हैं ही नहीं। कहते हैं जल में कमल-पत्रकी तरह रहो और यह कहावत है इसलिए कि जलकी बूँद कमल-पत्रको गीला नही करती यानी कमलपत्र जलकी बूँदसे जरा-सी भी नमी नहीं लेता। कितना वीतरागी है? पर क्या कभी किसीने सोचा कि उस कमल-पत्रका पेट पानीसे इतना भरा हुआ है कि उसमें बूँदकी नमी सोखनेके लिए भी जगह नहीं है। सोखे तो उलटी होजानेका डर है। बस हमारे महापुरुष इसी तरहका "जल-में-कमल" वत् जीवन विताते थे। राजपथको छोड़कर राजाओंके राजा बन जाते थे। नंगे होकर सैकड़ों को नंगा बनानेकी ताक़त पा जाते थे। टोटेमें कहाँ रहते थे? जो उनका आदर्श था वह यही तो था जो हम-तुम सब चाहते हैं। आदर्शके लिहाज़से महापुरुष और हममें कोई अंतर नहीं। हम भी सुखी होना चाहते हैं—वह भी सुखी होना चाहते थे। किसी भिखारीने किसी धनवानसे बिगड़कर अच्छी चुटकी ली है—

"तेरा दुशाला मोलमें भारी,
तो मेरा कम्बल तोलमें भारी"

महापुरुष हमारे बीचमें जन्म लेकर क्या कर जाते हैं? इस सवालका जवाब अपढ़ भी दे सकता है और विद्वान भी। मूलमें दोनोंके जवाब एक ही होंगे। यहाँ सवाल यह नहीं है वे क्या-क्या काम कर गए? हम तो उनके कामोंका फल जानना चाहते हैं। किसी चीज़की जाँच करनेके लिये दूसरी चीज़ से तुलना ज़रूरी होती है! तभी दोनों चीज़ोंके अन्तरका पता लग सकता है।

आज कलके वैज्ञानिक कुछ जानवरोंको खास-खास चीजें खिलाकर देखते हैं कि दो जानवरोंका अलग-अलग चीज़ें खाकर क्या हाल रहा? अपने इन्हीं नतीजों को दुनियाके सामने रख देते हैं।

आइये, हम भी परीक्षा भवनमें प्रवेश करें, एक ऐसे समाजको लीजिये जिसने अपने मैं एक ही महापुरुषको जन्म दिया और एक ऐसे समाजको लिजिए जिसने अब तक किसी महापुरुष को जन्म ही नहीं दिया और फिर दोनोंके आज तकके कृत्योंकी जाँच करके देखिये क्या नतीजा होता है? उदाहरण के लिये यहूदी समाजको लें इसने ईसाको जन्म दिया। हजरत ईसाका सिद्धांत था तुम्हारे गालपर अगर कोई चपत मारे, तो दूसरा गाल भी थप्पड़के लिये उसकी तरफ फेरदो और आज उन्हींके अनुयायी हैं, जो हिरोशिमापर ऐटम बम गिराकर लाखों जानें चट कर गये। अब इसीके मुक़ाबलेमें लीजिये टुंड्राके रहनेवाले ऐक्सिमो, नागा पहाड़ियोंके रहनेवाले नागा या और जगहके आदिवासी। क्या किसीने भी अपनी या पराई जातिपर ऐसे अनहोने जुल्म ढाए हैं?

महापुरुषोंके अनुयायी इतने क्रूर क्यों बन जाते हैं? क्या इसमें महापुरुषों का हाथ बिलकुल नहीं होता? मेरे ख़यालसे सौके सौ फ़ीसदी यही चिल्लाकर कह बैठेंगे कि इसमें महापुरुषों का क्या दोष? उन्होंने तो ऐसा कभी नहीं सिखाया। उनकी कही

हुई किताबके किसी भी शब्दसे टेढ़े सीधे ऐसे अर्थ निकलते ही नहीं कि लड़ाईमें लाखोंकी जान ले लो। फिर इसमें महापुरुषका क्या दोष?

धर्मके रंगमें चूर माँ या बाप अपने एक बच्चेको उपवासके फलका सब्ज़बाग़ दिखला कर उसे उपवासके लिये तैयार करते हैं। लड़केकी उम्र बारह बरसकी है। वह बहकावेमें आ जाता है। उपवासकी प्रतिज्ञा ले बैठता है। दोपहरके बारह बजेके बादसे ही उसके पेटमें खुदबुद शुरू होती है। खाना माँगना या खाना वह अपनी शानके ख़िलाफ समझता है। थोड़ी देरमें प्यास भी जाग जाती है। अब तो वह और भी घबराता है। उसमें सूझ-बूझ जागती है। पानीकी पट्टी पेटपर रख कर प्यास बुझानेकी कोशिश करता है। धीरे-धीरे यही पट्टी छाती तक पहुँचती है। फिर गले तक, गाल तक, ओंठ तक और जीभके अग्र-भाग तक। इसी तरह तरह-तरहकी ध्यान बँटानेकी कोशिश में लगता है। किसी तरह शामके चार बजा देता है। अब उसकी हिम्मत टूट चुकी होती है और वह चोरी पर उतारू हो जाता है। जहाँ चाह होती है, वहाँ राह निकल आती है। कहींसे लड्डू पा जाता है, खाता है। पानी पा जाता है, प्यास बुझाता है और सबकी नज़रोंमें अपने उपवासकी शान बनाये रखता है। खुलासा यह है कि वह सत्य-व्रतको लतिया देता है, अहिंसा-व्रतको भूल जाता है, अचौर्यकी खिल्ली उड़ाता है, अपरि-ग्रहको वेमतलब समझता है, शील और ब्रह्मचर्यको धता बताता है। इस तरह उपवास नामका झूठा व्रत पाँच सच्चे व्रतोंको खा जाता है! क्या इसमें बच्चेका दोष है? आप कहेंगे—"इसमें माँ-बपका क्या दोष है? माँ-बापने कब कहा था कि चोरीसे लड्डू खाना, चोरीसे पानी पीना।" पाठक हमें माफ करें, बच्चेका इसमें कोई कुसूर नहीं। सोलहों आना माँ-बापका दोष है। उन्होंने न पात्र देखा, न काल; न क्षेत्र देखा, न द्रव्य, न भाव। समाज जिस तरह रह रहा है बालकने उसीका अनुकरण किया। उसने कोई ग़लती नहीं की।

ऊपर का उदाहरण रखकर हम यह कहना चाहते हैं कि महापुरुष समाजको एकदम भलाईके पहाड़ की चोटी पर चढ़ा देते हैं। वह समय-असमय, पात्र-अपात्र नही देखते—न देख सकते हैं। वे अपने ऊपर के मनसे भले ही पूरे वीतरागी हों पर उनका अंतस्तल पूजाका भूखा होता है। वही उनके सब कामोंका प्रेरक होता है। वही उन्हें मजबूर करता है कि वह समाजको कितना ऊँचा ले जाय और ऐसी जगह ले जाँय कि जहाँ वह उनकी मददके बिना एक क्षण भी न टिक सकें और अगर वह ज्यादा जीवित रहें, तो खुद ही थककर उन्हें गिरते हुए देख सकें। महापुरुष अपने अंतस्तलसे वाकिफ नहीं होते और अगर हो भी जाते हैं, तो वे अपनी प्राप्त जगहसे हटना पसंद नहीं करते। और अगर हिम्मत करके वे अपनी जगह छोड़ भी दें, तो समाज उनको उस रोगीकी तरह छोड़ताही नहीं जिसे किसी वैद्यने एक बार चमत्कार करके बहुत स्वस्थ बना दिया हो। यों महापुरुष अपने बनाये हुए जालमें आप ही फँस जाते हैं। जो समाज भलाईके पहाड़ की चोटीपर चढ़ चुका होता है वहाँसे गिरकर वह उस वक्त तक दम नहीं लेता जब तक कि बुराईके गर्तके तलमें ही न पहुँच जाय। हज़रत ईसाके अहिंसक समाजने ये सब करके दिखा दिया। बुद्ध और महावीरके अनुयायी चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे राजा पहले ही करके दिखा चुके हैं। दयाकी मूर्त्ति मुहम्मदसाहबके अनुयायी जितने जुल्म ढा चुके

हैं वे कुछ कम नहीं हैं, नादिरशाहके कत्लेग्रामसे कोई अपरिचित नहीं है। हमारे युगके नये महापुरुष गांधीजीकी अहिंसा आज क्या रंग ला रही है और आगे क्या-क्या रंग लायेगी इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। गाँधीजीके ग्यारह व्रत किस रूपमें फल रहे हैं वे किसीसे छिपे हुए नहीं। इसमें लोगोंको भले ही अचरज होता हो हमें अचरज नहीं। हम अच्छी तरह समझते हैं। बहुत खानेके लिए ही भूखों मरा जाता है, बहुत पहनने के लिए ही नंगा रहा जाता है। बहुत मालदार बनने के लिये ही भिखारी बना जाता है। बहुत सुखकी खातिर ही तपस्या की जाती है। पर हम तो यहाँ सिर्फ यही बताना चाहते हैं कि अगर संसारने महापुरुषोंको जन्म न दिया होता, तो आज हम कहाँ होते।

ऊपरके सवालका जवाब बिलकुल ठीक तो नहीं दे सकते—अंदाजन ही बतला सकते हैं कि बिना महापुरुषोंवाले इस भारतवर्षमें चाहे आज रेलें न होतीं, बिजली न होती, बड़े-बड़े कल कारखाने न होते, पर हम भूखों न मरते होते। हाँ, हमारे यहाँ चोर-डाकू भी होते पर वे सीमित चोरी कर रहे होते लाखोंकी जाने न ले रहे होते। जिस तरह पाँच लाख हिन्दू मुसलमान मरे वैसा कभी न हुआ होता। जैसे पशुओंको शर्मिन्दा कर देने वाले कृत्य हिन्दू-मुसलमानोंने धर्मकी रूसे तुच्छ कहलानेवाले 'स्वराज'की खातिर किये वैसे कभी न होते। प्रमाणमें हम आदिम जातियोंको पेश कर सकते हैं। वे आपसमें एक दूसरेकी जान तो कभी लेते ही नहीं। हाँ एक दल दूसरे दलकी जान लेनेपर जरूर उतारू हो जाता है। पर वह मार-काट भी उस पैमानेपर नही पहुँचती जिस पैमाने तक अवतारियोंकी औलाद पहुँचती है। थोड़े-से शब्दोंमें यही समझ लेना चाहिये कि महापुरुष समाजमें इतना ऊँचा सुधार कर जाते हैं कि उस ऊँचाईके नामपर पतन का गड्ढा बिना मिहनत बन जाता है। जहाँ की मिट्टीसे ईंटोंका पजावा बनता है वहाँ पोखर अपने आप बन जाती है।

प्रकृति मनुष्य-समाजको अपने ढंगसे, अपनी चालसे आगे बढ़ाये चली जा रही है। इसकी चाल बिलकुल ठीक है। भले ही कछुएकी चाल हों मगर खरगोशसे बाजी ले जानेवाली है। समाजकी दौड़में महापुरुष हमेशा खरगोश साबित होते हैं। वे बड़ी ऊँची उड़ानें लेते हैं। खरगोशकी तरह यह समझ बैठते हैं कि अब क्या है मारली बाजी। और फिर लंबी नीद सो जाते हैं। सैकड़ों-हजारों बरस बाद जागते हैं, तो देखते हैं कि दुनिया उस समयसे निश्चय ही आगे बढ़ गई है जिस वक्त हमने जन्म लिया था और जब हमने इसको ऊँचा उठानेकी बात सोची थी, हमारा सुधार टिकाऊ न रहा। प्रकृति हमसे बाजी ले गई।

सुधारकने अब सारा नक्शा अपने जहनमें जमा लिया होगा और उसने अब समझ लिया होगा कि समाज-सुधारके काममें उसे आगे किन-किन बातोंपर ध्यान रखना होगा। समाज-सुधारमें कौन-सी चीज़ें बाधक होती हैं यह हम ऊपर गिना आए हैं। समाज-सुधारका 'स्व' क्या है और समाज-सुधारका "पर" क्या है, इसको ठीक-ठीक समझे बिना सुधारके मैदानमें क़दम उठाना बेकार होगा। इस 'स्व' और 'पर' को हम फिर दुहराते हैं कि मनुष्यके सिवा और सब तरहकी पूजा सुधार में बाधक होती है। सुधारकको उससे हमेशा दूर रहना होगा। समाज-सुधारके लिए वह हर किसीसे इस बातको लेकर लड़ता नहीं फिरेगा पर उसका समर्थन भीनहीं करेगा।

इस तरहकी पूजा महापुरुषोंको पसंद नहीं थीं, पर उन्होंने समझौता किया। इसलिये किसी समाजमें कुछ और किसी समाजमें कुछ बच रही और वह आज तक क़ायम हैं।

हज़रत मोहम्मदकी बाबत कुछ किताबोंमें लिखा है कि उन्होंने अरबके और सब सैंकड़ों देवी-देवताओंकी पूजाको नाजायज़ ठहराकर भी एक बार अरब कौमकी तीन सबसे बड़ी देवियों लात, उज़्ज़ा और मनातको आदरणीय हस्तियाँ मान लिया था। कहते हैं इस विषयकी एक आयत भी उतर आई थी। पर अगले दिन ही अल्लाहने उनसे कहा कि एक दिन पहलेकी वह आयत शैतानकी 'वही' थी अल्लाहकी 'वही' नहीं। कुरानमें उसके बाद लात, उज़्ज़ा और मनातकी पूजाको भी नाम लेकर ग़लत बताया गया। पर काबेकी दो पुरानी पहाड़ियों 'सफ़ा और मरवा' को कुरानमें भी अल्लाहकी निशानियोंमें से गिनाया गया है और इन दोनों पत्थरके तूदोंकी परिक्रमाको हज्जके वक्त जायज़ करार दिया गया है। आजतक सब हाजी ऐसा करते भी हैं।

समझौतोंका समर्थन अपने आपको धोखा देना है। सुधारकको चाहिये कि वह समझौतोंके चक्करमें न पड़े जीवन-भर सचाईपर अड़ा रहे। प्रकृतिको अपनी चालपर चलने दे। उसकी गतिको रोके नहीं। तभी वह समाजका कुछ भला कर सकता है। कोई हमसे पूछे, तो हमतो यह कहेंगे कि हमें तो ऐसे संत पसंद हैं, जो "डायोजीनीज" सिकंदर, गुरु नानक और कबीर जैसे हों। मतलब यह कि अपनी उम्रें अकेले रहकर बिता दें और कोई पंथ कायम न करें। सुधारक अगर सच्चे जीसे सुधारके काममें लगेगा और सफल होनेकी जल्दबाज़ी न करेगा,तो बड़ा ठोस काम कर जायगा। आदर्श जीवन बिताने वाला सुधारक जो किसीपर सुधारका जोर नहीं देता, जितना ठोस काम कर जाता है उतना वह सुधारक नहीं कर सकता, जो किसी नामसे एक सुधार-समाज कायम कर जाय और समझौतेके चक्करमें फँसकर एक नए कर्मकांडको जगह दे जाय। नये देवालय, मठ, मत खड़े कर जाय। सुधारक यह समझ ही नहीं पाता कि ऊपर बताई हुई बातें सुधार नहीं बिगाड़ हैं; क्योंकि वे 'पर' पूजाकी पोषक हैं समाजका 'स्व', 'पर' पूजासे कमज़ोर हो जाता है। समाजको बँधे रखनेके लिये मानव-प्रेम काफी होना चाहिये, मंदिर मसजिद नहीं। किसीका भी घर ज़रूरतके वक्त मंदिर-मसजिद समझा जा सकता है। समाजको बाँधे रखनेके लिए जब तक इन पर—चीजोंसे जरूरतसे ज्यादा मदद ली जाती रहेगी तब तक समाज उठता हुआ भी गिरता रहेगा। आज तक जितने भी महापुरुष पैदा हुए सभीने समाजको एक सूत्रमें बाँधना चाहा,पर वे अपनी एक छोटी-सी नयी माला बनाकर और एक उसमें गाँठ देकर चलते बने। पर पूजा कायम करके समाजका एक टुकड़ा और बढ़ा गये और फ़ायदेकी जगह नुकसान कर गए। सुधारकको यह तथ्य अच्छी तरह कंठस्थ कर लेना चाहिए। गांधीजीने कांग्रेस को न अपनाकर अगर नया संगठन बनाया होता तो बहुत टोटेमें रहते। शायद कुछ न कर पाते। हिन्दुस्तान को आजाद करनेके लिये बहुत-से नये-संगठन बन चुके थे, सब नाकामयाब रहे। आज भी कांग्रेससे हटकर जितने नये संगठन बन रहे हैं, राजनीतिक मैदानमें सब निकम्में साबित हो रहे हैं। वे निकम्मे साबित हों, तो हों लेकिन वे सब हिंदुस्तानी समाजमें बुद्धि-भेद पैदा करके भारतका ज़बरदस्त नुकसान कर रहे हैं। सुधारकको नई समाज-रचनाके चक्करमें कभी न पड़कर अपना आदर्श-जीवन बिताना चाहिये। उसका सुधरा हुआ

जीवन ही उसमें वह शक्ति पैदा कर देगा कि जहाँ वह जाये वहीं लोग सुधरा जीवन बिताने लगें। जिस घरमें वह ठहरेगा, वही घर सुधर जायगा। जिस जगह रहेगा उस जगह अपना प्रभाव फैला सकेगा। यह सुधरा हुआ जीवन क्या हो, इसको भी हम खोलकर बता देना चाहते हैं :

समाज सुधरना चाहता है, सुधारक पैदा करता है। सुधारक खड़े हो जाते हैं। सुधारक समाजको सुधारना चाहते हैं, पर यह कैसी अनोखी बात है कि सुधारक खुद सुधरे हुए नहीं होते। यह ठीक है कि हर तरह सुधरे हुए सुधारक तो समाजमें मिल ही नहीं सकते पर कमसे कम इतने सुधरे हुए तो हों ही कि जिस तरहका सुधार वे समाजमें चाहते हैं उस तरहके सुधारमें खुद पूरे रँगे हुए हों। जो रंग कपड़ेको रंगीन न बना सके वह किसी कपड़ेपर गिरकर उसे रंगीन कैसे बना सकेगा? उदाहरणके तौरपर अगर एक आदमी सचाईके रंगमें रँगा हुआ नहीं है, और अपने घरवालोंको सच बोलना नहीं सिखा सका है वह समाजको सच्चा बनाने का साहस कैसे कर बैठता है? और किसी भी अंशमें कैसे सफल हो जा सकता है—कह नहीं सकते। आमतौरसे जितने सुधारक देखे गये वे समाजसुधारक ही पाये गये—न पड़ोस-सुधारक, न घर-सुधारक–खुद सुधरे हुए तो वे होते ही नहीं!

एक बुढ़िया थी जो अपने लड़केको गुरुजीके पास गुड़ खानेकी आदत छुड़ानेके लिए ले गई। उसे गुरुजीने दूसरे दिन लानेके लिए कहा। दूसरे दिन गुरुजीने लड़केको सिर्फ यही उपदेश,दिया कि बेटा गुड़ न खाया करो।' बुढ़ियाने समझ लिया कि इतना गुरुमंत्र काफ़ी है और वह काफी साबित हुआ भी। सुधारक यह क्यों नहीं सोचते कि सुधारके काममें लगनेसे पहले खुद उनका सुधरा होना निहायत जरूरी है। एक धोबी मैले कपड़े पहन कर दूसरोंके कपड़े साफ कर सकता है, एक मैली नायन दूसरोंके बदनका मैल छुड़ा सकती है, यहाँ तककि काला-मंजन और काला अंजन दाँत और आँखमें दमक तो सकते हैं, पर ये सब सफाई-उपदेशक सुधारक नहीं बन सकते न सुधारक कहला सकते हैं। बीड़ी पीनेवाला बाप शायद अपने बेटेसे बीड़ी छुड़ानेमें सफल हो जाय, पर वह दूसरोंसे बीड़ी छुड़ानेमें उस वक्त तक सफल नहीं हो सकता जब तक खुद बीड़ी पीना न छोड़ दे। बीड़ी पीनेवाला बाप अपने बेटे की बीड़ी छुड़ानेमें अगर सफल हो भी गया है, तो उसे यही समझना चाहिये कि यह उसकी मिहनतका फल नहीं है, वह तो उस पवित्र काममें तुच्छ निमित्त मात्र बना है। उसके बेटेनें जो बीड़ी पीना छोड़ा है, वह या तो किसी दूसरेके उपदेशका फल है या समयकी हवाका परिणाम या उसके भीतर बैठे ईश्वरका चमत्कार है। दूसरे को सुधारना आसान काम नहीं। सुधारनेकी क्रियाकी सिद्धि बड़ी तपस्या चाहती है। बड़े त्यागसे हासिल होती है। हर वक्तके संयमकी अपेक्षा रखती है। क्या यह सब आजके सुधारकमें होते हैं? यदि नहीं, तो वह कैसे समाजको सुधार सकता है? ऐसे आदमियोंसे समाज-सुधर भी कैसे सकता है? आजके सुधारक समाजमें यदि एक सुधार करते हैं, तो सवा बिगाड़ कर डालते हैं। इसलिए इनके सुधारको अगर बिगाड़ कहकर पुकारा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

आम तौरपर सुधारक कथाके बैंगन कहानीके मुख्य पात्र होते हैं। कभी-कभी सुधारक तो काफी अच्छा होता है पर समाज इतना पतित होता है कि उसकी सीखका

पात्र नहीं होता। ऐसे समय सुधारकको चाहिए कि वह सुधारके आन्दोलनका भी नियमन करे। उसे उस बयाकी कहानीको याद रखना चाहिये, जिसने बंदरको सीख देकर अपने घोंसलेको बरबाद करा लिया था; और अपने बच्चोंकी जान खतरेमें डाल दी थी। इसी कहानीके आधारपर यह कहावत चल पड़ी है :—

"सीख न दीजे बाँदरा, घर बयाका जाय"

सुधारकको सुधारके मैदानमें आनेसे पहले उसी तरह वर्दी पहनकर सजना और जरूरी हथियारोंसे लैश होना होगा जिस तरह सिपाही लड़ाईके मैदानमें उतरता है। सुधारक की वर्दी है उसका त्याग, उसकी तपस्याकी तैयारी, उसका धैर्य, उसकी विनय-संपन्नता, शील, दृढ़ विश्वास, सच्चा ज्ञान, वत्सलता, निर्भीकता, निष्कामभावना, उसकी सब तरह की सेवाकी तैयारी, उसका स्वाभिमान, समाजपर प्रभाव का ख़याल, उसकी चारों प्रकार की उपगूहनता इत्यादि। हम बातें तो बहुत-सी गिना गए हैं, इन सबको अलग-अलग खोलकर हम इस लेखको बढ़ाना नहीं चाहते। यह सब गुण गिनानेमें ही बहुत मालूम होते हैं। पर असलमें एक दूसरेसे इतने गुँथे हुए हैं कि इनमेंसे कोई भी आदमी किसी एक को भी मजबूतीसे पकड़ ले तो सबके सब इतनी आसानीसे खिचे हुए चले आयें जैसे हजारों मन सामानसे लदी नाव एक मामूली रस्सीके सहारे नदीके तलपर बिना परिश्रमके खिची चली आती है। इसलिये सुधारकको इस बड़ी गिनतीसे भयभीत नहीं होना चाहिये। गिनती तो और भी बढ़ सकती थी। हमारा "इत्यादि" यह सूचना भी दे रहा है पर यह कितनी भी लंबी क्यों न होती अमलके लिए रहती उतनी ही सुगम जितनी अब है। जिस तरह रानी मक्खी अनगिनत अंडे देकर अनगिनत मक्खियाँ तैयार कर लेती है, वैसे ही समाज-सुधारककी अटूट लगन और समाज-सुधारका सच्चा ज्ञान एक क्षणमें मनुष्यमें गुण पैदा कर देता है और ये गुण जल्दी ही बड़े होकर पंख पा जातें हैं। शहदकी मक्खियोंकी तरह भिनभिनाकर समाजकी सेवा करने लगते हैं।

जिस तरह मामूली तार और बिजलीके तारमें हमारी आँखोंके लिए कोई अंतर नहीं होता वैसे ही समाजके एक सदस्य और सुधारकमें देखनेमें अंतर नहीं दिखाई देगा, पर जैसे वे दो तार गुणोंमें एक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न हैं वैसे ही ये दो व्यक्ति शील-स्वभाव में एकदम भिन्न होते हैं। गाँधीजी अपनेको मरते दम तक वैष्णव कहते रहे। और भी दुनिया जीनेसे मरने तक अपनेको वैष्णव कहती है। गांधीजी और अन्य वैष्णव देखनेमें एक थे। वे भी यही गीत गाते थे : "वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे" यही गीत गांधीजी भी गाते, दूसरोंसे गाते हुए सुनते थे; पर उनके सुननेमें औरों से भेद था। उनके गाने की लय दूसरोंसे मेल नहीं खाती थी। उनके हृदयमें इन शब्दोंका जो भाव था, वह वही नहीं था जिसे आम वैष्णव या उनके अनुयायी समझे हुए हैं। यदि गांधीजीके भावको कोई समझलेगा तो खुद भी वह गाँधी ही बन जायगा। परम्-सुधारक गीतोंका रस चूसते हैं छूछ नहीं। जिस तरह गन्ना धरतीसे मिठास लेता है, शेष चीज़ें छोड़ देता है, नींबू खटास लेता है दूसरी चीज़ें छोड़ देता है, नीम कड़-वाहट लेता है दूसरी चीजें छोड़ देता है वैसे ही इस गीतसे बदमाश बदमाशी ही खींच सकता है। पर पीड़ाको दूर करनेकी भावना वाला रस तो सहृदय ही चूस सकता है। गाँधीजी वैष्णव होते हुए मुसलमान भी थे, ईसाई भी, बौद्ध, जैनी, जरथुस्ती सभी थे, दूसरे वैष्णव

तो वैष्णव भी नहीं हैं । दूसरे वैष्णव ये गीत गाते हुए कि "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाणे रे", यह गीत गाते रहते हैं कि "वैष्णव जन तो तेने कहिये जो लहसन-प्याज न खाय रे,"वैष्णव जन तो तेने कहिये जे हरिजन छूकर न्हाय रे," "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे नित रामके मंदिर जाय रे,""वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे घंटे झाँझ बजाए रे". "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे वैष्णवेतर अलगाय रे", "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे सागर पार न जाय रे" इत्यादि ।

सुधारकने अब समझ लिया होगा कि उसका हृदय कितना पवित्र होना चाहिये । उसके सिरपर बड़ीसे बड़ी या छोटीसे छोटी किसी भी रूढ़िकाबोझ नहीं होना चाहिये । अगर वह जरा भी बोझिल हुआ तो ऊँचा कैसे उठ सकेगा ? रूढ़ियोंका बोझ ही तो है, जो आदमीको दबाये रखता है । समाज-सुधारक कितना ही ऊँचा क्यों न उठ जाय, कितना ही नाम क्यों न पा जाय अगर समाजके व्यक्तित्वने एकके ऊपर एक खड़े होकर उसको अपने सिरपर उठा लिया तो हमारी नजरोंमें वह दो कौड़ीका भी आदमी नहीं है । हम उस सोनेके कलसको तो मिट्टी समझते हैं जो मंदिरकी चोटीपर लगा है, क्योंकि उसका आधार है, मंदिरका गुंबद, मंदिरकी दीवारें, मंदिरकी बुनियाद, उसका अपना कोई आधार नहीं होता ! वह चमकनेवाली किसी और चीज़का भी बन सकता है । खोटे सोनेका भी बन सकता है । स्टेनलेस स्टील चाँदीसे ज्यादा चमकता है । पर चाँदीकी कदर नहीं पा सकता । समाजमें तो ताक़त है कि वह अपने सिरपर उठाकर गधेको भी पुजवा सकता है, लकड़ी और पत्थरकी मूर्त्तियोंको तो पुजवा ही रहा है । समाजकी कोरी पूजा पाया हुआ आदमी हमारी नज़रोंमें ऊँचा नहीं है । हम तो सुधारक और परम-सुधारक उनको कहते हैं जो अपनी तपस्याके बलसे निर्विकार हो जाय, जिसमें ऊपर बताए हुए गुण आ जायँ और जो इन्हीं गुणोंकी गैससे इतने हल्के हो जायँ कि गैस भरे फुग्गेकी तरह समाज-प्रार्थनाके डोरेसे बाँधकर ही रखना पड़े ! अगर समाज उसे छोड़ बैठे, तो वे उड़ जायँ और दुनिया भर में घूमते फिरें । समाज सुधारक वही हैं, जो हल्के होकर समाजसे ऊँचे तो उठ गये हैं; पर किसीके कंधेपर सवार नहीं हैं—कोई उनको थामें हुए नहीं है, वह अपने हल्केपनके सहारे ही समाजके सिरोंपर लुढ़कते-फिरते हैं । किसीपर ज़रा भी बोझ साबित नहीं होते । जिसके सिरपर वे जितनी देर रहते हैं, उतनी देर उस आदमी या कुटुंबका सारा तन-मन पुलकित रहता है, आनन्दका अनुभव करता रहता है । वह यह चाहता ही नहीं कि वह उस आनन्दसे वंचित हो जाय ! सुधारक रूढ़िमें फँसे हुओंसे लड़ता और सिर फुड़व्वल नहीं करता । वह तो अपने हल्केपनसे प्रभावित करता है । वह किसी से घृणा नहीं करता, वह कुछ करनेके लिये बहुत ही कम कहता है । वह तो अपने कृत्यसे उनपर असर डालता है और उनमें अपनेआप ऐसी भावना पैदा कर देता है कि वे उसकी नक़ल करने लगते हैं । वह उपदेश देगा—आदेश बहुत कम देगा । उसके उपदेशमें आदेशकी गैस भरी रहती है । तभी तो उनका उपदेश सुनकर एक-दो-दस नहीं, लाखों एकदम बदल जाते और उसी क्षण हल्का अनुभव करने लगते हैं । उन्हें बिलकुल ऐसा मालूम होने लगता है मानो वे ज़मीनसे सूत-दो-सूत ऊँचे हो गये हैं । और उन्हें गमनागमनमें आसानी होने लगी है, वे अपनेको चलता हुआ नहीं—उड़ता हुआ सा अनुभव करने लगते हैं ।

यही होते हैं समाज-सुधारक जो समाजको इस तरहका बना देते हैं। उनकी देखा-देखी समाज वैसा अपनेआप बन जाता है। अगर किसी समाज-सुधारकको देखकर समाज हल्का अनुभव न करे, तो समझना चाहिये कि समाज-सुधारकमें जरूर बहुत-सी कमियाँ हैं। समाज-सुधारक खुले मैदानमें जिसकी गालियाँ सुनता है अगर वह गाली देनेवाला घरमें या अकेलेमें किसीसे उस समाज-सुधारककी तारीफ़ न करे, तो समझ लेना चाहिये कि वह समाज-सुधारक झूठा है दिखावटी है। दुश्मन कितना ही बुरा क्यों न हो, अपने दुश्मनके गुणोंकी तारीफ़ किये बिना कोई नहीं रह सकता। यह ठीक है कि वह उसके गुण गाता नहीं फिरेगा पर गुणोंकी पहिचानसे कैसे रुक सकेगा? एक अँगरेज़ गाँधीको अँगरेज़ोंका दुश्मन कह सकता था पर गाँधीको सत्यवादी कहनेसे कैसे चुप रह जाता? सत्य-गुण तो उसे भी पसंद है, वह उनको खुद भी तो शीश नवाता है। ठीक इसी तरह सुधारकके गुण घर-घरमें गाये जाने चाहिये। बाहर उसे गाली मिलती रहें इसकी परवाह नहीं। सुधारककी कसौटी समाजका प्लेटफार्म नहीं—घरका कमरा है। उस सोनेको वहाँ कसकर देखो। अब आप हमारी बात समझ गए होंगे कि परम-सुधारकको ऊँचा बनानेमें समाजका हाथ इतना नहीं होता, जितने उसके अपने भीतरी गुण। होसकता है, उनमेंसे एकसे ज्यादा गुण हममें हों; पर वे हमें दिखाई कहाँ देते हैं? आप कहेंगे कि इस लेखके लेखकको हो सकता है पता हो, लेकिन साफ़ खोलकर हमें कोई बात इस लेखमें नहीं बताई गई। शंका ठीक है। हमें चाहिए कि हम ज़रूर अपने जवानोंका रास्ता साफ कर दें। उनसे कबीरकी बोलीमें बात करें—ईसाकी बोली में मूसा, बुद्ध और महावीरकी बोलीमें नहीं, संतोंकी बोलीमें। या यों कहिये कि साफ दिल आदमियोंकी बोलीमें बातें करें।

आइए अब खरी और सीधी बातें सुनिये—

"लकड़ीकी बना गल माल भले, पर हाथ में लेकर जपना क्यों?
पत्थरकी बना बेशक मूरत, पर उसके आगे नवना क्यों?
तू एक नहीं दस नदियां तर पर यह होगा भवतरना क्यों?
राजा थे दोनो रामकिशन ये ईस समझ दम भरना क्यों?

कौसल्या नंदन राम नहीं वे तुझ जैसे थे रामचंद।
यशुदानंदन भी राम नहीं वे तुझ जैसे थे श्यामचंद।
क्या राम रहेंगे मंदिर में वो तुझे मिले कर आंख बंद।
वो तेरे भीतर बैठे हैं वो हैं तेरे आनंद कंद।
मयखुरो मसहफ बिसोजो आतिश अंदर का बाजन।
हरचि खाही कुन बलेकिन मरदुम आजारो मकुम।

पद्य बहुत स्पष्ट हैं। टीकाकी ज़रूरत नहीं। फारसीके पद्य का अर्थ हम आगे चलकर करेंगे। उसपर अपनी राय भी ज़ाहिर करेंगे। पर उससे पहले ज़रा कबीरजी भी बात सुनलें।

माला लक्कड़ ठाकुर पत्थर तीरथ सगरे पानी
रामा कृशना मरते देखे चारों वेद कहानी

अगर दुनियामें सच बोलना धर्म है, अहिंसा धर्म है, अचौर्य धर्म है, अपरिग्रह धर्म है, ब्रह्मचर्य धर्म है और बाकीके छै व्रत जो गाँधीजी गिनवा गये हैं धर्म हैं, तो कबीर साहब पूरे धर्मात्मा थे और भी अनेक संत उन्हीं जैसे धर्मात्मा हो गये हैं। धर्मवादी, संप्रदायवादी, पंथवादी, संतवादी, महंतवादी, बुद्धिवादी, पूँजीवादी या और कोई वादी धर्मात्मा नहीं हो सकते। अलबत्ता वादी-विवादी हो सकते हैं—वादी-प्रतिवादी हो सकते हैं। और ये सब सुधारक बने, तो असफल ही रहेंगे। असफल रहें चिंता नहीं, ये तो ढानेवाले बिगाड़ू और फुटारू साबित होते हैं। समाजके टुकड़े-टुकड़े कर जाते हैं, समाजमें भेद-भाव फैला जाते हैं, कबीर-पंथ बेशक हैं, पर कबीरका बनाया हुआ नहीं है। कबीरके नामपर बना हुआ है। बनानेको 'गाँधीबम' बन सकता है, गाँधी चाय बन सकती है, गाँधी शराबघरकी बुनियाद पड़ सकती है, गाँधी कसाबघर भी खुल सकता है; पर क्या इससे यह सिद्ध होगा कि गाँधीजी की ये ही सब देन हैं? सुधारक सुधार ही नहीं करते, सिर्फ़ सुधरा हुआ जीवन बिताते हैं।

अगर मैं लकड़ी पत्थरको किसी रूपमें भी नहीं पूजता, पानीको किसी तरह भी अंदर की सफाईका कारण नहीं मानता, किसी मृत या जीवित पुरुषको सब भूलोंसे बरी नहीं मानता, किसी भी ग्रंथको किसी ऐसेका कहा नहीं मानता,जो त्रिकालज्ञ था तो मैं सुधारक बननेके योग्य हूँ; पर में इसे न माननेकी डौंडी भी नहीं पीटता फिरूँगा। मेरा रहन-सहन इसको खुद बतादेगा। किसीके सीधे प्रश्न करने पर मैं सीधा जवाब देनेमें झिझकूँगा भी नहीं। अगर मैं झिझकता हूँ, तो सुधारक होनेके योग्य नहीं। अपने किसी और काममें लगूँ, जिस योग्य हूँ वह काम करूँ।

ऊपरके फारसीके पद्य पर अपने विचार भी यहाँ बताए देते हैं। यह पद्य ऐसे मौलानाके हैं, जिसे मुसलमान पहुँचा हुआ संत समझते हैं। शब्दार्थ ये हैं :—

मयखुरो—शराब पी और मसहफ विसोजो—कुरान जला और आतिश अंदर का वाजन आग काबे में लगा दे। हर चिखाही कुन जो कुछ चाहे कर वलेकिन मरदुम आजारी मकुन—लेकिन आदमियों को सताने का काम न कर

यहाँ शराब पीनेकी बात कहना इस्लाम धर्मके खिलाफ है। आज ऐसे मुसलमान मिल सकते हैं, जो शराब पीते हों, ऐसे मौलाना भी मिल सकते हैं, ऐसे राजाओं का इतिहासमें ज़िक्र है, जो 'नूरुद्दीन' यानी 'धर्मके प्रकाश' का नाम पाये हुए थे। और खूब शराब उड़ाते थे; पर हज़रत मुहम्मदके समयमें ऐसा एक भी मुसलमान नहीं मिल सकता था कि जिसके कपड़े पर अगर शराबकी एक बूंद भी गिर जाय, तो वह उसे उतार कर न फेंक दे और उसमें आग न लगा दे। आज भी शराब पीनेकी बात सुनकर मुसलमान बिगड़ खड़े होंगे। कुरान जला डालनेकी बात तो इससे भी बुरी है और काबेमें आग लगानेकी बात और भी बढ़कर है। यह कहकर तो मौलाना ने हद कर दी कि जो जी चाहे कर। यानी दुनियाका बुरे-से-बुरा पाप, कर लेकिन आदमियोंको सतानेका का काम मत कर।

जो आदमियोंको सतानेका काम कर सकता है, वह चाहे किसी भी धर्मका माननेवाला क्यों न हो, कोई भी क्यों न हो, वही शराब पीने, कुरान जलाने, काबेमें आग लगाने और जो जी चाहे करनेके लिये तैयार भी हो सकता है। आदमियोंके दिल दुखानेवाला आदमी, आदमियोंको सतानेवाला आदमी धर्मात्मा हो ही नहीं सकता।

सुधारकको अपने मनमें यह अच्छी तरह बैठा लेना चाहिये कि किसी भी ग्रंथमें ऐसी कोई बात लिखी ही नहीं जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि झूठ बोलना धर्म है, हिंसा करना धर्म है, चोरी करना धर्म है, परिग्रह धन इकट्ठा करना, धर्म है या शील खो देना धर्म है । कोई बुरी बात किसी धर्मग्रंथमें नहीं मिलेगी । पद्यबद्ध होने के कारण धर्म-ग्रंथ ऐसी भाषामें जरूर है, जिनसे स्वार्थी लोग अपने मनके अर्थ लगाकर समाजको अधर्मके लिये तैयार कर देते हैं । कोई धर्म-ग्रंथ लड़ाई की आज्ञा नहीं देता । यह आदमीकी अपनी कमज़ोरी है, जो उसमेंसे यह अर्थ निकाल लेता है । हर भाषाके अक्षरोंमें यह ख़ूबी है कि ज़रा इधर-उधर करनेसे कुछका कुछ अर्थ हो जाता है । एक कहावत है—"ख़ुदा बयक नुक्ता जुदा मीशवद," यानी ख़ुदा बिंदीके हेर-फेरसे जुदा हो सकता है । फ़ारसीके अक्षर "ख़े" के ऊपर बिंदी लगती है, और "जीम" के नीचे । बिंदी अगर ऊपरकी नीचे लिख जाय या लग जाय, तो फारसी अक्षरोंमें लिखा हुआ 'ख़ुदा' 'जुदा' पढ़ा जायगा । भाषा और लिपिकी इन छोटी-छोटी गुत्थियोंसे स्वार्थी लोग फ़ायदा उठाकर समाजको लड़वा देते हैं । सुधारकको इन सब बातोंका ज्ञान ही नहीं होना चाहिये इनसे ऊँचा होना चाहिये ।

सुधारके कर्त्तव्य अनगिनत हैं । उनपर एक ग्रंथ अलगसे लिखा जा सकता है, पर हमें सुधारकको ग्रंथजालमें नहीं फंसाना, ग्रंथोंसे ऊपर उठाना है । हमें तो बताना यह है कि सुधारकके लिये सब ग्रंथ बेकार हैं । ग्रंथोंका जानकार वह भले ही हो, पर ग्रंथोंको प्रमाण कभी न मानें, ग्रंथोंका हवाला कभी न दें । उन्हें प्रमाणमें कभी पेश न करें, प्रमाण तो वह बुद्धि, परम-प्रमाण हृदय और परमोत्तम प्रमाण अंतरात्मा को ही माने । सुधारक जैसे ही समाजका सच्चा हितैषी बना कि उसको सब ग्रंथोंका निचोड़ इस तरह समझमें आ जायगा जैसे काला लोहा घिसे जानेपर शीशे जैसा साफ बनकर दूसरेके प्रति-बिम्बको दिखाने लगता है । आदमी सर्वज्ञ बन सकता है या नहीं ? पर अपने कामके लिए बहुज्ञ तो बहुत आसानीसे बन सकता है । चोरी करनेके लिये जितना ज्ञान चाहिए शाह बने रहनेके लिये उससे हज़ारोंगुना कम ज्ञान की जरूरत है । झूठ बोलनेवाले को अपने झूठ छिपानेके लिये जितने झूठ तैयार करने पड़ते हैं और उनमें जितनी मेहनत और बुद्धिलगानी पड़ती है, सच बोलनेमें उससे हज़ारगुना कम बुद्धिसे काम चल सकता है । कहावत हैकि'बुद्धि बहुत खर्च करनेसे बढ़ती और कम खर्च करनेसे घटती है । पर यह हमारी बात और भी ठीक है कि बुरे कामोंमें लगकर बुद्धि जितनी ज्यादा बढ़ती है उतनी ही गंदली होती जाती है । वह फैलावमें ही लम्बी-चौड़ी होती है, लेकिन अँधेरे को बढ़ाती ही है, जिसमें फिर टटोलना ही पड़ता है और बुद्धि अच्छे कामोंमें जितनी ही कम लगे उतना ही प्रकाश करती है । ज्यादा लगाने पर ज्यादा प्रकाश भी कर सकती है लेकिन जरूरतसे ज्यादा लगनेपर धोखा हो जानेकी संभावना है, दियासलाई मामूली रगड़ खाकर जल सकती है, प्रकाश दे सकती है, दिया जला सकती है और हमेशाके लिए उपकार कर जा सकती है । उसी दियासलाईको अगर बहुत जोरसे रगड़ा जाय, तो उसका सिर भक्‌से एक क्षण ही प्रकाश देकर नीचे गिर जायगा और अपना प्रकाश बेकार बरबाद कर जायगा । अगर दियासलाईका सिर न भी गिरा तो दूर तक हाथ जानेसे प्रकाश होकर भी हवासे बुझ जायगा और दूसरे दिये न जल सकेंगे । इसलिए बुद्धिके

इस्तेमालमें इस बातका बड़ा ध्यान रखना चाहिये कि वह बुराइयोंकी खाद देकर न पोसी गई हो। तभी तो समझदार यह कह गये हैं कि साध्यके लिये साधन भी भले होने चाहिये। पैसा ईमानदारीसे ही कमाना चाहिये बेईमानीसे नहीं। सुधारकको यह ध्यान रहे कि उसे जो कुछ समाजमें करना है, उसकी जल्दबाज़ी न करे। अपने उसूलोंसे हरगिज़ न डिगें। समझौता कभी न करे। गुरु नानककी तरहसे मरदाना नामका एक साथी बनाकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दे। धर्म और पंथ स्थापनामें न लगे। अपनी मेहनतके फल देखनेकी इच्छा न रखे। अपने पुजने की भावनाको पास न फटकने दे। वह तो रूढ़ियोंसे अलिप्त शुद्ध मोती बना हुआ समाज सीपके पेटके अंदर जगत सागरके एक कोनेमें पड़ा रहे और अगर उसे कोई निकाले भी तो गलेमें पड़नेके लिये तैयार रहे। लेकिन उससे उन्हें पेट फड़वाने के लिये मालाके डोरेमें पिरोये जाकर अपनी आज़ादी खोनेको भी तैयार रहे। गुरु नानक और मुहम्मद साहब दोनों याद किये जाते हैं। दोनों अपने समयमें अपनी सफलता देख गये थे। गाँधीजी तो अपने समय के मालिक बन गये थे। सुधारक इस इतिहासको जानते हुए भी इतिहासके रसमें गोता मारने या डूबनेकी न सोचे। वहाँ दम घुटकर मरनेके सिवाय और है ही क्या? उसके लिए तो एक ही पाठ है कि वह इस सब पर तैरता रहे और बादल की तरह तैरता रहे। तब और तभी वह देख सकेगा कि सुधार क्या रंग लाता है।

-:०:—

पंडित सुखलालजी

शास्त्र और सामाजिक क्रान्ति

समाजके विस्तार और विकासके साथ ही उसके पुराने शास्त्रमें आनेवाली आचार-विचारकी प्रणालियोंको नये युगका सामना करना पड़ता है। तब पुराने और नये विचारोंमें कभी कभी देवासुर-संग्राम-सा तुमुल-द्वन्द्व भी मच जाता है। पुरानी प्रणालियोंका एकमात्र बल श्रद्धा है। नवीन युग तर्क या बुद्धिवादसे शुरू होता है। उसका कार्य पुरानी मान्यताओंकी विश्लेषण-प्रधान परीक्षा करना है। जब केवल श्रद्धाजीवी पुरातनता नवयुगीन-परीक्षाकी कसौटीके सामने ठहरनेमें असमर्थ होती है, तब पुरान पंथी शास्त्र यह मानकर छुटकारा पा लेते हैं कि आचार-विचारगत मान्यताएँ दो प्रकारकी होती हैं: पहली अहेतुवादी और दूसरी हेतुवादी। जिसमें दलील या तर्ककी गुंजाइश न होकर, मात्र श्रद्धासे ही जिसका अनुसरण हो वह अहेतुवाद; और जिसमें तर्क या परीक्षा की भी गुंजाइश हो, वह हेतुवाद कहलाता है।

पुराने और नए युगके संघर्षका फल है—इस अहेतुवाद और हेतुवादका समन्वय या समझौता। शास्त्रके पुराने स्तरके ऊपर समझौतेका यह नया स्तर भी स्थान पाता है। इस तरह शास्त्रके विषयों तथा उनके भावोंमें विकास होता रहता है।

पर यह प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं होती, क्योंकि मानव चेतना इतनी गम्भीर और सजीव है कि वह केवल श्रद्धा या तर्ककी, अथवा यों कहिए कि अहेतुवाद और हेतुवाद की सीमामें, आबद्ध रह नहीं सकती। चेतनाके उस गहरे भागसे प्रज्ञाका नया बल भी कभी-कभी उदय होता है। तब वह बल मात्र श्रद्धा और मात्र तर्ककी आज्ञाका क़ायल नहीं रहता; बल्कि वह प्रज्ञाबल श्रद्धा और तर्क दोनोंको अपना सेवक बनाकर उनसे काम लेता है। अतएव प्रज्ञाकी सूझ अहेतुवाद और हेतुवाद इन दोनों शास्त्रीय भूमिकाओं से परे होती है। इसे ही योगियोंने 'सामर्थ्य योग' कहा है। सच्ची क्रांतिका मूल 'सामर्थ्य-योग' में है, परन्तु अहेतुवादी और हेतुवादी शास्त्रकी भूमिकावाले सामर्थ्ययोग-मूलक क्रांतिको ठीक तौरपर समझ नहीं पाते, तब वे नये उदयोन्मुख सत्यका गला घोंटने में कुछ उठा नहीं रखते। इसीसे हम यहूदी और ईसाई तथा वैदिक और जैन-बौद्ध आदि सभी परम्पराओंके शास्त्रोंको समय-समयपर मानवताकी प्रगतिमें साधक होनेके बजाय बाधक पाते हैं। फिर भी अन्तमें प्रज्ञावादकी ही विजय देखी गई है।

क्रांति और परिवर्तन दोनों ही एक नहीं हैं। परिवर्तन जड़ और पुरानी आचार-विचारकी रूढ़ या मात्र श्रद्धाजीवी प्रणालियोंका ऊपरसे सुधारमात्र है,। यह सुधार

किन्हीं दबावोंके कारण लाचारीसे करना पड़ता है। इसे बुद्धिकी लीपापोती या मरहम-पट्टी भी कह सकते हैं। परिवर्तनमें पुरानी श्रद्धाके मूल क़रीब-क़रीब ज्योंके त्यों रहते हैं और प्रणालियोंका ऊपरी लिबास थोड़ा-बहुत बदल जाता है।

क्रान्ति निराली वस्तु है। क्रान्तिकी प्रेरणा मात्रसे बौद्धिक वैभव नहीं आ सकता। उसका उद्‌गम प्रतिभा या सहज सूझमें है। जब कोई अन्तर्नेत्रसे पुरानी प्रथाओं तथा उनकी पोषक अविचारी श्रद्धाका मानवताघाती परिणाम देख लेता है और उसको अपने दर्शनमें सन्देह तक नहीं रहता तब उसकी प्रतिभा जग जाती है और उसे क्रांतिकारी विचारों की ओर प्रेरित करती है।

लोग समझते हैं कि क्रांतिकारी तरंगी और अव्यावहारिक होता है, पर सच्चे क्रांतिकारी पर यह आरोप लागू नहीं होता। सच्चा क्रांतिकारी वह है, जो अपनी सूझ और मानवताके भविष्यपर पूरा विश्वास रखता है। वह केवल चालू प्रथाओं का या विश्वासों का निषेध करने में ही अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री नहीं समझता। यह तो उसका प्राथमिक कार्य है। उसका अगला क़दम नई परिस्थिति-निर्माण करनेका होता है ऐसी परिस्थिति जिसमें समाज श्रद्धा और बुद्धिका योग्य समन्वय साध सके।

लोग यह भी समझते हैं कि क्रांतिकारी बुद्धिवादी तो होता ही है, पर श्रद्धालु नहीं। यह धारणा भी ग़लत है। क्रान्तिकारीमें अन्य सबकी अपेक्षा श्रद्धाका बल अधिक होता है, क्योंकि एक तरफ़ तो उसे अनेक विधि-विरोधोंका सामना करना पड़ता है, तो दूसरी ओर अपनी सूझ और विचारसरणीको कार्यान्वित करनेके लिये उसे अडिग रहना पड़ता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह विचार-विहीन पुरानी श्रद्धाओंका निर्भयतासे विरोध करता है; पर पक्का आस्तिक होनेके लिये कुछ अंगोंमें नास्तिकता भी अनिवार्य हो जाती है। क्रांतिकारी सचमुच आस्तिक होता है, क्योंकि उसे अखण्ड मानवतापर अटूट श्रद्धा और साथ ही अपनी मौलिक श्रद्धाके संशोधनमें भी पक्का विश्वास होता है।

हम बुद्ध और सुक़रातको क्रांतिकारी समझते हैं, ईसाको भी। अन्तमें हम गाँधीजी पर आ टिकते हैं। क्यों? इस प्रश्नका जवाब उनकी मौलिक सूझ और श्रद्धाके संशोधन-कार्यसे मिल जाता है। बुद्धने विचार और आचार दोनोंमें क्रांतिकी! विरोध और प्रलोभन कोई उसे तिल-मात्र भी डिगा न सका। सुक़रातने विचारमें क्रांतिकी। वह अपनी सूझमें कितना पक्का था इसका सबूत तो मौक़ा मिलनेपर भी जेलोंसे न भागनेके शौर्यपूर्ण निर्णयसे मिल जाता है। और क्राइस्ट? कितना प्रशान्त, कितना अक्षोभ्य और कितना मृत्युसे निर्भय! उसने अन्त तक सत्यके आग्रहको नहीं छोड़ा।

गाँधीजीकी बात तो बिलकुल ताज़ा है। मानव-जीवनका, कोई भी ऐसा पहलू नहीं है जिसमें गाँधीजीने मौलिक संशोधन किया न हो। केवल विचारमें ही नहीं, आचारमें भी उन्होंने क्रांति की।

रूढ़-श्रद्धालुका मार्ग सरल है, क्योंकि उसे प्रचलित लकीरपर भेड़िया-धसानकी तरह ही चलना है। परिवर्तनवादी या सुधारकका मार्ग भी कठिन नहीं, क्योंकि उसे आमूल-परिवर्तन करना ही नहीं पड़ता। उसे तो जहाँ जितना अनिवार्य रूपसे हो, सुभीतेके साथ करना है। और उतना ही करके वह कृत-कृत्य हो जाता है। पर क्रांतिकारी स्थिति जुदा है। उसे तो जहाँ-जहाँ घुन लगा दिखाई दे, वहाँ ही सर्वत्र काट-

छाँट, कभी-कभी उच्छेद और अन्तमें नई रचना तक करनी पड़ती है। इसीसे समाजमें क्रांतिकारी सहसा सुलभ नहीं होता।

कोई क्रांतिकारी आकर समाजको जीवनके नये मूल्य समझाता है। शुरूमें भले ही उसका प्रबल विरोध हो, हत्या तक हो, पर अन्तमें उसके द्वारा सुधार-मार्गको समाज अपनाने लगता है। जब क्रांतिकारीकी बात समाजमें जड़ जमाती है, तब शास्त्रकारों को शास्त्र-रचनाकी खूराक मिल जाती है। फिर तो वे नई क्रांति को शास्त्रमें स्थान देकर लोक-स्वीकृत करानेका प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु ऐसे शास्त्रकार कम देखे जाते हैं, जिन्होंने खुद ही क्रांति भी की हो और खुद ही उसीके आधारपर शास्त्र-रचना की हो। दूसरों द्वारा की गई क्रांति की शतमुखसे प्रशंसा करना या तर्कबलसे उसकी शास्त्रीयता स्थापित करना अलग बात है, और खुद की गई क्रांतिके अनुभवोंके बलपर खुद ही शास्त्र-रचना अलग है। फिर भी मानवता ऐसी सामान्य वस्तु नहीं है कि हमेशा दबी ही रहे। ऐसे व्यक्तिको भी मानवता अक्सर पैदा करती ही है जो खुद ही क्रांतिकारी और शास्त्रकार दोनों हों।

यदि समाजकी परिधि या क्षेत्र छोटा है तो क्रांतिका कार्य उतना कठिन नहीं होता। जैसे-जैसे समाजकी परिधि विस्तृत होती जाती है, एक समाज दूसरे समाजके विशेष सम्पर्क में आता है, एक देश दूसरे देशके विशेष निकट आने लगता है; वैसे-वैसे क्रांतिका कार्य जटिल और कठिन होता जाता है, क्योंकि इस दशा में अनेक देशोंके, विविध-समाजके नानाविध आचार-विचारोंको देखकर उनके आचार-विचारोंके परिवर्तन या संशोधन की बात सोचनी ही पड़ती है और उस विचारको अमली बनानेके लिए पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक पुरुषार्थ की आवश्कता होती है। आज विश्वकी दशा ऐसी ही है। कोई एक देश या समाज केवल अपनेमें ही सीमित होकर टिक सका हो ऐसा आज सम्भव नहीं है।

हर देश और हर समाजकी क्रांतयों का अपना इतिहास भी है। कोई देश, मानव-यूथ या मानव-कुल ऐसा नहीं है, जिसने समय-समयपर कमोबेश क्रान्तिका अनुभव किया न हो। जो समाज बिलकुल पिछड़ा हुआ है, या माना जाता है, (जैसे अफ्रीकाके कुछ नीग्रो लोग या भारतके आदिवासी आदि) उसमे भी, सुधार मात्र ही नहीं, कभी-कभी क्रांतिकी लहरें तक आई हैं; भले ही वे तीव्र न हों, व्यापक न हों, गहरी न हों। वरना वे समाज आजतक जीवित ही न रह पाते।

भारत एक पुरानी संस्कृतिवाला देश है। इसमें अनेकविध-समाज हैं; जिनके विचार-आचार अनेक विषयोंमें भिन्न भी हैं। वे सब समाज रूढ़ि, सुधार और क्रांतिकी भूमिकासे गुजरते आए हैं और आज भी कोई एक तो कोई दूसरी भूमिकासे गुज़र रहा है। परन्तु सामान्य-रूपसे कहना हो तो यही कहना ठीक होगा कि आजका भारत कमोवेश क्रांतिकी दिशामें ही है। सामाजिक जीवनकी परिधिमें केवल शादी, बिरासत आदि जैसे ही प्रश्न नहीं आते; उसमें तो आर्थिक, राजकीय, धार्मिक आदि सभी प्रश्नोंका समावेश होता है। किसी एक पहलूमें सुधार या क्रांति उस समय तक सफल सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक कि जीवनके दूसरे सब पहलुओंका सुधार या उनमें क्रांति न की जाय। उदाहरणार्थ, दाम्पत्य-जीवनमें स्त्री-पुरुषकी समानता सिद्ध करनी हो, तो उनके शिक्षण और आर्थिक-जीवनके विषयोंमें भी जड़-मूलसे परिवर्तन करना होगा। यह नहीं कि

नारी अपढ़ रहे, कम पढ़े व आर्थिक रूपसे बिलकुल पराधीन रहे; फिर भी पुरुषके साथ समानतासे बैठ सके।

हमें यदि साम्प्रदायिक या दलमुक्त राज्यप्रणाली स्थापित करनी है, तो यह नहीं कि हम पण्डित, मौलवी, मुल्ला, बाबा-साधु आदिके बहम और अन्धश्रद्धा-प्रधान अविचारी धर्म-प्रचारको निबाहते जायँ और ऐसी राज्यप्रणाली भी चालू रख सकें।

पतिकी मृत्युके साथ ही उच्च-वर्ण या सवर्ण कही जानेवाली जातियोंमें से अनेक स्त्रियाँ सती हो जाती थीं। यह एक रूढ़ि थी। जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायोंकी धर्म-भावना या आगे जाकर राजकीय शासनसे सती-प्रथापर प्रतिबन्ध लगे। यह सुधार अवश्य है, पर इस सुधारमें वैधव्यके संकटकी जड़का मूल-संशोधन नहीं हुआ। विधवा सती होनेसे अवश्य बच गई, पर बहुधा लाचारी वश कवि श्रीहर्षके कथनानुसार, स्वीकृत वैधव्यकी अग्नि उसे आजन्म, जलाती ही रही। आजकल उसमें क्रांति प्रारम्भ हुई है। विधवा भी चाहे, तो विवाह कर सकती है। उसे क़ानूनी मददके अलावा समाजके एक विशेष भागकी सहानुभूति भी प्राप्त है। फिर भी यह पूर्ण-क्रांति या शुद्ध-क्रांति नहीं है। शुद्ध और पूर्ण क्रांतिमें तो पुनर्लग्न करते समय या करनेके बाद विधवाके प्रति समाजके किसी भी भागमें अवमाननाका भाव रह ही नहीं सकता। जैसे पुनर्लग्नके बाद विधुरके प्रति किसीका अवमाननाका भाव नहीं देखा जाता। यही नहीं, बल्कि पुनर्लग्न करनेवाले पुरुषकी उस विधवाके प्रति ऐसी दृष्टि भी नहीं होनी चाहिए कि मैं उसका उद्धार कर रहा हूँ। इस दिशामें शुद्ध-क्रांति वही कही जा सकती है, जिसमें विधवा और पुनर्वरण करनेवाले पुरुष दोनोंका हृदयगत सख्य हो, आजन्म वफ़ादारी हो जो हर प्रकारकी कठिनाइयोंमें भी एकसी रहे।

स्व प्रयत्न या पैतृक-विरासतासे मिली सम्पत्तिको पुण्यका फल समझना रूढ़िवाद है। आगामी पुण्य-उपार्जनकी दृष्टिसे या अन्य प्रेरणाओंसे इच्छानुसार सम्पत्तिका दान करना, मात्र-संग्रहमें एवं अपने उत्तराधिकारीको ही देनेमें संतोष न मानना, सुधार है। स्वामित्वके बारेमें क्रांतिका प्रभाव तब होता है जब व्यक्ति सोचे कि—'जो सम्पत्ति मुझे प्राप्त है वह केवल मेरे प्रयत्नका फल नहीं है, और मैं दूसरोंको ग़रीब या तंग स्थिति में रखे बिना धन-संचय भी नहीं कर सकता। धन-संचयका अर्थ अन्यकी ग़रीबी होती है। जो व्यक्ति अन्यकी ग़रीबीको स्वीकार या नज़रअन्दाज करके धन-संचय करता है, वह धनसंचयके स्वामित्वके नाते पुण्यवान् हो जा सकता है पर साथ ही अनेक व्यक्तियोंकी ग़रीबी और लाचारीके पोषकके नाते पापी भी कम नहीं हैं। इस दृष्टिसे वह पुण्यकी अपेक्षा पापका ही भागी अधिक है।' ऐसा सोचकर वह व्यक्ति धन-संचय करनेके बजाय अपनी इच्छा व समझदारीसे उपार्जित धनका विवेकयुक्त बँटवारा करे। जब समाजमें क़ानून या अन्य दबावके सिवा भी स्वामित्व-त्यागकी भावना और प्रवृत्ति स्थापित होकर जीवनमें घुल-मिल जाय तब ही क्रांतिकी पूर्णता मानी जा सकती है।

कभी राजाको देव-रूप मानकर पूजासत्कार किया जाता था। उसके बिलकुल नालायक व अयोग्य उत्तराधिकारीको भी निबाहना धर्म समझा जाता था। यह रूढ़ि-वाद है। राजा वह है, जो सचमुच प्रजापालन कर सके और इस कार्य में सुयोग्य मन्त्रियों

का भी सहारा ले तथा नालायक़ उत्तराधिकारीको वारिस बनानेका आग्रह न रखे। तख़्त-नशीन नरपतिके नालायक़ होनेकी स्थितिमें यदि प्रजा उसे पदभ्रष्ट करे, तो यह विचार सुधारवादी है? इस दिशामें क्रांतिका प्रारम्भ वैयक्तिक राजसत्ताके तो त्यागसे होता है, परन्तु राजसत्ताका त्याग कर देनेपर भी यदि वह परिस्थितिका लाभ उठाकर पुराने राज्य देश या समाजका अधिकृत एवं उपयुक्त काम किए बिना सिंहासनपर मौज़मजे उड़ाता और साधारणतः जनताको निठल्ले आलसीपनेका सबक सिखाता रहे तो समझना चाहिए कि अभी इस बारेमें क्रान्तिका बहुत काम बाक़ी है।

पुराने ग्रंथोंमें है: ब्रह्म च क्षत्रं च—ब्राह्मण या क्षत्रिय ये दो वर्ण विशेष श्रेष्ठ हैं; वैश्य सेठ है, तो शूद्र सबका सेवक है। यह हुआ रूढ़िवाद। धार्मिक सुधारसे या अन्य देशोंके सम्पर्क से यह विचार आया कि उच्च-नीचका भेद न्यायोचित नहीं। यह सुधार परिवर्तनवाद है। पर जब इस वर्णभेदकी भावनामें अस्पृश्यताको जड़ मूलसे निवारणका प्रश्न आया, तब क्रांतिका बीजवपन हुआ। यह बीज अंकुरित तो हुआ। पर अभी उसके फलने-फूलनेमें कई बाधाएँ हैं। कुछ पक्के सुधारकों और राज्य-शासन के बलपर जहाँ अस्पृश्यताके निवारणका प्रयत्न होता है यहीं दूसरी ओरसे जात-पाँतके मिथ्या अभिमानी, न्यस्त-स्वार्थ साधक, धर्मके ठेकेदार तथा दूसरे नासमझ लोग अस्पृश्यों को आगे आनेसे रोकनेमें कुछ भी उठा नहीं रखते। उच्च-नीचकी भावनाको पूर्णतः निर्मूल करके अखण्ड-मानवताके नाते समानताकी स्थापना करना ही पूर्ण क्रांति है, और साधना अभी बाकी है।

हर सम्प्रदाय अपने-अपने प्रवर्तकोंको स्वतंत्र ईश्वरकी कोटिका माने तथा अपने अपने शास्त्रोंको ही अपौरुषेय, ईश्वरप्रणीत या सर्वज्ञकथित मानकर उनको इतना पूर्ण मान ले जिससे कि उन्हें किसी अन्य के शास्त्रोंसे कुछ भी समझने या लेने लायक न लगे ऐसा अतिसंकीर्ण धर्मवाद धार्मिक-रूढ़िवाद कहलाता है। स्वयं जिज्ञासा या अन्य परिस्थितिवश इतर परम्पराओंके शास्त्रोंके परिचयका मन तो हो पर इसके पीछे मुख्य दृष्टि यह रहे कि इन शास्त्रोंके आधार पर जहाँ सम्भव हो वहाँ, केवल अपने शास्त्रके ही मौलिकतत्व स्थापित किये जायँ और जहाँ ऐसा सम्भव न हो, वहाँ इतर शास्त्रोंके अभि-प्रायके प्रति, बहुत हुआ, तो तटस्थ रहा जाय यह एक तरहका ढुलमुल धार्मिक सुधार है। धार्मिक क्रांति की भूमिका बिलकुल निराली है। उसमें अपनी या दूसरेकी परम्पराका विरोधमूलक भेद रह ही नहीं पाता। परम्परा, सम्प्रदाय, शास्त्र, प्रवर्तक, कोई भी हो; अगर उसमें मानवताके हितकी बात हो, कोई संकीर्णताका भाव न हो, किसी जाति या वर्गके स्वार्थका सम्बन्ध न हो तो वे सब क्रांतिकी भूमिकामें मान्य होती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि क्रांतिका सच्चा अग्रदूत अपनी प्रज्ञाके प्रदीपसे ऐसी अनेक बातें नये रूपमें लोगोंको समझा जाता है जो शायद कभी किसीने सुनी भी न हों। क्रांति की इस भूमिकामें जो धर्मसमन्वय या सर्वधर्म समभाव पैदा होता है, वह मानवताको बहुत ऊँचा उठा ले जाता है।

भारत ही नहीं, दुनियाने इस युगमें ऐसी क्रांति की कुछ झाँकी गाँधीजीके जीवन-कार्यमें पाई है। जबर्दस्ती, शस्त्रबल या प्रलोभन आदिसे मानवसमाजोंमें अनेक परिवर्त्तन होनेका इतिहास तो मिलता ही है, पर इतिहासमें ऐसा एक भी पृष्ठ नहीं है, जिसमें यह

मिले कि किसीने जीवनके यावत्क्षेत्रोंमें अहिंसा और सत्यके बलपर इतने व्यापक प्रमाणमें मौलिक-क्रांति की हो। इसी कारण गाँधीजीका धर्म-समन्वय या सर्वधर्म-समभाव पुराने सन्तों या नये सुधारकोंसे बिलकुल भिन्न कोटिका लगता है।

अन्तमें, हम श्री विनोबाजीको भी नहीं भुला सकते। आज चाहे उनके विचार सरलतासे सर्वमान्य न हों, पर उनके विचारकी जड़में एक ऐसा प्रेम-संदेश—एक ऐसा अखण्ड-मानवतावादी भाव है कि अगर मानव जातिको विचारपूर्वक शान्तिसे जीवित रहना है तो संघर्ष, स्वार्थ हिंसा और वैर-प्रतिवैरकी वृत्तिसे थक जानेपर जल्दी या देरसे उसे अपनाना ही पड़ेगा। ऐसी ही सामाजिक क्रांतियाँ विशुद्ध शास्त्र बन जाती हैं और वे मानव-जीवनकी स्थायी विभूतियाँ हैं।

रूढ़िका मूल वहममें है और सच्ची क्रांतिका प्राण धर्ममें। वहम और धर्ममें अन्तर है। वहम अज्ञानके कारण धर्मसे पैदा होता है और उसका ही नाशक रता है। सच्ची-क्रांतिको समझनेके लिये वहम और धर्मका अन्तर अवश्य समझना चाहिए। वहमके नाशसे कोई हानि नहीं, पर धर्मके नाशसे हानि अवश्यम्भावी है। वहमके नाशसे ही धर्मको बचाया जा सकता है, जो क्रांतिमात्रका प्राण है। भावको हम वॉल्तेयरके निम्न शब्दोंमें प्रकारान्तरसे पढ़ सकते हैं। ये उसने अपने एक मित्रको सम्बोधित करके लिखे थे :—

" Religion, you say, has produced countless misfortunes; say rather the superstition which reigns on our unhappy globe. This is the cruelest enemy of pure worship due to the supreme Being. Let us detest this monster which has always torn the bosom of its mother; those who combat it are the benefactors of human race; it is a serpent which chokes religion in its embrace; we must crush its head without wounding the mother whom it devours."

—The story of Philosophy by
Will Durant p. 242.

—:o::o:-

समाजिक क्रान्ति - उसका रूप और प्रतिक्रिया

प्रकृति और पुरुष,—यह दो मुख्य तत्व हैं, जिनसे इस विश्व का निर्माण हुआ है। यह दोनों तत्व क्रांतिके प्रभावसे अछूते नहीं रह सकते। दोनोंके लिए उसकी प्रतिक्रिया भी प्रायः एक सी होती है। दोनोंको एक-दूसरेका विरोधी इस रूपमें माना गया है कि प्रकृतिकी कठोरताको सहन न करनेके कारण पुरुषने उसपर विजय प्राप्त करनेका प्रयत्न किया और उस प्रयत्नके कारण दोनोंमें एक संघर्ष छिड़ गया। फिर भी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनोंके पारस्परिक व्यवहारपर ही यह सारा विश्व टिका हुआ है। दोनों का क्रांतिके प्रभाव और प्रतिक्रिया (परिणाम) से बच सकना संभव नहीं है।

प्रकृतिमें होनेवाली क्रांतिको आँधी, तूफान, झंझावात, भूकंप व प्रलय आदि अनेक रूपोंमें देखा जा सकता है और उसकी प्रतिक्रियाको इन परिवर्तनोंसे सहजमें समझा जा सकता है। एक वाक्यमें कहें, तो यह कहा जा सकता है कि क्रांतिका प्राकृतिक रूप अत्यन्त भयानक एवं विनाशकारी है लेकिन उसकी प्रतिक्रिया अथवा परिणाम अत्यन्त सौम्य, सुन्दर, जीवन-प्रद एवं प्राणदायक होता है। हम क्रांतिके कालके सारे कष्ट, क्लेश व दुखोंको सहसा ही भूल जाते हैं। मानव-जीवनमें होनेवाली क्रांतिका भी यही रूप और क्रिया-प्रतिक्रिया हैं। प्रतिक्रिया शब्दका प्रयोग हम यहाँ परिणामके अर्थमें कर रहे हैं। यहाँ उसका अर्थ विपरीत परिणाम किंवा रिऐक्सन नहीं किया जाना चाहिये। उसके लिए ठीक-ठीक अर्थका सूचक शब्द प्रतिगामी है।

अंकुर पृथ्वीका पेट फाड़कर प्रगट होता है और पौधा सिर ऊँचा किये स्वाभिमानके साथ बढ़ता चला जाता है। पृथ्वीका पेट न फटे, तो वनस्पतिका पैदा होना रुक जाय और पौधा भी संभव न रहे। जीव-जन्तु और प्राणियों के लिये, जीवन निर्वाहकी समस्या का हल कर सकना कठिन हो जाय। इस प्रकार देखा जाय, तो क्रांतिके गर्भसे ही जीवन के पोषक तत्व प्रगट होते हैं। इसीलिए क्रांतिको जीवन एवं प्राण देनेवाली कहा गया है। वह मनुष्यमें स्वाभिमानकी उस भावनाका संचार करती है, जिसके विना वह अपने मनुष्यत्वको खोकर निरा पशु बन जाता है। मनुष्य जीवनकी सार्थकता छाती फुलाकर, सिर ऊँचा करके जीवित रहनेमें ही है।

मानवकी आत्माका स्वभाव सिद्ध गुण चेतनता है और चेतनता ही जागृतिका चिन्ह है। परन्तु आत्माकी यह चैतन्य शक्ति उस चिनगारीके समान है, जो राखके नीचे ढकी हुई अपने स्वाभाविक रूप एवं गुणको भूल जाती है। इस राखकी तरह मानव-

आत्मापर भी रूढ़ि, परंपरा, अंध-विश्वास, मिथ्या धारणा, भ्रांत-भावना एवं निरर्थक सामाजिक मान्यता आदिसे पैदा हुई जड़ता मूढ़ताका वास्तविकताको ढंकनेवाली अवास्तविकताका पर्दा पड़ जाता है। कभी-कभी उसकी तह इतनी मोटी हो जाती है कि उसका हटा सकना, दुस्साध्य हो जाता है। साधारण स्थिति तो यह होती है कि हवाका एक अनुकूल झोंका आते ही राख उड़ जाय और दबी हुई वह चिनगारी प्रज्वलित हो उठे। उसमें ऐसी अदम्य शक्तिका संचार हो उठे कि वह घरों, नगरों भयानक जंगलोंको भस्मसात करनेवाले दावानलका सा भीषण रूप धारण कर ले। मानवकी आत्मापर पड़ा हुआ जड़ता अथाह मूढ़ताका आवरण यदि हट जाय, तो उसकी चैतन्य-शक्ति भी इसी प्रकार प्रज्वलित हो सकती है और वह भी अदम्य बन सकती है। यही क्रांतिका काम है कि रूढ़ि, परंपरा, अंध-विश्वास, मिथ्या धारणा, भ्रांत भावना और झूठी कल्पना, निरर्थक सामाजिक मान्यता तथा पुराने संस्कारोंके विकार को छिन्न-भिन्न कर डाले। अवास्तविकताको दूर कर वास्तविक स्थिति लाना क्रांतिका धर्म है।

प्रकृतिको परिवर्तनशील बताया जाता है। उसमें उसका जो चक्र हमारे चारों ओर बना हुआ है, वह सदा ही घूमता रहता है। इस गति अथवा प्रगतिका नाम ही तो परिवर्तन है। दिन-रात, सुबह-शामका परिवर्तन यदि न हो, तो प्रकृतिपर निर्भर रहने वाले प्राणि मात्रका जीवन दूभर हो जाय। दिनमें सूर्य और रात्रिमें चन्द्रमाका यह क्रम सृष्टिके आदिसे चला आता है और सृष्टिके अन्त तक चलता रहेगा। बारह मासकी लड़ीमें बंधे हुए कितने ही वर्ष मानव-जीवनमें निरंतर जुड़ते रहते हैं प्रकृतिकी इस गति-प्रगति अथवा परिवर्तनका नाम ही तो यह संसार है। यदि कहीं प्रकृतिका यह स्वभाव मन्द पड़ जाय, तो संसार निश्चय ही संसार न रहकर असार बन जाय। प्रकृतिके जिन पाँच तत्वोंसे इस संसारका निर्माण हुआ है उन सबका यही स्वभाव-सिद्ध धर्म है। पानी हवा व अग्नि आदिके वेगको कौन बाँध सकता है? पानीकी धारा, हवाका झोंका और अग्निकी ज्वाला बड़ेसे बड़े अवरोधको भी पार करके अपना रास्ता बना लेती हैं। आत्माके स्वभावसिद्ध चैतन्यकी भी स्वाभाविक स्थिति यही है। उसकी गतिको भी कोई सदाके लिये रोक नहीं सकता। अज्ञान, जड़ता व मूर्खताका परदा उस पर पड़ सकता है; परन्तु सदाके लिए नहीं; केवल कुछ समयके लिए।

गतिके इस प्रकार स्वभाव-सिद्ध होनेपर भी हर प्रकारकी गतिको प्रगति नहीं माना जा सकता। हर परिवर्तन वास्तविकता पैदा करनेवाला नहीं हो सकता। विनाशकी हर प्रतिक्रयाको क्रांतिका रूप नहीं कहा जा सकता। मशीनका पहिया यदि उल्टा घूमना शुरु हो जाय, तो अनर्थका कारण बन जाता है। पानीकी धारा यदि सीमालाँघ जाय तो जल-प्रलय हो जाती है। हवाकी गतिमें "अति" पैदा होनेपर तुफान या झंझावात आ जाते हैं। अग्निकी शिखाएँ प्रज्वलित होनेपर दावानल बन जाती है। वेग यदि उद्वेग बन जाय, तो उसकी सराहना नहीं की जा सकती। इस कारण प्रगतिके स्वरूप को ठीक-ठीक आँक लेना आवश्यक है। क्रांति बीमारीकी औषधिके समान है। निदान और उपचारके बिना औषधि अपना गुण नहीं दिखा सकती।

बौद्ध साहित्यकी भाषामें कहा जाय, तो क्रांतिके रूप और उसकी प्रतिक्रियाके लिए 'बोधिसत्व' और 'बुद्ध' दो शब्दोंका प्रयोग किया जा सकता है। बोधिसत्वका अभि-

प्राय है पूर्णताकी खोज एवं उसके लिये प्रयत्न करनेवाला। क्रांतिकी प्रक्रियाका उद्देश्य अथवा प्रयोजन भी यही होता है। वह पूर्णता या वास्तविकताका खोज करती अथवा उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करती है। बुद्धका अर्थ है, पूर्णताकी प्राप्तिकी सीढ़ी, जो क्रांतिकी प्रतिक्रिया अथवा उसका परिणाम है। जातक-कथाओंमें बार-बार यही समझानेका प्रयत्न किया गया है कि पूर्णताकी प्राप्तिमें कितने ही जन्म-जन्मान्तर लग सकते हैं। जीवको कितनी ही योनियाँ पार करनी पड़ सकती हैं। उसकी खोज व प्रयत्न निरन्तर जारी रहने चाहिये। गौतमको कितनी लम्बी, घोर तपस्याके बाद 'बुद्धत्व' प्राप्त हुआ। आवश्यक नहीं कि क्रांतिकी एक ही प्रक्रियाके बाद सफलता हाथ लग जाय। कितनी ही प्रक्रियाएँ असफल या विफल हो सकती हैं, परन्तु खोज अथवा प्रयत्नका तारतम्य टूटना नहीं चाहिये। उनकी श्रृंखला निरन्तर बनी रहनी चाहिये।

वैदिक प्रार्थनाके शब्दोंमें क्रांतिके उपासक मानवका ध्येय होना चाहिए कि "असतो मा सत् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय।" असत्यसे सत्य, अंधकारसे प्रकाश और मृत्युसे अमृतकी ओर जाना ही क्रांति की प्रक्रिया अथवा उसका रूप है। असत्य, अन्धकार और मृत्यु वास्तविक नहीं, बल्कि उस आवरणके समान हैं, जो वास्तविक स्वभावको ढँक लेता है। क्रांतिका काम उसको दूर करना है।

सामान्यतया मानव-जीवनसे संबंध रखनेवाले क्रांतिके तीन क्षेत्र हैं, जिनको हम व्यवहारकी भाषामें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र कह सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें धर्म, समाज और राजनीतिसे भी उन क्षेत्रोंको व्यक्त किया जा सकता है। इन तीनों क्षेत्रोंमें होने वाली क्रांतियोंको धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांति कहा जा सकता है। धार्मिक क्षेत्र केवल व्यक्ति तक सीमित न रहकर अत्यन्त व्यापक बन गया है, क्योंकि मानव-जीवनके समस्त व्यवहारको धर्मके साथ जोड़ दिया गया है और धर्म-स्थानोंकी स्थापना करके समाजको उनके साथ बाँध दिया गया है। राजनीतिको भी धर्मके साथ बाँधने की निरंतर चेष्टाएँ की जाती रही हैं। धर्मके प्रतीक पण्डे पुरोहित व पण्डित अथवा मुल्ला-मौलवी व पादरी न केवल व्यक्तिके जीवनपर हावी रहे हैं; अपितु समाज और राजनीतिको भी उन्होंने अपने फ़ौलादी पंजोंमें रक्खा है। इसमें संदेह नहीं कि उनका प्रभुत्व बहुत तेजीसे मिटता जा रहा है; फिर भी मिटते हुए समाजकी तरह वे अपनी सत्ता बनाए रखनेमें निरन्तर संलग्न हैं। राजाओं अथवा सम्राटोंकी तरह उन्होंने भी अपनी सत्ताकी रक्षाके लिये भयानकसे भयानक संघर्ष किये और कर रहे हैं। योरपमें कभी पादरियोंकी तूती बोलती थी। अनेक देशोंसे उनकी सत्ता मिट चुकी है और अनेक में केवल शोभा व नामके लिये उनका अस्तित्व रह गया है। कभी टर्कीके ख़लीफ़ा सारे मुस्लिम राष्ट्रोंके अथवा समस्त मुस्लिम जगतके धर्म-गुरु माने जाते थे। उनकी ख़िलाफ़तकी गद्दीका चारों ओर बोलबाला था। कमालपाशा और उनके साथियोंने गद्दीके विरुद्ध विद्रोहका झंडा खड़ा करके क्रांतिका ऐसी चक्र घुमाया, कि उसका अस्तित्व ही मिट गया। मुल्ला, मौलवी दाढ़ी, फैज़कैप तथा बुरका आदि धर्मके सारे चिन्ह समाप्त कर दिये गये। मस्जिदोंमें विद्यालय, पुस्तकालय, अस्नानताल, अजायबघर अथवा इसी प्रकारकी अन्य लोकोपकारी संस्थाएँ कायम करदी गईं। धर्म स्थानके रूपमें उनका कोई अस्तित्व तथा महत्व नहीं रहा। क़ुरानशरीफ़के अरबी भाषामें लिखे होने

से यह फैसला दे दिया गया कि वह टर्कीके लिये नहीं है। जिस धर्मने जनताको मूढ़ बनाकर उसमें जड़ता पैदा कर दी थी, उसकी उन्नति व प्रगतिके सब मार्ग अवरुद्ध कर दिए थे और उसके जीवनपर अवास्तविकताका परदा डाल दिया था, उसका कोई चिन्ह तक टर्कीमें शेष नहीं रहने दिया गया। धर्मकी आड़में कैसी अनैतिकता पनप रही थी। ख़लीफ़ाके हरममें सैकड़ों लड़कियाँ अनैतिकताका जीवन बितानेके लिये लाचार की जाती थीं। महिलाओंकी आज़ादीका अपहरण किया गया था। वे घरोंके बाहर आ-जा नहीं सकती थीं। घरोंके दरवाज़ों और खिड़कियोंपर मैले-कुचैले परदे टँगे रहते थे। खुली हवा और खुले प्रकाशका उपभोग करना उनके लिए वर्जित था। इस सारी स्थिति को धार्मिक क्रांतिने बदल दिया। कमालपाशाकी यह मान्यता थी कि स्त्रियोंके रूपमें देशकी आधी जनताको गुलामीमें रखते हुए प्रजातन्त्रके प्रयोगको सफल नहीं बनाया जा सकता। टर्कीके इस महान परिवर्तनका प्रभाव अन्य मुस्लिम राष्ट्रोंपर भी पड़ा। भले ही अफ़गानिस्तानमें बादशाह अमानुल्लाको सफ़लता नहीं मिल पाई और ईरानमें रजाशाह पहलवीने क्रांतिका जो चक्र घुमाया था, वह अपने पूरे वेगसे नहीं चला; फिर भी इनमें और अन्य मुस्लिम-देशोंमें बहुत तेज़ीसे परिवर्तन हो रहे हैं! मिश्रमें जिस तेज़ीसे परिवर्तन हुआ, उसकी किसीको कल्पना तक नहीं थी। वहाँ राजसत्ता और उसके आश्रित सामन्तशाहीका एकाएक अंत ही हो गया। धर्मका नारा बुलन्द करके जनता को मदान्ध बनानेवाली मुस्लिमलीग पाकिस्तानमें लड़खड़ा रही है।

हमारे देशमें राष्ट्रीय-दृष्टिसे धर्म निरपेक्ष आदर्शको स्वीकार किया जा चुका है और जनतामें असमानता, भेदभाव तथा ऊँच-नीचका विस्तार पैदा करने वाला धर्म बड़ी तेजी से लुप्त होता जा रहा है। अन्य अनेक देशोंमें भी प्रायः ऐसी ही स्थिति पैदा हो रही है। धर्मके नामपर क़ायम की गई जड़ता वमूढ़ताको सर्वथा नष्ट किया जा रहा है। नये चीन और सोवियत रूसकी तो चर्चा ही क्या की जाय? उनको "नास्तिक" कहकर उनकी भर्त्सना की जा रही है। यद्यपि नये चीनमें लोगोंके धार्मिक विश्वासों व मान्यताओंमें किसी भी प्रकारका कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता और धार्मिक त्योहार आदि पहलेसे भी अधिक उत्साह एवं घूमधामसे मनाये जाते हैं; फिर भी राज-काजमें धर्मका कोई स्थान नहीं रहा, जनताके व्यवहारमें भी उसका महत्व कम होता जा रहा है। इस प्रकार चारों ओर जो धार्मिक क्रांति हुई है, उसका प्रभाव जनताके केवल व्यक्तिगत जीवनपर ही नहीं, उसके सामाजिक जीवनपर भी पड़ा है और सामाजिक-क्रांतिका चक्र भी उसी वेगके साथ घूम रहा है! धार्मिक और सामाजिक दृष्टिसे इन सभी देशोंमें जनताके जीवनका जो कायाकल्प हो रहा है, वह आश्चर्यजनक है।

इस प्रसंगमें राजनीतिक क्रांतिकी चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं है; परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धार्मिक व सामाजिक क्रांति राजनीतिक-क्रांतिकी पूरक हैं। वह पहले उसके लिये भूमि तैयार करती है और बादमें उसकी कमियोंको दूर कर उसको पूर्णतापर पहुँचाती है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ राजनीतिक-क्रांति सफल नहीं हो पाती। इस प्रकार होनेवाली क्रांतिकी प्रक्रिया बहुत लंबी होती है; परन्तु उसके परिणाम अत्यन्त शुभ व स्थायी होते हैं। उदाहरणके लिये हम अपने ही देशकी स्थिति के संबंधमें कुछ विस्तारसे विचार करें। अंग्रेज़ जब इस देशमें आये थे, तब हमारे देश

के लोगोंमें व्यक्तिगत रूपसे किसी भी बातकी कमी न थी, किंतु अंग्रेजोंके मुक़ाबलेमें हमारे सामूहिक चरित्रका विकास नहीं हुआ था। मुसलमानोंके मुक़ाबलेमें भी वह बहुत कमज़ोर था। राजपूत वीरता, त्याग, तपस्या उत्सर्ग एवं बलिदानके धनी थे; परन्तु उनका सामाजिक एवं सामूहिक जीवन सर्वथा विशृंखल था। स्त्रियोंकी स्थिति भी समाज में कुछ ऊँची न थी। लड़कीका जन्म एक अभिशाप ही समझा जाता था। ऊँच-नीच के भेद-भावकी खाई बहुत गहरी और चौड़ी बन चुकी थी। ऊँचे घरानेके राजपूत सरदार युद्धके क्षेत्रमें शत्रुका सामना करनेके लिये भी अपनेसे नीचे माने गये राजपूत सरदारोंके साथ कन्धेसे कन्धा मिलाकर खड़े नहीं हो सकते थे। इस प्रकार वे युद्धके क्षेत्रमें निरन्तर पराजित होते रहे। इतिहासके विद्वानोंने स्वीकार किया है कि पेशवाओंमें अपने ब्राह्मणत्व का जो अभिमान समा गया था, वह उनके राजनीतिक पतन और मराठाशाहीके विनाश का मुख्य कारण बन गया। हमारी ऐसी ही कमज़ोरियोंके कारण पहले मुसलमान और फिर अँग्रेज़ हम पर हावी हो गये। १८५७ की देशव्यापी प्रचंड राज्य-क्रांति भी हमारी इन्हीं कमज़ोरियोंके कारण सफ़ल नहीं हो पाई और हम इस तरहसे गुलामीमें जकड़ दिए गए। इस अत्यन्त निराशापूर्ण स्थितिमें राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द तथा स्वामी विवेकानन्द आदिके रूपमें हमारी सामाजिक एवं धार्मिक चेतनाने एक ज़बर्दस्त करवट ली। इसी सामाजिक एवं धार्मिक क्रांतिके गर्भसे हमारी राजनीतिक चेतना अथवा राष्ट्रीयताका प्रादुर्भाव हुआ। लोकमान्य-तिलक, तथा अन्य राजनीतिक नेताओंने धार्मिक एवं सामाजिक मामलोंकी उपेक्षा करके केवल राजनीतिक जागृति पैदा करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु राज्य का संघर्ष बहुत लंबा खिच गया। महात्मागांधीके रूपमें एक बार फिर देशको वह नेतृत्व प्राप्त हुआ, जिसने एक ओर मादक द्रव्य निषेध तथा हरिजनोद्धार, महिला जागरण सरीखे कार्यक्रमोंको हाथमे लेकर धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिपर बल दिया और दूसरी ओर राजनीतिक क्रांतिमें अपनेको खपा दिया। यह प्रक्रिया इतनी लंबी हो गई कि जिस स्वराज्यको गाँधीजी एक वर्षमें प्राप्त करना चाहते थे, उसे प्राप्त करने में २७ वर्ष लग गये। परन्तु उसकी नींव अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओंके बावजूद कमज़ोर और खोखली नहीं है। दूसरोंने भी उसकी दृढ़ता एवं मजबूतीको स्वीकार किया है। स्व-राज्य-प्राप्तिके बाद अब हम फिर सामाजिक एवं धार्मिक-क्रांतिके विभिन्न आदर्शोंको पूरा करनेमें लगे हैं। सभ्यता, समानता और बन्धुत्व भावके आदर्शके सुदृढ़-आधारपर प्रजातंत्रकी नींव रखी गई है। ऊँच-नीचके समस्त सामाजिक एवं धार्मिक आधार एक-एक करके नष्ट किए जा रहे हैं। स्त्री और पुरुषकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति और राजनीतिक अधिकारमें जो अंतर था, वह दूर कर दिया गया है। सामाजिक व्यवस्थाके लिए समाजवादके आदर्शको स्वीकार करके हम पूरी तेज़ीसे उसकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह है सामाजिक एवं धार्मिक क्रांतिका वह रूप, जिसके बिना राजनीतिक क्रांति पूरी तरह निखर नहीं सकती और उस का रंग ठीक तरह खिल नहीं सकता।

रूसकी सोवियत क्रांतिका उदाहरण भी टर्की जैसा ही है। वहांके क्रांतिकारी युवक भी अपनेको उन आदर्शोंमें पूरी तरह ढाल चुके थे जिनमें वे अपने सारे देशको ढालना चाहते थे। नये चीनका उदाहरण इस दृष्टिसे अत्यन्त स्पष्ट है। चीनके राष्ट्रपिता

डा० सुनयातसेन १८९६ में जिस राज्य क्रांतिके प्रयत्न करनेमें लग गये थे और जिसके लिये उन्होंने निर्वासन तककी कठोरसे कठोर यातनाएँ सहन कीं, वह १९११ में सफल हुई और प्रजातंत्रकी स्थापना होकर वे उसके पहले राष्ट्रपति भी चुन लिये गये थे। परन्तु वह पूरे १२ महीने भी निभ न सकी। प्रतिगामी तत्वोंने उस पर हावी होकर उसे सर्वथा विफल बना दिया। डा० सुनयातसेन और उनके साथियोंने यह अनुभव किया कि सर्व सामान्य जनताको अपने साथ लिये बिना और उसकी सामाजिक जड़ता एवं धार्मिक मूढ़ता को नष्ट किये बिना उनके प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। उनको एक बार फिर अज्ञातवास एवं निर्वासनका जीवन बिताना पड़ा और बड़ेसे बड़े जोखिमका सामना करना आवश्यक हो गया। ४ मई १९१९ को जिस क्रांतिका सूत्रपात किया गया वह राजनीतिक की अपेक्षा मुख्यत: सांस्कृतिक थी, जिसका सीधा संबंध जनताके सामाजिक व धार्मिक जीवनके साथ था। देशव्यापी महान युवक-आंदोलनके रूपमें उसका सूत्रपात किया गया। इस प्रकार तैयार किए गए सुदृढ़ आधारपर प्रारंभ की गई क्रांति १ अक्टूबर १९४९ को पूरी तरह सफल हो सकी। आज भी वहाँ चार मईका दिन प्रति वर्ष सांस्कृतिक क्रांतिको सफ़ल एवं व्यापक बनानेके लिए विशेष रूपसे मनाया जाता है। यह वस्तुत: नये चीनके युवकोंका वह महोत्सव है जिसपर वे अपने प्रजातंत्री राष्ट्रको नये सामाजिक एवं धार्मिक आदर्शोंमें पूरी तरह रँगनेका दृढ़ संकल्प करते हैं। १ अक्टूबर १९४९ को ही उन्होंने अपने कार्यकी इतिश्री नहीं मान ली; बल्कि उसके बाद और भी अधिक उत्साह एवं विश्वाससे अपने काममें जुट गये। इस प्रकार वे प्रजातंत्री क्रांतिको पूर्णता की सीमापर पहुँचानेमें पूरी तरह संलग्न हैं।

यह है वह प्रक्रिया जिससे सामाजिक एवं धार्मिक क्रांति द्वारा राजनीतिक क्रांतिके लिये अनुकूल परिस्थितियां पैदा की जाती हैं और उसके बाद उसीके द्वारा उसको पूर्ण बनानेका प्रयत्न किया जाता है। इस क्रांतिकी लंबी प्रक्रियाके संबंधमें हमको डा० सुनयातसेन के साथ घटी हुई एक बहुत पुरानी घटना याद आती है। वे अपने अज्ञातवास में लंदनके एक होटलमें ठहरे हुए थे। उनके पास के कमरेमें कुछ रूसी क्रांतिकारी युवक ठहरे हुए थे। वे भी उनकी तरह अज्ञातवास कर रहे थे। दोनोंमें परिचय होनेके बाद एक-दूसरेके देशमें संभावित क्रांतिके संबंधमें चर्चा हुई। रूसी नवयुवकोंने डा० सुनयातसेनसे पूछा कि वे अपने देशमें क्रांतिके कितने वर्षोंमें सफ़ल होने की आशा रखते हैं। डा० सुनयातसेनने उत्तर दिया कि ३० वर्षोंमें। रूसी नवयुवक उनका यह उत्तर सुनकर कुछ स्तम्भित रह गये। उनके विस्मयका कारण यह ३० वर्षकी अवधि नहीं बल्कि यह था कि वे अपने देशमें तो ३० वर्षोंमें भी क्रांतिके सफल होने की आशा नहीं रखते थे। डा० सुनयातसेन अपने देशकी जनताकी स्थितिसे भली प्रकार परिचित थे। किसी राजा या राजवंशके विरुद्ध विद्रोह कर के उसको राज्यच्युत कर देना इतना कठिन नहीं है, जितना कि आम जनतामें किसी क्रांतिको सफ़ल बनाना। रूस में ज़ारशाहीको समाप्त करनेका प्रश्न मुख्य था। जनता उसके अत्याचारोंसे तंग आ चुकी थी। उसके जीवनके समस्त साधनों यहाँ तक कि पानीके स्रोतोंपर भी ज़ार का एकाधिकार था। अनेक प्रकारके टैक्सोंकी भरमार थी। यहाँ तक कि बाजार जाने और घरमें चूल्हा जलाने तक पर टैक्स लगता था। जनताको जान-बूझकर मूढ़,

जड़ और अज्ञानी रखकर उसपर मनमाना शासन किया जाता था। सरा देश बादशाह की जागीर और सारे देशवासी उसके गुलाम समझे जाते थे। ऐसे अत्याचारी शासकको राजगद्दीसे च्युत करना इतना कठिन न था। लेनि चीन और भारतकी स्थिति सर्वथा भिन्न थी। यहाँ आम जनताको एक विशेष प्रकारके सामंती शासन और नौकरशाही शासनसे मुक्ति दिलानेकी समस्या बहुत टेढ़ी थी। भारतकी समस्या और भी अधिक उलझी हुई थी। यहाँ एक जातिपर दूसरी समूची जातिका शासन था। वह ऐसे दो-एक व्यक्तियोंपर निर्भर नहीं था, जिनको हटा देने मात्रसे समस्या हल हो जाती। यहाँ और चीनमें भी इस समस्याको हल करनेके लिये आम जनताके चरित्रके निर्माण करनेका प्रश्न मुख्य था, जिसके बलपर तत्कालीन शासनका अंत किया जा सके। गांधीजी और डा० सुनयातसेनने उसका निर्माण किया। चालीस करोड़ और साठ करोड़ जनताके चरित्रके निर्माण करनेमें २५ या ३० वर्ष लग जाना मामूली बात थी। वैसा ही हुआ भी। इसी कारण इस क्रांतिकी यह प्रक्रिया बहुत लंबी है और उसके लिए अपार धैर्य, अटूट आत्मविश्वास और निस्सीम निष्ठाकी आवश्यकता है। संसारकी सब बड़ी-बड़ी क्रांतियोंको इसी प्रकार सफ़ल बनाया गया है। सामाजिक एवं धार्मिक क्रांतिके आधारपर की गई राजनीतिक क्रांति सफ़ल हुए बिना नहीं रह सकती और उसके परिणाम भी प्रायः सदा ही शुभ एवं कल्याणकारी होते हैं। उसका रूप जितना भीषण और लम्बा होता है, उसकी प्रतिक्रिया किंवा परिणाम उतना ही सत्य, शिव एवं सुंदर होता है।

श्री हरिदत्त वेदालंकार

विवाह, कुटुम्ब और समाज

विवाह और परिवार मानव-जातिमें आत्मसंरक्षण, वंशवर्धन और जातीय जीवन के सातत्यको बनाये रखनेका प्रधान साधन हैं।

विवाह संस्थाका प्रादुर्भाव

मरण-धर्मा मनुष्यको अमर बनानेवाली विवाह संस्था का मानव समाजमें प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ ? यह एक मनोरंजक और रोचक प्रश्न है। उद्गम सदैव अस्पष्ट और अनिश्चित होते हैं। भगवती श्रुतिके शब्दोंमें ऐसे उद्गमोंको निश्चयसे कौन जानता है ? कौन उन्हें बता सकता है ? (को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत् ऋग्वेद १०।१२९।६)। इनपर रहस्य का आवरण पड़ा हुआ है।

किन्तु मनुष्यकी अदम्य जिज्ञासा इस से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह इस पर्देको हटाकर सुदूर अतीतके धुन्धले एवं अस्पष्ट कालके संबंधमें कुछ जानना चाहती है। तथ्योंके अभावमें कल्पनाके पंखोंपर उड़कर उस कालकी झांकी प्राप्त करती है।

कामाचार द्वारा विवाहके प्रादुर्भावकी कल्पना

१९ वीं शताब्दीमें समाजशास्त्रियों ने जब सर्वप्रथम इस विषयका अनुसंधान किया, तो उन्हें अनेक जातियोंमें ऐसी कथायें और प्रथायें मिलीं, जिनके आधारपर यह कल्पनाकी गयी कि मानव समाजमें विवाह-संस्थाका उदय कामाचार (Promiscuity) से हुआ। इसके अनुसार पहले स्त्री-पुरुषोंको स्वच्छन्द संबंध करनेकी स्वतंत्रता थी। स्त्रियों और पुरुषों दोनों पर विवाहके सम्बन्धमें कोई रोक-टोक या प्रतिबन्ध नहीं थे। इस निर्बाध और उन्मुक्त स्वतन्त्रताकी दशाको कामाचार या अनावरण (Promiscuity) स्वच्छन्द विवाह (Free marriage), गण विवाह (Group marriage) स्वैरिणीत्व (Hetaerism.) आदि विभिन्न नामोंसे कहा जाता था और यह माना जाता था कि इस आरंभिक कामाचारसे ही बादमें नियमबद्ध वर्त्तमान विवाहों का जन्म हुआ।

भारतीय साहित्यमें महाभारतकी कुछ कथायें उपर्युक्त मतको सिद्ध करनेवाली बतलायी जाती थीं। आदि पर्वमें पाण्डुने कुन्तीको नियोगकी प्रेरणा करते हुए कहा है—"पुराने ज़मानेमें स्त्रियाँ खुली, अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जानेवाली और स्वतंत्र थीं (अनावृताः किलपुरा स्त्रिय आसन् वरानने। कामचार विहारिण्यः स्वतंत्राचारु हासिनि ॥१।१२२।३)। वे कौमार्यावस्थासे ही अनेक पुरुषोंके पास जाया

करती थीं। ऐसा करना अधर्म नहीं था। उत्तर कुरु देशमें आज तक इसका प्रचलन है। इसके बाद पाण्डुने यह बताया कि विवाहकी मर्यादा इस लोकमें देरसे प्रचलित नहीं है। इसे स्थापित करनेवाले उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु थे। एक समय जब उनके पिताके सामने एक ब्राह्मण उनकी माताका हाथ पकड़कर ले जाने लगा और श्वेतकेतुने इसपर आपत्ति की तो उद्दालकने सनातन धर्म कहकर इसका समर्थन किया। श्वेतकेतुको यह धर्म असह्य था, उन्होंने समाजमें स्त्री-पुरुषकी मर्यादाकी स्थापना बल-पूर्वक की। इसी प्रकार इसी ग्रंथमें अन्यत्र विवाह-प्रथा प्रचलित करनेका श्रेय दीर्घतमा ऋषिको दिया गया है। दीर्घतमा जन्मसे ही अंधे थे, प्रद्वेषी नामक कन्यासे उनका विवाह हुआ था, उनकी कई सन्ताने भी थीं। पर जब उन्होंने 'सुरभिकी सन्तानसे गोधर्म (कामाचार) सीखा और निश्शंक होकर यह कार्य करना शुरू किया तो अन्य ऋषि मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले (वितथ मर्याद) दीर्घतमासे बड़े रुष्ट हुए। उन्हें आश्रमकी मर्यादा तोड़नेके कारण वहाँ रहने योग्य नहीं समझा गया। उनकी पत्नीने भी जब दीर्घतमाके आचरणसे ऊबकर उसे छोड़नेका निश्चय किया तो दीर्घतमाने कहा—'मैं आजसे ऐसी लोक-मर्यादा स्थापित करता हूँ कि यावज्जीवन एक ही पति नारी का सहारा होगा। पतिके जीवित रहने या मर जानेपर भी कोई स्त्री दूसरे पुरुषकी शरण नहीं लेगी।" कहा जाता है कि दीर्घतमाकी व्यवस्थासे पूर्व समाजमें विवाह और परिवारकी संस्था नहीं थी।

चीनके एक पुराने इतिहासमें कहा गया है कि प्रारम्भमें पुरुष तथा अन्य प्राणियोंमें किसी बातमें अन्तर नहीं था। मनुष्य जंगलोंमें इधर-उधर घूमते थे। स्त्रियोंपर उनका अधिकार समान रूपसे था। बच्चोंको अपने पिताका कभी ज्ञान नहीं होता था, वे केवल अपनी माताको जानते थे।" सम्राट् फौ-हीने इस आदिम कामाचारका अन्त कर विवाहकी संस्थाका श्रीगणेश किया। इसी प्रकारकी कथायें मिश्र और यूनानके प्राचीन इतिहासमें पायी जाती हैं। मिश्रमें विवाह प्रथा चलानेका श्रेय मेनेसको तथा यूनानमें केक्रोप्सको दिया जाता है।

कुछ समाज शास्त्रियोंने आज तक प्रचलित ऐसे रीति-रिवाजोंका निर्देशन किया है, जो इस बातका प्रमाण हैं कि विवाहकी आदिम-अवस्था कामाचार ही थी। इनमें छः प्रथाएँ विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं—(१) प्राग्वैवाहिक स्वतन्त्रता, (२) प्रथम रात्र्य-धिकार (Jus Primae Noctis) (३) धार्मिक वेश्यावृत्ति (४) स्त्रियोंको उधार देना तथा उनकी अदला-बदली करना (५) कुछ पर्वोंपर यौन स्वच्छन्दता (६) मातृक अधिकार (mother right.)। इनके अतिरिक्त प्राचीन यूनानी और रोमन लेखकोंके प्रमाणोंके आधारपर कामाचारका समर्थन किया गया।

प्राग्वैवाहिक स्वतन्त्रताका तात्पर्य अनेक जंगली जातियोंमें पायी जानेवाली उस परिपाटीसे है, जिसके अनुसार विवाहसे पहले नर-नारी को यौन-संबंध करनेकी स्वच्छन्दता होती है। कामाचारके समर्थकोंका कथन है कि पहले यह स्वतंत्रता मानव-समाजमें सार्वभौम थी, अब कुछ विशेष जातियों तक ही सीमित रह गई है। कामाचारका दूसरा प्रमाण प्रथम रात्र्यधिकार है। लार्ड एवबरीने इसपर बहुत बल दिया है। उसका यह मत था कि पहले समाजमें सामूहिक विवाह (Communal marriages) की

परिपाटी थी और सब स्त्रियोंपर सब पुरुषोंका सामूहिक अधिकार था। किसी स्त्रीपर पूर्ण वैयक्तिक अधिकार प्राचीन परंपराका उल्लंघन और खण्डन था। कोई व्यक्ति क़ानूनी रूपसे किसी भी स्त्रीपर तभी ऐसा अधिकार पा सकता था, जबकि वह भूत कालमें माने जानेवाले सामूहिक अधिकारोंको किसी विधिसे थोड़े समयके लिये स्वीकार करले। इस प्रकारकी स्वीकृति वह पुरुष प्रथम रात्र्यधिकारकी विधिसे प्रदान करता था। अनेक जातियोंमें यह प्रथा है कि सुहागरातको नवबधूका कौमार्य उसका पति नहीं, किन्तु पुरोहित, राजा या सामन्त भंग करता है। एवबरी इन्हें समाजका प्रतिनिधि बताते हुए यह कहता है कि पहले जो अधिकार सारे समाजको था, अब उसका उपयोग समाजकी ओरसे ये व्यक्ति करते हैं। उसके बाद ही व्यक्तिको पत्नीपर पूरा अधिकार होता है। कन्याओंको विवाहसे पूर्व मन्दिरमें सेवा और वेश्यावृत्तिके लिये भेजनेकी प्रवृत्ति प्राचीन बेबीलोनिया, यूनान, रोम और मिश्रमें अनेक स्थानोंमें प्रचलित थी। स्विस समाज-शास्त्री बेखोफनने इसका संबंध कामाचारसे जोड़ा है। "विवाह ब्रह्मचारी रहनेके धार्मिक आदेशोंका उल्लंघन है, अतः विवाहसे पहले देवताको प्रसन्न करना आवश्यक है ताकि विवाह द्वारा ईश्वरीय नियम-भंग करनेके दण्डसे बचा जा सके। इसी दृष्टि से मन्दिरोंमें देवताकी कृपा पानेके लिये कुछ समयके लिये वेश्यावृत्तिकी जाती थी।"

अफ्रीका और ग्रीनलैण्डकी अनेक जातियोंमें पत्नियोंके विनिमय और उधार देनेकी परिपाटी है। मध्य-अफ्रीकाके बनयन कोलोंमें जब कोई व्यक्ति अपनी पत्नीके साथ मित्रके यहाँ जाता है, तो पत्नियोंकी अदला-बदली अवश्य होती है। हवाई द्वीपमें भी यही परिपाटी है। हडसन खाड़ीके एक्सिमो लोगोंमें अंग कौत (पुरोहित) द्वारा मन्त्र पढ़े जानेके बाद पत्नी-विनिमय अनिवार्य हो जाता है, स्त्रियोंको जिन पुरुषोंके घरोंमें जानेको कहा जाय, वहाँ रात बिताना आवश्यक होता है। यदि कोई स्त्री किसी पर-पुरुषके पास जानेसे इन्कार करती है, तो यह समझा जाता है कि वह अवश्य बीमार पड़ेगी। इसी प्रकार अतिथियोंको स्त्रियाँ भेंट करनेकी परिपाटी भी कई जातियोंमें मिलती हैं। ब्रिफाल्टका यह मत है कि स्त्रीका विनिमय या उधार देना यह सूचित करता है कि उस जातिके सब व्यक्तियोंका उसपर समान रूपसे अधिकार है और यह आदिम कामाचारका स्पष्ट सूचक है।

कुछ पर्वोंपर मनुष्योंको प्राप्त होनेवाली निर्बाध तथा उच्छृंखल यौन स्वच्छन्दता से भी यह परिणाम निकाला गया है कि पहले सदैव ऐसी स्वतंत्रता थी। अब उसे कुछ विशेष अवसरों तक ही नियन्त्रित कर दिया गया है। कोकोनोरमें रहनेवाले तिब्बतियों में 'तिआओ माओ हुई (हैट चुननेका पर्व) नामक उत्सवके समय दो या तीन दिन तक मन्दिरकी भूमिमें पुरुषको जो स्त्री पसन्द आती है और जिसका शिरोवस्त्र या हैट पुरुष छीन लेता है, उस स्त्रीको रातके समय उस पुरुषके पास आना पड़ता है। मैडागास्कर टापूमें राज-परिवारमें सन्तान होनेके अवसरपर सड़कों और गलियोंमें ऐसी निर्बाध यौन-स्वतंत्रता होती थी कि वे विशाल चकलेका रूप धारण कर लेती थीं, यह काल आन्द्रो-त्सी मेती कहलाता था, उस समय क़ानून किसीको दण्ड नहीं दे सकता था।

मातृ-सत्ता (Mother right) का प्रतिपादन सर्वप्रथम स्विस समाज-शास्त्री बेखोफन तथा इसके बाद मैकलीनानने किया। ब्रिफाल्टने आधुनिक कालमें

इसका प्रबल समर्थन किया है। ये सब विद्वान् यह मानते हैं कि समाजमें स्त्रियोंको प्रधान स्थान प्राप्त था, वे परिवारपर पूरा शासन करती थीं, वंश-परंपरा पुरुषों द्वारा नहीं किन्तु स्त्रियों द्वारा चलती थी। सन्तान पिताकी नहीं, माताकी समझी जाती थी। और माताके ही परिवारमें रहती थी। आज तक भारतमें मलाबार और आसामकी अनेक जातियों तथा कुछ अन्य देशोंमें यह मातृसत्तात्मक व्यवस्था पायी जाती है। बैखोफन तथा मैकलीनान इसे समाजकी सबसे पहली अवस्था समझते थे। मैकलीनानका यह कहना था कि कामाचार के कारण ही यह अवस्था उत्पन्न हुई। विवाहका कोई बन्धन तो था नहीं सन्तानका पितृत्व भी अनिश्चित था, अतः मातृवंशी समाजका होना सर्वथा स्वाभाविक था। बादमें इसका स्थान पितृ सत्तात्मक समाजने लिया और वही व्यवस्था सार्वभौम हो गयी। इस समय मातृसत्ताके समाजोंके कुछ उदाहरण प्राचीन कालमें इस प्रथाके व्यापक रूपसे प्रचलित होनेका प्रबल प्रमाण हैं।

प्राचीन यूनानी और रोमन लेखकोंने अनेक जातियोंमें कामाचारका वर्णन किया है। पश्चिममें इतिहासके पिता समझे जानेवाले हिराडोटसने सीथियन लोगोंमें अगाथिरस (Agathyrses) जातिके से संवंधनमें लिखा था—वे मनुष्यमें सबसे अधिक नज़ाकत रखते हैं, उनके आभूषण मुख्य रूपसे सोनेके होते हैं। उनमें स्त्रियोंपर सबका समान स्वत्व होता है ताकि ये सब भाई बने रहें और निकट-संबंधी होनेके कारण वे एक-दूसरेके प्रति घृणा और ईर्ष्याके भाव न रखें। स्ट्रैबोने ट्रोग्लो डाइट (Troglodyte) देशके संबंधमें यह लिखा है कि वहाँ मुखियाकी स्त्रियों और बच्चोंको छोड़कर बाकी सब स्त्रियाँ और बच्चे सारे समाजके समझे जाते हैं। इसी लेखकने आईरीन या प्राचीन आयर्लेन्डकी कैल्ट जातिके संबंधमें इसी प्रकारकी बात लिखी है। संभवतः ब्रिटिश द्वीप-समूहमें इस प्रकारके कुछ रिवाज थे, जूलियस सीज़रने पतियों द्वारा १५-२० पत्नियोंपर सामान्य अधिकार की बात लिखी है।

अमरीकी विद्वान् लुईसमोर्गन (Lewismorgan) ने संयुक्त राज्य अमरीका के रेड-इंडियनोंका अध्ययन करते हुए मानव जातिके सांस्कृतिक विकासकी कई अवस्थाओं का उल्लेख अपने "प्राचीन समाज" (Ancient Society) शिकागो १८७७ में किया। इसमें यद्यपि मोर्गनने निश्चित रूपसे तो यह नहीं कहा था कि विवाहकी पहली अवस्था कामाचार नहीं है, पर उसने यह मत रखा कि विवाहकी अगली अवस्थाओं से यह तर्कसंगत परिणाम निकाला जा सकता है कि पहली दशा कामाचार रही होगी। इसके बाद दूसरी अवस्था 'संरक्त परिवार (Consanguire Family) की थी, इसमें भाई बहनोंके अन्तर्विवाह होते थे, इसके बाद तो तीसरी अवस्था 'पुनलौन' (Punlaun) की थी, इसमें कई भाइयोंकी अनेक साझी पत्नियाँ होती थीं और कई बहिनोंके बहुत से पति। इसके बाद बहु-विवाह (Polygamy) या एक पुरुष या स्त्री के साथ अनेक स्त्रियों या पुरुषोंके विवाहकी अवस्था आयी और अन्तमें एकपत्नीव्रत (Monogamy) की। बेखोफन मेंक्लीनान, लार्ड एवबरी, क्रोपाट किन, ब्लाख आदि विद्वानोंने इस सिद्धान्तका समर्थन, और विशद प्रतिपादन किया। इस मतको कार्लमार्क्सके साथी फ्रेडरिक एन्जेल्सने मानव समाजको पारिवारिक तथा राजनीतिक विकास प्रदर्शित करनेवाले अपने जर्मन ग्रंथ–'परिवार और राजसत्ताकी उत्पत्तिमें न केवल स्वीकार किया बल्कि अनेक प्रयासोंसे पुष्ट भी किया।

विवाहका जीवशास्त्रीय उद्गम

विवाह और परिवारका मूल अपनी जातिको सुरक्षित बनाये रखनेकी चिन्ता है। यदि पुरुष कामाचारके मतानुसार स्त्रीसे संबंध करनेके बाद पृथक् हो जाय, गर्भावस्थामें पत्नीकी देखभाल न की जाय, सन्तान उत्पन्न होनेपर उनके समर्थ और बड़ा होने तक उसकी सहायता न की जाय तो अवश्यमेव मानव-जातिका शीघ्र ही अन्त हो जाय। कुछ प्राणियों में अवश्य यह व्यवस्था देखी जाती है कि वे मैथुनके बाद अलग हो जाते हैं, किन्तु पक्षियोंकी अनेक जातियों तथा मनुष्यके पूर्वज कहलाने वाले बन्दरोंमें ऐसा नहीं होता। गोरिल्ला और चिम्पान्जी परिवार बनाकर रहते हैं। जीवन-विकासकी शृंखलामें निम्न जातियोंमें बच्चोंकी उत्पत्ति संख्या बहुत अधिक होती है। बच्चे बहुत जल्दी बड़े होते हैं, इन जातियोंमें अवश्य कामचार है। नर-मादा संयोगके बाद पृथक् हो जाते हैं, उनको अपनी जातिके संरक्षण की विशेष आवश्यकता नहीं है। मछलीके अंडे लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें होते हैं, उन्हें सेनेकी ज़रूरत नहीं होती, बच्चे पैदा होते ही तैरकर भोजन ढूंढ़ने लगते हैं, अतः उनमें स्त्री-पुरुषके स्थिर संबंधकी, विवाह और परिवारकी आवश्यकता ही नहीं है। यही दशा साँप आदि रेंगनेवाले प्राणियों या सरीसृपों (Reptiles) के अण्डों की है। ये धूपकी गर्मीसे स्वयमेव विकसित होते हैं, अतः उनमें माता-पिताको अपने बच्चों की चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है।

किन्तु पक्षियोंमें अण्डोंको सेनेका काम मादा करती है, यदि वह न बैठे, तो उस जातिका अन्त हो जाय, इस समय नर उसे भोजन लाकर देता है। डार्विनका कहना है कि वैवाहिक संबंधकी स्थिरता, सतीत्व और पति-पत्नीमें एक-दूसरेके प्रति प्रगाढ़ प्रेमके जैसे सुन्दर उदाहरण पक्षिजगत्‌में मिलते हैं, वैसे मानव समाजमें सुगमतासे उपलब्ध नहीं होते। माताका दूध पीनेवाले प्राणियों (Mammals) में बच्चों को पक्षियोंकी अपेक्षा माता-पिताकी अधिक आवश्यकता होती है क्योंकि उनके पूर्व विकासमें अधिक समय लगता है। ओरंग-उटाङ्ग ८ से १२ वर्षकी आयुमें युवा होता है, यदि उस समय माता-पिता उसकी शत्रुओंसे रक्षा न करें, पिता उसे भोजन न दे, माता उसका अपने दुग्धसे पालन न करे, तो वह जीवित ही नहीं रह सकता।। अतः जातीय संरक्षणकी दृष्टिसे चिर काल तक इकट्ठा रहनेसे बच्चेके प्रति स्नेह आदि मातृ भावनाओं एवं रक्षाकी पितृ भावनाओंका उदय होता है। इनके बलवती होनेका एक कारण यह भी है कि उनमें बच्चोंकी संख्या बहुत कम होती है। इसीलिये वे एक परिवार बनाकर रहते हैं।

अनेक प्राणि-शास्त्रियोंने पशु-पक्षियों—विशेषतः मनुष्यके पूर्वज गोरिल्ला, चिम्पांजी आदिमें विवाहके बाद स्थायी संबंध बनाये रखने और पारिवारिक जीवन बितानेके पुष्ट प्रमाण दिये हैं। नई परिस्थितियाँ इन्हें बच्चोंके साथ परिवार बनाकर रहनेका कारण होती हैं, इन परिस्थितियोंमें निम्न बातें विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं—सन्तानकी संख्याका कम होना, गर्भकाल लम्बा होना और उस समय मादाको नरके संरक्षणकी आवश्यकता, उत्पन्न संतानका चिरकालतक मातृदुग्ध पर आश्रित रहना, बच्चोंका शैशव-काल लम्बा होना, उसमें असहाय होनेके कारण माता-पिताके संरक्षणकी आवश्यकता, मादाके गर्भिणी होनेपर घर बनाना, रात-भर बच्चोंकी चीतोंसे चौकसी करना, मादाके

लिये नरका भोजन लाना, मादा द्वारा बच्चेका पालन-पोषण बन्दरोंसे मानव समाजकी जातियों तक सर्वत्र देखा जाता है। माता-पिता और बच्चेका परिवार मानव-समाज में सार्वभौम है, अतः विवाह संस्थाकी उत्पत्ति उपर्युक्त नवीन शास्त्रीय परिस्थितियोंसे हुई है, कामाचारसे नहीं।

विवाहका भविष्य

जिस प्रकार विवाह-संस्थाके प्रादुर्भाव और उद्गमके संबंध में मनोरंजक कल्पनायें की गयी हैं, उसी प्रकार इसके भावी स्वरूपके विषयमें भी रोचक भविष्यवाणियाँ की जा रही हैं। इनके अनुसार मानव-समाजमें एक ऐसा युग आनेवाला है, जब विवाह और परिवार-प्रथाका पूर्ण रूपसे अन्त हो जायगा। स्त्री-पुरुष इच्छानुसार कामसुखका उपभोग कर सकेंगे। कामाचारकी दशा अतीत कालमें भलेही कोरी कल्पना रही हो, आने वाले युगमें अवश्य सत्य सिद्ध होगी। गर्भ-निरोधके साधन उन्नत हो जानेसे स्त्री-पुरुष संबंधमें बच्चे उत्पन्न होनेकी कोई संभावना नहीं रहेगी। माँ-बापको बच्चे-पालनका झंझट नहीं उठाना पड़ेगा। राज्य द्वारा संचालित शिशुशालाओंमें अनुभवी धायें संतान-पालनका कार्य करेंगी। सुप्रसिद्ध औपन्यासिक आल्डस हक्सले ने अपने एक उपन्यास 'नवीन साहसिक जगत्' में यहाँ तक उड़ान ली है कि भविष्य में विज्ञान इतना उन्नत हो जायगा कि प्रयोगशालाओंमें वीर्य और रजको मिलाकर कृत्रिम रूपसे बच्चे उत्पन्न किये जा सकेंगे: स्त्रियाँ प्रसूति-व्यथासे मुक्ति पा जायँगी।

ऐसी कल्पनाओंकी पश्चिमी जगत्में पिछली डेढ़ शताब्दीमें होनेवाली महत्वपूर्ण क्रांतियोंसे बहुत बल मिला है। १८ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें होनेवाले दो प्रकार के परिवर्तनोंने विवाह और परिवार प्रथाको बहुत प्रभावित किया है—(१) सांस्कृतिक (२) आर्थिक। सांस्कृतिक परिवर्तनोंका आशय समानता, स्वतन्त्रता, और व्यक्तिवादके नये सामाजिक आदर्शोंका प्रबल होना है। फ्रेंच राज्य-क्रांतिने राजनीतिक क्षेत्रों में ही स्वाधीनताकी भावना उत्पन्न नहीं की, अपितु सामाजिक क्षेत्र में स्वच्छन्द प्रेमके आदर्श को भी स्पृहणीय बनाया। युवक-युवती अपना जीवन-साथी चुननेमें माता-पिताका हस्तक्षेप नापसन्द करने लगे।

आर्थिक-परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तनोंसे भी अधिक महत्वपूर्ण थे। १८ वीं शताब्दीके अन्तमें योरोपमें औद्योगिक -क्रांति हुई,। कताई-बुनाई आदि विभिन्न उद्योग हाथकी बजाय पानी और वाष्पकी शक्तिसे संचालित होने लगे। इस क्रांतिकी प्रगति के साथ विवाह और परिवारका आर्थिक महत्व नष्ट हो गया। पहले उत्पादनका केन्द्र परिवार था, अब उसका स्थान कारखानेने ले लिया। इसमें मज़दूरी करनेके लिये लोग दूर-दूर से आने लगे। परिवारका विघटन आरम्भ हो गया, स्त्रियाँ भी कारखानों और दफ्तरोंमें जाने लगीं। आर्थिक दृष्टिसे स्वावलम्बी होनेके कारण वे पितृ-प्रभुतासे बहुत-कुछ स्वतन्त्र होने लगीं।

पश्चिमी जगत्में वैज्ञानिक और यांत्रिक उन्नतिके कारण अतीत कालमें परिवार द्वारा किये जानेवाले अनेक कार्य अन्य माध्यमों द्वारा अधिक क्षमता और कम-व्ययके साथ किये जाने लगे हैं। आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्त्तिका कार्य कारखानोंने ले लिया है। राज्य द्वारा स्थापित विद्यालय पहले घरमें मिलनेवाली शिक्षा देनेका कार्य कर

रहे हैं। प्रसूति और बीमारीमें परिवारकी अपेक्षा अधिक सुविधाजनक चिकित्सालय है। पहले वृद्धावस्थामें असहाय होनेपर पुत्रपर भरोसा रखा जाता था, अब बीमेकी पालिसीसे यह कार्य आसानीसे हो जाता है। काम करनेवाली स्त्रियोंकी सुविधाके लिये विविध प्रकारकी शिशुशालाओं तथा बालोद्यान (kinder gartens) का प्रचार बढ़ रहा है। होटलों और उपाहारगृहोंने खानेकी दृष्टिसे परिवारकी उपयोगिता कम कर दी है।

इन सब नवीन परिस्थितियोंसे पश्चिम तथा उसकी देखादेखी भारतमें विवाह और परिवारके विरुद्ध विद्रोह हो रहा है। न्यूयार्क राज्यके एक अफसरने अपने पितासे २५ हजार डॉलरका उपहार पानेवाली एक युवतीसे पूछा—"क्या इसे आप अपना घर बनानेमें व्यय करेंगी?" उस तरुणीने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"मैं चिकित्सालयम पैदा हुई हूँ, शिशुशालामें पली हूँ, कॉलेजमें पढ़ी हूँ, चर्चमें मेरी शादी हुई है, होटलमें रहती हूँ, मुझे परिवार और घरकी क्या आवश्यकता?"

कुछ विचारक मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विवाह और परिवार प्रथाको हानिकारक मानते हैं। वाटसनका कहना है कि घर अब अतीत कालकी वस्तु हो रहा है। इस समय इसका उपयोग यही है कि यहाँ कपड़े बदल लिये जायँ और कुछ घंटे सो लिया जाय। वह दिन दूर नहीं, जब बच्चे घरकी बजाय उससे अधिक अच्छी संस्थाओंमें बाल-शिक्षण-निष्णात व्यक्तियों द्वारा पाले जाया करेंगे, परिवार प्रथाका अन्त हो जायगा।

एक अमेरिकन लेखक श्री कैलवर्टनने विवाह और परिवारका मर्सिया पढ़ते हुए लिखा है—'प्राचीन परिवार पद्धति क्षीण हो चुकी है, पुराने घरका स्थान सिनेमा, क्लब और नृत्यशालाने ले लिया है। घरके दो ही उपयोग शेष रह गये हैं—यह भोजन करनेके लिए और मरनेके लिए है। पेनने बड़ी भावुकतामें यह गीत बताया था—(इस पृथ्वीपर) घर जैसा कोई (मधुर) स्थान नहीं है, अब इस गीतका यह रूप हो गया है—भगवान्को धन्यवाद दीजिये कि इस धरतीपर घर जैसी कोई चीज़ ही नहीं है (दी बैंकरप्सी आफ् मैरिज लंडन १९३१, पृ० २३)।

क्या वास्तवमें भविष्यमें विवाह प्रथाका लोप हो जायगा? उपर्युक्त भविष्यवाणियाँ किये हुये चौथाई सदी बीत चुकी है, पर अभी तक इस प्रथाका उच्छेद नहीं हुआ। फिर भी अनेक विचारक तलाकोंकी संख्यामें भीषण वृद्धिको इस बातका सूचक समझते हैं कि भविष्यमें विवाह-प्रथाका अन्त हो जायगा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पश्चिममें तलाकोंकी संख्या बहुत बढ़ रही है। संयुक्त-राज्य अमरीकाके कुछ आँकड़ोंसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। १८६७ ई० से वहाँ इस विषयके आँकड़े रखे जाने शुरू हुए हैं। उस वर्ष तलाकोंकी कुल संख्या ९,९३७ थी, १९०० ई० में यह पाँचगुनीसे भी अधिक बढ़कर ५५,७५१ हो गयी, प्रथम विश्व-युद्धके अंतिम वर्ष १९१८ में १,१६,२५४ और और १९२९ में २,०५,८७६ हो गयी, इसके बाद चार वर्ष तक विश्वव्यापी मंदीके दिनोंमें यह संख्या कम हुई। १९३३ में १,६५,००० थी, इसके बाद फिर बढ़ना शुरू हुई और द्वितीय विश्व-युद्धकी समाप्तिके बाद १९४६ में ६,१०,००० हो गयी, इसके बाद फिर यह संख्या घटना शुरू हुई और १९४८ में ४,०५,००० थी। यह संख्या १८६७ की संख्यासे चालीसगुना है। इसका यह अर्थ

है कि ८१ वर्षमें वहाँ तलाकोंकी संख्या चालीसगुनी हो गयी है, इस संख्याको यदि वर्ष-भरके समयमें फैलाया जाय, तो मोटे तौरसे यह कहा जा सकता है कि वहाँ प्रति मिनट एक तलाक़ होता है। क्या यह विवाहके अंधकारमय भविष्यका सूचक नहीं है ?

यों देखनेमें तो ऐसा ही प्रतीत होता है, उपर्युक्त आँकड़ों और तलाकोंकी संख्या वृद्धि बड़ी भयावह है। ध्यान दिया जाय तो यह वृद्धि इतनी भीषण नहीं प्रतीत होगी। वह तथ्य यह है कि इसमें जनसंख्याकी वृद्धिका विचार नहीं किया गया। १८६७ में संयुक्त राज्य अमरीकाकी जनसंख्या ३ करोड़ ७३ लाख ७५ हज़ार ७०३ थी, और १९४८ में यह बढ़कर १४ करोड़ ६१ लाख, १३ हज़ार हो गयी है। यदि जनसंख्याके हिसाब से प्रति हज़ार व्यक्तियोंके पीछे तलाकोंकी संख्याका औसत निकाला जाय तो १८६७ में तलाकोंकी दर .३ थी और १९४८ में २.८। इस हिसाबसे तलाक़ोंकी संख्यामें चालीस गुना नहीं किंतु नौगुना से कुछ अधिक वृद्धि हुई है। इस संख्यासे यह स्पष्ट है कि तलाक़ देनेवालोंकी संख्या तीन तक भी पूरी नहीं पहुँचती।

अमरीकामें तलाककी भयावहताको एक दूसरे ढंगसे भी प्रकट किया जाता है। १९४५ में अमरीकामें जितने विवाह हुए थे, उस संख्याके एक तिहाई तलाक़ दिये गये। यदि सौ विवाह हुए तो ३१ तलाक़ दिये गये। इन आँकड़ोंके आधारपर यह कहा जाता है कि अमरीकाके प्रति तीन विवाहोंमें से एक विवाहकी समाप्ति तलाक़ द्वारा होती है। पर इसमें भी दो बातोंका ध्यान नहीं रखा गया। पहली तो यह कि १९४५ युद्धका वर्ष था और युद्ध बंद होनेके बादसे वहाँ तलाक़ोंकी संख्या घटी है और दूसरी यह कि एक वर्षमें हुए विवाहों और तलाक़ोंके पारस्परिक अनुमानसे किसी परिणामपर पहुँचना ग़लत है क्योंकि १९४५ में जो तलाक़ दिये गये, वे स्पष्टतः १९४५ में हुए विवाहोंके तलाक़ नहीं, १९४५ से पहले वर्षोंमें हुए विवाहोंके तलाक़ हैं। अतः कई वर्षोंके तलाक़ों और विवाहोंकी संख्या का औसत निकालकर ही दोनोंका अनुपात दिखाना चाहिये। १९३० से १९४७ के इस प्रकारके आँकड़ोंका औसत निकालनेसे यह प्रतीत होता है कि वहाँ विवाहों और तलाक़ोंका पारस्परिक अनुपात २०.१ है। पर इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिये कि वहाँ बीस फ़ीसदी अथवा प्रति पाँचमें से एक विवाहका अन्त तलाक़से होता है क्योंकि उपर्युक्त वर्षोंमें होनेवाले अनेक तलाक़ ऐसे विवाहोंके भी हैं जो १९३० से पहले के हैं। वस्तुतः तलाकोंका सही अंदाज़ा इस बातसे हो सकता है कि विवाहित स्त्रियोंके तलाकोंकी संख्या तथा अविवाहित स्त्रियों द्वारा किये जानेवाले विवाहोंकी संख्या की तुलना की जाय। १९४७ में इन दोनोंका अनुपात १ और १० था और १९४८ में यह घटकर एक और ८.६ रह गया। इसका अर्थ यह है कि प्रति १०० विवाहोंके पीछे २० न होकर दस या इससे कम तलाक़ होते हैं। इस प्रकार यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि वहाँ सौ विवाहोंके पीछे ३१ तलाक़ होते हैं।*

तलाक़ोंकी संख्या यद्यपि उतनी नहीं है, जितनी प्रायः कही जाती है। फिर भी इस तथ्यको नहीं भुलाया जा सकता कि वहाँ तलाकोंकी संख्यामें वृद्धि हो रही है। क्या यह वृद्धि विवाहके भविष्यके लिये चिन्ताजनक है ? अधिकांश समाजशास्त्रियोंका

* इस प्रकरणके सब आँकड़े इलियट और मैरिलके सोशल डिस आरगैनिज़ेशन पृ० ४३७–४४० से लिये गये हैं।

विचार इसके विपरीत है। तलाक़ विवाह-प्रथाके अन्तका नहीं, उसकी उपयोगिता का सूचक है। मैरिलने लिखा है कि तलाक़ोंकी वृद्धिका तात्पर्य यह नहीं है कि परिवार-प्रथा क्षीण हो रही है, क्योंकि तलाक़ देनेवाले अधिकांश व्यक्ति पुनः विवाह करते हैं। उनके पुनर्विवाहसे यह सूचित होता है कि विवाह और परिवारको वे एक सामान्य व्यक्तिके लिये स्पृहणीय और उन्नत जीवन पद्धति समझते हैं। वे अपना उपयुक्त जीवन-संगी न मिलनेपर ही दूसरा जीवन-साथी ढूँढ़नेके लिये तलाक़ देते हैं।

तलाकोंमें वृद्धि होते हुए भी पश्चिममें बहुसंख्या ऐसे दम्पतियोंकी है, जो अपने विवाहोंसे पूर्ण रूपसे सुखी और संतुष्ट हैं। इस विषयमें इंग्लैण्ड और अमरीकामें हुए विविध अनुसंधान बड़ा सुन्दर प्रकाश डालते हैं। अभी हालमें प्रकाशित ६४२ पृष्ठ की एक विस्तृत चैसर रिपोर्टमें ३७०५ विवाहित और २३२६३ ब्रिटिश कुमारी युवतियों से पूछे गये प्रश्नोंके आधारपर अंग्रज़ोंके वर्तमान वैवाहिक जीवनका विशद प्रतिपादन है। इसके अनुसार प्रति दसमें से सात ब्रिटिश पत्नियोंने अपनेको असाधारण रूपसे सुखी या बहुत सुखी बताया है, नौ पत्नियोंने अपनेको सुखी बताया है,। लगभग सभी पत्नियोंने यह कहा है कि उन्हें दुबारा विवाहका अवसर दिया जाय, तो वे पुनः अपने पतियोंको ही चुनेंगी। संयुक्त राज्य अमरीकामें बर्जेस तथा कॉट्रेल और टरमैन अपनी गवेषणाओंमें ऐसे ही परिणामोंपर पहुँचे हैं। टरमैनकी अनुसंधानमें अत्यधिक सुखी दम्पतियोंकी संख्या ३० प्रतिशत तथा अत्यधिक दुखी दम्पतियोंकी संख्या केवल एक प्रतिशत थी। इन आँकड़ोंसे यह स्पष्ट है कि पश्चिममें विवाहके जल्दी लुप्त होनेकी कोई आशंका नहीं है।

विवाह प्रथाके भविष्यमें बने रहनेका कारण यह भी है कि इससे कुछ ऐसे प्रयोजन पूरे होते हैं, जो अन्य किसी साधनसे नहीं हो सकते। विवाहका एक प्रधान और महत्व-पूर्ण प्रयोजन वंश-वृद्धि है। विज्ञानने अब ऐसी उन्नति कर ली है कि कृत्रिम गर्भाधान होने लगा है, किन्तु अभी तक विज्ञान ऐसा साधन नहीं ढूँढ़ सका कि गर्भाशयसे बाहर शिशु का विकास हो सके। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि विज्ञान भविष्यमें ऐसे साधन ढूँढ़ लेगा। जे० बी० एस० :—हॉल्डेन प्रभृति जीव-शास्त्रियोंका यह कथन कि निकट भविष्यमें ऐसी उन्नति संभव है, जिससे गर्भाशयसे बाहर कृत्रिम रूपसे पैदा किए (Ectogenetic) बच्चोंका पालन-पोषण वैज्ञानिक प्रयोगशालाओंमें सफलतापूर्वक किया जा सके। पर इसमें सबसे बड़ा भय यह है कि गर्भाशयका उपयोग न होनेसे उसमें नाना प्रकारकी योनि-संबंधी बीमारियाँ उत्पन्न हो जायँगी। इससे मानव-समाजको कृत्रिम रूपसे चलानेवाला रज (ova) बन्द होनेसे मनुष्य जातिके लोप की संभावना है। आजकल विज्ञानने यद्यपि ऐसे भोजन ढूंढ़ लिये हैं, जिनमें शरीरके लिये आवश्यक सब तत्वोंको गोलियोंमें सानुरूप भरा जा सकता है और इन गोलियोंके खानेसे मनुष्यकी भूख दूर हो सकती है, पर इनका उपयोग इसलिये संभव नहीं है कि मनुष्यने विकासकी प्रक्रियामें काफी बड़ी अन्न प्रणाली (Alimentry tract) आमाशय और आँतोंको पाया है,। इनके सम्यक रीतिसे कार्य करनेके लिये यह आवश्यक है कि अन्दर जानेवाले भोजनका परिमाण और मात्रा काफी हो भोजनकी गोलियों से आवश्यक तत्व भले ही मिल जायँ, पर उन्हें खानेपर अन्न प्रणाली, पाकाशय और आँतें काम करना

बन्द कर देंगी। उनमें अनेक बीमारियाँ हो जायगीं, अतः ऐसे भोजन विज्ञान द्वारा बन जानेपर भी उनका प्रयोग नहीं होता। इसी प्रकार विज्ञान द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न शिशुओंका विकास संभव होनेपर भी उनका प्रयोग किये जानेकी कोई संभावना नहीं प्रतीत होती। सन्तानोत्पादनके लिये विवाह और परिवारकी आवश्यकता बनी रहेगी।

विवाहका दूसरा प्रयोजन सन्तानका पालन है। यद्यपि इस संबंधमें विज्ञानने बड़ी उन्नति करली है। पश्चिमी देशोंमें राज्य द्वारा बच्चोंको पालनेके लिये शिशुशालाओं का विकास हुआ है, पर इसमें संदेह है कि ये कभी घरका स्थान ले सकेंगे। अमरीकामें शिशुशालाओंमें पाले जाने वाले तथा घरोंमें पाले जानेवाले बच्चोंके संबंधमें अनेक तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं। इन सबसे यही सिद्ध है कि दोनों प्रकारके बच्चों में बड़ा अन्तर होता है। यह ठीक है कि राज्य द्वारा संचालित शिशुशालाओंके कार्यकर्त्ता बाल-मनोविज्ञान और बाल-शिक्षणके प्रकाण्ड पण्डित होते हैं पर वे बालकको वैसा स्नेह, प्रेम, ममता और सहानुभूति नहीं दे सकते, जो उसे घरमें मिल सकता है। राल्फ लिन्टनने लिखा है—"शिशुके समुचित विकासके लिये शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्त्ति पर्याप्त नहीं है? बच्चों को वैयक्तिक ध्यान, प्रेम और अनुक्रिया (Response) के संतोषकी अधिक आवश्यकता है। शिशुशालाओं द्वारा बच्चोंको संतोष नहीं मिल सकता। शिशु-शालाओंके इस थोक उत्पादनकी परिस्थितिमें जिन बच्चोंका लालन-पालन होता है, उनमें सामान्य व्यक्तित्वका विकास नहीं हो पाता। इससे उन्हें युवावस्थामें अपनेको समाजके अनुकूल ढालनेमें बड़ी कठिनाई होती है। हमारे समाजकी नित्यताके लिये परिवारपद्धतिकी नित्यता आवश्यक प्रतीत होती है" (दी नेचुरल हिस्ट्री आफ् फैमिली पृ० ३७)।

विवाहका तीसरा प्रयोजन दाम्पत्य प्रेम है, और यह मनुष्यको विज्ञानके किसी साधन से नहीं प्राप्त हो सकता। प्रकृतिने स्त्री और पुरुषको पृथक् रूपसे अधूरा और अपूर्ण बनाया है। शत गथ ब्राह्मणके शब्दोंमें उनमें तभी पूर्णता आती है जब वे परस्पर मिलते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि पहले पुरुष अकेला था, वह दुःखी था, उसने दूसरा साथी चाहा, तब आत्मा द्विधा विभक्त होकर स्त्री-पुरुष बने: जीवशास्त्रकी दृष्टिसे भी स्त्री और पुरुष पृथक् रूपमें अधूरे हैं। उन्हें एक-दूसरेकी आवश्यकता रहती है और मिलकर ही वह अपना कार्य अच्छी तरह कर सकते हैं। यह समझना भूल होगी कि रति सुखके लिये ही उन्हें एक दूसरेसे मिलनेकी आवश्यकता है। रति सुख यद्यपि दाम्पत्य प्रेमका एक महत्वपूर्ण अंग है, पर दाम्पत्य प्रेम केवल रति सुख ही नहीं है। वह इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। दाम्पत्य प्रेम में एक-दूसरेके प्रति सहानुभूति और सहायता, कठिनाइयोंको एक साथ मिलकर हल करना, एक-दूसरेके सान्निध्यमें सुरक्षा, निश्चिन्तता और सुखकी अनुभूति, एक दूसरेसे प्यार किये जाने और प्रशंसित होनेकी तथा अन्य बीसियों भावनायें होती हैं। भवभूतिने उत्तर रामचरित में दाम्पत्य प्रेमका वर्णन करते हुए कहा है—"यह सुख और दुःखमें एक जैसा अपरिवर्तित रहता है, जीवनके ऊँच-नीचमें निरन्तर बना रहता है, जो हृदयका विश्रामस्थल है, इसका उन्माद बुढ़ापेसे भी कम नहीं होता। यह बहुत दिनो तक साथ रहने तथा हृदयोंके

आवरण हट जानेसे परिपाकको प्राप्त हुए प्रकृष्ट प्रेमपर अवलम्बित है।"● रति सुख यौवन ढलनेपर घट जाता है, पर दाम्पत्य प्रेम अवस्था बढ़नेके साथ बढ़ता चलता है, दोनों अपनेको एक दूसरेका अभिन्न-मित्र और साथी समझते हैं और एक-दूसरेके प्रति ऐसी घनिष्ठताका अनुभव करते हैं, जो संभवतः संसारके अन्य बहुत कम संबंधोंमें पायी जाती है।

यह दाम्पत्य प्रेम मनुष्यको विवाहके अतिरिक्त कहीं नहीं मिल सकता। लेकिन इसके अलावा यह बड़ा उपयोगी और संरक्षण दाता है। अमरीकामें विवाहित और अविवाहित पुरुषोंके संबंधमें एकत्र किये गये आँकड़ोंसे यह स्पष्ट होता है कि विवाहित व्यक्तियोंकी मृत्यु-संख्या अविवाहितोंसे कम होती है। न्यूयार्क राज्यमें अभी हालके एक वर्षमें एक बीमा कम्पनी द्वारा एकत्र किये गये आँकड़ोंसे यह ज्ञात होता है कि ३० से ४४ वर्षकी अवस्थामें मरनेवाले अविवाहितोंकी संख्या इसी आयुके विवाहितोंकी संख्याकी मृत्यु-संख्या से दुगुनी थी। इसका कारण स्पष्ट है, विवाहितोंका खान-पान उत्तम तथा जीवन अधिक नियमित होता है उनकी छोटी-मोटी बीमारियोंमें अधिक ध्यान दिया जाता है और शुश्रूषा अच्छी होती है। शराबसे होनेवाली मृत्युओंमें भी यही अनुमान पाया जाता है क्योंकि एकाकी व्यक्ति अपने एकान्त जीवनकी नीरसता और चिन्ताओंको दूर करनेके लिये मद्यपान का आश्रय लेते हैं। आत्महत्या करनेवालोंकी संख्यामें भी उपर्युक्त प्रकारका अन्तर दृष्टिगोचर होता है। दाम्पत्य प्रेमका कभी अनुभव न करनेवाले तथा तलाक़ या साथीकी मृत्युके बाद उसे खो देनेवाले व्यक्ति बन्धनोंवाले व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक संख्यामें जान-बूझकर अपना जीवन समाप्त करते हैं। (मेरिल सोशल डिस आरगैनिज़ेशन पृ० ३६३)। बच्चोंके हितोंका संरक्षण भी विवाह तथा परिवार प्रथामें ही सबसे अधिक होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भविष्यमें विवाह और परिवार प्रथामें बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन होंगे। प्रणयके तत्वको अधिक प्रधानता दी जायगी। गर्भ निरोधके साधनों को उन्नत करके सन्तानें कम उत्पन्न की जायगीं, परिवारके सदस्योंकी संख्या कम होगी, नर-नारीके दाम्पत्य और आर्थिक अधिकारोंमें पूरी समानता होगी। वैज्ञानिक यंत्र और उपकरण गृहस्थीका कार्य बहुत सुगम बना देंगे, स्त्रियाँ घरोंसे बाहर अधिक संख्यामें काम करेंगी। वर्तमान कालमें स्त्री-पुरुषोंकी तथा विशेष रूपसे स्त्रियोंकी जिस प्राग्वैवाहिक पवित्रता और सतीत्वपर बल दिया जाता है, उसका महत्व कम हो जायगा। बच्चोंकी शिक्षा स्वास्थ्य और भरण-पोषणकी व्यवस्था राज्यकी ओरसे होगी। मातृत्व ऐच्छिक तथा आयोजित होगा। बाल-विवाह कम होंगे, अविवाहित रहने और बड़ी आयुमें विवाह करनेकी प्रवृत्ति बढ़ेगी, तलाक़ोंकी संख्यामें वृद्धि होगी।

किन्तु इन सब परिवर्तनोंके होनेपर भी विवाह संस्थाके लुप्त अथवा उच्छिन्न होने की संभावना नहीं लगती। अणु-बमोंने मनुष्यके अस्तित्वका भविष्य अन्धकारमय कर दिया है, पर जब तक उसकी सत्ता बनी रहेगी, तब तक उपर्युक्त जीव विज्ञानीय और

● **उत्तर रामचरित १।३९ अद्वैतं सुख दुःख योरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्, विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हर्योरसः। कालेना वरणान्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं, भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हितत्प्रार्थ्यते॥**

मानसिक आवश्यकताओंकी पूर्ति विवाह तथा परिवारसे ही होगी। राल्फ लिन्टनने लिखा है—'इसमें संदेह नहीं कि माता पिता और बच्चोंकी त्रिमूर्त्तिको अन्य मानवीय संबंधोंकी अपेक्षा अधिक कठिनाईका सामना करना पड़ रहा है, पर यह त्रिमूर्त्ति सब पारिवारिक संगठनोंकी चट्टानी नींव है। कुटुम्बकी अन्य व्यवस्थायें बाहरी शक्तियों द्वारा टूट सकती हैं, पर यह चट्टान सदैव बनी रहेगी। विज्ञान या राजनीति हमारे लिये प्रलयका निर्माण कर रही है, उस प्रलयमें भी अन्तिम मनुष्य अपने जीवनके अन्तिम क्षणों को अपनी पत्नी और सन्तानकी खोजमें लगा देगा' (नेचुरल हिस्ट्री आफ् फैमिली पृ० ३८)।

—:०:—

तृतीय खण्ड

भारतीय समाज पर बाह्य प्रभाव

सरदार के० एम० पणिक्कर

हिन्दू समाज पर विभिन्न प्रभाव

भारतीय संविधानमें जिन मूलभूत अधिकारों और नीति-निर्देशक सिद्धान्तोंकी घोषणा की गई है, उनपर अमल करानेकीदृष्टिसे यद्यपि न्यायतत्वोंको कोई अधिकार नहीं दिये गये हैं पर वे उन आदर्शों पर अवश्य जोर देते हैं, जिनको राज्यने स्वीकार कर लिया है। इनमें से कुछ मूलभूत अधिकारों और बहुतसे सिद्धांतोंका समाज सम्बन्धी हिन्दू धर्माधारित परिकल्पनासे सीधा विरोध है। संविधानमें इस बातकी भी स्पष्ट घोषणा की गई है कि राज्य जन-साधारणके कल्याणके लिये अधिकसे अधिक कारगर उपायों द्वारा एक ऐसी समाज-व्यवस्था कायम करनेका प्रयत्न करेगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय प्राप्य हो। इसमें चातुर्वर्ण्यके आधारपर रचित समाज-व्यवस्थाका निषेध है। हिन्दुओंके सामाजिक विकारोंका इसमें बिलकुल स्पष्ट विरोध है। अवसरकी समानता, और एक सामान्य नागरिक संहिताके निर्माणकी आवश्यकता सम्बन्धी निर्देशक सिद्धांतोंके ग्रहण द्वारा यह बात और भी दृढ़ करदी गई है। संविधान से पहले जो सामाजिक परिवर्तन हो चुके थे, उनको भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है।

वास्तवमें यह कहा जा सकता है कि संविधानने भारतीय जनताको एक प्रकारसे यह दृढ़ आश्वासन दिया है कि विधान-सभाएँ नये सिद्धांतोंके आधारपर समाजकी पुनर्रचना करनेका पूर्ण प्रयत्न करेंगी। अतएव इस बारेमें हमें गौरसे विचार-विश्लेषण करनेकी आवश्यकता है।

भारतीय संविधानके संबंधमें निस्संदेह सबसे अधिक महत्वकी बात यह है कि बालिग मताधिकारके आधारपर पूर्ण लोकतंत्रके आदर्शको स्वीकार कर लिया गया है। यह देखते हुए कि इस देशमें चार करोड़से अधिक ऐसे लोग हैं, जिनको पिछड़ी जातियाँ कहकर संबोधित किया जाता है, और जिनको आजके पहले अस्पृश्यताके आधारपर अनेक तरह की सामाजिक अयोग्यताओंका शिकार होना पड़ता था, यह स्पष्ट है कि बालिग मताधिकारका राजनीतिकसे अधिक सामाजिक महत्व है। पिछड़ी हुई जातियाँ सारे हिन्दुस्तानमें फैली हुई हैं। दरअसल जातियाँ सारे हिन्दुस्तानमें फैली हुई हैं ये जातियाँ हिन्दू समाजका सबसे दबा हुआ निम्न स्तर है। उनको इतने अधिक परिमाणमें राज नीतिक सत्ता प्रदान करना न केवल उनकी समानताका स्वीकार ही है, बल्कि उनके हाथोंमें ऐसा यंत्र दे देना है कि जिसके जरिये वे अपने अधिकारोंपर अमल भी करा सकते हैं। बालिग मताधिकारके दूसरे परिणाम भी हुए हैं। कई सामाजिक समूहोंको, जिनको पहले

अपनी शक्तिका पता भी नहीं था और जिनको हालहीमें हुए राजनीतिक परिवर्तनोंका स्पर्शमात्र हुआ था पहले पहल इस बातका भान हुआ कि उनकी भी कोई ताकत है। पड़िमाची—एक पिछड़ी हुई जाति जिसके बारेमें बहुत कम लोगोंने सुना भी था—सन् १९५२-५३ के चुनावके बाद मदरासकी विधान सभामें एक बहुत ताकतवर दल हो गया। उन्होंने अपने आपको वह्निकुल क्षत्रिय—अग्निकुलके क्षत्रिय—कहना शुरू किया और संख्याधिक्यके बलपर वे राजनीतिक सत्तामें हिस्सा पानेके हकदार हो गये। वास्तवमें उन्होंने तामिल अंचलमें एक उल्लेखनीय क्रांतिकी सृष्टि की है। हिन्दुस्तानमें सभी जगह अल्पाधिक रूपमें यही हुआ है। बालिग मताधिकारके आधारपर स्थापित नई राजनीतिक व्यवस्थामें पुरानी परम्परागत प्रभुत्वशाली जातियोंका स्थान नई जातियों को मिल गया है।

संविधानका दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि पहले जिनको रियासतें कहा जाता था, उनमें सामन्तवादी व्यवस्था का गढ़ टूटा। वर्तमान भारतीय संघके लगभग आधे भागमें पहले देशी राजाओंका शासन था। इन रियासतोंमें जिस वंशका राजा राज्य करता था, उससे संबंधित जातियों और समूहोंके आधारपर सामाजिक संस्थान बना हुआ था। राजस्थानमें शासन-सत्तामें राजपूतोंको ही स्थान मिलता था, और दूसरी जातियोंवाले, चाहे जितने भी धनी और ताकतवर हों, नगण्य से थे। मराठा राज्योंमें सत्ता मराठोंके हाथमें ही होती थी। त्रावणकोर-कोचीनमें सत्ता अधिकतर नायर तथा दूसरी जातियोंके लोगोंके हाथमें थी, जो शासनकर्ता राजाओंसे सम्बन्धित होते थे। राजाओंके जाते ही रातों-रात यह सब बदल गया। आज राजस्थानके मंत्रि-मंडलमें एक भी राजपूत नहीं है। उनकी जागीरें और ठिकाने ले लिये गये हैं। अब वह राज्य करनेवाली जाति नहीं रही। जहाँ-जहाँ राजाओंका शासन था, वहाँ सर्वत्र ही इस प्रकारका परिवर्तन आ गया है। इस फेर-बदलके सामाजिक महत्वकी सहज ही कल्पना की जा सकती है, खासतौरसे जब हम इस बातको याद करते हैं कि उत्तरी भारतकी बहुत-सी रियासतें आखिरी दम तक स्थितिपालकता और रूढ़िवादिताके गढ़ थे।

साम्यवाद

संविधान और उसके द्वारा नित नई राजनीतिक शक्तियोंको पनपनेका अवसर मिला, उनका असर निरन्तर बढ़ रहा है, चाहे उसको हम पूरी तौरसे देख नहीं पा रहे हों। यह परिवर्तन स्वाभाविक और तर्कसम्मत लगता है; इसलिए इसका कोई तीव्र विरोध नहीं दिखाई पड़ता। साम्यवादके प्रसारने हिन्दू समाजको चुनौती दी है, उसके बारेमें ठीक यही बात नहीं कही जा सकती। साम्यवाद समाजको एक बिलकुल नये आधारपर गढ़ना चाहता है; सिर्फ़ उसकी आर्थिक और राजनीतिक शकल ही नहीं बदलकर सारे समाजका रूपान्तर करना चाहता है, और नये सिद्धांतोंपर उसका निर्माण करना चाहता है। साम्यवाद एक ऐसा वर्गहीन समाज बनाना चाहता है, जिसमें सत्ता नीचेके तबके के लोगोंके हाथमें हो। यह सिद्धांत हिन्दुओंके प्रत्येक विचार, जैसे जाति, संयुक्त कुटुम्ब, वैवाहिक प्रतिबन्ध, खान-पान संबंधी प्रतिबन्ध आदि सबसे टकराता है। वास्तवमें हिन्दुओंके जीवनका कोई पहलू नहीं है, जिसको साम्यवाद चुनौती न देता हो। हर साम्यवादी

को अपने व्यक्तिगत और दलगत जीवन-व्यवहारमें ऐसे सिद्धांतोंको मानकर चलना होता है, जिनका हिन्दुओंके सामाजिक जीवनके परम्परागत मूल्योंसे सीधा विरोध है। तरुणों और उग्र परिवर्तनवादी विचारोंवाले लोगोंका साम्यवादके प्रति आकर्षण होनेका एक कारण यह भी है, कि वे देखते हैं कि जिन सामाजिक विचारों और रूढ़ियोंके खिलाफ़ वे विद्रोह करते हैं, उनको तोड़नेके लिये साम्यवादसे बढ़कर और कोई विचार-प्रणाली नहीं है। गांधीवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद और इस प्रकारके दूसरे राजनीति-वाद हिन्दू धर्मकी मान्यताओं और प्रथाओंके साथ समझौता कर लेते हैं, और एक सुधार-वादी दृष्टिकोण रख वे कुछ तो क़ानून बनाकर और कुछ सामाजिक-आर्थिक कारणोंसे सामाजिक प्रथाओंमें सुधार कर लेनेकी आशा रखते हैं। साम्यवाद ही है, जो इस मामलेमें किसी प्रकारका समझौता नहीं करता; इसका कारण यह है कि हिन्दू समाजमें जो प्रथाएं प्रचलित हैं उनका सर्वथा निषेध साम्यवादका मुख्य आधार है। साम्यवादमें जाति और संयुक्त कुटुम्बके लिये स्थान ही नहीं है। विवाह-शादीके मामलेमें भी वे हिन्दू-समाजकी मर्यादाओंको नहीं मानते। और सामाजिक प्रश्नों पर उनके क्रांतिकारी दृष्टिकोणका असर इसलिये और भी होता है कि भारतवर्षमें साम्यवादके नेता भी तथाकथित ऊँची जातियोंके स्त्री-पुरुषोंमें से हैं।

केवल अपने दलके कार्यमें ही नहीं, बल्कि दूसरी समस्त कार्यवाहियोंमें भी साम्यवादी लोग हिन्दुओंकी सामाजिक संस्थाओंको चुनौती देनेपर जोर देते हैं। उनकी नाटक-मंडलियाँ इसी आदर्शपर चलकर प्रचारकार्य करती हैं। उनके साहित्यका भी यही उद्देश्य होता है। वास्तवमें हिन्दू सामाजिक व्यवस्थापर आक्रमण करनेका उनका उद्देश्य उसको जड़मूलसे उखाड़ना ही होता है, जिससे कि एक सामाजिक रिक्तता उत्पन्न हो जाय और उनको निर्बाध रूपसे कार्य करनेका मौका मिले।

चाहे हम मार्क्सवादी दृष्टिकोणकी यह बात स्वीकार न भी करें कि सामाजिक संस्थान आर्थिक कारणोंसे बनता और बदलता है, इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक प्रगतिके सोपान सामाजिक जीवनमें नये आधारोंकी सृष्टि करते हैं। शिकारी और मछलीमार लोगोंका तौर-तरीका वनजारा जातियोंके लोगोंसे भिन्न होता है। गाँवों में सामाजिक जीवन जिन आधारोंपर बना होता है, वे व्यावसायिक समाजमें नहीं चल पाते। पॉल विनाग्राडाफने विश्लेषण करके बताया है कि आर्थिक जीवनके विभिन्न सिद्धांतोंके आधारपर निर्मित विकसित समाजोंकी कानूनसम्बन्धी धारणाओंमें अन्तर होता है। सभ्यताके विकासके साथ इन प्रथाओंको बौद्धिक रुप मिल जाता है और राज्य सत्ता या धर्म सत्ता द्वारा क़ानूनका दर्जा दे दिया जाता है। और साथही आर्थिक आवश्यकताओंके अनुसार क़ानूनमें हेर-फेर करनेके लिए भी आवश्यक प्रणालीका विकास हो जाता है। साम्यवादी राज्य-व्यवस्थामें क़ानून सिर्फ़ परिवर्तन का ही साधक नहीं होता, बल्कि पूंजीवादी समाजके सारे सामाजिक संगठनको नष्ट करना उसका उद्देश्य होता है। इस मान्यताके आधारपर कि पूंजीवादी समाजको सामाजिक संस्थान पूँजी-वादके हित-रक्षणके उद्देश्यसे बना हुआ है, समाजवादी लोग उसपर सर्वतोमुखी आक्रमण करके उसके मूल्योंको हमेशाके लिये मिटा देना चाहते हैं और एक ऐसे समाजका आदर्श सामने रखते हैं जो सर्वथा मार्क्सवादके सिद्धांतोंके अनुसार बना हुआ हो।

यह मान बैठना बिल्कुल गलत होगा कि चूंकि हिन्दू समाज-व्यवस्थाने आज तक बौद्ध, इस्लाम, और ईसाई धर्म (जिनमेंसे प्रत्येकने धार्मिक और सामाजिक आधारपर हिन्दू समाजकी बुनियादी धारणाओंका विरोध किया) के आक्रमणोंसे सफलतापूर्वक मुकाबला किया है, साम्यवादके आक्रमणसे भी डरनेकी कोई बात नहीं है। आज परिस्थितितियाँ बिलकुल भिन्न हैं। इस्लाम और ईसाई मजहबके आक्रमणका हिन्दू धर्मपर कोई गहरा असर नहीं पड़ा क्योंकि जिन लोगोंने उन धर्मोंको अंगीकार किया, उनको हिन्दूधर्मसे निकल जाना पड़ा। इस प्रकार उनका आक्रमण बाहरसे ही हुआ और हिन्दूसमाजको उससे अपनी रक्षा करनेमें कठिनाई नहीं हुई। जो हिन्दू धर्मान्तर करके मुसलमान या ईसाई हो गए, वे समाजके भीतरसे सुधारका आन्दोलन नहीं चला सके। साम्यवादियोंने इस बातको समझ लिया, इसलिये वे हिन्दू समाज-व्यवस्थाकी सारी बातों का विरोध करते हुए भी समाजको छोड़कर अलग नहीं हुए। उनका तरीका है कि समाजमें रहते हुए जाति, विवाह-संबंध, खान-पान आदिके नियम-प्रतिबंध नहीं मानना। इस स्थितिका मुक़ाबला करनेमें हिन्दू धर्म समर्थ नहीं है, क्योंकि उसके पास ऐसा कोई यंत्र नहीं है, जिससे सब लोग एक समान व्यवहार करें:

उद्योग प्रधान समाज

हिन्दुओंके सामाजिक ढाँचेको बदलनेमें उद्योग प्रधान समाजका असर भी खास महत्व रखता है। जाति-प्रथाका सम्बन्ध बहुत हद तक ग्रामीण उद्योग-धंधों और हाथकारीगरीके कार्यो से है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था ही संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली और पेशेवर जाति-भेदका मुख्य आधार है। आजका उद्योग-प्रधान समाज इन दोनों बुराइयोंकी जड़पर ही कुठाराघात करता है। यह देखनेमें आ रहा है कि बड़े-बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में हिन्दुओंका सामाजिक ढाँचा बहुत तेजीसे बदल गया है। अभी तक इन परिवर्तनोंका असर सारे समाजपर इसलिए सीमित रहा है कि उद्योगीकरण कुछ ही क्षेत्रों तक परिमित रहा। विगत कुछ वर्षोंमें सामूहिक विकास-योजनाओं और राष्ट्रीय विस्तार सेवा-योजनाओं द्वारा जो विकासकार्य हुआ है उसके द्वारा शहरोंके नये विचार ग्रामीण क्षेत्रोंमें भी पहुँच रहे हैं। वास्तवमें इन योजनाओंको (जिनका हिन्दुस्तानके गाँवोंमें बहुत प्रसार हो चुका है) ग्रामोंमें भी शहरी विचारोंका वातावरण लानेका प्रयास कहा जा सकता है।

ग्राम-सभाओंकी स्थापनाके द्वारा गाँवोंका राजनीतिक रूपान्तर तो लगभग किया जा चुका है जिसके परिणामस्वरूप गाँवोंके परम्परागत ढाँचेको बदलने और नई सामाजिक शक्तियोंके विकासमें बड़ा योगदान मिला है। आज गाँव सभाओंमें अस्पृश्य कहे जानेवाले लोग भी ब्राह्मण और जमींदार श्रेणीके लोगोंके साथ बैठते हैं। कई स्थानों में उन वर्गोंके लोग जो पहले सामाजिक दृष्टिसे पिछड़े हुए समझे जाते थे, गाँव सभाओंके अध्यक्ष भी चुने गये हैं। इसमें खास बात गाँवकी संचालन-सत्तामें इन लोगोंका अंश ग्रहण करना नहीं है, लेकिन समानान्तर समाजका विच्छेद है, जो हिन्दू ग्राम्य जीवनकी की खास बात रही है। इस समानान्तर सामाजिकता और सवर्ण तथा वर्णहीन जातियों के विभेदके नाते ही, हिन्दुओंके ग्राम्य-जीवनकी उन बातोंमें भी परिवर्तन हो गया है, जो हजारों वर्षोंसे चली आती थीं। हिन्दू समाजकी रूढ़िवादिताका मुख्य आधार

ग्राम्य-व्यवस्था रही है। उस क्षेत्रमें न तो मुसलमान और न अंग्रेज शासक ही कभी पहुँच पाये। पहली दफा आज इस क्षेत्र में रूढ़िवादितापर आक्रमण शुरू हुआ है।

हाथ-कारीगरीके धंधों और वंशागत पेशोंका विघटन, जो उद्योगीकरणकी ओर बढ़ते हुए समाजमें अवश्यम्भावी है, कई प्रकारसे सामाजिक ढाँचेपर असर डालता है। हरएक गाँवमें वहाँके लुहार, खाती, कुम्हार, तेली, जुलाहा, मोची आदि हुआ करते थे। आज भी कहीं-कहीं चाहे वे मिल जायँ पर उनकी आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि संगठित जातियोंके रूपमें उनका अस्तित्व नहीं के समान है। आज कुम्हारकी जगह फैक्टरी द्वारा बनाये गये बर्तन उसके दरवाजेपर पहुँच जाते हैं। चाहे बड़े पैमानेपर सरकारी सहायता मिल जानेसे जुलाहोंका कारबार चलता रह जाय पर कपड़ेकी मिलोंने जन-साधारणकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनेका काम ले लिया है। पेशेवर जातियों के विघटनके क्रमको कोई रोक नहीं सकता।

गाँवोंमें बिजलीके प्रसार और चारों ओर बड़े-बड़े उद्योगोंके विस्तारके परिणाम स्वरूप हिन्दुओंके सामाजिक जीवनपर कई रूपोंमें असर पड़ रहा है। बिजलीके योगसे कई छोटे-छोटे उद्योग पनपते हैं और उनसे गाँवोंमें शहरी रूप आने लग जाता है। घरसे फैक्टरीकी तरफ़ क़दम उठाना शुरू होते ही जातिका उच्छेद शुरू हो जाता है। छोटी-छोटी फैक्टरियाँ जाति-प्रथाको नष्ट करनेमें सब जातियोंके बच्चोंके लिए खोले गए स्कूलोंसे भी ज्यादा कारगर होती हैं। इसलिये उद्योगोंकी नियोजित तरीकेसे आंचलिक आधारपर स्थापना हिन्दुओंके सामाजिक जीवनके तौर-तरीकोंको एक चुनौती है।

मजदूर संघोंका संगठन भी जो उद्योगीकरणके साथ अनिवार्य है, हमारे जाति-विभक्त समाजको बदलनेमें खास तौरसे मदद करता है। अधिकांश मजदूर नीची जातियोंके होते हैं। संघोंके संघटनके द्वारा जो राजनीतिक और उद्योग-संबंधी सत्ता प्राप्त होती है, उसके कारण मज़दूरोंमें विचारोंकी जागृति और उग्रता उत्पन्न होती है। अतएव हिन्दुस्तानमें मज़दूरोंमें उत्पन्न हुई जागृति सामाजिक दृष्टिसे दलित वर्गोंके लोगोंकी जागृति और उनकी अपने मानवीय अधिकारोंके प्रति जागरूकता है।

उत्पादनके आधुनिक तरीकों, मशीनों, यातायात और रहन-सहनके साधनोंकी विस्फोटनकारी परिवर्तनशीलताको भी अभी तक हिन्दुस्तानमें पूरी तरह नहीं कूता गया है। इनके सामाजिक असर बहुत व्यापक होते हैं। रेलमें जात-पाँत और खान-पानके बंधन नहीं चल सकते; वास्तवमें, छूनेसे गंदा हो जानेकी जो बात प्रथम महायुद्धके पूर्व केरलमें मानी जाती थी, वह रेलके आते ही अपने आप खत्म हो गई। अस्पताल (जहाँ हरेक आदमी बिना किसी जातिगत भेद-भावके भर्ती हो सकता है), स्कूल कालेज और दूसरी सार्वजनिक संस्थाओंने भी इन भेद-भावोंको खत्म करनेमें मदद की है।

विज्ञान

हिन्दू समाजपर विज्ञानका भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। बड़ी अजीब बात लगती है कि संसारके समस्त बड़े-बड़े धर्मोंमें हिन्दू धर्म ही ऐसा है, जिसपर विज्ञानकी प्रगतिका सबसे कम असर हुआ है। कई यूरोपीय विद्वानोंने तो यह भी कहा है कि हिन्दू धर्मके सिद्धांतोंका आधुनिक विज्ञानकी अति उन्नत विचारधाराओंके साथ मेल बैठ जाता है। विज्ञानके जिन विवादास्पद प्रश्नोंने ईसाई धर्मकी बुनियादोंको हिला दिया है, कॉपर-

नेशियन प्रणाली, और विकासका सिद्धांत, उनसे हिन्दू-धर्मका विवाद नहीं हुआ क्योंकि उसमें विचारके ऊँचे स्तरोंपर किसी भी वैज्ञानिक विचारका विरोध नहीं है। लेकिन हिन्दुओंकी बहुत सी सामाजिक प्रथाओं और सामाजिक जीवन की कुछ मुख्य संस्थाओं के बारेमें यह बात नहीं कही जा सकती। यह भली भाँति विदित है कि संसारमें सिर्फ़ हिन्दू जाति ही है, जो ज्योतिषशास्त्रको इतना सामाजिक महत्व देती है और ज्योतिष की गणनाको इतना महत्व देती है। ज्योतिषको हिन्दू-जीवनका एक मूलभूत आधार माना जा सकता है। अच्छे पढ़े लिखे परिवारों तकमें नक्षत्रोंके स्थानके हिसाबसे शुभ मुहूर्त देखे बिना विवाह-अनुष्ठान नहीं सम्पन्न हो सकता। बहुतसे पढ़े-लिखे लोग भी नक्षत्रकी स्थितिका पता लगाए बिना यात्रा शुरू नहीं करते। नेपालके हिन्दू राज्यमें सार्वजनिक आयोजन भी नक्षत्रोंका हिसाब देखकर किये जाते हैं। कुंभ मेलेका हिन्दू-त्योहार भी अमुक नक्षत्रोंके एक स्थानपर आनेपर निर्भर करता है। सूर्य और चन्द्रग्रहण कुछ प्राचीन विद्वानोंके आधारपर धार्मिक दिन गिने जाते हैं। किसी बाहरी आदमीके लिये यह समझ पाना कठिन है कि हिन्दुओंके सामान्य जीवनमें ज्योतिषका किस हद तक असर है। स्वभावतः ही इस प्रकारके विचारपर विज्ञानका बहुत असर है। एक शिक्षित व्यक्ति जो अपनी पुत्रीके विवाहकी शुभ तिथिके लिए ज्योतिषीसे पूछता है, अच्छी तरह जानता है कि नक्षत्रोंके स्थानका दाम्पत्य जीवनपर कोई असर नहीं पड़ सकता। जिन राजनीतिक नेताओंने कुम्भ मेलेके अवसरपर प्रयागमें गंगा-स्नान किया, वे भी यह तो नहीं मानते होंगे कि उसी दिन स्नान करनेसे कोई खास पुण्य होता होगा। इन सब प्रथाओं और अनुष्ठानोंमें कोई विश्वास नहीं रहा है; जो कुछ होता है, वह अब एक प्रथा मात्र रह गई है। शाकाहारकी प्रथा, जिसका हिन्दू धर्मसे कोई संबंध नहीं है पर जिसको एक धार्मिक प्रथाके बतौर उच्च वर्णकी जातियोंके लोग मानते हैं, आज अर्थहीन हो गई है, जबसे विज्ञानने यह साबित कर दिया है कि पेड़-पौधोंमें भी प्राण होता है और पशुओं की भाँति उनमें भी दुख-सुखकी अनुभूति होती है। इस प्रकार हिन्दुओंके रीति-रिवाज, प्रथा और संस्थाओंपर विज्ञानका बड़ा दूरगामी असर पड़ा है और ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक ज्ञान बढ़ेगा, उसका असर बढ़ता ही जायगा।

विचार

विज्ञानसे भी अधिक महत्वपूर्ण (क्योंकि उसका ज्ञान बहुत कम लोगोंपर सीमित होता है) विचार होता है। विचारका असर सामाजिक संस्थानपर बहुत जबर्दस्त होता है। जो व्यक्ति अपने विचारके परिणामस्वरूप किसी प्रथाके बारेमें शंका करता है या किसी प्रथाकी अवहेलना या विरोध करता है, वह ऐसी शक्तियाँ पैदा करता हैं, जो कतिपय परिस्थितियोंमें क्रांतिकारी कही जा सकती हैं। खास तौरसे जो समाज रूढ़ियों से बँधा होता है, उसमें विचार और उसकी अभिव्यक्ति परिवर्तनके बहुत शक्तिशाली साधन होते हैं और क़ानूनका काम केवल उन विचारोंको शकल देना और समर्थन प्रदान करना रह जाता है, जिनको जनमतका समर्थन मिल चुका होता है। हिन्दूसमाजमें विचारने अपना कार्य छोड़ नहीं दिया था। यह बराबर हिन्दू सामाजिक संस्थानका परीक्षण करता रहता था, लेकिन जिन कारणोंका हम पहले विश्लेषण कर चुके हैं, उनसे नये सम्प्रदायोंपर नये सुधारवादी समूहोंकी ही सृष्टि हुई। कानून

बना सकनेकी स्थितिके अभावमें हिन्दू रीति-रिवाजोंकी सामान्य संहितामें नये विचारको जगह देनेका कोई जरिया नहीं था। राजनीतिक अनैक्य, जिसने कई विभिन्न अधिकृत क्षेत्रोंकी सृष्टि कर रखी थी, के कारण भी सारे हिन्दुस्तानकी दृष्टिसे कोई सुधार संभव नहीं हो सका। यही कारण था कि सुधारकोंका कार्य अलग-अलग क्षेत्रों (जहाँ आन्दोलन शुरू किया गया) तक सीमित रहा। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियोंमें, जबकि विचारके अखिल भारतीय माध्यमके रूपसे संस्कृतका अध्ययन भी नष्ट होने लग गया था, परिवहनकी कठिनाइयों और सांस्कृतिक आदान-प्रदानके लिए आवश्यक एक सामान्य भाषाके अभावके कारण विचारका देश-व्यापी आंदोलन, असंभव था। उन्नीसवीं शताब्दीके तृतीय चतुर्थांशके मध्य कालमें जाकर इस स्थिमें परिवर्तन हुआ। विचारके एक सामान्य माध्यमके रूपमें शिक्षित समुदायको अँग्रेज़ी भाषा मिल जानेसे सारे देशमें अपने विचारोंका प्रचार करनेका साधन मिल गया।

वर्तमान शताब्दीके आरंभसे तो विचारमें भी बड़ी क्रांतिकारी प्रगति हो गई। पहले जब हिन्दू समाज-व्यवस्थाके मूलाधारके बारेमें भी शंका की जाती थी, रूढ़िवादिता अपनी सब शकलोंमें विद्यमान थी, और यही बतानेकी कोशिश की जाती थी कि नया विचार सिर्फ सच्चे अर्थका प्रतिपादन या व्याख्यामात्र था। परन्तु राममोहन राय और केशवचन्द्र सेनने इस प्रकार का दावा न करके हिन्दू समाजपर शास्त्रके आधारपर नहीं, बल्कि विचारके आधारपर आक्रमण किया। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने अपने सत्यार्थ प्रकाश में इसी परिपाटीका निर्वाह किया कि वे वेदका वास्तविक अर्थ बता रहे थे। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं लगता कि उनकी शिक्षा, जिसने हिन्दुओंकी बहुत सी सामाजिक प्रथाओं का विरोध किया, राममोहन राय और बंगालके दूसरे सुधारकोंके बौद्धिक उदारवादकी अपेक्षा कहीं अधिक क्रांतिकारी थी।

रूढ़िवादियोंका विचार भी गतिशील हो गया था। स्वामी विवेकानन्द, जो वेदान्तके पृष्ठपोषक और सनातन हिन्दू धर्मके पुनरुद्धारक थे, एक उग्र विचारक थे और उन्होंने हिन्दुओंकी कई सामाजिक संस्थाओंकी निन्दा करनेमें कोई हिचकिचाहट नहीं की। उन्होंने यह कहकर दुनियाको अचम्भेमें डाल दिया कि जाति-प्रथाका हिन्दू धर्मसे कोई वास्ता नहीं है। उन्होंने कहा—"बुद्धसे लेकर राममोहनराय तक हरेकने जातिको एक धार्मिक संस्था माननेकी गलती की.... लेकिन पुरोहितों-पंडितोंकी सारी चिल्ल-पोंके बावजूद जाति अब सिर्फ़ एक ऐसी सामाजिक संस्था रह गई है, जो अपना काम खत्म कर चुकनेके बाद भारतवर्षके वातावरणमें सड़ाँध पैदा कर रही है। निस्संदेह विचारका यह अत्यधिक क्रांतिकारी रूप है। विवेकानन्दके समयसे जाति प्रथाका कोई समर्थक नहीं हुआ। प्रश्न सिर्फ़ कूड़े-करकटको साफ़ कर नई बुनियादोंपर इमारत खड़ी करनेका था, पर जब तक हम स्वाधीन नहीं हुए, तब तक वैसा करना संभव नहीं था। अँग्रेज़ी भारतकी व्यवस्थापिका सभा अगर सामाजिक मामलोंमें क़ानून बनानेका विचार करती भी, तो देशका केवल ३/५ भाग ही उस क़ानूनके क्षेत्रमें आता। बाकी २/५ हिस्सेपर तो वंशानुगत देशी राजाओंका राज्य था। एक अपवादको छोड़कर बाकी सारे राजा लोग बीते हुए अतीतके ही रक्षक थे। अपवाद स्वरूप थे सयाजीराव गायकवाड़ जो सामाजिक मामलोंमें एक सच्चे क्रांतिकारी थे और जिन्होंने हिन्दू समाजकी समस्याओंको समझा

और अपनी छोटी-सी रियासतमें व्यापक रूपसे उनको हल करनेका प्रयत्न किया। लेकिन एक सयाजी राव गायकवाड़के विरुद्ध एक सौ तीस दूसरे राजा लोग थे, जिनमेंसे बहुतसे तो अपनी रियासत में अस्पृश्यताके पालनपर भी कड़ाई करते थे। राजस्थानकी बहुत-सी रियासतोंमें स्वाधीनताप्राप्तिके दिन तक अछूतोंको सार्वजनिक स्कूलोंमें भी नहीं जाने दिया जाता था। इन रियासतोंमें बाल-विवाह जारी था, जो स्त्री अपने पतिके घरसे चली जाती थी, उसके खिलाफ फौजदारी मुकदमा चलाया जाता था। त्रावण-कोर, कोचीन, मैसूर आदि रियासतोंमें समाज-सुधारमें कुछ प्रगति हुई थी, परन्तु साधारण तौरसे यही कहा जायगा कि सन् १९४९ में जब उनका विघटन हुआ, तब तक देशी रियासतें सामाजिक रूढ़िवादिताके सुरक्षित गढ़ बने हुए थे।

संविधानमें यह सिद्धान्त रखा गया है कि हिन्दू समाजके सुधारके लिये क़ानून बनाना भारतीय पार्लियामेंटका एक प्राथमिक कर्त्तव्य होगा। संविधानका २५ वाँ अनुच्छेद इस प्रकार है—

"२५ (१) सार्वजनिक शांति एवं व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य तथा इस भाग में उल्लिखित दूसरी धाराओंको ध्यानमें रखते हुए समस्त नागरिकोंको विचारकी स्वतंत्रता और किसी भी धर्मको मानने, उसपर अमल करने और उसका प्रचार करनेकी स्वाधीनता का हक होगा।

(२) इस धारा में उल्लिखत कोई बात राज्यको निम्न बातों के बारे में क़ानून बनानेसे नहीं रोकेगी—

(क) किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक और अन्य गैर-साम्प्रदायिक प्रवृत्ति, जिसका सम्बन्ध धार्मिक मान्यता या व्यवहारसे हो, का नियमन या प्रतिबन्धन।

(ख) सामाजिक कल्याण या सुधार अथवा हिन्दू समाजकी सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओंको हिन्दुओंके समस्त वर्गों और श्रेणियोंके लिए खुली करना।"

इसमें सामाजिक कल्याण और सुधारके लिये क़ानून बनानेका अधिकार बचाकर रखा गया है। एक प्रकारसे सनातनपंथियोंको पहलेसे ही विज्ञप्ति दे दी गई है कि धार्मिक स्वतंत्रतामें उन रूढ़ियों और रीति-रिवाजोंको संरक्षण देनेका अधिकार शामिल नहीं है, जिनको जनताकी सामाजिक चेतनाने पहलेसे ही फेंक दिया है। इस धाराका दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि पहली दफा सहिष्णुताकी सीमाएँ निर्धारित की गई हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं, हिन्दू धर्मकी सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि धार्मिक विश्वास और रूढ़ियोंमें सहिष्णुताकी सीमा कभी निर्धारित नहीं की गई थी। इस धाराके द्वारा उस दोषका परिमार्जन कर दिया गया है।

हिन्दू धर्मपर दूसरे धर्मों और समाजोंका जो असर पड़ा है, उसके बारेमें यहाँ विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है। बहुत हद तक उन्होंने भारतवर्षमें विचारकी नई आबहवा बनानेमें मदद की है। ईसाई और इस्लामी समाजोंके सहअस्तित्वने हिन्दुओंकी समाज-व्यवस्थाके बंद दरवाजेके बाहर सामाजिक जीवनमें तो नहीं, परन्तु विचार-जगत्में बहुत बड़े परिवर्तन पैदा किये, जिनके कारण आन्दोलन खड़े हुए और नये सम्प्रदाय बने। जब इससे परिवर्तनकी क्रिया शुरू हुई और हिन्दुओंमें वैचारिक क्रांति उत्पन्न हुई, तभी वचारों और संस्थाओंमें विरोध प्रकट होने लगा। —अनुवादक—भँवरमल सिंघी

भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय जीवन पर इसलाम का प्रभाव

भारतीय संस्कृतिपर इसलामका प्रभाव इतना व्यापक और गहरा पड़ा है, कि अनेक बार यह कहना कठिन हो जाता है कि इस संस्कृतिमें क्या हिन्दू है क्या मुसलमान। साहित्य, कला और जन-जीवनपर पड़नेवाला वह प्रभाव अनेक दूरके छोरोंको छू गया है और देशकी संस्कृतिका शायद ही कोई अंग हो, जिसमें वह प्रभाव प्रगट न हो। हमारे कबीर, नानक आदि महात्माओंने तो उससे इतनी गहरी प्रेरणा पाई है कि स्थानीय धर्मको भी उन्होंने नये विश्वासकी मान्यता दी और उस नये विश्वासकी नई सामाजिक चेतनासे देशके जीवनको फिरसे कूतना और सँवारना चाहा। उस दिशामें उनके प्रयत्न निस्संदेह असफल नहीं कहे जा सकते। यहाँ हम उसी प्रभावके कुछ प्रकट आँकड़े प्रस्तुत करेंगे यद्यपि वे आँकड़े केवल उस प्रभावकी सूची मात्र होंगे, कुछ सांगोपांगीण व्याख्या नहीं।

साहित्यकी दिशामें तो इसलामका महत्व इतना बड़ा है कि उसके ऋणसे प्रान्तीय भाषाएँ, विशेषकर हिन्दी, उऋण नहीं हो सकती। कमसे कम उत्तरी और पश्चिमी भारतपर जो मुसलमान शासनका सदियों प्रभुत्व रहा है, उसका देशके जनजीवनपर गहरा असर सहज ही पड़ता गया है। शासन, उसके विविध क्षेत्रों, विभागों और महकमों में, क़ानूनी व्यवहार और अदालतोंमें नये शब्दों और एबारतोंका उपयोग हुआ है, जो अरबी और, विशेषकर, फ़ारसीसे शासनको मिले थे। यह सही है कि वह चिनगारी जो सहसा इसलामका वैश्वानर बनकर एशिया और दक्षिणी योरोप और उत्तरी अफ्रीका में भड़ककर उन्हें चाट गई थी पहले पहल अरबकी मरु भूमिमें जिलाई गई, और अरबी रिसलोंने ही पहले उन सारे देशोंपर क़ब्ज़ा किया। पर, जब एकीभूत इसलामी साम्राज्यके शासन की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब अरबोंने ईरानियोंका मुँह ताका। ईरानी शासनके कार्यमें सदियोंसे प्रवीण रहे थे और प्राय: एक सदीके भीतर ही वे इसलामके नये साम्राज्यके शासनके स्वामी बन गये। भारतपर काबुलकी राह इसलाम जो हावी हुआ, तो उसमें अधिकतर हाथ उनका ही था जिनकी मादरी ज़बान फ़ारसी थी या कमसे कम फ़ारसीसे प्रभावित थी। जो फ़ारसीसे दीगर ज़बान बोलते थे, उन बाहरसे आनेवाले मुसलमानों का भी साहित्य कमसे कम फ़ारसी ही था। अरबीके मुक़ाबले फ़ारसीके शब्दोंके हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओंमें मिल जानेका एक विशिष्ट कारण यह था कि फ़ारसी और संस्कृत दोनों आर्य भाषाएँ थीं, एक-दूसरेसे, चाहे दूरका ही सम्बन्ध रखनेवाली हों।

साहित्यके इस क्षेत्रमें इसलामका पहला प्रभाव इस प्रकार देशकी भाषा और लिपि पर पड़ा। अरबी लीपिको ईरानियोंने नये सिरेसे साज़ बढ़ाकर फ़ारसी कर ली थी। वस्तुत: ईरानी अत्यन्त प्राचीन कालसे लिपिकार रहते आये थे। स्वयं 'लिपि' शब्द का भारतमें प्रयोग प्राचीन पह्लवीसे आया था जहाँ 'लिबि', 'लिबिर', 'दिबि', 'दिबिर' लेखनके सम्बन्धमें प्रयुक्त होते रहे थे। प्राय: सारे एशियामें अरबी लिपिके बजाय फ़ारसी लिपिका व्यवहार होने लगा था, विशेषकर इस कारण कि इसलामके दायरेमें नित्य नई आती-जाती जातियोंके उच्चारणके विभिन्न स्वरोंको अरबी लिपिमें प्रगट कर सकना सम्भव न था, यद्यपि उनके लिये अभिव्यक्तिका माध्यम ढूँढ़ना आवश्यक था, जो अपेक्षाकृत (निश्चय केवल अपेक्षाकृत) माध्यम फ़ारसी लिपिने दिया। वह लिपि भारतमें भी इसलामके प्रचारके साथ, उसके शासनके प्रसारके साथ प्रचलित हुई। आने वाले मुसलमान आपसमें अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि विभिन्न भाषाएँ बोलते थे, पर उनकी लिपि प्राय: एक थी, फ़ारसी। और वे यहाँ वालोंसे जिस भाषामें बोलने लगे, वह अनिवार्यत: अरबी, तुर्की, फ़ारसी मिली 'भाखा' थी,—हिन्दी या हिन्दुस्तानी, खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप। परन्तु यह नई बोली लिखनेके लिये भी उसी एक फ़ारसी लिपिका इस्तेमाल कमसे कम उन विदेशियोंके बीच होता था। इस रूपमें फ़ारसी लिपि भाषा और उसके प्रकाशनके लिये समान आधार बन गई। यह न भूलना चाहिये कि वह लिपि मात्र इसी कारण इस देशमें प्रयुक्त हुई कि उसका प्रयोग करनेवाले विदेशी यहाँकी वैज्ञानिक देवनागरी लिपिसे अनभिज्ञ थे और उन्हें बाध्य होकर उस अकेली विदेशी लिपि का उपयोग करना पड़ा जिसकी उन्हें जानकारी थी।

भाषाके साथ यह बात न थी। भाषा, जैसे उसकी व्युत्पत्तिसे प्रगट है, विचारोंको बोलकर प्रगट करनेकी वाहन है। और उसका समझा जाना उसके प्रयोगके लिये अहम् बात है। आज जिसे हम उर्दू कहते हैं, और जिसे खड़ी बोली हिन्दीको ऋद्ध करनेवाली उसकी एक विशिष्ट सांस्कृतिक शैली मानते हैं, वह मात्र इसी देशकी भाषा है; इसलामी जगत्के किसी दूसरे देशमें यह नहीं बोली जाती। इसलामकी यह देन, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी के लिये बड़ी ऋद्ध सिद्ध हुई। हिन्दीमें एक नई इबारत, नया एख़लाक़, नये मुहावरे, नये छन्द—शेर, गज़ल, रुबाई आदि—आये और उससे हिन्दी समृद्ध हुई। शब्दोंका तो संसार इतना भरा कि गाँवोंकी हमारी नितांत निपढ़ और गँवार नारियाँ तक अरबी, फ़ारसी, तुर्की और (उनसे पहले के, उन्हींके ज़रिये आये) असीरी-बाबुली-सुमेरी शब्दों तकका अनायास अनजाने स्वाभाविक उपयोग आज कर लेती हैं। 'उजबक', 'कजाक', 'अलाय-बलाय' (अलैया-बलैया) 'रोटी' आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो इस सम्बन्धमें उद्धृत किये जा सकते हैं और जो साहित्य और अवामकी बोलचालमें समान रूपसे बिना किसी आयासके प्रयुक्त होते हैं। इस संबंधमें मैं उन हज़ारों शब्दों को छोड़ देता हूँ जो इसलामके प्रचारके साथ आकर हमारी भाषामें घुलमिलकर संस्कृति के अंग बन गये हैं। 'उजबक' शब्दका प्रयोग आज 'बेवकूफ़' अर्थमें होने लगा है पर किसी जमानेमें बलखबदख्शांसे चीनकी सरहद तक उज़बक-तुर्क जातिका दबदबा था और कितनी ही बार उन्होंने आमू दरिया पारकर हिन्दुकुशकी चोटियोंपर अपने झंडे फहराए थे। किस प्रकार उनकी ताक़तसे बढ़कर उनकी बेवकूफ़ीका द्योतक यह शब्द

बन गया यह संस्कृतिके विस्तारकी स्वतंत्र कहानी है। बस इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि यह शब्द हमारे गावोंमें बड़ी स्वाभाविक रीतिसे साधारण बोलचालमें, खड़ी बोलीमें ही नहीं बल्कि विविधि बोलियोंमें भी प्रयुक्त होता है। 'कजाक' का अर्थ हमारे यहाँ मुनासिब ही 'क्रूर' और 'कसाई' के अर्थमें होने लगा है, जिस अर्थमें स्वयं बिहारी ने अपने साहित्यमें उसका प्रयोग किया है, और यह अर्थ रूसकी ज़मीनपर बसनेवाले उन क़ज्ज़ाकोंकी शक्ति और संक्रमणशीलता का अपूर्व प्रकाशक है जिनके रिसालोंकी चोट आज भी एशियाई जातियोंकी पीठपर गहरी है। कज़ाक मूल रूपमें स्वयं एशियाई थे। आज सोवियत रूसके सोलह प्रधान प्रजातांत्रिक इलाक़ोंमें भारतकी सरहदपर उज़बकिस्तान और कुछ पीछे हटकर कज़ाकिस्तान अवस्थित हैं। 'अलाय-बलाय' शब्दोंकी व्युत्पत्ति जननेकी कोशिश सालोंसे फ़ारसी और अरबीके पंडित कोशकार भी करते रहे हैं, इसलिये विशेष कि अरब और फ़ारससे भारत तक के गाँवोंमें इस पदका नितांत आत्मीयतासे प्रयोग हुआ है। अथर्ववेदके प्रसिद्ध मंत्र 'आलिगीच बिलिगीच पिता च माता च में 'आलिगी-बिलगी' उसी 'अलाय-बलाय' के प्राचीनतम रूप हैं। अगर हम उन 'आलिगी-बिलगी' का पूर्वतम और प्राचीनतम रूप ढूँढ़नेकी फिक्र करें तो वह हमें अथर्ववेदसे कमसे कम हज़ार वर्ष पहले लिखी उस बाबुली-सुमेरी ईंटपर मिलेगा जिसे डाक्टर लियोनार्ड बूलीने खोद निकाला है, जो वहाँके राजाओंका कुर्सीनामा है और जिसके पाँचवें और छठें राजा 'एलूलू-बेलूलू' हैं। 'रोटी' के मूलके सम्बन्धमें कुछ कह सकना इस समय सम्भव नहीं सिवा इसके कि उसका प्रयोग सारे प्रान्तीय भाषाओंमें होता है। जिस शब्दका प्रयोग भारतकी प्रान्तीय भाषाओंमें समान रूप और अर्थमें होता है, उसका सम्बन्ध अनिवार्यत: संस्कृत या प्राकृतोंसे होना चाहिये। परन्तु हम जानते हैं कि रोटी शब्द मूलत: न संस्कृतका है, न प्राकृतका। कहाँसे यह आया यह कह सकना कठिन है यद्यपि ईरानसे तुर्की तक इसका इस्तेमाल होता है। कुछ अजब नहीं जो मूलत: यह तुर्की भाषाका शब्द हो। यद्यपि तुर्कीमें अक्षरोंका उच्चारण मृदुल होता है, टवर्ग सर्वथा नहीं होता। उस दशामें इसका उच्चारण 'रोती' होना चाहिये। शब्द यह चाहे जहाँसे आयाहो भारतीय नहीं है, और आया यह इसलामके साथ ही है क्योंकि इसलामके आगमनके पहलेके साहित्य या भाषाओंमें इसका उल्लेख नहीं मिलता। इस शब्दका केवल भारतीय भाषाओंसे ही सम्बन्ध नहीं हैं वरन् यहाँके जनजीवनसे भी हैं क्योंकि यह एक सांस्कृतिक प्रश्न भी खड़ा करता हैं कि क्या हमारे यहाँ केवल फुलके और चपातियोंके द्योतक इस रोटी शब्द मात्रका प्रचलन हुआ अथवा पहले फुलके और चपातियों का भोजनमें व्यवहार ही नहीं होता था और यहकि वह व्यवहार इसलामके झंडेके नीचे भारत आनेवाली जातियोंने इस देशमें आरम्भ किया। चूँकि फुलके और चपातियोंके अतिरिक्त इस देशकी जीवित भाषाओं और स्वयं संस्कृत और प्राकृतोंमें तवेके लिये भी, जिनपर फुलके और चपातियाँ या रोटी बनती है, शब्द नहीं मिलते, यह निष्कर्ष असंगत न होगा कि पहले भारतमें रोटी-भोजनका अंग ही न थी। यदि यह विचार वैज्ञानिक हो तो यह महत्वकी बात होगी कि छुआछूतके दुरूह कोट चौकेमें इस शब्द और इससे द्योतित होनेवाली खाद्यविधिका प्रवेश कैसे हो पाया, जहाँ परिवारके बाहरके मानव तकका प्रवेश पा सकना असम्भव रहा है? परन्तु संस्कृतियोंके अन्तरावलम्बनकी परम्परामें

ऐसी घटनाओंका प्रादुर्भाव सहज और स्वाभाविक रहा है। और उस क्षेत्रमें हमें धोखा विशेष कर वहीं होता है जहाँके सम्बन्धमें हम सर्वथा निश्चिंत होते हैं। रोटी शब्द और सांस्कृतिक तत्वके रूपमें भारतको इसलामकी देन है।

यह तो हुई भाषाकी बात। साहित्यमें भी इसलामका योग कुछ कम नहीं हुआ। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, यहाँ इसकी सविस्तार व्याख्या तो नहीं कर पाएँगे पर इस संबंधमें संकेत निश्चय कर देंगे क्योंकि साहित्य पर इसलाम प्रभावका विस्तार कुछ थोड़ा नहीं हैं। सूफी धर्मकी सत्ता धार्मिक सीमाओंसे बाहर निकल कर साहित्य पर भी छा गई, देशमें भी विदेशोंमें भी। विदेशसे तो वह आई ही थी। उसका उदय और प्रसार पहले फ़ारस और अरबमें हुआ फिर सारे मध्य और पश्चिमी एशियामें और अन्तमें भारतके साथ-साथ उन सारे देशोंमें हुआ जहाँ-जहाँ इसलामकी फौजोंके बाद सूफ़ी संत और उनके चेले पहुँचे थे। भारतकी हवा सदियोंसे शंकरके अद्वैतनादसे गूंज रही थी और उसकी ज़मीनपर सहज ही सूफ़ीवादका अनुकूल अंकुर लग गया। कालान्तरमें विश्वास और मान्यताओंके जगत्को अपने वाससे सुवासित करता वह साहित्यके क्षेत्रमें उतरा और मलिक मोहम्मद जायसी आदिने उसी परम्पराकी प्रवृत्तियोंके आग्रहसे हमें अपने काव्य दिये। 'पद्मावत' उसी परम्पराका, उसी सूफ़ीवादके पौधेका, अभिराम पुष्प है। नानक और विशेषतः कबीर तथा उनसे प्रभावित अन्य संतोंकी भावसत्ता, इसलाम संबंधी शब्दोंके अतिरिक्त, सूफ़ीवादकी महिमासे भी प्रेरित हुई।

शुद्ध हिन्दी-खड़ी बोलीका ठाठ खड़ा करनेमें तेरहवीं सदीके अमीर ख़ुसरोसे लेकर उन्नीसवीं सदीके इंशा अल्ला खाँ तक मुसलमान साहित्यकार सहायक हुए हैं। उसी परम्परामें इन दोनों छोरोंके बीच रसखान, शेख़ और आलम, रहीम ख़ानख़ाना, बाज बहादुर, स्वयं अकबर आदि रहे हैं जिन्होंने हिन्दीके अंगांग सजाये हैं और उनमें सौरभ भरा है। यहाँ उन उर्दूके रससंचारक अद्भुत कवियोंका उल्लेख नहीं करेंगे, जिन्होंने हिन्दीकी प्रधान सांस्कृतिक शैलीसे उर्दूको समृद्ध किया और जहाँ तक भाषा या भापाके व्याकरण और उसकी बनावटका प्रश्न है, वे खड़ी बोलीमें लिखनेके कारण स्थानीय बोलियोंमें लिखने वाले हमारे महान् सूर, तुलसी, देव, बिहारी आदिसे भी निकट आ गये।

कलाके क्षेत्रमें इसलामकी देन अत्यन्त असाधारण है। मन्दिरोंको छोड़कर बारहवीं सदीके बाद बननेवाली प्रायः सभी इमारतोंपर इसलाम द्वारा लाई ससानी वास्तुशैलीका प्रभाव पड़ा। आरम्भमें तो उस हिन्दू-मुस्लिम कला-मेलाका परिणाम वही हुआ, जो गांधारशैलीके विकासके समय हज़ार वर्ष पहले पंजाबमें हिन्दू-ग्रीव संयोगसे हुआ था यानी हिन्दू संगसाज़ों, राजों और कलावन्तोंने, अधिकतर इसलामके उसूलोंसे नये धर्मकी मसजिदें बनाईं। दिल्लीसे काठियावाड़ और मालवासे पूर्वी दकन तक सैकड़ों—इसलामकी धार्मिक इमारतें आज खड़ी हैं, जो पुकार-पुकारकर हिन्दू-मुस्लिम संयुक्त वास्तु-क्रियाकी कहानी कहती हैं और आज वे सारी इमारतें मजहबके दायरेसे बाहर आकर धर्मनिरपेक्ष भारतीय जनताकी विरासत तथा गौरवकी शालीन वस्तु बन गयी हैं। फिर उनके अतिरिक्त दिल्ली, आगरा, लखनऊ गौड़ और अन्य उत्तर भारतीय नगरों और दकनमें जो मुसलमान राजाओंकी बनवाई इमारतें आज खड़ी हैं, और जो शुद्ध इसलाम की कलाको व्यक्त करती हैं—उसकी मसजिदें, इमामबाड़े, मक़बरे और क़िले—सभी आज

भारतीय कलाके अपने नमूने बन गयी हैं। वे इस देशकी मोहनजोदड़ोसे आज तककी कोई पाँच हज़ार सालके कार्यप्रसारमें बहनेवाली धाराके अंग बने हैं। संसारकी सबसे सुन्दर वास्तुकलाका नमूना 'ताज' आज भारतीय गौवरकी चूड़ामणि है, जो इसलामकी देन है।

कागज और बारूद दोनोंका आविष्कार चीनियोंने किया परन्तु उनका इस देशमें प्रचार इस्लामने किया, चीनमें मुद्रण और कागजका आविष्कार बौद्ध साहित्य, (जिसकी माँग वहाँकी जनतामें बेहद बढ़ गई थी) के वितरणके लिए हुआ, भारतमें मुद्रण और कागज़ दोनोंका व्यवहार उनके आविष्कारके बहुत पीछे हुआ, सदियों पीछे। पर कमसे कम आरम्भमें उनका सफल प्रयोग मुसलमान कारीगरों द्वारा सम्पन्न हुआ, आज भी कमसे कम प्रेसके संचालनमें अनेक मुसलमान मज़दूर और छापेके फोरमैन, मशीनमेन जिल्दसाजी आदिमें लगे हुए हैं। बारूदका आविष्कार चीनियोंने जीवनको आकर्षक बनानेके लिए आतिशबाजीके अर्थ किया था, यद्यपि मध्य और पश्चिमी एशिया तथा योरुपमें पहली बार उनका उपयोग जीवनको ध्वस्त करनेके लिए किया गया था। इस देशमें बाबरने पहली बार उसका उपयोग १५२६ ई० में पानीपतकी लड़ाईमें किया, अधिकतर आतिशबाजीके रूपमें जिससे इब्राहिमके हाथी भड़क उठे थे, यद्यपि फतेपुर सीकरीके मैदानमें उसका उपयोग तोपोंसे निरन्तर टूटते आते राजपूती रिसालोंके विरुद्ध किया गया। आज भी आतिशबाजी, पटाखों आदिके लिए बारूदी काम अधिकतर मुसलमान कारीगर ही सम्पन्न कर रहे हैं।

धर्मके क्षेत्रमें तो निस्संदेह अनेक रूपोंसे इसलामका प्रभाव यहाँके विश्वासोंपर पड़ा। सूफ़ीवादकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। भारत और पाकिस्तानकी मानवता की एक बड़ी विशाल संख्या मुसलमान है, जो चाहे जिस रीतिसे भी मुसलमान हुई हो, इसलामके प्रभावकी परिचायक है और आज इस धराके उत्कर्ष अपकर्षमें उसका किसी न किसी अंशमें सम्मिलित योग है। मालाबार और दक्षिण भारतके अनेक क्षेत्रोंमें इसलामके उदयसे पहले ही अरबोंकी आबादियाँ बस गई थीं और धर्म के प्रतिबंधोंको तोड़कर सहज ही उसकी हदोंके बाहर शुद्ध मानवताका व्यवहार करनेवाले अरब मल्लाहों को 'नाख़ुदा' कहा गया। वह स्वयं उस सम्बन्धका परिचायक है, जिसमें इसलामकी मान्यताएँ न केवल संदिग्ध थीं बल्कि प्रायः सर्वथा अस्वीकृत थीं। पर उन बस्तियोंसे इसलाम के उदयके बाद उसके उद्गम अरबसे लगातार संबंध बना रहना भारतके दक्षिणी समुद्र तटका इसलामके प्रचारके लिये एक मंज़िल बन जाना था। मुसलमान फ़कीर, कलन्दर, दरवेश और औलिये लगातार उधर आठवीं-नवीं सदियोंमें एकेश्वरवादकी सत्ता घोषित करते रहे। यह जो कुछ गुननेवाले पंडितोंने कहा है कि आचार्य शंकरके अद्वैत एकेश्वरवादपर इसलामकी उस प्रधान मान्यताका प्रभाव है वह बेबुनियाद नहीं है। यदि तसव्वुफ़के बुनियादी उसूलोंपर शंकरका वेदान्त हावी हो सकता था तो कुछ अजब नहीं, जो उस वेदान्तकी मिट्टीसे भी स्वयं इसलामके उस प्रधान तत्वका संयोग हो गया हो, यद्यपि यह किसी अंश और रूपमें शंकरके तर्क-नैपुण्य और महानताको ओछा नहीं करता। राजस्थानके राजपूत राजा किस हद तक मुसलमानी एख़लाक़ और तहज़ीब के मज़बूत पाए बन गए थे इसका सबूत देनेकी शायद ज़रूरत न होगी क्योंकि बात यह न तो संदिग्ध

है न विवादास्पद। परन्तु राजस्थानके, कमसेकम राजाओंके, मृतक कर्मसे इसलामकी एक धार्मिक रीतिका स्पर्श हो गया है यह यहाँ बता देना समीचीन होगा। उनकी समाधियोंको 'छतरियाँ' कहते हैं। 'छतरियाँ' मुसलमानी मक़बरों की परिचायक हैं। यह सही है कि संतोंकी समाधियाँ पहले भी बना करती थीं, यद्यपि बहुत पहले या इसलाम से सम्पर्कके पहले नहीं, परन्तु उनके ऊपर ताज़ियानुमा या खरबूज़ानुमा गुम्बज कभी नहीं बनते थे। धार्मिक वास्तुकलाका यह हिन्दू रूप इसलामके प्रभावका ही द्योतक है। स्वयं हिन्दू संतोंकी छतरियाँ भी इसी प्रकारकी हैं और निश्चय वे इस देश में इसलामके उदयके बादकी हैं। अगर कबीर और नानककी समाधिके ऊपर ऐसे गुम्बज हों तो शायद कुछ लोगोंको अजब न लगे पर 'सकलागमनिगमपुराण' आदि के पंडित और असाधारण स्मार्त गोसाईं तुलसीदासकी राजापुरवाली समाधिकी ताज़ियानुमा छतरीका गुम्बज उस प्रतिक्रियाको चुनौती निश्चय देगा, जो कला-साधनामें हिन्दू-मुसलमानका भेद करती हैं।

जनजीवन और सामाजिक व्यवहारपर इसलामका जितना प्रभाव पड़ा है उसे लिखने के लिये समय और विस्तार दोनों चाहिये। यहाँ केवल कुछ मोटी-मोटी बातोंकी ही ओर इशारा कर देना बस काफ़ी होगा। देशके तनख़ा, आग़ा, बख्शी, मजूमदार, जागीरदार सरकार आदि कुल नामोंसे प्रगट है कि किस प्रकार हमारी सामाजिक व्यवस्था भी इसलाम के प्रभावमें धीरे-धीरे आई। इसलामके उदयके बाद सम्भवतः पहली बार इस देशमें शरीरके ऊपरी भागपर सिला हुआ वस्त्र पहना गया। कुरता और पाजामा इसलामको माननेवाली संस्कृति द्वारा ही इस देशमें प्रचलित हुये। मुग़लोंने जिन अचकन और पाजामेको अपना दरबारी वेश बनाया उसे लखनऊके नवाबोंने शालीनता दी और आज वही भारतका राष्ट्रीय वेश बना है। हिन्दू सधवा नारीके वैवाहिक प्रतीकोंमें सिन्दूर और चूड़ीके अतिरिक्त नाककी नथ भी है। 'नथ' शब्दका सम्बन्ध भी रोटीकी भाँति ही न संस्कृतसे है न पालीसे और न कभी इस देशमें इसका इस्तेमाल इसलामके आगमनके पहले हुआ है। प्राचीनकालसे लेकर बारहवीं सदी तककी हज़ारों-लाखों देवी-देवताओं की मूर्तियोंके आभूषण-परिवारमें कहीं नथ नहीं देख पड़तीं। उधर नथका इस्तेमाल 'नाक़िल' के रूपमें अरबमें बराबर होता था। पशुओंकी नाक छेदकर उसमें नाक़िल डाल रस्सी पहनाकर उन्हें ले जाया जाता था। वस्तुतः यह प्रथा और भी पुरानी थी, असीरियों या असुरोंकी, जो शत्रुको जीतकर उसके होठोंको छेदकर उसमें रस्सी पहना कर ले जाया करते थे। उसीका उल्लेख प्राचीन नबियोंकी इंजीलकी पुरानी पोथी की ललकारमें हुआ है जब वे यहूदी महात्मा असुर राजाओंकी क्रूरतासे अक्रांत जुरूसलममें खड़े होकर कहते हैं कि एक दिन आएगा जब तुम भी अपने दोनों होंठ और नाक छेदाकर पशुओं और गुलामोंकी तरह हाँके जाओगे। सो नथ पशुओं और गुलामोंपर मानव और विजेता के स्वामित्वका परिचायक है, जैसे कभीकी हिन्दू नारीका वैवाहिक नथ उसके पुरुषके प्रति उसकी अकिंचन स्थितिका परिचायक था।

अंतमें भारतीय संगीतकी ओर अब संकेत करेंगे जिसका उल्लेख किये बिना प्रस्तुत विषय सम्बन्धी लेख निस्संदेह अपूर्ण ही रह जायगा। ललित कला होनेके कारण इसका विवेचन तो वस्तुतः वास्तु आदि कलाओंके साथ ही होना चाहिये था परन्तु जीवनके

अत्यन्त निकट होने से इस प्रभावका उल्लेख अन्तमें करना उचित समझता हूँ जिससे इसकी याद बनी रहे। संगीत, कमसेकम अपने अशास्त्रीय अथवा अमार्गीय देशी रूपमें, प्राचीन मार्गीयसे उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार चित्रकलामें मुग़ल क़लम अजन्ताकी शैलीसे। और जिस प्रकार ईरान और मध्य एशियासे चितेरे लाकर मुग़लोंने अपने उस सोफ़ियाने सुकुमार मुग़ल क़लमको सँवारा जिसका सा दूसरा क़लम आज न देशमें है न विदेश में। उसी प्रकार मुग़लों, लखनऊ, जौनपुर और रामपुरके नवाबों या उनसे भी पहलेके मुसलमान बादशाहोंने अरबी-फ़ारसीके ग़ज़ल, रुबाई आदि छंदोंके संयोगसे 'देशी' की अनेक उपेक्षित और गँवार समझे जानेवाले रागोंको मार्ग अथवा शास्त्रीय संगीतकी मर्यादा दी। ख़याल, ठुमरी आदि अनेक चीज़ें दरबारोंमें गाई गई और उनकी साधना ध्रुपदके साथ-साथ बादशाहों और मुसलमान आचार्योंने भी भरपूर की। संगीत में गायन, वादन और नर्तन तीनोंका संयोग होता है। तीनोंपर इसलामी संस्कृतिका बड़ा गहरा असर पड़ा है। गायनके रागोंके सम्बंधमें ऊपर संकेत किया जा चुका है। उसके सहायक बाजोंमें अनेक ऐसे हैं, जो केवल मुसलमानोंके ही बनाये हुये हैं। तबला, सारंगी, सितार (जिसके गितार, जिथार आदि अनेक योरोपीय रूप हुये), अलगोज़ा आदि मुसलमान गवैयोंकी खोजके ही परिणाम हैं, वैसे ही शहनाई और रोशनचौकी भी। अगर इन्हें हमारे संगीतसे निकाल दिया जाय तो कहना न होगा कि क्या बच रहेगा। शास्त्रीय नृत्यमें आज एक शैली 'कत्थक' भी है। यह शैली सर्वथा मुसलमान दरबारों में पोषित होकर बिकसी और इसने कलान्तरमें अपनी शास्त्रीय मर्यादा पाई।

अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें केवल संकेततः, यह निबन्ध उन परिवर्तनोंका उल्लेख करता है, जो इसलामके प्रभावसे यहाँ प्रवर्तित हुये। उनका व्यास बड़ा है जैसे भारतीय संस्कृति की परिधि बड़ी है। इस महान् संस्कृतिने अपनी राह आये सारे प्रभावोंको अंगीकार करके आत्मसात कर लिया। उसका गौरव उसकी मौलिक निर्माण-शक्तिसे इस अंगीकरणकी दिशामें कहीं अधिक महान् है।

——:०:——

भवानी शङ्कर शुक्ल

भारतीय समाज पर अंग्रेज़ी शिक्षा और पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव

किसी राष्ट्रके उत्थान-पतनमें शिक्षाका जो महत्व है, उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना प्रस्तुत लेखमें अधिक समीचीन नहीं है। यह तो सभी मानते हैं कि शिक्षा ही मनुष्यके बुद्धि-प्रकाशका प्रमुख साधन है। वैसे तो सामाजिक क्रांतियोंके पीछे अनेक कारण होते हैं परन्तु राष्ट्रीय पैमानेपर समाजको जिस विशेष प्रकारकी शिक्षा दी जाती है, उसका उनमें सर्वोपरि स्थान है। हमारी सामाजिक अथवा अन्य प्रकारकी विविध मान्यतायें भी शिक्षाकी ही प्रतिफल हैं। इसीलिए कोई भी उत्तरदायी सरकार, सामाजिक संगठन अथवा समाजसेवी व्यक्ति राष्ट्रीय शिक्षापर सबसे पहले ध्यान देता है। परन्तु भाषा का भी इस क्षेत्रमें कुछ कम महत्व नहीं है। भाषा हमारे विचारोंकी वाहिका है। उसी के माध्यमसे किसी राष्ट्रकी भावनाएँ और आकांक्षाएँ व्यक्त की जाती हैं। समाज और संस्कृतिसे उसका गहन सम्बन्ध है। इसलिए किसी भाषाके विषयमें विचार करने के अर्थ होते हैं किसी जातिके विषयमें सोचना। किसी देशमें जिन विभिन्न भाषाओंका विकास होता है, वे उस देशके निवासियोंकी संस्कृति, रहन-सहन और चिन्तन-शक्तिकी पूर्ण संगतिमें होती हैं। अतः जब हम किसी भाषाका अध्ययन करते हैं, तो हमें उसके पीछे जितनी सांस्कृतिक परम्पराएँ होती हैं उनका भी सहज ज्ञान हो जाता है। यही नहीं उस भाषाके और उसके द्वारा व्यक्त किये हुए विविध विचारोंके माध्यमसे हम उसके बोलनेवालोंसे भी परिचित होते हैं। यह प्रायः असम्भव है कि इस परिचयका सीखनेवाले पर कोई प्रभाव न पड़े। प्रस्तुत लेखमें हम भारतीय समाजपर अंग्रेज़ी शिक्षा और पाश्चात्य विचारधाराके प्रभावोंपर विचार करेंगे। परन्तु इस विषयमें पहले भाषा और शिक्षाप्रणालीकी महत्तापर विचार करना आवश्यक है क्योंकि अँगरेज़ी शासन-कालमें जो शिक्षा भारतीय विद्यालयोंमें दी गई उसका माध्यम अँगरेज़ी भाषा थी।

भाषा मनुष्यके विचारोंको दूसरे मनुष्यके मस्तिष्क तक पहुँचानेका सर्वोत्तम साधन है। विश्वमें भाषाओंकी विविधता इसी तथ्यकी ओर संकेत करती है कि संसारके सभी व्यक्ति समान रीतिसे नहीं सोचते। किसी भी भाषाका समाजमें दोहरा काम होता है। एक ओर तो वह कुछ विशेष नियमोंको जो पूर्वकालसे प्रत्येक पीढ़ीमें प्रचलित हैं अपनेमें सुरक्षित रखती हैं और दूसरी ओर व्यक्तिकी आत्मीय कल्पना तथा विचारों का आधार बनती है। अपनी इन्हीं विशेषताओंके कारण भाषामें निहित तत्वोंका

अध्ययन प्राचीन कालसे ही विद्वानोंका प्रिय विषय रहा है। बहुत पहले आइसोक्रेटिस (Isocrates) ने कहा था कि भाषा ज्ञान ही हमें पशुओंसे भिन्न बनाता है और शुद्ध भाषाके बोलनेकी शक्ति व्यक्तिके अच्छे और विश्वसनीय होनेका निश्चित प्रमाणहै। सुकरात, प्लेटो और अरस्तूने भाषाकी सर्जनात्मक, शक्तिकी ओर संकेत किया। स्टोइक विचारधाराके लोगोंका तो यहाँ तक कहना था कि केवल भाषाके ही सहारे व्यक्तिके विशिष्ट बौद्धिक गुणोंको स्पष्टतया समझा जा सकता है। यह भाषा ही है, जो मनुष्यको मनुष्यतासे परिपूरित करती है। प्राचीनकालके ही नहीं आधुनिक विद्वान भी भाषाको व्यक्ति और समाजकी सांस्कृतिक चेतना एवं मानसिक प्रक्रियाओंको व्यक्त करनेका उपाय मानते हैं क्योंकि भाषाकी उपादेयता मानव समाजमें केवल पारस्परिक विचार विनिमय में नहीं है बल्कि मनुष्योंकी 'मानसिक उपज, और एक विशेषकाल और एक विशेष स्थानपर उनका तद्भव संस्कृति-रूपोंके आलेखन एवं संरक्षण[1] में भी है। किसी जातिकी सांस्कृतिक परम्पराएँ कई अंशों तक उसके साहित्य की पर्य्याय हैं। यह साहित्य उस जातिकी मान्यताओंको बतलाता है। फलतः यह उन परम्पराओं अथवा शिक्षाके रूपको क़ायम रखनेकी व्यवस्था भी करता है जो संस्कृतिकी गतिको बनाये रखनेके साधन हैं। [2]भाषाके माध्यमसे संस्कृतिके विविध रूपोंमें अन्तर स्थापित किया जा सकता है। यह भाषाका ही गुण है, जो व्यक्तिको न केवल इस योग्य बनाता है कि वह तात्कालिक अनुभूतिको ग्रहण कर सके बल्कि उसको अपने सन्निकट जगत्के परे भी विस्तीर्ण कर सके।

सम्प्रति, मानव समाजमें भाषाकी महत्ताको साधारण रीतिसे सिद्ध करनेके लिए उपर्युक्त विचार पर्याप्त होंगे। परन्तु राष्ट्रीयता और उसके जागरणमें भाषाका क्या स्थान है। इसके विषयमें भी कुछ विचार करना असमीचीन न होगा। यद्यपि राष्ट्रीयताकी परिभाषा लिखना कठिन है परन्तु उसका अधिकतम स्पष्ट विश्लेषण जॉन स्टुअर्ट मिलके कथनमें [3] मिल जायगा। उनके अनुसार 'मानव-समाजका एक भाग तब राष्ट्रीयताको जन्म देता हुआ कहा जाता है जब वह सामान्य सहानुभूतिसे परस्पर आबद्ध होता है जो उसमें तथा अन्य दूसरोंमें नहीं पाई जाती और जो लोगोंको दूसरोंसे अधिक स्वेच्छा और सहयोगसे काम करनेके लिए प्रोत्साहित करती है, जब वह एक ही सरकारके अन्दर रहना चाहता है—ऐसी सरकार, जो उसकी अपनी या उसमेंसे कुछ की पूर्णतया अपनी हो। राष्ट्रीयता की ऐसी भावना विविध कारणोंसे उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी यह जाति और जन्मकी समानताका फल होती है। भाषा और धर्मकी समानता भी इसमें बड़ा योग देती है। भौगोलिक सीमायें भी इनमेंसे एक कारण हैं....'। मिलके इस कथनसे राष्ट्रीयताके विकासमें भाषाका योग भली तरह से समझमें आ जाता है। अतः हमें किसी भाषाका अध्ययन करते समय यह निश्चित रूपसे मालूम होना चाहिए कि वह भौतिक, मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यामिक सूक्ष्म गुत्थियोंको सुलझानेकी एक कुंजी है जिनसे आज राष्ट्रोंका भाग्य निश्चित होता है। मैंडेरियागाका यह कथन अक्षरशः

---

१. ई० ई० यूबेंकर दि कांसेप्ट्स ऑफ़ सोसाइटी, पृ० १५

२. इंग्लैंडके शिक्षामंत्रालयकी २६ वीं पुस्तिका 'लैंग्वेज', पृ० ११

३. रिप्रेजेण्टेटिव गवर्नमेण्ट,

सत्य है कि 'भाषायें राष्ट्रीय चरित्रकी सबसे सीधी अभिव्यक्ति हैं। वे मानवीय मस्तिष्क का वाह्य जगत्पर प्रथम प्रभाव हैं। [४] उदाहरणार्थ, एक फ्रेंच दूसरे देशके निवासी से भिन्न केवल शब्दों, योगों तथा ध्वनियोंका ही प्रयोग नहीं करता बल्कि श्रोताके ऊपर अपने व्यक्तित्वकी एक छाप भी डालता है। राष्ट्र-राष्ट्रके बीचके इस अन्तरके चाहे जो कारण हों, परन्तु अन्ततः वे मनके उस रूपसे जुड़े हुए हैं, जो उसकी भाषागत जातिपर हावी हैं। [५]

भाषाके विषयमें इतना विचार करना स्यात् पर्याप्त है। अब हम समाजमें शिक्षाके महत्वपर विचार कर सकते हैं। शिक्षाका उद्देश्य व्यक्तिगत स्वार्थोंकी पूर्त्तिके लिए योग्यता प्राप्त करना नहीं है। वैयक्तिक रूपसे शिक्षाका उद्देश्य मनुष्यके जीवनको इस योग्य बनाना है जिससे उसके योगदानसे मानव-समाज सुखी और सम्पन्न हो सके। शिक्षाका प्रतिफल स्वाभाविक रूपसे संस्कृतिका विकास होना चाहिए। संस्कृति मानवीय चिन्तन-क्रियाका फल है। इस उद्देश्यकी पूर्त्ति ज्ञान प्राप्त करनेपर हो सकती है। शिक्षा प्राप्तिका साधन है। मनुष्य विचारशील प्राणी है। चिन्ता उसका सहज लक्षण है और इसी चिन्तनके सहारे मनुष्य अपना बौद्धिक और आत्मिक विकास करता है। व्यक्ति समाजकी इकाई है अतः किसी समाजका रूप उसके सदस्योंके अनुरूप होता है। पुस्तक-पाठ, पाठशालाओंमें अध्ययन, डिग्री अथवा अन्य ऐसी ही वस्तुओं के द्वारा कोई व्यक्ति शिक्षित नहीं हो जाता। शिक्षित व्यक्तिका समग्र व्यक्तित्व सम्बुद्ध होता है। परन्तु समाजमें शिक्षाका महत्व केवल बुद्धि प्रकाश (Enlightenment) में ही निहित नहीं है। उसकी उपादेयता समाज और राष्ट्रकी अनेक निजी समस्याओं के हल करनेमें भी है। जैसे, हमारे देशमें दरिद्रता, बीमारी, अनैक्य आदिको दूर करना है जो हमारे राष्ट्रीय जीवनको शताब्दियोंसे क्षीण बनाते आये हैं। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो हमें समाज, राष्ट्र और संसारकी प्रगतिके साथ-साथ चलनेके योग्य बना सके।

प्रत्येक समाजकी अपनी समस्यायें होती हैं और उसकी आकांक्षाएँ भी आवश्यक नहीं हैं कि दूसरे समाजकी आकांक्षाओंके समान हों। शिक्षा किसी समाज-विशेषके आदर्शोंके अनुकूल होती है। प्राचीन यूनानमें शिक्षाके विविध रूप थे। एथेंसमें सुन्दर और सुखी जीवनका उपभोग ही अभीष्ट था। प्रकृतिकी अनुकम्पासे वे सुखी थे भी। फलतः वहाँके निवासियोंमें वैयक्तिकता प्रमुख होती गई। उसके चिन्तक भी तदनुरूप हुए। इसके विपरीत स्पार्टामें शिक्षाका आदर्श हुआ साहस एवं अनुशासन का ऐसा विकास जिससे व्यक्ति राज्यके लिए सर्वस्व बलिदान कर सके। परिणाम यह निकला कि स्पार्टाके लोग वीरकर्मा और शारीरिक शक्तिसे पूर्ण हुए। इसी प्रकार प्राचीन कालमें प्रत्येक देशकी शिक्षा उसकी आवश्यकताओंके अनुरूप थी।

शिक्षाके वास्तविक महत्वको समझ लेनेके पश्चात् हम अधिक सुविधाके साथ अपने प्रतिपाद्य विषयपर विचार कर सकते हैं। समाज-निर्माणमें, समाजकी मान्यताओंको स्थिर करनेमें और राष्ट्रीय आकांक्षाओंकी पूर्त्ति करनेमें जब शिक्षा एक प्रधान कारण

४. मैडेरियागा : इंग्लिशमैन, फ्रेंचमेन ऐण्ड स्पैनियार्डस, पृ० १८३

५. कार्ल वोल्सर : दि स्पिरिट ऑफ़ लेंग्वेज इन सिविलीजेशन, पृ० ११५

है तब भारतीय समाजपर अँगरेजी शिक्षाका असाधारण प्रभाव पड़ना परम स्वाभाविक ही है। वह प्रभाव व्यापक रूपसे आज हम लोगोंके बीच परिलक्षित है। भारतीय समाजका पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा यह अभिनवीकरण संसारके इतिहासकी एक विशिष्ट घटना है। परन्तु उक्त अंग्रेजी शिक्षा—फलतः पाश्चात्य विचारधारा—के अनेक प्रभावोंका विश्लेषण करनेके पूर्व हमें भारतीयोंकी अपनी प्राचीन शिक्षा और उनके पाश्चात्य जगत्के संपर्कमें आनेके पूर्वतक उसमें अनेक परिवर्तनोंका इतिहास तथा भारत और योरप के आधुनिक सम्बन्धोंके स्थापित होनेके समय हमारी सामाजिक दशाका सम्यक् ज्ञान भी अपेक्षित है।

प्रोफ़ेसर येफ्० डब्ल्यू० टॉमसके शब्दोंमें 'भारतमें शिक्षा विजातीय नहीं है। कोई भी ऐसा देश नहीं है, जहाँ विद्यानुराग इतना शीघ्र उत्पन्न हुआ हो या इसने इतना स्थाई एवं शक्तिशाली प्रभाव डाला हो।' यहाँकी प्राचीन शिक्षाका नैतिक पहलू तैत्तरीय उपनिषद्की शिक्षावल्लीमें देखा जा सकता है जब दीक्षान्तके अवसरपर गुरु शिष्यको अपना अन्तिम उपदेश देता है! शिक्षित व्यक्तिके कर्तव्योंमें कुछ बातें अधिक महत्व की हैं, जैसे अध्ययनसे विमुख नहीं होना चाहिए। (स्वाध्यायान्माप्रमदः) अथवा सत्यसे विमुख नहीं होना चाहिए (सत्यान्नप्रमिदतव्यम्) इत्यादि। शिक्षा यद्यपि कुछ विशेष वर्गोंके लिए थी परन्तु उसका सामाजिक महत्व बहुत अधिक इसीलिए था। जीवन का चातुर्थांश पूर्णतः अध्ययनमें ही लगाया जाता था। यही नहीं एक विशेष वर्ग के लिए तो वह अनिवार्य थी। मनुने ब्राह्मणके छः कर्मोंमें पढ़ना और पढ़ाना सबसे पहले कहा है। समाजमें शिक्षा-प्रसारका दायित्व शासकके हाथमें न था और ब्राह्मण ही इसकी व्यवस्था करते थे। राजा और नागरिक इन व्यक्तिगत पाठशालाओंकी भूमि और धनसे सहायता अवश्य करते थे। अध्यापकोंका बड़ा सम्मान था। गुरु को साक्षात् 'परब्रह्म' माना जाता था। गुरु और शिष्यके सम्बन्ध पिता और पुत्र के समान थे। उदारता और पारस्परिक सहयोगके वातावरणमें पले हुए एवं शिक्षित लोगोंका आदर्श था : 'सहनाववतु। सहनौभुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। या विद्विषावहै।' (कठोपनिषद्)।

वैदिक कालके प्रारम्भमें स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्त करनेका पूर्ण अधिकार था। इसी शिक्षाके कारण घोषा, अपाला, विश्ववारा प्रभृति विदुषियोंने ऋग्वेदकी अनेक ऋचाओं की व्याख्या की। इसी प्रकार उपनिषदोंके कालमें भी स्त्री-शिक्षा प्रचलित थी। गार्गी और मैत्रेयीके नाम इस कालमें अग्रगण्य हैं। परन्तु स्मृतियोंके युगसे स्त्री-शिक्षा शिथिल हो गई और धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जब वे सभी प्रकारके ज्ञानसे वंचित हो गईं। भारतके समूचे इतिहासमें उक्त समयके पश्चात् स्त्रियोंकी शिक्षापर तबतक कोई विचार नहीं किया गया जब तक वह समय नहीं आ गया जिसे हम आधुनिक युग कहते हैं।

प्राचीन भारतमें मनुष्यके चार पुरुषार्थ माने गए थे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें अर्थ और काम लौकिक महत्वके हैं। शिक्षाप्रणाली ऐसी थी जिससे मनुष्य योग्य बनकर सभी पुरुषार्थोंको कर सके। इसीलिए जहाँ विद्याको मुक्तिका मार्ग बतलाया गया वहाँ उसे अर्थकरी भी कहा गया। प्राचीन भारतमें न केवल व्यापक साक्षरता थी प्रत्युत उच्च शिक्षाका भी उचित प्रबन्ध था। उच्च शिक्षाके प्रसारमें बौद्धोंका भी

बहुत बड़ा हाथ रहा है। तक्षशिला, काशी, नालन्दा, विक्रमशिला, वलभी, कांची और मदुरा आदि स्थान प्राचीन कालमें शिक्षाके प्रधान केन्द्र थे जिनमें विदेशके भी अनेक विद्यार्थी अध्ययन करते थे।

भारतके मध्यकालीन इतिहासमें भी शिक्षा-प्रसारका काम लोग प्रायः व्यक्तिगत रूपसे करने लगे थे। समाजमें शिक्षाका महत्व पहले जैसा न रह गया था। वैसे जाति धर्मके आधारपर लोग अलग-अलग अपनी परम्परागत शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। मुसलमान शासक शिक्षानुरागी थे अतः उन्होंने भी देशमें अनेक मदरसों और मकतबोंको स्थापित करवाया। इनमें अधिकतर धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। परन्तु विविध विषयोंकी शिक्षाका अभाव न था। अकबरने तो इस क्षेत्रमें बहुत ही अधिक उत्साह दिखलाया। उसके विचारसे एक लम्बे समय तक पाठशालाओंमें समय नष्ट करना अनुचित था। अबुल फज्लका कहना है कि अकबरने शिक्षा-सम्बन्धी एक फरमान जारी किया था। उसमें लिखा गया था कि देशके प्रत्येक बालकको नैतिकता, गणित, कृषि, भूमाप, ज्यामिति, ज्योतिष, गृह-विज्ञान, प्रशासनके नियम, आयुर्वेद, तर्क तथा विज्ञानकी शिक्षा अनिवार्यतः दी जानी चाहिए। अकबरके शासन-कालमें शिक्षाको विशेष महत्व दिया गया। उसके दरबारमें देश और विदेशके विद्वान् आपसमें वाद-विवाद करते थे। उसके उत्तराधिकारियोंमें शाहजहाँने दिल्लीमें जामी मस्जिदके निकट एक कॉलिज खुलवाया। परन्तु औरंगज़ेबके शासनकालमें शिक्षणमें राजकीय सहायता केवल एक धर्म तक ही सीमित कर दी गयी। उसकी मृत्युके पश्चात् मुग़ल साम्राज्यका विशाल प्रासाद जब धराशायी होने लगा तब भारतका ज्ञान-विज्ञान भी इतस्ततः बिखर गया। उचित शिक्षाके अभावमें जैसा स्वाभाविक है हमारा पहली बार सामाजिक पतन प्रारम्भ हुआ। पुराने आश्रम, विश्वविद्यालय, पाठशालाएँ, मदरसे या मक़तब बिल्कुल ख़त्म होने लगे। जो थे भी उनमें सुशिक्षित, उदार और प्रगतिशील अध्यापकोंकी कमी थी। समाज स्वयं अंधविश्वासी, विलासी और स्वार्थी हो चला था। उसने भी अपने सुधारकी कोई उचित व्यवस्था न की। वस्तुतः इस समय नयी, सामाजिक मान्यताओंकी आवश्यकता थी; वे मान्यताएँ जो समाजको दिक्काल के अनुकूल बना सकें।

अट्ठारहवीं शताब्दीका भारत सम्भवतः अपने समूचे इतिहासमें सर्वाधिक ह्रासोन्मुख समाजका चित्र प्रस्तुत करता है। मुग़लोंकी सत्ता बिखर चुकी थी और देश अनेक छोटे-बड़े टुकड़ोंमें ठीक उसी तरह बँट गया था जैसे सिकन्दरके आक्रमणके समय पश्चिमोत्तर भारत। इन राजनीतिक इकाइयोंका पारस्परिक संघर्ष समाजके लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। राजनीतिक अस्थिरता और अशान्तिके वातावरणमें लोगोंको रोज़ी-रोटी कमाना कठिन होने लगा। देशके कलाकार, विद्वान और विचारकोंको संरक्षकों का अभाव हो गया। हमारा व्यावसायिक ढाँचा विशृंखलित हुआ। सूत, रेशम और ज़रीका उत्कृष्ट काम करना अब बड़ा महँगा पड़ने लगा। फलतः वह विशेष योग्यता भी नष्ट होने लगी। परन्तु राजनीतिक और आर्थिक पतनसे कहीं अधिक भारतीयोंका इस शताब्दीमें सामाजिक और सांस्कृतिक पतन हुआ। समाज केवल कुछ रूढ़ियों और अन्धविश्वासोंका वाहक ही रह गया। इस पतनका अनुमान इस तथ्य से

ही लगाया जा सकता है कि इस समय हमारे प्राचीन ग्रंथ लुप्तप्राय हो गये। धन्य हैं वे पाश्चात्य गवेषक जिन्होंने अपने विद्यानुरागके कारण अत्यन्त धैर्यके साथ भारतीय वांङ्मयका पता लगाया जिसके ऊपर आज हम सभी को गर्व है। वस्तुतः यह संक्रमण काल था जबकि भारतीय स्वयं अपनेको भूलने लगे थे।

परन्तु इस संक्रमणके कारण क्या थे, जिन्होंने समाजको ग्रसकर किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया? इस प्रश्नका विस्तारमें उत्तर चाहे जो हो, पर इतना अवश्य है कि किसी भी सामाजिक क्रांतिके जो कारण होते हैं, वे सभी उक्त संक्रमणके जनक हो सकते हैं। मनुष्यका प्रधान लक्षण उसकी आत्माभिव्यक्ति है और यही बात समाजपर भी लागू होती है। जब कोई समाज अपने अन्तस्को वाह्य जगत्के सामने नहीं ला पाता, तो उसे वही व्यग्रता होती है, जिसका दर्शन किसी पार्वत्य सरितामें उसके समुद्र—उस वृहत्तम जलराशिकी ओर जाते समय किसी विशाल अंचल शिलाके अवरोधके कारण हम देखते हैं। यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि परिवर्तन प्रकृतिका एक शाश्वत नियम है। समाज परिवर्तनका कोई अपवाद नहीं है। १८ वीं शतीका भारतीय समाजभी परिवर्तनकी प्रतीक्षामें था—साधारण निमित्तका भी उसके लिए बड़ा मूल्य था। सामाजिक-परिवर्तनका सबसे बड़ा कारण मनुष्यकी विचारधारा है। मनुष्य अपने मनोनुकूल समाजका निर्माण करना चाहता है। उसकी यह इच्छा ही सामाजिक क्रांतिके पीछे गौण रूपसे काम किया करती है। देश और कालकी परिस्थितियाँ मनुष्यकी विविध इच्छाओंकी जन्मदात्री हैं। परन्तु इन परिस्थितियोंसे अवगत होनेका साधन क्या है? हम यह पहले ही कह चुके हैं कि किसी राष्ट्र, जाति या समाजका शिक्षासे गहनतम सम्बन्ध है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि सामाजिक उत्थान और पतनके पीछे शिक्षाका विशेष स्थान है। जो शिक्षा समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति नहीं करती, और उसकी समस्याओंका समाधान प्रस्तुत नहीं करती वह निश्चित रूपसे समाजको विगलित बनाये रक्खेगी। अतः त्राणका उपाय नये विचारोंका समाजमें समावेश है। यह समावेश समाजमें प्रायः सीधे नहीं होता। शिक्षा इसका महत्वपूर्ण माध्यम है।

भारतीय समाजकी इसी संक्रमणकालीन दशामें उसका पाश्चात्य जगत्से विशेष सम्पर्क स्थापित हुआ। वैसे तो भारतके सम्वन्ध पश्चिमके साथ अतिप्राचीन हैं जिनकी सूचना प्राचीन यूनानी और रोमन ग्रंथोंसे प्राप्त होती है। इस समय भारत मानवीय सभ्यताका एक प्रधान केन्द्र था। बौद्धोंने भी मानवताके सार्वभौमिक सिद्धांतोंके प्रचारके समय भारत और यूरोपके सम्बन्धोंको घनिष्ट किया। परन्तु यह पुराना समय था। जैसा के० टी० पालका कथन है इस सम्पर्कके बीच 'पश्चिमका भारतके प्रति बहुत कम या नहींके बराबर योग है। भारतने सिखलाया या दिया और बदलेमें अपेक्षाकृत बहुत कम लिया। सम्पर्क वस्तुतः एक पक्षीय था; यह पश्चिमका भारतके साथ सम्पर्क था भारतका पश्चिमके साथ नहीं।'[६] रोमन साम्राज्यके पतनके पश्चात् परिणामतः भारतके साथ व्यापारिक सम्बन्धोंका विच्छेद हो जाना, भूमध्यसागरके इर्द-गिर्द ईसाई धर्मका प्रचार, विदेशोंमें भारतीयोंके प्रभावक्षेत्रके मध्यसे ही इस्लामका आकस्मिक जन्म इत्यादि अनेक कारणोंने शताब्दियों तक भारतके साथ पश्चिमको अलग

---

६. के० टी० पॉल; ब्रिटिश कनेक्शन विद इंडिया, पृ० २२

रक्खा।[७] परन्तु जिन सामाजिक परिवर्तनोंके सन्दर्भमें हम अभी विचार कर रहे थे, उनकी दृष्टिसे भारत और पश्चिमका सम्पर्क अभी नहीं स्थापित हुआ था। यह सम्पर्क वास्तव में पहली बार तब स्थापित हुआ जब पुर्तगालियोंने भारतके लिए योरपसे एक नवीन समुद्री मार्ग ढूंढ़ निकाला। यह सम्पर्क तब और अधिक बढ़ा जब १५०० ई० के लगभग पूर्तगाली, डच, डेन, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ आदिने भारतवर्षमें अपनी आबादियां बसाईं। इन जातियोंका रहन-सहन, विचार, इनकी भाषा और संस्कृति, शासन व्यवस्था तथा शिक्षा प्रणाली सब-कुछ भारतीयोंसे भिन्न थीं। जिन्होंने शनैः-शनैः भारतीय समाजपर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ किया। १७ वीं शताब्दी तक इन विदेशी जातियोंमें भारत-भूमिपर पारस्परिक संघर्ष होता रहा। अन्ततः अंग्रेज सफल हुए। वे मुख्यतः भारत-व्यापारके सम्बन्धमें आये थे किन्तु अवसर पाकर वे यहाँके शासक बन बैठे। शासक होनेके नाते उनकी संस्कृतिका व्यापक प्रभाव इस देशके निवासियोंपर पड़ना स्वाभाविक था। प्राथमिक दशामें तो इनके सुखी और सम्पन्न जीवनका भारतीय समाजने अनुकरण करना चाहा। उसके बाद शासन इत्यादिके सम्बन्धमें भारतीयों और अंग्रेज़ोंमें निकटता बढ़ी। परन्तु इस निकटतामें एक बाधा थी—वह थी भाषाकी। अंग्रेजोंको ऐसे लोगोंकी आवश्यकता थी, जो उनकी बातोंको समझकर उनके अनुसार शासनप्रबन्धमें कुछ सहायता कर सकें। अतः मुख्यतः जीविकोपार्जनके लिए भारतीयोंने उनकी भाषा अंग्रेज़ीको सीखना प्रारम्भ किया।

भाषाकी अद्भुत प्रकृतिके विषयमें हम प्रारम्भमें चर्चा कर चुके हैं। अंग्रेज़ी भाषा के माध्यमसे अंग्रेज़ोंकी सभ्यता, उनके मानसिक विकास और साथ ही योरपीय संस्कृति का परिचय मिलना भी शुरू हुआ।

१८ वीं शताब्दीमें भारतका शासन धीरे-धीरे ईस्ट इण्डिया कम्पनीके हाथोंमें जा रहा था। इस समय कम्पनीवालोंने प्रथम तो भारतीयोंकी शिक्षाकी ओर ध्यान ही नहीं दिया और जो कुछ दिया भी वह केवल देशी भाषाकी शिक्षाकी ही ओर। इसके पहले ईसाई मिशनरी देशी और पाश्चात्य शिक्षाके सहारे अपने धार्मिक विचारोंका प्रचार कर रहे थे। कम्पनीवालोंने अँग्रेज़ी शिक्षाके प्रचारके लिए प्रारम्भमें कुछ भी काम न किया। उनको भय था कि भारतीय समाज उसका स्वागत न करेगा। परन्तु शीघ्र ही उनके विचारोंमें परिवर्तन हुआ और उक्त शताब्दीके अन्तिम दशाब्द (१७९२ ई०) में उनके एक प्रमुख डाइरेक्टर चार्ल्सग्रांटने स्वयं लिखा कि भारतवर्षमें पाश्चात्य शिक्षा और धर्मका प्रचार होना चाहिए। इसीके अनुसार १७९३ ई० में ब्रिटिश हाउस आफ कॉमन्सने भारतकी उन्नतिके लिए 'लाभप्रद ज्ञान' और 'धार्मिक तथा नैतिक प्रगति' विषयक् एक प्रस्ताव पास किया। फलतः कम्पनीने मिशनरियोंको शिक्षा और धर्म प्रसारके लिए आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया। मिशनरियोंका यह आंदोलन भारतमें पाश्चात्य विचारोंके प्रवेशका प्रथम द्वार था। भारतीय शीघ्र ही इन प्रचारकोंके कॉलिजोंमें अपने बच्चोंको पढ़नेके लिए भेजने लगे। सर फ़िलिप हार्टगका कहना है कि माता-पिता इन बच्चोंको ईसाई प्रभावमें लानेके लिए ही इन कॉलिजोंमें भेजते थे।[८] जहाँ

---

७. **के० टी०—पाल ब्रिटिश कन्वेन्शन विद इंडिया पृ० २२**

८. **सर फ़िलिप हार्टग : स्टडीज ऐण्ड रिपोर्ट्स्, नं० ७, (सम ऐस्पेक्ट्स आफ़ इण्डियन एजुकेशन पास्ट एण्ड प्रेजेंट), पृ० ६.**

तक इस समयकी सरकारका शिक्षासे सम्बन्ध है उसकी नीति यहाँ अधिकसे अधिक देशी ज्ञान-विज्ञानका प्रचार करना था। तदनुसार वारेन हेंस्टिग्सने १७८१ ई० में मुसलमानों के लिए कलकत्ता मदरसा और ग्यारह वर्षोंके बाद १७९२ ई० में बनारसके रेजिडेंट जोनैथन डंकनने उस समयके गवर्नर जनरल लॉर्ड कार्नवालिसकी रायसे हिन्दुओंके लिए संस्कृत कालिज बनारसकी स्थापना कराई।

परन्तु इंग्लैण्डमें कुछ धर्मानुरागी उत्साही व्यक्ति भारतमें देशी शिक्षासे संतुष्ट न थे। फलतः १७९३ ई० में भारतमें पाश्चात्य शिक्षा और धर्मके प्रचारके लिए जो प्रस्ताव पास किया गया, उसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।

भारतमें अँगरेज़ी शिक्षाके प्रचारकी दृष्टिसे १९ वीं शताब्दी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भारतकी आधुनिक सभ्यताका वस्तुतः यहींसे श्रीगणेश हुआ। पिछली शताब्दीमें विश्वके इतिहासमें अनेक महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुई थीं जिनमें अमरीका और फ्रांसकी व्यापक जनक्रांतियाँ प्रमुख हैं। इन्होंने संसारका रूप ही बदल दिया था। यह प्रभाव असाधारण था। इस समय योरपमें बौद्धिक क्रांतिकी जो लहर दौड़ी उसने वहाँके निवासियोंका जीवन-दर्शन बदल दिया। शिक्षा, साहित्य, विज्ञान, राजनीति, दर्शन और धर्म इत्यादि सभी क्षेत्रोंमें नवीन वादोंका जन्म हुआ। १९ वीं शताब्दी पाश्चात्य जगत्के लिए शान्तिपूर्ण थी। इस समय वहाँके निवासियों में नवीन मान्यताएँ स्वीकृत की जा चुकी थीं। इस अभूतपूर्व परिवर्तनसे इंग्लैंड अछूता न रहा। वहाँ इस शताब्दीके मध्यमें महारानी विक्टोरियाका शासन प्रारम्भ हुआ, जिनके साम्राज्यमें कभी सूर्यास्त नहीं होता था। साम्राज्यकी विशालताने अंग्रेज़ोंके मनको बड़प्पन' के भावसे भर दिया। उनके विचारसे कोई भी अँग्रेज़ी वस्तु महान् थी। उनके कर्त्तव्य भी महान् थे! उस वृहत् साम्राज्यके अंग्रेजोंसे भिन्न निवासियों को सुसभ्य बनाना उनका परम धर्म था। उनकी शिक्षा थी—'इंग्लैंडका अनुकरण करो, अंग्रेज़ी राजनीतिक संस्थाओंका अनुकरण करो, अंग्रेज़ी खेलोंका अनुकरण करो, अंग्रेज़ी भाषा सीखो, अंग्रेज़ी साहित्य, इतिहास तथा दर्शनका अध्ययन करो।' यह उस युगके अंग्रेज़ोंकी स्वार्थपरता होती यदि वे केवल नये देशोंको जीतते ही जाते और उनको महान् अंग्रेज़ी सभ्यताके सम्पर्कसे वंचित रखते।[९] भारत उनका सबसे प्रिय देश था और वहाँ अंग्रेज़ी तथा पाश्चात्य विचारधाराका प्रचार सबसे पहले आवश्यक था!

१९ वीं शताब्दीके भारतका सामाजिक इतिहास भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस कालमें यहाँ कुछ ऐसे गवर्नर-जनरल आये जिन्होंने विशेष उत्साहके साथ शताब्दियोंसे पिछड़े हुए समाजका सुधार कर उसको एक सर्वथा नवीन युगमें लानेका प्रयत्न किया। लार्ड विलियम बेंटिंक और लॉर्ड डलहौज़ी इन प्रारम्भिक सुधारकोंमें प्रमुख हैं। ये सामाजिक सुधार मुख्यतः १८२८ ई० से १८५७ ई० तक किये गये। सती-प्रथाका अन्त किया गया। सामाजिक समानताके आधारपर सरकारी पद प्रत्येक जाति और धर्मवाले व्यक्तिके लिए उपलब्ध होने लगे। शिक्षामें भी जाति और धर्मके बन्धन हटा दिये गये। लार्ड डलहौज़ीके शासन कालमें योरोपके जिन वैज्ञानिक आविष्कारोंको भारतमें प्रविष्ट किया गया वे भी समाज पर अपना प्रभाव छोड़े विना न रह सके। रेल,

९. सर जान० ए० आर० मैरियट : दि इंग्लिश इन इण्डिया, पृ० १९६.

तार, डाक, ने व्यापार और विचार विनिमयमें विशेष सुविधा प्रदान की। विज्ञानकी अद्‌भुत प्रगतिने जिस प्रकार योरपके ऊपर प्रभाव छोड़ा था उसी प्रकार भारतपर भी वह प्रभाव छोड़ने लगी। पहले तो भारतीयोंने इन नवीन सुविधाओंका विरोध किया किन्तु शासनकी कठोरता, भौतिक सुखका लोभ, एवं सद्‌बुद्धिके कारण बादमें ये त्याज्य न रहीं। देशमें नयी-नयी मशीनें स्थापित हुईं, जो महीनोंका काम दिनोंमें कर देती थीं। इन मशीनोंने देशका आर्थिक ढाँचा बदलना शुरू किया जिसका प्रभाव भी भारतीय समाजपर पड़ा। परन्तु ये सब परिवर्तन बाहरी हैं और इनका अपने-आप केवल इतना ही महत्व है कि इन्होंने हमें अपने बहुतसे पुराने विचारों और मान्यताओंको बदलनेके लिए बाध्य किया। भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियोंके सम्मिलनके वास्तविक प्रभाव अन्यत्र ही थे।

उपर्युक्त सभी सुधारोंमें शिक्षा सम्बन्धी सुधारोंने वस्तुतः नवीन भारतीय सभ्यताकी नींव डाली। अंग्रेज़ी शिक्षाके माध्यमसे पश्चिमके अनेक उदारवादी सिद्धान्तोंने आकर अपनी अद्‌भुत शक्तिसे भारतीय समाजको झकझोर दिया। पुरानी धारणाएँ नई शिक्षाके प्रकाशमें समयके प्रतिकूल मालूम पड़ीं। अतः आलोचनाकी प्रवृत्ति जाग्रत हुई। अब कोई वस्तु अपने यथारूपमें सहसा नहीं स्वीकार की जाती थी बल्कि निर्णयात्मक बुद्धि ही उसकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृतिका आधार थी। अडिग वैज्ञानिक सत्योंने अन्ध विश्वासोंके महलको ढहा दिया। नैतिकता और धर्म विषयक नये विचारोंसे भी समाजका रूप बदलने लगा। समाजमें उत्साह और गतिशीलताकी एक लहर दौड़ गई। हमने पहले ही देखा है कि १८ वीं शताब्दीके अन्तमें पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षाका प्रसार धर्मप्रचारक कर रहे थे। यही नहीं प्राच्य विद्वानोंका अनुशीलन भी पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रणालीसे होने लगा था जब १७८४ ई० में कलकत्तामें सर विलियम जोन्सने एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बेंगालकी स्थापना की।

सरकारकी ओरसे अंग्रेज़ी शिक्षाके प्रचारके लिए इंग्लैण्डमें १८१३ ई०में एक चार्टर पास किया गया, जिसके अनुसार भारतमें उसके उद्देश्योंको शीघ्र पूरी करनेकी अपेक्षा थी परन्तु लापरवाही और उपेक्षाके कारण सन् १८२३ ई० तक कुछ भी न हुआ और तब कलकत्तामें एक संस्कृत कॉलिज खोलनेका निश्चय किया गया। इस समय तक अनेक प्रभावशाली भारतीय पाश्चात्य विचारधाराके पक्षपाती हो चुके थे। उनमें राजा राममोहनराय प्रमुख हैं। उन्होंने तत्कालीन गवर्नर-जनरल अमहर्स्टके सम्मुख एक विरोध पत्र प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने कहा कि इस प्रस्तावित संस्कृत कॉलिजमें 'विद्यार्थी वही सीखेंगे, जो उन्हें पिछले दो सहस्र वर्षोंसे ज्ञात है; हाँ उसके साथ मिथ्या और छिछला ज्ञान और बढ़ जायगा....। यदि ब्रिटिश विधानमंडलकी यही नीति है, तो संस्कृत शिक्षा इस देशको अंधकारमें बनाये रखनेके लिए सर्वोत्तम उपाय है। परन्तु जैसा कि देशी समाज की उन्नति करना सरकारका ध्येय है, उसको उदार और प्रगतिशील शिक्षाप्रणालीका संवर्धन करना चाहिए, जिसमें गणित, दर्शन, रसायनशास्त्र एवं शरीर विज्ञान सभी सम्मिलित हों और साथमें योरपमें शिक्षित प्रतिभा और विद्यासे सम्पन्न व्यक्तियोंको रखकर तथा कालिजोंमें आवश्यक पुस्तकों और यन्त्रादिकी व्यवस्था करके अन्य लाभप्रद वैज्ञानिक

विषयोंकी शिक्षा भी दी जानी चाहिए ।' परन्तु सरकारपर इसका विशेष प्रभाव न पड़ा । अतः प्रगतिशील भारतीय शिक्षा प्रसारके कार्यमें धर्मप्रचारकोंके साथ सहयोग करने लगे । यह नया आंदोलन बंगालसे आरम्भ हो रहा था ।

सन् १८३३ ई० में चार्टरका संशोधन हुआ जिसके अनुसार भारतीयोंको राजकीय सेवाओंमें स्थान देनेकी नीति अपनाई गई थी । शासनको अधिक शिक्षित व्यक्तियोंकी आवश्यकता थी । इस चार्टर ऐक्टके अनुसार ही लार्ड मैकाले (जिसका नाम भारतमें अंग्रेज़ी शिक्षाके प्रारम्भ करनेवालोंमें अमर रहेगा) सन् १८३४ में तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेंटिकका क़ानूनी सलाह बनकर भारत आया । उसने आते ही यहाँकी शिक्षा प्रणालीमें परिवर्तन किया । उच्च शिक्षा किस भाषाके माध्यमसे दी जाय यह प्रश्न पहलेसे ही बिना हल किया हुआ पड़ा था । अतः मैकालेने उस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर दिया । उसका उद्देश्य भारतीयोंको पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा अपने जैसा ही बना लेना था । इसलिए उसने कहा :

"हमें एक जातिको शिक्षित बनाना है, जिसको इस समय उनकी मातृभाषामें शिक्षा नहीं दी जा सकती । हमें उनको कोई विदेशी भाषा पढ़ानी चाहिए । हमारी अपनी भाषाके अधिकारके विषयमें कुछ कहना व्यर्थ ही है....जो कोई भी उसको जानता है उसको वह सब विस्तृत बौद्धिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, जिसको पृथ्वीके समस्त सर्वाधिक बुद्धिमान राष्ट्रोंने पैदा किया है और लगभग नब्बे पीढ़ियोंसे संचित किया है । यह बड़ी सुविधासे कहा जा सकता है कि उस भाषामें जो साहित्य आज उपलब्ध है, वह उस समूचे साहित्यसे कहीं बढ़कर है जो तीन सौ साल पहले सारे संसारकी भाषाओं में प्राप्त था । यही सब-कुछ नहीं है । भारतमें अंग्रेज़ी शासक वर्ग द्वारा बोली जाती है । यह सरकारी जगहोंपर उच्च वर्गके देशी लोगों द्वारा भी बोली जाती है । यह सम्भवतः पूर्वके सभी समुद्रोंकी व्यापारिक भाषा बननेवाली है । यह योरपकी दो महान जातियोंकी भाषा है, जो विकासके पथपर हैं—एक दक्षिण अफ्रीकामें है और दूसरी आस्ट्रेलियामें; ये वे जातियाँ हैं, जो प्रत्येक वर्ष महत्वपूर्ण होती जा रही हैं और जो हमारे भारतीय साम्राज्यसे सम्बद्ध हैं । चाहे हम अपने साहित्यकी अन्तर्निहित गरिमाको देखें और चाहे इस देशकी विशिष्ट परिस्थितियोंको हमें सबसे अधिक उचित यह लगेगा कि सभी विदेशी भाषाओंमें अंग्रेज़ी ही हमारी देशी प्रजाके लिए सर्वोत्तम रहेगी । प्रश्न हमारे सम्मुख यह है कि जब उपयुक्त समय होगा तब हम यह भाषा पढ़ायेंगे और तब हम स्थानीय भाषयें भी पढ़ायेंगे जिनमें, सभी जानते हैं, किसी विषयकी पुस्तकें नहीं हैं जिनकी हमारी पुस्तकों से समता की जा सके । क्या जब हम योरपीय विज्ञानको पढ़ायेंगे, हम उन प्राणालियों को भी पढ़ायें, जो योरपसे भिन्न होनेपर और भी अधिक निम्न हैं; और क्या जब हम गंभीर दर्शन तथा वास्तविक इतिहासका संरक्षण करेंगे, तब जनताके धनसे उन चिकित्सा-संबंधी सिद्धान्तोंका भी सामना करेंगे, ज्योतिष जो किसी अंग्रेज़ी बोर्डिंग स्कूलकी लड़कियों में हँसी पैदा करदे, इतिहास जिसमें तीस-तीस फीट ऊँचे राजा है तथा जो तीस हज़ार वर्षों तक शासन करते हैं तथा भूगोल जो खांड और मक्खनके समुद्रोंसे निर्मित है ।'

ऊपरके वाक्योंसे यह स्पष्ट हो जायगा कि मैकाले भारतीयोंके ज्ञान और बौद्धिक स्तरका कितना बड़ा निन्दक और आलोचक था । उसकी वास्तविक योजनाका पता

उसके इन शब्दोंसे लगता है कि "हमें भारतमें इस तरहकी एक श्रेणी पैदा कर देनेका भरसक प्रयत्न करना चाहिए जोकि हमारे और उन करोड़ों भारतवासियोंके बीच, जिनपर हम शासन करते हैं, समझाने-बुझानेका काम करे। ये लोग ऐसे होने चाहिए जो कि केवल रक्त और रंगकी दृष्टिसे हिन्दुस्तानी हों, किन्तु जो अपनी रुचि, भाषा, भावों और विचारोंकी दृष्टिसे अँगरेज़ हों।" वह अपनी योजनामें अन्ततः सफल हुआ और सरकारी तौरपर अंग्रेज़ी की शिक्षा देश-भरमें दी जाने लगी। पाठ्यक्रम तथा पुस्तकें सभी पश्चिम की थीं। शिक्षाके क्षेत्रमें यह परिवर्तन असाधारण महत्वका था। अंग्रेज़ी भाषाके माध्यम से पाश्चात्य साहित्य और विज्ञानके अध्ययनका जो क्रम इस समय प्रारम्भ हुआ, उसका आज तक कोई अन्त नहीं है, अतः इसके बादके इतिहासका अध्ययन आवश्यक है। इस समय देशके विभिन्न भागोंमें अनेक विश्वविद्यालय खुले, जिनका संगठन पूर्णतः योरोपीय-मुख्यतः लन्दन, ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयोंके आधारपर हुआ।

उक्त शिक्षाप्रणालीसे भारतीय समाजपर अच्छे और बुरे जो भी प्रभाव पड़े उनपर अधिक विवाद नहीं है। वे प्रभाव तो स्वाभाविक ही हैं। किन्तु इन प्रभावोंके पीछे कौन-सा सामाजिक मनोविज्ञान काम करता है यह अवश्य रोचक विषय है। हम यह देख चुके हैं कि अँग्रेज़ोंके भारत आगमनके समय भारतीयोंकी क्या सामाजिक दशा थी। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य विचारधारा के प्रभावमें पहले से ही लोग आने लगे थे। यह प्रभाव समय-समयपर नये-नये रूपोंमें परिलक्षित हुआ। हम साधारणतया कह सकते हैं कि हमारा आजका समाज बहुत कुछ पाश्चात्य ढाँचेमें ढल गया है। पाश्चात्य विचार भी न केवल शहरोंमें बल्कि दूर देहातोंमें किसी न किसी रूपसे पहुँच चुके हैं। बहुतोंके बारेमें तो हम यह भी नहीं सोच पाते कि वे विदेशी हैं। वस्तुतः वे विदेशी हैं भी नहीं क्योंकि आजका मनुष्य देश, जाति और धर्मकी दीवारोंसे उतना अलग-अलग नहीं घिरा है जितना पहले था। अतः पश्चिममें किये गए अनुसन्धान सारे संसारके हैं। भारतकी किसी वैज्ञानिक प्रयोगशालामें पता लगाया हुआ सत्य सारे संसारमें व्याप्त है।

हमने पश्चिमके साथ मिल-जुलकर रहना, उनकी बातको भी सुनना, समझना और अच्छी समझकर स्वीकार करना एक दिनमें नहीं सीखा। अंग्रेज़ोंके सम्पर्कके पूर्व हम अपने ज्ञानको भूल चुके थे। अंग्रेजी शिक्षा और योरपीय विचारधाराकी समता करने के लिए हमारे पास न तर्क था, न बुद्धि थी और न उत्साह था। अतः उन विचारोंको जो हमारे विश्वासोंकी जड़ हिलायें दे रहे थे हमने बिना सोचे-समझे अपने विचारोंसे ऊँचे और शक्तिशाली मान लिया। यह भारतीय समाजकी पराजयकी भावना थी। श्री हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्यायने कहा भी है कि अंग्रेजीकी शिक्षाका कुपरिणाम यह निकला कि भारतीयोंमें हीनताकी भावना घर कर गई। 'उन्होंने अपनी कला, अपने साहित्य और अपने इतिहासमें विश्वास खो दिया। वे स्वयमेव यह विश्वास करने लगे कि उनके देशकी किसी भी अच्छी चीज़ का मूल योरपीय है। उनके नाटक-दर्शन और उनकी कलाएं किसी न किसी रूपमें यूनानी साहित्यकी ऋणी हैं। क्लाइव और वेलेज़ली इतिहासके देवता हैं।.... भारतीय बड़ी कुशलतासे 'लूसी ग्रे' और 'दि ले ऑफ़ दि लास्ट मिंस्ट्रेल' के उद्धरण दे सकता था पर उसने भवभूति और कालिदासका नाम तक न सुना....[१०]

१०. टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, दीवाली सप्लीमेण्ट, १६३८.

परन्तु यह पाश्चात्य प्रभावकी पहली स्थिति थी। एक बार झुक जानेपर पश्चिमकी बौद्धिकता जिस वेगसे भारत आई उसका सामना करना सम्भव न था। हमको लगा जैसे हम कुछ नहीं हैं। इस धारामें बहनेवालोंमें बंगाली मुख्य थे जहाँ कहा जा चुका है कि अंग्रेज़ी शिक्षा सबसे अधिक थी। बड़े और सम्पन्न परिवारके लोग पहले इस प्रभाव में आये। धीरे-धीरे मिशनरियोंके भाग्य भी खुले। पाश्चात्य समाजको समझना अब अधिक कठिन न था। उनकी सामाजिक समानता और भारतीय समाजकी असमानता दोनों का साथ-साथ चलना सम्भव न था। भारतीयोंने पाश्चात्य धर्म और रहन-सहनको अपनाना शुरू किया।

भारतीय समाजपर पाश्चात्य विचारधाराके प्रभावकी दूसरी लहर भी बड़ी स्वाभाविक थी। लेकिन वह पाश्चात्य और भारतीय जीवनमें समझौता करानेके प्रयास में थी। राजा राममोहन राय इस आंदोलनके नेता थे। वह अट्ठारहवीं शताब्दीके तृतीय चरणमें एक ब्राह्मण परिवारमें उत्पन्न हुए थे और भारतीय समाजकी दुरवस्थासे अत्यन्त क्षुब्ध थे। उन्होंने पाश्चात्य भाषाओंका अध्ययन किया। परन्तु स्वयं अपनी जाति और धर्ममें बने रहकर भारतीय समाजका सुधार करना चाहा। उनका ब्रह्म समाज एक ऐसा ही संगठन था जो देशके शिक्षित नवयुवकोंको एक ओर तो पश्चिमके ज्ञानसे परिचित करानेके पक्षमें था और दूसरी ओर उनको अपने धर्म और साहित्यमें भी रुचि लेनेके लिए उत्साहित करता था।

परन्तु प्राच्य विद्याओंके अध्ययनका जो प्रारम्भ सर विलियम जोंसके समयमें हुआ था वह बेकार न था। उससे भारतके अतीतका ज्ञान प्रारम्भ हुआ और फलतः समाजमें प्रतिक्रियाकी एक तीसरी लहर दौड़ी। यह प्रतिक्रिया यद्यपि संतुलित मस्तिष्ककी उपज न थी परन्तु परम स्वाभाविक थी जिसने १९ वीं शताब्दीके उत्तरार्धको छा लिया। इस लहरमें पड़कर लोग प्रथम पाश्चात्य प्रभावकी विपरीत दिशामें चलने लगे। देशी और विदेशी विद्वानोंने मिलकर संस्कृत साहित्यकी अमूल्य निधिका पता लगाना शुरू किया जिसने भारतीयोंको पुनः आत्म-स्फुरित किया। 'हम, बड़े हैं,' 'भारत सदासे संसारका सिरमौर रहा है।' 'भारत संसारका गुरु है' इत्यादि विचारोंने पाश्चात्य दर्शन और विज्ञानके विरुद्ध विद्रोह किया। इस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसका भी जन्म हुआ जिसका इतिहास ही आगे चलकर भारतका इतिहास बन गया। १९ वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध ऐसे ही आंदोलनोंसे भरा है। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने आर्य समाजकी स्थापना की जिसके प्रचारके लिए उन्होंने अंग्रेज़ीके विरुद्ध हिन्दीको चुना। भारतमें पुनः वैदिक संस्कृतिको फैलाना स्वामीजीका उद्देश्य था। वेद मानवीय ज्ञानके अमित स्रोत हैं। जो-कुछ उनमें नहीं है वह संसारमें कहीं नहीं है। इस प्रकारके आंदोलनोंने एक बार फिर भारतीयोंको पाश्चात्य जगत्के प्रति उदासीन बना दिया। इसी शताब्दी में श्रीरामकृष्ण परमहंसने अपने उदार धार्मिक विचारोंका प्रचार प्रारम्भ किया। परन्तु उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्दके समान भारतीय संस्कृतिको ही विश्वकी सर्वोत्कृष्ट संस्कृति मानते थे। उनके विचारसे पाश्चात्य जगत् पतित और पूर्णतया भौतिकवादी है। यह विचारधारा उसी प्रतिक्रियाके रूपमें उत्पन्न हुई थी जिसका अभी उल्लेख किया गया है।

१९ वीं शताब्दीमें भारतमें राष्ट्रीयताकी एक लहर दौड़ गई थी। और तज्जन्य प्रभावको संवर्धन तथा उसको स्थायित्व देनेके लिए एक महासभाका भी जन्म हुआ। इस संगठनमें पाश्चात्य विद्याओंमें पारंगत भारतीय विद्वान ही पहले पहल सम्मिलित हुए, जो अपने राष्ट्रका निर्माण और समाजका सुधार करना चाहते थे। उनमें प्रायः अपनी उच्चताका न तो मिथ्या दम्भ था, न पश्चिमके प्रति घृणा थी और न पश्चिमके अन्धानुकरणकी मनोवृत्ति। वैसे इस प्रकारकी उदार विचारधारा राजाराम मोहनराय के समयमें उत्पन्न हुई थी। रामकृष्ण परमहंस भी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रोंमें उदार विचारोंवाले थे। ब्रह्म समाजके ही समान बम्बईमें प्रार्थना समाजका जन्म हुआ जिसके प्रशंसकोंमें रामकृष्ण भण्डारकर, महादेव गोविन्द रानाडे और गोपाल कृष्ण गोखले प्रभृत्ति लोग थे जिन्होंने आगे चलकर भारत सेवक संघ बनाया।

इस प्रकार १९ वीं शताब्दीके भारतीय समाजमें हम दो प्रकारके वर्ग पाते हैं। पहला जो उग्र स्वभावका था जो पाश्चात्य शिक्षा, धर्म, दर्शन और संस्कृतिको हीन मानता था और दूसरा जो भारतीय समाजको न तो अकारण ऊँचा और न पाश्चात्य समाजको नीचा मानता था बल्कि बुद्धिके द्वारा पूर्व और पश्चिमकी विचारधाराओंका अध्ययन करता हुआ अपने सामाजिक उत्थानका मार्ग प्रशस्त करना चाहता था। पहला वर्ग उन लोगोंका था जो किसी समय अपने में लघुताकी मनोवृत्ति अपना चुके थे और अब उसकी प्रतिक्रियाके कारण ठीक उल्टी दिशामें चलने लगे थे। दूसरा वर्ग उन लोगोंका था जो पाश्चात्य सम्पर्कसे विचलित नहीं हुए थे तथा जहाँ जो उचित विचार था उसको उन्होंने अपना लिया था। इस दूसरे वर्गने अपने रहन सहन, राजनीतिक तथा सामाजिक दर्शनकी अनेक कमियोंको ईमानदारीके साथ स्वीकार किया और इसलिए उसने पश्चिमके ज्ञानसे लाभ उठाना चाहा। परन्तु कुछ भी हो एक बात दोनों वर्गोंमें मार्केकी है। वह यह कि दोनों प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे भारतीय समाजकी अनेक कमियों और कुरीतियोंको समझ गये थे। इसीलिए पहले वर्गने भी चाहे वह पश्चिमके प्रति उग्र विचारोंवाला ही क्यों न हो उन सामाजिक दोषोंको दूर करना चाहा, जिनके कारण पाश्चात्य धर्म और विचारोंका भारतमें क्षिप्रतासे प्रचार हो रहा था।

भारतीय समाजपर पाश्चात्य विचारधाराका जो प्रभाव पड़ा उसकी चौथी तथा अन्तिम स्थिति भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियोंका समीकरण है। और इसी समीकरणका परिणाम आजका भारतीय समाज है। परिवर्तनकी इस दशाका प्रारम्भ, हम देख चुके हैं, १९ वीं शताब्दीमें ही हुआ परन्तु उसके प्रत्यक्ष परिणाम २० वीं शताब्दीके दूसरे चरणसे परिलक्षित हुए। महात्मा गांधी इस युगके सर्वाधिक प्रभावशालीं पुरुष हुए जिन्होंने अपने ऊपर पाश्चात्य विचार धाराके ऋणको स्पष्टतः स्वीकार किया।

ऊपर हमने पाश्चात्य प्रभावकी विभिन्न दशाओंको देखनेका प्रयत्न किया है जिनसे चलकर आजका हमारा समाज बना है।

आजका भारतीय समाज पाश्चात्य विचारधारा और संस्कृतिमें ही ढला है। समाजके जिस बड़े वर्गमें अभी शिक्षाका प्रसार नहीं हुआ है वहाँ भी अंग्रेजी शिक्षाका और समयके प्रभावसे आश्चर्यजनक सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि समाजके एक बड़े भागकी आत्मा अब भी भारतीय है परन्तु पाश्चात्य चिन्ताने हमारे

रहन-सहन और जीवनकी मान्यताओंको बदल दिया है। हम यहाँ भारतीय प्रभावोंको अलगसे भी देख सकते हैं।

यह कहना शायद अनुचित न होगा कि भारतमें राष्ट्रीयताकी विचारधारा पश्चिमकी ही देन है जो अंग्रेजी शिक्षाके द्वारा यहाँ आई। निस्संदेह राष्ट्रीयता शब्दसे हम प्राचीन कालमें अपरिचित न थे। इसके स्तवनमें अनेक सुन्दर वैदिक मंत्रोंकी रचना भी हुई थी तथापि वर्तमान युगमें भारतीय राष्ट्रीयताका उदय अंग्रेजी शासन और शिक्षाके कारण हुआ। हम इस युगमें वेदोंसे राष्ट्रीयताका भाव कम ले सके किन्तु जान स्टुअर्ट मिलके विचारोंने शिक्षित भारतीयोंको अधिक प्रभावित किया। इन विचारोंके ही प्रभावसे भारतमें स्वाधीनता प्राप्तिका आन्दोलन शुरू हुआ। अंग्रेज़ी शिक्षाके कारण बर्क, मैकाले, पेन और मैज़िनी, गैरीबाल्डी भारतीय विद्यार्थियोंके निकट आ गये जिनके विचारोंका प्रभाव उनपर पड़ना स्वाभाविक था। आगे चलकर इंगलैण्ड और योरपके राजनीतिक दर्शकोंने भारतके राष्ट्रीय आंदोलनमें विचारोंका आधार प्रदान किया। इस प्रभावको आंदोलन के पहले उभार में अनेक भारतीयोंने साभार स्वीकार भी किया। दादाभाई नौरोज़ीने १८६७ ई० में ईस्ट इण्डिया एसोसियेशनके सम्मुख कहा—'देशी लोग अब इसको जानने और इसका अनुभव करने लगे हैं कि मनुष्य-मनुष्यके बीच न्याय किसको कहते हैं।.....विश्वविद्यालय और शिक्षा संस्थामें इस बातके प्रमाण हैं कि लोगोंका कितना बुद्धि प्रकाश हो रहा है।.... लोग सर्वोच्च राजनीतिक दशा, जो किसी भी राष्ट्रकी आकांक्षा हो सकती है, का पाठ सीख रहे हैं।' इसी प्रकार गोखलेने कहा—'शान्तिका फल विधि और व्यवस्थाका संस्थापन, पाश्चात्य शिक्षा और भाषण स्वतन्त्रता और फलतः उदार संस्थाओंका समुचित सम्मान' अंग्रेज़ी शासनके लाभ हैं। १६ वीं शताब्दीके योरपमें राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्रवादी विचार विकसित हो रहे थे और वही भारत भी आये। २० वीं शताब्दीमें रस्किन और टॉलस्टॉय आदिने भारतीयोंको प्रभावित किया। भारतीयोंकी राजनीतिक चेतना पश्चिमके दर्शनका प्रत्यक्ष फल है।

अंग्रेज़ी शिक्षाने हमारे वैधानिक विचारोंपर भी प्रभाव डाला। देशमें जो नयी न्याय प्रणाली स्थापित की गई, उसका आधार पूर्णतः पाश्चात्य था। पश्चिमी न्यायदर्शन के सहारे आजके क़ानून बने। वैयक्तिक कानूनोंपर भी प्रभाव पड़ा। प्रारम्भमें तो स्मृतियोंमें लिखित कानूनोंका सुधार धीरे-धीरे हुआ परन्तु बादमें हिन्दू और मुसलमान कानून बहुत कुछ बदल गये। कानूनी संशोधन असाधारण महत्वके थे। विवाह, सम्पत्ति और उसका बँटवारा इत्यादिकी नीव बिल्कुल नये सिरे से पड़ी। हिन्दू कोड ऐक्ट जिसके भावी प्रभावसे प्रायः सभी परिचित हैं, इसका उदाहरण है।

पश्चिमके सम्पर्कसे भारतीयोंकी चिन्तन प्रणाली बदली। स्वतन्त्रता, समानता, नागरिक अधिकार, राज्य व्यवस्था और राजनीतिक दर्शन इत्यादि के विषयमें भारतीय व्यक्ति संसारके अन्य व्यक्तियोंके समान सोचने लगा जिसका फल यह निकला कि भारतीय राष्ट्र संसारके अन्य राष्ट्रोंके निकट आया। भारतीयोंका बौद्धिक पुनर्जागरण पाश्चात्य चिन्तनका सबसे महत्वपूर्ण फल है। इस युगके महानतम व्यक्ति गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और नेहरू इसी जागरणके प्रतिनिधि हैं।

यहाँ यह भी कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतीयोंका पाश्चात्य जगत्से सम्बन्ध न जुड़ता, तो सम्भवतः आज भारतमें विज्ञान शब्दसे ही हम परिचित न होते। भारत सदा पश्चिमका इसलिए ऋणी रहेगा कि वर्तमान युगमें पश्चिमने उसको विज्ञानकी शिक्षा दी। एक बार उस सत्यको जानकर भारतीय इस क्षेत्रमें चुप न बैठे। जगदीश चन्द्रबोस, पी० सी० राय, सी० वी० रमन और आजकल के अनेक भारतीय वैज्ञानिकों की गवेषणाओंने संसारके ज्ञानका संवर्धन किया है। मशीनोंसे पहले हम अपरिचित थे और इसलिये डरते थे किन्तु वैज्ञानिक शिक्षाने मशीनोंके प्रति हमारे विचारोंको बदल दिया। आज भारतीय समाज बड़ी तेज़ीके साथ अपनी पुरानी कृषक संस्कृतिका त्याग करता हुआ पाश्चात्य मशीनोंकी संस्कृतिमें प्रविष्ट हो रहा है। इस नवप्रवेशके फल अच्छे हों या बुरे यह प्रश्न यहाँ विचारणीय नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि भारत अब योरप-जैसा दिखलाई पड़ने लगा है। रेल, तार, डाक, बिजली, रेडियो, हवाईजहाज़ तथा अन्यान्य आविष्कारोंने हमारे प्राचीन विश्वासोंकी जड़को जिस प्रकार हिला दिया है, उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं।

पाश्चात्य विचारोंने वस्तुतः वर्त्तमान भारतीय समाजकी काया को बदल दिया है। इनका एक प्रमुख प्रभाव धर्मके ऊपर पड़ा। पहले तो धर्म अन्ध विश्वास आदि के साथसे अलग हुआ और फिर उसका सामाजिक महत्व समाप्त हो गया। मानव-समाजको एकसूत्रमें बाँधनेके लिए आजकल धर्म बिल्कुल असमर्थ है। यदि ऐसा होता, तो आजकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिकी दशा न जाने क्या होती। भारतके हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्यान्य धर्मावलम्बी और उनके पारस्परिक सहयोगका आधार धर्म कभी नहीं हो सकता। समानता और बन्धुत्वकी भावनाने सभी धर्मोंकी तात्विक एकताकी ओर लोगोंको अधिक उन्मुख किया। तत्वतः सभी धर्म एक हैं। बहुतोंके लिए तो धर्म व्यक्तिगत पसन्दकी चीज़ बन गई। परन्तु ऐसे लोग समाज-विरोधी नहीं माने जाते। योगिराट् अरविन्दमें धर्मके दूसरे पहलूका विकास हुआ। इस युग में यदि किसी नये धर्मका जन्म हुआ तो वह मानव धर्म है, जो सार्वदेशिक और सार्वभौम है। आज संसारके किसी कोनेमें जो कुछ होता है, उसका हमारे जीवनपर सीधा प्रभाव पड़ता है। हमारा सामाजिक दर्शन समाजवाद, और साम्यवादके सिद्धांतोंसे अनुप्राणित हो रहा है। और यह कौन नहीं मानेगा कि ये सभी वाद पश्चिममें उपजे हैं?

यदि पाश्चात्य विचारोंका भारतीय समाजपर एक अन्य प्रभाव देखना है तो आधुनिक भारतीय साहित्यका अध्ययन करना पड़ेगा। और यदि यह सत्य है कि साहित्य समाजका दर्पण है, तो यह भी सत्य है कि हमारा शिक्षित वर्ग न केवल पाश्चात्य शिक्षा या विचारों से प्रभावित है प्रत्युत बहुत-कुछ उनके अनुकूल ढल चुका है। भारतीय साहित्यको ठीक समझना आजकल तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कोई पाश्चात्य साहित्यको न जानता हो। बंगालीमें यह प्रभाव सबसे पहिले परिलक्षित हुआ और फिर उसके माध्यम से यह प्रभाव हिन्दीमें आया। पश्चिमकी नयी-नयी मनोवैज्ञानिक खोजोंको आप इस साहित्यमें पायेंगे। साहित्यके पात्रोंका समझना उनके जटिल जीवनके समझनेके समान ही कठिन है। काव्यमें नये-नये प्रयोग आलोचनाके नये-नये सिद्धान्त, निबन्ध आदिका विकास पाश्चात्य साहित्यके अध्ययनका परिणाम है।

ये सब परिवर्तन तो हमारे जीवन-दर्शनमें हुए हैं। कुछ प्रभाव अपने मूर्त रूपमें देख पड़ते हैं। भारतीयोंका रहन-सहन अब दूसरा होने लगा है। पाश्चात्य वेश-भूषा, प्रसाधन और शिष्टाचारके नियमोंको हम लोगोंने अपना लिया है और उनको अपनाकर हम लज्जा या ग्लानिका अनुभव नहीं करते। भारतीय नगरोंमें स्थान-स्थानपर योरपकीसी दूकानें खुलती जा रही हैं। होटल, रेस्तराँ तथा अन्य ऐसे ही स्थान बिलकुल योरपीय हैं। जाति-पाँतिका इनमें भेद नहीं है। शिक्षा-संस्थाओंमें अब कुर्सियोंपर बैठकर पढ़ाई होती है और गुरुकुलकी शिक्षा प्रणाली कुछ स्थानों तक ही एक नये रूपमें सीमित है। स्त्री स्वातन्त्र्यका भाव भी इस युगमें पश्चिमी विचारोंका प्रभाव है, जहाँ स्त्रियोंको पुरुषोंके समान ही अधिकार प्राप्त हैं। आधुनिक भारतीय नारी मध्यकालीन नारीसे बिल्कुल भिन्न हैं और यदि समाजका इसी प्रकारसे परिवर्तन होता गया (जो अवश्य होगा) तो रीतिकालकी किसी नायिकाका हमें अन्दाज़ तक न मिलेगा।

पाश्चात्य शिक्षा और चिन्ताका भारतीय समाजपर प्रभाव सर्वांगीण है। वह केवल शिक्षित समाज तक ही सीमित नहीं है, सुदूर गाँवमें जहाँ अशिक्षित, निर्धन अन्धविश्वासी और पिछड़ी हुई मानवताका वास है, वहाँ भी पाश्चात्य सभ्यताकी किरणें पहुँच रही हैं। क्योंकि वहाँके युवक नगरोंमें आकर अंग्रेजी प्रणालीसे शिक्षित होते हैं। आते हैं वे दूसरा रूप लेकर और जाते हैं बदलकर। हमारी लोक-भाषाओंमें भी यह पाश्चात्य प्रभाव परिलक्षित है। अंग्रेज़ोंके शताब्दियोंके सम्पर्कमें उनमें अनेक नये शब्द भर दिए हैं जिनसे विचारोंको व्यक्त करनेमें लोगोंको सुविधा होती है।

परन्तु आवश्यक नहीं है कि उपर्युक्त सभी परिणाम शुभ ही हों। जहाँ एक ओर भारतीय समाज पाश्चात्य विचारोंसे परिचित होकर अत्यधिक प्रगतिशील हुआ है वहाँ पाश्चात्य समाजके अनेक दोष भी उसमें आ गये। जिन अनेक मनोवैज्ञानिक, शारीरिक और आर्थिक समस्याओंके कारण योरपके व्यक्तिका जीवन अशान्त और जटिल हो गया है, उनसे आजका भारतीय छूटा नहीं है। पश्चिमकी व्यावसायिक बुद्धि, मानवीय सुखोंके साधनोंका केन्द्रीकरण इत्यादि सभी भारतमें भी प्रवेश पा गये हैं। अंग्रेज़ी शिक्षाका आगमन देशमें उन परिस्थितियोंके बीच हुआ, जिन्होंने भारतीयोंकी सर्जनात्मक शक्तिका ह्रास कर दिया क्योंकि शिक्षा आजीविका दिलानेका साधन बन गई। प्रारम्भमें जब पढ़ने-लिखनेका कम मात्रामें काम था तब लोगोंको पढ़-लिखकर बेकार नहीं बैठना पड़ता था परन्तु शिक्षाकी प्रगति जिस वेगसे हुई, शिक्षित व्यक्तियोंकी आजीविकाके लिए काम उतना न बढ़ा। अतः उक्त शिक्षाने आज देशके शिक्षित नवयुवकोंमें बेकारीकी विषम स्थितिको पैदा कर दिया है। हमारी उक्त पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली में प्रारम्भसे लेकर अन्त तक विद्यार्थियोंको शारीरिक श्रमसे दूर रक्खा जाता है। फलतः सुशिक्षित व्यक्ति सिवा कार्यालय अथवा पाठशालाके अन्यत्र जीविको-पार्जनके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। शिक्षामें संतुलनका अभाव ही इस आर्थिक समस्याका रहस्य है।: सांकृतिक दृष्टिसे उक्त शिक्षाके परिणामस्वरूप समाजमें मध्यवर्गका विकास हुआ है जो सामाजिक क्रांतियोंका अग्रदूत है; परन्तु पाश्चात्य शिक्षासे उत्पन्न सामाजिक अथवा आर्थिक समस्याओंसे आजका कोई व्यक्ति बच नहीं सकता। विभिन्न राष्ट्रोंके परस्पर निकट आ जानेके कारण नवीन समस्याएँ अवश्य उत्पन्न होती

हैं। भारतीय समाज जो पिछली कुछ शताब्दियोंमें दूसरोंसे अलग रह रहा था उसके लिए नवीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ बड़ी जटिल मालूम पड़ रही हैं। परन्तु वह जटिलता केवल भारतीयोंके लिए नहीं है बल्कि समूचे संसारके लिए उतनी ही नयी हैं, जितनी भारतके लिए।

भारत और पश्चिमके सम्बन्ध वस्तुतः अच्छे ही रहे हैं। आजके युगमें कोई जाति, समाज या राष्ट्र अकेला नहीं रह सकता। विश्वके अन्य राष्ट्रोंके साथ मिलकर रहना पड़ेगा। यह मिलन यदि आकस्मिक होगा तो आपसमें भ्रम और नासमझदारीके उत्पन्न होनेकी पूरी सम्भावना है। अतः अच्छा यही होगा कि लोग पहलेसे ही एक-दूसरेको समझे रहे। इस दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि पश्चिमके साथ भारतीयोंका सम्पर्क पारस्परिक सहयोगकी भावनाको बल देनेवाला हुआ है। पश्चिमसे अब डरनेकी कोई बात नहीं है। योरपीय भाषाओंके ज्ञानसे और योरपीय समाजके सम्पर्कसे अब हम वहाँके लोगोंको अच्छी तरह समझ गये हैं। उनकी दुर्बलताओं और गुणोंसे पूर्णतः अवगत हैं। इसलिए इधर कुछ वर्षोंसे जिस नवीन भारतीय समाज और संस्कृतिका विकास हो रहा है, वह हमारी परम्पराओंके अनुकूल तथा भारतीयोंके स्वभाव और आकांक्षाओं का वहन करनेवाला है। इधर हमारे समाजका परिष्कार हो रहा है। पश्चिमकी उन सभी बातोंको आत्मसात् करके जिनसे मानव समाज सुखी और सम्पन्न हो सकता है भारतीय पुनः अपने प्राचीन साहित्य, दर्शन, अपनी प्राचीन कलाओं तथा आदर्शोंसे अनुप्राणित होने लगे हैं। इससे एक सर्वथा नवीन भारतीयका जन्म हो रहा है जो पूर्व और पश्चिमके सत्य, शिव और सुन्दरका प्रतीक है। संसार ऐसे व्यक्तिको शीघ्र ही देखने की प्रतीक्षामें है। यह सम्भवतः पश्चिमकी भारतको अन्तिम देन है।

—.o::o:—

चतुर्थ खण्ड

समाजिक समस्याएं और सुधार आन्दोलन

श्री क्षितीश कुमार विद्यालङ्कार

हिन्दू कोड बिल

इतिहास

समाजमें स्त्रीको उचित दर्जा दिलानेके उपायोंपर विचार करनेके लिए सरकारने १९४१ में एक कमेटी बनाई जिसके अध्यक्ष थे श्री बी० एन० राव। इस राव कमेटीके सदस्य थे सर्वश्री द्वारकानाथ मित्तर, जे० आर० घरपुरे और वी० वी० जोशी। कमेटी ने उस समय विद्यमान क़ानूनमें कन्याओंके प्रति होनेवाले अन्याय पर विचार करके सरकारसे सिफारिशकी कि उत्तराधिकारके सम्बन्धमें सारे हिन्दू-क़ानूनके ही पुर्ननिर्माणकी जरूरत है। सरकारने इस सुझावको स्वीकार कर लिया और फल-स्वरूप १९४२ में इस संबंधमें एक बिल भारतीय व्यवस्थापिका सभामें पेश किया गया। व्यवस्थापिका सभा की डावर-समितिने बिलपर विचार करके सुझाव दिया कि केवल उत्तराधिकार-संबंधी क़ानून ही नहीं, किन्तु पिछली कमेटीको पुनर्जीवित कर समस्त हिन्दू कोडका मसविदा पुनः तैयार किया जाए। इसी सिफारिशका परिणाम था १९४७ का हिन्दू कोड बिल। हिन्दू कोड बिल तैयार करवानेमें भारतके तात्कालीन विधि मंत्री स्व० श्री भीमराव अम्बेडकरने बहुत प्रयत्न किया था।

चारभाग

राव कमेटीने जो हिन्दू कोड बिलका मसविदा तैयार किया उसपर १९४८ में संसदकी प्रवर समितिने विचार किया और विचारके पश्चात् उसमें काफ़ी परिवर्तन कर दिए। इसी प्रकार समितिके सुझावों के अनुसार सरकारने निश्चित किया कि हिन्दू कोड बिल को ४ भागोंमें विभक्त कर के प्रत्येक भागपर संसदमें अलग-अलग बहस की जाए। इस प्रकार हिन्दू कोड बिल निम्नलिखत चार भागों में विभक्त हो गया :

(१) हिन्दू विवाह विधेयक (हिन्दू मैरिज बिल, Hindu Marriage Bill १९५५);

(२) हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक (हिन्दू सक्सेशन बिल Hindu suecession Bill १९५६);

(३) हिन्दू अल्पवयस्कता व संरक्षणता विधेयक (Hindu minority and Guardianship Bill बिल, १९५६); और

(४) हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह विधेयक (Hindu adoption and mantainance Bill १९५६);

संसदमें इनमें से प्रत्येक विधेयकपर दोनों सदनोंमें बारी-बारीसे बहस हुई। हिन्दू विवाह-विधेयक १८ मई १९५५ को पास हुआ, हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक १७ जून, १९५६ को पास हुआ, हिन्दू अल्प वयस्कता व संरक्षणता विधेयक २५ अगस्त १९५६ को पास हुआ तथा हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह विधेयक १४ दिसम्बर, १९५६ को पास हुआ। जिस-जिस दिन ये विधेयक संसदके दोनों सदनोंमें पारित हो गए उसी दिन राष्ट्रपतिने उनपर हस्ताक्षर कर दिए और उसी दिनसे ये विधेयक अधिनियम बन गए और कानूनके रूपमें लागू हो गए। इस प्रकार एक-एक कर उसके स्थानपर उसके उद्देश्य पूरा करनेके लिए ये चार नए क़ानून आए।

किनपर लागू होंगे

ये चारों क़ानून भारत भरके समस्त हिन्दुओंपर —जिनमें हिन्दुत्वकी अनेक शाखाएँ जैसे वीरशैव, लिंगायत, ब्रह्मसमाज, प्राचीन समाज और आर्य समाज आदि शामिल हैं, तथा बौद्धों, सिखों और जैनों पर लागू होंगे। दूसरे शब्दोंमें मुसलमान, ईसाई, पारसी और यहूदियोंको छोड़कर ये क़ानून भारतवासियों पर लागू होंगे।

हिन्दू विवाह अधिनियम

अधिनियम से पूर्व की अवस्था

विवाह हिन्दू समाजकी एक प्राचीन और आवश्यक प्रथा है। यह एक ऐसा संस्कार है, जो ऐसे प्रत्येक हिन्दूके लिये आवश्यक है, जो ब्रह्मचारी या संन्यासी नहीं हैं। हिन्दू विवाहमें कन्यादान और सप्तपदी की विधि आवश्यक मानी जाती है। हिन्दुओंमें विधवा-विवाह प्रचलित नहीं है। किन्तु 'हिन्दू विधवा पुर्नविवाह ऐक्ट १८५६'के द्वारा उसे विहित माना गया। इसी प्रकार एक ही गोत्र और प्रवरके लोगोंका विवाह द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्योंमें प्रचलित नहीं है, किन्तु 'हिन्दू विवाह अयोग्यता निवारण ऐक्ट १९४६'के द्वारा यह बाधा भी हटा दी गई। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहोंको भी 'हिन्दू विवाह वैधता ऐक्ट १९४९'के द्वारा वैध माना गया। यद्यपि हिन्दुओंमें आम तौरपर एकपत्नी-विवाहका ही रिवाज है, फिर भी बहु-विवाह निषिद्ध नहीं था। किन्तु कुछ राज्योंने क़ानून बनाकर बहुविवाह को निषिद्ध करार दिया। बम्बईने १९४६ में, मद्रासने १९४९ में और सौराष्ट्रने १९५० में इस तरहके क़ानून बनाए। विबाह-विच्छेदकी हिन्दू धर्ममें अनुमति नहीं थी क्योंकि विवाह पति-पत्नीकी आत्माका मिलन माना जाता था, जो तलाकके द्वारा विच्छिन्न नहीं हो सकता। अलबत्ता बम्बई, मद्रास, सौराष्ट्र और त्रावनकोर कोचीनमें कुछ अवस्थाओंमें तलाककी छूट दी गई थी। शेष भारतमें स्थिति ज्योंकी त्यों थी। इसके अलावा देशके सभी भागोंमें बाल-बिवाहका भी आम रिवाज था। यद्यपि १९२९ में 'बाल-विवाह निवारण क़ानून' द्वारा १८ सालसे कम आयुके लड़के और १५ सालसे कम आयुकी लड़कीका विवाह दण्डनीय माना गया था फिर भी क़ानूनन ऐसे विवाह अवैध नहीं माने जाते थे। १९५१ की जनगणनाके समय पता लगा कि केवल उसी एक वर्षमें ९२ लाख बाल-विवाह हुए थे।

हिन्दू विवाह अधिनियम (१९५५) के द्वारा ही विवाहके सम्बन्धमें पहले पहल एक परिपूर्ण संहिता तैयार की गई। इस अधिनियमके द्वारा

उद्देश्य

वैध विवाहों की सामान्य शर्तें तै करके समस्त हिन्दुओंके लिए विवाह सम्बन्धी नियमोंको सरल करनेका प्रयत्न किया गया। इस अधिनियम द्वारा बहु-विवाह निषिद्ध कर दिया गया और कई हालतमें अदालतकी मार्फत तलाक या विवाह-विच्छेदकी अनुमति दी गई। इस अधिनियममें सभी हिन्दुओं के लिए विवाह और तलाकके सम्बन्धमें समान प्रणाली अपनाई गई और साथ ही निषिद्ध विवाहों और तलाकसे सम्बद्ध उन रिवाजोंको जो जनताके आचार और संस्कृतिका अभिन्न अंग बन गए हैं, ज्योंका त्यों छोड़ दिया गया है।

कोई भी हिन्दू स्त्री और पुरुष परस्पर विवाह कर सकते हैं, यदि :—

(१) विवाहके समय कोई और पत्नी या पति जीवित न हो। इससे एक-विवाह की अनिवार्यता लागू होती है। यह शर्त पूरी न हो, तो

विवाह की शर्तें

विवाह अवैध माना जाएगा और पति या पत्नीके जीवित होनेपर विवाह करनेवाला व्यक्ति दण्डनीय होगा।

(२) विवाहके समय दोनों व्यक्तियोंमें से एक भी जड़ बुद्धि या पागल न हो। यह शर्त पूरी न होनेपर विवाह अवैध ठहराया जा सकता है।

(३) विवाहके समय वर १८ सालका और वधू १५ सालकी आयु पूरी कर चुकी हो। यह शर्त पूरी न होनेपर विवाह तो अवैध नहीं माना जाता किन्तु विवाह करनेवाला लड़का या लड़की दण्डनीय होते हैं।

(४) विवाहार्थी स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध निषिद्ध कोटिमें न आता हो, बशर्त्ते कि उन दोनोंके समाजमें अन्यथा रिवाज न हो। यह शर्त पूरी न होनेपर विवाह अवैध माना जाएगा और विवाह करनेवाले दण्डनीय होंगे।

(५) दोनों पक्ष एक-दूसरेके सपिण्ड न हों, बशर्ते कि उनके समाजमें अन्यथा रिवाज न हो। यह शर्त पूरी न होनेपर विवाह अवैध माना जाएगा और दोनों पक्ष दण्डनीय होंगे।

(६) वधूकी आयु १८ वर्षकी न होनेपर उसके संरक्षकसे विवाहकी अनुमति ले ली गई हो। इस शर्तके पूरी न होनेपर विवाह अवैध नहीं माना जाता, किन्तु यदि बधू की शिकायतपर यह पाया जाए कि संरक्षककी अनुमति ज़बर्दस्ती या छल-कपटसे की गई है, तो विवाह अवैध माना जाएगा। यह शर्त पूरी न होनेपर सम्बद्ध व्यक्ति दण्डनीय होगा।

निषिद्ध कोटिमें आनेवाले सम्बन्ध ये हैं :—

दो व्यक्ति परस्पर विवाह नहीं कर सकते यदि एक दूसरेका वंशज हो (जैसे पिता, पितामह, माता, मातामह आदि); या यदि एक व्यक्ति दूसरे

निषिद्ध सम्बन्ध

व्यक्तिके वंशजका पति या पत्नी हो (जैसे सौतेली माता, पुत्रबधू, पतोहू आदि); या यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के भाईकी या चाचाकी या मामाकी या दादाके भाईकी या नानाके भाईकी पत्नी हो, या दोनों भाई और बहन हों, चाचा-भतीजी हों, चाची भतीजे हों, या भाई और बहन के बच्चे हों।

ऊपर कहा गया है कि परस्पर सपिण्ड व्यक्ति विवाह नहीं कर सकते। यह सपिण्ड सम्बन्ध क्या है? इस अधिनियम के अनुसार मातासे ऊपर की तीन पीढ़ी और पितासे ऊपरकी पाँच पीढ़ी तक सपिण्ड सम्बन्ध चलता है। उदाहरणार्थ पुरुषके सपिण्ड सम्बन्धी हैं उसकी लड़की, माता, बहन, लड़कीकी लड़की, माँकी बहन, मौसीकी लड़की, भानजी, और भानजेकी लड़की। और स्त्रीके सपिण्ड सम्बन्धी हैं उसका लड़का, पिता, पोता, चाचा, चाचाका लड़का और भाईका लड़का।

सपिण्ड

सपिण्ड और निषिद्ध सम्बन्धों में प्रचलित रिवाजका जो अपवाद रखा गया है, वह महत्वपूर्ण है। पश्चिमी और दक्षिणी भारतमें यह रिवाज है कि वहाँ पुरुष अपनी बहन की लड़की, या अपने मामाकी लड़कीसे शादी कर सकता है। भाई और बहनकी सन्तान भी परस्पर शादी कर सकती है। इसी प्रकार पंजाबका रिवाज है कि वहाँ पुरुष अपने भाईकी विधवा स्त्री से शादी कर सकता है। जिन इलाकोंमें ये रिवाज प्रचलित हैं, वहाँ इस प्रकारके विवाह वैध माने जाते रहेंगे।

लड़कीकी आयु १८ वर्षसे कम होनेपर संरक्षककी अनुमतिकी जो आवश्यकता बतलाई गई है, उसमें अधिनियमके अनुसार संरक्षकताका क्रम यह रखा गया है:

संरक्षक-क्रम

सबसे पहले पिता, पिता न हो तो माता, माता न हो तो दादा, दादा न हो तो सगा भाई, सगा भाई न हो तो सौतेला भाई—बशर्ते कि लड़की उसीके पास रहती हो और वही लड़कीका पालन-पोषण करता हो, सौतेला भाई न हो तो सगा चाचा, सगा चाचा न हो तो सौतेला चाचा—बशर्तेकि वह लड़कीका पालन करता हो, वह न हो तो नाना और नाना न हो तो नानी।

इस संबंधमें खास बात यह है कि २१ वर्षसे कम आयुका कोई भी व्यक्ति संरक्षक नहीं माना जा सकता।

अधिनियमके अनुसार इस ऐक्टके अन्तर्गत किए गए विवाहों का पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) ज़रूरी नहीं है। इस विषयमें राज्योंको छूट दी गई है कि वे चाहें, तो पंजीकरणको अनिवार्य रखें, चाहें वैकल्पिक। किसी भी हालतमें पंजीकरण न करवानेसे इस विवाहकी वैधता पर असर नहीं पड़ता। किन्तु यदि किसी राज्यमें पंजीकरणको अनिवार्य करार दिया जाए, तो उस राज्यकी सरकार विवाहका रजिस्ट्रेशन न करवानेवाले व्यक्तिको २५ रु० जुर्माना कर सकती है।

रजिस्ट्रेशन

इस अधिनियममें तलाककी व्यवस्था करके हिन्दू-क़ानूनमें भारी परिवर्तन किया गया है। इस अधिनियमसे पहले तलाक केवल कतिपय नीच जातियोंमें या कुछ राज्योंमें ही, जिनमें इसके लिए ख़ास क़ानून बने थे, प्रचलित था। परन्तु इस अधिनियममें कुछ अवस्थाओंमें सभी विवाहोंके लिए, चाहे वे इस ऐक्टके बननेके पहले सम्पन्न हुए हों या पीछे, तलाककी व्यवस्था की गई है।

तलाक या विवाह विच्छेद

पति या पत्नी निम्न आधारोंपर विवाह-विच्छेदके लिए प्रार्थना पत्र दे सकते हैं, कि दूसरा व्यक्ति—

(१) व्यभिचारी है; या

(२) उसने मत परिवर्तन कर लिया है और वह हिन्दू नहीं रहा; या

(३) असाध्य रूपसे पागल है और प्रार्थनापत्र देनेसे पूर्व लगातार तीन साल तक पागल रहा है; या

(४) संक्रामक और असाध्य कुष्ठ रोगसे पीड़ित है; या

(५) स्पर्शजन्य किसी भयंकर त्वचा रोग (जैसे आतिशक या सूजाक आदि) से पीड़ित है; या

(६) संसारसे विरक्त होकर संन्यासी बन गया है; या

(७) लगातार सात वर्ष तक उसके जीवित रहने का कोई समाचार नहीं मिला है; या

(८) अदालत द्वारा पृथक् रहनेकी डिक्री दिए जानेके बाद दो वर्ष तक सहवास नहीं हुआ है; या

(९) अदालत द्वारा सहवासके अधिकारकी पुन: स्थापना की डिक्री दिए जानेके बाद दो वर्ष तक उनका सहवास नहीं हुआ है ।

यही वे आधार हैं, जिनपर पति-पत्नी एक-दूसरेको तलाक दे सकते हैं । इसके अलावा इस अधिनियमके पास होनेसे पूर्व जिस स्त्रीका विवाह हो चुका है, उसको भी उस हालतमें तलाकका अधिकार दिया गया है जब कि उसके पतिने दूसरी शादी कर ली हो, या स्वयं उसके अपने विवाह-संस्कारके समय ही वह दूसरी पत्नीके रूपमें ब्याहकर आई हो, भले ही उस विवाहके समय बहु-पत्नी विवाह वैध रहा हो । किन्तु इस व्यवस्था के अनुसार विवाह-विच्छेदकी प्रार्थना करनेवाली पत्नीको यह सिद्ध करना होगा कि दूसरी पत्नी अभी जीवित है । यदि पति विवाहके बाद बलात्कार या अन्य प्रकारके पाशविक एवं कुत्सित व्यभिचार का दोषी पाया जाए तब भी पत्नी तलाकके लिए प्रार्थनापत्र दे सकती है ।

सामान्यतया विवाह-विच्छेदके लिए प्रार्थनापत्र किसी न्यायालय द्वारा विवाहकी तिथिके तीन वर्ष बाद ही स्वीकार किया जाएगा । किन्तु यदि प्रार्थीको असामान्य कठिनाइयोंका सामना करना पड़ रहा हो, तो न्यायालय तीन सालसे पूर्व भी प्रार्थनापत्र स्वीकार कर सकता है ।

तलाकके बाद दूसरा विवाह

जब तलाककी डिक्री दिए जानेके बाद विवाह भंग हो गया हो, तो दोनों व्यक्तियों में से कोई भी दूसरा विवाह करनेके लिए स्वतंत्र है । किन्तु इसके लिए यह पाबन्दी रखी गई है, कि दूसरा विवाह करने से पहले यह देख लिया जाए कि विवाह-विच्छेदकी डिक्री के विरुद्ध अपील करनेकी अवधि भी समाप्त हो चुकी है या यदि कोई अपील की गई है, तो वह रद्द हो चुकी है, यदि अपील करनेका कोई अधिकार शेष है, तो वह रद्द हो चुका है । यदि अपील करने का कोई अधिकार शेष न रहता हो,

तो दोनों पक्ष दूसरे विवाहके लिए स्वतंत्र हैं, किन्तु हर हालतमें विवाह-विच्छेद की डिक्री दिए जानेके बाद एक वर्ष तक दूसरा विवाह नहीं किया जा सकता।

नियम भंग पर दण्ड

आयु-संबंधी शर्त को तोड़नेपर १५ दिन तक की सादी क़ैद या एक हज़ार रु० तक जुर्माना या दोनों दण्ड मिल सकते हैं। निषिद्ध सम्बन्धों या सपिण्डता वाली शर्तको तोड़नेपर एक मास तककी सादी क़ैद या एक हज़ार रु० तक जुर्माना या दोनों दण्ड मिल सकते हैं। १८ वर्षसे कम आयुकी लड़कीसे उसके संरक्षक की अनुमति लिये बिना शादी करनेपर एक हज़ार रु० तक जुर्माना हो सकता है।

तलाकके लिए ऊपर वर्णित आधारोंके अलावा यदि किसी प्रदेशमें कोई और आधार भी क़ानूनका रूप धारण कर चुके हैं, तो उस क़ानूनसे शासित होनेवाले लोगोंको उस आधारपर तलाक देनेका अधिकार प्राप्त रहेगा। उदाहरणार्थ यह व्यवस्था है कि रजिस्टर्ड दस्तावेजके द्वारा या पति और पत्नीमें से किसी एकके अदालतको दरखास्त देने पर विवाह भंग मान लिया जाएगा, चाहे इस प्रकारके तलाकके लिए कोई खास कारण न दिया गया हो। वर्तमान अधिनियम उस व्यवस्थामें बाधक नहीं होगा।

यह अधिनियम विशेष विवाह अधिनियम (Special Marriage Act 1954) के अन्तर्गत हुए विवाहों पर भी कोई असर नहीं डालता। किन्तु विशेष

विशेष विवाह विधेयक

विवाह अधिनियमके सम्बन्ध में एक खास बात बता देनी यहाँ आवश्यक है। वह ऐक्ट १ जनवरी १९५५ को लागू हुआ था, उसका उद्देश्य यह था कि भारत भरके हिन्दुओंके लिए विवाहकी कोई ख़ास और एक जैसा क़ानून बनाया जाए। स्पेशल मैरिज ऐक्ट जम्मू और काश्मीरको छोड़कर सारे भारत पर लागू होता है और उसके अन्तर्गत कोई भी दो व्यक्ति, चाहे धार्मिक दृष्टिसे भिन्न मतावलम्बी हों, विवाह कर सकते हैं। वह ऐक्ट भारतसे बाहर रहनेवाले भारतीयोंपर भी लागू होता है। कोई भी २१ सालका लड़का और कोई भी १८ सालकी लड़की उसके अन्तर्गत विवाह कर सकते हैं, बशर्ते कि उनमें से कोई पागल न हो, उनमें से किसीकी पत्नी या पति जीवित न हो और वे दोनों सगोत्रताकी दृष्टिसे निषिद्ध सम्बन्धवाले न हों।

अब वर्तमान स्थिति यह है कि कोई भी हिन्दू पुरुष या स्त्री चाहे तो उस स्पेशल मैरिज ऐक्ट (१९५४) के अन्तर्गत विवाह करले और चाहे तो वर्तमान हिन्दू मैरिज ऐक्ट (१९५५) के अन्तर्गत विवाह करले। कोई व्यक्ति हिन्दू मैरिज ऐक्टके अनुसार विवाह करके स्पेशल मैरिज ऐक्टके अन्तर्गत अपना विवाह रजिस्टर्ट भी करवा सकता है। परन्तु तब तलाक और विवाहकी अवैधताके सम्बन्धमें उसपर उसी ऐक्टके नियम लागू होंगे, जो इस नए एक्टसे कुछ अंशोंमें भिन्न हैं। उदाहराणार्थ, उसमें पारस्परिक सहमति से तलाककी ख़ास व्यवस्था है जैसी इस ऐक्टमें नहीं है। उसमें केवल पत्नीको ही निर्वाह व्यय मिलनेकी व्यवस्था है, पतिको नहीं, जबकि इस ऐक्टमें पति भी निर्वाह व्यय पानेका हकदार है।

इसके अलावा स्पेशल मैरिज ऐक्टके अन्तर्गत विवाह करनेवाले या उसके अन्तर्गत अपना विवाह रजिस्टर्ड करवाने वालेका अपने परिवारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। इसका

अर्थ यह है कि उसके विवाहके दिन ही संयुक्त परिवारकी सम्पत्तिमें उसकी रुचि समाप्त समझी जाती है। वह या उसकी सन्तान संयुक्त परिवारकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी भी नहीं बन सकते। उसके उत्तराधिकारका फैसला भारतीय उत्तराधिकार ऐक्ट १९२५ के अनुसार होगा न कि हिन्दू उत्तराधिकार ऐक्ट १९५६ के द्वारा। अब क्योंकि वर्तमान हिन्दू विवाह अधिनियममें तलाक आदिकी व्यवस्था हो गई है इसलिए अधिक सम्भावना यह है कि ,अब कोई हिन्दू स्पेशल मैरिज ऐक्ट १९५४ के अनुसार विवाह करने को आकर्षित नहीं होगा।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम

हिन्दू क़ानूनकी सबसे महत्वपूर्ण किन्तु साथ ही सबसे अधिक उलझी हुई शाखा है उत्तराधिकार। उत्तराधिकारके सम्बन्धमें दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं—एकका नाम है मिताक्षरा और दूसरीका नाम है दायभाग। दायभाग प्रणाली चलती है बंगालमें और शेष भारतमें चलती है मिताक्षरा प्रणाली। इसके साथ ही भारतके दक्षिण-पश्चिमी तट पर प्रचलित मरुमक्कतपाम्, अलिप-सन्तानम् और नम्बूद्रि प्रणालियोंको भी जोड़ा जा सकता है। मिताक्षरा कानूनके भी कई उपविभाग हैं—जैसे मिथिला स्कूल, बम्बई स्कूल, बनारस स्कूल, मद्रास स्कूल और मयूख स्कूल आदि। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्तराधिकार के सम्बन्धमें क़ानूनकी दृष्टिसे सर्वत्र समानता नहीं है।

इन सब प्रणालियोंमें से किसीमें भी कन्याको सम्पत्तिमें अधिकार नहीं दिया गया।

पूर्वावस्था

मिताक्षरा के अनुसार परिवारकी साझी सम्पत्तिमें कन्याको कोई हक नहीं मिलता और परिवारके बुजुर्ग पुरुषकी मृत्युके बाद बाकी बचे आदमी ही सारी सम्पत्तिके मालिक समझे जाते हैं। १९३७ में 'हिन्दू महिला सम्पत्ति अधिकार' क़ानूनके जरिए विधवाको पारिवारिक सम्पत्तिमें हिस्सा दिया गया था, किन्तु उसकी स्थिति अस्पष्ट थी। यदि किसी केसमें विधवाके रूपमें महिलाको सम्पत्तिका अधिकार भी दिया गया तो वह अधिकार केवल उसके जीवनकाल तक ही था। महिलाओंका पूरा अधिकार किसी चीज़पर था, तो वह था स्त्रीधन। और किसी भी महिलाको उत्तराधिकारमें प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं मानी जा सकती थी। केवल बम्बई स्कूल ही इसका अपवाद था। किन्तु इस स्त्रीधनकी वसीयतके सम्बन्धमें भी सर्वत्र एक समान व्यवस्था नहीं थी।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम १९५६ इसलिए बनाया गया ताकि जिस सम्पत्ति

उद्देश्य

की वसीयत नहीं की गई उसके उत्तराधिकारके सम्बन्धमें सब हिन्दुओंमें एक समान प्रणाली प्रचलित की जाए। कन्याओंको भी उत्तराधिकारमें सम्पत्ति प्राप्त करनेका हक दिया जाए और इस सम्बन्धमें पुरुष और स्त्रीका भेद हटा दिया जाए एवं धार्मिक उपयोगिता के बजाय प्रेम और स्नेहके आधारपर सम्पत्तिके वारिसोंका क्रम तैयार किया जाए।

किसी भी मृत हिन्दूकी अचल सम्पत्तिके उत्तराधिकारका निर्णय इसी अधिनियमके

अधिनियमका क्षेत्र

अनुसार होगा, चाहे मृत व्यक्ति कहीं भी रहता हो; किन्तु चल सम्पत्तिके उत्तराधिकारका निर्णय इस अधिनियमके अनुसार तभी होगा जब कि वह व्यक्ति भारतमें ही रहता हो।

इस अपवादको छोड़कर शेष सभी प्रकारकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारके सम्बन्धमें यही ऐक्ट लागू होगा।

हिन्दू पुरुषकी सम्पत्तिमें अपने आप उपार्जित सम्पत्ति भी हो सकती है और अपने बाप-दादों द्वारा उपार्जित सम्पत्ति भी। उपहार, पृथक् उपार्जित, विद्या तथा योग्यताके कारण वेतनादिके रूपमें प्राप्त होनेवाला लाभ और संयुक्त परिवारकी सम्पत्तिके बँटवारेके समय दिया गया हिस्सा पृथक् सम्पत्ति समझी जाएगी और यह सब इस अधिनियमके अनुसार उसके वारिसोंके पास जाएगी।

उत्तराधिकारियोंकी दो श्रेणियां

अधिनियमके अनुसार हिन्दू पुरुषके उत्तराधिकारी दो श्रेणियोंमें विभक्त किए गए हैं। हिन्दू पुरुषके मरनेपर उसकी सम्पत्तिमें हक पानेवाले जिन उत्तराधिकारियोंको तरजीह या प्राथमिकता दी गई है, वे सामान्यतया ये होंगे : लड़का, लड़की, विधवा पत्नी और माता—और इन सबको बराबरका हिस्सा मिलेगा। किन्तु यह सम्भव है कि लड़का या लड़की अपने बापसे पहले ही मर जायँ। इसलिए यह व्यवस्था की गई है कि यदि पुत्र अपने पितासे पहले मर जाए, तो मृत पुत्रकी विधवा (अर्थात् पुत्रवधू) और लड़के-लड़कियाँ उस हिस्सेको परस्पर समान रूपसे बाँट लेंगे जो हिस्सा मृत व्यक्तिको जीवित रहनेपर मिलता। इसी प्रकार यदि लड़की अपने बापसे पहले मर जाए, तो उसके लड़के-लड़कियाँ उस हिस्सेको परस्पर समान रूपसे बाँट लेंगे जो उस लड़कीको जीवित रहनेपर मिलता। इसी प्रकार यदि पुत्र और पौत्र दोनों पहले मर गए हों, तो पोतेकी विधवा पत्नी और पूर्व मृत पोतेके लड़के-लड़कियाँ उस हिस्सेको परस्पर बराबर-बराबर बाँट लेंगे, जो पूर्वमृत पोतेके हिस्सेमें पड़नेवाला था।

इस अधिनियमके बननेसे पूर्व क़ानूनके अनुसार केवल निम्न उत्तराधिकारी बन सकते थे : (१) पुत्र, (२) पोता, (३) पड़पोता, (४) मृत व्यक्ति की विधवा पत्नी, (५) पूर्वमृत पुत्रकी विधवा पत्नी (पुत्रवधू), और (६) पूर्वमृत पौत्रकी विधवा पत्नी (पौत्रवधू)। अब इस अधिनियमके द्वारा इस सूचीमें निम्न वृद्धि की गई है: (१) माता, (२) पुत्री, (३) पूर्वमृत पुत्रीकी पुत्री, (४) पूर्वमृत पुत्रीका लड़का, (५) पूर्वमृत पुत्रकी लड़की, और (६) पूर्वमृत पौत्रकी लड़की।

यह बात स्मरण रखनेकी है कि पौत्र और प्रपौत्र प्रतिनिधित्वके अधिकारी तभी होते हैं जब उनके माता-पिता जीवित न हों। ये १२ के १२ व्यक्ति एक साथ उत्तराधिकारी बनें, यह बात केवल किसी बिरले केसमें ही सम्भव है।

दूसरी श्रेणी

उक्त प्रथम श्रेणीके उत्तराधिकारियोंके न होनेपर दूसरी श्रेणीके उत्तराधिकारियोंकी बारी आती है। इस दूसरी श्रेणीके उत्तराधिकारियोंका क्रम इस प्रकार है : (१) पिता, (२) लड़केकी लड़की का लड़का, भाई, बहन (३) लड़कीके लड़केका पुत्र, लड़कीके लड़केकी पुत्री, लड़कीकी पुत्रीका पुत्र, लड़कीकी पुत्रीकी पुत्री, (४) भाईका पुत्र, बहनका पुत्र, भाईकी पुत्री, बहनकी बेटी, (५) पिताका पिता, पिताकी माता, (६) पिताकी विधवा पत्नी, भाईकी विधवा पत्नी, (७) चाचा या ताऊ, बूआ या पिताकी बहन, (८) नाना, नानी (९) मामा, मौसी।

स्त्रीकी सम्पत्तिके सम्बन्धमें इस अधिनियमने सबसे अधिक दूरगामी परिवर्तन किया है। हिन्दू महिलाके अधिकारमें जो भी सम्पत्ति हो, वह चाहे उसे उत्तराधिकारमें मिली हो, चाहे बँटवारेके समय प्राप्त हुई हो, चाहे उपहार या दान-दहेजके रूपमें प्राप्त हुई हो, या उसने स्वयं खरीदी हो, या अन्य किसी भी प्रकारसे प्राप्त हुई हो, उस सम्पत्तिको वही रखेगी। उस सम्पत्तिको दानमें देने, बेचने या आगे उत्तराधिकारमें देनेका उसका और केवल उसीका अधिकार रहेगा। इस प्रकार स्त्रीकी सम्पत्तिपर स्त्रीका परिपूर्ण (Absolute) अधिकार स्वीकार करनेके बाद अधिनियममें स्त्रीकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारियोंकी सूची दी गई है, जो पुरुषकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारियों की सूची से भिन्न है।

स्त्रीकी सम्पत्ति

हिन्दू स्त्रीकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी निम्न हो सकते हैं: (१) लड़के और लड़कियाँ और पति—में सब बराबर के हिस्सेदार होंगे। यदि कोई लड़का या लड़की अपने माता-पितासे पहले मर गया हो, तो पूर्व-मृत माता-पिताका हिस्सा पोते-पोतियोंमें बराबर-बराबर बँट जाएगा; (२) पतिके उत्तराधिकारी; (३) माता या पिता; (४) पिताके उत्तराधिकारी; (५) माताके उत्तराधिकारी।

स्त्रीकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी

हिन्दू-स्त्रीको मिली सम्पत्ति उन परिवारोंमें न जाने पाए जिन परिवारोंमें सम्पत्ति का जाना न्याय और युक्तिकी दृष्टिसे उचित न हो, इसके लिए कुछ खास नियम बनाए गए हैं ताकि वह सम्पत्ति वापिस मूल परिवारमें ही आ सके। यदि किसी हिन्दू स्त्रीको अपने पिता या मातासे सम्पत्ति उत्तराधिकारमें मिली हो और वह अपने पीछे कोई लड़का-लड़की या पोता-पोती बिना छोड़े मर जाए, तो भले ही उसका पति पीछे जीवित हो, किन्तु स्त्रीकी सम्पत्ति पतिको न मिलकर वापिस पितृकुलमें लौट जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी हिन्दू स्त्रीको अपने पति या श्वसुरसे सम्पत्ति उत्तराधिकारमें मिली हो, और वह स्त्री अपने पीछे कोई लड़का-लड़की या पोता-पोती छोड़े बिना मर जाए, तो सम्पत्ति पति-कुलमें ही जाएगी, पितृकुलमें नहीं। ये विशेष नियम चल और अचल दोनों प्रकारकी सम्पत्तियोंके बारेमें लागू होते हैं।

सामान्य नियम उत्तराधिकारके सम्बन्धमें सामान्य नियम ये हैं:

(१) उत्तराधिकारियोंमें सगे सम्बन्धियों को गैर-सगे सम्बन्धियोंकी अपेक्षा प्राथमिकता दी जाएगी—चाहे अन्य सब दृष्टियोंसे उनका एक ही रिश्ता क्यों न हो। दो व्यक्ति तब सगे सम्बन्धी कहे जाते हैं जब वे उसी पत्नीसे समान पूर्वजोंके वंशज हों, और गैर-सगे तब कहलाते हैं जब उनके पूर्वज समान हों किन्तु वे भिन्न पत्नियोंकी औलाद हों। (२) बिना वसीयत किए व्यक्तिकी मृत्युके समय माँके गर्भस्थ शिशुको भी उत्तराधिकार की दृष्टिसे वही अधिकार प्राप्त होगा, जो उसे मृत व्यक्तिकी मृत्युसे पूर्व जन्म लेनेपर होता।

उत्तराधिकारके अयोग्य

अधिनियममें उत्तराधिकारियोंकी उन अनर्हताओंका भी उल्लेख है, जिनके कारण वारिस बननेका उन्हें अधिकार नहीं रहता। वे अनर्हताएँ ये हैं:

(१) पुत्रकी विधवा पत्नी, पोतेकी विधवा पत्नी और भाईकी विधवा पत्नी उत्तराधिकारके योग्य नहीं रहते यदि उत्तराधिकारकी घोषणाके समय उन्होंने पुर्नविवाह कर लिया हो। (२) हत्या करनेवाला व्यक्ति उस व्यक्ति का उत्तराधिकारी नहीं बन सकता जिसकी उसने हत्या की है। (३) जो व्यक्ति हिन्दू नहीं रहा उसके बच्चे उत्तराधिकारके योग्य नहीं रहते यदि उत्तराधिकारकी घोषणाके समय वे हिन्दू न हों।

मकान और व्यवसाय

कोई हिन्दू स्त्री परिवारके रहनेके पुश्तैनी मकानमें परिवारके अन्य सदस्योंके साथ यावज्जीवन रह सकती है, किन्तु उस मकानके बँटवारेकी तब तक माँग नहीं कर सकती जब तक कि पुरुष उत्तराधिकारी स्वयं उस जायदादका बँटवारा न करना चाहे और इसमेंसे अपना हिस्सा न ले ले। जब किसी अचल सम्पत्ति या व्यवसाय का उत्तराधिकार किन्हीं दो व्यक्तियोंको मिलता है और उनमें से कोई एक व्यक्ति जायदाद या व्यवसायका अपना हिस्सा किसी बाहरी व्यक्ति को हस्तान्तरित करना चाहे, तो दूसरे व्यक्तिको यह अधिकार होगा कि वह उस हिस्से को खरीद ले। यह व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि संयुक्त परिवारका पुश्तैनी मकान, जायदाद या व्यवसाय ज्योंके त्यों रह सकें।

हिन्दू अल्पवयस्कता और संरक्षता अधिनियम

हिन्दू समाजमें सुधारकी दृष्टिसे बनाया गया यह तीसरा अधिनियम है। इस अधिनियम द्वारा अल्पवयस्कता और संरक्षता सम्बन्धी हिन्दू कानूनमें संशोधन किया गया है। इस विषयमें यह अधिनियम पूरा नहीं है। यह एक तरहसे '१८९० के गार्जियन्स एण्ड वार्ड्स ऐक्ट' का पूरक है। इस अधिनियमको पूरी तरह समझनेके लिए १८९० के अधिनियमका पूरा पारायण आवश्यक है।

पूर्वावस्था व उद्देश्य

इस अधिनियमके बननेसे पूर्व अवस्था यह थी कि किसी हिन्दू नाबालिगके स्वाभाविक संरक्षक को यह अधिकार था कि वह नाबालिग की संपत्ति को गिरवी रख सकता था, बेच सकता था, या मनचाहा उपयोग कर सकता था। परन्तु अब इस अधिनियम द्वारा स्वाभाविक संरक्षकके अधिकारोंको सीमित कर दिया गया है।

परिभाषा

अल्पवयस्कका अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसकी आयु पूरे १८ वर्षकी न हो। और संरक्षकका अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो अल्पवयस्क व्यक्तिकी, उसकी सम्पत्तिकी, या दोनोंकी, देखभाल करता हो।

संरक्षक चार तरहके हो सकते हैं: (१) स्वाभाविक संरक्षक, (२) अल्पवयस्क के पिता या माता द्वारा वसीयतनामेमें नियुक्त संरक्षक, (३) अदालत द्वारा नियुक्त संरक्षक, और (४) कोर्ट आफ वार्डस् द्वारा नियुक्त संरक्षक।

स्वाभाविक संरक्षक

नाबालिग लड़के और अविवाहित लड़कीका स्वाभाविक संरक्षक पिता होता है पिताके बाद माता स्वाभाविक संरक्षक होती है, किन्तु लड़के की आयु ५ वर्षकी होने तक ही माता संरक्षक मानी जाएगी। अवैध लड़के या अवैध अविवाहित लड़कीके लिए स्वाभाविक संरक्षक उनकी माता मानी जाएगी और माताके बाद पिता।

विवाह हो जानेपर विवाहित लड़कीका स्वाभाविक संरक्षक उसका पति माना जाएगा।

अधिनियमके अनुसार और किसीको भी स्वाभाविक संरक्षक स्वीकार नहीं किया गया। किन्तु ऊपर वर्णित स्वाभाविक संरक्षक भी स्वाभाविक संरक्षक नहीं रह सकते यदि वे हिन्दू न रहें, या वानप्रस्थी या संन्यासी बन जाएँ। सौतेला पिता या सौतेली माता स्वाभाविक संरक्षक नहीं बन सकते।

स्वाभाविक संरक्षक के अधिकार

इस अधिनियमके अनुसार स्वाभाविक संरक्षक अल्पवयस्कके लाभके या उसकी सम्पत्तिकी सुरक्षाके लिए जो क़दम आवश्यक समझे, वह उठा सकता है, किन्तु अदालतकी पूर्व-अनुमति लिये बिना अल्पवयस्ककी अचल सम्पत्तिके किसी भी हिस्सेको वह न गिर्वी रख सकता है, न वेच सकता है, न हस्तान्तरित कर सकता है, न दान या उपहारमें दे सकता है। ५ वर्ष से अधिक समयके लिए या अल्पवयस्क व्यक्तिके वयस्कता-प्राप्तिके बाद एक वर्षसे अधिक समय तकके लिए वह अचल सम्पत्तिके किसी भी भागको पट्टेपर भी नहीं दे सकता। अदालत भी इस प्रकार के किसी कदमकी तब तक अनुमति नहीं देगी जब तक उसे यह तसल्ली न हो जाए कि वह कदम अल्पवयस्क व्यक्तिके हितमें है।

वसीयतनामे द्वारा नियुक्त संरक्षक

हिन्दू पिता अपनी अल्पवयस्क वैध सन्तानके लिए वसीयतनामे द्वारा संरक्षक नियुक्त कर सकता है। किन्तु पिता यदि मातासे पहले मर जाए, तो यह नियुक्ति कार्यान्वित नहीं होगी। अलबत्ता यदि माता अपने वसीयतनामे द्वारा किसी व्यक्तिको संरक्षक नियुक्त किए बिना मर जाय तो पिता द्वारा नियुक्त संरक्षक ही अल्प-वयस्क सन्तानका रक्षक रहेगा। कोई हिन्दू विधवा या हिन्दू माता भी अपनी अल्पवयस्क सन्तानकी रक्षाके लिए वसीयतनामे द्वारा संरक्षक नियुक्त कर सकती है।

इस प्रकार नियुक्त संरक्षकको अल्पवयस्क के पिता और माताकी मृत्यु के बाद स्वा-भाविक संरक्षकके सब अधिकार प्राप्त हो जाएँगे। किन्तु यदि वह अल्पवयस्क लड़की हो, तो उसके विवाहके बाद संरक्षकका अधिकार समाप्त समझा जाएगा।

अठारह वर्षसे कम आयु का कोई भी व्यक्ति किसी अल्पवयस्कका संरक्षक नहीं बन सकता।

इस अधिनियमके लागू होनेके बाद कोई भी व्यक्ति केवल संरक्षक होने मात्रसे किसी अल्पवयस्ककी सम्पत्तिके साथ मनचाहा सलूक नहीं कर सकेगा। जहाँ सम्पत्ति संयुक्त परिवारकी हो और वह संपत्ति परिवारके किसी वयस्क सदस्यके प्रबन्धाधीन हो, वहाँ अविभक्त सम्पत्तिमें अल्पवयस्क व्यक्तिके हितोंकी रक्षाके लिए कोई संरक्षक नियुक्त नहीं किया जा सकता।

हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह अधिनियम

हिन्दुओंमें गोद लेने और निर्वाह-व्यय आदिके सम्बन्धमें वर्तमान प्रणालियोंके एकीकरणके लिए यह अधिनियम बनाया गया है। इस अधिनियमके बन जानेके

बाद इससे पूर्व के इस सम्बन्धके सभी क़ानून अकार्यकारी होंगे। इस अधिनियमके बनने से पूर्व हिन्दू समाज में लड़कीको गोद लेनेकी या पत्नी द्वारा पतिको निर्वाह-व्यय मिलने की व्यवस्था नहीं थी।

पूर्वावस्था व उद्देश्य

जब तक कोई व्यक्ति गोद लेनेका अधिकारी न हो, गोद देनेवाला गोद देनेका अधिकारी न हो, और जिस व्यक्तिको गोद लिया जाता है, वह गोद लिए जानेका पात्र न हो, तब तक कोई भी दत्तक ग्रहण वैध नहीं माना जाएगा।

कोई भी हिन्दू वयस्क पुरुष किसी भी लड़की या लड़केको गोद ले सकता है। पत्नी यदि जीवित हो, संन्यासिनी न बन गई हो और हिन्दू धर्मको छोड़ न बैठी हो तो उसकी सहमति अनिवार्य है। (यदि गोद लेनेके समय किसी व्यक्तिकी अनेक पत्नियाँ मौजूद हों तो सभी पत्नियोंकी सहमति आवश्यक है।)

कोई भी हिन्दू वयस्क स्त्री, जो विवाहित न हो, या विवाहित हो तो विवाह भंग हो चुका हो या पति मर चुका हो या संन्यासी बन गया हो या हिन्दू न रहा हो, किसी भी लड़के या लड़की को गोद ले सकती है।

दत्तक देने के अधिकारी

बच्चेके पिता या माता या संरक्षकके सिवाय और किसीको उसे गोददेनेका अधिकार नहीं है। गोद देनेका मूल अधिकार पिताको ही है और उसे गोद देनेसे पहले पिताको बच्चेकी माताकी स्वीकृति लेनी होगी। पिताकी मृत्युके के बाद माता भी अपने बच्चेको गोद दे सकती है। जब पिता या माता दोनों न रहें, तब बच्चेका संरक्षक भी उसे गोद दे सकता है। किन्तु संरक्षकको इसकी अनुमति देनेसे पूर्व न्यायालय यह देख लेगा कि इस प्रकार गोद दिया जाना बच्चेके हितमें है और संरक्षक किसी रूपमें पैसेके प्रलोभनसे ऐसा नहीं कर रहा है।

दत्तक बनने के अधिकारी

कोई भी गैर-हिन्दू लड़का या लड़की गोद नहीं लिये जा सकते यदि पहलेसे किसीने उनको गोद ले रखा हो। यदि वे विवाहित हों, या उनकी आयु १५ वर्षकी न हुई हो, तब भी वे गोद नहीं लिये जा सकते। किन्तु यदि समाजके किसी वर्गमें वैसी प्रथा हो और वह प्रथा जन-सामान्यमें प्रचलित हो, तो विवाहित लड़का-लड़की या १५ वर्षसे कम आयु के लड़का-लड़की भी गोद लिये जा सकते हैं।

अन्य शर्तें

गोद लेनेकी अन्य शर्तें ये हैं :—(१) लड़का गोद तभी लिया जा सकता है जब गोद लेनेवाले पिता या माताका कोई लड़का या पोता या पड़पोता न हो। (२) लड़की गोद तभी ली जा सकती है जब गोद लेनेवाले की कोई लड़की, या पोती न हो। (३) यदि कोई पुरुष किसी लड़कीको गोद लेता है, तो गोद लेनेवाले पुरुषकी आयु गोद ली गई लड़कीकी आयुसे २१ वर्ष अधिक होनी चाहिए। (४) यदि कोई स्त्री किसी लड़केको गोद ले तो स्त्रीकी आयु लड़केकी आयुसे २१ वर्ष अधिक होनी चहिए। (५) एक ही बच्चेको दो या अधिक व्यक्ति एक साथ गोद नहीं ले सकते। (६) गोद लिए जानेवाले बच्चेके माता-पिता बच्चेको उसके जन्मवाले परिवारमें न रखकर उसे गोद लेनेवाले परिवारको वस्तुतः सौंप देंगे।

गोद लिया हुआ बच्चा गोद लेनेवाले माता-पिताकी ही सन्तान माना जाएगा और जन्मके कुलसे उसका सम्बन्ध विच्छिन्न समझा जाएगा ।

यदि कोई विधुर या क्वाँरा व्यक्ति किसी बच्चेको गोद ले, तो पत्नी गोद लिये बच्चे की सौतेली माता मानी जाएगी । और यदि कोई विधवा या अविवाहित स्त्री किसी बच्चेको गोद ले और बादमें स्त्री विवाह करले तो उसका पति गोद लिये बच्चेका सौतेला बाप माना जाएगा ।

कुछ प्रतिबन्ध

गोद लेने या देनेके सम्बन्धमें रुपये-पैसेके प्रलोभनको रोकनेके लिए अधिनियममें यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि गोद देनेवाला किसी प्रकार का रुपया-पैसा नहीं ले सकता, न ही गोद लेनेवाला कोई रुपया-पैसा दे सकता है । यदि इस प्रतिबन्धका पालन न किया गया तो ६ मास तक के कारावास की, या जुर्मानेकी, या दोनोंकी सज़ा मिल सकती है । किन्तु राज्य सरकारकी स्वीकृतिके बिना इस प्रकारकी सज़ा नहीं दी जा सकती ।

निर्वाह-व्यय

कोई भी हिन्दू पत्नी, चाहे उसका विवाह इस अधिनियम बननेके बाद हुआ हो चाहे पहले, अपने जीवन-कालमें अपने पतिसे निर्वाह-व्यय पानेकी अधिकारी है । इसका अर्थ यह है कि पत्नीके लिए कपड़ों, निवासस्थान, शिक्षा और बीमार पड़नेपर चिकित्साकी व्यवस्था करना तथा इन सब पर होनेवाले व्ययको वहन करना पतिका कर्तव्य है ।

यदि पतिने पत्नीको बिना युक्तियुक्त कारणके छोड़ रखा है, या पतिने उसके साथ ऐसा क्रूर व्यवहार किया हो कि पत्नीका पतिके साथ रहना हानिकारक हो, या पति संक्रामक कुष्ठ रोगसे पीड़ित हो, या उसकी कोई दूसरी पत्नी जीवित हो, या पतिने इसी घरमें कोई अपनी रखेल रख छोड़ी हो, या घरके बाहर किसी रखेलके पास वह रहता हो, या उसने हिन्दू धर्मका परित्याग कर दिया हो, तो पत्नी अपने पतिसे अलग रहनेकी और उससे निर्वाह-व्यय पानेकी अधिकारी है । किन्तु यदि पत्नी दुराचारिणी हो या हिन्दू-धर्म छोड़कर किसी अन्य धर्मको ग्रहण कर ले, तो वह पतिसे अलग रहने या उससे निर्वाह-व्यय पानेकी अधिकारी नहीं है ।

पुत्रवधू का निर्वाह

लड़केके मर जानेपर उसकी विधवा पत्नी या पुत्रवधूके निर्वाहकी जिम्मेदारी उसके श्वसुरके ऊपर है । किन्तु यदि पुत्रवधूके पास स्वयं कोई आजीविकाका साधन हो, या वह अपने पति या पिता या माता की सम्पत्तिमें से अपना निर्वाह कर सकती हो, या उसके पुत्र और पुत्री उसकी सहायता करते हों, और सम्मिलित जायदादसे श्वसुरको इतनी आमदनी न हो कि वह निर्वाह-व्यय दे सके, तो पुत्रवधूको निर्वाह-व्यय नहीं मिलेगा ।

बच्चों और बूढों का निर्वाह

प्रत्येक हिन्दूकी यह जिम्मोदरी है कि वह अपने वैध या अवैध बच्चोंकी और अपने बूढ़े माता-पिताकी अपने जीवनकाल तक परवरिश करे । प्रत्येक वैध या अवैध बच्चा, जब तक वह १८ सालका नहीं हो जाता, अपने माता-पिता से अपने निर्वाहकी माँग कर सकता है । यदि किसीके बूढ़े माता-पिता अपनी कमाईसे या किसी अन्य जायदादसे अपना निर्वाह करनेमें समर्थ न हों, तो उनके निर्वाहकी व्यवस्था

करनी होगी। यदि कोई अविवाहित लड़की हो और वह अपना गुजारा करनेमें असमर्थ हो, तो माता-पिताको उसके गुजारेका भार उठाना होगा। लड़कीकी शादी के समय होनेवाला आवश्यक खर्च भी माता-पिताको उठाना होगा और वह खर्च निर्वाह-व्ययमें शामिल माना जाएगा।

सम्पत्तिके उत्तराधिकारियोंको मृत हिन्दूके आश्रितोंके पालन-पोषणका व्यय भी उठाना पड़ेगा।

ऊपर जिन-जिनके निर्वाहकी जिम्मेदारीकी चर्चा की गई है, यदि उनमेंसे कोई भी अपने निर्वाहके लिए व्ययकी माँग करे तो वह राशि कितनी होनी चाहिए—इसका फैसला अदालत करेगी। परन्तु इस राशि का निर्णय करते समय अदालत दोनों पक्षोंकी आर्थिक और सामाजिक स्थितिका, अलग रहनेके दावेके औचित्यका और दावेदारकी सम्पत्तिके मूल्यका ध्यान रखेगी। अदालतके द्वारा एक बार राशिका *निर्णय हो जानेके पश्चात् यदि परिस्थितियोंमें महत्वपूर्ण हेर-फेर हो जाए तो वह राशि भी कम या अधिक हो सकती है।*

निर्वाह की राशि

हिन्दू धर्मका परित्याग करनेके बाद कोई भी व्यक्ति निर्वाह व्यय पानेका अधिकारी नहीं रहता।

भविष्य

हिन्दू समाजमें सुधार करनेकी भावना से प्रेरित होकर बनाए गए उक्त चारों कानूनोंका ऊपर हमने विवरण दिया है। इनमेंसे हरेक कानूनके बननेसे पूर्वकी अवस्थाका और कानूनके अमलमें आनेके बाद होनेवाले परिवर्तनका हमने यथास्थान उल्लेख किया है। किन्तु इन नए क़ानूनोंमें तलाककी व्यवस्था और कन्याको उत्तराधिकार—ये दो मुद्दे ऐसे हैं जो हिन्दू क़ानूनमें क्रांतिकारी परिवर्तन करनेवाले हैं और इनपर लोकसभा में भी गरमागरम बहस हुई है। जब एक बार देशके संविधानमें स्त्री और पुरुषको बराबरीका दर्ज़ा दे दिया गया, तो हिन्दू क़ानूनमें इस प्रकारके परिवर्तन अवश्यम्भावी थे।

तलाकके सम्बन्धमें सबसे बड़ी आपत्ति यह की जाती है कि इस व्यवस्थासे तलाकों की संख्या बढ़ेगी और दाम्पत्य जीवनकी मधुरता नष्ट हो जाएगी किन्तु जिन राज्योंमें कई वर्ष पूर्वसे तलाककी छूट थी, उनके अनुभवसे इस बातकी पुष्टि नहीं होती। इसके विपरीत उन राज्यों के अनुभवोंसे यह पता लगता है कि इस व्यवस्था का अधिकतर उपयोग कष्टपीड़ित स्त्रियोंने ही किया है। हिन्दू समाजकी वर्तमान दशामें यह स्वाभाविक भी है। विवाहकी अविच्छेद्यता एक उदात्त आदर्श होते हुए भी जब स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध विवाहकी पवित्रताको कलंकित करनेवाला बन जाए तब भी उन्हें एकत्र बाँधे रखना उनपर जबर्दस्त अत्याचार करना है। जीवनको सुखमय बनाना और दुःखमय विवाहोंसे मुक्ति दिलाना ही इस व्यवस्थाका उद्देश्य है।

तलाक के गुण-दोष

तलाकसे भी कहीं अधिक क्रांतिकारी व्यवस्था है कन्याओंको उत्तराधिकार देनेकी। यह भी स्त्री-पुरुषकी समानताका ज़रूरी परिणाम है। जो स्त्री

कन्या को उत्तराधिकार के गुण-दोष

पुरुषकी अर्धांगिनी कहलाती है, उसका पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार न हो, यह कैसी विचित्र बात है ? इसी प्रकार जो माता अपने पुत्रके लिए बड़ेसे बड़ा बलिदान कर सकती है, वह पुत्रकी सम्पत्तिमें ज़रा-सा भी हिस्सा न पाए और सदा मुहताज ही बनी रहे, यह कितनी अशोभनीय बात है ? जो अधिनियम बनाया गया है, उसमें लड़के और लड़कीका हिस्सा बराबर रखा गया है । इस विषयमें मुख्य आपत्ति यह की जाती है कि बहनको सम्पत्तिमें हिस्सा मिलनेसे भाई और बहनका प्रेम समाप्त होजाएगा । परन्तु जो प्रेम हिस्सा बँटानेसे काफूर हो जाता हो, वह भी कोई प्रेम है ? दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि लड़कियाँ अनपढ़ होनेसे सम्पत्तिका दुरुपयोग करेंगी । परन्तु यही दलील अनपढ़ लड़कोंकोके लिये क्यों नहीं दी जाती ? क्या लड़के अनपढ़ नहीं होते ? और सब पढ़े-लिखे भी सम्पत्तिका सदुपयोग ही करेंगे इसकी क्या गारण्टी है ? फिर यदि दुरुपयोगकी बात मान भी ली जाए, तो इसी हेतुसे किसीको उसके अधिकारसे वंचित करना न्यायकी बात नहीं है ।

लड़कीको पिताकी सम्पत्तिमें, स्त्रीको पतिकी सम्पत्तिमें, और माताको पुत्रकी सम्पत्ति में अधिकार मिलना कुछ भी अनुचित नहीं है । किन्तु विवाहित लड़कीको पतिकी संपत्तिमें अधिकार मिले या पिताकी संपत्तिमें—यह मुख्य विवादका प्रश्न है । और इस विषयमें बनाए गए अधिनियममें विवाहित लड़कीको पिता और पति दोनोंकी सम्पत्ति में अधिकार दिया गया है । शायद कानून बनानेवालेके मनमें यह बात थी कि जब एक बार लड़कीका सम्पत्तिपर अधिकार स्वीकार कर लिया तो फिर सम्पत्ति-सम्पत्तिमें भेद क्यों किया जाए । लड़कीका सभी प्रकारकी सम्पत्तिपर अधिकार होना चाहिए —फिर चाहे वह पतिकी हो, चाहे पिताकी ।

बहरहाल, इन अधिनियमोंके बननेसे हिन्दू-क़ानूनमें जो सुधार हुए हैं, उनका परिगणन हम इस प्रकार कर सकते हैं—जातीयता खतम हो गई, बाल-विवाह और बहु-विवाहकी समाप्ति हो गई, तलाककी व्यवस्था हो गई, स्त्रीको सम्पत्तिमें अधिकार मिल गया, तथा कन्याको गोद न लिये जानेकी बाधा हट गई । जिन रूढ़ियोंके अभिशापके नीचे समाज सदियोंसे कराह रहा था उनपर कठोर कुठाराघात हुआ है । और आगामी एक दशक या चौथाई सदीके पश्चात् आनेवाला समाज वर्तमान समाजसे कई दृष्टियोंसे सर्वथा भिन्न समाज होगा ।

-:o:-

श्री सन्तराम बी० ए०

चातुर्वर्ण्य का इतिहास

यद्यपि इस समय हिन्दुओंमें कई सहस्र जातियाँ और उपजातियाँ हैं पर यह सब चातुर्वर्ण्य विभागका ही दुष्परिणाम है। आर्योंकी सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है। उसमें कहीं भी ब्राह्मण वर्ण, क्षत्रिय वर्ण या वैश्य वर्ण लिखा नहीं मिलता। इन तीनों को बहुत बादमें स्मृतियों ने ही "वर्ण" का नाम दिया है। वेदमें वर्ण शब्द मिलता अवश्य है, पर इसका प्रयोग केवल "आर्य" और दासके साथ ही हुआ है।* जैसे—

यो दास वर्णमधरं गुहाऽकः।ऋ. २.१२.४.

अर्थात्—जो दास वर्ण को नीचे गुफामें डालता है।

हत्वी दस्यून् आर्य वर्णमावत्। ऋ. ३. ३४. ९.

अर्थात्—दस्युओं को मारकर आर्य वर्णकी पूरी-पूरी रक्षा करता है।

इतना ही नहीं वेदमें वर्णोंकी संख्या भी चार कहीं नहीं बताई गई। उसमें "चातुर्वर्ण्य" भी लिखा नहीं मिलता; हाँ, दो वर्ण अवश्य कहा गया है।

जैसे—

उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष. । ऋः १.१७९. ६.

अर्थात्—उग्र ऋषिने "दोनों वर्णों" को पुष्ट किया।

कुछ लोग ऋग्वेदके दसवें मण्डलका निम्नलिखित मंत्र—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यःकृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥९०, १२

पेश करके कहते हैं कि वेदमें चार वर्ण हैं, पर इस मंत्रका अर्थ तो केवल इतना ही है कि उस (प्रजापति) के मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, उरु वैश्य थे और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। इस मंत्रमें वर्ण शब्द कहीं है ही नहीं। ऐतिहासिक पण्डितोंका मत है कि ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसके अतिरिक्त उब्बट और महीधर आदि भाष्यकारोंने इसमें समाजका नहीं, यज्ञका वर्णन माना है।

*** बौद्धोंके ग्रंथ मज्झिम निकाय ९३ में भी लिखा है—"हे आश्वलायन, क्या तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमान्त देशोंमें दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास। आर्य दास हो सकता है और दास भी आर्य हो सकता है।"**

इसमें संदेह नहीं कि वेदमें मनुष्य-समाज कहीं-कहीं दो भागोंमें बटा मिलता है (जैसे कि आर्य और शूद्र[1] या आर्य और दास[2] या दस्यु[3]), कहीं चारमें, कहीं पाँचमें[4], कहीं छः में[5] और कहीं बीसियों[6] जातियोंमें। पर वेद वर्ण केवल उपर्युक्त दो ही कहता है। कुछ लोगोंकी धारणा है कि "पंचजनाः" का अर्थ निरुक्तके अनुसार चार वर्ण और पाँचवाँ निषाद है।

इस संबंधमें एक बातका स्मरण रखना चाहिए। निरुक्तकार यास्क वैदिक काल के बहुत पीछे हुआ है। उसे निश्चित रूपसे पता न था कि यह शब्द वैदिक कालमें किन अर्थोंमें प्रयुक्त होता था। इसीलिए उसने इस विषयमें भिन्न-भिन्न प्रचलित मत दे दिये हैं। निरुक्त का पाठ इस प्रकार है—

गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके

चत्वारो वर्णाः, निषादः पंचमः इत्यौपमन्यवः। (निरुक्त, ३–७)

अर्थात् पंचजन के संबंध में अनेक मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि गंधर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस ये पाँच पंचजन हैं। पर औपमन्यवाचार्य का मत है कि चार वर्ण और पाँचवाँ निषाद, यह पंचजन हैं।

आदि कालमें चार वर्णोंका बाँट नहीं था। यह विभाजन पीछेसे किया गया, इसके प्रमाण महाभारत और पुराणोंमें भी मिलते हैं। उनमें से कुछ आगे दिये जाते हैं :—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्वांगमयः।

देवो नरायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४॥

—श्रीमद् भागवत पुराण स्कंध १।१४

श्रीधर स्वामी इसका अर्थ यह करते हैं कि पहले सर्ववांगमय प्रणव (ओंकार) ही एकमात्र वेद था। एकमात्र देवता नरायण थे, और कोई नहीं। एकमात्र लौकिक अग्नि ही अग्नि और एकमात्र हंस ही एक वर्ण था। पुराणमें कहा है कि प्रारंभमें मनुष्यकी एकमात्र जाति हंस* थी।

महाभारत कहता है :—

एक वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।

कर्म क्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात्—हे युधिष्ठिर, इस जगत में पहले एक ही वर्ण था। गुण-कर्मके विभागसे पीछेसे चार वर्ण स्थापित किये गये।

---

१. तयाऽहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः (अथर्व ४–२०–४)
अर्थात्—मैं सबको देखता हूँ जो शूद्र है और जो आर्य है।

२. त्वंतांइन्द्रोभयांअभिजान् दासवृत्राण्यार्या च शूर (ऋ० ६–३३–३) ....
अर्थात् —हे शूर इन्द्र, रुकावट डालनेवाले दोनों प्रकारके शत्रुओंको, दासको और आर्यको तूने मारा।

३. न यो र आर्यं नाम दस्येव (ऋ० १०–४९–३)
अर्थात् जिसने आर्य नाम दस्युको नहीं दिया।

४. जैसा कि वेदके "पंचजनाः" "पंचकृष्टयः" और पंचमानव आदि शब्दोंसे प्रकट है।

५. यजु २९–२

६. यजु, अध्याय ३० मंत्र ५–६।

* आदौ कृतयुगे नृणां हंस इतिस्मृतम्।

वही महाभारत फिर कहता है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्म मिदं जगत्
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ।।

अर्थात्—वर्णोंमें कोई भी वर्ण किसी प्रकारकी विशेषता नहीं रखता क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। पहले सबको ब्रह्माने ही उत्पन्न किया है। पीछे कर्मोंके भेदसे वर्णोंकी उत्पत्ति हुई।

फिर वायुपुराण* कहता है—

"सत्युगमें कर्म-भेद, वर्ण-भेद और आश्रम-भेद न था। त्रेता युगमें मनुष्यों की प्रकृतियाँ कुछ भिन्न-भिन्न होने लगीं। कर्म, वर्ण, आश्रम-भेद आरम्भ हुए। तदनुसार शान्त, शुष्मा, कर्मी और दुखी ऐसे नाम पड़े। द्वापर और कलिमें प्रकृति-भेद और भी अभिव्यक्त हुआ। तदनुसार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र नाम पड़े।"

महाभारत के शान्तिपर्व मोक्ष धर्म ४२।१७७ में इस प्रकार लिखा है—

प्रश्न—हे भृगु मुनि, काम, क्रोध, लोभ, भय, चिन्ता, क्षुधा और श्रम आदि बातें हम सब में एक सी है, तब वर्णका भेद क्यों मानते हैं ?

पसीना, भूख, शौच, कफ, पित्त और रक्त सबके शरीरमें रहते हैं। तब एक वर्ण दूसरे वर्णसे अलग क्यों माना जाता है ?

उत्तर—इसपर भृगु ऋषि बोले—(पहले) एक ब्राह्मण ही वर्ण था। इसलिए (इस समय दिखाई देनेवाले भिन्न-भिन्न) वर्णोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं। पहले-पहल ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किए हुए एक ही वर्णके लोग विभिन्न कर्मोंके कारण भिन्न-भिन्न वर्णों को प्राप्त हुये हैं।

फिर भविष्य महापुराणके ब्रह्म पर्व, अध्याय ४२ में लिखा है—

"यदि एक पिताके चार पुत्र हैं, तो उन चारोंकी एक जाति होनी चाहिये। इसी प्रकार सब लोगोंका पिता एक परमेश्वर ही है। इसलिए मनुष्य-समाजमें जाति-भेद है ही नहीं। जिस प्रकार गूलरके पेड़में अगला भाग, मध्यका भाग और जड़का भाग—तीनोंमें एक ही वर्ण और आकार के फल लगते हैं, उसी प्रकार एक विराट पुरुष परमेश्वरके मुख, बाहु, पेट और पैरसे उत्पन्न हुए मनुष्योंमें (स्वाभाविक) जाति-भेद कैसे माना जा सकता है ?"

भविष्य पुराण (अध्याय ४) कहता है—

तस्मान्न गोऽश्ववत् किंचिज्जाति भेदोस्ति देहिनाम्
कार्यभेदनिमित्तेन संकेतः कृत्रिमः कृतः।

---

* अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभ पापयोः
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च तदाऽऽसन्न संकरः
त्रेतायुगे त्वविकलः कर्मारम्भः प्रसिध्यति
वर्णानां प्रविभागाश्च त्रेतायां तु प्रकीर्त्तिताः।
शान्ताश्च शुष्मिणश्चैव कर्मिणो दुखिनस्तथा ।।
ततः प्रवर्तमानास्ते त्रेतायां जज्ञिरे पुनः।
—वायुपुराण ८, ३३, ४९, ५७ आदि अध्याय

अर्थात् मनुष्योंमें गाय और घोड़े जैसा कोई जाति-भेद नहीं। यह कामके भेद बनावटी* संकेत किये गये हैं।

इतना ही नहीं विष्णु पुराण (अंश ४, ७, १) कहता है।

गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्य प्रवर्त्तयिताऽभूत्।

अर्थात्—गृत्समदके पुत्र शौनकने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रवर्त्तितकी।

इसी पुराणमें दूसरी जगह कहा है—

भार्गस्य भार्गभूमिः अतश्चातुर्वर्ण्य प्रवृतिः। (चतुर्थ अंश ७–९)

अर्थात्—भार्गसे भार्गभूमि उत्पन्न हुए, उनसे चातुर्वर्ण्य प्रवर्त्तित हुआ। महर्षि जैमिनिका कहना है कि सृष्टिके आदिमें पहले चतुर्मुख (ब्रह्मा) ने ब्राह्मण ही बनाए, फिर दूसरे वर्ण उन्हीं ब्राह्मणोंके वंशमें अलग-अलग उत्पन्न हुये—

ससर्ज ब्राह्मणावग्रे सृष्ट्यादौ स चतुर्मुखः
सर्वे वर्णाः पृथक् तेषां वेशेषु जज्ञिरे। पद्मपुराण (उत्कल खंड, ३७, ४४)

हरिवंश पुराणमें भी कहा है—

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैव च। (२९ अध्याय १५, १९, २०)

अर्थात् गृत्समदके पुत्र शुनक हुए। शुनकसे शौनक कहलानेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बहुतसे पुत्र उत्पन्न हुये।

इसके विपरीत वृहदारण्यक उपनिषद् कहता है कि पहले क्षत्रिय उत्पन्न हुये। उन्हीं के वंशज बादको दूसरे वर्ण हुए।

उपनिषद्के शब्द हैं :—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव तदेकं सन्नव्यभवत् तच्छ्रेयोरुपमत्यसृजत क्षत्रम्"। (१, ४, ११)

प्रारम्भमें वर्ण-भेद न होनेका पता इस बातसे भी लगता है कि उपनिषद्, रामायण और महाभारत आदि प्राचीन ग्रंथोंमें किसी भी नामके साथ शर्मा, वर्मा और गुप्त आदि वर्ण-सूचक शब्द लगे नहीं मिलते।

महाभारतमें कृतवर्मा और महाभाष्यमें इन्द्रवर्मा नाम मिलता है। पर वहाँ "वर्मा" वर्ण-व्यवस्थाका द्योतक नहीं, वरन् वह नाम है जैसे—आजकल श्रीराममें "श्री", रामजीदासमें "जी" और भगवानदासमें "भगवान" नामका ही अंश है।

ऐसा जान पड़ता है कि आदि कालमें मनुष्य-समाज गंगोत्रीके निकट गंगा-जलके समान निर्मल था। लोग सात्त्विक, सरल, सदाचारी और शुद्ध-हृदय थे। पहले मनुष्योंकी संख्या बहुत कम थी और खान-पानकी सामग्री प्रचुर थी। लोग फल-फूल खाकर सहजमें पेट भर लेते थे। कालान्तरमें यह समाज वैसा शुद्ध, निर्व्याज और सरल न रह सका। तब अपनी-अपनी प्रकृति, रुचि और योग्यताके अनुसार लोग विभिन्न कार्य करने लगे। जैसे आजकल नाना प्रकारके व्यवसाय देखनेमें आते हैं, वैसे उस समय नहीं थे। उस समय कुछ लोग गाय आदि पशु चराते थे, कुछ शत्रुओंसे समाज की रक्षा करते थे और कुछ बालकोंको पढ़ाते थे। इस प्रकार ये सब लोग मिलकर एक दूसरेकी आवश्यकताओंको पूरा करते थे। जो लोग खेती-बाड़ी करते और पशु चराते

थे, उनको उस समयकी भाषामें वैश्य कहा जाता था। जो शत्रुओंसे लड़ते-भिड़ते थे, वे क्षत्रिय कहलाते थे और जो पठन-पाठनका काम करते थे, उनका नाम ब्राह्मण था। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी यह बाँट जन्मपर नहीं, कर्मपर थी। वर्तमान हिन्दू समाजमें जो वर्ण-भेद है, वह कामकी बाँट नहीं काम करनेवालोंकी बाँट है। इसमें व्यक्तिकी योग्यताका विचार न करके केवल जन्मसे किसी को ब्राह्मण का काम और किसीको भंगीका काम करनेपर बाध्य किया जाता है। इसलिए उस पुरातन कालसे यह बिलकुल उल्टा है। जैसे यूरोप और अमेरिकामें कोई अध्यापक, कोई सैनिक और कोई व्यापारी है और वह जन्मसे नहीं, वैसे ही उस कालमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि सांकेतिक नाम थे। कामकी बाँट होनेपर भी उन लोगोंमें ऊँच-नीचका कोई भाव उत्पन्न नहीं हुआ था। अतएव वेद कहता है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधु: सौभगाया। ऋग्वेद, ५-५-६०

अर्थात् तुममें न कोई उच्च है और न ही कोई नीच। तुम सब भाई हो। इसलिये भाइयोंकी भांति अपने-अपने भागमें उन्नतिशील बनो।

विभिन्न काम करनेवाले लोग एक ही घरमें इकट्ठे रहते थे।

वेद कहता है—

कारूरंह ततो भिषगुपलप्रक्षिणां नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु इव तस्थिभेन्द्रायेन्दो परिस्रव। ऋग्वेद, ९–११२–३६

अर्थात्—मैं एक कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्कीसे अनाज पीसती है। विभिन्न व्यवसायोंमें लगकर हम लोग धन और आनन्द खोजते हैं, जिस प्रकार गौएँ मैदानों में अपना-अपना भोजन खोजती हैं।

आजके हिन्दू समाजमें विभिन्न वर्णों और जातियोंके लोग परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार नहीं करते। इससे उनका धर्म डूब जाता है और उनकी जाति चली जाती है। पर उस पुरातन कालमें ऐसी बात न थी। व्यवसायके कारण विभिन्न नामोंसे पुकारे जाने पर भी वे आपसमें बेटी-व्यवहार करते थे। ऐसे विवाहोंके कुछ उदाहरण आगे दिये जाते हैं। पहले अनुलोम अर्थात् कथित ऊँचे वर्णके पुरुषका कथित नीच वर्णकी स्त्रीके साथ विवाह लीजिए :—

१. शुक्राचार्य ब्राह्मणने राजा प्रियव्रत क्षत्रियकी पुत्री उर्जस्वतीसे विवाह किया।

२. शृंगी ब्राह्मणने राजा लोमपादकी पुत्री (और राजा दशरथकी गोद ली हुई पुत्री) शान्तासे विवाह किया।

३. यमदग्नि ब्राह्मणने सूर्यवंशी राजा प्रसेनजितकी कन्या रेणुकासे विवाह किया। इन्हींके पुत्र परशुराम थे।

४. ऋचीक ब्राह्मणने राजा गाधि क्षत्रियकी कन्या सत्यवतीसे विवाह किया।

५. पिप्पलाद ब्राह्मणने क्षत्रिया पद्मासे विवाह किया (शिवपुराण, उत्तरार्द्ध, अध्याय २०)

६. अगस्त्य ब्राह्मणने क्षत्रिया लोपामुद्रासे विवाह किया।

७. रयिक्व ब्राह्मणने राजा जानश्रुतिकी कन्या से।

८. सौभरि ब्राह्मणने राजा मांधाता क्षत्रिय की कन्यासे।

९. विश्वामित्रने देवलोककी अप्सरा मेनकासे शकुन्तला उत्पन्न की। शकुन्तला का विवाह राजा दुष्यन्तसे हुआ। उनका पुत्र भरत हुआ। इसी भरतके नामसे इस देशका नाम भरतखंड पड़ा। (भागवत पुराण, स्कंध ४)

१०. भीमसेन ने हिडम्बा नामकी राक्षसीसे विवाह किया। उनका पुत्र घटोत्कच हुआ।

अब प्रतिलोम अर्थात् कथित नीच वर्णके उच्च वर्णकी स्त्रीके साथ विवाहके उदाहरण सुनिए :—

१. राजा प्रियव्रत क्षत्रियने विश्वकर्मा ब्राह्मणकी बेटी वर्हिष्मतीसे विवाह किया। वायुपुराण (अध्याय २८) में लिखा है कि कर्दम ऋषि की कन्या काम्या (विष्णु पुराण में इसका नाम कन्या लिखा है) राजा प्रियव्रत (क्षत्रिय) को ब्याही गई। काम्यासे प्रियव्रतको दस पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। उन्होंने क्षत्रिय-वंशका विस्तार किया।

२. राजा नपि क्षत्रियने शुक्राचार्य ब्राह्मणकी पुत्री कृत्वीसे विवाह करके ब्रह्मदत्तको जन्म दिया (भागवत पुराण स्कंध ९।२१)। इसी कुलमें मुद्गल उत्पन्न हुआ जिसके नामपर ब्राह्मणोंका मौद्गल्य गोत्र चला।

३. राजा ययाति ने शुक्राचार्य ब्राह्मण की पुत्री देवयानी से विवाह किया। इनके पाँच पुत्र हुए।

४. प्रमत्ता ब्राह्मणीका विवाह एक नाईके साथ हुआ। इनके पुत्र मतंग महामुनि थे। (महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय २२)

५. कर्दम ऋषिकी कन्या अरुन्धती और वेश्या* के पुत्र वसिष्ठ मुनिका विवाह हुआ। इनके पुत्रका नाम शक्तृ या शक्ति था। इसका विवाह चाण्डाल कन्या अदृश्यन्तीसे हुआ। इनका पुत्र पराशर था। (लिंग पुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय ६३ और शिव-पुराण, पूर्वार्द्ध खण्ड १ अध्याय १३)। पराशरने धीवर कन्या सत्यवतीसे वेदव्यास उत्पन्न किया। वेदव्याससे कौरव और पाण्डव हुए।

हम पीछे लिख आये हैं कि सत्युगमें कोई वर्णभेद और आश्रम-भेद न था और इसलिए वर्णसंकरता का प्रश्न ही उत्पन्न न होता था। कालान्तरमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दो भिन्न-भिन्न वर्ण प्रकट हुए। पर तब भी वे आजकलकी भाँति जन्मसे नहीं, वरन् कर्म से या चरित्रगत थे। ब्राह्मण कहलानेवाला व्यक्ति क्षत्रिय बन सकता था और क्षत्रिय कहलानेवाला ब्राह्मण। इस प्रकार वर्ण-परिवर्तन करनेवाले अनेक लोगोंके नाम पुराणोंमें मिलते हैं। उनमेंसे कुछ नाम आगे दिये जाते हैं। कैवंत (कहार) स्त्रीसे व्यासजी का जन्म है। शवपाक (चाण्डाल) स्त्रीसे पराशर मुनिका। शुकीसे शुक, अलूकीसे

* **उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः। ऋ० ७।३३।११.**

अर्थात्—मित्रावरुणके औरस और स्वर्गकी अप्सरा उर्वशीके गर्भसे वसिष्ठका जन्म हुआ।

गणिका-गर्भ-सम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः
तपस ब्राह्मणोजातः संस्कारस्तत्र कारणम्।
—भविष्य पुराण, १, ४२, ४६

कणाद् और हिरनीसे शृंग ऋषि हुए। गणिका (वेश्या) से वसिष्ठ हुए। पर तपके प्रतापसे वे सब ब्राह्मण बन गये।

वायुपुराणमें भी ऐसे महात्माओंकी एक सूची मिलती है, जिनका जन्म यद्यपि क्षत्रिय वंशमें हुआ पर तपोबलसे वे ब्राह्मण बन गये। हरिवंश पुराण, अध्याय ३२ में कहा गया है—"एक ही भार्गव वंशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (विभिन्न वर्णोंके) पुत्र उत्पन्न हुए। ऐतरेय अहिदास शूद्रीका पुत्र था। आगे चलकर वह वेदका जाननेवाला ब्राह्मण हुआ। उसने वेदके सम्बन्धमें ऐतरेय ब्राह्मण नामक ग्रंथ लिखा। वह इतर अर्थात् अब्राह्मणका पुत्र था। इसीलिए ऐतरेय कहलाया। मालूम नहीं, उसका पिता कौन था।"

ब्रजसूची कहती है* कि जन्मसे मनुष्य शूद्र होता है, संस्कारसे ही वह द्विज कहलाता है; वेदाभ्याससे विप्र और ब्रह्मज्ञानसे ब्राह्मण बनता है। इसी प्रकार व्यास स्मृति कहती है—"काठका बना हाथी, चमड़ेका बना मृग और अपढ़ ब्राह्मण ये तीनों नाम मात्रके होते हैं।"

ऊपर दिए वचनोंसे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि आदिकालमें वर्ण-व्यवस्था जन्मसे नहीं वरन् गुण-कर्मसे थी और जैसा आजकल है, वैसा वर्णान्तर तब असंभव न था। तब शूद्र पिताके घर जन्म लेनेवाला बालक अपने उत्तम गुणोंके प्रतापसे ब्राह्मण हो सकता था और ब्राह्मण पिताके यहाँ जन्म लेनेवाला बालक अपने दुर्गुणी होनेसे शूद्र हो जाता था। दूसरी बात यह है कि महाभारत, पुराणों और स्मृतियोंके समयमें वर्णोंका लचीलापन नष्ट होता जा रहा था और वर्ण जन्मसे ही माने जाने लगे थे। तभी तो इन पुस्तकोंमें कहनेकी आवश्यकता हुई कि अपढ़ ब्राह्मण काठके घोड़ेके सदृश केवल नामका होता है या कुल और वीर्यसे कोई ब्राह्मण नहीं होता। बात वास्तवमें यह है कि आजकल के समाजवाद और साम्यवादके सदृश वर्ण-व्यवस्था भी एक प्रयोगमात्र था। खेद है कि वह बहुत बुरी तरह विफल हुआ।

आरम्भमें समाजके सभी प्रकारके काम करने वालोंमें कोई ऊँचा या नीचा नहीं समझा जाता था। सभी काम प्रतिष्ठित और सभी लोग समान समझे जाते थे। बादको धार्मिक कृति और पूजा-पाठ करानेवालोंका पद बहुत ऊँचा समझा जाने लगा। इससे ब्राह्मण भी धीरे-धीरे अपनी उच्च स्थितिका अनुभव करने लगे।

उन्होंने समझ लिया कि अनायास मिलते हुए पद और प्रतिष्ठाका परित्याग करना भी कोई बुद्धिमत्ता नहीं। अतएव अब वे लोग अपने प्रभुत्वकी धाक जमानेका प्रयत्न करने लगे। परन्तु क्षत्रिय लोग भी अपनेको तुच्छ माननेको कब तैयार थे? इसलिए इसी बातको लेकर आपसका एक झगड़ा उठ खड़ा हुआ। जब तक समाजमें जीवन और उत्साह बना रहा, वह पुरोहितशाहीकी जड़ोंपर कुल्हाड़ा चलाने और अपने छिने हुए अधिकारोंको फिरसे प्राप्त करनेका बार-बार उद्योग करता रहा। रामायण और महाभारतमें भी ऐसे प्रयत्नोंकी बात पाई जाती है। फिर आगे चलकर बौद्ध धर्मका प्रवर्तन और प्रचार करके क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंके प्रभुत्वको बिलकुल जड़से उखाड़ फेंकनेका पुनः प्रबल प्रयत्न किया। पर ब्राह्मणोंके चातुर्य और बुद्धिमत्ताके सामने उनकी

---

* **जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते,**
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।

एक न चली। अन्तमें सिर नवाना ही पड़ा। ब्राह्मणोंने स्वयं बुद्धको विष्णुका अवतार मान भारतमें बुद्ध धर्मकी कमर तोड़ दी और इस प्रकार ब्राह्मणी सत्ताने सारे भारत पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया।

"महाभारत मीमांसा" के लेखकका मत है कि आरम्भमें क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंकी यह बात चलने न दी। वसिष्ठ और विश्वामित्रके विवादसे प्रकट होता है कि क्षत्रियोंने इसके बारेमें खूब झगड़ा किया। ब्राह्मणोंकी यह माँग थी कि ब्राह्मणका बेटा ब्राह्मण हो और क्षत्रिय का क्षत्रिय। पर विश्वामित्रकी माँग यह थी कि क्षत्रियके बेटेने यदि अपनी बुद्धि एवं योग्यताको बढ़ा लिया हो, तो उसके ब्राह्मण होनेमें क्यों रुकावट है? "महाभारत मीमांसा" के मतानुसार यह प्रतिस्पर्धा बहुत प्राचीन कालसे ही आरम्भ हो गई थी। विश्वामित्रकी कथा सूर्यवंशी क्षत्रियोंके समय और पंजाब प्रदेशकी है। पर फिर भी महाभारत-काल तक ब्राह्मणोंकी कट्टरता पूर्ण उन्नतिको प्राप्त नहीं हुई थी। अभी तक दूसरी जातियोंके लोग अपनी योग्यता, शालीनता और सदाचारके द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकते थे। ऐतरेय ब्राह्मणमें वर्णित इलूषपुत्रके कवषकी कथा और छान्दोग्योपनिषद् में दी गई सत्यकाम जावालकी कथा इस संबंधमें ध्यान देने योग्य हैं। महाभारत और रामायणका काल समाप्त होते ही हम जाति-बंधनको सुदृढ़ और अटूट पाते हैं। महाभारतके पहले और बादकी सामाजिक अवस्थामें हम आकाश-पातालका सा अन्तर देखते हैं। धर्मकी बागडोर ब्राह्मणोंके हाथमें थी। ये लोग सम्मान और पूजाके आसनपर बैठा दिये गये थे। धार्मिक विषयोंसे संबंध रखनेके कारण समाज इनको सम्मानकी दृष्टिसे देखने लग गया था। यद्यपि क्षत्रिय लोग किसी प्रकार इनसे कम नहीं थे वरन् कितनी ही बातोंमें बढ़े-चढ़े ही थे, पर धर्मकी ध्वजा इनके हाथ रहनेके कारण वे पूरी तरह इनका सामना न कर सकते थे। इसीसे झगड़ा आरम्भ होनेपर भी क्षत्रियोंको मुँहकी खानी पड़ती थी। ब्राह्मणोंके धर्मकी दोहाई देनेपर धर्म-भीरु जनता जीभ नहीं हिला सकती थी। अब उन्होंने इस सदाके रगड़े-झगड़ेको एकदम ही मिटा देना आवश्यक समझा। उन्होंने अपने ब्राह्मण वर्णको जनतामें सबसे ऊँचा मनवा लिया। इसीके फलस्वरूप ब्राह्मण ग्रंथोंकी रचना हुई। उस कालका साहित्य जटिल धार्मिक विधानों और अनुष्ठानोंसे परिपूर्ण है। वेदोंसे यज्ञोंके आवश्यक स्तोत्र चुन लिये गये। वैदिक कालकी सरल धार्मिक पद्धति कठिन और अनावश्यक रूपसे लम्बी बना दी गई। सरल और स्वाभाविक देवपूजा के स्थानमें बड़े-बड़े आडम्बरयुक्त यज्ञ और अग्निहोत्र प्रचलित किए गये। यज्ञोंमें अनेक प्रकारकी जटिलताएँ डाली गईं। उन्हें भारी व्ययकी चीज बना दिया गया और एक प्रदर्शनसे बढ़कर उन्हें समझा जाने लगा। प्रतीत ऐसा होता था मानों आवश्यक और जटिल अनुष्ठानोंके अतिरिक्त धर्म कोई दूसरी शिक्षा ही नहीं दे सकता था। परिणाम यह हुआ कि धार्मिक बातें सर्व-साधारणकी समझसे बाहरकी चीज हो गई, और जनताको धार्मिक बातोंसे हाथ खींच लेनेपर विवश होना पड़ा। जब तक सारी आयु न लगा दी जाये, उन धार्मिक विधानों और अनुष्ठानों में पारंगत होना असंभव था। ये यज्ञ वही करा सकते थे जो जन्मकालसे उन्हें देखते आए हों और इस विषयका मनन और अभ्यास कर रहे हों। इसलिए देखते-देखते ब्राह्मणों का सिक्का जमने लगा। लोग अपनी धर्म-संबंधी स्वाधीनता खोने लगे।

सौभाग्यवश इसी कालमें क्षत्रियोंमें जनक जैसे ब्रह्मज्ञानी और परम मनीषि पुरुषोंका जन्म हुआ। उन्होंने ब्राह्मणोंके चलाये इन आडम्बरयुक्त लम्बे-चौड़े अनुष्ठानों और यज्ञ-याज्ञोंकी निःसारताको देखा। उन्होंने गहरे आत्मचिंतनमें निमग्न होकर ऐसे आध्यात्मिक सत्योंको खोज निकाला जिनका ब्राह्मणोंको ज्ञान तक न था। इन क्षत्रियोंने उपनिषदों जैसे उच्च ब्रह्मज्ञानके ग्रंथोंकी रचना कर संसारको चकित-स्तंभित कर दिया। यहाँ तक कि उनके द्वारा आविष्कृत इन नवीन सचाइयोंको सीखनेके लिए ब्राह्मणोंको भी उनके पास आना पड़ा। उपनिषदोंमें अनेक ऐसी कथाएँ पाई जाती हैं जो हमारी उपर्युक्त बातको प्रमाणित करती हैं।

छान्दोग्योपनिषद्के पाँचवें प्रपाठकके तीसरे खण्डमें श्वेतकेतु आरुणेयकी एक कथा पाई जाती है।

जब शवेतकेतु आरुणेय पांचालोंकी सभामें गया तो प्रवाहण जैवलिने उससे पूछा—"कुमार, क्या तुम्हारे पिता ने तुमको शिक्षा दी है?"

आरुणेय—"जी, हाँ"।

जैवलि—"क्या तुम जानते हो, यहाँसे मनुष्य कहाँ जाते हैं?"

आरुणेय—"जी, नहीं।"

जैवलि—"क्या तुम बतला सकते हो कि फिर वे यहाँ किस प्रकार लौटते हैं?"

आरुणेय—"जी, नहीं।"

ऐसे ही और दो-एक प्रश्नोंका उत्तर भी "नहीं" पाकर वह बोल उठा—"तब तुम अपने आपको सुशिक्षित क्यों कहते हो? जो व्यक्ति इन सब बातोंको नहीं जानता वह सुशिक्षित कैसे कहला सकता है?"

अन्तमें आरुणेय बहुत दुःखी होकर अपने पिता के पास लौट गया और कहने लगा—"पिता, मुझे शिक्षा न देकर यों ही आपने मुझसे कह दिया कि मैं सुशिक्षित हो गया हूँ। अन्तमें उस धृष्ट राजाने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे, किन्तु मैं एकका भी उत्तर न दे सका।"

पूछे हुए प्रश्नोंको सुनकर पिताने कहा—बेटा, मैं ही इन प्रश्नोंमें से एकका भी उत्तर नहीं दे सकता। इन प्रश्नोंने तो मेरी बुद्धि चक्करमें डाल दी। यदि मैं इन विषयोंके संबंधमें कुछ भी जानता होता तो फिर भला कहो तुम्हें कैसे न बतलाता?

अन्तमें कुश हाथमें लेकर पिता-पुत्र दोनों दोबारा जैवलिके पास गये। उन्होंने उपर्युक्त ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उससे प्रार्थनाकी।

पहले तो जैवलि टालमटोल करता रहा और घबराया। परन्तु अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर उसने गौतम (श्वेतकेतुके पिता) से कहा—

"महर्षि, आप कुछ दिन मेरे पास ठहरिए, मैं आपको उस विद्याकी शिक्षा दूंगा। पर आजसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास कभी नहीं गई थी। अभी तक यह विद्या केवल क्षत्रियोंकी ही संपत्ति समझी जाती थी।"

इतना कहकर गौतमको उसने आत्माके स्वरूप, उसका परमात्माके साथ संबंध इत्यादि की सविस्तर व्याख्या हृदयंगम करा दी।

किसी व्यक्तिके वर्णका निश्चय करना भी एक टेढ़ी खीर है। समझमें नहीं आता कि वेदव्यासको ब्राह्मण माना जाय या क्षत्रिय। द्वैपायनका जन्म महाराज शान्तनुकी

पत्नी सत्यवती और पराशर ऋषिके समागमसे हुआ था। और उसीसे उत्पन्न विचित्र-वीर्यकी पत्नी अम्बिका और अम्बालिकाके पुत्र पाण्डु और धृतराष्ट्र क्षत्रिय समझे जाने लगे।

बौद्ध कालमें क्षत्रिय लोग अपनेको ब्राह्मणोंसे अधिक प्रतिष्ठित समझने लगे थे। उस समयका साहित्य ब्राह्मणोंकी निन्दासे भरा हुआ है। सब कहीं क्षत्रियोंकी बड़ाई की गई है और ब्राह्मणोंका उल्लेख अपमानजनक शब्दोंमें किया गया है।

तित्तर जातकमें एक कथा है कि एक बार बुद्धदेवने भिक्षुओंकी सभामें पूछा कि सबसे अधिक और सबसे पहले किसका सम्मान होना चाहिये? इसके उत्तरमें कुछ भिक्षुओं ने कहा—"खत्तिय कुलापव्रजिते," अर्थात् "क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुए भिक्षुओंका।" बुद्धके समयमें और उसके बाद भी बहुत दिनों तक सब जातियोंके लोग साधु बनते थे और समाजमें उनका बहुत आदर था। भगवान बुद्धने मातंग चाण्डालको गले लगाकर भिक्षु बनाया था। बड़े-बड़े ब्राह्मण उसकी सेवामें उपस्थित हुआ करते थे। परन्तु अब्राह्मण भिक्षुओंका सम्मान समाजमें बहुत दिन टिक न पाया।

जब तक अशोक जैसे लोग रहे, धर्माचरणमें सबका समान अधिकार रहा। परन्तु उनके बाद अवस्था यहाँ तक गिर गई कि लोग बुद्धको भी गालियाँ देने लगे। लोग कहने लगे कि बुद्ध क्षत्रिय था, उसे धर्मोपदेश देनेका कोई अधिकार नहीं था। कुमारिल भट्टने स्पष्ट कहा है—"जिस बुद्धने क्षत्रिय होकर भी धर्मोपदेश और भिक्षावृत्ति अपनाकर स्वधर्म-त्याग किया वह ठीक-ठीक धर्मोपदेश देगा, इसपर कैसे विश्वास करलें? और रही अहिंसादि जो वेदादि सच्छास्त्रोंमें भी है; वह भी (बुद्ध या बुद्धके शिष्यके उपदेश से ग्रहण की जाए), तो उसी प्रकार निकम्मी और अविश्वास्य है जैसे कुत्तेकी खालमें पड़ा दूध (अपवित्र) निकम्मा होता है।"

जैन साहित्यमें भी ब्राह्मणोंको क्षत्रियोंसे घटिया बताया गया है। "जैन कल्प-सूत्र" में महावीरके जन्मकी एक विचित्र कथा कही गई है। उसमें लिखा गया है कि महावीर जब पुष्पोत्तर नामके स्वर्गसे जन्म लेनेके लिए उतरे, तो ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण की पत्नी देवनन्दाके गर्भमें आये। परन्तु इससे पहले यह कभी नहीं हुआ था कि किसी महापुरुषने ब्राह्मणकुलमें जन्म लिया हो। इसलिए शुक्रने इस महापुरुषको देवनन्दा के गर्भसे हटाकर रानी तृषलाके गर्भमें रख दिया। ("बौद्धकालीन भारत", तीसरा अध्याय।)

क्षत्रियोंके इस सारे प्रयासके रहते भी ब्राह्मणोंने चालाकीसे उन्हें मात कर दिया। १८४ ई० पूर्वमें मौर्योंके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र सुंगने विश्वासघातपूर्वक अपने राजा बृहद्रथको मारकर मौर्य सिंहासनपर अधिकार कर लिया। पुष्यमित्रके सिंहासनपर बैठते ही ब्राह्मण दबदबेकी ऐसी ज़बरदस्त लहर उठी जिसने सारे भारतीय समाजको दहला दिया। पुष्यमित्र पहला ब्राह्मण था जो कभी किसी राजसिंहासनपर बैठा और इसके बादसे ब्राह्मणोंकी गिनती भी शासक वर्णमें होने लगी। ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है कि इस घटनाके स्मारकमें पुष्यमित्रने अश्वमेध यज्ञका समारोह किया। इस यज्ञके आयोजनसे पुष्यमित्रकी इच्छा शायद वैदिक कर्मकाण्डको फिरसे चालू करना रही होगी। "मञ्जुश्री मूलकल्प" का बौद्ध लेखक लिखता है कि सिंहासनपर बैठनेके बाद पुष्यमित्र

ने बौद्ध मठोंको गिरवा दिया, बौद्ध स्मृति-चिन्होंको बरबाद करा दिया और बड़े-बड़े सच्च-रित्र बौद्ध-भिक्षुओंका वध करवा दिया।

सुंग सेनापतिके नेतृत्वमें ब्राह्मणोंकी इस प्रतिक्रियाको स्वर्गीय श्री जायसवालने रूढ़िवादी प्रतिक्रांतिके नामसे पुकारा है। इस प्रतिक्रांतिका पूरा चित्र हमें "मानव-धर्म शास्त्र" में मिलता है। इसी मानव-धर्मशास्त्रको "मनुस्मृति" कहा जाता है। जायसवाल के अनुसार यह धर्मशास्त्र पुष्यमित्रके समय लिखा गया। "नारद-स्मृति" के अनुसार इसका रचयिता सुमति भार्गव नामक व्यक्ति था; या कमसे कम उसने पुरानी मनुस्मृतिमें दकियानूसी नई व्यवस्थाएँ सम्मिलित करदी। इस मनुस्मृतिमें नीचेके तीन वर्णों के प्रति घृणा और द्वेष भरा पड़ा है।

इस प्रकार ब्राह्मणी सत्ताके प्रतिष्ठित हो जानेपर जात-पाँत तोड़कर विवाहोंका होना बन्द हो गया क्योंकि ऐसे विवाह करनेवालों के लिए घोर दण्डकी व्यवस्था कर दी गई। जो लोग अपने वर्ण या जातिसे बाहर विवाह करते थे, उनको और उनकी सन्तानको समाजसे पतित और भ्रष्ट कर दिया जाता था। इस सामाजिक बहिष्कारके परिणाम-स्वरूप ही अछूत जातियोंकी उत्पत्ति हुई है। चन्द्रनगरके फ्रेंच प्रधान न्यायाधीश श्री जकलियट अपनी पुस्तक 'भारतमें बायबिल' में लिखते हैं—

"सुनिए, मनु उनका किन शब्दोंमें प्रतिषेध करता है—

"जिन लोगोंपर (जाँत-पाँत तोड़नेके) कलंकका टीका लग गया हो; उनके संबंधियोंको, क्या मातृकुल और क्या पितृकुलके, चाहिए कि उनका परित्याग करदें और करुणा एवं आदरकी कुछ भी परवाह न करें।"

"हमें उनके साथ रोटी और बेटी संबंध नहीं रखना चाहिए। न उनके साथ मिल कर यज्ञ और पठन-पाठन ही करना चाहिए। सर्व सामाजिक बंधनोंसे पृथक् वे पृथ्वी पर दुःख झेलते फिरें....। इस दण्डनीतिसे सारी जातिसे सर्वथा बहिष्कृत कर देनेसे अभोग और सदाके लिए अपमानित अछूत नामके मनुष्यकी उत्पत्ति हुई।

"जब अछूत ब्राह्मणको अपनी ओर आता देखता है, तब उसे चटपट रास्ता छोड़ देना पड़ता है, और दस पगके अन्तर पर, अपनी दीनताको दिखलानेके लिए, धूलिमें लेटकर प्रणाम करना पड़ता है, नहीं तो ब्राह्मणके नौकर उसे पीट-पीटकर मार डालते हैं।"

पौराणिक कालमें चालाक ब्राह्मणोंको "भूसुर" अर्थात् पृथ्वीके देवताकी उपाधि दी गई। पर अब तक भी ब्राह्मणोंको पूजनीय होनेके लिए विद्वान होना आवश्यक था। गरुड़ पुराणमें तो अशिक्षित ब्राह्मणका श्राद्धमें सम्मिलित होना भी निषिद्ध था। परन्तु आगे चलकर यह अड़चन भी हटा दी गई। ऐसे-ऐसे श्लोक रचकर पुराने और नये ग्रंथोंमें डाल दिये गये, जिनमें ब्राह्मण होनेके लिए एक विशेष घरानेमें जन्म लेना ही पर्याप्त बताया गया, उसके आचार-व्यवहार और योग्यताकी बिलकुल परवाह नहीं की गई। अतएव महाभारतमें[१] लिखा मिलता है कि भले या बुरे किसी भी कर्मको करते हुए ब्राह्मण का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति[२] कहती है कि ब्राह्मण यदि पूर्णतया पापोंमें लिप्त हो, तब भी उसे न मारे।'

१. ब्राह्मणो नावमंतव्यः सदसद्वा समाचरन्। आदि पर्व, ९०–१३

२. न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्। मनु, ७–३७०

ब्राह्मण जन्म लेते ही पृथ्वीके समस्त जीवोंमें श्रेष्ठ होता है; सब प्राणियोंका ईश्वर होता है और धर्मके खजानेका पोषक होता है (मनु १–९९)। जैसे अग्नि चाहे संस्कारयुक्त हो और चाहे संस्कार रहित, महान देवता है; वैसे ही ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो चाहे मूर्ख, बहुत बड़ा देवता है। जैसे महा तेजवाला अग्नि मरघटमें शवको जलानेसे भी दूषित नहीं होता, किन्तु यज्ञमें हवन किये जानेपर फिर वृद्धिको प्राप्त होता है, वैसे ही सब अनिष्ट और पाप कर्म करते रहनेपर भी ब्राह्मण सदा पूज्य ही है क्योंकि वह परम महान् देवता है (मनु ९।३१७–३१९)। पराशर स्मृति कहती है* कि ब्राह्मण चाहे बुरे चरित्रवाला भी हो, पूज्य है; पर शूद्र चाहे जितेन्द्रिय हो, पूज्य नहीं।

गोस्वामी तुलसीदासने तो स्पष्ट ही कह दिया है—

पूजिए विप्र शील गुण हीना। शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना ॥

ऊपरके वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्णभेद किस प्रकार गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित न रह कर जन्ममूलक बन गया। फिर भी जात-पाँत तोड़क विवाह एकदम बन्द नहीं हो गये। नवीं शताब्दीके आरम्भ तक जात-पाँत तोड़क विवाहोंकी आज्ञा थी। श्रुतियों और स्मृतियोंमें दृढ़ विश्वास रखनेवाले ब्राह्मण तक जात-पाँत तोड़कर विवाह करते थे। दसवीं शताब्दीसे समाजका दृष्टिकोण बदलने लगा। स्मृतियोंने घोषणा करना आरम्भ कर दिया कि यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह एक समयमें प्रचलित था पर कलियुगमें उसके लिए आज्ञा नहीं होनी चाहिये।

बारहवीं शताब्दीमें विभिन्न जातियोंमें सांस्कृतिक भेद-भाव इतना बढ़ चुका था कि विवाह-संबंध सुखदायक नहीं हो सकता था। निरामिषभोजी ब्राह्मण लड़के और मांसाहारी क्षत्रिय लड़कीका विवाह कैसे साध्य हो सकता था? बारहवीं शताब्दीके आरम्भमें हम पाते हैं कि हिन्दू समाज से जातपाँत तोड़क विवाहका लोप हो गया।

ऐसी अवस्थामें भी समय-समयपर ऐसे विचारक तथा लोक-सेवक इस देशमें जन्म-ग्रहण करते रहे, जिन्होंने वर्णभेदकी हानियोंको देखकर उसे मिटानेका प्राणपणसे यत्न किया। बारहवीं शताब्दीमें कर्नाटक प्रान्तके इंगलेश्वर बागेवाड़ी नामक एक गाँवमें मादिराजा नामक एक ब्राह्मणके घरमें बसव नामक एक लड़केका जन्म हुआ। यही लड़का बड़ा होकर लिंगायक सम्प्रदायके आचार्य बसवेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसने जाति-भेदको मिटानेके लिए घोर आंदोलन किया। इसने मधुवय्या नामक एक ब्राह्मण कन्या और हरलय्या नामक एक नीच वर्णके युवकमें विवाह सम्बन्ध कराया जिसके कारण समाजमें बड़ी भारी खलबली मच गई और बसवेश्वरको अपने प्राणसे हाथ धोने पड़े।

सम्राट अशोकके समयमें ही जाति-भेदकी व्याधि कुछ कम हुई थी। इसका कारण यह है कि बुद्ध भीतरी ज्ञान द्वारा अपने दुःखोंसे छूटनेका यत्न करनेको कहता था। वह सुखकी प्राप्तिके लिए बाह्य सांसारिक अवस्थाओंका सुधार करने पर बल नहीं देता था। वह अवस्थाओंको वैसीकी वैसी रहने देकर शान्तिपूर्वक सहन करनेको कहता था। इसके विपरीत कई दूसरे सुधारक उपदेश करते थे कि व्यक्तिके दुःखको दूर करने

---

* दुःशीलोपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्यगां दुष्टां दुहेच्छीलवतीम् खरीम् ॥ पराशर स्मृति।

के लिए समाजकी बाह्य रचना या परिस्थितियोंका सुधार करना आवश्यक है। बुद्ध ने वर्णोंको मिटानेपर बल नहीं दिया, वरन् उनको जन्ममूलकके स्थानमें गुण-कर्म-स्वभाव मूलक ठहरानेका यत्न किया। हमारी रायमें यह बुद्धकी बड़ी भारी भूल थी। इसी कारण जाति-भेदका पूर्ण रूपसे उच्छेद न हुआ और बुद्ध धर्मका प्रभाव कुछ कम होते ही वर्णभेदकी विषबेलिका दबा हुआ अंकुर पुनः बड़े ज़ोरसे पल्लवित हो उठा। कारण यह कि गुण-कर्म-स्वभावकी वर्ण-व्यवस्था व्यवहारमें कभी आ ही नहीं सकती। उसका जन्ममूलक बन जाना अवश्यम्भावी है। आर्य समाज प्रभृति वर्तमान कालकी सुधारक संस्थाएँ भी इस विषयमें वही भूल कर रही हैं, जो बुद्धने की थी। जब तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदिकी बाँटको नहीं मिटाया जायेगा, जब तक वर्णभेदकी जड़ हीको नहीं उखाड़ा जायेगा', समाजको इस महाव्याधिसे मुक्ति नहीं मिलेगी। सन् १२०० और सन् १६०० ईसवीके बीच कई ऐसे सन्त-महात्मा हुए जिन्होंने जाति-भेदके विरुद्ध प्रचार किया। इनमें कबीर, दादू, रैदास, वामदेव और सिख गुरु और सैकड़ों दूसरे महात्मा थे। रामानुज ब्राह्मणने अछूतोंकी दशाको सुधारनेका यत्न किया। उसने उनको वर्षमें एक दिन मन्दिर प्रवेश का अधिकार दिलाया। हिन्दू धर्मके इतिहास में यह पहला काल था। अछूतोंमें बड़े-बड़े महात्मा उत्पन्न हुए और कट्टरताके केन्द्रोंमें रहते रहे, जैसे कि चिदाम्बरममें नन्द, अयोध्यामें रविदास और महाराष्ट्रमें चोखा मेला। शूद्रोंमें तो ऐसे सन्तोंकी कुछ कमी ही न थी। ये लोग सिद्धान्त रूपसे वर्णभेदको मानते थे। इन्होंने केवल आध्यात्मिक बातोंमें ही नीच जातियोंको ब्राह्मणी शासनसे मुक्त करनेका यत्न किया। हाँ, एक ऐसा भी आन्दोलन था जिसने जाति-भेदको आमूल नष्ट कर डालनेकी घोषणा की। परन्तु यह उद्योग सफल न हो सका। दूसरे वर्णोंके लोग इस सम्प्रदायके लोगोंका तिरस्कार और इनसे घृणा करने लगे। मानभाव नामसे इन लोगोंकी एक अलग जाति बन गई। इस सम्प्रदायका साहित्य मराठी भाषामें है।

ब्रिटिश शासन कालमें भी अनेक सुधारक ऐसे उत्पन्न हुए जिन्होंने जाति-भेद पर कुठाराघात किया। इनमें ब्रह्मसमाजके संस्थापक राजा राममोहनराय, आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द, देव समाजके गुरु सत्यानन्द, राधास्वामी सत्संगकेआचार्य साहबजी महाराज और महाराष्ट्रमें समता समाज के मुखिया ज्योतिवा फुले विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। इन लोगोंके मार्गमें एक बड़ी बाधा यह थी कि इन्होंने कई प्रकारके काम अपने हाथमें ले रखे थे, जिससे वे जाति-भेदके उन्मूलनपर अपनी पूरी शक्ति न लगा सकते थे। इसलिए नवम्बर, सन् १९२२ में लाहौरमें जातपाँत-तोड़क मण्डल नामसे एक संगठन तैयार किया गया, जिसका एकमात्र उद्देश्य जाति-भेदको मिटाना था। मण्डल के पहले प्रधान भाई परमानन्दजी और पहला मन्त्री इन पंक्तियोंका लेखक ही था।

इस बातका शीघ्र ही अनुभव होने लगा कि जात-पाँतको मिटानेके मार्गमें उस समय का हिन्दू विवाह अधिनियम सबसे बड़ी रुकावट थी, क्योंकि इस अधिनियमके अनुसार दो विभिन्न जातियोंके हिन्दुओंमें होनेवाले विवाह अवैध थे और ऐसे विवाहोंकी सन्तान अपनी पैतृक सम्पत्तिकी अधिकारिणी नहीं हो सकती थी। इसलिए जात-पाँतको तोड़कर होनेवाले विवाहोंको वैध ठहरानेके लिए सब से पहले सन् १९१८ में श्री बी० जे० पटेलने तत्कालीन विधान सभामें एक विधेयक उपस्थित किया था परन्तु

उसे कई कारणोंसे आगे आनेवाली संशोधित विधान सभाके लिए स्थगित कर देना पड़ा। इसके उपरान्त २७ सितम्बर १९३५ को डाक्टर भगवानदास ने उसी विधेयकको फिरसे पेश किया परन्तु तब भी वह पारित न हो सका। इसके बाद संसद् सदस्य श्री ठाकुरदास भार्गवके प्रयत्नसे आर्यसमाजियोंके लिए जात-पाँत तोड़क विवाहको वैध ठहराने वाला एक विधेयक पारित होकर अधिनियम बन गया। सन् १९४७ में देशके स्वतंत्र हो जानेके पश्चात् हिन्दू कोड बिलका जितना अंश पारित हो चुका है, उसके अनुसार सभी हिन्दुओंके लिए जात-पाँत तोड़क विवाह वैध हो गये हैं। अब ऐसे विवाहोंकी सन्तानके लिए अपनी पैतृक सम्पत्ति पानेमें कोई अड़चन नहीं रही। इसके अतिरिक्त हिन्दुओंकी विभिन्न जातियोंमें जो रहन-सहन, खान-पान, शिक्षा-दीक्षा तथा संस्कृतिका अन्तर था जिसके कारण उनके आपसी विवाह कठिन प्रतीत होते थे, अब शीघ्रतासे दूर होता जा रहा है। इसलिए देशमें जात-पाँत तोड़क विवाह बहुत बड़ी संख्या में होने लगे हैं। अब हिन्दुओंने अनुभव कर लिया है कि यदि जाति-भेदको मिटाया नहीं जायेगा, तो हमारा अपना अस्तित्व नष्ट हो जायेगा और देशकी स्वतंत्रता भी बहुत दिन तक स्थिर न रह सकेगी। इसलिये अब आशा होती है कि यह वर्ण व्यवस्था, जो हिन्दुओंके लिए मरण-व्यवस्था सिद्ध हुई है, थोड़े ही दिनमें पूर्ण रूपसे मिट जायेगी। भगवान करे कि वह दिन शीघ्र आये।

श्री भँवरमल सिंघी

धर्म और कानून

हमारे देशमें सदा ही धर्मका दबदबा बहुत रहा है । हर प्रश्नको, चाहे वह व्यक्तिगत हो, सामाजिक हो, राजनीतिक हो, शिक्षाका हो, धर्मके साथ जोड़ दिया गया है, यहाँ तक कि खान-पान और रहन-सहनको भी धर्मका प्रश्न बना दिया गया है । वैसे तो धर्मका आधार अध्यात्म को माना गया है, परन्तु वस्तुतः सारी सामाजिकता, संस्कृति और साहित्यकी जिन बातोंसे अध्यात्मके साथ दूरदराजका भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, उनको धर्मका चोला पहना दिया गया है । इसलिये साहित्य, कला, नृत्य-संगीत, शासन-संचालन और विवाहादि सामाजिक सवालोंमें धर्मादेश ही सब कुछ हो गए । समूचा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन धर्मके विधि-निषेधोंमें बँध गया । और उसका परिणाम यह हुआ कि जिनके हाथमें धर्मकी चोटी थी, उन्हींके हाथमें सामाजिक और राष्ट्रीय कार्योंकी चोटी भी आ गयी । सारी समाज-व्यवस्थाके संहिताकार और सूत्र-संचालक वे धर्मादेशक ही बन गए । चूंकि धर्मका एकाधिकार लगभग ब्राह्मण वर्गके हाथोंमें सीमाबद्ध था, इसलिए सारी प्रभुताका केन्द्र ब्राह्मण बन गया और इस धर्मोपजीवि ब्राह्मण सम्प्रदायने अपनी स्थितिको बिल्कुल सुरक्षित बनाकर रखनेके उद्देश्यसे धर्मको ईश्वर-प्रणीत और धर्मादेशोंको ईश्वरीय विधान बताकर मानो जन-साधारणसे इनके बारेमें किसी प्रकारकी शंका करने या इनपर अंगुली उठानेका भी अधिकार छीन लिया । ब्राह्मण वर्गमें भी जिन लोगोंने संन्यास लेकर साधुत्वका वेश पहन लिया, वे तो मानो हर प्रकारसे अखण्ड सत्ताके स्वामी बन गए और समाजका मामूली व्यक्ति ही क्या, राजा तक उनका मुखापेक्षी हो गया । इस एकछत्र सत्ता-भोगकी स्थितिने निहित स्वार्थोंकी सृष्टि करदी, जो स्वाभाविक ही थी । ये निहित स्वार्थ शासक वर्ग और साधु-संन्यासी वर्गके बीच पारस्परिक हित-लाभके लिए गठबन्धन के परिणाम थे । यह गठबंधन हजारों वर्षों तक रहा और आज भी है । इनके हाथमें इतनी सत्ता आ गई थी कि बड़े से बड़े तूफान भी इस गठ-बंधनको तोड़ न सके । अंग्रेज़ोंके शासन-कालमें यूरोपमें हुई औद्योगिक क्रांति और फ्रांसकी राज्य-क्रांतिके फलस्वरूप यहाँ भी नई हवाका झोंका आया तो सही, पर धर्मादेशों की कठोर चट्टानोंको उन झोंकोंसे क्या होता ? वे तो अडिग थीं । सन् १८५७ की क्रांतिने धार्मिक निहित स्वार्थोंको और मजबूत बना दिया और अंग्रेज़ोंने उनको प्रसन्न करनेके लिए यह ऐलान कर दिया कि इस देशके धार्मिक मामलोंमें वे जरा भी हस्तक्षेप नहीं करेंगे और इस प्रकार सन् १८५७ की क्रांतिकी विफलताने जहाँ एक ओर राजनीतिक

आकांक्षाओंको धक्का पहुँचाया, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक सुधारके क़ानूनी रास्तेको बन्द कर दिया। अंग्रेजी शासकोंने राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिकी कीमतपर राज्य-भक्तिका सौदा कर लिया। उसके बाद कई वर्षों तक सामाजिक जड़ताके खिलाफ मानों कहीं कोई आवाज़ ही नहीं पनप पाई, परन्तु जो आग एक बार जल चुकी थी, वह बिल्कुल बुझ तो नहीं सकती थी। शासन और धर्मका गठबन्धन किस प्रकार जनजीवन के साथ खिलवाड़ कर रहा था, उसपर शोषण और अत्याचार कर रहा था, यह बात उभरती चली गई। तब सामाजिक सुधारोंका अभियान फिर वेग लेकर उठा। धर्म ने, धर्म-गुरुओंने ईश्वरका नाम लेकर शासन द्वारा दिये गये धर्ममें अन-हस्तक्षेप के वादेकी दुहाई देकर इस अभियानको थामनेकी, विफल करनेकी कोशिश की। देशके प्रगतिशील एवं प्रतिगामी तत्वोंमें जोरोंका संघर्ष हुआ। समाज-सुधारके मामलों में राष्ट्रीय स्वाधीनताका आन्दोलन करनेवाले और सामाजिक प्रगति और परिवर्तन के हिमायती एक तरफ हो गये और शासक एवं प्रतिक्रियावादी धर्मगुरु और धर्मोपजीवि दूसरी तरफ हो गए। यह विभाजन स्पष्ट था।

सन् १९४७ में राजनीतिक चित्र परिवर्तित हुआ और शासनमें उन लोगोंका बहुमत हो गया, जो सामाजिक मामलोंमें भी प्रगतिशील दृष्टि रखते थे—कमसे कम सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मामलों में धर्मका हस्तक्षेप और धर्मके दृष्टिकोणको कतई पसन्द नहीं करते थे। राजनीतिक उथल-पुथलसे उत्पन्न हुई स्थितिके शान्त होनेपर नए शासक दलने वर्षोंसे रुके हुए समाज-सुधार सम्बन्धी क़ानून का दरवाज़ा फिरसे खोला। बहुत सारे सवालोंको तो संविधान बनाते समय ही सुलझा लिया और यह निश्चय करके कि धर्म-निरपेक्ष राज्यका उद्देश्य रखकर शासन किया जायगा, मानों धर्मकी रीढ़ ही तोड़ दी। इस चोटसे सारा तथाकथित धर्म-वर्ग तिलमिला उठा और अपने धर्मका महानाश, धर्मपर महान खतरा आदिके नारोंसे आकाशको गुंजा दिया। पर नये विधान बनानेवालोंके भारी बहुमतने इस हो-हल्लेकी परवाह न की और फिर शीघ्र ही हिन्दू कोड बिलको पास किया। हिन्दू कोडको प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरूने नयी सरकारका महान् क़दम बताकर धर्मके घायल शेरोंको पुनः चिढ़ा दिया और उस बिलके विरोधमें, धर्म-रक्षाके नामपर बहुत कुछ संगठित विरोध हुआ। इस विरोध ने राष्ट्रपतिका आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। एक बार तो ऐसा लगा कि सुधारोंकी हार हो गई, पर फिर शीघ्र ही नेहरूजी की धमकने हिन्दूकोडको चुटकियोंमें पास करा दिया। एक क़ानून न होकर उसके अलग-अलग विभाग बनाकर पास किये गये। हमारी समझमें हिन्दू कोडका पास होना सामाजिक क्षेत्रमें क़ानूनका सबसे बड़ा क़दम है और धर्ममें क़ानूनका हस्तक्षेप न हो, इस आन्दोलन पर सबसे बड़ी विजय है। आज किसे विदित नहीं है कि अगर धर्ममें हस्तक्षेप न करनेके नामपर किसी प्रश्नको छोड़ दिया जाय, तो फिर भारतमें कोई सुधार और परिवर्तन संभव ही नहीं है।

संविधान बन गया, हिन्दू कोड बनाकर सामाजिक सुधारोंका अंगीकार भी हो गया पर धर्म और धार्मिकोंके षड्यंत्र और उसके नामपर निहित स्वार्थवालोंकी पैंतरेबाजी का अभी सर्वथा नाश कहाँ हुआ है? देशमें ८० लाख साधु-संन्यासी बैठे हैं, जो सिर्फ बिना कुछ काम किए अध्यात्मकी हवाई बारहखड़ी दोहराते हुए मुफ्त की रोटी खाते हैं और

आलस्य एवं काहिलीका जीवन व्यतीत करते हैं। ये ८० लाख साधु प्रगतिके विरुद्ध पुराने धर्मादेशोंके संरक्षणके लिए वह सेना है, जिसको पूंजीपति वर्ग मन्दिरोंमें, आश्रमोंमें बिठाकर, खिला-पिलाकर तैयार रखता है। इनका काम हर मौकेपर नए विचारों, नये परिवर्तनोंका विरोध कर ईश्वर, धर्म और शास्त्रोंकी रक्षा करना है। और, अप्रत्यक्ष रूपसे, अपने अन्नदाता सेट-साहूकारों और जमींदार-जागीरदारों की सेवा करना है। इनसे जब तक मुक्ति नहीं मिलेगी, इनकी संस्था को जब तक नेस्तनाबूद नहीं कर दिया जायगा, तब तक जन-जीवन अज्ञान, अन्धविश्वास और शोषण-उत्पीड़न से बाहर नहीं निकल सकेगा। पिछले दिनों श्री नेहरूने इन ८० लाख बेकार ढोंगियों को भारतकी छाती पर एक बोझ बताया था। प्रधान मंत्रीके इन विचारोंसे उनकी जमातके कान खड़े हो गए और उनमेंसे कुछ लोगोंने पंचवर्षीय योजनाओंके शिविरमें घुसकर पाँचवे दस्तेका काम करना शुरू कर दिया। यह निश्चित है कि ये लोग नव-निर्माणका नाम लेकर नव-निर्माणकी बुनियादों के शत्रु सिद्ध होंगे। ऐसी स्थितिमें यह स्वाभाविक है कि उत्तरोत्तर यह आवाज बढ़े कि इन लाखों साधु-संन्यासियोंपर, उनके मठों-आश्रमों और उपायोंपर क़ानूनी नियन्त्रण रहे, मन्दिरों आदि की धर्मादा सम्पत्तियोंपर भी नियंत्रण रहे, और चाहे जैसे साधु मूंड लेनेकी वृत्ति-प्रवृत्तिपर रोक-थाम हो। कुछ दिन पहले बम्बईकी विधान-सभामें और बादमें लोक-सभामें बाल-दीक्षा प्रतिरोधक बिल उपस्थित किया गया था, जिसको लेकर साधु-संस्था और उसके पृष्ठपोषकोंमें बहुत हो-हल्ला मचा था। बिलके विरोधमें कतिपय पूंजीपतियों और दलालोंके रुपए ही नहीं उछाले गए वरन् लाठियाँ भी उठाई गई थीं। वे बिल अभी विचाराधीन ही हैं कि संसद्‌में दिल्लीके सदस्य श्री राधारमणने साधु-संन्यासियोंके पंजीकरण एवं अनुमति-प्रदान विधेयक (दी साधूज एण्ड सन्यासीज रजिस्ट्रेशन एण्ड लाइसेंसिग बिल) प्रस्तुत किया है जिससे बेचारे धर्मध्वजियोंकी फिर नीन्द हराम हो गई। जैसा कि विधेयकके नामसे ही प्रकट है, इसके द्वारा साधु-संस्थाका विच्छेद और विघटन नहीं हो सकेगा परन्तु चोरकी दाढ़ीमें तिनकेवाली बात है। वे लोग जानते हैं कि आज पंजीकरण और अनुमति-प्रदान होगा और कल उच्छेदकी माँग आजाएगी। वे सरकारके क़ानूनमें पड़ना ही नहीं चाहते। अगर वैसा हो तो फिर उनके काले कारनामें बहुत दिन तक छिपे नहीं रह सकते। उनका यह डर ठीक भी है, परन्तु बकरेकी माँ कब तक खैर मनायेगी? भारतके जन-जीवनको भयंकर अज्ञान और पीड़नमें रखकर साधु-संन्यासियोंने उनकी प्रगतिके मार्गको अवरुद्ध रखा है और जिस तरहसे शोषक वर्गके हाथोंको मजबूत किया है, उसे देखते वे अधिक दिन तक खैर नहीं मना सकते। इन लोगोंने भारतीय संविधान के धर्म-निरपेक्षताके आदर्शकी दुहाई देकर चिल्ल-पों मचाई है कि सरकार इस प्रकार धर्म-संस्था में बाधक क्यों होती है? ऐसा करके वह अपने स्वीकृत आदर्श और विधान का उल्लंघन करती है। पर यह तर्क उन्होंने कब नहीं किया? हर सामाजिक सुधारके विरुद्ध उन्होंने धर्मका शस्त्र ही सबसे आसान और कारगर पाया। जब तक हम इस शस्त्रको रहने देंगे, वे इसका दुरुपयोग, विफल ही सही, करते रहेंगे। जिस क़ानूनसे हम ऐसा कर सकेंगे, वह सौ कानूनों का एक क़ानून होगा और जिस दिन वैसा हो जायगा, उस दिन देशकी भूमिपर नया आलोक और नया जीवन विकीर्ण होगा।

परदे का अभिशाप

हमारे घर और समाजमें सबसे अधिक दूषित, घृणित, पापमूलक और अन्यायमूलक यदि कोई प्रथा है, तो वह परदे, घूँघट अथवा बुरकेकी है। उसका प्रारम्भ कितना भी पुराना क्यों न हो और चाहे किसी भी कारणसे क्यों न हुआ हो, आज उसका बना रहना कुछ भी अर्थ नहीं रखता है और किसी भी तर्क अथवा युक्तिसे उसका समर्थन नहीं किया जा सकता है। वह सर्वथा अस्वाभाविक और ऐसी कृत्रिम स्थितिका सूचक है कि उसको और अधिक सहन करना संभव ही नहीं है। उसके समर्थनमें जो कुछ भी कहा जाता है, उस सबका प्रतिवाद उससे पैदा हुए दुष्परिणामोंसे स्वतः हो जाता है। जो भी कोई सदुद्देश्य उसके संबंधमें बताए जा सकते हैं, उन सबको उसने स्वतः पराजित कर दिया है। इस दृष्टिसे अधिक विनाशकारी दूसरी कोई कुप्रथा नहीं हो सकती। तर्क, युक्ति, विवेक और बुद्धिकी कसौटीपर वह एक क्षण भी ठहर नहीं सकती, फिर भी आश्चर्य यह है कि जिन समाजों अथवा प्रदेशोंमें वह प्रचलित है, उसमें वह जनताके घरेलू एवं सामाजिक जीवनका अनिवार्य अंग बन गया है और उसको धर्म, कुलमर्यादा, मान-प्रतिष्ठा तथा शील व सदाचारका अनिवार्य अंग माना जाने लग गया है, जात-पाँत, छूत-छात तथा ऐसी ही अन्य सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्पराओंकी तरह उससे भी चिपटे रहनेका दुराग्रह किया जाता है। धार्मिक भावना तथा सामाजिक शासनने अन्य अनेक कुप्रथाओंकी तरह उसका भी निरंतर समर्थन एवं पोषण किया है। अनेक कुप्रथाओंको धार्मिक पक्षपात एवं सामाजिक पाप अथवा अन्याय मानकर उनका अंत शासकीय क़ानूनोंसे किया जा रहा है; किन्तु इसके विरुद्ध शासकीय क़ानून भी बनाया नहीं जा सकता। यह व्यक्तिगत जीवन के साथ कुछ ऐसा घुलमिल गया है कि उसको किसी क़ानूनसे दूर करना अशक्य हो गया है। केवल व्यक्तिगत जागृति, सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय प्रगति ही उसको दूर कर सकते हैं, परन्तु हमारे देशमें उस सबकी गति बहुत ही मन्द है और इस कुप्रथाके दूर होनेमें अनावश्यक रूपसे बहुत समय लग रहा है। जो जागृति, चेतना अथवा प्रगति हुई या हो रही है, उससे कुछ लाभ अवश्य मिला है; किन्तु इसकी जड़ें इतनी गहरी जमी हुई हैं कि उनको हिलाना अत्यन्त दुसाध्य हो रहा है।

परदे का प्रारम्भ

किसी भी बीमारीका उपचार करनेसे पहले उसके मूल कारणकी खोज कर लेनी आवश्यक है। ठीक-ठीक निदानके बिना ठीक-ठीक उपचार नहीं हो सकता। परदा

प्रथाके विरुद्ध सामाजिक चेतनाको जाग्रत करनेके लिए उसके प्रारंभकी कुछ छानबीन अवश्य की जानी चाहिए और उसके सम्बन्धमें वर्तमान भ्रांत धारणाओंका निराकरण भी किया ही जाना चाहिए । ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे इस विषयकी छानबीन नहीं की जा सकती और यह नहीं कहा जा सकता कि किस काल-विशेषमें किन विशेष कारणोंसे इसका प्रारम्भ हुआ । सच तो यह है कि ऐसी किसी भी सामाजिक कुप्रथा और धार्मिक अंध-पक्षपातके सम्बन्धमें काल एवं कारणकी दृष्टिसे ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया जा सकता परन्तु यदि कोई प्रथा कुप्रथाका रूप धारण कर लेती है, तो सिवा एक रूढ़िके किसी अन्य आधारपर उसका समर्थन नहीं किया जा सकता । तर्क, युक्ति अथवा विवेककी कसौटीपर वह पूरी नहीं उतर सकती और उसके दुष्परिणाम कठोर तथ्य बन कर आँखोंके सामने नाचने लगते हैं । तब वह केवल इसलिए कायम नहीं रहनी चाहिए कि वह कोई पुरानी प्रथा है अथवा उसको किन्हीं कारणों अथवा सदुद्देश्योंसे प्रारम्भ किया गया था । फिर यह भी भुलाया नहीं जा सकता कि अधिक कुप्रथाओंका प्रारम्भ मनुष्यकी गर्हित अथवा निन्दनीय कुप्रवृत्तियों, कुत्सित वासनाओं तथा संकीर्ण साम्प्रदायिकताके गर्भमें से हुआ है । परदा प्रथा भी उनमेंसे ही एक है । स्त्रीके प्रति मनुष्यकी भावनाने जब वासनाका रूप धारण किया और जब वह कुत्सित बन गई तब उसके प्रति अनेक पापमूलक एवं अन्यायमूलक परम्पराओंका सूत्रपात हो गया । संसारका कोई भी धर्म, सम्प्रदाय, समाज, देश अथवा राष्ट्र उनसे बचा नहीं रह सका । इसीलिए स्त्रीके प्रति मनुष्यके पाप तथा अन्यायका प्रादुर्भाव भी सबमें समान रूपसे हुआ है । कोई भी धर्माचार्य अथवा धर्म-ग्रंथ ऐसे नहीं हैं जिन्होंने स्त्रीके प्रति पुरुषकी इस हीन भावनाका प्रतिपादन न किया हो और कोई भी देश अथवा समाज ऐसा नहीं है, जिसमें उसके प्रति दीन भावनाके कारणही स्त्रीपर पुरुषका साम्राज्य कायम करके उसको पराधीन बनाया गया हो । स्त्रीको अबला एवं पराधीन बताकर उसकी स्वतंत्रताका अपहरण सभी धर्मों, समाजों तथा देशोंमें समान रूपसे सभी कालोंमें किया गया है ।

परदा, बाल-विवाह, सती, जात-पाँत, छूतछात और स्त्री-शिक्षाके अभाव आदि सब कुरीतियोंके प्रारम्भ होनेका दोष एकाएक मुसलमानों अथवा मुस्लिम-कालपर मढ़ दिया जाता है । इन सबको मुस्लिम-भय और मुस्लिम सभ्यताका दुष्परिणाम कहा जाता है । यह सर्वांशमें सत्य नहीं है । सच तो यह है कि इसलाम जिस अरब देशकी देन है, वहाँकी देन ये सब रीति-रिवाज़ नहीं हैं । हजरत मुहम्मद साहबके समयमें स्त्रियाँ पुरुषों के साथ मस्जिदोंमें अलग पंक्तिमें खड़ी होकर नमाज पढ़ा करती थीं, उनके साथ युद्धोंमें सम्मिलित होती थीं और खलीफाओंके साथ गम्भीरसे गम्भीर विषयोंपर चर्चा-वार्ता किया करती थीं । क़ुरानशरीफ़की अनेक आयतोंका संग्रह स्त्रियोंके पाससे किया गया है । क़ुरान-शरीफमें स्त्री और पुरुष दोनोंके लिए एक-सी व्यवस्था की गई है और किसी भी प्रकारके भेद-भावसे काम नहीं लिया गया है । दोनोंको एक-दूसरेके प्रति नीची निगाह रखने के लिए कहा गया है । इसके विपरीत हिन्दुओंके रामायण तथा महाभारत सरीखे प्राचीन ग्रंथोंमें परदा सरीखी कुप्रथाका उल्लेख मिलता है । रामायणमें सीता और मन्दोदरी दोनोंके लिए "असूर्यम्पश्या" सरीखे शब्दोंका प्रयोग करते हुए उनके राजप्रासादों में बन्द रहनेका वर्णन मिलता है । अन्य अनेक संस्कृत ग्रंथोंमें भी स्त्रीके लिए अवगुंठनवती

आदि शब्द प्रयोग किये गए हैं। सच तो यह है कि परदेका प्रारम्भ हुआ है मनुष्यकी उस बुद्धिसे, जिसने स्त्रीके प्रति अन्याय, स्वार्थ और उसपर शासन करनेकी भावनाको जन्म दिया। इसी कारण उसको घरकी चहारदीवारीमें बन्द किया गया। घरोंके दरवाजों पर परदे लगाये गये और उसके लिए खुली हवा और प्रकाश तकको दुर्लभ बना दिया गया। इस पराधीनताके नएसे नए बंधनोंका निरन्तर आविष्कार किया जाता रहा। स्त्रीके प्रति पुरुषके समस्त दुर्व्यवहार और विवाह-संबंधी सारी कुरीतियाँ इन आविष्कारोंका ही दुष्परिणाम हैं। पुरुषकी स्त्रीके प्रति सन्देहपूर्ण भ्रांत धारणासे उसको और अधिक समर्थन मिला। यह धारणा इतनी कुत्सित एवं दूषित बन गई कि उसने निरंकुशताका वीभत्स रूप धारण कर लिया। यह सब किसी आपत्कालका भी परिणाम नहीं है; अपितु सदियोंकी परम्परागत और क्रमागत सामाजिक दुर्व्यवस्थाका स्वाभाविक परिणाम हैं। स्त्रियोंके उदार, सरल तथा पुरुषोंके प्रति सर्वतोभावेन आत्मार्पण करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिसे भी उसने अनुचित लाभ उठाया है। उनकी श्रद्धा, भक्ति एवं मर्यादामें रहनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, धर्ममें अंध भावना तथा ऐसे ही उनके अन्य सद्गुणोंका दुरुपयोग किया गया है। स्थिति यह पैदा कर दी गई है कि वह घरकी चहारदीवारीमें बन्द रहनेवाली अविश्वसनीय गृहिणी, सदा पराधीनताका दुःख भोगनेवाली दासी, घर परिवार तथा समाजसे त्यागी हुई असहाय विधवा अपने पेटके लिए अपने सर्वस्व सतीत्व तकको बेच देनेवाली समाजसे तिरस्कृत एवं निराश्रित वेश्या, धर्माचार्योंकी पोपलीला एवं पापलीलाका शिकार बनी हुई धर्ममंदिरोंमें नाच-गान करनेवाली देवदासी और दुर्व्यसनी तथा विलासी शासकों एवं सम्पन्न लोगोंके भोग-विलास व आमोद-प्रमोदका साधन बन राज-प्रासादों, महलों तथा अट्टालिकाओंमें राग-रंग करनेको बाध्य की गई वारांगना ही रह गई। उसका वीरांगनाका रूप सर्वथा विनष्ट कर दिया गया। उसकी आत्मिक मानसिक एवं शारीरिक दुर्बलताओंका अतिरंजित चित्र खींचकर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं अस्तित्व तककी अवहेलना कर दी गई! आदर्श वैदिक कालमें की गई सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त करके यह विधान बना दिया गया कि "स्त्रियोंका वैदिक कर्मकांड केवल विवाह है, पति-सेवा ही गुरुकुल वास है और घरका चूल्हा चौका ही अग्निहोत्र है।" ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक कालमें स्त्रियोंके प्रति पैदा हुई दीनता, हीनता एवं पराधीनताकी कुत्सित भावनाके गर्भमें से परदा सरीखी कुरीतियोंका जन्म हुआ है। ये सब कुरीतियाँ ब्राह्मण धर्मकी अधम देन हैं जिनका प्रारम्भ पौराणिक कालमें ही हुआ है। यदि वास्तव में ही ये कुरीतियाँ मुस्लिम सभ्यता अथवा आतंकका परिणाम हैं, तो उनके कम हो जानेके साथ-साथ इनका भी अंत हो जाना चाहिए। परन्तु वैसा हुआ नहीं और न हो रहा है। स्त्री और पुरुष दोनोंके ही स्वभावका परदा सरीखी कुरीतियाँ अंग बन गई हैं। उनको धर्म एवं समाज दोनोंके लिए अनिवार्य माना जा रहा है। पुरुषने अपनी शूरता, वीरता, साहस एवं पुरुषार्थ आदि सब सद्गुणोंको तिलांजलि देकर स्त्रीके शील, मान-मर्यादा एवं प्रतिष्ठा के लिए जिस दिन कपड़े के दो अंगुल परदेपर भरोसा करना शुरू किया वह इसकी कायरताकी घोषणा का दिन था, जिसके लिए उसको आज तो कुछ लज्जा अवश्य अनुभव होनी चाहिये। परन्तु यह निर्लज्जता इस पराकाष्ठापर पहुँच गई कि अनेक हिन्दू नेता इसी आधारपर परदेका समर्थन करते सुने गए।

उपहासास्पद स्थिति

यह भी अत्यन्त विस्मयजनक स्थिति है कि विवाहसे पहले उसकी रक्षाके लिए परदेकी आवश्यकता अनुभव नहीं की गई और विवाहके बाद भी मायकेमें परदा न करके केवल ससुरालमें ही परदा आवश्यक समझा गया। मानो ससुरालमें जाकर अथवा पतिको पाकर वह सर्वथा असुरक्षित हो जाती है। यह भी कुछ कम उपहासास्पद नहीं है कि अकेलेमें पतिसे अथवा भाई आदिसे परदा नहीं किया जाता; किन्तु जहाँ दोनों एक साथ उपस्थित हुए वहाँ सहसा ही परदा कर लिया जाता है। इसका अर्थ क्या है? पति और भाई दोनोंमेंसे किससे सुरक्षित रहनेके लिए वह परदा किया जाता है? इसी प्रकार आदिसे अंत तक परदा अत्यन्त उपहासास्पद स्थितिका ही सूचक है। माता-पिता समान सास ससुरसे परदा करना सिवाय ढोंग या आडम्बरके और क्या है? स्त्रियों से स्त्रियोंका परदा मूर्खताकी पराकाष्ठा है। उसको बड़ोंके प्रति सम्मान प्रदर्शन अथवा उनकी प्रतिष्ठाकी रक्षाका प्रतीक मानना भोलापन नहीं, तो और क्या है?

स्त्रियोंके सौन्दर्यकी रक्षाके साथ परदेका सम्बन्ध जोड़ना और भी अधिक बड़ी विवेकहीनता है। स्त्री स्वभावतः सौन्दर्यप्रिय है। इसलिए उसके साज-शृंगार के साथ परदेका सम्बन्ध जोड़कर उसको गहने-कपड़ेके साज-शृंगारमें कुछ ऐसा उलझाया गया है कि उसने अपनी इस गुलामी तकको अनुभव करना छोड़ दिया है और वह उसीमें सुख व संतोष व सौन्दर्य मानने लग गई है। दास जब दासताका अनुभव करना छोड़ देता है, तब उसकी दासता पराधीनताकी चरम सीमा हो जाती है। स्त्रियोंकी पराधीनता भी इस चरमसीमापर पहुँच गई है। उसने यह अनुभव करना छोड़ दिया कि उसने अपने स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्वको किस ओछी क़ीमतपर खो डाला है। कुछ गहने कपड़े और आडम्बरके लिए अपनेपनको सर्वथा भुला बैठना उसके लिए कितना महँगा सिद्ध हुआ है। सोने-चाँदीकी हथकड़ी-बेड़ीको उसने आभूषण मानकर उनसे अपना साज-शृंगार करना प्रारंभ कर दिया। इस पराधीनताके समस्त बन्धनोंको काटनेके लिए परदेके साथ-साथ साज-शृंगारकी भावना, वेश-भूषाके आडम्बर और गहने व कपड़ेके लोभ-लालचको भी सम्पूर्ण रूपसे तिलांजलि देनी आवश्यक है। दासता अथवा पराधीनताका आंशिक रूपमें परित्याग नहीं किया जा सकता। चीनमें भी स्त्रीको भारतीय महिलाके समान पराधीनताके बन्धनोंमें जकड़ दिया गया था और उसके पैरोंमें बचपनमें ही लोहेकी जूतियाँ पहनाकर उसको पंगु बना दिया जाता था। पंगु बना देनेवाले उसके ये छोटे पैर-सौन्दर्यके चिन्ह माने जाते थे। नए चीनकी नव-जाग्रत महिलाने इन लोहेकी जूतियोंके साथ-साथ साज-शृंगारकी सारी सामग्रीको भी तिलांजलि दे डाली है। अन्य देशोंकी स्वतंत्रताप्रिय महिलाओंने भी ऐसा ही किया। हमारे देशकी महिलाओंको भी ऐसा ही करना होगा। सम्भवतः वह संसारमें सबसे अधिक आभूषण-प्रिय हैं। इसी कारण उसमें परदेकी कठोरता भी सबसे अधिक पाई जाती है।

परदेकी बेहूदगी

परदेकी बेहूदगी तथा अनौचित्यको दिखानेके लिए बहुत कुछ लिखा जा सकता है; परन्तु यहाँ उसके विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। अपने घरवालोंसे परदा करनेवाली महिलाएँ बाज़ारू लोगोंसे प्रायः परदा नहीं करतीं। फेरी-

वाले, खोमचेवाले, चूड़ीवाले तथा ऐसे ही अन्य लोगोंसे परदा नहीं किया जाता । अवध के रईसों, राजस्थानके वैश्यों तथा राजपूतों, बिहारके सम्भ्रांत घरों, बंगालके कुलीन कायस्थों तथा गुजरातके बड़े परिवारोंमें इस प्रथाका अधिक जोर है । उसके विपरीत दक्षिणमें उसका कहीं नाम भी नहीं है । परदेके कारण जिन सद्गुणोंकी रक्षा हुई बताई जाती है, क्या दक्षिणमें उन सबका अभाव है ? फिर, जिन ग़रीब एवं साधारण स्थितिके लोगोंमें परदा नहीं है और जिनमें जीवनके हर काम-काजमें स्त्रियाँ पुरुषोंका हाथ बँटाती हैं क्या उनमें भी ये सद्‌गुण नहीं पाए जाते ? पेट नंगा कर, दो अँगुलियोंके बीच आँखें निकालकर जो देवियाँ खुले बाज़ार गीत गाती निकलती हैं और विवाहके अवसरपर बारातियोंपर गालियोंकी वर्षा करती नहीं लजाती उनका परदा सिवाय बेहूदगीके और क्या है ? पंजाबमें स्वापेके समय स्त्रियाँ अपनी सारी लाजको उठाकर खूंटीपर रख देती हैं । ऐसे कितनेही उदाहरण परदेकी बेहूदगीके दिए जा सकते हैं ।

परदेका पाप

परदेके कारण समाजमें जिस पापकी सृष्टि हुई है, उसको प्रकट करना अत्यन्त आवश्यक है । केवल कल्पना या अनुमान से काम न लेकर हम यहाँ कुछ अनुभवी लोगों के अनुभव देना चाहते हैं । सामाजिक दृष्टिसे सम्भवतः मारवाड़ी, राजपूत, कायस्थ तथा मुसलमान सबसे अधिक परदेके शिकार हैं और क्षेत्रीय दृष्टिसे सम्भवतः बिहारमें सबसे अधिक कठोर परदा पाया जाता है । पंजाबकी एक पुरानी सामाजिक कार्यकर्त्ता श्रीमती पार्वतीदेवी महात्मागांधीकी प्रेरणापर परदा प्रथाके विरुद्ध कार्य करनेके लिए बिहार गई थीं । स्वर्गीय श्री मगनलाल भाईको भी गांधीजीने इसी कार्यके लिए बिहार भेजा था, जहाँ कि उनका, यही कार्य करते हुए, स्वर्गवास हो गया था । श्रीमती पार्वती देवीने प्राप्त किए गए अनुभवका वर्णन अत्यन्त कठोर भाषामें किया है; परन्तु परदे सरीखी जघन्य कुप्रथासे पैदा हुए अनर्थोंके लिए नरम भाषा कहाँसे लाई जाय ? वे लिखती हैं कि "स्त्रियोंमें भी जीवन है, मनुष्यत्व है, उन्हें भी सूरजकी रोशनी और प्रकृतिकी खुली हवा पानेका अधिकार है,—अभी तक बीसवीं सदीमें ये बातें भी जिनको समझानी पड़ती हैं, उनकी मूढ़ता और जहालतका भी कोई ठिकाना है ? बीस वर्षके अपने सार्वजनिक जीवनके अनुभवसे मैं इस परिणामपर पहुँची हूँ कि परदा जितना व्यभिचारका कारण और आड़ है, उतना कोई और चीज नहीं । परदेके पक्षपाती कभी अपने विचारोंकी स्पष्ट परीक्षा नहीं करते, क्योंकि उनकी बातोंमें कोई सम्बद्धता नहीं है । वे अपने दिलसे पूछें कि वे स्त्रियों को क्या समझते हैं ? जीवनके किसी क्षेत्रमें वे स्त्रियोंको आने नहीं देना चाहते । गृहस्थीकी चिन्ता ही उनके विचारमें स्त्रियोंका एकमात्र कार्य है । लेकिन यह भी कहाँ ? गृहस्थीकी चिन्ता भी वे उनको स्वतन्त्र प्राणी और मनुष्यकी तरह नहीं करने देना चाहते । वे उन्हें खुली हवा और रोशनी तकसे वंचित कर दासियोंकी तरह बन्द रखकर उनसे काम लेना चाहते हैं ! लेकिन दास या कैदी निश्चित दायरेंमें बन्द रहते हुए भी उसमें तो स्वतंत्र रहते हैं और अपने नियत कार्य या मेहनत-मजूरीमें लगे रहते हैं । वे धनी मनुष्य की अर्थ-तृष्णाके मूक और अभागे साधन हैं । हमारे 'अमीर' और 'कुलीन' समाजमें ही अधिक परदा है । इन 'कुलीन' और 'अमीर' घरोंकी परदानशीन स्त्रियोंको मेहनत

का कोई काम भी तो नहीं करना होता। फिर उनके समूचे जीवनका प्रयोजन क्या है? क्या उनका एकमात्र कार्य और प्रयोजन, उनके जीवनका सर्वस्व, पुरुषोंकी काम-वासना की तृप्ति करना ही नहीं है? वे पुरुषकी काम तृष्णाको पूरा करनेकी वैसी ही साधन मात्र हैं, जैसे कि दास स्वामीकी अर्थ तृष्णाको पूरा करनेके साधन हैं। विवाहका इस समयका संस्कार इस साधन और सामग्रीको प्राप्त करनेका क़ानूनी उपाय है। परदा-पक्षपातियोंकी विवाह और दाम्पत्य सम्बन्धी कल्पना जड़से ही एकमात्र व्यभिचारकी कल्पना है, स्त्री उनकी दृष्टिमें केवल भोग-विलासकी सामग्री है और उनका दाम्पत्य जीवनका आदर्श केवल क़ानून और समाजसे स्वीकृत व्यभिचार है! इस मूक प्राणीको उसकी इच्छा पूछे बिना एक दूसरे प्राणीके आधीन कर दिया जाय और वह उसे लगातार बन्द रखकर उससे केवल अपनी विषय-वासना की तृप्ति करे मैं इसे व्यभिचारके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकती। भले ही उस व्यभिचारपर समाज, स्त्री-धर्म और क़ानूनकी मुहर लगी हो।"

श्रीमती पार्वतीदेवीके इस अनुभवपूर्ण कथनके अनुसार परदा पापका मूल ही नहीं उसको पोषण एवं संरक्षण देनेवाला एक आवरण भी है। इन दिनोंमें उससे अधिकतर पापको ढकनेका ही काम लिया जाता है। अपने स्वेच्छाचार, अनाचार एवं निरंकुशताको वह उसमें छिपाए रखना चाहता है।

अवधकी सामाजिक स्थितिका चित्र चित्रण करते हुए एक अनुभवी सज्जन लिखते हैं कि "'समाज-सुधारमें अवध सब प्रान्तोंमें पिछड़ा हुआ है और उसके सामाजिक जीवन का नैतिक धरातल बहुत गिरा हुआ है। बम्बई और कलकत्ताके बाद लखनऊमें वेश्याओं की संख्या भारतके सब नगरोंसे अधिक है। इसका कारण स्पष्ट है। पुरुषका सबसे बड़ा अन्याय स्त्रीको कठोर परदेमें कैद रखना है। व्यवहारमें कुशल न रहनेसे वे अपने पतियोंको संतुष्ट नहीं कर सकतीं। अपनी स्त्रीके प्रति उसका असंतुष्ट हृदय इधर-उधर भटकने लगता है और बाजारू स्त्रियोंमें वह फँस जाता है। सामाजिक और नैतिक पतनका यहींसे श्रीगणेश होता है।" पिछले ही दिनोंमें समाचार-पत्रोंमें लखनऊ नगरके सम्बन्धमें कुछ संख्याएँ प्रकाशित हुई थीं, जो उसकी नैतिक स्थितिका नंगा चित्र उपस्थित करनेवाली थीं। वहाँकी अदालतोंमें एक हजारसे ऊपर ऐसे मामले विचाराधीन थे जिनमें स्त्रियोंने अपने पतियों और कुमारी कन्याओंने अपने माता-पितासे अलग किए जाने की माँग इस बिनापर की थी कि उनको अनैतिक जीवनके लिए बाध्य किया जाता है।

राजपूतानाके सम्बन्धमें वहाँके पुराने राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता श्री रामनारायण चौधरीने कभी ठीक ही लिखा था कि "साधारणतः जिन लोगोंमें परदेका रिवाज अधिक कठोर है, उनमें बहु विवाहका भी जोर है। मुसलमानों और राजपूतोंमें एक से अधिक पत्नी रखमा साधारण बात है। राजपूतानेमें एक नरेशके सिवा सबकी अनेक स्त्रियाँ हैं और जागीरदारोंमें भी अधिकांश ऐसे ही हैं। ऐसी स्थितिमें सदाचार कैसे रह सकता है।? राजपूतानेमें प्रचलित दास-दासीकी कुप्रथाका भी यही कारण है। जब अमीर स्त्रियाँ निकम्मी रहने लगीं, तभी ग़रीब स्त्रियाँ दासियाँ बनाकर सेवाके लिये रखी जाने लगीं। राजपूतानामें उनकी संख्या १ लाख ६० हज़ार से भी ऊपर बताई जाती है। इनपर मालिकोंको पूरा अधिकार रहता है। वे उनको बेच सकते हैं और

दहेजमें दे सकते हैं। उनको खानेको जूठा और पहननेको उतरा हुआ कपड़ा दिया जाता है। उनसे कठोरतम और नीचतम काम लिया जाता है। विवाह उनके नाममात्रको होते हैं। दासियोंके अलावा परदेवाले घरोंमें अन्य स्त्री या पुरुष नौकर भी रहते हैं। उनके कारण भी अनाचार बहुत फैलता है।" इस प्रकार परदा अनेक कुरीतियों तथा अनैतिकता और अनाचारका मूल कारण है। कठोर शासनका स्वाभाविक परिणाम पाप और पतन है। हमारे घर इसी कारण पाप व पतनके आश्रय स्थान बने हुए हैं।

बंगालमें परदेके ही कारण नारी निर्यातनकी समस्या कभी बहुत भयानक थी। उत्तर भारतके उन सभी राज्योंमें इसका जोर है जहाँ परदेकी प्रथा कठोर है। बंगालमें परदे ने नारी अपहरणकी समस्याको जन्म दिया, राजपूताना में वह नैतिक पतनका निमित्त बन गया, अवधमें उससे अनाचार पैदा हुआ और पंजाबमें वह ढोंगका कारण बन गया।

क्षयका मूल-परदा

परदेके दुष्परिणामकी कहानी भी ऐसी ही भयानक है। सामाजिक पापकी तरह वह व्यक्तिगत रूपसे भी स्त्रियोंके लिए अनेक बीमारियोंका निमित्त बन जाता है। क्षय और गर्भ-सम्बन्धी अनेक बीमारियोंका मुख्य कारण खुले प्रकाश और ताजी हवा का न मिलना है। परदेमें रहनेवाली स्त्री खुली हवा तथा प्रकाशका सुख नहीं भोग सकती। सामाजिक क्षेत्रमें काम करनेवालोंका अनुभव यह है कि एक ही पीढ़ीमें क़रीब ३२ लाख स्त्रियाँ केवल प्रसवके कारण अपने जीवनसे हाथ धो बैठती हैं। बिहारके देहातों तकमें स्त्रियोंकी मृत्यु संख्या पुरुषोंसे कहीं अधिक है। उनकी औसत आयु भी पुरुषोंसे बहुत कम है। कलकत्ताके सम्बन्धमें वहाँ के स्वास्थ्य अधिकारी डा० क्रेकका अनुभव यह है कि १५ से २० वर्ष की आयुकी लड़कियाँ यक्ष्मा रोगसे लड़कोंकी अपेक्षा पाँचगुना अधिक मरती हैं। ये लड़कियाँ परदेकी क़ैदमें खुली हवा न मिलनेसे मर जाती हैं।" वे लिखते हैं कि "मुझको विश्वास हो गया है कि खूब घने बसे हुए शहरोंकी गलियोंमें परदेकी प्रथा ही इतनी युवतियोंकी मृत्युका असली कारण है। जहाँ खुले घर हैं और घरोंके साथ खुले आहाते हैं, वहाँ परदा कुछ अंश तक स्वास्थ्यके लिए घातक नहीं होता। बड़े शहरोंमें चूंकि आसपासकी गलियोंके कारण एक घर दूसरेसे छिपा नहीं रह सकता। इसलिए जबतक हवा और रोशनी भी बन्द न कर दी जाय तब तक एक घर दूसरेसे ओझल नहीं हो सकता। इसलिए घरका बिलकुल भीतरी वह कमरा जनाना रखा जाता है, जिसमें न रोशनी जा सकती है, न हवा और न किसीकी आँखें ही पहुँच पाती हैं।" कलकत्ता की स्वास्थ्य सम्बन्धी एक रिपोर्टमें स्वीकार किया गया था कि वहां की ८२ प्रतिशत बीमार महिलाएँ क्षय रोगसे पीड़ित थीं। सन् १९२९ में २८ सितम्बको "यंग वुमैन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन हाल" में रेडक्रास सोसाइटीके 'वेल फेयर' वर्कका परिचय देते हुए डा० श्रीमती एडिथ घोषने कलकत्ताके मानिकतल्लाके मकानोंके प्रत्यक्ष अनुभवका वर्णन करते हुए परदेकी बुराइयोंपर भी कुछ प्रकाश डाला था। उन्होंने बताया था कि "अनेक घर ऐसे बने हुए हैं, जिनमें एक-एक कमरेमें २० से अधिक स्त्रियाँ रहती हैं, बच्चों और पुरुषोंकी संख्या उनसे अलग है। मिट्टीका फ़र्श रहता है। सामने छोटे-से अहातेमें गाय, बकरी और उनके बच्चे बंधे रहते हैं। मुर्ग़ियाँ, बत्तखें वग़ैरह भी वहाँ ही रखी जाती हैं। घरका कूड़ा करकट भी उसीमें जमा रहता है। बरसातमें ये सब जानवर घरमें

ही बाँधे जाते हैं और घरके चारों ओर कीचड़का तालाब बन जाता है। मकानोंमें हवा और रोशनीके लिए एक भी खिड़की नहीं रहती।" आगे उन्होंने कहा था कि "जिन-जिन बस्तियोंमें परदा बहुत कठोरताके साथ किया जाता है, उनमें गर्भावस्थामें हिन्दुओंकी अपेक्षा मुसलमान स्त्रियाँ बहुत अधिक कष्ट भोगती हैं। उन बस्तियोंके मकानोंमें हवा भली प्रकार नहीं आती। मुसलमानोंके घरोंमें तो छोटीसे छोटी खिड़कीको भी बड़े गंदे और फटे टाटोंसे ढक दिया जाता है। सामनेका दरवाज़ा भी इसी प्रकार बन्द कर दिया जाता है। बिचारी जच्चाको न तो खुली हवा मिलती है, न प्रकाश और न अच्छा भोजन। परिणाम यह होता है कि उसको भयंकर बीमारियाँ आ घेरती हैं। क्षय उसको आम तौर पर हो जाता है। बिना किसी बीमारीके भी कमज़ोरी सदाके लिए उसको आ दबाती है। एक मुसलमान स्त्री बच्चेके साथ दवाके लिए मेरे पास आई। वह बीमार और कमज़ोर थी। मुझको उसपर दया आई। मैंने समझा कि उसको घरसे अस्पताल आने-जानेमें कष्ट होगा। इसलिए मैंने नर्ससे कहा कि उसके बच्चेके लिए दूध और दवा उसके घर ही भेज दिया करो। नर्सने मुझको बताया कि उसके मकानमें एक भी खिड़की नहीं है। वहाँ उसको खुली हवा और रोशनी नहीं मिलती। दूध और दवाके बहाने आने-जाने और यहाँ घंटा भर बैठनेमें उसको खुली हवा तो मिलेगी, मैंने देखा कि दो-तीन दिनमें ही उसके चेहरेपर रौनक आ गई। फिर मुझको एकबार एक स्त्रीको देखने के लिए उसके घरपर जाना पड़ा। उसको गर्भकी गड़बड़ीकी शिकायत थी। उसके घरपर जाकर देखा कि उसमे एक भी खिड़की नहीं थी। दोपहरके समय भी तेलका दिया जलाकर घरमें प्रकाश किया गया था। उसके बदनपर कपड़ेके चिथड़े लिपटे हुए थे; मैंने मुश्किलसे उसकी कलाई टटोली और उसकी नाड़ी देखकर मैं हैरान रह गई, वहाँ उसका जीवित रहना कठिन समझ मैं उसको ईडन अस्पताल ले आई। वहाँ खुली हवा; खुला प्रकाश और अच्छा भोजन मिलने से बिना किसी विशेष दवाके वह तीन-चार दिनमें अच्छी हो गई। मुझको इसमें रत्ती-भर भी संदेह नहीं कि घरमें हवा-रोशनी आदि न मिलने से उसको गर्भके गड़बड़ होनेकी वह शिकायत हुई थी।" डा० वेण्टली का यह मत है कि क्षय के तीन मुख्य कारण हैं—पहला आबादीकी अधिकता, दूसरा दरिद्रता और तीसरा परदा। परदेके ही कारण मृत्यु-संख्या हजार पीछे पुरुषोंकी जहाँ २४ है वहाँ स्त्रियोंकी ३९। डा० डी० एन० मजूमदारके कथनके अनुसार "कलकत्तामें प्रति वर्ष ३० हज़ार क्षयके शिकार और ३ हज़ार मृत्युके शिकार होते हैं, जिसके मुख्य कारण उन्होंने परदा, अज्ञानता तथा लापरवाही बताए हैं। क्षय-पीड़ित ७५ प्रतिशत में से केवल ५ देहातोंमें रहनेवाले होते हैं और ढाई प्रतिशतको पैतृक कारणोंसे यह बीमारी होती है। शेष शहरोंके निवासी हैं, जिनको घनी आबादीमें रहनेसे हवा और प्रकाश के अभावमें यह बीमारी होती है।" अनुभवी डाक्टरोंकी इन सम्मतियोंके बाद परदे के घातक दुष्परिणामोंके सम्बन्धमें कुछ और लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

राजनीतिक दृष्टिकोण

स्वर्गीय देशप्रिय श्री यतीन्द्र मोहन सेन गुप्ताने १९२८ में कलकत्तामें हुई कांग्रेस के स्वागताध्यक्षके पदसे दिए गए भाषणमें देशकी, विशेषत: बंगालकी सामाजिक स्थितिका जो चित्र उपस्थित किया था वह पिछले २८ वर्षोंमें बहुत बदल चुका है फिर भी परदा

प्रथाके दुष्परिणामका राजनीतिक दृष्टिकोणसे जो विवेचन उन्होंने किया था वह आज भी वैसा ही भावपूर्ण और महत्वपूर्ण है। इसीलिये हम यहाँ उनके शब्दोंको उद्धृत कर रहे हैं। उन्होंने कहा था कि "हमको अपनेसे यह पूछना चाहिए कि अपने देशमें बड़े-बड़े महापुरुषों द्वारा उठाए हुए आन्दोलन भी क्यों असफल हो गए, जब कि इसी तरह के आन्दोलनोंमें टर्की, जापान और चीनको इतनी सफलता प्राप्त हुई। वर्तमान युगके जीवित व्यक्तियोंमें सबसे महान् व्यक्ति हमारे नेता हैं। उनके द्वारा चलाया हुआ अहिंसात्मक असहयोग -आन्दोलन क्यों विफल हो गया, क्योंकि अरविन्द संन्यासी बनकर अलग हो गए, जबकि कमालपाशा, रिज़ाख़ाँ और चांग काई शेक आदि स्वतंत्र राष्ट्रोंके संचालक बन बैठे। क्यों देशबंधु निराश हृदयसे हममें से चल बसे? क्यों महात्मागांधी अपने आश्रम साबरमतीमें जा बैठे?" इन प्रश्नोंका विवेचन करते हुए आपने यह कहा था, कि "भूतकालपर अंधश्रद्धा, साम्प्रदायिकता, जात, पात, परदा, बहु विवाह, बाल विवाह और ऐसी ही अन्य कुरीतियाँ, जिनसे हमारा सामाजिक जीवन विश्रृंखल हो गया है, हमारी असफलताका कारण हैं। हमारा सार्वजनिक जीवन टुकड़ोंमें बँटा हुआ है। हमारी राष्ट्रीयता सिवा साम्प्रदायिकताके और कुछ नहीं है। हमारा आधा राष्ट्र परदेकी क़ैदमें अपनी जीवन शक्तिका नाश कर रहा है। अपने देशकी इंग्लैण्ड या जापानसे भी अधिक आबादी को हम अछूत ठहराकर अपनेसे परे किये हुए हैं और उसकी छायासे भी अपनेको अपवित्र मानते हैं। क्या इन कमज़ोरियोंको ज्योंका त्यों बनाए रखकर हम इंगलैण्डको जरा भी झुका सकते हैं? अपनेको जीवित बनाए रखनेके लिए हमको अपने समस्त राष्ट्रको आधुनिक ढाँचेमें ढालना होगा। पुरातनकालीन धनुष-बाणसे आज कलके तोप, बन्दूक आदि शास्त्रास्त्रोंका मुकाबला नहीं किया जा सकता। शस्त्रास्त्र सम्बन्धी ऊपरकी सचाई, उनका उपयोग, करनेवाले मनुष्योंपर भी लागू होती है। भारतकी सामूहिक जनशक्तिको आजकल के आदर्शोंसे सुसज्जित और सुसंगठित करना होगा। परदा ही नहीं, किन्तु स्त्रियोंकी दीनता और पराधीनताके सब बंधन एक साथ काटने होंगे। आधी जन संख्याको निकम्मा बनाकर बाकीका उद्धार आप तीन कालमें भी नहीं कर सकते। परदेके कारण आधी जनसंख्या अथवा देशकी आधी जीवनशक्ति का विनाशकर और बाल्यावस्थामें ही मातृत्वके बोझसे दबी शक्तिका सर्वनाश कर उसके दुष्परिणामसे आप बच नहीं सकते। उस सब भेद-भावको निर्दय होकर एकदम मिटा देना होगा, जिससे राष्ट्रका सामाजिक जीवन हज़ारों टुकड़ोंमें बँटा पड़ा है। जात-पाँत का तो अविलम्ब ही नाश होना चाहिए। पहले समयके वे सब आर्थिक लाभ नष्ट हो चुके हैं, जिनको सामने रखकर जात-पाँतकी रचना की गई थी। इस समय उसका आधार श्रम-विभाग नहीं है।" राजर्षि पं० मोतीलालजी नेहरूनें भी तब अध्यक्ष पद से दिए गए अपने भाषणमें समाज़-सुधारका विस्तारसे विवेचन किया था और महिला जागृतिके महत्वको बताते हुए, परदा दूर करनेपर ज़ोर दिया था। प्रतीत यह होता है कि देशके राजनीतिक नेताओंने तब १९२८ में यह भलीप्रकार अनुभव कर लिया था कि समाज-सुधारके बिना वह नैतिक धरातल बन नहीं सकता, जिसके अभावमें राजनीतिक आन्दोलनकी सुदृढ़ नीव नहीं डाली जा सकती। गाँधीजी सदा ही राजनीतिक आन्दोलनके साथ-साथ समाज-सुधारके कामको भी चलाते रहे और उनके कारण सामाजिक

क्षेत्रमें अद्‌भुत प्रगति की गई। महिला जागृतिको विशेष प्रेरणा तब मिली, जब उन्होंने नमक सत्याग्रहके लिए की गई ऐतिहासिक डांडी यात्राके बाद उसका नेतृत्व श्रीमती सरोजनी नायडूको सौंपते हुए महिलाओंसे कार्यक्षेत्रमें उतरनेकी अपील की थी और उनसे विदेशी वस्त्रोंकी दुकानोंपर धरना देनेका विशेष अनुरोध किया था। १९३० के बाद राजनीतिक आंदोलनमें भाग लेनेवाली महिलाओंकी बाढ़-सी आ गई थी और उनके लिए विशेष जेलखानोंकी अनेक राज्योंमें व्यवस्थाकी गई थी। गांधीजीने तब बिहारमें भी परदा प्रथाके विरुद्ध आन्दोलन करने के लिए कुछ विशेष लोगोंको वहाँ भेजा था। ऐसे महिला जागरणका कार्य हमारे देशमें बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका था। उत्तर भारतमें आर्यसमाज, बंगालमें ब्राह्म समाज और दक्षिणमें प्रार्थना समाज ने जो कार्य प्रारम्भ किया था, उसमें महिला जागृतिका भी मुख्य स्थान था। लाला देवराज, राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, श्री ज्योतिर्बाबा फुले, न्यायमूर्त्ति श्री महादेव गोविन्द रानाडे, महर्षि कर्वे सरीखे अनेक महापुरुष भी ऐसे हुए जिन्होंने महिला जागृतिके महान् कार्यमें अपनेको खपा दिया। १९२० के लगभग अनेक समाजोंमें सामाजिक चेतनाका विशेष रूपसे प्रादुर्भाव हुआ और अनेक ऐसी संस्थाओंका जहाँ तहाँ गठन किया गया जिनका मुख्य कार्यक्षेत्र समाज-सुधार था। प्रायः उन सभी संस्थाओंने महिला-जागृतिपर ध्यान दिया और परदेकी कुप्रथा को दूर करनेका आन्दोलन भी उनकी ओरसे किया गया। अग्रवाल महासभाकी ओरसे देवोत्थान एकादशी और महेश्वरी महासभाकी ओरसे महेश नवमीके दिन 'परदा निवारण दिवसके' रूपमें मनाए जाने लगे। ऐसे ही आयोजन अन्य अनेक संस्थाओंकी ओरसे भी किए गए। विदेशों विशेषतः टर्की, अफगानिस्तान, ईरान आदि मुस्लिम देशोंमें पैदा हुई सामाजिक चेतना तथा परदा निवारणका हमारे देशपर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

इस समय स्थिति बहुत बदल चुकी है। हमारे प्रजातंत्रीय संविधानमें स्त्रियोंको सभी प्रकारके अधिकार पुरुषोंके समान दिए जा चुके हैं। हमारे प्रजातंत्रका आधार बालिग मताधिकार है। वह पुरुषके समान स्त्रीको भी प्राप्त है। उसके समस्त धार्मिक पक्षपात और सामाजिक भेद-भावमूलक बन्धन काट दिए गए हैं। विधान अथवा क़ानूनमें उनकी कोई मान्यता नहीं है। स्त्रीके लिए पुरुषोंके समान प्रगति व उन्नति करनेके समस्त द्वार खोल दिए गए हैं। आर्थिक विषमताका भी अंत कर दिया गया है, समाजवादके अनुसार कायम की जानेवाली सामाजिक व्यवस्थामें स्त्रीके प्रति किसी भी प्रकारकी सामाजिक दीनता, हीनता अथवा पराधीनता शेष नहीं रह सकती।

परदा निवारण तो केवल प्रतीक है इस चहुँमुखी महिला जागृतिका। सच तो यह है कि किसी भी ओछे उपायसे कोई भी ऊँचा आदर्श पूरा नहीं किया जा सकता। परदेके पक्षपाती कुछ भी क्यों न कहें परन्तु वास्तविकता यह है कि उनके द्वारा प्रतिपादित तर्कसे समर्थित कुप्रथासे किसी भी सदुद्देश्यकी पूर्त्ति नहीं की जा सकती। परदेकी कुप्रथा उतनी ही निरर्थक सिद्ध हो चुकी है, जितनी कि सीताकी कुटियाके चारों ओर लक्ष्मण द्वारा बनाई गई रेखा साबित हुई थी। वह सीताकी रक्षा नहीं कर सकी थी और परदाकी यह कुप्रथा हमारे समाजके किसी भी सद्‌गुणकी रक्षा नहीं कर सकी; अपितु सीताके अपहरणके समान इसके कारण हमारे समस्त सामाजिक सद्‌गुणोंका ह्रास अथवा विनाश

हो चुका है । इस प्रकार परदेकी यह कुप्रथा केवल निरर्थक ही नहीं है; किन्तु घोर अनर्थकारी भी है। पिछले ही दिनोंमें संयुक्त राष्ट्रीय संघके शिक्षा, संस्कृति और विज्ञान-परिषद्के भारतमें हुए अधिवेशनके अवसरपर प्रकाशित हुए अनेक लेखोंमें एक लेख देहातोंमें प्राथमिक शिक्षाके अनिवार्य करने और प्रौढ़ शिक्षाके प्रसार करनेके सम्बन्धमें लिखा गया था। उसमें यह बताया गया है कि हमारे देशमें देहातोंमें प्रौढ़ शिक्षाके प्रसारमें परदा बहुत बड़ी बाधा है। विकासके अनेक कार्यक्रम शिक्षा प्रसारके समान परदेके ही कारण पूरे नहीं किए जा सकते। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान जागृति एवं प्रगतिके बाद भी परदा निवारणकी दिशामें अभी हमें बहुत-कुछ करना है और जो कुछ हो गया है उसको बहुत मानकर आत्मवंचनाके मायाजालमें उलझना आत्महत्याके समान घातक हो सकता है।

वेश्या और समाज

ढाई हज़ार वर्ष पहलेकी बात है ।

भगवान बुद्ध अपने उपदेशोंका प्रचार करते हुये वैशाली पहुँचे । भिक्षु दलके साथ एक अमराईके नीचे उन्होंने अपना आसन बिछाया ।

अम्बपाली वेश्याको ज्ञात हुआ कि भगवान वैशाली आये हैं और उसके अपने आम्र-वनमें विहरते हैं । अम्बपाली भद्र यानोंको जुतवाकर एक सुन्दर रथपर आरूढ़ हो सुन्दर यानोंके साथ वैशालीसे निकली और जहाँ उसकी अमराई थी वहाँ चली । जहाँ तक रथका मार्ग था वहाँ तक रथसे जाकर फिर रथसे उतर पैदल ही जहाँ भगवान थे वहाँ पहुँची । उन्हें अभिवादन कर एक ओर बैठ गई । एक ओर बैठी हुई अम्बपाली को जब भगवान अपने उपदेशोंका अमृत पिला चुके तब अम्बपाली गणिकाने कहा :—

"भन्ते ! भिक्षु संघके साथ मेरे यहाँ कलका भात स्वीकार करें ।"

भगवानने मौन भावसे स्वीकृति दी । अम्बपाली स्वीकृति समझ कर आसनसे उठकर भगवानकी परिक्रमा और अभिवादन करके चली गई ।

× × ×

वैशालीके महापराक्रमी लिच्छवियोंने भी सुना कि भगवान वैशाली आये हैं और अम्बपालीकी अमराईमें विहरते हैं । लिच्छविगण अपने भद्र यानोंको जुतवाकर सुन्दर रथारूढ़ हो, सुन्दर यानोंके साथ वैशालीसे निकले । उनमें कोई-कोई नील वर्ण, नील परिधान, नील अलंकारवाले थे; कोई-कोई पीत वर्ण, पीत परिधान और पीत अलंकार वाले थे; कोई-कोई लोहित वर्ण, लोहित परिधान और लोहित अलंकारवाले थे और कोई-कोई श्वेत वर्ण, श्वेत परिधान और श्वेत अलंकारवाले थे ।

भगवानने दूरसे लिच्छवियोंको आते देखकर भिक्षुओंसे कहा :—

"देखो भिक्षुओ ! लिच्छवि परिषदको देखो ! भिक्षुओ, लिच्छवि परिषद को देव परिषद समझो !"

जहाँ तक रथका मार्ग था वहाँ तक रथसे जाकर फिर रथसे उतरकर पैदल ही लिच्छवि भगवानके पास पहुँचे । अभिवादन कर वे एक ओर बैठ गये । भगवान जब लिच्छ-वियोंको अपना उपदेश दे चुके तब वे लिच्छवि बोले :—

"भन्ते भिक्षु-संघके साथ हमारे यहाँ कलका भात स्वीकार करें ।"

"लिच्छवियो ! कल तो मैंने अम्बपालीका भात स्वीकार किया है ।"

तब वे लिच्छवि उँगलियाँ चटकाते हुये बोले :—

"अरे हम इस वेश्यासे पराजित हो गये ! हमें इस गणिकाने वंचित कर दिया !"

तब वे लिच्छवि भगवानके वचनोंका अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर, आसनसे उठ भगवानकी परिक्रमा और उनका अभिवादन कर चले गये।

× × ×

भगवानके प्रमुख शिष्य आयुष्मान आनन्द इस घटनाका मर्म न समझ पाये। जिज्ञासु भावसे भगवानके निकट जाकर अपना कौतूहल प्रकट करके बोले:—

"भन्ते ! अम्बपाली वैशालीकी नगरबधू है, गणिका है, वेश्या है !"

"हाँ, आयुष्मान !"

"भन्ते ! लिच्छविगण श्रेष्ठ आर्यकुमार हैं !"

"हाँ, आयुष्मान !"

"भन्ते ! किन्तु आपने लिच्छवियोंके भातसे गणिकाके भातको श्रेष्ठ ठहराया !"

"हाँ, आयुष्मान !"

"भन्ते ! क्या इसलिये कि लिच्छवियोंके हृदयसे अहम्मन्यता मिट सके और समाज के हृदयसे उसकी केन्द्रीभूत अपवित्रताका कलंक धुल सके ?"

"हाँ, आयुष्मान !"

"भन्ते ! क्या वेश्या भी पवित्र हो सकती है ? समाजके अभिशापसे मुक्त हो सकती है ?"

"हाँ, आयुष्मान ! गणिका भी मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्मसे, मैत्रीपूर्ण कायिक कर्मसे और मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्मसे निर्वाण साधनमें लगकर शीघ्र ही अपना स्रव हो सकती है। पुरुषकी कामवासनासे अभिशप्त नारीको धर्म-कथासे संदर्शित और समुत्तेजित करना होगा, आयुष्मान !"

× × ×

उस रातके व्यतीत हो जानेपर अम्बपाली गणिकाने अपने आराममें उत्तम खाद्य-भोजन प्रस्तुत कर भगवानको समयकी सूचना दी। पूर्वाह्नके समय परिहित, पात्र, चीवरयुक्त भगवान अम्बपालीके परोसनेके स्थानमें गये और वहाँ बिछे हुये आसन पर बैठे। तब अम्बपाली गणिकाने बुद्ध-प्रमुख-भिक्षु-संघको अपने हाथसे उत्तम खाद्य-भोजनसे जिमाया। भगवानके भोजन कर पात्रसे हाथ खींच लेनेके उपरान्त गणिका अम्बपाली एक नीचे आसनपर एक ओर बैठकर भगवानसे बोली :—

"भन्ते ! मैं इस आरामको बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघको देती हूँ।"

भगवानने आरामको स्वीकार किया।

(२)

एक दूसरी घटना।

परम दयालु क्षमावन्त ईसाका जीवनकाल।

फ़ैरिसी और इस्क्राइब निरन्तर ईसाके उपदेशोंका उपहास करनेमें व्यस्त थे। अहिंसा पर आधारित नये नियम-विधानोंको भला वे कैसे स्वीकार कर सकते थे ? पुराने विधान के अनुसार यदि कोई पुरुष व्यभिचार करते हुए पाया जाता था तो उसे व्यभिचारिणीके

पतिको पाँच दीनार जुर्मानेकी रक़म अदा करनी पड़ती थी। किन्तु उसी अपराधपर स्त्रीको पत्थर मार-मारकर मार डाला जाता था। मौतसे बचनेका केवल एक रास्ता था। यदि व्यभिचारिणी वेश्या बनना स्वीकार कर ले।

एक बार ये फ़ैरिसी और स्क्राइब एक व्यभिचारिणी स्त्रीको हज़रत ईसाके पास लाये। पत्थर लिये हुए पीछे-पीछे एक भीड़ थी। विचारके लिये उन्होंने तीन प्रश्न हज़रत ईसाके सामने रखे :—

१. व्यभिचारिणीको क्षमा कर दिया जाय; या

२. उसे वेश्या बनने दिया जाय, या

३. उसे पत्थरोंसे मार डाला जाय !

विरोधी समझते थे कि ईसा धर्म-संकटमें पड़ जायेंगे। व्यभिचारिणीको क्षमा करनेकी बात कहेंगे तो लोक-भावना उनके विरुद्ध हो जायगी ! वेश्या बननेकी बात कहेंगे, तो नैतिक अपराधके दोषी होंगे और व्यभिचारिणीकी हत्याका समर्थन करके वे अपने अहिंसाके सिद्धान्तसे गिर जायँगे।

विरोधियोंने उद्धत और ऊँचे स्वरमें ईसासे फ़ैसला करनेके लिये कहा। क्षमावन्त ईसाने करुण दृष्टिसे अपराधिनी नारीकी ओर देखा, जो एक ओर बैठी हुई नतशिर नाखूनसे ज़मीन खोद रही थी। फिर कहा इसे एक शर्त पर पत्थरोंसे मार डाला जाय !

उत्सुक वाणीमें विरोधियोंने शर्त जाननी चाही।

ईसाने उत्तर दिया—"इसे पहला पत्थर वह व्यक्ति मारे, जिसने अपने जीवनमें कभी मनसे, वचनसे और कायासे व्यभिचार न किया हो।" यह कहकर उन्होंने आँखें बन्द करलीं।

थोड़ी देर बाद जब उन्होंने आँखें खोलीं, तो वहाँ केवल उसी नारीको बैठे पाया। आपत्ति लगानेवाले सब एक-एककर वहाँसे जा चुके थे।

प्रभु ईसाने अपराधिनी नारीको उपदेश देते हुये कहा—"नारीको पापके पथपर अग्रसर करनेवाला पुरुष है ! नारीको जघन्य वेश्या जीवन बितानेके लिये विवश करने वाला पुरुष है। नारीकी विवशतासे समर्थ पुरुषको लाभ उठाना शोभा नहीं देता। जाओ, मनसा-वाचा-कर्मणा संयमशील बनो। परम पिता तुम्हें क्षमा करेंगे।"

(३)

ईसासे दो हज़ार वर्ष बादकी एक तीसरी घटना !

पूर्वी बंगालमें बरीसालका नगर।

सितम्बर सन् १९२१ का पहला सप्ताह !

अहिंसात्मक असहयोगका प्रचार करते हुये विश्ववन्द्य महात्मागांधी बरीसाल पहुँचे। सार्वजनिक सभाके बाद १४ वर्षकी एक बालिकाने उनकी चरणधूलि लेकर हाथ जोड़कर उनसे विनती की :—

"बापू ! नरकतुल्य वेश्या-जीवनसे हमारा उद्धार करो ! हम बरीसालकी वेश्याएँ आपसे सामूहिक रूपसे बात करना चाहती हैं। आप महात्मा हैं ! क्या आप हम पतिताओंसे बात करेंगे ?"

"क्यों नहीं, जरूर बात करूँगा।" बापूने उत्तर दिया। "तुम लोग कल तड़के प्रात:कालकी प्रार्थनाके बाद मुझसे मिलो। पाँच बजे आ सकोगी?"

दूसरे दिन बरीसालकी एक सौसे अधिक 'पतिता बहिनें' महात्मागांधीसे मिलीं। उस भेंटका वर्णन स्वयं गान्धीजीने इस प्रकार किया है :—

"इन बहिनोंके साथ जो दो घंटेका समय मैंने बिताया, उसे मैं कभी नहीं भुला सकता। उन्होंने मुझे बताया कि बरीसालकी बीस हज़ारकी जनसंख्यामें, जिसमें स्त्री, पुरुष और बालक सब शामिल हैं, वेश्याओंकी संख्या साढ़े तीन सौ से अधिक है। ये बहिनें बरीसाल के पुरुषोंकी हया और शर्मकी प्रतिनिधि हैं। बरीसाल जितनी जल्दी अपनी इस शर्म को दूर कर सके, उतना ही उसके बड़प्पनके लिये फायदेमंद है। और जो कैफियत बरीसालकी है वही मैं समझता हूँ, प्रत्येक शहरकी है। बरीसालकी चर्चा तो मैं केवल उदाहरण के तौरपर कर रहा हूँ। क्या बरीसाल इस बातकी शाबासी लेगा कि उसने इस पापको अपने नगरसे धो डाला?"

इन बहिनोंकी करुण कहानियाँ सुनकर गान्धीजीकी कोमल आत्मा पीड़ा और वेदना से तड़प उठी। उनका मन पुरुष वर्गके इस महान अपराधके कारण ग्लानिसे भर उठा। इन शब्दोंमें गान्धीजीकी वह ग्लानि फूट पड़ी :—

"इन सौ बहिनोंके सामने, पुरुष होनेके नाते, लज्जासे मेरा मस्तक ज़मीनमें गड़ गया। इन बहिनोंमें कुछ प्रौढ़ थीं, अधिकांश बीस और तीस वर्षकी आयुके भीतरकी थीं और कुछ बारह वर्षकी आयुसे भी कम की थीं। इन बहिनोंके मनकी इस पक्की भावनाको देखकर कि इस नरकतुल्य जीवनसे उनका कभी उद्धार न होगा, मुझे ऐसा लगा कि जैसे किसीने मेरे हृदयमें छुरा भोंक दिया। फिर भी ये बहिनें मुझे विनम्र और बुद्धिमान लगीं। उनकी बातचीतमें शील और एक मर्यादा थी। उनके उत्तर सीधे और स्पष्ट थे।"

इन बहिनोंसे बातें करते हुए गान्धीजीका ध्यान भारतकी आध्यात्मिक महात्ता की ओर गया। तब इस समस्याकी विषमता उनके निकट और भी तीव्र हो गई। उनके मुँहसे बरबस ये शब्द निकल पड़े :—

"जिन पापोंके लिये पुरुष उत्तरदायी है, कोई पाप इतना कलुषित, इतना हृदय-विदारक और इतना अमानुषिक नहीं है, जितना मानवताके अर्धाङ्गके प्रति यह दुराचार! पुरुष और नारी दोनोंमें, आज नारी ही अधिक श्रेष्ठ है। इस युगमें भी वही बलिदान, मूक कष्टसहन, विनम्रता, विश्वास और ज्ञानकी साकार प्रतिमा है। पुरुषकी अहम्-मन्यता और ज्ञान-धारणाकी अपेक्षा नारीकी सहज बुद्धि ही बहुधा सच साबित होती है। रामके पहले सीता और कृष्णके पहले राधाका नाम जोड़नेमें यही गूढ़ अभिप्राय है। यह समझकर अपने को धोखा नहीं देना चाहिये कि सभ्यताकी प्रगतिमें वेश्याओंका कोई अनिवार्य स्थान है। वेश्याओंके आधिक्य और सभ्य यूरोपमें उनके वैधानिक अस्तित्वको देखकर हमें भ्रमित नहीं होना चाहिये। भारतमें इसकी परम्परायें हैं—इस आधारपर भी हमें इस पापको नहीं चलने देना चाहिये। जिस समय हम पाप और पुण्यमें फ़रक़ करनेकी विवेक बुद्धि खो बैठेंगे और उस पुरातनकी, जिसे हम पूरी तरह नहीं जानते, नक़ल करते रहेंगे उसी समय हमारी प्रगति रुक जायगी। हम बीते

युगकी सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम विरासतके अभिमानी उत्तराधिकारी हैं। पिछली भूलों को दोहराकर हमें उस उत्तराधिकारका अपमान नहीं करना चाहिये। आत्मसम्मान-पूर्ण भारत देशमें प्रत्येक पुरुषकी दृष्टिमें प्रत्येक स्त्रीकी अस्मतका वही मूल्य होना चाहियेजो स्वयं उसकी अपनी बहिनकी अस्मतका है। स्वराज्यका अर्थ वह योग्यता है जिसके अनुसार हम प्रत्येक भारतवासीको अपने सगे भाई और बहिनके समान समझ सकें।"

× × ×

गांधीजीके जीवन-प्रसंगके ही एक दूसरे अवसर की बात है।

ईसवीका १९२५वाँ साल और अप्रैलका दूसरा सप्ताह।

घटना-स्थल मदुराईका पवित्र तीर्थ-क्षेत्र।

महात्मागान्धी दक्षिण भारतका भ्रमण कर रहे थे। डाक्टर राजन् गान्धीजीकी इस भ्रमण-व्यवस्थाके प्रमुख आयोजक थे। मद्रासमें उन्होंने झिझकते हुये गान्धीजीसे मदुराके कार्यक्रमकी ओर संकेत करते हुए पूछा :—

"बापू! मदुराकी देव-दासियाँ आपको अभिनन्दनपत्र भेंट करना चाहती हैं। मैं बेहद पेशोपेशमें हूँ कि उन्हें क्या उत्तर दूं! देवदासियोंका अभिनन्दन कार्यक्रम आपको कैसे स्वीकृत होगा?"

"तुमने नहीं तो नहीं किया न?" बापूने सौम्य उत्सुकतासे पूछा। मेरे कार्य-क्रममें उनका अभिनन्दन अवश्य शामिल करो। मैं इन अभागिन बहिनोंसे अवश्य बातें करूँगा।"

देवदासियोंके अभिनन्दन पत्रका गान्धीजीके दयालु हृदयपर जो प्रभाव पड़ा वह यहाँ उन्हींके शब्दोंमें उद्धृत हैं :—

"दक्षिण भारतमें मुझे जितने अभिनन्दन पत्र मिले, उनमें सबसे अधिक करुण और हृदयको छूनेवाला देवदासियोंका अभिनन्दन पत्र था। यहाँ वेश्याओंके लिये 'देवदासी' एक सु-शब्द संज्ञा है। चाहे उन्हें वेश्या कहा जाय या देवदासी शब्द परिवर्तनमात्रसे समस्याका समाधान नहीं होता। यह कितनी गहरी शर्म, दुःख और ज़बर्दस्त ज़िल्लत की बात है कि अनेकों स्त्रियोंको पुरुषकी वासना पूर्त्तिके लिये अपने सतीत्वको बेंचना पड़ता है। तथाकथित अबला जातिको पतनके गर्तमें गिरानेके लिये व्यवस्था बनाने वाले स्मृतिकारको भयंकर सजा भुगतना पड़ेगी। जिस दिन नारी छलिया पुराणोंके जालसे मुक्त होकर अपनी पूर्णता प्राप्त करेगी, उस दिन पुरुषोंके बनाये हुये नियम-विधानों और संस्थाओंके विरुद्ध वह सफल अहिंसात्मक विद्रोह करेगी। भारतीय पुरुष अपना दिल थामकर ज़रा सोचे कि उसकी अनियमित और अनैतिक वासनाओंकी पूर्त्तिके लिये लगभग साढ़े दस लाख बहिनोंको शर्मनाक जीवन बिताना पड़ता है। अफ़सोस इस बातका है कि इन नारकीय अड्डोंमें जानेवाले पुरुषोंकी बहुसंख्या विवाहित पुरुषोंकी है और इसीलिये वे दोहरे पापके भागीदार हैं। न केवल वे अपनी पत्नियोंके प्रति विश्वासघातके दोषी हैं जिनके प्रति अग्निको शाक्षी करके उन्होंने वफ़ादारीकी क़सम खाई थी बल्कि उन बहिनोंके सतीत्व भंग का पाप करना हैं जिनके शील और सतीत्वको उन्हें उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिये कि जिस प्रकार वे स्वयं अपनी सगी बहिनोंकी रक्षा करते हैं। यदि भारत के पुरुष अपनी मर्यादाको समझ लें, तो भारतमें यह पाप एक दिन भी अधिक नहीं टिक सकता।"

गांधीजीके ये उद्‌गार ३१ वर्ष पूर्व प्रकट किये गये थे किन्तु आजके भी वातावरणमें गूंज-गूंजकर भारतके प्रत्येक पुरुषको चुनौती देकर पूछ रहे हैं कि क्या स्वतन्त्र और पवित्र भारत देश अबला नारीके प्रति इस भयंकर पापसे मुक्त हुआ ? मानवता गहरे तक़ाज़े के साथ भारतके पुरुषोंसे यह प्रश्न कर रही है कि जो देश सांस्कृतिक प्रगति और आध्यात्मिकताके क्षेत्रमें सारी दुनियाका झंडाबरदार होनेका दावा पेश कर रहा है वह नारीके प्रति इस जघन्य अपराधका अन्त करनेमें क्यों नहीं सफलता प्राप्त कर सका ?

क्या इस समस्याकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि हमें उन्हें समूल नष्ट करनेमें इतनी कठिनाईका सामना करना पड़ रहा है ? आयें इन पृष्टोंमें हम समस्याके मूलमें जाकर ज़रा विचार करें ।

(४)

लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्वका एक दूसरा दृश्य ।

स्थान :—यूनानका प्रसिद्ध नगर एथेंस ।

यूनानके महान दार्शनिक महात्मा सुकरातके परम शिष्य और यूनानकी ज्ञान-गरिमा के आगार और साहित्य अकादमीके अध्यक्ष सन्त अफलातून (प्लेटो) अपने शिष्योंके साथ वार्तालाप कर रहे हैं । अरिस्टोमेन नामक शिष्य गुरुसे जिज्ञासु भावसे पूछता है :—

अरिस्टोमेन : गुरुदेव समाजमें नारीका महत्व और स्थान क्या है ?

अफ़लातून : वही जो पुरुषोंका है, न कम न अधिक । स्त्री और पुरुष दोनों रथके दो पहियोंके सदृश हैं । यदि एक कमजोर और घटिया हुआ, तो समाज का रथ निर्विघ्न आगे नहीं बढ़ सकता । स्त्री और पुरुष नभमें उड़ने वाले पक्षीके दो डैनोंके समान हैं । यदि एक डैना छोटा या अशक्त रहा, तो पक्षी नभमें उन्मुक्त विचरण नहीं कर सकता ।

अरिस्टोमेन : समाजमें वेश्यावृत्तिके प्रचलनसे क्या स्त्री-पुरुषके पारस्परिक सम्बन्धोंकी मर्यादा भंग नहीं होती ?

अफ़लातून : समाजमें पुरुषको कर्त्ताका स्थान प्राप्त है । वही चल औय अचल सम्पत्ति का स्वामी है । उत्पादन, वितरण, व्यापार, वाणिज्य सबपर पुरुषका ही अधिकार है । अपनी जीविकाके लिये स्त्री-पुरुषके ही आसरे है । ऐसी परिस्थितिमें यदि स्त्रीको अपनी जीविका-निर्वाहके लिये वेश्यावृत्ति जैसे अशोभनीय उद्यमका सहारा लेना पड़ता है, तो इससे अधिक लज्जाकी और कौनसी बात हो सकती है ?

अरिस्टोमेन : गुरुदेव ! क्या वेश्यावृत्ति केवल मात्र आर्थिक प्रश्नपर ही आधारित एक समस्या है ?

अफ़लातून : यदि अधिक गहराईमें जाकर विचार करोगे, तो तुम पाओगेकि वेश्यावृत्ति की बुनियाद धर्मके साकार तत्वोंमें डाली गई है ।

अरिस्टोमेन : वह कैसे गुरुदेव ?

अफ़लातून : मनुष्यने अपने ही रूपमें देवताओंकी साकार कल्पना की । उसने उनकी प्रशंसाके गीत बनाये । उनके भोगके लिए छत्तीसों सुस्वादु व्यंजन बनाये । उन्हें रिझानेके लिये गायन-वादन और अपनी नृत्य-कलाका प्रदर्शन किया ।

देवताओंमें भी पिता, माता, पत्नी, पुत्र और पुत्रीकी परम्परा चलाई। उनके सोने, जागने, आरती और भोगके समय निश्चित किये। यही नहीं, उसने पौराणिक कथाओंमें यदि एक ओर देवताओंकी अलौकिक प्रतिभा के गीत गाये, तो दूसरी ओर उन्हें प्रेम-बिरह, छल, कपट, और व्यभिचार का भी दोषी बताया। न मालूम ज़मानेके धुँधले प्रकाशमें मनुष्यको अपने देवता बिल्कुल अपनी ही तरह प्रतीत हुये।

अरिस्टोमेन : गुरुदेव देवताओंका यह इतिहास अत्यन्त दिलचस्प है।

अफलातून : भक्तोंको यह बताया गया कि यदि वे इस जन्ममें देवताओंको प्रसन्न करेंगे, तो देवता जन्म जन्मान्तर तक उन्हें प्रसन्न और सुखी रखेगा। परिणाम यह हुआ कि देवताओंके मन्दिर राजसी ठाठसे जगमगा उठे। राजा देवताका प्रधान सेवक बना। राज्यका समस्त ऐश्वर्य देवताके चरणोंपर लोटने लगा। नरमेध, अश्वमेध, गोमेध और तरह-तरहके बलिदानोंसे देवताको सन्तुष्ट करनेके प्रयत्न किये जाने लगे। देवताको सिंहासन पर बैठानेका समारोह मनाया जाने लगा। उसके राजसी जुलूस निकाले गये और देवियोंके साथ देवताओंके विवाह समारोह रचाये गये। भक्त परम श्रद्धाके साथ इन उत्सवोंमें शामिल होते थे। धीरे-धीरे मानव कुमारियोंके साथ देवताओंके विवाहकी प्रथा चली। राजकुमारी का विवाह देशके प्रमुख देवताके साथ होने लगा। राजाकी देखा देखी सरदारोंने भी अपनी रूपवती कन्याओंको देवताओंकी पत्नीके रूपमें समर्पित किया। अलबत्ता राजकन्या देवताकी पटरानी रहती थी। भला अन्य नागरिक कैसे पीछे रहते ? एक-एक देवताकी सैकड़ों मानव-कुमारियाँ पत्नी बन गई। मन्दिरोंके प्रांगण देवताओंकी इन मानव-पत्नियोंसे भर गये।

अरिस्टोमेन : गुरुदेव ! इस प्रथाके दुष्परिणाम आज हमें अपने यूनान देशमें अपोलो, जूसपेनर और दिमित्रिके मन्दिरोंमें देखनेको मिल रहे हैं। इन मन्दिरोंकी अगणित देवदासियाँ नारकीय वेश्या जीवन बिता रही हैं।

अफ़लातून : हाँ वत्स ! अनेक समय तक देवताकी ये विवाहित पत्नियाँ पवित्र ब्रह्मचर्य मय जीवन बिताकर अपनी आयु काट देती थीं; किन्तु धीरे-धीरे देवताओं ने पुरोहितोंके माध्यमसे अपनी इन पत्नियोंके साथ शरीर-सम्बन्ध क़ायम किया। फिर मन्दिरमें आनेवाले हर अजनबी व्यक्तिको देवताका प्रतिनिधि मान लिया गया। धीरे-धीरे देव दासियोंकी यह संस्था खुल्लम-खुल्ला वेश्याओंकी संस्था बन गई। इनके पेशेसे जो आमदनी होती थी, वह मन्दिरके चढ़ावेमें जाती थी। प्रत्येक यूनानी मन्दिरके साथ इन देवदासियोंके सैकड़ों आवासगृह जुड़ गये और यह धार्मिक वेश्यावृत्ति मन्दिर की आयका बहुत बड़ा साधन समझी जाने लगी। इस तरह हम देखते हैं कि वेश्यावृत्तिने देवमंदिरके प्रांगणमें ही सबसे पहले जन्म लिया।

अरिस्टोमेन : गुरुदेव ! केवल देव-पूजा वृत्ति ही नारीके इस पतनका एकमात्र स्रोत है ?

अफ़लातून : नहीं शिष्य ! विजेताओंकी विजयश्री भी इसके लिये कम उत्तरदायी नहीं है ।

अरिस्टोमेन : वह कैसे गुरुदेव ?

अफ़लातून : विविध देशोंके उद्धत विजेता प्रतिस्पर्धियोंके देशोंको रौंदते हुये अपनी लक्षवाहिनी सेनाओंके साथ विजयका सेहरा बाँधकर लौटते थे । अपने साथ वे लाते थे हज़ारों ऊँटों और खच्चरोंमें लादकर पराजित देशोंकी अपरिमित धन-सम्पदा, सदियोंका संचित कोष, मणियों, मुक्ताओं और हीरोंके अनुपम हार और रत्नजटित आभूषण । साथही साथ वे लाते थे लाखों नवयुवक क़ैदियोंके जत्थे, जो प्रत्येक सैनिकको इनामके रूपमें बाँट दिये जाते थे और वे इन विजयी नागरिकोंके ज़र ख़रीद ग़ुलाम कहलाते थे । विजय-वाहिनी सेनाएँ और भी लाती थीं अपने साथ पराजित देशोंकी चुन-चुनकर परम सुन्दरी सहस्रों नवयुवतियाँ । रूप और पदकी उत्कृष्टताके अनुसार वे राजाओं, सरदारों और सैनिकोंमें बाँट दी जाती थीं । कालान्तरमें एक-एक सैनिकके अन्तःपुरमें सैकड़ों रूपवती नवयुवती दासियाँ एकत्रित हो जाती थीं जिनके तन-मन-धनपर उसका एकाधिकार होता था । व्यक्तिगत भोगकी एक सीमा होती है । कतिपय सुन्दरियोंको छोड़कर शेषको वेश्याओंका पेशा करना पड़ता था और उनकी आमदनीसे प्राप्त धन उनके स्वामीको मिलता था । इन परिस्थितियों ने दास-दासियोंके क्रय-विक्रय या गुलामोंके व्यापारको जन्म दिया ।

अरिस्टोमेन : गुरुदेव ! तो महान विजेताओंकी विजयश्री लाखों नारियोंके अभिशाप्त वेश्या-जीवनसे कलंकित है !

अफ़लातून : निश्चय ही ।

अरिस्टोमेन : नारीके इस अभिशप्त जीवनका और कौनसा स्रोत है गुरुदेव ?

अफ़लातून : वत्स ! वेश्यावृत्तिका तीसरा स्रोत हमारी नगर-सभ्यता है ।

अरिस्टोमेन : वही नगर सभ्यता जिसपर हम यूनानियोंको अनुपम गर्व है ?

अफ़लातून : हाँ, वत्स !

अरिस्टोमेन : वह कैसे गुरुदेव ?

अफ़लातून : स्वभावसे मनुष्य प्रकृति-पुत्र है । मानवकी मूल संस्कृति ग्राम-संस्कृति है । सभ्यताने ग्रामोंको उजाड़कर नगरोंका निर्माण किया । नगर विलासिता और सौन्दर्य प्रसाधनके केन्द्र बने । हुज़ूरोंके साथ-साथ मजूरों का वर्ग बना । समाज श्रीमन्तों और श्रमिकोंमें बँट गया । स्वाभाविक और स्वास्थ्यप्रद वातावरण छोड़कर असंख्य पुरुष अपने परिवारों से विलग, नगरोंमें निवास करने लगे । आहार, निद्रा और रति—मनुष्यके जीवनकी ये तीन प्रमुख आवश्यकताएँ हैं । लाखों परिवारहीन पुरुषोंके लिये इनके प्रबन्धकी आवश्यकता थी । इस प्रबन्धने ही नगरोंमें व्यापारिक वेश्यावृत्तिको जन्म दिया ।

अरिस्टोमेन : हमारी नगर-सभ्यताके ऊपर भी, गुरुदेव ! वेश्यावृत्तिका यह कलुषित अभिशाप लगा हुआ है ?

अफलातून : हाँ, वत्स ! समाजमें वेश्यावृत्तिके यही तीनों मल स्रोत हैं। जड़में ही जाकर हमें सभ्यताके इस महारोगका उपचार करना होगा। जब तक नारी इस कलंक-कालिमासे मुक्त नहीं होगी, तब तक मानव आत्माके समक्ष पुरुष अपना सर ऊँचा नहीं उठा सकता।

यूनानके इस प्रकाण्ड दार्शनिक और महान सन्त की वाणीमें नारी जीवनके इस कलंकित अध्यायके दुखदायी पृष्ठ हमारी आँखोंके सामने चमकने लगते हैं। सारी दुनियाकी वेश्या-वृत्तिके इतिहासके लिये अफ़लातूनका यह निदान अक्षरशः सत्य उतरता है।

(५)

पाँच हज़ार वर्ष पूर्वकी सुमेरी सभ्यतामें, जो मध्यपूर्वकी सभ्यताओंका आदि-स्रोत थी, इस धार्मिक वेश्यावृत्तिका प्रचलन था। दक्षिण भारतके हिन्दू-मंदिरोंकी तरह सुमेरमें भी देवदासियोंका रिवाज था। देवताओंका स्त्रियोंके साथ विवाह किया जाता था। क़ानूनने इन स्त्रियोंको समाजमें वैधानिक पद दे रखा था। देवतासे अपनी कन्याके विवाहके अवसरपर पिताको अपने देवता जामाताको प्रचुर दहेज़ देना पड़ता था, जो मन्दिरके कोषमें जमा होता था। सुमेरी देवदासियोंमें कई श्रेणियाँ थीं।

सबसे ऊपर देवताकी पटरानी होती थी, जो 'एन्तु' कहलाती थी। वह देवताकी धर्मपत्नी समझी जाती थी। साधारणतया वह राजा या किसी सरदारकी लड़की होती थी। देवदासियोंमें उसका सबसे ऊँचा स्थान होता था। उसे जीवन पर्यन्त निर्दोष और अकलंक चरित्र रखना पड़ता था। उरके मन्दिरकी 'एन्तु' सदा सुमेरी सम्राटकी कन्या होती थी। एन्तुके चरित्रपर इतना ध्यान रखा जाता था कि अगर वह किसी मदिरालयमें दिखाई दे जाय, तो उसे जीवित जला दिया जाता था।

दूसरी श्रेणीकी देवदासियाँ 'सालमें' कहलाती थीं। वे सरदारोंकी लड़कियाँ होती थीं। वे मन्दिरमें ही रहती थीं। मन्दिरकी ओरसे व्यापार वाणिज्य भी करती थीं। इनकी 'पितृनामहीन' सन्तानें भी होती थीं।

तीसरी श्रेणीकी देवदासी 'सिक्रु' या 'कदिश्तु' कहलाती थीं। वे साफ़-साफ़ मंदिर की वेश्याएँ थीं। वे निकृष्ट देवदासियाँ समझी जाती थीं। उनकी वेश्यावृत्तिसे जो आमदनी होती थी उसका एक-एक पैसा मन्दिरके कोषमें जाता था। समझा जाता था कि किसी भी स्त्रीके लिये इससे बढ़कर क्या बलिदान हो सकता है कि वह अपना कौमार्य देवताके चरणोंमें चढ़ा दे।

(६)

साइप्रस, फ़ीनिशिया, कारथेज, फ़लस्तीन, आर्मीनिया और लोकरिस आदि सभी देशोंमें यह धार्मिक वेश्या वृत्ति प्रचलित थी[1]।

इतिहास लेखक हेरोडोटस और स्ट्रैबोके अनुसार रोम और समस्त इटलीमें धार्मिक वेश्या-वृत्तिका प्रचलन था। वहाँ देवताके मन्दिरमें अभिजात वर्ग और साधारण वर्ग

[1] "Contributions to the Etiology of Psychopathia Sexualis", vol. I, pp. 84, 85.

की स्त्रियोंको जीवनमें कमसे कम एक बार किसी भी अजनबी उपासकको अपने सतीत्व की भेंट देनी होती थी। सम्राट कान्स्टैन्टाइनके समय इस प्रथाको बन्द किया गया[1]।

मध्ययुगीन फ्रांसमें यह प्रचलित धारणा थी कि पादरियोंके साथ जिन स्त्रियोंका यौन संबंध हो चुका है वे "पवित्रात्मा" बन गई हैं। पादरियोंसे संबंधित वेश्याओंको 'समर्पित देवी' कहा जाता था[2]।

भारतके पश्चिम घाट और कोंकण प्रदेशमें "लिंगम" पूजाका बहुत प्रचार था। देवदासियोंकी प्रथाके साथ-साथ यह आवश्यक था कि "लिंगम" के साथ अक्षत योनि कुमारियोंका संस्पर्श कराया जाय[3]।

सरकारी आँकड़ोंके अनुसार मद्रास प्रान्तमें सन् १९०१ में देवदासियों की संख्या बारह हज़ारसे अधिक थी[4]। धार्मिक वेश्यावृत्तिकी पृथा दक्षिण अमरीका, काम्बोडिया बोर्नियो इत्यादि देशोंमें भी प्रचलित थी[5]। करशनदास मूलजीके अनुसार वल्लभाचार्य के महाराजा सम्प्रदायकी भी यही प्रवृत्ति थी[6]।

इन अनेकों उदाहरणोंके आधारपर हम धार्मिक वैश्यावृत्तिको दो समूहोंमें बाँट सकते हैं :

१. देवताके सम्मानमें जीवनमें केवल एकबार अस्थायी वेश्यावृत्ति, और

२. स्थायी धार्मिक वेश्यावृत्ति।

एक बारकी धार्मिक वेश्यावृत्तिके अन्दर जो सिद्धान्त निहित था, वह यह था कि, स्त्री देवताको अपना 'कौमार्य' समर्पित करती थी। यह क्रिया संसारके भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें बरती जाती थी। दक्षिण भारतमें यह नितान्त जघन्य रूपमें प्रचलित थी। हाथीदाँत, चन्दन या पत्थरके 'देवलिगम' से कौमार्य भंगकी प्रथा पूरी की जाती थी। कहीं-कहीं कुमारीको देवताके प्रतिनिधि पुजारी या राजा द्वारा कौमार्य भंगकी यह धार्मिक क्रिया पूरी करानी पड़ती थी।

समझा यह जाता था कि देवताके साथ यौन-संबंध होनेके बाद पति-पत्नी उस पाप के भागी नहीं होंगे जो यौन-संबंधके साथ जुड़ा हुआ है। इस रिवाजको इतना महत्व दिया जाता था कि गाजे-बाजेके साथ देव-मन्दिरमें जाकर यह क्रिया सम्पन्न की जाती थी। बैबीलोनमें मिलित्तके मन्दिर, मिस्रमें आईसिसके मंदिर, यूनानमें 'एफ्रादिते' के मन्दिर, यहूदामें 'बाल' के मन्दिर और रोममें फ्लोराके मन्दिरमें कौमार्य भंगकी यह क्रिया बड़ी धूमधामके साथ सम्पन्न की जाती थी। ऐसी विवाहिता स्त्रियाँ जिन्होंने

---

[1] "The Legend of Tanaquil, an investigation concerning Orientalism in Rome and Italy." P. 43.

[2] J. A. Dulaure, "Des Divinites generatrices," etc.

[3] "East Indian Journey," P. 161.

[4] "Annotations on the sacred writings of the Hindus," P. 3

[5] Plos-Bartels, "Das Weile in der Natur-und Volker-Kund," Vol. I, P. 580.

[6] Karsandas Mulji History of the Sect of Maharajas or Vallabhacharjas in Western India," P. 161.

देवताओंको अपना कौमार्य अर्पित नहीं किया है देवमन्दिरमें अज नबी या पुरोहितोंको अपना सतीत्व अर्पित कर प्रारम्भिक गुनाहसे मुक्ति पा सकती थीं[1]।

स्थायी धार्मिक वेश्यावृत्तिकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। भारतकी देवदासियों की तरह फ़िनीशियामें देवदासियोंको 'कादे' और यूनानमें 'हाइरोदूल' कहा जाता था। फ़िनीशियामें वे 'वेनस की पुजारिनी' और यूनानमें 'एफ्रादितेकी दासी' समझी जाती थीं। वे मन्दिरोंमें ही रहती थीं। कोरिन्थके एफ्रादितेके मन्दिरमें एक हज़ार देवदासियाँ मंदिरके प्रांगणमें ही वेश्यावृत्ति करती थीं। उत्तर भारतमें इस प्रकारकी देवदासी 'नायक' कहलाती थीं।[2]

(७)

महाकवि गेटे लिखता है—"इसमें कोई सन्देह नहीं कि धार्मिक वेश्यावृत्तिसे ही आधुनिक वेश्यावृत्तिका जन्म हुआ। हमारी आधुनिक वेश्याओंके समान देवदासियाँ भी अनासक्त भावसे अपनेको किसी भी ऐसे पुरुषको समर्पित कर देती थीं जो उनके पेशेकी क़ीमत चुकाता था। किन्तु वह क़ीमत देवदासियोंको नहीं वरन् देवता या चतुर पुरोहितोंके हाथोंमें जाती थी। ये पुरोहित आधुनिक चकलेदारोंसे मिलते-जुलते थे।"[3]

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शापनहावर आधुनिक वेश्या वृत्तिके सम्बन्धमें लिखता है :—प्रत्येक देशमे आधुनिक वेश्यावृत्ति बड़े नगरोंकी उन्नतिका ही परिणाम है। आधुनिक वेश्या-वृत्तिका विकसित रूप हमें केवल बड़े नगरोंमें ही देखनेको मिलता है। मध्य युगमें, जबकि वेश्या वृत्ति सामाजिक जीवनका आवश्यक अंग समझी जाती थी, वेश्याओं के चकले हमें छोटे-छोटे नगरों और क़सबोंमें भी देखनेको मिलते थे। किन्तु यौन रोगोंके आक्रमण स्वरूप क़सबोंसे ये चकले घर समाप्त हो गये और आज दिन तो गाँवोंमें वेश्याओं का नाम-निशान भी नहीं है। गाँवोंमें उन्मुक्त और मस्ताने प्रेमकी घटनायें होती रहती हैं किन्तु उनका वेश्यावृत्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं। वेश्यावृत्तिकी समस्या केवल बड़े नगरों तक ही सीमित है। नगरोंमें पुरुषोंकी कामवासनाकी तृप्तिके लिये वेश्याओंकी माँग है किन्तु इस माँगके अनुपातमें वेश्याओंकी संख्या बड़े नगरोंमें अत्यधिक बढ़ गई है। नगरोंमें पुरुषोंकी संख्याके अनुपातसे वेश्याओंकी संख्या कहीं अधिक बढ़ी है।[4]

आधुनिक वेश्यावृत्तिकी परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध फ्रांसीसी डाक्टर रे लिखता है :—"वेश्यावृत्ति वह वृत्ति, पेशा या कार्य है, जिसके अनुसार कोई स्त्री धन पाकर या धन पाने की आशामें बिना किसी तमीज़के हर पुरुषको अपना तन हवाले कर देती है। इस क्रियामें दो विशेषताएँ हैं—(१) बिना भेद-भावके कोई भी पुरुष उसके तनका उपभोग कर सकता है और (२) इस समर्पण क्रियाके एवज़में नारीको पुरस्कार या मेहनताना मिलता है। वेश्यावृत्तिकी एक तीसरी विशेषता और है वह यह कि विविध पुरुषोंके साथ यह समर्पणकी क्रिया सम्पन्न हो।[5]

---

[1] "Sexual life of our Time" by Iwan Bloch, P. 100-103.
[2] W. H. Roscher, "Nectar and Ambrosia, P.P. 86-89.
[3] Goethe, "Der Gott und die Bajadere."
[4] Journal for the suppression of Venereal Discases, Vol. II, P.P. 311-312.
[5] Rey, "Public and Secret Prostitution, P. 1

अनेक पाश्चात्य आलोचक वेश्यावृत्तिके लिये नारीको ही दोष देते हैं। उनके अनुसार वेश्यावृत्ति ग्रहण करनेवाली नारियोंमें जन्मसे ही वेश्याओंके लक्षण होते हैं[1]। किन्तु फ्रैडरिक हैमर ऐसी विचारधाराका खंडन करते हुए कहता है कि :"जिस व्यक्तिने भी वेश्यावृत्तिका गम्भीर अध्ययन किया है, उससे यह बात छिपी नहीं है कि एक सम्माननीयमहिला किस तेज़ीके साथ परिस्थितियों और वातावरणसे विवश होकर वेश्यावृत्तिकी ओर फ़िसलती है। कुछ सप्ताह पहले तक वह पवित्र, विनम्र, सम्मानपूर्ण और सादगी से भरी होती है। किन्तु पतनके चक्रमें फँसकर और परिस्थितियोंकी चक्कीमें पिसकर उसकी पवित्रता चूर-चूर हो जाती है। अपनी असहायतापर वह आँसू बहाती है किन्तु उस नरकसे निकलनेका उसके पास कोई रास्ता नहीं रहता[2]।"

इस शताब्दीके प्रारम्भमें अनेक देशोंके समाज सुधारकोंका ध्यान वेश्याओंकी समस्याकी ओर गया। यूरोपीय देशोंमें वेश्यावृत्तिने अनेकों गम्भीर समस्याएँ पैदा करदी हैं जिनमें भयंकर यौन रोगोंकी एक लम्बी तालिका भी शामिल है। समस्याका हल ढूँढ़ निकालनेके लिए विविध देशोंके यौन रोगोंके विशेषज्ञों और समाज-सुधारकोंने अपने अनुभवोंपर आधारित अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये*।

सन् १८५० के लगभग डाक्टर लिपर्टके ग्रन्थने सबसे पहले वेश्याओंकी हृदयविदारक कहानियाँ यूरोपकी जनताके सामने रखीं। डाक्टर लिपर्ट अपने ग्रंथमें लिखते हैं :–

"वेश्यावृत्तिका दानव सहस्रमुखी है। यह गिरगिटकी तरह अपना रंग बदलता है। अगणित कुलवधुओंको यह दर-दरकी ख़ाक छनवाता है, असंख्य वर्णसंकर सन्तानोंका यह जन्मदाता है। मयखानें और नाचघर इसीके सहारे चलते हैं। इसके चकला घरोंमें हत्याओं और डाकोंकी योजनाएँ बनती हैं। अगणित आत्महत्याओंकी यहाँ भूमिका तैयार होती है। भयंकर यौन-रोगोंका यहाँ सृजन होता है। जन्मान्धों और जन्मवक्रोंके आगमनकी यहाँ ही दाग़बेल पड़ती है। समाजके दानव निर्धन कुलवधू या कुमारीको सहसा अपने नागपाशमें जकड़ लेते हैं। मुक्तिके लिये छटपटाकर वह अवश हो जाती है। मंत्रमुग्ध-सी ये अबलायें दर्जनोंकी संख्यामें नारकीय चकलाघरोंमें रहने को विवशकी जाती हैं। इन्हें सजाकर कोठोंपर बिठाया जाता है। सम्मोहन अस्त्र देकर इन्हें शिकार फँसानेके लिये सड़कोंपर घुमाया जाता है। मालिकों द्वारा दैनिक मासिक और

---

1 C. Lombroso, "Woman as Criminal and Prostitute, P. 550.

2 Friedrich Hammer, "The Regulation of Prostitution, P. 380.

* कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं :—

1. Dr. Michael Ryan, "Prostitution in London."
2. Dr. William Tait, "Prostitution in Edinburgh."
3. Rev. Ralph Ward Law, "Prostitution in Glasgow."
4. Berand, "Prostitution of Paris."
5. F. J. Behrend, "Prostitution in Berlin and the Measures against Syphilis."
6. H. Lippert, "Prostitution in Humburg."
7. Joseph Schrauk, "Prostitution in Vicuna."
8. W. Acton, "Prostitution in its various Aspects."
9. J. Jeaunel, "Prostitution in Large Towns."
10. C. Strohmberg, "Prostitution : a Socio Medical Study."

वार्षिक ठेकोंपर उन्हें उठाया जाता है। ३० या ३२ वर्षकी अवस्था तक, जब तक उनकी यौवन-श्री अक्षुण्ण रहती है, उनके ख़रीदार उनकी क़द्र करते हैं और फिर मरणान्तक बीमारियोंमें ग्रस्त, बेआसरा बेसहारा उन्हें ठोकर मारकर सड़कोंपर निकाल दिया जाता है। तुरन्तउनके रिक्त स्थानकी पूर्त्ति कर ली जाती है। घरेलू नौकारानियोंका वर्ग जब तक है तब तक वेश्याओंकी पंक्ति क्षीण नहीं हो सकती।"

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें वेश्याओंकी हित चिन्तनाका सर्वाधिक श्रेय डाक्टर अलफ्रेड ब्लाखोंको है। सन् १८९२ में उन्होंने मेडिकल सोसाइटी, बर्लिनकी ओरसे वेश्यावृत्तिके विनाशके लिये एक विश्व सम्मेलन किया। यूरोप, अमरीका और एशियाके अनेक विद्वानों, चिकित्सकों और समाजशास्त्रियोंने समस्याके विवादपूर्ण अध्ययन में भाग लिया। इस सम्मेलनके परिणामस्वरूप दो नारे बुलन्द किये गये :—

१. वेश्या वृत्तिकी वैधानिक मान्यता समाप्त की जाय,

२. चकलाघरोंको बन्द किया जाय।

इस शताब्दीके शुरूमें ही संसारके सभ्य देशोंमें वेश्यावृत्तिके लिये सुकुमारी लड़कियों को फुसलाकर उड़ाये जाने और बेचे जानेके विरुद्ध जिहाद शुरू किया गया। सन् १९०५ में फ्रैंक-फर्टमें इस सिलसिलेमें एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (International conference for the Suppression of the Traffic in Girls.) बुलाया गया और वहाँ किशोर वयस्का बालिकाओंके इस व्यापारके विरुद्ध रचनात्मक निर्णय किये गये[1]।

फ़ेलिक्स वोमेनके अनुसार सन् १९१२में अकेले न्यूयार्कके नगरमें कमसिन लड़कियों के अनैतिक व्यापारियोंकी संख्या लगभग बीस हज़ार थी। ये व्यापारी अँगरेज़, जापानी, जर्मन, तुर्क, भारतीय, यूनानी, फ्रांसीसी, हंगेरियन सभी प्रकारकी लड़कियोंको यूरोप और एशियासे फुसलाकर अमरीकी चकला-घरों या कस्वीखानोंकी मांग पूरी करते थे[2]। सन् १९२३ के लीग आफ नेशन्स कनवेन्शन के अनुसार विविधि देशोंकी सरकारें इस जघन्य राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारको बन्द करनेके लिये काफ़ी प्रयत्नशील हैं।

प्रसिद्ध अंग्रेज़ इतिहास लेखक और चिन्तक ड्रेपरने बड़े मार्मिक शब्दोंमें वेश्यावृत्ति से समाजकी निवृत्तिकी ओर विचारकोंका ध्यान आकर्षित किया है। वह लिखता है :—

"विचारकोंमें भी एक वर्ग है, जो इस घृणित व्यापारको 'आवश्यक पाप' बताकर जारी रखनेके पक्षमें है। वह उसपर सरकारी मोहर लगाकर उसे क़ानूनी छाप देना चाहता है। वह वेश्याओंका सूची बद्ध रजिस्टर रखनेकी सलाह देता है। वह क़स्बी खानोंको भी सरकारी नियंत्रणमें चलानेके पक्षमें है। वह वेश्याओंके अनिवार्य और नियमित शारीरिक परीक्षणके पक्षमें है। ऐसे भोले लोगोंकी अक्लपर तर्स आना चाहिये। ये लोग दुनियाके हर दुर्गुणको, समाजमें प्रचलित हर बुराईको, सरकारी छाप लगाकर न्याय्य ठहराना चाहते हैं। वेश्यावृत्ति यदि और पेशोंकी तरह एक पेशा है, तो हिन्दुओंकी जाति-पाँतिकी तरह ये उसे अपरिवर्तन शील रखना चाहते हैं। क्या वे अपनी बहिनों

[1] Revelations Regarding the International Traffic in Girls, P.P. 207-208.

[2] "Sexual Life of our Time," by Iwan Block, P. 338

श्रौर बेटियोंको निःसंकोच वेश्यावृत्तिका पेशा स्वीकार करने देंगे ? इस पेशेमें फँसी बहिनोंको स्वस्थ सामाजिक जीवन बितानेका जीवनमें कोई अवसर प्राप्त न होगा—क्या यह हृदयको कँपा देनेवाली स्थिति नहीं है ? 'समाजकी आवश्यकता' के नामपर लाखों असहाय नारियोंको आतशक, सूज़ाक और तपेदिक की नारकीय यंत्रणा भोगनेके लिये छोड़ देना—यह किस प्रकारका न्याय है ? पुरुष इन घृणित रोगोंके कीटाणुओंको वेश्याओंसे उपहारमें पाकर अपनी भोलीभाली विश्वासी पत्नीको भेंट करता है । इन यौन रोगोंके परिणाम उसकी सन्ततिको जीवनपर्यन्त भुगतने पड़ते हैं । वेश्यावृत्तिको आवश्यक बतानेवाले समाजशास्त्री अपने कलेजेपर हाथ रखकर जरा सोचें कि वे कैसा भयानक कुफ़ बक रहे हैं[1] ।"

वेश्याको सम्बोधन करते हुये प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और विद्वान विलियम लैकी लिखता है :—

"कलुष और पतनकी प्रतीक उस एक नारीपर वासनाओंका एक ऐसा केन्द्रीभूत बोझ लदा हुआ है कि जो यदि बिखर जाय, तो सारा संसार लज्जासे भर जायगा । धर्म आते हैं और जाते हैं; सभ्यताएँ फलती-फूलती हैं और समाप्त हो जाती हैं । किन्तु करुणा की वह साकार मूर्त्ति, वेश्या, मानवताकी अमर पुजारिनी पुरुषोंकी काम-लिप्साकी लपटों में युग-युगसे ईंधनकी तरह जीवित धाँय-धाँय जल रही है[2] ।"

(८)

संसारके अन्य देशोंकी तरह भारतमें भी वेश्यावृत्ति का अभिशाप विविध रूपोंमें दिखाई देता है । भारतका कोई नगर ऐसा नहीं है, जहाँ यह अभिशाप अपने तीव्र रूपमें न हो । उदाहरणके तौरपर हम १९५१ में लिये हुये इलाहाबाद नगरके आँकड़े यहाँ पेश कर रहे हैं ।

चकला घरों की संख्या	सार्वजनिक वेश्याओं की संख्या	गुप्त वेश्याओं की संख्या	आयु श्रेणी			आतशक और सूज़ाक आदि यौन रोगों से पीड़ित वेश्याओं की संख्या
			११ से १६ वर्ष	१७ से २५ वर्ष	२६ से ३५ वर्ष	
२९	५८७	१३९	२१८	२५४	१०६	४६३

गुप्त वेश्याओंमें उन विवाहिता स्त्रियोंकी भी गणना है जिनके पतियोंकी आमदनी पचास रुपयेके भीतर है या जिनके पति बेकार हैं । इन बहिनोंकी वेश्यावृत्तिसे ही परिवार का भरण-पोषण होता है[3] । ऊपरके आँकड़ोंमें केवल उन्हीं वेश्याओंका शुमार है जिनके नाम पुलिस स्टेशनों और म्युनिसिपल स्वास्थ्य विभागकी जाँच-पड़ताल डायरी में दर्ज हैं ।

भारतकी विविध नगरपालिकाओंने वेश्याओंको आवासगृहोंसे दूर नगरके एकान्त भागमें रखनेकी नीति अपनाई है । किन्तु इसकी उपादेयतापर गम्भीर मतभेद हैं । पंडित जवाहरलाल नेहरू जब इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटीके अध्यक्ष थे,

[1] Draper, "The Social Diseases," P. 71
[2] Religion and Science, by William Lecky, P. 128
[3] B. N. Pande, "Allahabad : Retrospect and Prospect," P. 460

उस समय वेश्याओंके वास स्थानका प्रश्न उनके समक्ष आया । समस्यापर अपने विचार प्रकट करते हुए श्रीनेहरूने लिखा था :—

"वेश्याओंके निवासस्थानका प्रश्न म्यूनिसिपैलिटीके सामने गत कई वर्षोंसे है। मैं चाहता हूँ कि केवल निवासस्थानके सीमित प्रश्नपर ही विचार न किया जाय बल्कि समस्याके व्यापक रूपपर विचार किया जाय। गत वर्ष म्युसिपैलिटीने वेश्यावृत्तिको नगरसे समाप्त करनेका साहसपूर्ण निर्णय किया था। इस प्रस्तावको मूर्त रूप देनेके लिये एक समितिका भी निर्माण किया था। किन्तु वह प्रयास जैसा कि सबको पता था, असफल सिद्ध हुआ। दुनिया कितनी बदल जाय यदि हम प्रस्तावोंके द्वारा बुराइयों और अपराधोंको दूर कर सकें। यह दुःखकी बात है कि हमें नवनिर्माणके काममें सम्हल-सम्हलकर क़दम रखना पड़ता है।

"यह एक मानी हुई बात है कि वेश्यावृत्ति एक पाप है और समाजके पहलूमें वह एक नासूरकी तरह है। इतिहासके उषाकालसे वेश्यावृत्ति प्रचलित है और हममें इतनी अहम्मन्यता नहीं होनी चाहिये कि हम कहें कि हम उसका यकायक अन्त कर देंगे। किन्तु संसारके प्रत्येक देशमें नैतिकता और सार्वजनिक स्वास्थ्यको दृष्टिमें रखकर उसकी बुराईको कम करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। पश्चिमके अनेक नगरोंमें वेश्यावृत्तिको नियमबद्ध और सूचीबद्ध करनेका प्रयत्न किया गया किन्तु उससे उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हुई। कुछ नगरोंमें मान्यताप्राप्त चकलाघर हैं, जिनका नियमित निरीक्षण होता है किन्तु पुलिसके लाख प्रयत्न करनेपर भी अधिकांश वेश्याएँ नियमबद्ध होने या रजिस्ट्री करानेसे साफ़ इनकार करती हैं। इस प्रश्नको हल करनेका एक दूसरा तरीक़ा है कि क्लिनिक खोले जायँ जहाँ यौन बीमारियोंके इलाजका प्रबन्ध हो। इन चिकित्सालयोंमें इन बीमारियोंके सम्बन्धमें लोगोंको ज्ञान कराया जाय। इनके परिणामोंसे वेश्यागामियोंको सचेत किया जाय। नियम और अधिनियम बनाकर प्रत्येक देशमें वेश्यावृत्तिको कम करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। अनेक देशोंमें कुटनेपनको भी एक जघन्य अपराध समझा जाता है।

"यह एक माना हुआ सत्य है कि वेश्यावृत्तिके दो कारण हैं—एक आर्थिक और दूसरा मानवीय दुर्बलता। यदि हम स्त्रियोंको आर्थिक दृष्टिसे अपने पैरोंपर खड़े होनेमें सहायता पहुँचायें तो हम नियम और अधिनियम बनाकर वेश्यावृत्तिको बन्द करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सफलतापूर्वक उसे बन्द करनेमें सहायता करेंगे। मानवीय दुर्बलताको दूर करना अति कठिन है, किन्तु स्त्री-पुरुषोंकी आर्थिक और सामाजिक बराबरीसे समस्याके सुलझनेमें मदद मिलेगी। वेश्याओंको अपने बीचमें रखनेसे हमें बदनामी महसूस होती है किन्तु वेश्याएँ अपना पुरातन पेशा एकमात्र अकेले नहीं चला रही हैं। वे वेश्यागमनके अपराधकी केवल एक पक्ष हैं। दूसरे पक्षकी बुराई मेरे कानोंमें कभी नहीं पड़ती। यह दूसरा पक्ष पुरुषोंका है, जो असहाय स्त्रीकी असमत लूटकर सारा दोष उसीके सर मढ़ देता है। यदि वेश्यावृत्ति हमें बन्द करनी है, तो वेश्याओंको हम जितना दोष देते हैं, उतनाही दोषी हमें वेश्यागामी पुरुषोंको ठहराना चाहिये।

"यदि हम इस प्रस्तावको स्वीकार करलें कि वेश्याओंको नागरिकोंके रहनेके मुहल्लों से या व्यापारक्षेत्रसे हटाकर अलग कर दिया जाय, तो उसका परिणाम यह होगा कि

वे शहरसे बाहर एक जगह इकट्ठा रहने लगेंगी। इस कार्यको व्यावहारिक रूप देना सरल नहीं है। वे खुल्लमखुल्ला कोठोंपर बैठनेके बजाय चुपचाप अपना पेशा करेंगी। किन्तु यदि हम उन्हें शहरसे बाहर निकालनेमें सफल भी हो गये, तो इसका परिणाम क्या होगा? इस विषयके एक अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञकी राय मैं यहाँपर उद्धृत करना चाहता हूँ। वे कहते हैं :—"वेश्याओंकी स्थितिकी जाँच-पड़ताल करनेमें मैं यूरोपके लगभग सभी बड़े नगरोंमें गया ——ग्लासगोसे बुडापेस्ट तक और रोमसे क्रिस्टिनिया तक। मुझे एक भी पुलिस आफ़ीसर ऐसा नहीं मिला, जो इस रायका हो कि वेश्याओंको एक ही मुहल्लेमें एकत्रित कर देना चाहिये। उनका इस प्रकार एकत्रित करना अत्यन्त अवांछनीय है। अपराधकी तरह वेश्यावृत्ति भी यदि एक जगह सघन हो जाय, तो अत्यन्त खतरनाक हो जाती है। जिस तरह अपराधियोंको एक जगह एकत्रित कर देना ख़तरनाक है, उसी तरह वेश्याओंको एक जगह एकत्रित करना आपत्तिजनक है।"

वेश्यावृत्तिकी हानियोंको कम करनेके लिये श्री नेहरूने निम्नलिखित सुझाव पेश किये :—

१. वेश्याओंके आवास-स्थान स्कूलों, कालेजों और होस्टलोंके निकट न हों।
२. कुटनियोंकी प्रथा बन्द करदी जाय।
३. वेश्याओंका कोठोंपर बैठना बन्द कर दिया जाय।
४. अधिक से अधिक महिला कल्याण गृह खोले जायँ जहाँ असहाय और विधवा स्त्रियाँ सुरुचिपूर्ण जीवन बिता सकें।
५. यौन रोगोंके सम्बन्धमें लोगोंको जानकारी करानेका प्रयत्न किया जाय!
६. चकलेघर या कस्बीख़ाने क़ानूनन बन्द कर दिये जायँ। स्त्रियोंकी सम्भोग-स्वीकृति आयु (Age of consent) बढ़ा दी जाय।
७. लड़कियोंको फुसलाकर उड़ाना और बेचना बड़ा अपराध समझा जाय और उसके उल्लंघनपर अत्यंत कठोर दंड दिया जाय।

वेश्याओंको नगरसे बाहर हटानेका घोर विरोध करते हुए पंडित नेहरूने कहा :— "वेश्याओंको नगरसे बाहर एक अलग मोहल्लेमें बसानेका मैं तीव्र विरोध करता हूँ। यदि आप उन्हें एक अलग मोहल्लेमें बसाना चाहते हैं, तो फिर वेश्यागामी पुरुषोंको भी आप शहरसे बाहर एक दूसरे अलग मोहल्लेमें बसानेका आयोजन करें।"*

यौन रोग वेश्यावृत्तिकी ही औरस सन्तानें हैं। सन् १९१३ में यौन रोगोंके सर्वांगीण परीक्षणके लिये इंगलिस्तानमें एक रायल कमीशन मुक़र्रर किया गया। कमीशनकी सिफ़ारिशोंके अनुसार उस देशमें यौन रोगोंसे बचने और उसकी चिकित्साके लिये ठोस क़दम उठाये गये। भारतीय चिकित्साके इतिहासमें पहली बार मार्च सन् १९१७ में यौन बीमारियोंका मुक़ाबला करनेके लिये बम्बईके चिकित्सकोंकी एक लीग क़ायम हुई। पाश्चात्य देशोंकी चिकित्सा प्रणालीको बम्बईके डाक्टरोंने भी अपनाया।

भारतके अन्य अनेक नगरोंके समान इलाहाबादमें भी यौन रोग अपनी पराकाष्ठा पर हैं। म्युनिसिपैलिटीके अपने अध्यक्ष कालमें मैंने सन् १९५१ में अस्पतालों और व्यक्तिगत चिकित्सकोंसे जो आँकड़े एकत्रित करवाये उसके अनुसार उस वर्ष इलाहाबाद

* Allahabad Municipal Gazzete, 10th June 1923

नगरमें १०,८३७ व्यक्तियांकी यौन रोगोंके लिये चिकित्सा की गई;* भारत सरकारके स्वास्थ्य मंत्रालयकी विज्ञप्तिके अनुसार भारतमें इस समय १,३०,००,००० स्त्री और पुरुष आतशक और सूजाक आदि यौन रोगोंसे पीड़ित हैं। वेश्यावृत्ति समाजसे जो भयंकर बदला चुका रही है ये आँकड़े उसकी करुण कथा सुना रहे हैं ।

(६)

स्वतन्त्रता प्राप्तिके बादसे भारतमें वेश्यावृत्ति निरोधकी ओर जनता और जन-प्रिय सरकार, दोनोंका ध्यान शनैः-शनैः आकर्षित हो रहा है। केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्डने २४ दिसम्बर सन् १९५४को 'सामाजिक और नैतिक स्वास्थ्य परामर्श समिति' मुक़र्रर की। समितिकी अध्यक्षा श्रीमती धनवन्ती रामाराव थीं और सदस्याएँ श्रीमती शान्ति कबीर, श्रीमती विमला देशमुख, श्रीमती मैत्रेयी बोस, श्रीमती पी० पारिजातम नायडू और मंत्री सदस्य श्री वी० वी० शास्त्री थे। समितिने ३० सितम्बर सन् १९५५ को अपनी विचारपूर्ण रिपोर्ट केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्डके समक्ष प्रस्तुत की है। अन्य बातोंके अतिरिक्त समितिको लड़कियोंके अनैतिक व्यापारकी जाँच पड़तालका काम भी सौंपा गया था और उन्हें यह भी सलाह देनेका काम सौंपा गया था कि स्त्रियों और बालिकाओंको नारकीय वेश्या जीवनसे कैसे छुटकारा दिलाया जा सकता है।

समितिकी रिपोर्टसे कुछ अत्यन्त उपयोगी तथ्योंका पता चलता है। जैसे भारतमें अकेला एक कुर्ग ही ऐसा राज्य है जहाँ वेश्यावृत्ति नहीं है। भारतमें चार प्रकारकी वेश्याएँ हैं—(१) वेश्याओंकी अपनी कन्यायें, (२) देवदासियां और धार्मिक वेश्याएँ, (३) सामाजिक परिस्थितियोंसे विवश होकर जिन्होंने वेश्यावृत्ति स्वीकार की है और (४) अत्यधिक यौन भावनाओंसे पूर्ण नारियाँ जिन्होंने व्यक्तिगत कारणोंसे वेश्यावृत्ति अपनाई है।

पहली श्रेणीकी वेश्याएँ गोआ में 'गौमन्तक' सावन्तवाड़ीमें 'कोलाती', आंध्रमें 'वसावी' और 'कोयी' और उत्तरप्रदेश और बिहारमें 'नट' और बेड़िनियाँ' कहलाती हैं।

दूसरी श्रेणीकी वेश्याओंकी परम्परा मद्रास, बम्बई और उड़ीसा में पाई जाती है। मद्रास और बम्बई दोनों जगह देवदासी विरोधी क़ानून बनाये गये। मद्रासमें एक बहुत बड़े अंश तक देवदासी प्रथाका अन्त करनेमें सफलता प्राप्त हुई है। राजकीय सहायता, जनमत और समाज सेवकोंकी सतत चेष्टाओंसे उसे इसमें सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु बम्बईमें देवदासियोंकी प्रथा अब भी यल्लामा, दुर्गा और मंगेशके मन्दिरोंमें प्रचलित है। बम्बईके चकलाघरोंमें कर्नाटक, खानदेश और राज्यके दूसरे क्षेत्रोंसे लाई हुई इस प्रकारकी देवदासियाँ समितिको मिलीं। चकलाघरोंकी मालकिनें जो 'घरवाली' कहलाती हैं इन देवदासियोंकी आधी आमदनी हड़प जाती हैं। ये घरवालियाँ इन्हें गहने कपड़ोंके लिये कर्ज़ देती हैं और रहनेको कोठरी। इनमेंसे प्रत्येक लड़की यौन रोगों से पीड़ित दिखाई दी। इनमें से अधिकांश स्त्रियाँ पाँच रुपयेसे लेकर १० दस रुपया रोज़ तक कमाती हैं। आठ आना प्रति व्यक्तिके हिसाबसे ये दससे लेकर बीस आदमियों तक की कामवासना रोज़ तृप्त करती हैं।

*B.N. Pande, "Allahabad : Retrospect and Prospect," P.P. 94-95

तीसरी श्रेणीकी वेश्याओंमें, जिन्हें परिस्थितियोंने वेश्या बननेपर विवश किया, समितिको ऐसी निर्धन किन्तु सम्माननीय परिवारोंकी स्त्रियाँ मिलीं:—(१) जिन्हें बेकारी और भुखमरीने वेश्या बननेपर विवश किया; (२) नवयुवती विधवायें, जिन्हें परिवार वालोंने क्रूर व्यवहार करके घरोंसे बाहर निकलने और वेश्याएँ बननेपर विवश किया; (३) पतियों, सासों और ससुरालके अन्य सदस्यों द्वारा सताई गई नवयुवतियां जिन्होंने घरके असहनीय अत्याचारोंसे वेश्यालयोंका जीवन कहीं कम कष्टकर समझा और (४) वे युवतियां और बालिकायें जो पितृहीना और अनाथ थीं और जिन्हें उनके ही अभिभावकों ने वेश्या बननेके लिये आजाद छोड़ दिया। हैदराबाद दक्षिणमें ऋणग्रस्त परिवार साहूकारोंको अपने लड़के लड़कियाँ सदाके लिये दे देते हैं। यह प्रथा 'परवरदा' कहलाती है। अकेले हैदराबाद और सिकन्दराबाद के नगरोंमें इस प्रकार के तेईस हज़ार बच्चे समितिको मिले जिनमें एक तिहाई से अधिक बालिकायें थीं। इनमेंसे अधिकांश बालिकायें वेश्याओंके चकलाघरोंको आबाद करनेपर विवश की जाती हैं। बंगालमें अनेकों बालविधवायें हैं। इनके पिता या अभिभावक इन्हें काशीमें विश्वनाथके मन्दिरमें भजन करनेके लिये छोड़ जाते हैं। इन सुकुमार बंगाली बाल विधवाओंमें से एक बड़ी संख्या कुटनियों द्वारा दालमंडीमें पहुँचा दी जाती है।

चौथी श्रेणीकी वेश्याएँ पूरी-पूरी वेश्याएँ नहीं हैं। वे सप्ताहमें दो-तीन बार वेश्यालयों, होटलों, या बोर्डिंगोमें जाकर अपनी असाधारण जिन्सी भूख बुझाती हैं। इसके एवज़में इन्हें आर्थिक आमदनी भी हो जाती है।

वेश्या वृत्तिके व्यापारको चलानेमें चार प्रकारकी एजेन्सियाँ भाग लेती हैं:—(१) लड़कियाँ फुसलाकर उड़ानेवाले या कुटनियाँ; (२) चकलाघर या क़स्बीखानेकी मालकिन जिसे दक्षिणमें 'घरवाली' और उत्तरमें 'नायिका' या 'नायक' कहा जाता है; वेश्याओंकी पचास प्रतिशतसे अधिक आमदनी इन मालकिनोंके बटुयेमें चली जाती है; (३) दलाल जिनमें टैक्सी ड्राइवर, रिक्सावाले, टाँगावाले या दूसरे लोग शामिल होते हैं और (४) मकान मालिक।

समितिने अपनी रिपोर्टमें एक अलग अध्यायमें उन सब क़ानूनों, नियमों, अधिनियमों और उपनियमोंकी चर्चा की है जो स्त्रियोंको भगाने, बेचने, पेशा करानेके लिये किसी एक जगह रखने या उनसे कामवासना परितृप्त करनेसे सम्बन्धित हैं। अपनी विविध धाराओंके अनुसार भारतीय दण्ड विधान (धारा ३६६, ३६६ अ, ३६६ ब, ३७२, ३७३ और ३७६) निम्नलिखित बन्दिश लगाता है:—

(१) सोलह वर्षसे कम आयुकी अविवाहित बालिकासे उसकी सहमति के होते हुए भी यौन सम्बन्ध वर्जित है।

(२) किसी भी स्त्रीके साथ उसकी सहमति और मरज़ी के प्रतिकूल डरा धमकाकर फुसलाकर या बेहोशीकी दवा पिलाकर यौन सम्बन्ध वर्जित है।

(३) विवाहिता स्त्रीके साथ उसकी सहमतिसे यौन सम्बन्ध जुर्म नहीं है बशर्ते कि इसमें उसके पति की सहमति हो या वह इससे आँख बचाता हो।

(४) अपहरण अभिभावकके अधिकारोंके विरुद्ध जुर्म है।

(५) किसी स्त्रीका अपहरण इस उद्देश्यसे करना कि उसे दूसरे व्यक्तिके साथ यौन सम्बन्ध करनेपर विवश किया जाय जुर्म है।

(६) नाबालिग़ लड़कियोंको वेश्यावृत्तिके लिये बेचना या देना क़ानूनी अपराध है।

लड़कियोंके अनैतिक व्यापारको रोकनेके लिये भारतके विविध राज्योंमें जो क़ानून प्रचलित हैं उनकी तालिका इस प्रकार है :—

१. बम्बई वेश्यावृत्ति निरोधक क़ानून, १९२३,
२. मद्रास अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९३०
३. बंगाल अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९३३,
४. उत्तरप्रदेश अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९३३,
५. पंजाब अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून १९३५,
६. मैसूर अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९३६,
७. जम्मू-काश्मीर अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९३४,
८. बिहार अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९४८,
९. त्रावणकोर-कोचीन अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९५२
१०. हैदराबाद अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९५२,
११. मध्य प्रदेश अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९५३,
१२. अजमेर अनैतिक व्यापार निरोधक क़ानून, १९५३।

मद्रासका क़ानून आन्ध्रमें प्रचलित है और बंगालका दिल्लीमें। बम्बईका देवदासी क़ानून, १९३४, और मद्रासका देवदासी क़ानून, १९४७ विशेष क़ानून हैं जिनके द्वारा दोनों राज्योंमें बालिकाओंको देवार्पित करके देवदासी बनानेकी प्रथा ग़ैरक़ानूनी क़रार दी गई है। सन् १९२९ का यू० पी० नायक बालिका क़ानून १८ वर्ष तक की आयुकी बालिकाओं पर रोक लगानेका अधिकार डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेटको देता है।

समितिने इस बातकी सिफ़ारिश की है कि विविध राज्योंके क़ानूनोंमें जो असमानता है उसे दूर करके सब क़ानूनोंको एक-सी-उपविधियोंके अन्तर्गत लाया जाय। समिति की इस सिफ़ारिशके अनुरूप ही नवम्बर १९५५ में भारतीय लोक सभाने इस सम्बन्धमें दो महत्वपूर्ण क़ानून स्वीकार किये हैं। वे हैं :—(१) सप्रेशन आफ़ इम्मारल ट्रैफ़िक इन वीमेन एण्ड गर्ल्स बिल और (२) चकलाघरोंको ग़ैर क़ानूनी क़रार देने वाला क़ानून।

लड़कियोंका व्यापार और चकलाघरोंको समाप्त करनेके सम्बन्धमें समितिने एक दर्जनसे अधिक उपयोगी और व्यावहारिक सुझाव दिये हैं।

अपनी रिपोर्टके साथ समितिने अनेकों उपयोगी तालिकायें दी हैं जो वेश्याओंकी समस्यापर काफ़ी रोशनी डालती हैं। कलकत्तामें १३० वेश्याओंको अचानक चुनकर उनके जीवनके विविध पहलुओंपर उनसे जो जानकारी प्राप्त की गई उन्हें तालिकाओंके रूपमें रिपोर्टमें शामिल किया गया है। ये तालिकायें काफ़ी आँखें खोलनेवाली हैं। उदाहरणके रूपमें हम यहाँ कुछ तालिकायें उद्धृत कर रहे हैं।

(१)

वर्ष	आयु समूह	संख्या	प्रतिशत
,,	१५–१८	१	१
,,	१९–२५	६५	५०
,,	२६–३०	३९	३०
,,	३१–४१	१८	१४
,,	४० और अधिक	४	३०
		१३० वेश्याएँ	

(२)

विशेष धर्मावलम्बी	संख्या
हिन्दू	१११
मुसलिम	१२
बौद्ध	४
ईसाई	२
अनजान	१
	१३०

(३)

सामाजिक वर्ग	संख्या	प्रतिशत
किसान	२३	३७
निम्न व्यापारी	६	१४.५
चाकर	६	१४.५
वेश्या परिवार	७	११.३
शिल्पी	४	६.५
क्लर्क परिवार	४	६.५
ज़मींदार और धनी किसान	२	३.३
अन्य	४	·६.४
	६२	

(४)

विवाहित स्थिति	संख्या	प्रतिशत
विवाहिता	४३	३३.१
विधवाएँ	४१	३१.५
अविवाहिताएँ	४०	३.०८
वेश्यापुत्री	६	४.६
	१३०	

(५)

कारण	संख्या	प्रतिशत
पुरुषों द्वारा फुसलाई हुई	४२	३२.३
निर्धनताके कारण	३३	२५.५
कुटनियों द्वारा लाई हुई	१८	१४
पतियों द्वारा सताई हुई	१५	११.५
वेश्या पुत्री	८	६
पतियों द्वारा परित्यक्त	६	४.६
घरोंसे निकाली हुई	३	२.३
पतिकी चरित्रहीनताके कारण	२	१.५
पति द्वारा वेश्या बनाई गई	२	१.५
विमाताओंके अत्याचारों के कारण	१	.८
	१३०	

(६)

आमदनी	संख्या	प्रतिशत
सौ रुपयासे कम	४५	३४.६
सौ और ढाई सौ रुपयाकेबीच	५५	४२.३
ढाई सौ और पांच सौकेबीच	२०	१५.४
अन्य	१०	७.७
	१३०	

उपरोक्त तालिकाओंसे कई बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि उन्नीससे पच्चीस वर्ष तककी आयुकी अधिकसेअधिक बालिकायें वेश्यावृत्तिके लिये इकट्ठी की जाती हैं। दूसरी यह कि वेश्याओंमें सबसे अधिक संख्या हिन्दू स्त्रियोंकी है। जिन धर्मावलम्बियों में विधवा विवाह, विवाह विच्छेद और पुनर्विवाहका प्रचलन है उनमें वेश्यावृत्ति नगण्य है। तीसरी बात यह है कि निर्धनताकी प्रतिमूर्त्ति किसानोंकी बालिकायें ही सबसे अधिक संख्यामें फुसलाकर वेश्यावृत्तिके लिये लाई जाती हैं। चौथी बात यह कि विधवायें और विवाहिता स्त्रियां, इस आकस्मिक सरवेके अनुसार, वेश्याओंका लगभग ६५ प्रतिशत

हैं। पाँचवीं बात यह कि २० प्रतिशत स्त्रियोंको वेश्या बनानेके लिये पति जिम्मेदार हैं २५ प्रतिशतके लिए निर्धनता जिम्मेदार है और ३२ प्रतिशतके लिये लम्पट पुरुष जिम्मेदार हैं। छठवीं बात यह साफ होती है कि आमदनीके अनुपातसे ५५ प्रतिशत वेश्याएँ उन परिवारोंसे आती हैं जिनकी आय सौ और ढाई सौ रुपयेके बीच हैं।

समितिने ऐसे अनेक आश्रमोंका भी निरीक्षण किया, जो उद्धार की हुई बहिनोंकी देखभाल करते हैं। समितिकी रायमें इनमें से अधिकांश आश्रमोंकी व्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक है। इन आश्रमोंका विस्तृत वर्णन पढ़कर इनके प्रति पाठकको किसी प्रकारकी सहानुभूति बाक़ी नहीं रह सकती। इन नारी कल्याण-भवनोंकी सन्तोषप्रद व्यवस्थाके लिये समितिने उपयोगी सुझाव दिये हैं।

समितिने एक अलग अध्यायमें भारतमें यौन-रोगोंकी समस्यापर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। सर जान मेगाके अनुसंधानोंके अनुसार भारतमें लगभग एक करोड़ तीस लाख व्यक्ति यौन रोगोंसे पीड़ित हैं। इनमेंसे केवल ७,७५,००० रोगी इलाजके लिये अस्पतालों और दवाईखानोंमें आते हैं। मद्रास और बंगालमें ये रोग सबसे अधिक फैले हुए हैं। काश्मीरकी उपत्यका और पहाड़ों पर भी यह रोग बहुत अधिक प्रचलित हैं। समितिने यौन रोगोंसे छुटकारेके लिये कई उपयोगी सुझाव दिये हैं।

(१०)

यह हैं संक्षेपमें इन वेश्या बहिनोंकी संतप्त और अभिशप्त कहानी। मानवताके सभी प्रेमियोंको इस समाचारसे अत्यन्त हर्ष हुआ जब अखिल भारतीय हिन्द-चीन मैत्री संघके अध्यक्ष पण्डित सुन्दरलालने चीनसे लौटकर सूचना दी कि चीनी समाज और सरकार दोनोंने मिलकर चीनसे वेश्यावृत्तिका सर्वथा अन्त कर दिया है। आध्यात्मिकता जिसके कण-कणमें है और सदाचार जिसकी साँस-साँसमें है—ऐसा भारत देश क्या अपनी पवित्र भूमिसे वेश्यावृत्तिके इस कलंकको समूल नष्ट करनेके लिये ठोस क़दम नहीं उठायेगा? जिस देशका मूल सांस्कृतिक मंत्र है—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'—वह क्या नारीके इस अशोभनीय रूपको और अधिक समय तक सहन करेगा?

आज हमें प्रौढ़ वेश्याओंकी फिरसे नैतिक संस्थापना करनी है। आज हमें नववयस्क वेश्याओंको फिरसे समाजमें स्वीकार कर उन्हें मृदुल गृहस्थ जीवनका सुख प्रदान करना है। आज हमें वेश्या सन्तानोंको प्रेमसे गले लगाकर स्वतन्त्र भारतमें आदरणीय नागरिकका पद प्रदान करना है। भारतने पुरातन युगमें ऐसा ही किया है। आखिर ऐतरेय उपनिषद्के महान रचयिता क्या एक निकृष्ट हरजाई स्त्रीके पुत्र नहीं थे? उनसे जब गुरुने उनका गोत्र और पिताका नाम पूछा तो क्या अपनी माँसे पूछकर उन्होंने यही उत्तर नहीं दिया था कि—"मैं नहीं जानता कि मेरा गोत्र क्या है? मैं नहीं जानता कि मेरा वर्ण क्या है? मैं नहीं जानता कि मेरा पिता कौन है।? मेरी माताने नागरिकों की सेवकाई करके न जाने किससे मुझे प्राप्त किया है!" ऋषिने यदि इस वेश्यापुत्र का तिरस्कार किया होता तो भारतीय संस्कृति "ऐतरेय" ऐसे महान उपनिषद् ग्रंथकी रचना से वंचित हो जाती। भारतीय राष्ट्रके निर्माता चक्रवर्ती सम्राट् भरत अपनी जिस माँ शकुन्तलाके पेटसे जन्मे थे, वह आखिर किसकी पुत्री थी? इन्द्रकी वेश्या मेनका की, जिसे विश्वामित्रको तपभ्रष्ट करनेके लिये भेजा गया था! किन्तु क्या इसके लिये कभी भारतने अपने महान निर्माता का तिरस्कार किया?

भारतीय समाजमें वेश्या वृत्ति का अस्तित्व भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति, भारतीय स्वाधीनता, भारतीय आध्यात्मिकता, भारतीय धर्म—सबके लिये एक लज्जा और कलंक का विषय है। देशको शपथ लेकर निकट भविष्यमें ही मानवताके इस कलंकसे अपनेको उन्मुक्त करना है।

-:०:-

श्री पारस दीवान

समाज-सुधार और क़ानून

भारतकी सामाजिक व्यवस्थामें सुधार—क्रांतिकारी सुधारों—की आवश्यकतासे आज कोई इन्कार नहीं कर सकता है। भारतवासियोंके वैयक्तिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करना अंग्रेजी शासनकी नीतिका एक अंग रहा था। फल यह हुआ कि जहाँ-तहाँ एकआध सुधारके कानून पास करनेके अतिरिक्त भारतवासियों — हिन्दू और मुसलमानकी संस्थाएँ, नियम, रीति एवं रिवाज वही चलते रहे, जो कि अंग्रेजी राज्यकी स्थापनाके पूर्व थे। अंग्रेजी शासनने सती प्रथापर प्रतिबन्ध लगाया ,हिन्दू विधवा विवाहको क़ानूनी मान्यता दी। पर ये दो चार उदाहरण ही ऐसे हैं जहाँ अंग्रेजी शासन ने समाज सुधारकी आवश्यकताको स्वीकार करके कानून पास किए। इसका कारण स्पष्ट है। अंग्रेजी शासक की सर्वप्रथम नीति यह रही कि भारतपर उनका शासन कायम रहे, और इसके लिए उनका मत यह था कि भारतको जितना भी पिछड़ा हुआ रखा जाए उतना ही अच्छा है। इसके साथ यह भी बात थी कि यदि वे समाजसुधारके क़ानून पास करते तो उन्हें रूढ़िवादी भारतवासियोंके विरोध से भी टक्कर लेनी पड़ती। यह स्मरण रखनेकी बातहै कि अंग्रेजी शासनकाल के प्रारम्भिक कालमें भारतमें रुढ़िवादियोंका बोलबाला था। अंग्रेज़ी राज्यके विरुद्ध सर्वप्रथम आन्दोलन राष्ट्रीयता के नामपर न होकर रूढ़िवादके नामपर हुआ है। प्रथम महायुद्ध तक भारतमें राष्ट्रीय आन्दोलन कभी भी प्रबल नहीं हो सका। १८५७की क्रांति यद्यपि स्वतन्त्रताकी क्रांति थी, परन्तु उसमें रूढ़िवादी एवं सामन्तवादी भावनाओंका ही बाहुल्य था। सच्ची राष्ट्रीयता का जन्म भारतमें प्रथम महायुद्धके पश्चात प्रथम असहयोग आन्दोलन से होता है।

ऐसी स्थितिमें अंग्रेजी शासनने यही उचित समझा कि भारतमें रूढ़िवाद को कायम रखा जाए। रूढ़िवाद और प्रतिक्रियावादका जो सौजन्य है, उसे अंग्रेजी शासक खूब अच्छी तरहसे समझते थे। हुआ यह कि जिस रूढ़िवादने अंग्रेज़ी राज्यके प्रारम्भिक दिनोंमें उसका विरोध किया था उसीने बादमें उसका साथ दिया। रूढ़िवादका सहारा लेकर हिन्दू मुसलमानोंके बीच विरोधके बीज बोए गए जिन्होंने पनप कर, धर्मके नामपर भारत को दो राष्ट्रों में बाँटने पर जोर दिया और अन्तमें भारतके विभाजनको मान्यता मिल ही गई!

अंग्रेजोंके भारतमें आनेके पूर्व भारतकी दोनों मुख्य जातियों के रीति-रिवाज, सामाजिक संस्थाएँ, नियम और वैयक्तिक क़ानून भिन्न-भिन्न थे। इस भिन्नताका अर्थ यह

निकला कि हिन्दू मुसलमान सामाजिक मंचपर कभी भी नहीं मिल सके। अंग्रेजोंने इस भिन्नताका लाभ उठाकर हिन्दू मुसलमानोंकी सामाजिक भिन्नताको बढ़ावा देकर उसे राजनैतिक और राष्ट्रीय भिन्नतामें परिवर्तित कर दिया। इस कूटनीतिमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली।

इसका फल यह हुआ कि हिन्दू मुसलमानोंके वैयक्तिक और पारिवारिक कानूनोंके एक होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठ सका, बल्कि हिन्दू एवं मुसलमानोंकी संस्थाओं, रीति-रिवाज, क़ानून-नियममें भी पृथक-पृथक रूपसे भी सुधार नहीं हो सके और रूढ़िग्रस्त हिन्दू समाज एवं मुसलमान समाज रूढ़ियोंके बीच फँसा कराहता रहा और प्रतिक्रियावाद अट्टहास करता रहा।

अंग्रेज़ी शासनने भारतमें दीवानी और फौजदारी Civil एवं Criminal क़ानूनोंको तो बदलकर अपने यहाँके क़ानून लागू किए, परन्तु वैयक्तिक एवं पारिवारिक मामलोंमें हिन्दू मुसलमानोंके पृथक् वैयक्तिक और पारिवारिक क़ानून जारी रहे।

हिन्दुओंके पारिवारिक एवं वैयक्तिक क़ानूनोंका आधार श्रुति स्मृति एवं हमारे आचार्यो द्वारा की गई टीकाएं ही रहीं। इसी भाँति मुसलमानोंकी पारिवारिक एवं वैयक्तिक क़ानूनोंका आधार शरियत ही रहीं। परन्तु इन क़ानूनोंको लागू करनेका उत्तरदायित्व अंग्रेज़ी न्यायाधीशोंपर रहा। प्रारम्भिक कालमें अंग्रेज़-न्यायाधीशोंकी सहायताके लिये पंडित और मुल्ले नियुक्त किये गये थे, परन्तु उनकी टीका और व्याख्याको मानना अंग्रेज़ न्यायाधीशोंके लिये आवश्यक नहीं था। यदि उन्हें पंडित और मुल्लोंकी व्याख्या और टीका उचित प्रतीत होती थी तो मान लेते थे, अन्यथा नहीं। स्पष्ट ही है कि अंग्रेजी न्यायाधीश चाहे वे कितने ही न्याय पंडित क्यों न रहे हों, भारतके प्राचीन ग्रंथोंमें बताए गए नियमोंको समझने और लागू करनेमें पूर्णतया योग्य नहीं थे। न तो वे यह समझ सकते थे कि किस वातावरणमें किस तात्पर्यसे अमुक नियम हमारे आचार्योंने बनाया है और नहीं वे यह निर्धारित कर सकते थे कि वर्तमान समाजव्यवस्थाके अनुकूल वे नियम हैं या नहीं। अंग्रेज़ न्यायाधीशोंने हिन्दू-क़ानूनके नियमोंको दो भागोंमें बाँटा : एक वे जिन्हें मान्यता मिलनी चाहिये और दूसरे वे जो आचार्योंने केवल सिफारिश के लिए लिखे थे। परन्तु वे नियमोंको पूर्णतया न समझ ही सके और न ही उनकी अच्छाई-बुराईको आँक सके। फल यह हुआ कि अनेक बातें जिनको मान्यता हमारे आचार्योंने दी थी, अंग्रेज-न्यायाधीशों द्वारा स्वीकार नहीं की गई और बहुतसे नियम, जिन्हें हमारे आचार्यों ने मान्यता नहीं दी, स्वीकार कर लिये गये। उदाहरणके लिए हिन्दू आचार्योंने अन्त-र्जातीय विवाहको मान्यता दी थी, पर न्यायालयोंने कहा कि हिन्दुओंमें अन्तर्जातीय विवाह ग़ैरक़ानूनी है। आचार्योंने पागलोंकी शादीको निषिद्ध बताया पर न्यायालयोंने यह निर्णय दिया कि पागलोंकी शादी हिन्दू-क़ानूनके अन्तर्गत जायज़ है। आचार्यों ने 'स्त्री-संपदा' की स्थापना नहीं की, परन्तु न्यायालयोंने उसे स्थापित किया। इस भाँति हिन्दू-क़ानूनका रूप बहुत अंश तक बिगड़ गया। यहाँ यह कहनेका तात्पर्य नहीं है कि हमारे आचार्योंने ऐसे नियम बनाए थे जो अनन्त तक औचित्यपूर्ण ठहराए जा सकते थे, बल्कि यहाँ कहना यह है कि हिन्दू-क़ानून की प्रगतिशील व्याख्या और टीका की जा सकती थी वह नहीं की गयी! बहुत अंश तक यह बात मुसलमानोंके क़ानूनपर भी लागू होती

है। संभवत: इसके लिए हम अंग्रेज़-न्यायाधीशोंकी दोषी नहीं ठहरा सकते, क्योंकि उनका ज्ञान सीमित था। इसके लिए तो दोष शासन-व्यवस्थाको ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसकी नीति हिन्दू-मुसलमान समाजके कल्याणकी न थी।

अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्थाको क़ायम रखनेके लिए अंग्रेजोंके लिए भारतके Civil और Criminal क़ानूनको बदलकर अंग्रेज़ी क़ानून लागू करना आवश्यक था, वह उसने किया। यह कहना अनौचित्यपूर्ण नहीं होगा कि अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए उन्होंने रूढ़िवादको पाला-पोसा और रूढ़िवादको पालने-पोसनेके लिए ही उन्होंने हिन्दू मुसलमानोंके वैयक्तिक एवं पारिवारिक क़ानूनोंको ज्योंका त्यों रखनेकी व्यवस्था की।

भारतमें ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन बढ़ता रहा, ज्यों-ज्यों स्वतंत्रताका अर्थ सही मानेमें समझमें आने लगा, त्यों-त्यों समाज-सुधार राष्ट्रीय आन्दोलनका एक अंग बनने लगा! स्वतंत्रताकी माँग, स्वतंत्रताके लिए आंदोलन, के साथ समाज-सुधारकी मांग समाजसुधार के लिए अन्दोलन भी बढ़ता रहा। भारतके राष्ट्रीय आंदोलनने यह समझा कि जब तक रूढ़िवादको, पिछले पनको त्याग नहीं दिया जाता है, तब तक सच्चा राष्ट्रीय आन्दोलन पनप नहीं सकता। रूढ़िवाद सदैव प्रतिक्रियावादमें बदलकर राष्ट्रीय आंदोलन के सन्मुख आ सकता है और राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगतिमें बाधा उपस्थित कर सकता है। यही समझकर समाजसुधारका आंदोलन राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग बना। कभी-कभी यह भी हुआ कि समाज-सुधारका आन्दोल-राष्ट्रीय आन्दोलनसे पृथक रह कर भी पनपा। आर्य-समाज आंदोलन ऐसा ही आंदोलन था—यह मूल रूपसे हिन्दू समाजमें सुधार और हिन्दू समाज के कल्याण के लिए था, यद्यपि बाद में इसने कुछ ऐसा रूप धारण किया कि वह मुसलिम विरोधी समझा जाने लगा, जिसके कारण राष्ट्रीय एकता को भी कुछ ठेस लगी।

राष्ट्रीय आन्दोलनके साथ-साथ चलनेवाले समाज-सुधार आन्दोलनका अपना महत्व है। पर यहाँ एक प्रश्न सामने उपस्थित हुआ। समाज-सुधारके कार्यको क्या क़ानूनी मान्यता मिलनी ही चाहिए? क्या बिना क़ानून पास किए समाज-सुधार का काम अधूरा रह जाता है?

इन प्रश्नोंका उत्तर तब ठीकसे दिया जा सकता है जब कि हम यह समझलें कि समाज सुधारके लिए क़ानूनका कितना महत्व है! यह तो ठीक है कि कुरीतियों, रूढ़ि ग्रस्त संस्थाओं और नियमों को बदलनेके लिये वैसा क़ानून पास होना आवश्यक है। पर क्या क़ानून पास कर देनेसे ही समाज सुधार हो जाता है? सती प्रथाको रोकनेके लिए पास किए गए कानूनकी एक शताब्दी बीत चुकी है, परन्तु फिर भी एक-आध सती होनेका समाचार आये वर्ष हमें मिल ही जाता है! जो बात सती प्रथाके साथ है, वही बात अन्य समाज सुधारके क़ानूनोंके साथ घटित हो सकती है। किन्हीं परिस्थितियों में तलाककी व्यवस्था उचित मानी जा सकती है, यह भी उचित माना जा सकता है कि यदि पति पत्नी पारस्परिक अनुमति द्वारा विवाह-विच्छेद करना चाहें, तो उन्हें क़ानूनन अनुमति मिल जानी चाहिए। पर फिर प्रश्न यह है कि क्या हमारे समाजका वातावरण ऐसा है, जिसमें पति या पत्नी तलाककी आवश्यकता होनेपर भी तलाककी माँग स्वतंत्रता-

पूर्वक कर सकते हैं—यहाँ क़ानूनी स्वतंत्रताकी या अधिकारोंकी बात नहीं कही जा रही है, बल्कि मनोवैज्ञानिक और मानसिक स्वतन्त्रताकी बात कही जा रही है। क्योंकि आवश्यकता होनेपर तलाककी इच्छा पैदा तो हो सकती है, पर ऐसी कौन-सी नारी है, जो समाज और परिवारके बहिष्कारको सहन कर सकेगी। समाज तलाक लेनेवाली पत्नीको पतित समझकर उसे बहिष्कृत करके क्या उसके साथ अत्याचार नहीं कर सकता है? क्या क़ानून समाजकी इस प्रतिक्रियाको रोक सकता है? निस्संदेह, नहीं।

इस लेखककी रायमें यही जटिल प्रश्न है। अतः कानूनी काररवाईकी आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी जो सबसे बड़ा प्रश्न है, वह समाजके वातावरण का है। समाज का वातावरण ऐसा बन जाये कि क़ानून द्वारा किए गए समाज सुधारके कार्योंको कार्यान्वित करनेमें सुविधा रहें, ताकि समाज-सुधार यथार्थ रूप ले सके।

यह कार्य, स्पष्ट ही है, क़ानून द्वारा नहीं किया जा सकता। क़ानून वातावरण नहीं बना सकता। वातावरण तो समाज-सुधारके आन्दोलन द्वारा ही बन सकता है और समाज-सुधारके आन्दोलनकी सफलताके लिए न केवल सच्चे और त्यागशील कार्य-कर्ताओंकी आवश्यकता है बल्कि जनताकी सुचारु पढ़ाई लिखाईकी भी आवश्यकता है। पढ़ाई-लिखाईके साथ शिक्षाका अटूट सम्बन्ध है; पढ़ने लिखनेपर शिक्षा आ सकती है। तात्पर्य यह है कि समाज-सुधार के आन्दोलनका यह आवश्यक अंग होना चाहिए कि जनताको शिक्षित किया जाए। स्वतंत्र देशोंमें समाज सुधारके आन्दोलनको सरकारी योग और सहायता मिलना आवश्यक है।

अतः समाज सुधारके लिए आन्दोलन और समाज सुधारके लिए क़ानून पास करना इन दोनोंका अपना एक विशेष सम्बन्ध है। समाज-सुधारके लिए आन्दोलन किया जाता है। जनता—विशेषकर रूढ़ि ग्रस्त जनता-आन्दोलन द्वारा समाज सुधारकी आवश्यकता को समझने लगती है, वह सोच उठती है कि समाज-सुधार आवश्यक है, वह यह स्वीकार करने लगती है कि सचमुच वर्तमान समाज-व्यवस्था उसकी समृद्धि और प्रगति में बाधा उपस्थित करती है; वह समझने लगती है कि वर्तमान समाज-व्यवस्थामें सुधार होना उसके कल्याण, उसकी सन्तानके कल्याण, उसके समाजके कल्याण और उसके राष्ट्र के कल्याणके लिए आवश्यक है। जब समाज-सुधारके लिये आन्दोलन इस स्थितिमें पहुँच जाता है, तो समाज-सुधारको मान्यता देनेके लिए क़ानून पास किया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें पास किया गया क़ानून लाभदायक सिद्ध होता है, क्योंकि समाज-सुधारके आन्दोलन द्वारा समाजमें वैसा वातावरण पैदा हो जाता है और जनता उस क़ानूनसे पूरा लाभ उठानेके लिए तत्पर हो जाती है।

ऐसा भी हो सकता है कि समाजका वातावरण समाज-सुधारके क़ानूनको स्वीकार करनेके लिए पूर्णतया अनुकूल नहीं है, पर समाजकी स्थितिको देखकर वैसा क़ानून पास करना आवश्यक है। तो वैसा क़ानून पास किया जा सकता है। हो सकता है जनता उसका विरोध न करे, पर यह भी हो सकता है कि जनता उसका पूरा लाभ न उठा सके। जब इस भाँति क़ानून पास हो, तो फिर समाज-सुधारके आन्दोलनकी आवश्यकता बनी रहती है और यह आवश्यक हो जाता है कि समाज-सुधारके क़ानूनको पूरी तरह समझने

के लिए आन्दोलन जारी रखा जाए। यदि ऐसा नहीं किया जाए, तो क़ानून तो पास हो जाता है, परन्तु वह क़ानूनकी किताबोंमें ही सीमित रह जाता है। जनता उसका पूरा लाभ नहीं उठा सकती और रूढ़िवाद दबा-दबा कर अपने पूर्ण अधिकारके साथ, समाजके शरीरको धीरे-धीरे, घुनकी तरह, खाता रहता है, और अधिकार होते हुए भी नर-नारी उस अधिकारका उपभोग नहीं कर सकते। असीम वेदनामें कराहते हुए समाजके कोढ़को पोसतेही रहते हैं।

अतः जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि कानून पास कर देने से ही समाज-सुधार हो सकता है वे भ्रममें हैं। क़ानून तो किसी कार्यके करने या न करनेमें सहायता ही दे सकता है, वह उस कार्यको न करा ही सकता है और न पूर्णतया रोक ही सकता है। यदि क़ानून ऐसा कर सकता तो विश्वमें आज एक भी जुर्म (Crime) न होता। परन्तु ऐसा है नहीं, क़ानूनके होते हुए भी आए दिन जुर्म होते हैं। यह इसलिए है कि क़ानून केवल एक माध्यम है, एक रोक है, रामवाण औषधि नहीं है।

सथमें यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि क़ानून यथार्थमें कुछ ही व्यक्तियोंके लिए होता है। दंड-विधान दोषियोंके लिये ही है क्योंकि जनसाधारण और दोषियोंकी संख्यामें बहुत अन्तर है। जुर्म कुछ ही लोग करते हैं अतः क़ानून उन्हें सज़ा दे सकता है, पर यदि समस्त जनता जुर्म करने लगें, तो क्या क़ानून उसे सजा दे सकता है? अंग्रेज़ी शासन का विरोध करना अंग्रेज़ी शासन कालमें जुर्म था, भारतके अनेक स्वतंत्रताप्रेमी उस क़ानून के अन्तर्गत जेलमें डाल दिए गए, फाँसीपर लटका दिए गए। परन्तु जब समस्त जनता ने उस 'जुर्म' को करना आरम्भ किया और जब भारतकी जनता बग़वत कर उठी, तो वह क़ानून टूटकर छिन्न-भिन्न हो गया।

यही बात समाज-सुधार के क़ानूनोंपर भी लागू होती है। यदि जनता समाज-सुधारके क़ानूनको स्वीकार नहीं करे, उसे ग्रहण नहीं करें, तो क्या केवल क़ानून पास करने से समाज-सुधार हो जाएगा? स्वतन्त्र भारतमें किसी को 'अछूत' मानना क़ानूनी जुर्म है। पर क्या इस क़ानून द्वारा भारतसे 'अछूतपने' का रोग मिट गया है?

अतः समाज-सुधारके क़ानूनोंका एवं समाज सुधारके आन्दोलनका अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलनके कालमें भी इसकी सत्यताको स्वीकार किया गया था। हमारे राष्ट्रीय नेताओंके समक्ष प्रश्न यही था कि किसभांति वे स्वतन्त्रता-आन्दोलनके साथ साथ समाज-सुधारके आन्दोलनकोच लायें।

कुछ भी हो, राष्ट्रीय-आन्दोलनके साथ-साथ समाज-सुधारकी आवश्यकताको स्वीकार किया गया। राष्ट्रीय नेताओंने यह माना की समाज-सुधारसे पृथक स्वतंत्रताका आन्दोलन अधूरा रह जाता है।

ज्यों ही विधानमंडलमें भारतवासियोंको स्थान मिला, उन्होंने समाज-सुधारके कई क़ानून विधान मंडलमें पारित किए। यही कारण है कि सन १९३० के पश्चात् हिन्दू क़ानूनमें कई संशोधन विधान पास करके किये गये। १९३७ में मृतकी विधवा, पुत्र की विधवा, एवं पौत्रकी विधवाको संपत्तिमें हिस्सा देनेका क़ानून पास किया गया। १९३७ में ही आर्यसमाजके अन्तर्गत किए गए विवाहोंको क़ानूनी करार देनेका क़ानून पास किया गया। १९२९ में बाल-विवाहपर प्रतिबन्ध लगानेका क़ानून पास हुआ।

इसी वर्ष उत्तराधिकारके क़ानूनमें संशोधन करनेका क़ानून बना। १९४६ में सगोत्र विवाहको मान्यता देनेका क़ानून पास हुआ। इसी वर्षमें पत्नीको अदालत द्वारा पृथक होने और भरण-पोषण मिलनेका क़ानून पास हुआ। १९४९ में हिन्दू अन्तर्जातीय विवाहोंको क़ानूनी मान्यता दी गई। इसी भाँति मुसलमानोंके क़ानूनोंमें भी कुछ सुधार विधान पास करके किया गया।

परन्तु समाज-सुधारके इन क़ानूनोंका आकार बहुत ही सीमित रहा। इसका कारण यह था कि अंग्रेज़ी कालके केन्द्रीय विधानमंडल एवं प्रांतीय विधान मंडलोंको पूरे अधिकार नहीं थे। निस्संदेह परतन्त्र देशके विधान मंडलोंको समस्त शक्तियाँ मिल भी नहीं सकती। अंग्रेज़ी शासनको समाज-सुधारके क़ानूनों और समाज-सुधारके आन्दोलन के साथ सहानुभूति नहीं हो सकती थी।

अतः यह आवश्यक था कि समाज-सुधारको क़ानूनी रूप देनेके लिए भारतके विधान मंडल को पूरी शक्तियाँ प्राप्त हों, और यह तब तक नहीं हो सकता था जब तक कि भारत का विधानमण्डल पूर्णतया स्वतन्त्र न होता। इस भाँति समाज-सुधारका सम्बन्ध भारतकी स्वतन्त्रताके साथ अटूट था। भारत स्वतंत्र होनेपर समाज-सुधारके क़ानून पास कर सकता था। यही बात समाज-सुधारके आन्दोलनपर भी लागू होती है। परतन्त्र देशमें न तो समाज-सुधारका आन्दोलन पूरे वेगसे चल सकता है और न समाज सुधारके क़ानून पास किए जा सकते हैं।

भारतके स्वतन्त्र होनेके पश्चात् सबसे जटिल प्रश्न जो राष्ट्रके समक्ष उपस्थित था, वह था भारतकी प्रगति और समृद्धिका। प्रगति और समृद्धिके लिए यह आवश्यक है। कि देशकी आर्थिक दशा सुधरे, देशका पिछड़ापन समाप्त हो और रूढ़िवाद नष्ट हो जाये।

भारतीय संविधानके चौथे भागमें समाज-सुधारके कुछ नियमोंका उल्लेख किया गया है। इस भाग द्वारा भारतकी केन्द्रीय एवं राज्य सरकारोंको संविधान यह आदेश देता है कि राज्यकी नीति बनाते समय इन नियमोंका पालन किया जाए।

यह भाग मुख्यतया भारतकी भावी आर्थिक एवं सामाजिक नीतिके नियमोंको निर्धारित करता है। सामाजिक नीतिके कुछ मुख्य नियम निम्नलिखित हैं :—

१. पुरुष और स्त्रीको एकसे कामके लिए बराबर वेतन दिया जाना चाहिए।
२. बालकोंको समुचित शिक्षा दी जानी चाहिये और किसी भी कारणसे या किन्हीं भी परिस्थितियोंमें उनका शोषण नहीं होना चाहिए।
३. जिस भाँति भी हो, बेरोज़गारीको दूर करना चाहिए।
४. प्रत्येक नागरिकको अपनी प्रगतिका पूरा अवसर मिलना चाहिए।
५. कारखानों और खानोंमें अमानवीय वातावरणको दूर करना चाहिए।
६. भारतके नागरिकोंके लिए समस्त भारतमें एक ही कानून होना चाहिए।
७. भारतके शोषित वर्गको विशेष रूपसे प्रगति और समृद्धिके साधन उपलब्ध कराने चाहिए।

यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि उपर्युक्त नियम भारतवासियोंके अधिकार (Fundamental rights) नहीं हैं, जिन्हें भारतका हर नागरिक न्यायालयों

द्वारा प्राप्त कर सकता है; बल्कि वे राज्यकी नीतिके नियम हैं, जिन्हें हर सरकारको मान्यता देनी चाहिए। यह ठीक है यदि कोई सरकार उन्हें मान्यता न दे तो न्यायालयों द्वारा इन नियमोंको मान्यता नहीं दिलाई जा सकती; परन्तु यह भी ठीक है कि यदि सरकार इनकी अवहेलना करे, तो वह असंवैधानिक कार्य करेगी।

स्वतन्त्र भारतके केन्द्रकी एवं राज्योंकी सरकारोंने कुछ सीमा तक इन सिद्धान्तोंको अपनानेका प्रयत्न किया है। आज किसीको अछूत कहना ग़ैर कानूनी है। इन्हीं सिद्धान्तोंके अन्तर्गत हिन्दू क़ानूनमें सुधार किए गए हैं। हिन्दुओंका विवाह एवं उत्तराधिकारका क़ानून अब बिलकुल बदल गया है। समाज-सुधारके अन्य कई क़ानून विधेयक के रूपमें संसद और विधानमंडलोंमें पारित हो चुके हैं।

अब भारतको, जहाँतक समाज सुधारके क़ानून पास करनेका प्रश्न है, पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। वह चाहे जैसा क़ानून पास कर सकता है—वह क्रांतिकारी समाज-सुधार करनेवाले क़ानून भी पास कर सकता है। परन्तु समाज-सुधारके क़ानून पास करना एक बात है और समाज उनसे पूर्ण लाभ उठा सके, यह दूसरी बात है। स्वतन्त्र भारत में समाज-सुधारका आन्दोलन लगभग समाप्त सा ही हो गया है। बड़े-बड़े आन्दोलनों की बात छोड़ दीजिए—जो क़ानून पास होते हैं उनका भी पूरा प्रचार नहीं हो पाता। न पत्र पत्रिकायें ही उनका प्रचार करती हैं और न उनका प्रचार आकाशवाणी द्वारा ही होता है। फल यह हुआ है कि अधिकांश जनता आज भी हिन्दू-क़ानूनमें हुए सुधारोंको समझनेमें समर्थ नहीं हो पाई है और जब वह समझ ही नहीं पाई है, तो उनका पालन भी नहीं कर सकती है। फिर समाजका वातावरण भी उस योग्य नहीं बन सका है, जिसमें भारतके नर नारी नए क़ानूनोंका लाभ स्वतन्त्रतापूर्वक उठा सकें। गावोंकी बात तो जाने दीजिए, शहरोंका भी वातावरण उस योग्य नहीं बन सका है। आज भी कोई बिरली ही नारी ऐसी होगी, जो पूर्ण स्वतन्त्रताके साथ विवाह विच्छेदकी माँग कर सके; जो एक-आध तलाक माँगती भी हैं, वह इसीपर साहस कर सकी हैं कि जीवनने उनको उस कगारेपर फेंक दिया है जहाँसे मुड़ा नहीं जा सकता और कूदनेका अर्थ मौत ही है। विवाह विच्छेदका अर्थ, फिर, केवल एक असहनीय स्थिति से ही मुक्ति लेना नहीं है, बल्कि उसका अर्थ यह भी है कि फिरसे एक सुखी शान्तिपूर्वक जीवनका आरम्भ किया जाये। आज कितने व्यक्ति ऐसे भारतमें मिलेंगे, जो तलाक देनेवाली स्त्रीसे विवाह करनेको स्वेच्छासे तत्पर हो जाएंगे, यही बात अन्य समाज-सुधारोंके कानूनोंके साथ है। किसीको अछूत मानना अब गैरक़ानूनी है, पर क्या यथार्थमें ऐसा हो सका है कि भारतमें अछूत अब न रहे हों ?

अतः केवल क़ानून द्वारा समाज-सुधार होना सम्भव नहीं है। समाज-सुधारके कार्यको क़ानून केवल सुविधा दे सकता है। सारा समाज-सुधार तो समाज-सुधारके आन्दोलन द्वारा ही हो सकता है। आर्य समाजके आन्दोलनके अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह की आवश्यकता, विधवा विवाहकी आवश्यकता, पतित कहलानेवाली नारियोंके साथ विवाहकी आवश्यकता को प्रोत्साहन दिया गया—आर्यसमाजके नियमको माननें वालोंने उसे ग्रहण किया और आर्यसमाजी प्रथासे ऐसे अनेक विवाह हुए। ऐसे विवाहोंको क़ानूनी मान्यता मिली है १९३७ में। श्री घनश्यामसिंह गुप्त द्वारा प्रस्तुत विधेयकसे पहले

भी ऐसे विवाह हुए। दूसरा उदाहरण विधवा विवाहका है। एक शताब्दी पूर्व विधवा पुनर्विवाह क़ानून पास हुआ था, पर अब तक भी इस क़ानूनका पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका है। अब तक जिन विधवाओंने पुनर्विवाह किया है, उनकी संख्या बहुत ही कम है।

अतः समाज-सुधारके लिए अनुकूल वातावरण बनना आवश्यक है और वातावरण समाज सुधारके आंदोलन द्वारा ही बन सकता है। जब वैसा वातावरण हो तो क़ानून तो समाज-सुधारके कार्यकी सहायता ही कर सकता है, उसका पूरक ही हो सकता है, स्वयं एकाकी रूपसे वह अपूर्ण रह जाता है।

विधवा-विवाह

"धर्म या रिवाजसे लादा हुआ वैधव्य असह्य जुआ है और वह गुप्त पाप द्वारा घरको अपवित्र और धर्मको पतित बनाता है। यदि हम शुद्ध होना चाहते हैं, हिन्दू धर्मको बचाना चाहते हैं, तो हमें जबरन लादे जानेवाले वैधव्यके इस जहरसे छुटकारा पा लेना चाहिए। यह सुधार उनसे शुरू होना चाहिए, जिनके यहाँ बाल विधवाएँ हैं। वे साहस जुटाएँ और यह देखें कि उनकी देखभालमें रहनेवाली बाल विधवाओंका केवल विवाह ही न हो, बल्कि बाकायदा और ,अच्छी तरह विवाह हो। वास्तवमें उनका कभी विवाह हुआ ही नहीं था।"

युगद्रष्टा महात्मा गांधीके ५ अगस्त १९२६ के "यंग इंडिया" में लिखे यह शब्द आज लगभग एक चौथाई सदीके बाद उतने ही सत्य हैं, जितने उस समय थे। गाँधीजीने एक बार कहा था कि हिन्दू जाति दो बारूद-घरोंपर बैठी है और जब भी इनमें से कोई एक या दोनों फटेंगे, तब जाति तहस-नहस हो जाएगी। यह दोनों बारूद घर अस्पृश्यता और बलात् वैधव्य हैं जिनके दुष्परिणाम आज भी समाजको भोगने पड़ रहे हैं। १९३६ में ब्रिटेनके प्रधान मंत्री सर रेम्जे मेकडानलने "साम्प्रदायिक निर्णय" (कम्यूनल एवार्ड) दिया था। इसके विरोधमें गांधीजीको यरवदा जेलमें आमरण अनशन करना पड़ा था। यह पहला प्रबल विस्फोट था जिसका निराकरण गांधीजीको अपने प्राणों की बाजी लगाकर करना पड़ा। स्वतंत्रताके बाद अस्पृश्यताको क़ानूनन न केवल समाप्त कर दिया गया है किन्तु उसे ऐसा अपराध बता दिया गया है, जिसमें पुलिस स्वयं सीधी कार्यवाही कर सकती है (कागनिजेबल आफेन्स)। इस क़ानून और सरकार द्वारा उठाये जा रहे अन्य कई क़दमोंके कारण अस्पृश्यताका सर्वथा अन्त हो गया है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता पर इस दुर्गकी दीवारें ढह रही हैं—यह निःसंदेह कहा जा सकता है।

पर विधवाओं—विशेषतः बाल-विधवाओं—का प्रश्न जिन्हें घरकी चहार दीवारी के अन्दर बंद रखा जाता है, इससे अधिक टेढ़ा है। अस्पृश्यता निवारण एक सामाजिक दोष हैं जिसमें अब क़ानून पूरा आपके साथ है। विधवाका प्रश्न, मूलतः एक पारिवारिक प्रश्न है, एक निजी मामला है। स्वभावतः किसीके पारिवारिक और निजी मामलेमें आप सहसा हस्तक्षेप नहीं कर सकते। किसीके घरके भीतर जानेकी स्वतंत्रता तो हर किसीको नहीं दी जाती। क़ानून भी इसमें आपका विशेष सहायक नहीं है। अगर

कोई अपनी विधवा पुत्रीका पुनर्विवाह नहीं करता तो क़ानून उसे बाध्य नहीं कर सकता। क़ानून तो इतना ही कर सकता है—जैसा कि विधवा पुनर्विवाह एक्टमें कहा गया है—कि अगर कोई पिता-माता व संरक्षक अपनी विधवा पुत्री व पुत्रवधूका पुनर्विवाह करना चाहे, और बिरादरी उसके काममें रुकावट डाले अथवा उसका बहिष्कार आदि करे, तब वह उनपर मुक़दमा चला सकता है। मुक़दमेका फैसला उसके हक़में ही होगा—ऐसा निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। इसलिए अस्पृश्यता निवारणकी अपेक्षा विधवा-विवाहके लिए अधिक नैतिक साहसकी आवश्यकता है। यही कारण है कि कई प्रसिद्ध समाजसुधारक इस मामलेमें आकर पिछड़ जाते हैं।

अब घरमें विधवाके साथ क्या बर्त्ताव होता है? माता-पिता, भाई-भावजका जीवन तो भोग विलासपूर्ण है पर युवती कन्या और पुत्रवधूसे यह आशा की जाती है कि वह सारी आयु व्रत, उपवास और पूजा-पाठमें ही गुजार दे। क्या शरीरको भूखा रखनेसे मनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं? नहीं। तभी सर्वथा स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अपना उपशमन करनेके लिए अन्य मार्ग तलाश करती है। गांधीजीके शब्दोंमें विवाह जीवनमें एक स्वाभाविक वस्तु है और इसे किसी भी तरह हेय समझना बिल्कुल अनुचित है। (हरिजन २२–३–४२) हिन्दू धर्ममें, इसीलिए, गृहस्थ आश्रमको संन्याससे भी श्रेष्ठतर मानते हुए इसे सागरके समान विशाल, गम्भीर और अन्य आश्रमरूपी सब नदियोंको अपनेमें समेटनेवाला कहा गया है। मनुके शब्दोंमें "तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृहः"—गृहस्थ आश्रम सबसे बड़ा है—ऐसा कहा गया है।

हिन्दू विवाह-संस्था में परिवर्तन हो

युवती विधवाओंको जब बलात् वैधव्यमें रखा जाता है और इस स्वाभाविक और पवित्र गृहस्थ आश्रममें उनके प्रवेशको सर्वथा रोक दिया जाता है, साथ ही उसके साथ परिवारमें दुर्व्यवहार, अत्याचार और उत्पीड़न किया जाता है तब प्रकट और गुप्त व्यभिचार, दुराचार, वेश्या-वृत्ति और गर्भपात सदृश नयी सामाजिक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इन सब समस्याओंका हल करनेके लिए जहाँ एक उपाय युवती विधवाओंका विवाह है, वहां हिन्दुओंकी विवाह संस्थामें आमूलचूल परिवर्तन भी है। विधवाका प्रादुर्भाव जिन स्रोतोंसे होता है, उनका विरोध भी तो अन्यत्र आवश्यक है। यह स्रोत हैं, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, बहु विवाह, कन्या विक्रय, जातपांतके बंधन और दहेजकी प्रथा। गाँधीजीने निम्नलिखित शब्दोंमें इन बुराइयोंकी कितनी तीव्र निन्दा की है :—

> "मैं बालविवाहसे घृणा करता हूँ। मैं बाल-विधवाको देखकर काँप उठता हूँ और जब किसी पतिको बिधुर बनते ही पाशविक उपेक्षाके साथ पुनर्विवाह करते देखता हूँ, तो क्रोधके मारे काँपने लगता हूँ। मुझे उन माता-पिताओंकी अपराधपूर्ण उपेक्षा पर दुख होत है जो अपिनी लड़कियोंको सर्वथा अज्ञान और निरक्षर रखते हैं और उनके पालन-पोषण सिर्फ इस गरजसे करते हैं कि किसी साधन सम्पन्न युवकसे उनका विवाह कर दिया जाए। (यंग इंडिया २६–७–२१)
>
> जिन माता-पिताने किसी बच्चीको किसी बूढ़ेके साथ या कुमारअवस्थावाले लड़केके साथ व्याहकर अपनी संरक्षताका दुरुपयोग किया है, वे अपने पापके प्रायश्चित्तके रूपमें कमसे कम यही कर सकते हैं कि जब वह लड़की विधवा हो जाए,

तब उसका दूसरा विवाह कर दें । इस प्रकारकी शादियाँ शुरूसे ही रद्द मानी जानी चाहिए ।" (यंग इंडिया ११-११-२६)

स्वतंत्रताप्राप्तिके बाद कुछ ऐसे क़ानून बने हैं, जिनसे इस दिशामें सराहनीय पग उठाये गये हैं पर ये दोष केवल शासन बलसे दूर नहीं किये जा सकते । इसके लिए तो सामाजिक बल और प्रबल जनमत अपेक्षित है । बाल-विवाह रोकनेके लिए शारदा एक्ट बने आज लगभग ३०-३१ वर्ष हो गये हैं पर आज भी खुल्लमखुल्ला बाल-विवाह होते देखे जाते हैं । ऐसा क्यों ? क्योंकि जनमत और सामाजिक बल इतने प्रबल नहीं हैं कि किसीको ऐसा करनेका साहस ही न हो । बाल-विवाह, वृद्ध विवाह और बहु विवाह कन्याके माता पिता और संरक्षकोंके भयंकर षड्यंत्र, गर्हित अर्थ लोलुपता और अपने कुल और जातिके मिथ्या और दम्भपूर्ण अभिमानके कारण ही होते हैं । इनके कारण , कुछ ही घंटोंमें विवाहके ढोंगके बाद, बड़े पैमानेपर किस प्रकार विधवाओं का प्रादुर्भाव हो जाता था, इसका उदाहरण, प्रसंगवश, यहाँ देना अनुचित न होगा ।

वृद्धके युगपत् १०० विवाह

विधवाओंकी दयनीय अवस्थाकी ओर ध्यान देनेवाले और विधवा-विवाहके पक्षमें सबसे प्रथम अपनी आवाज़ उठानेवाले पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे । विधवा-विवाह करनेकी स्वतंत्रता देने और उसमें रुकावट डालने वालेको अदालतकी ओरसे दंड दिये जाने का क़ानून बंगालके इसी महापुरुषके प्रबल आन्दोलन और प्रेरणासे बना था । कुलीन ब्राह्मण होते हुए भी आप तत्कालीन भारतमें प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा विधवा-विवाहकी पुष्टि की यद्यपि रूढ़िवादियों और पोंगापंथियोंकी ओरसे आप पर विविध प्रकारके अत्याचार और उत्पीड़न करनेमें कोई कसर नहीं रखी गयी । आप के जीवन-चरित्रमें लिखा है कि कुलीन ब्राह्मणसे ही अपनी कन्याका विवाह करनेकी उत्सुकता में वृद्ध और मत्युशय्याग्रस्त ब्राह्मणके साथ दर्जनों दुधमुँही बच्चियोंके फेरे दे दिये जाते थे । चूँकि एक कुलीन ब्राह्मणका एक ही समयमें सब कन्याओंके घरोंमें पहुँचना सम्भव नहीं होता था, इसलिए उस के प्रतिनिधि स्वरूप कदली खम्भ अथवा बिल्वशाखाके साथ ही विवाह कर दिया जाता था ! कुछ ही घंटों व दिनोंके बाद तथाकथित कुलीन ब्राह्मण देवता तो संसारसे कूचकर जाते थे और अपने पीछे दर्जनों गोदमें खेलनेवाली बच्चियोंके माथेपर वैधव्यका आजन्म अभिशाप विरासतमें छोड़ जाते थे । विद्यासागर महोदय ने अपनी एक पुस्तकमें पूर्वबंगाल (अब पूर्वी पाकिस्तान) के बरीसाल, मैमनसिंह, फरीद-पुर, ढाका इत्यादि जिलोंके कई कुलीन ब्राह्मणोंकी ऐसी विस्तृत और सप्रमाण तालिका दी है, जिन्होंने एक सौसे भी कुछ अधिक ऐसे विवाह किये थे और जिनके मरनेके बाद ही बड़े पैमानेपर यह सब शिशु-कन्याएँ सारी आयु ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेके लिये वैधव्य के गर्तमें धकेल दी गयी थीं । इन तथाकथित विधवाओंकी उम्र प्रायः ६ माससे लेकर ७-८ वर्षों तक ही होती थी ! विभाजनसे पूर्व १९२६ से, १९४० तक हमें कई बार बंगालका और विशेषतः पूर्वी बंगालका दौरा करनेके अवसर मिले । कई स्थानोंपर हमें ऐसी बालिकाओंको दिखाया गया, जिन्हें सिंदूर लगाने और चूड़ी पहननेका अधिकार नहीं था और जिनकी आयु ८-१० वर्षसे कम ही थी । साँपको भी दूध पिलाने और चिउँटीको भी आटा देकर अपनेको उदाराशय और सर्वभूतहिते रताः (प्राणिमात्रके

कल्याणमें लगा हुआ) कहलानेवाला हिन्दू अपनी ही सन्तानके प्रति इतना क्रूर और निर्दयी हो सकता है, यह एक विचित्र मनोवैज्ञानिक स्थिति है।

शास्त्रोंके प्रमाण

विधवा-विवाहके विरोधमें शास्त्रोंकी दुहाई, प्रायः दी जाती है। वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, भ्रूणहत्या और अन्य प्रकारके कदाचार करते समय तो शास्त्रोंको ताकमें रख दिया जाता है, पर जब बिरादरी समाज और कामी, लोलुप पुरुषोंके अत्याचारोंसे पीड़िता, अपमानिता और धर्षिता बाल व युवती विधवाके जीवनको सुखी बनानेके लिए कुछ प्रयत्न किया जाता है तब डूबतेको तिनकेके सहारेके समान शास्त्रोंको बीचमें लाकर खड़ा किया जाता है। स्मृति और सूत्र ग्रंथ तो अपने समयकी व्यवस्था देनेवाले ही हैं, वह त्रिकालधर्मी तो नहीं हैं। समयके अनुसार समाजके रीति-रिवाज और स्वरूपमें परिवर्तन आता रहता है। यह शास्त्र अपने समयके मानवके कल्याण और हितके लिए बनाये जाते हैं न कि मानवको सदाके लिए उसकी वेदीपर बलि दे देनेके लिए। फिर भी ऐसे शास्त्र भक्तोंका भ्रम दूर करनेके लिए हम यहाँपर वेद और शास्त्रोंके कुछ प्रमाण देते हैं, जिनमें विधवा-विवाहकी स्पष्ट आज्ञा दी गयी है :—

वेद

(१) उदीर्ष्वनार्यभि जीव लोकं गतासु मेत मुष शेष एति। हस्तग्रामस्य दिधिषोस्त वेद पत्युर्जनित्व मभिसंबभूव ।।अथर्वका १८, सूक्त ३, मंत्र २, और ऋग् मंडल १० सूक्त १८, मंत्र ८। और तैत्तिरीय आरण्यक ६–१–१४

इस मंत्रका सायणाचार्यने जो अर्थ किया है, उसका भावार्थ यह है—

हे पुत्री तू इस मृत पतिके साथ पड़ी हुई है। उठ और जीते हुए इन प्राणियोंके समूहके आगे आ और तू किसी विधवाका हाथ पकड़नेवाले पुर्नविवाहकी इच्छा करनेवाले पतिकी स्त्री हो।

(२) कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। कोवां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ।।

ऋग्, मडल १०, सूक्त ४०, मंत्र २

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो! तुम दोनों रात्रिको कहाँ रहते हो और दिनमें कहाँ वास करते थे? तुम्हारा शयनस्थान कहाँ है? तुम कौन व किस देशके रहनेवाले हो? जैसे विधवा देवरको और विवाहिता स्त्री अपने पतिके साथ समान स्थान, शय्यामें एकत्र होते हैं, ऐसे तुम भी होओ ।।

(३) अदेवृघ्न्य पतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीर सूर्यदेवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ।।

अथर्व, कांड; १४, अनु २, मंत्र १८

पति और देवरको दुख न देनेवाली हे स्त्री तू इस घरमें पशुओंके लिए कल्याण करनेवाली, अच्छे प्रकार नियममें रहनेवाली, रूप और विद्यायुक्त, उत्तम सन्तान सहित, वीर पुत्रोंको जननेवाली, देवरके साथ सम्बन्ध रखनेवाली पति व देवरको प्राप्त होकर इस गृहस्थके अग्निहोत्रका सेवन किया कर।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि देवर शब्दका अर्थ पतिका छोटा भाई ही नहीं होता किन्तु यास्कमुनि कृत निरुक्तके अध्याय ३ खंड १५ में कथित वचनके अनुसार "देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते"—अर्थात् विधवाका पति दूसरा होनेसे ही देवर कहा जाता है।

वेदके निम्नलिखित मंत्रमें तो ४ पति और पुरुषके लिये ४ पत्नी तक करनेका विधान है।

(४) सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः
तृतियो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ।।

ऋ० मं १०, सूक्त ८५ मंत्र ४०

हे स्त्री तेरा विवाहित पहला पुरुष तेरा पति तुझे प्राप्त होता है, वह सोम है, दूसरा गन्धर्व' और तीसरा "अग्नि" है। इसके बाद जो पति हैं वह मनुष्य हैं। ऋग्वेदके मंडल १०, सूक्त ८५, मंत्र ४५के अनुसार "पतिमेकादशं कृधि" पत्नी ११ पति तक कर सकती है।

स्मृति

इस कलियुगमें सबसे अधिक प्रारम्भिक स्मृति पाराशर स्मृति है। "कलौ पाराशर स्मृतिः" ऐसा स्मृतियोंका वचन है। इस स्मृतिका निम्न श्लोक विधवा-विवाहकी कितनी स्पष्ट आज्ञा देता है:—

(५) नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवेच पतितेपतौ।
पंचस्वायत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।

अध्याय ४, श्लोक २२

पतिके गुम हो जाने, मर जाने, संन्यासी हो जाने, नपुंसक होने और धर्मभ्रष्ट होनेपर नारीको दूसरा पति करनेका अधिकार है। लीजिए, यहाँ तो पतिके जीवित रहते भी पुर्नविवाहकी आज्ञा दे दी गयी।

मनु स्मृतिका प्रमाण :—

(६) या पत्या वा परित्यक्ता विधवावा स्वेच्छया।
उत्पादयति पुनर्भुर्वा सः पौनर्भव उच्यते ।।

(७) साचेदक्षतयोनिः स्यादगत प्रत्यागताऽपिवा।
पौनर्भवेन भर्त्रासा पुनः संस्कार मर्हति ।।

अ० ९, श्लोक १७५–१७६

जिस स्त्रीको पतिने त्याग दिया हो अथवा जो विधवा हो वह अपनी इच्छासे पुनर्विवाह करके जो सन्तान उत्पन्न करे, उसे पौनर्भव कहते हैं।

यदि वह स्त्री अक्षत् योनि हो (पतिसे जिसका समागम न हुआ हो।) व पतिको छोड़कर दूसरे पुरुषका आश्रय करे और फिर पहले पतिके घर आ जाए, तो उसका फिर संस्कार हो सकता है।

स्मृतियोंके प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूभट्टकी टीकामें यह अर्थ किये गये हैं।

(८) कन्यैवाक्षत योनिर्वा पाणि ग्रहण दूषिता।
पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारमर्हति ।।

नारदस्मृति १२/४६

कन्या था अक्षत योनि विधवा—जिसका केवल पाणिग्रहण मात्र हुआ है—वह "पुनर्भू" कहलाती है, उसका पुनर्विवाह होना योग्य है ।

(९) अक्षताश्चक्षताश्चैव पुनर्भूः संस्कृतापुनः ।।

याज्ञवल्क्य स्मृति, विवाह प्रकरण ३, श्लोक ६७१

अक्षत योनि हो वा क्षत योनि, दोनों दूसरा विवाह करके "पुनर्भू" कहलाती हैं ।

(१०) यदि सा बाल विधवा पत्यात्यक्ता अथवा क्वचित् ।
तथा भूयस्तु संस्कार्या गृहीत्वा येन केन चित् ।।

बौधायन, प्रश्न ४, अ० १२, श्लोक १६

यदि वह बाल विधवा है, अथवा पतिसे छोड़ी गयी है, या अन्य कोई ऐसी अवस्था आ गयी है, तब माता-पिता व संरक्षकके अभावमें अन्य कोई भी उसके पुनर्विवाहका प्रबन्ध करदे ।

(११) पत्नि नाशेयथा पुंसा भर्तृनाशे तथा स्त्रियः ।
पुनर्विवाहः कर्त्तव्यः कलावपि युगेतथा

व्याघ्रपाद् स्मृति

कलियुगमें पत्नीके मर जानेपर जैसे पुरुषका पुनर्विवाह हो सकता है, उसी प्रकार पतिके मर जानेपर स्त्रीको भी पुनर्विवाह कर लेना चाहिए ।

(१२) ब्राह्मणः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राः स्वकुल पोषिताम् ।
पुनर्विवाहः कुर्वीरन्नन्यथा पाप सम्भवः ।।

जाबालि ऋषि ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंको चाहिए कि वे अपने कुलकी विधवा स्त्रियोंका पुनर्विवाह कर दें, अन्यथा पाप होनेकी सम्भावना है ।

ऐतिहासिक प्रमाण

ऐतिहासिक प्रमाणोंसे भी विधवा विवाहकी पुष्टि होती है ।

रामायणमें लिखा है कि रावणके मर जानेके बाद उसकी पत्नी मन्दोदरीने विभीषण के साथ पुनर्विवाह कर लिया था यद्यपि उससे मेघनाद पुत्र हो चुका था ।

इसी प्रकार श्रीरामने बालीका वध कर उसकी पत्नी ताराका विवाह बालीके छोटे भाई सुग्रीवसे कराया था । ताराका पुत्र अंगद भी था । तारा वह स्त्री है, जो उन पंच कन्याओंमें एक है जिन्हें बड़ा पवित्र माना जाता है और जिनका स्मरण प्रति दिन हिन्दूको करना चाहिये । "पंचकन्यांस्मरेन्नित्यम् ।"

महाभारतके भीष्म पर्वके अध्याय ६ में लिखा है कि अर्जुनने नागराज ऐरावतकी विधवा कन्या उलूपीसे विवाह किया था ।

पद्मपुराणके पातालखंडमें लिखा है कि काशीराज देवदासने अपनी कन्या विद्यामती का पुनर्विवाह २१ बार किया । पतिके मर जानेके बाद पिता उसका तत्काल पुनर्विवाह कर देता था । इस प्रकार वह भाग्यके साथ अन्तिम समय तक लड़ता रहा । आखिर उसकी लड़कीने पति सुख प्राप्त किया ।

इस प्रकार वेद शास्त्र और इतिहासके प्रमाणोंसे सिद्ध है कि विधवाविवाह शास्त्र सम्मत है और प्राचीन कालमें इसका चलन खूब था । ऐसा प्रतीत होता है

कि जब मध्य युगमें विदेशियोंके आक्रमण हुए, और हिन्दुओंमें ऊँच-नीचका भेद तथा जाति-पाँतिके बंधन कड़े हो गये, उस समय विधवा-विवाहपर रोक लगाना और पत्नीका मृत पतिके साथ सती होना—दोनोंको अभिजात्यका चिन्ह मान लिया गया। इसकी देखादेखी अन्य जातियोंने भी अपने यहाँ विधवा-विवाह बंद कर दिया और कुछ समय बाद इसे छोटी जातियोंका ही रिवाज समझा जाने लगा। बंगालके प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० सर प्रफुल्ल चन्द्र राय विधवाविवाहके कट्टर पक्षपाती थे। उन्होंने अपने एक भाषणमें कहा था कि उन्होंने अपनी छोटी अवस्थामें बंगाल विशेषतः पूर्वी बंगालके हिन्दुओंकी कई जातियोंमें—जिन्हें प्रायः छोटा कहा जाता है—विधवा-विवाहका चलन देखा था पर आज उनमें कुछ बड़प्पन का, अभिमान आ जाने से विधवा-विवाहको हेय समझा जाने लगा है।

सामाजिक सन्तुलन रखनेके लिए

सामाजिक सन्तुलन बनाये रखनेकी दृष्टिसे भी विधवा-विवाहका शीघ्र और विस्तृत चलन आवश्यक है। सामान्यतः, एक स्वस्थ, योग्य और स्वाश्रित पुरुषको स्त्री और स्वस्थ, नीरोग, और समझदार स्त्रीको पतिकी आवश्यकता है। इसीसे समाज का संतुलन रहता है। यदि स्त्रियाँ अधिक हों और पुरुष कम हों, अथवा पुरुष अधिक हों और स्त्रियाँ कम हों, तब समाजका संतुलन बिगड़ जाता है और गुप्त व्यभिचार तथा अन्य सामाजिक दोषोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। इस दृष्टिसे भी देखा जाए तो हिन्दुओं का सामाजिक संतुलन बड़ा अव्यवस्थित है। सारे भारतकी दृष्टिसे , हिन्दुओंमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं। बच्चे और बूढ़ी निकालकर विवाह योग्य नारियां तो और भी कम रह जाती हैं। इनमें बाल और युवती विधवाएँ भी शामिल हैं। उनके विवाहपर रोक होनेसे विवाह योग्य नारियोंकी संख्यामें और भी कमी हो जाती है। इसका फल यह हो रहा है कि अन्य जातियोंके मुक़ाबलेमें हिन्दुओंका क्रमशः ह्रास हो रहा है। आजसे आधी सदी पहले भारतके जिन भागों और प्रदेशोंमें हिन्दू बहुसंख्या में थे, आज वे अल्पसंख्यामें हो गये हैं। राजनीतिक दृष्टिसे यह विषमता कितनी घातक हो सकती है, यह देशके विभाजनसे पूर्व और बादकी लोमहर्षक घटनाओंसे स्पष्ट है।

१९५० की जनगणना के आंकड़े

१९५० की जनगणनाके अनुसार निम्नांकित आँकड़ोंसे हमारे उपर्युक्त वक्तव्यकी पुष्टि होती है। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि १९५० की जनगणनाके समय भारत का विभाजन तो हो चुका था और उसकी सीमा संकुचित हो गयी थी तथा आबादी भी कम हो गयी है।

भारतमें विधवाओंकी कुल संख्या २ करोड़ १८ लाख ११ हज़ार १४ है और विधुरों की संख्या ९० लाख ३३ हज़ार ४ सौ ५८ है। इनमें ऐसी विधवाओंकी जिनकी आयु ५ से १४ तक है संख्या १ लाख ३४ हज़ार है।

प्रति १० हज़ार व्यक्तियोंमें ५,१३३ पुरुष और ४,८६७ स्त्रियाँ हैं। इनमें २,५२१ (४९.१ प्रतिशत) पुरुष और १,८८६ (३८.८ प्रतिशत) स्त्रियाँ अविवाहित हैं।

पुरुषोंमें ४५.८ प्रतिशत विवाहित हैं और ५.० प्रतिशत विधुर हैं। स्त्रियोंमें ४८.४ प्रतिशत विवाहित और १२.८ प्रतिशत विधवाएँ हैं।

आयुके अनुसार विधवाओंकी संख्या इस प्रकार है :—

आयु	संख्या
५ से १४	१,३३,८२६
१५ से २४	८,२६,५८२
२६–३४	२१,२९,४३६
३५–४४	३,३८,७९,३०९

प्रदेशोंके अनुसार विधवाओंकी संख्या इस प्रकार है :—

प्रदेश	संख्या
उत्तरप्रदेश	३,५५,०५०
बिहार	१,९७,६११
पश्चिमी बंगाल	१,६६,३६६
आसाम	४२,३४६
उड़ीसा	९६,५०२
मद्रास	४,२४,१५६
बम्बई	२,२६,२२४
मध्यप्रदेश	१,३८,५६५
मध्य भारत	४७,३४६
राजस्थान	७७,९७६
पंजाब	४०,५९९

-:०:-

श्री रघुराज गुप्त

भारतमें साम्प्रदायिकताका आधार

"युद्ध मनुष्यके मस्तिष्कमें प्रारम्भ होते हैं, अतः शान्तिकी सुरक्षाका निर्माण मनुष्य के मस्तिष्कमें ही होना चाहिए...."

(संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठनके संविधानकी भूमिकासे)

अत्यन्त प्राचीन कालसे भारत में विभिन्न सम्प्रदायों, संस्कृतियों और नस्लोंका निवास रहा है तथा इस देशके विभिन्न एशियाई देशोंसे घनिष्ट सांस्कृतिक, व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध रहे हैं। अतः जब अरब, पारसी, पठान, शक या मंगोल का इस्लाममें दीक्षित होनेके बाद भारतमें आना जारी रहा, तो उनके प्रति स्थानीय जनताके व्यवहार या धारणाओंमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया। न इस्लामने ही किन्हीं अंशोंमें इन भौगोलिक समुदायोंके दृष्टिकोणमें कोई विशेष परिवर्तन उपस्थित किया। एक धर्मके माननेवाले हो जानेपर भी इनमें आपसी संघर्ष और पार्थक्य की भावना जीवित रही और कभी भी धर्मके आधारपर यह आपसमें नहीं मिल सके। मध्यकालका समस्त इतिहास इस तथ्यकी ज्वलन्त साक्षी है। फिर भी हमारे अधिकांश इतिहास लेखक आँख मूँदकर, समस्त ठोस तथ्योंकी उपेक्षाकर, केवल सस्ती साम्प्रदायिकता या अज्ञान के वशीभूत हो, मध्यकालके इतिहासको हिन्दू-मुस्लिम संघर्षके इतिहासके रूपमें चित्रित करनेके अभ्यस्त रहे हैं। किसी भी साम्प्रदायिक या सामूहिक वैमनस्य को शक्तिशाली और स्थायी रखनेके लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भसे ही यहाँ विद्वेष दिखाया जाए। इस प्रकारका विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्योंसे गढ़ा गया इतिहास किन्हीं भी सामूहिक सम्बन्धों के लिए कितना भयंकर सिद्ध हो सकता है, इसका वीभत्स दृश्य हम अपनी आँखों के सामने देख चुके हैं। आज स्वाधीन होनेके बाद भी हमने उस मिथ्या इतिहासको सुधारनेकी चेष्टा नहीं की है। इतिहासज्ञ प्रो० जयचन्द विद्यालंकार ने १९३५ के लगभग इस तथ्यकी ओर हमारा ध्यान प्रबल रूपसे आकर्षित करने और अपनी पुस्तक 'इतिहास प्रवेश' द्वारा भारतका साम्प्रदायिक और सच्चा इतिहास प्रस्तुत करनेकी कोशिश की लेकिन तत्कालीन साम्प्रदायिकतापूर्ण वातावरणमें उसे लोगोंने अनसुना किया। देश का साम्प्रदायिकतापरक और पोषक इतिहास वर्तमान साम्प्रदायिकताको जाग्रत करने और जीवित रखनेका एक मजबूत हथियार है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

साम्प्रदायिकता शब्दका प्रयोग हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्यके अर्थमें रूढ़ हो गया है। हिन्दू शब्दके बदलते अर्थपर विचारकर हम सरलतासे साम्प्रदायिकताकी जड़में पहुँच

सकते हैं । कमसे कम अंग्रेज़ोंके भारतमें शासन स्थापित हो जाने तक हिन्दू शब्द भारत में उत्पन्न समस्त भारतवासियोंके लिए प्रयुक्त होता था । हिन्दू नाम भी भारतवासियोंको भारतवासियोंकी देन है । यही कारण है कि लाखों भारतवासी इस्लाममें दीक्षित होने के बाद भी हिन्दूके हिन्दू ही रहे । हिन्दू धर्मवाचक न होकर स्थानवाचक शब्द था । सिन्धु नदीके परे रहनेवाले सभी भारतवासी चाहे वे किसी भी धर्मके माननेवाले थे, पश्चिमी एशिया, फारस, अफगानिस्तान, और मंगोलियाके रहनेवालोंकी दृष्टिमें हिन्दू थे । अरब और पश्चिमी एशियाके देशोंमें आज भी भारतके मुसलमान हिन्दू या हिन्दी ही कहे जाते हैं । आठवीं शताब्दीसे लेकर अठारहवीं शताब्दी तक भारतके विभिन्न प्रान्तोंके करोड़ों भारतवासी इस्लाममें दीक्षित हुए, पर वे हिन्दू ही रहे और देशवासियों और विदेशी मुसलमानों द्वारा हिन्दू ही समझे गये । वस्तुतः यह समस्त हिन्दू भी भारत के मूल निवासी नहीं कहे जा सकते । मानव शास्त्रीय खोजोंसे यह स्पष्ट है कि भारतकी जनता नस्ली दृष्टिसे नेग्रिटो, आस्ट्रेलायड, मंगोलायड, भूमध्यसागरीय (द्रविड़) पश्चिमी गोलसिरगले और नार्डिक (आर्य) छः नस्ली विभागोंमें बाँटा जा सकता है । इसमेंसे विभिन्न नस्लोंके लोग विभिन्न समयोंमें भारतके विभिन्न भागोंमें आकर बसे हैं ।

पूर्वी बंगालके प्रायः समस्त मुसलमान तथा भारतके अन्य भागोंके मुसलमान स्थानीय जनसंख्य में से ही इस्लाममें दीक्षित हुए हैं । दीक्षित होनेवालोंमें भी हिन्दुओंकी निम्न उत्पीड़ित जातियोंसे अधिकांश लोगोंने इस्लामको ग्रहण किया । इस्लामके समानता के सिद्धान्तसे आकर्षित होना, उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक था । भारतमें इस्लाम के प्रसारमें मुसलमान फकीरों और दरवेशोंका प्रमुख हाथ रहा है । अतः नस्ली या भौगोलिक किसी भी दृष्टिसे भारतीय मुसलमान कम भारतीय नहीं हैं । बल्कि नस्ली दृष्टिसे तो वह, उच्च जातीय वर्तमान हिन्दू जिनपर कि आर्य नस्लकी अधिक छाप है, अधिक पुराने भारतीय हैं ।

हम कह चुके हैं कि अरब और पश्चिम और उत्तरके विभिन्न देशोंका इस्लामके उदय से पूर्व भारतवासियोंसे घनिष्ट सम्पर्क था । उस समय ये देश भारतकी तुलनामें अत्यन्त पिछड़े हुए थे और साथ ही भारतवासी आजके समयकी भाँति तब तक उतने समुचित दृष्टि वाले भी नहीं हुए थे । ऐसी स्थितिमें यह स्वाभाविक ही था, कि इन विदेशियोंने भारतके साथ सौहार्दपूर्ण व्यावसायिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किए । यही नहीं, अरबके निवासियोंका तो यह कहना है कि भारतके साथ उनका सम्बन्ध केवल कुछ हज़ार वर्षों का ही नहीं है, बल्कि मानव जातिकी उत्पत्तिके आरम्भसे ही यह देश उनका पैतृक स्थान है ।

हदीसों और क़ुरानकी टीकाओं आदिमें जहाँ हज़रत आदमकी कथा है, वहाँ विभिन्न प्रवादोंके आधारपर उल्लेख मिलता है कि जब हज़रत आदम आकाशकी जन्नत या स्वर्ग से निकाले गये, तब वह इसी देशकी जन्नत या स्वर्गमें, जिसका नाम "हिन्दुस्तान जन्नत निशान" या स्वर्गतुल्य भारत है, उतारे गये थे । सरन्दीप (स्वर्ण दीप या लंका) में उन्होंने पहला चरण रखा, जिसका चिन्ह वहाँके पर्वतपर अब तक वर्तमान है । इब्ने जजीर, इब्ने अबी हातिम और हाकिमका कहना है कि भारतके जिस प्रदेशमें हज़रत आदम उतरे थे, उसका नाम दजनाय है । यह दजनाय सम्भवतः भारतका दक्षिण भाग

है। एक और प्रवाद यह भी है कि जन्नत या स्वर्गमें से चार नदियाँ निकली हैं, जिनमें से एक सैहून है। सैहूनके सम्बन्धमें कहा गया है कि यह भारतकी नदीका नाम है जो या तो गंगा है या सिंधु। मीर आज़ाद बिलग्रामीने "सुबहतुल मरजानफी आसारे हिन्दोस्तान" में भारतवर्षके महत्वके वर्णन में कई पृष्ठ भेंट किए हैं। उसमें यहाँ तक कहा गया है कि जब हज़रत आदम सबसे पहले भारतमें उतरे और यहींपर उनपर ईश्वरीय आदेश आया, तो यह समझना चाहिए कि यह वह देश है, जिसमें सबसे पहले ईश्वरका संदेश आया। यह भी माना जाता है कि मुहम्मद साहबकी ज्योति हज़रत आदमके मालमें अमानतके तौरपर रखी थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि हज़रत मुहम्मद साहबका आरम्भिक अवतार या प्रकाश इसी देशमें हुआ था। इसीलिए आपने कहा है, "मुझे भारतवर्षकी ओरसे ईश्वरीय सुगन्ध आती है।" इससे यह बात तो भली भाँति प्रमाणित होती है कि साधारणतः जो यह समझा जाता है कि मुसलमानोंका सम्बन्ध महमूद ग़ज़नवीकी विजयोंके क्रममें हुआ और वे इसके उपरान्त यहाँ आकर बसे, वह कहाँ तक मिथ्या या भ्रमपूर्ण है। बल्कि वास्तविक बात तो यह है कि वह इस देशको अपना विजित देश न समझकर अपनी पुरुषानुक्रमिक पैतृक जन्मभूमि समझते थे। ऐतिहासिक दृष्टिसे मुसलमान लोग महमूद से सैकड़ों वर्ष पहले भारतमें आ चुके थे और जगह-जगह उनके उपनिवेश स्थापित थे। भारतके साथ अरबोंका व्यापारिक सम्बन्ध ईसासे कमसे कम दो हज़ार वर्ष पहलेका है।

दक्षिण भारत अरबी व्यापारियोंका मुख्य केन्द्र स्थल था। इब्न बतूताने दक्षिण भारतके समुद्री तटोंकी यात्रा करते हुए स्थान-स्थानपर लिखा है कि यहाँके हिन्दू राजा इन अरब व्यापारियोंको अप्रसन्न नहीं होने देते क्योंकि कोरो मण्डलके राजा इस समुद्री व्यापारके कारण असीम सम्पत्तिके स्वामी थे।

दूसरी भाषाओंके शास्त्रों आदिका अनुवाद करानेका विचार अरबोंमें हिजरी पहली शताब्दीके मध्यमें ही हो चुका था। आनेवाले दो सौ सालोंमें सैकड़ों श्रेष्ठ और उत्तम संस्कृत ग्रंथोंका अरब विद्वानोंने अपनी भाषामें अनुवाद किया। इन अनुवादोंके कारण अरबोंके हृदयमें भारतके लिए अत्यन्त आदर भाव उत्पन्न हुआ। प्रसिद्ध अरबी दार्शनिक और तार्किक जाहिजने, जिसका कि सन् २५५ हि० में देहान्त हुआ, संसारकी गोरी और काली जातियोंमें कौन श्रेष्ठ है, इस विषयपर काली जातियोंके पक्षमें निर्णय देते हुए लिखा था :—

"परन्तु हम देखते हैं कि भारतके निवासी ज्योतिष और गणितमें बढ़े हुए हैं और उनकी एक विशेष भारती लीपि है। चिकित्सामें भी वे आगे हैं और इस शास्त्रके कई विलक्षण भेद जानते हैं। उनके पास भारी-भारी रोगोंकी विशेष औषध होती है। फिर मूर्तियाँ बनाने, रंगोंसे चित्र बनाने और भवन आदि बनानेमें वे लोग बहुत योग्य होते हैं....वे तलवारें बहुत अच्छी बनाते हैं.... उनका संगीत भी बहुत मनोहर है। उनके यहाँ सब प्रकारके नृत्य भी हैं। उनके यहाँ अनेक प्रकारकी लिपियाँ हैं। कविता का भंडार भी है और भाषणोंका अंश भी। दर्शन, साहित्य और नीतिशास्त्र भी उनके पास हैं..."अस्तु। दूसरा अरब यात्री जिसका कि देहान्त २७८ हि० में हुआ अपने यात्रा-वृत्तांतमें लिखता है, "भारतवर्षके लोग बुद्धिमान और विचारशील हैं, और इस विचारसे

वे सब जातियोंसे बढ़कर हैं कि गणित और फलित ज्योतिषमें इनकी बातें सबसे अधिक ठीक निकलती हैं।.... चिकित्साशास्त्रमें इनका निर्णय सबसे आगे है।...."

ख़लीफ़ा मन्सूर और हारूं रशीदके संरक्षणमें और बरामका (एक ब्राह्मण वंश) की गुणग्राहकता और उदारताके कारण भारतके बीसियों पंडित और वैद्य बग़दाद पहुँचे और राज्यके चिकित्सा तथा विद्या विभागोंमें काम करने लगे।

अरब और भारतके सांस्कृतिक सम्बन्धोंको सुदृढ़ करनेमें जिन सैकड़ों अरबी यात्रियों और विद्वानोंने अपना योगदान दिया, उनमें अबू रैहान बैरूनी प्रसिद्ध हैं। यह ३८३ हि० में भारत आया और इसने यहाँ ४० वर्ष बिताए। भारतमें वह उस समय आया, जब इस देशमें सुल्तान महमूदकी चढ़ाइयोंके कारण हलचल मची हुई थी। पर ठीक उसी समय विद्या और गुणका ग्राहक यह सुल्तान शांति और सुखसे अकेला विद्या विषयक विजय प्राप्त करनेमें लगा हुआ था और इस राजनीतिक लड़ाई भिड़ाईसे मन ही मन कुढ़ रहा था। बेरूनीने बीसियों संस्कृत ग्रंथोंका अरबीमें और अरबी ग्रंथोंका संस्कृतमें अनुवाद किया और इस प्रकार अरब इरान और भारतके बीच विद्या विषयक दूतका काम किया।

अरबोंमें इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेनेपर भी भारतवासियों और उनके सौहार्दपूर्ण सम्बन्धोंमें कोई अन्तर न पड़ा। यही कारण था, कि जब सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की सेनाने गुजरातसे कोरोमण्डल तक उथल-पुथल मचा दी उस समय कोरो मण्डल के राजाकी ओरसे, जिसकी राजधानी बेरधूलमें थी, इराक और अरबके मुसलमानोंने आक्रामक तुर्कोंका सामना किया। होयशल वंशके बल्लालदेव राजा के एक लाख सैनिकोंमेंसे २०,००० अरबके मुसलमान थे। दक्षिण भारत स्थित अरबी मुसलमानों के सदियों तक अपने पड़ोसी हिन्दुओंके साथ अत्यन्त स्नेह और सहिष्णुतायुक्त सम्बन्धों का ही परिणाम था कि अरब हिन्दुस्तानीने अपनी जन्मभूमिकी प्रशंसामें इन पंक्तियोंकी रचना की थी, "अपने प्राणोंकी सौगन्ध, यह वह भूमि है, जब इसमें पानी बरसता है, तब उससे उन लोगोंके लिये दूध, मोती और लाल उगते हैं, जो शृंगारसे रहित हैं....यहाँ हथियारोंमें तलवारें हैं, जिनको कभी सिकलीकी आवश्यकता नहीं होती, और ऐसे भाले हैं कि जब वे हिलें, तब उनसे सेनाकी सेना हिल जाय।

"तोम्या मूर्खके सिवा कोई ऐसा है जो भारतके इन गुणोंको अस्वीकार कर सकता है?"

इतिहास इस बातका साक्षी है कि मुस्लिम अरबोंका शासन सिन्ध में अच्छा रहा और शेष हिन्दू राज्योंकी भाँति उनका भी अन्त तत्कालीन मुसलमान खैबरकी जातियोंने किया। ईरान, तूरानमें इस्लामका प्रचार हो जानेके बाद खैबरसे जो मुस्लिम दल देशमें उतरा, उसने पहले मुस्लिम शासकपर हाथ साफ़ किया तो फिर हिन्दू राज्यपर। अतएव फ़ातेह मफ़तूह (विजयी और विजित) की दृष्टिसे भारतमें कभी भी मुस्लिम-हिन्दू भेद नहीं हुआ; यह बात दूसरी है कि आज हमारी इतिहासकी पाठ्यपुस्तकों या साम्प्रदायिक प्रचारकों द्वारा सर्वत्र प्रचार किया जाता है कि अंग्रेजोंके आनेसे पहले यहाँ मुसलमानों फ़ातेह और हिन्दू मफ़तूह थे।

आजकलके अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे पंडितोंके इतिहासमें मुसलमान और हिन्दू का प्रत्यक्ष भेद भले ही दिखाई दे, परन्तु भारतके किसी प्राचीन लेखमें इसका प्रमाण न मिलेगा।

चन्द्रबली पाण्डेने ठीक ही कहा है कि यदि हम ख़ैबरसे अपने चिरपरिचित, परम्परागत सम्बन्धोंपर दृष्टिपात करें, तो हमें यह समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी। फिर ख़ैबर का सारा दोष इस्लामके सिर मढ़ा जाना कहाँ तक जायज़ है? क्या महमूद ग़ज़नवी से लेकर अहमदशाह दुर्रानी तक सभी ख़ैबर जातियोंने मुस्लिम शासनका कचूमर नहीं निकाला? उनकी तलवार हिन्दुओं और अपने धर्मानुयाइयोंपर समान रूपसे नहीं पड़ी?

सौ साल पहले तक भारतवासी सदैव यह मानते रहे हैं कि वस्तुत: उनका शत्रु इस्लाम नहीं सर्वत: ख़ैबर है। यही कारण है कि उन्होंने कभी हिन्दू-मुस्लिम विवाद नहीं खड़ा किया, प्रत्युत सदा उनके सामने हिन्दू तुरुकका भेद बना रहा। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि भारतकी किसी भी प्रशस्ति या शिलालेखमें सर्वत्र म्लेच्छ, शक, यवन, पारसीक और तुरुक शब्दोंका ही प्रयोग हुआ है, कहीं भी मुस्लिम या मुसलमानके दर्शन नहीं होते। इसके अतिरिक्त इसका क्या कारण हो सकता है कि भारत सदासे उक्त जातियोंकी नीति से परिचित रहा है और कभी भूलकर भी उसका दोष इस्लामके सिर नहीं थोपता। और तो और, स्वयं मुसलमानोंके संस्कृत शिलालेखोंमें मुसलमान शब्दका व्यवहार नहीं होता; वहाँ भी परम्परागत शक दिखाई देता है। उदाहरणके लिए सुल्तानत महमूदके जल्लाल खोजाके गोमठ (बारिहागढ़, दमोह) में प्राप्त शिलालेखपर संस्कृतमें जो लेख उद्धृत है, उसका अर्थ है: "शकोंका स्वामी कलियुगमें पृथ्वीपति है। वह योगिनीपुरमें समस्त पृथ्वीका योग करता है, और उसने भूपतियोंको वशमें किया है। उस महमूद सुरत्राण नामके राजाकी वृद्धि हो।"

यह दृष्टब्य है कि भारतवासियोंने कभी ख़ैबर और इस्लामको एक नहीं किया, प्रत्युत सदा उक्त आततायियोंको जातिगत रूपमें ही लिया। आप भारतके प्राचीन इतिहास में जिन शक, यवन, तुरुक आदि जातियोंका आतंक देखेंगे, उन्हींका मध्यकालमें उनके मुसलमान बन जानेपर भी आपको किसी प्रशस्तिमें यह नहीं मिलेगा कि अमुक हिन्दू राजाने अमुक मुस्लिम सुल्तानको पछाड़ा अथवा अमुक मुस्लिम बादशाहने हिन्दू सामन्तसे अमुक सम्बन्ध जोड़ा। वहाँ तो सर्वत्र मुस्लिमके स्थानपर शक, तुरुष्क, यवन और पारसीक प्रभृति शब्द दिखाई देंगे। इसका एकमात्र और अकेला कारण यही था कि तब तक इतिहासमें धर्म और सम्प्रदायको नहीं बाँधा गया था। यही नहीं, यहाँके तथाकथित मुस्लिम शासकोंने भी कभी ख़ैबर और इस्लाममें एकता स्थापित न की और तुर्क और पठानके भेदको कायम रखा।

हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व अथवा साम्प्रदायिक विचारधारामें महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजीका मुख्य उल्लेख होता है और उन्हें मुस्लिम सत्ताके विरुद्ध विद्रोहका झंडा खड़ा करनेका श्रेय दिया जाता है। किन्तु इन दोनों महानुभावोंने भी कभी मुसलमानके विरुद्ध संगठित होनेका उल्लेख नहीं किया है। १३४२ वि० के आबूके शिलालेखकी प्रशस्ति को ही लीजिए। उसमें कहा है, "जिन्होंने तुरुस्क रूपी सागरमें निमग्न गुर्जर पृथ्वीका उद्धार किया...." १४८५ वि० के श्रृंगी ऋषिके शिलालेखमें कहा है, "जो अपनी तलवार के बलसे अमीशाहको जीता तथा अशेष यवनोंको मार....अपनी राजधानीमें लौट आए।" प्रवाद है कि बीकानेरके राजा रामसिंहके छोटे भाई पृथ्वीराजके पत्रके उत्तर में

स्वयं महाराणाने कहा; "प्रताप कभी अकबरको बादशाह नहीं कह सकता वह तो उसे सदा तुरुक ही कहता रहेगा।" यहाँ कहीं भी मुसलमानकी गंध नहीं है। इस प्रकार शिवाजीने हिन्दुत्वका झंडा खड़ा किया, इस्लामके विरोधमें नहीं बल्कि मुग़लोंके विरोध में। औरंगज़ेबके बाप-दादोंने हिन्दू और तुरुकको अलग-अलग देखा था, तो उनकी मर्यादा भी स्थापित कर दी थी और वेद तथा कुरानकी सीमा भी अलग-अलग निर्धारित कर दी थी। सारांश यह कि राजनीति को धर्मनीतिका आसन नहीं दिया था। परन्तु जब औरंगजेबने राजनीति और धर्मनीतिको एकमें साटनेके प्रयत्न किए तब शिवाजीने उसका विरोध किया। यह विरोध इस्लामके विरुद्ध न था। उसने मुसलमानों और कुरान मजीदका आदर किया। यही कारण था उसकी सेनामें ऊँचे-ऊँचे पदोंपर भी मुसलमान विराजमान थे। औरंगज़ेबके खैबरी अत्याचारसे व्यथित हो, शिवाजीके पुत्र सम्भाजीने जयपुराधीश रामसिंहको लिखा कि हमें इस दुष्ट यवनाधिपसे अपने धर्म की रक्षा करनी चाहिए और उसके स्थानपर उसके आत्मज उदार अकबरको स्थापित करना चाहिए। कहीं यह नहीं लिखा कि मुसलमानको खदेड़कर हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहिए। अतः शिवाजीके समयमें हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्वके खोजनेका प्रयत्न सर्वथा भ्रामक है।

औरंगजेबके समयमें हिन्दू-तुरुक ही संघर्ष चल रहा था, किन्तु अंग्रेज़ी शासनकी स्थापना ने उसे भी समाप्त कर दिया और १८५७ में भारतके सभी सम्प्रदायों और सभी देशी और विदेशी मुसलमानोंने कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर अंग्रेज़ी राज्यके विरुद्ध संघर्ष किया। यदि साम्प्रदायिक भाषामें ही कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि इस तथाकथित विद्रोहमें हिन्दुओंकी तुलनामें मुसलमानोंने अधिक उत्साह और बलिदानका परिचय दिया। अभी तक भारतके मुसलमान अन्य भारतीय अमुस्लिमोंकी भाँति अपनेको हिन्दू या हिन्दुस्तानी कहनेमें गर्वका अनुभव करते थे। १८८० के लगभग सर सय्यद अहमदखाँ जैसे मुसलमान ने, जो कि अपने अंतिम दिनोंमें अंग्रेज़ी प्रभावमें हिन्दू-मुसलमानोंकी पृथकताके पोषक हो गये थे कहा था, "मैं इन दोनों कौमोंको जो हिन्दुस्तानमें आबाद हैं, एक लफ्जसे तामीर करता हूँ कि 'हिन्दू' यानी हिन्दुस्तानकी रहनेवाली कौम।"

भारतीय इतिहासके तथाकथित मुस्लिम कालपर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होगा कि खैबरसे जो मुसलमान आये उन्होंने पहले मुसलमानको साफ़ किया और फिर हिन्दू पर हाथ फेरा। शिहाबुद्दीन गौरीसे लेकर अहमद शाह दुर्रानी तक सभी इसकी पुष्टि करते हैं। भारतके मुसलमानोंका इतिहास, जिनकी कि जनसंख्या कुल मुस्लिम जन-संख्याका शायद ९० प्रतिशत से कम नहीं है, वस्तुतः पराधीनताका ही इतिहास है। सैयद् अहमद अब्दुल अल्लाह साहबने ठीक ही फ़रमाया है कि, "ईरानी नज़ाद (वंश) हज़रत हिन्दुओं और हिन्दुस्तानी मुसलमानोंको एक ही निगाहसे देखते हैं।"

भारतीय जनताके एक बड़े भागके इस्लाम अंगीकार कर लेनेसे, उनकी वफ़ादारी में तथा पड़ौसी भिन्न धर्मावलम्बियोंके साथ उनके व्यवहारमें कोई अंतर नहीं आया। यही नहीं किन्तु अल्पसंख्यक विदेशी, साथ ही प्रबल मुसलमान, जो कि भारतके ही स्थायी निवासी होकर रहने लगे तथा स्थानीय जनताके बीचमें जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें सहयोग और सम्मिलनकी प्रवृत्ति पुष्ट हुई। दक्षिण भारतमें तो प्रथम मुस्लिम सम्पर्क बहुत

ही शांतिपूर्ण था। पश्चिमी तट पर उनकी महत्वपूर्ण बस्तियाँ बन गई। भिन्न धर्मी और विदेशी होते हुए भी इनके सम्बन्ध स्थानीय जनतासे अत्यन्त सौहार्दपूर्ण थे। यही कारण था हिन्दू राजाओंने उन्हें बड़े-बड़े पद दिये। सुन्दर पण्ड्याने तकीउद्दीनको अपना मंत्री और सलाहकार नियुक्त किया और फ़ख़रूद्दीनको कुबलाईखानके दरबारमें अपना दूत बनाकर भेजा। विदेशी मुस्लिम आक्रामकोंके हमलाका हिन्दू मुसलमानोंने मिलकर सामना किया। मालिक काफूरकी सेनाका राजा वीर बल्लालने मुकाबिला किया। उसकी सेनामें २०,००० मुसलमान थे। वस्तुतः भारतमें तथाकथित मुस्लिम शासनका इतिहास विभिन्नदेशीय और विभिन्न वंशीय मुसलमानोंके परस्पर संघर्षका इतिहास है। पानीपतके ऐतिहासिक मैदानमें बाबरने अपने ही धर्मावलम्बी इब्राहिम लोदीका मुक़ाबिला किया। इस इतिहासकी पुनरावृत्ति हुई जब अफ़गान शेरशाहने हुमायूँको नीचा दिखाया।

दक्षिणकी स्थिति इससे भिन्न न थी। बावजूद इसके कि विजयनगर साम्राज्यका अपने पड़ौसी मुस्लिम राज्योंसे निरन्तर युद्ध चलता रहा, वहाँपर अत्यन्त धार्मिक सहिष्णुता और एक-दूसरेकी संस्कृतिके प्रति सम्मानकी भावना व्यक्त होती है। बीजापुरके आदिल-शाही और अहमदनगरके निज़ामशाही सुल्तान मुक्त हस्त हो मराठा सरदारोंको संरक्षण देते थे और हिन्दू अधिकारियों और हिन्दू सेनाओंको अपने यहाँ स्थान देते थे। अहमद-नगरकी निज़ामशाहीने तो मराठी भाषाको अपने सरकारी कार्यकी भाषा बनाकर बहुत ही प्रोत्साहन दिया विजयनगरके हिन्दू राजाओंने इन भावनाओंका प्रतिदान किया। उन्होंने भी अपनी सेनाओंमें मुसलमानोंको भर्त्ती किया, मुस्लिम व्यापारियोंको प्रोत्साहित किया और उनकी इबादतके लिए मस्जिदोंका निर्माण किया। मुग़ल बादशाहों और दक्षिणके बहमनी राज्योंके बीच दीर्घ संघर्ष इन युद्धोंके वंशीय रूपकी पुष्टि करता है।

धर्मके क्षेत्रमें भी यह सहयोगकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। अकबरसे बहुत पहले काश्मीरका सुलतान ज़ैनुल आबदीन अपनी सहिष्णुता और विद्वत्ताके लिए प्रसिद्ध था। उसने जज़िया समाप्त कर दिया और विभिन्न संस्कृत ग्रंथोंका स्वयं फारसीमें अनुवाद किया। पन्द्रहवीं शताब्दीके अंतमें गौड़में हुसैनी वंशके प्रथम बादशाह अलाउद्दीन हुसैनशाह (१४९३–१५१९) ने बंगालमें एक नए युगका सूत्रपात किया। उसके संरक्षणमें विभिन्न संस्कृत ग्रंथोंके बंगला अनुवाद हुए और विभिन्न धर्मों और वर्गोंके बीच सौहार्दकी नीति अपनाई गई। शेरशाह (१४८६–१५४५) द्वारा स्वयं इसी नीतिका अनुसरण किया गया। उलेमाओंकी रायके विरुद्ध उसने अपनी प्रजाके भिन्न वर्गोंको समान न्याय प्रदान करने और पूर्ण सहिष्णुता बरतनेकी नीति अपनाई। अपनी हिन्दू प्रजामें शिक्षाको प्रोत्साहन देनेके लिए उसने उन्हें वक्फ किए। उसकी इस उदार नीतिका उसकी प्रजाके समस्त वर्गोंने स्वागत किया। अकबरकी सहिष्णुता और उदारता की नीति तो सर्वविदित ही है। यह स्मरणीय है कि जिस समय कि योरोपमें रोमन कैथलिक प्रोटैस्टेंट लोगोंको जला रहे थे और प्रोटैस्टेंट रोमन कैथलिकोंको सूलीपर चढ़ा रहे थे, उस समय अकबरने केवल विभिन्न सम्प्रदायोंमें ही नहीं प्रत्युत विभिन्न धर्मोंके बीच शांति स्थापित की। योरोपमें यह वह समय था, जबकि राज्यसत्ता अपनी

प्रजाके धर्मको निर्धारित कर रही थी। इस तथ्यको दृष्टिमें रखते हुए तत्कालीन मुग़ल एक महत्वपूर्ण अपवाद थे।

सहिष्णुता, सांस्कृतिक समन्वय और असली मिश्रणने धर्म और दर्शनके क्षेत्रमें सम्मिलनकी प्रवृत्तिको पुष्ट किया। आक्रामक देशोंमें स्थायी रूपसे बस गए। समय और परम्पराओंने विभिन्न समुदायोंके बीचकी दीवारोंको गिराया। राज्य दरबारोंमें समान रूपसे हिन्दू और मुसलमान विद्वानों और कलाकारोंका आदर हुआ और इस प्रकार एक सम्मिलित संस्कृतिका विकास प्रारम्भ हुआ। हिन्दुओंने फारसी और अरबीमें दक्षता प्राप्त की और मुसलमानोंने संस्कृतका अध्ययन किया। अमीर खुसरो और दारा शिकोहका नाम तो इस सम्बन्धमें चिरस्मरणीय रहेगा। इस्लामके एकेश्वरवाद भ्रातृत्व और समानताके सिद्धांत ने हिन्दू विचारधारापर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा। कबीर, नानक, तुकाराम और चैतन्य दो धर्मोंके संगमका ही सुन्दर परिणाम थे। विदेशी मुसलमानों तकने हिन्दीमें रचनाएँ प्रारम्भ कीं। अब्दुल रहीम खानखाना और रसखानके नाम तो इस प्रसंगमें प्रसिद्ध ही हैं।

इस प्रकार वास्तुकला, संगीत और चित्रकलाके क्षेत्रमें हिन्दू और मुसलमानोंके संपर्क से एक नई समृद्धि और समन्वयात्मक शैलीका विकास हुआ। संगीतके क्षेत्रमें तो समान परम्पराएँ सदियों पुरानी हैं और एक हिन्दू उस्तादके मुसलमान और मुसलमान उस्ताद के हिन्दू शिष्य होना तो सामान्य सी बात है। यही नहीं, बल्कि मुसलमानोंने तो भारतीय संगीतमें विशेष दक्षता प्राप्त की। आजके भारतीय संगीतके आचार्योंमें मुसलमानोंका प्रमुख स्थान है।

राजनीतिक क्षेत्रमें भी धर्मके आधारपर संघर्ष या पदोंका विभाजन नहीं हुआ। यहाँ तक कि सोमनाथ मंदिरके भंजक महमूद ग़ज़नीने हिन्दू सेनापति तिलकको अपने मुस्लिम सेनापति नियाल्तगीनको कुचलनेके लिए नियुक्त किया। सुल्तानका लड़का मसूद तो उससे भी आगे बढ़ा और उसने उसे अपनी समस्त भारतीय सेनाका सेनापति नियुक्त किया। अकबरके हिन्दू सेनापति तो सर्वविदित हैं, किन्तु औरंगज़ेब जैसे तास्सुबी शासकोंने भी हिन्दुओंको उच्चतम पदोंपर रखा। जसवन्त सिंह और जयसिंह मनसबदारीके अतिरिक्त राज्योंके गवर्नर पद पर भी सुशोभित हुए। इसी प्रकार शिवाजी की सेनामें भी मुसलमान उच्चतम पदोंपर आसीन थे। सिद्धी हलाल और नूरखान सेनापति पदपर नियुक्त हुए। उसकी नौसेनामें कमसे कम तो तीन मुस्लिम नौसेनाधिपति—सिद्धि सम्बल, सिद्धि मिश्री और दौलतखान मुसलमान थे। मालगुज़ारी और वित्त विभागमें तो सदा ही हिन्दुओंका प्रभुत्व रहा। यह कोई अपवाद स्वरूप उदाहरण नहीं हैं। सर विलियम हन्टरने बहुत छानबीनके बाद लिखा कि अधिकांश मुसलमान उमरा अपनी जमीनोंके प्रबन्धके लिए और किसानोंसे कर वसूल करनेके लिए हिन्दू-कारकुन ही रखते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार हिन्दू और मुसलमान धर्मके आधारपर नहीं, किन्तु समान स्वार्थों और समान संस्कृतिके आधारपर एक सहयोगकी परम्पराको स्थापित कर रहे थे। आज अनेक ऐसे प्रचारक हैं, जो कि इस परम्पराको माननेसे इन्कार करते हैं, पर भारतके पुराने इतिहासकी साक्षी उनके विरुद्ध है।

तब यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि यह साम्प्रदायिक कटुता कहाँसे शुरु हुई ? १८५७ की क्रांतिमें मुसलमानोंका प्रमुख हाथ था। यह क्रांति असफल रही और राष्ट्रीय मुसलमानोंपर ब्रिटिश सरकारका मज़बूत वार हुआ। यों तो ग़दरसे पहले ही मुसलमानों का दमन शुरू हो गया, पर ग़दरके बाद इसमें और तेज़ी कर दी गई और अन्ततः स्वाभिमानी और वीर मुसलमान निस्सहाय और अशिक्षित हो गए।

ऐसे समयपर सर सय्यदने उन्हें ऊँचा उठानेका बीड़ा उठाया। अपने प्रारम्भिक कालमें सर सय्यद पक्के राष्ट्रवादी थे और अपनी कविसुलभ भावुकतामें वह हिन्दू मुसलमानों को भारत-वधुकी दो सुन्दर आँखें कहा करते थे। किन्तु १८८५ के लगभग उनमें हठात् एक परिवर्तन घटित होने लगा। अलीगढ़ कालेजके अंग्रेज़ प्रिंसिपलोंका प्रच्छन्न प्रभाव उनपर काम करने लगा। धीरे-धीरे उनपर यह असर डाला गया कि मुसलमानोंकी उन्नतिका एक मात्र और सर्वोत्तम उपाय सरकारका समर्थन है। परिणामतः उनके असाधारण प्रभावका उत्तर भारतमें मुसलमानोंको कांग्रेससे दूर रखनेमें प्रयोग किया गया ? किन्तु ऐसे मुसलमानोंकी भी कमी न थी जो कि शुरूसे कांग्रेसके साथ थे। यह कांग्रेस-समर्थन भावना केवल नवशिक्षितों तक ही सीमित न थी, बल्कि उसे सबसे अधिक समर्थन उलेमाओंसे प्राप्त हुआ। पर फिर भी सर सय्यदके प्रबल प्रभावसे बहुत से शिक्षित मुसलमान कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत भारतीय राष्ट्रवादसे पृथक रहे।

उन्नीसवीं सदीके अंतमें, सर सय्यदकी मृत्युके ठीक बाद हिन्दी-उर्दूका विवाद छिड़ गया और इस प्रकार एक नई दीवार खड़ी हो गई। उस समय तक उत्तर भारतकी अदालतोंमें फारसी लिपिका प्रयोग हो रहा था। कुछ हिन्दुओंने उसके स्थानपर नागरीकी माँग की। नये मुसलमान नेताओंने उर्दू भाषापर इस आक्रमणका विरोध किया। इस आन्दोलनकी इति श्री अंजु-मन उर्दूकी स्थापना में हुई। नवाब मोहसिन उल-मुल्क जो कि अलीगढ़ कालेजके सेक्रेटरी थे, इसके भी सेक्रेटरी बन गये। पर सरकारको यह बर्दाश्त नहीं हुआ और उनपर यह दबाव डाला गया कि उन्हें इसमेंसे किसी एकको चुनना होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश सरकारने मुसलमानों का संगठन तभी पसंद किया, जबकि वह उनके हकमें हो। १९०४ में यह स्पष्ट हो गया, जब कि लार्ड कर्जनने बंगाल के विभाजनकी योजना प्रस्तुत की और स्वयं उसने ढाकामें उसका मुस्लिम प्रान्त कहकर विज्ञापन किया। ढाकाके प्रभावशाली मुस्लिम नेता, नवाब सलीमुल्ला खाँको, जोकि अभी तक विभाजनके विरोधी थे, सरकार अपनी ओर करनेमें सफल हुई। १९०६ में सरकारी प्रेरणासे आगाखाँ की अध्यक्षतामें कुछ मान्य मुसलमानोंका एक प्रतिनिधि-मंडल लार्ड मिन्टोसे मिला और उसने पृथक् निर्वाचन की माँग की। उनकी माँग मन्जूर हुई। प्रतिनिधि मण्डलकी सफलताने उसके प्रणेताओंको प्रोत्साहित किया और उसी वर्ष मुस्लिम लीगकी स्थापना हुई। मुसलमानों में ब्रिटिश सरकारके प्रति वफादारीकी भावनाकी वृद्धि करना उसका एक उद्देश्य था।

१९०८ में लीगने स्थानीय सभाओंमें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वके विस्तारकी माँग की। १९०९-१० में भारतीय मुसलमानोंके जीवनमें एक महत्वपूर्ण घटना घटित

हुई। तत्कालीन अलीगढ़ कालेजके सेक्रेटरी, जो कि लीगके भी मंत्री थे तथा कालेजके प्रिंसिपलमें अनबन हो गई और क्रमशः लीग एक स्वाधीन संस्था बनने लगी।

१९११ में बंगालके विभाजनके अंतकी घोषणासे मुसलमानोंको काफी धक्का पहुँचा, क्योंकि इसके बारेमें उनकी कोई राय नहीं ली गई थी। इस धक्केने एक बार मुसलमानों को पुनः राष्ट्रवादी धाराकी ओर धकेला। उस समय योरोपमें होने वाले परिवर्तनों ने भी इस प्रवृत्तिको बल दिया। तरुण तुर्क आंदोलनने भी उसे प्रभावित किया और धीरे-धीरे लीगमें रूपान्तरण होने लगा। १९१३ में लीगका उद्देश्य ब्रिटिश ताजके नीचे स्वराज्य प्राप्ति हो गया। लीगके अगले अधिवेशनमें डा० अन्सारी, अबुलकलाम आज़ाद और हकीम अजमलखाँ जैसे व्यक्ति सम्मिलित हुए। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम सौहार्दपर विशेष ज़ोर दिया।

१९१४ के महायुद्धने पुनः मुसलमानोंमें जीवनका संचार किया। शेखुल हिन्द मौलाना महमूद लहसन देवचन्दीने अपने एक शिष्य मौलाना अब्दुल्ला सिन्धीको काबुल स्थित तुर्की और जर्मन राजदूतोंसे बातचीत करने तथा वहाँके अमीरको अंग्रेज़ोंके विरुद्ध खड़े होनेके लिए प्रेरित करनेको भेजा। राजा महेन्द्र प्रतापके प्रथम राष्ट्रपतित्वमें मौलाना ने स्वाधीन भारतकी कल्पना की। मौलाना और उनके सहयोगी मौलाना हुसेन अहमद नदवी और मौलवी अजीज़ गुलको मालटामें कैद कर दिया गया। बादमें मौलाना मुहम्मदअली और शौकतअली, मौलाना आज़ाद और हसरत मोहानीको भी नज़रबन्द कर दिया गया।

१९१५ का साल लीगके इतिहासमें महत्वपूर्ण है, जबकि उसका और कांग्रेसका वार्षिक अधिवेशन एक ही स्थान और समयपर बुलाया गया। इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि लीगके स्थायी सभापति आगाखाँने इस्तीफ़ा दे दिया। राष्ट्रवादी मुसलमान शिमला और व्हाइट हालके शिकंजेसे लीगको मुक्त करनेमें सफल हुए। १९१७में लीगके सभापति राजा महमूदाबादने घोषणा की कि देशका स्वार्थ सर्वप्रथम है। १९१८ में लीगके स्वागत समितिके अध्यक्ष डाः अन्सारीका भाषण सरकारने जब्त कर लिया।.. इस अधिवेशनकी अन्य विशेषता राजनीतिमें उलेमाओंका पुनरागमन था। इस अधिवेशन में लीगने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को कार्यान्वित करनेकी माँग की।

१९१९ में जमीयत-उल-उलेमा-ए-हिन्दकी स्थापना हुई। १९२१ में उसने अपना प्रसिद्ध फ़तवा दिया जिसमें असहयोग और बायकाट मुसलमानोंके लिए धार्मिक कर्त्तव्य बताया गया। जमीयतके प्रथम सभापति मोहम्मदुल हसनकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई और उनके बाद मुफ़ती किफ़ायतुल्लाने इसका दायित्व सम्भाला। उनके नेतृत्वमें जमीयतने १९३० और १९३२ के पूर्ण अवज्ञा आन्दोलनका समर्थन किया और उसके नेता अनेक बार जेल गये। जमीयत १९३९ के आज़ाद मुस्लिम सम्मेलनकी सबसे प्रबल समर्थक थी।

१९१९ में लीग, ख़िलाफ़त और जमीयत तीनोंने जलियाँवाला हत्याकांडपर विचार करनेके लिए एक साथ अमृतसरमें अधिवेशन किए। लीगके अगले अधिवेशन का सभापतित्व डा० अन्सारीने किया और उन्होंने कांग्रेसके अवज्ञा आन्दोलनको पूर्ण सहयोग

दिया। १९२१ में भी लीग और कांग्रेसके अधिवेशन साथ-साथ हुए। १९२३ के बाद लीगमें पुनः शिथिलता आनी शुरू हुई और १९२३ में तो लीगमें लखनऊ अधिवेशन का कोरम भी पूरा न हो सका। अगले तीन अधिवेशनोंमें मुख्यतः बिगड़ती साम्प्रदायिक अवस्थापर विचार हुआ। वस्तुतः वे निर्जीव रहे और उनकी पुरानी आग ठंडी हो गई। १९२७ में लीगके प्रतिगामी पक्षने जो अभी तक बाहर पड़ा था, पुनः जोर मारा। इसका तात्कालिक कारण साइमन कमीशनकी स्थापना थी। लीगमें दो दल हो गये। राष्ट्रवादी दलने कलकत्ते तथा प्रतिगामी पक्षने लाहौरमें अधिवेशन बुलाए। अधिकृत अधिवेशनमें जो कि कलकत्तेमें बुलाया गया था, मुहम्मद अली जिन्नाने सभापतित्व किया। उसने साइमन कमीशनके बायकाट तथा बिना मुकदमा किए नज़रबन्द राजनीतिक बन्दियों की रिहाईके प्रस्ताव पास किए। १९३३ तक लीग पुनः नरम दलियोंके हाथमें तथा अपनी १९१०की पूर्व अवस्थामें पहुँच गई। १९३१ में भारतके समस्त भागोंके राष्ट्रीय मुसलमानोंने लखनऊमें एक सम्मेलन किया जिसका सभापतित्व सर अली इमामने किया। उन्होंने कहा कि "मुझसे पूछा जाय कि क्यों मेरी राष्ट्रवादमें इतनी श्रद्धा है, तो मैं यही कहूँगा कि इसके बिना स्वाधीनता असम्भव है। पृथक निर्वाचन राष्ट्रवाद का विरोधी है। सम्पूर्ण मुस्लिम बुद्धिवादी वर्ग पार्थक्य की योजनाका विरोधी है।"

१९३४ के बाद लीग पुनर्संगठित की गई और उसने नई लाइन अख्तियार की। मि० जिन्नाने आक्षेप किया कि कांग्रेसके वर्तमान नेतृत्वने पिछले दस सालोंमें एकान्ततः हिन्दू नीति अपनाकर क्रमशः मुसलमानोंकी सहानुभूति खो दी है। फ़ज़लुल हकने इस्लाम के नामपर मुसलमानोंसे एक होनेकी अपील की और धमकी दी कि "अगर थानेश्वर और पानीपत फिरसे दोहराया जाता है, तो मुसलमानोंको अपने पूर्वजोंके उज्ज्वल नामको बचानेके लिये तैयार हो जाना चाहिए।" १९३९ में लीगकी प्रेरणापर हैदराबादके डा० अब्दुल लतीफ़ने साम्प्रदायिक आधार पर भारतके सांस्कृतिक क्षेत्र निर्माणकी योजना तैयार की। सितम्बर १९३९ में कांग्रेस सरकारोंने इस्तीफ़ा दे दिया और लीगको पुनः अपनी स्थिति मज़बूत करनेका मौका मिला। १९४० मार्चके लाहौर अधिवेशनमें दो राष्ट्रोंका सिद्धांत प्रस्तुत किया गया और पाकिस्तानकी माँग की गई। इसके कुछ सप्ताह बाद ही दिल्लीमें खानबहादुर अल्लाबक्शकी अध्यक्षतामें अखिल भारतीय आज़ाद मुस्लिम सम्मेलनका आयोजन हुआ। इसमें पाकिस्तानकी माँगका विरोध किया गया। जमीयतके अध्यक्ष मुफ़ती किफ़ायत उल्लाने मुख्य प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसके प्रारम्भिक शब्द थे "हिन्दुस्तान बिना नस्ल और धर्मके भेद के उन सब नागरिकों की समान मातृभूमि है, जो कि इसके साधनोंके समान रूपसे स्वामी हैं। वह अपनी अपनी भौगोलिक और राजनीतिक सीमाओंके साथ एक अविभाज्य इकाई है।" इसमें अपने अन्य देशवासियोंके साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर स्वाधीनताके लिये लड़नेकी घोषणा की गई।

मुस्लिम राजनीतिके ब्रिटिशकालीन इतिहासके इस संक्षिप्त अध्ययन से हम अवश्य जान सकते हैं कि मुस्लिम राजनीतिक चेतना दो विरोधी दृष्टिकोणोंमें विभक्त रही है, एक तो भारतके राष्ट्रवादसे अपनेको मिलानेके लिए व्यग्र रहा है, दूसरा उससे पृथक् हो

अपना रास्ता ढूंढ़ना चाहता है। १६१६से १६२४ तक उस पर राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का ज़ोर रहा। उसके बादसे भारतके विभाजनके समय तक उस पर पृथकतावादियों का प्रभुत्व बढ़ता गया।

इस विविध प्रवृत्तिको समझनेके लिए उन समाजशास्त्रियों और अबौद्धिक शक्तियों का जानना भी आवश्यक है, जो कि पिछले सौ सालोंसे भारतीय राजनीतिमें कार्य कर रही हैं तथा जिन्होंने समय-समयपर विदेशी सरकारकी नीतिको प्रभावित और परिवर्तित किया है।

साम्प्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का हाथ

"फूट डालो और शासन करो" की नीतिमें दक्ष अंग्रेज़ शासकोंने भारतमें अपना पैर जमाते ही इस पर अमल करना शुरू किया। माउन्ट स्टुअर्ट एलिफंसटनने कहा कि "फूट डालो और शासन करो" रोमन नारा था, यही हमारा भी होना चाहिए।" अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धनके शब्दोंमें "अंग्रेजोंने हिन्दू और मुसलमानोंके बीच अपने को रखनेका निश्चय किया और इस प्रकार एक साम्प्रदायिक त्रिकोणका निर्माण किया जिसका कि वह स्वयं आधार बने।"

अंग्रेज़ी हकूमतके एक बार समस्त देशको एक केन्द्रीय शासनके नीचे ले आनेसे यह सम्भावना की जा सकती थी कि इस विदेशी और अनुत्तरदायी सरकारके विरुद्ध एक सामान्य चेतना विकसित होती। यह सम्भावना बेबुनियाद न थी। १८५७ के विद्रोहने इसे सत्य कर दिखाया था। इस विद्रोहसे पहले भारतीय सेनाका रूप असाम्प्रदायिक था। वहाँ वर्ग और कबीलेका भेद न था। इसमें मुसलमान, सिक्ख, पुरबिए सभी मिले हुए थे और इस प्रकार प्रत्येक ही एक-दूसरेके प्रति अपनी जातीय दुर्भावना को खो बैठता और एक समान भावनासे प्रेरित होता था। यह वर्धमान एकता खतरनाक थी। सर जान लारेन्स, जिसने बादमें विद्रोहको दबानेमें महत्वपूर्ण पार्ट अदा किया, इस बारेमें स्पष्ट था। उसके ही शब्दोंमें "विद्रोहसे पहलेकी सेनामें सबसे भयंकर दोष बंगाल सेनामें विद्यमान मातृत्व और एकता थी और इसका एक ही उपाय है—भेदनीति पहले तो योरोपीयनों द्वारा और फिर देशीय जातियों द्वारा।" इस प्रकार सेनामें एकता और राष्ट्रीयताकी भावनाको नष्ट करना ब्रिटिश सरकारका मुख्य उद्देश्य बन गया। सेनाके पुन:संगठनकी योजनामें सैनिक टुकड़ियां कबीले, सम्प्रदाय और जातिगत आधार पर बनाई गई। यह समूह इस प्रकार बनाये गये ताकि यह अपनी कबायली और साम्प्रदायिक निष्ठाको और एक दूसरेके प्रति भेदनीतिको कायम रख सकें।

भेदनीतिकी नीतिके महत्वपूर्ण परिणाम हुए और दोनों सम्प्रदायोंके बीच की खाई निरन्तर गहरी होती गई।

अंग्रेज़ोंके आनेसे पहले सैनिक सेवा ही मुसलमानोंका मुख्य पेशा था। नये शासन ने उन्हें उससे पृथक कर दिया। १८७१ में सर विलियम हंटरने लिखा, "सेनाके द्वार अब उनके लिए बन्द हैं। कोई खानदानी मुसलमान अब सेनामें प्रविष्ट नहीं हो सकेगा।"

परम्परागत सैनिक पेशा छूट जानेपर अपने को दीवानी बाबूगिरीमें रूपान्तरित करना बहुत कठिन था। हिन्दुओंने मुसलमानोंसे कहीं पहले अपनेको अंग्रेज़ी शासनके

अनुरूप ढाल लिया था। यह एक दृष्टव्य तथ्य है कि मुसलमान शासकोंके नीचे भी हिन्दू कर्मचारी ही राज्यके मालगुजारी विभागको चलाते थे। अंग्रेज़ी शासनके प्रारम्भ में यह ही मुख्य दीवानी विभाग था।

हिन्दू अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण करनेमें अग्रणी रहे। पर अंग्रेज़ी शिक्षाके साथ-साथ उसके माध्यम द्वारा उन्होंने अनेक महान व्यक्तियोंके नेतृत्वमें स्वाधीनता और लोकतंत्र के विचारोंको भी ग्रहण किया। हिन्दुओंमें शीघ्र ही राष्ट्रीय चेतनाका उदय हुआ और वे ब्रिटिश सरकारके लिए एक चिन्ताका विषय बन गए। इस चिन्ताजनक स्थितिका सामना करनेके लिये सरकारने मुसलमानोंको अपनी ओर खींचना आवश्यक समझा। यहाँ पुन: भेदनीतिकी आवश्यकता थी। इस महत्वपूर्ण कार्यको नवसंस्थापित केन्द्रीय मुस्लिम संस्था अलीगढ़ कालेजके प्रिंसिपल बेकने सम्पन्न किया।

मि० बेकने जो पहला काम किया वह इंस्टीट्यूट गज़टको, जिसका कि सम्पादन पिछले पाँच सालसे सर सय्यद अहमदखाँ कर रहे थे, अपने हाथमें लेना था। उन्होंने इस बातके लिए अथक प्रयत्न किया कि वह सर सय्यदको राष्ट्रवाद, हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द की नीति और उनकी उदारवादी विचारधारासे अलग करें और वे इसमें सफल हुए। १८८७ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके विरुद्ध, जिसको कि स्थापित हुए अभी तीन साल हुए थे, सर सय्यदने उसके विरुद्ध अपना प्रथम महत्वपूर्ण भाषण दिया। लेकिन अभी भी उलेमाओं और मुस्लिम व्यापारियोंका एक बड़ा वर्ग कांग्रेसका समर्थन करता रहा।

धीरे-धीरे सरकारने मुसलमानोंके प्रति, जो अभी तक सर्वथा उपेक्षित थे, अधिकाधिक अनुराग प्रदर्शित करना शुरू किया। १९०६ में अलीगढ़के तत्कालीन प्रिंसिपल आर्कबाल्डकी प्रेरणासे मुसलमानोंका एक प्रतिनिधि मण्डल आगा खाँकी अध्यक्षतामें वाइसराय लार्ड मिन्टोसे मिला। १९०९ में उन्हें पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। इससे पहले ही १९०५में बंगालके विभाजनके रूपमें सरकार हिन्दू-मुसलमानोंके बीच भेद करने का प्रयत्न कर चुकी थी। बंगभंगका स्पष्ट उद्देश्य बंगालियोंकी एकताको तथा राष्ट्रीय भावनाकी राजनीतिक प्रवृत्तियोंको नष्ट करना था।

बंग-भंग मुसलमानोंको साम्राज्यवादी उद्देश्योंके साधन बनानेका चतुर प्रयत्न था। स्वयं स्टेट्समैन जैसे अखबारने लिखा कि इसका लक्ष्य पूर्वी बंगालमें मुस्लिम शक्तिकी भावनाको पोषित करना है, जिससे कि हिन्दू समुदाय भी निरन्तर बढ़ती शक्तिके रोकने की आशा की जाती है।

१९०७ में भारत सरकारके सर होल्ड स्टुअर्टने सुधारकी योजना प्रस्तुत की, भारतीय के विरुद्ध भारतीयका संतुलन जिसका मुख्य आधार था। फिर पृथक् निर्वाचन आया। रैमज़े मैक्डोनल्डने स्पष्ट ही लिखा कि सरकारी अधिकारी ही पृथक निर्वाचनकी माँग और उसके कार्यान्वित करनेके लिए उत्तरदायी थे। यही नहीं, सरकारने मुसलमानों को ही हिन्दुओंसे अलग करनेके प्रयत्न नहीं किए, बल्कि हिन्दुओंको भी आपसमें अलग अलग करनेमें कोई कसर नहीं उठा रखी। खीदक्षिणके अब्राह्मण आंदोलनके पीछे सरकारी प्रेरणा थी। १९१९ में सरकारी सेवाओंमें भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रस्थापित किया गया।

१९३५के एक्टने मताधिकारको पर्याप्त विस्तृत कर दिया। ब्रिटिश भारतमें २७.४३ प्रतिशत वयस्कोंको मताधिकार प्राप्त हो गया, किन्तु १९१९ में जो मतदाता १० भागोंमें विभाजित थे, अब वे १७ टुकड़ोंमें बँट गये। राजाओंको संघमें सम्मिलित होनेके लिए प्रेरित किया गया और रियासतोंकी २३ प्रतिशत जनसंख्याके लिए उनके राजाओंको निम्न सदनमें ३३ प्रतिशत और उच्च सदनमें ४० प्रतिशत मत शक्ति प्रदान की गई।

यह सब घटनाएँ उस महत्वपूर्ण सिद्धान्तके अनुरूप थीं, जिसे कि लार्ड मिन्टोने सम्मुख रखा था, "किसी समुदायकी स्थिति उसकी संख्या द्वारा नहीं बल्कि उसने साम्राज्य की कितनी सेवा की है, उस आधारपर आँकनी चाहिए।" दूसरे शब्दोंमें किसी भी समुदायका महत्व अंग्रेज़ी सरकारके लिये राष्ट्रवाद के प्रति उसके विरोध और शासकों के लिए उसके राजनीतिक महत्वपर निर्भर था। इसके लिए सब प्रकारकी विरोधी युक्तियोंका सहारा लिया जा सकता था। उदाहरणार्थ १९१९ में पृथक निर्वाचन इसलिए स्वीकार किया गया कि हिन्दू और मुसलमान उससे सहमत थे, १९३५ में इसलिए कि वह उसपर एक मत न हो सके।

उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी सरकारका सदा यह उद्देश्य रहा कि वह राष्ट्रवादका विरोध करे और जनताकी एकताको भंग करे। अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धनने ठीक ही लिखा था कि तथाकथित हिन्दू मुस्लिम समस्या एक त्रिकोण है। इसमें एक अदृश्य हाथने उनके बीचके संदेह और शत्रुताको बढ़नेमें महत्वपूर्ण भाग लिया है। इस सम्बन्धमें ब्रिटिश सरकारके भागकी उपेक्षा कर हम उस आधारको ही नहीं जान सकते, जिसने कि हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धोंको यह दुखद दिशा प्रदान की।

बावजूद इसके यदि हम केवल ब्रिटिश सरकारकी फूट डालो नीतिसे साम्प्रदायिक समस्याको समझना चाहें, तो यह ठीक न होगा। ब्रिटिश सरकारको जो इतनी असाधारण सफ़लता मिली है, इसका यही कारण था कि उसे अनुकूल ज़मीन मिली। हमारे सामाजिक जीवनमें पहलेसे वह दरारें मौजूद थीं, जिनका कि वह फ़ायदा उठा सकी। उन सामाजिक शक्तियोंपर भी संक्षेपमें विचार कर लेना ज़रूरी है।

साम्प्रदायिक समस्या का समाज-शास्त्रीय आधार

सर जान सीलेने स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया कि १८५७ के ग़दरको बहुत हद तक एक भारतीय समुदायको दूसरे समुदायसे लड़ाकर ख़त्म किया गया और जब तक हम ऐसा करनेमें सफल हैं, हमारे साम्राज्यको कोई ख़तरा नहीं और ज्यों ही यहाँकी जनताने एक राष्ट्रका रूप धारण किया हमें अपने साम्राज्यकी आशा छोड़ देनी चाहिये। जिस समय यहाँपर अंग्रेज़ आये, उस समय सत्ता मुसलमान शासकोंके हाथमें थी और इसी सत्ता को अंग्रेज़ोंको समाप्त करना था। हिन्दुओंकी सहायतासे अंग्रेज़ इस सत्ताको तोड़नेमें सफल हुए। मि० एस० पी० हिलने अपनी बंगालमें १७५६–५७ पुस्तककी भूमिका में उल्लेख किया है कि ब्रिटिश शासनके सबसे बड़े समर्थक हिन्दू और उनके आश्रित थे। कारण था कि प्रायः समस्त व्यापार इन्हींके हाथोंमें था और इन्हींका अंग्रेज़ व्यापारियों के सम्पर्कमें आना अधिक स्वाभाविक था। इस प्रकार इनके तथा अंग्रेज़ व्यापारियोंके बीच आर्थिक स्वार्थोंपर मैत्री कायम हुई।

बंगालके मुसलमान जो कि सबसे पहले अंग्रेज़ी हकूमतके नीचे आये, स्वाभिमानी और सैनिक लोग थे। नई सरकारने इस्तमरारी बन्दोबस्त (१७९२) द्वारा उनपर ज़बर्दस्त चोट की। लगान वसूल करने वाले हिन्दू कारिन्दे रातों रात खड़े-खड़े ज़मीदार बन गए और उन्हें सम्पत्ति संग्रहकी सुविधा प्राप्त हुई, जो कि मुस्लिम शासनमें मुसलमानों को प्राप्त होती। साथ ही साथ सेनाके द्वार मुसलमानोंके लिए बन्द कर दिये गये। सैनिक सेवा मुसलमानोंको सर्वप्रिय थी। इसका इतना विनाशात्मक परिणाम हुआ कि १८७० में बंगालके मुसलमानोंके बड़े-बड़े खानदान तबाह हो गए। विलियम हंटर ने अपनी १८७१में प्रकाशित पुस्तक "भारतीय मुसलमान" में इसका प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। सरकारी सेवाओं, विशेषकर उच्च पदों पर, मुसलमानोंकी नियुक्ति असम्भव थी।

१८७१ में जो स्थिति थी उसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है, जहाँ कि बंगाल में ११३ हिन्दू डिप्टी कलक्टर थे वहाँ मुसलमानोंकी संख्या ३० थी। इसी प्रकार इनकम टैक्स, असेसर विभागमें हिन्दुओं और मुसलमानोंकी संख्या क्रमशः ४३ और ६; रजिस्ट्रेशन विभागमें क्रमशः २५ और २; सबौरडिनेट जजी में २५ और ८; मुंसिफपद पर क्रमशः १७८ और ३७ पुलिस विभागमें ३३ और ० थी, चिकित्सा विभाग में ६५ और ४; शिक्षा विभागमें १४ और १; जन निर्माण इंजीनियरिंग विभागमें १९ और ०; जन निर्माण अकाउन्ट विभाग में ५४ और ० थी। हिन्दुओंकी तुलनामें मुसलमानों का अनुपात सातवाँ भाग है। डा० हंटरके शब्दोंमें कलकत्तामें शायद ही कोई ऐसा सरकारी दफ्तर हो, जिसमें कि एक मुसलमानको एक मज़दूर, हरकारे, दवातोंमें स्याही भरनेवाले या होल्डर साफ़ करनेवालेसे ऊँचा काम मिल सके। सम्मानित खुले पेशोंकी भी यही दशा थी। १८५१ तक क़ानूनके क्षेत्रपर मुसलमानोंका एकाधिकार था। किन्तु नये शासनने पुरानी क़ानूनी शिक्षाको रद्द कर दिया। १८५२ और १८६८ के बीच २४० भारतीयोंको हाईकोर्टमें वकालत करनेकी इज़ाज़त दी गई। इनमें से केवल एक व्यक्ति मुसलमान था। उस समय मुसलमानोंको जान-बूझकर सरकारी नौकरीसे अलग रखा जाता था और हिन्दुओंको तरजीह दी जाती थी।

मुसलमानोंको आर्थिक दृष्टिसे ही नहीं कुचला गया, प्रत्युत शिक्षा और सामाजिक दृष्टिसे भी उन्हें जानबूझकर पीछे फेंका गया। सरकारी दफ्तरोंमें मुस्लिम त्योहारोंके लिए कोई छुट्टी न थी। शिक्षाके क्षेत्रमें अरबी और फारसीका अध्ययन बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। जब बंगालमें अंग्रेज़ोंने पदार्पण किया था उस समय सारे प्रान्तकी लगभग चौथाई ज़मीन मन्दिरों-मस्जिदों या शिक्षा कार्यके लिए करमुक्त ज़मीनके रूपमें प्राप्त थी, किन्तु १८२८ तक उस ज़मीनको पुनः सरकारने हथिया लिया। ऐसी स्थिति में क्या आश्चर्य था, कि एक सदीके निरन्तर उत्पीड़नके बाद मुसलमानोंकी हिम्मत न टूटती और वह अपनेको भूखसे पीड़ित और अपमानित न समझते? डा० हन्टरके शब्दोंमें उस समय वह ब्रिटिश शासनके अन्तर्गत एक रौंदी हुई जाति थी।

१८८५ तक मुसलमानोंका यह उत्पीड़न चलता रहा। इसने स्वभावतः भारतके दोनों समुदायोंके बीच पर्याप्त असमानता उत्पन्न कर दी। जो मुसलमानने खोया, वह हिन्दुओंने पाया। जब कि एक सदीके दमनचक्रने मुसलमान सम्प्रदायकी कमर

तोड़ दी, वहाँ एक सदीके राजाश्रयने हिन्दुओंमें सामूहिक चेतनाके उद्भवका बीजारोपण किया। राजा राममोहन राय, रामकृष्ण, दयानन्द, सरस्वती और रानाडे जैसे लोगों ने इस उदीयमान चेतनाको एक राष्ट्रीयताकी दिशा और रूप प्रदान किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस यद्यपि १८८५ में सरकारके तत्वावधानमें स्थापित हुई, किन्तु वह शीघ्र ही उसके लिए ख़तरा बन गई। सरकारने इस प्रवृत्तिको रोकनेके लिए अपनी कृपाको मुसलमानोंपर स्थानान्तरित करना आवश्यक समझा।

इस पक्षपातने मुसलमानोंको अंग्रेज़ोंकी ओर खींचा और हिन्दुओंको उनसे अलग किया। इस प्रकार अंग्रेजी राज्यके प्रति विरोध दो रूपोंमें व्यक्त हुआ। उसका एक रूप साम्राज्य विरोधी था, दूसरा अंतर्साम्प्रदायिक।

साम्प्रदायिक समस्याका अबौद्धिक और भावात्मक पक्ष

पिछले पचास सालकी मुस्लिम राजनीतिका अध्ययन इस बातकी पुष्टि करता है कि मुस्लिम राजनीतिमें भावनाओंने बड़ा भाग लिया है। भावना वह विश्वास है जो कि युक्ति और तथ्य पर आधारित नहीं होता। वह एक प्रकारका संवेदन और इच्छा है। मुस्लिम नेताओंने मुसलमानोंकी अल्पसंख्याको लेकर उनमें इस बातका पुरज़ोर प्रचार किया कि कोई भी लोकतन्त्रीय व्यवस्था उनके लिए ख़तरेसे खाली नहीं, वह केवल हिन्दुओंका राज्य होगी। संरक्षणके विकासमें भी हम इस भावनाको देख सकते हैं। विशिष्ट संरक्षणोंने मुसलमानोंको हिन्दुओंसे अलग कर दिया। पृथक्करण ने उनकी असुरक्षाकी भावनाको और भी प्रबल किया। प्रभावशाली मुस्लिम नेताओं ने इस असुरक्षाकी भावनाको भड़कानेमें कोई कसर नहीं उठा रखी। कुछ लोगोंका ख्याल था कि आर्थिक दृष्टिको अपनाकर इस समस्याका समाधान किया जा सकता था। पर उन्हें निराश होना पड़ा। साम्प्रदायिकताके इस वातावरणमें जनताके लिए अपने आर्थिक स्वार्थोंको समझना भी मुश्किल हो गया। साम्प्रदारिक भावना आर्थिक स्वार्थोंसे अधिक मज़बूत सिद्ध हुई।

१९३६–३७ में कांग्रेसने आर्थिक दृष्टिकोणको कार्यान्वित करनेकी चेष्टा की पर मुसलमानोंके ऊपर कांग्रेसी हिन्दू-राजके जुलुमके प्रचारके सामने सफ़लता न मिली। किसी भी समान वस्तुके प्रति घृणा किसी भी समुदायको एक करनेका अच्छा साधन है। अपनी सफ़लताके लिए सदा दूसरोंपर दोष डालकर, और भेदनीति पैदाकर किसी भी समुदायको गुमराह किया जा सकता है और फिर ऐसे प्रचारके लिए एक योग्य दैवी गुण सम्पन्न नेता मिल जाय, तो उसकी सफ़लता भी सुलभ है। हिटलरने इस विधिको सफ़लतापूर्वक किया था। मि० जिन्नाके रूपमें मुस्लिम लीगको एक ऐसा नेता भी मिला। उसने जब पाकिस्तान का नारा मुसलमानोंके सामने रखा, तो मुस्मि अल्प संख्यक प्रान्तोंके मुसलमानोंने भी बिना यह जाने कि उनके लिए उसका क्या परिणाम होगा, उसका हार्दिक समर्थन किया।

दो राष्ट्रबाद

भारतमें हम दो प्रकारके राष्ट्रवादका उल्लेख कर चुके हैं। एक असाम्प्रदायिक, धर्म-निरपेक्ष और साम्राज्य विरोधी था, दूसरा साम्प्रदायिक। यह सत्य है कि १९३७. और १९४७के बीच अधिकांश मुसलमान साम्प्रदायिक राष्ट्रवादकी ओर आकर्षित हुए,

पर हिन्दू भी इससे अछूते नहीं रहे। मुस्लिम लीग, और हिन्दू महासभानें, यह एक रोचक तथ्य है कि एक ही प्रकारकी नीति, मनोवृत्ति और नैतिकताका परिचय दिया। १९३७ में श्री सावरकरने घोषणा की कि भारतमें हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं। १९३८ में मुस्लिम लीग भी इसी सिद्धांतको सामने लाई। उसी साल लीगने पूर्णतया राष्ट्रीय और प्रगतिशील होने और मुसलमानोंकी एकमात्र प्रतिनिधि संस्था होनेका दावा किया। हिन्दूमहासभाने भी उसी साल घोषणाकी कि वही एकमात्र राष्ट्रीय संस्था है।

अपने उग्र रूपमें धार्मिक या साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद केवल दूसरे समुदायकी पृथक चेतना को ही नष्ट नहीं करना चाहता, प्रत्युत वह उस समुदायको ही नष्ट करना चाहता है। फज़लुल हक़ने कहा, "जब एक आठ सालका लड़का मुहम्मद बिन कासिम १८ सैनिकोंकी मददसे सिन्धको जीत सकता था, तो क्या नौ करोड़ मुसलमान सारे हिन्दुस्तान को नहीं जीत सकते।" लाला हरदयाल एक हाथ आगे बढ़े और उन्होंने सलाह दी, "यदि हिन्दुओंको अपनी रक्षा करनी है, तो उन्हें अफ़गानिस्तान सीमांतके कबीलोंको जीतना और उनको हिन्दू धर्ममें दीक्षित करना चाहिए !'

हर दिशामें लीग और महासभाके परस्पर विनाशात्मक विचार थे। जबकि लीग ने भारतके राष्ट्रभाषा पदके लिए उर्दूका प्रस्ताव रखा, महासभाने संस्कृतनिष्ठ हिन्दीकी माँग रखी। १९३८ में सिन्ध मुस्लिम लीगने मुसलमानोंको मुसलमानोंसे काम कराने और सामान खरीदनेका आदेश दिया। महासभाने हिन्दुओंके लिए वैसी ही बात कही। लीगने मुस्लिम मन्त्रि मण्डलोंके विरुद्ध "जुलुम आन्दोलन" चलाया। महासभाने भी पंजाब और बंगालमें हिन्दुओंपर अत्याचार का नारा लगाया। दोनों ही संस्थाओंने बंदी सिद्धांत पर बल दिया। हिन्दू सभाने कहा जब कि हम मुसलमानोंसे बदला लेनेकी स्थितिमें होंगे, मुसलमानोंको एक दिनमें अक्ल आजायेगी। लीगने भी उसी टोनमें बात की। इस प्रकार हम दोनों साम्प्रदायिक दृष्टिकोणोंमें विरोधी समानताएँ देख सकते हैं।

इसका अन्य अच्छा उदाहरण भारतीय रियासतोंके बारेमें दोनों दलोंकी नीति थी। मुस्लिम लीग उन रियासतोंमें जहाँ मुस्लिम शासक थे जन आन्दोलनोंका विरोध करती थी, किन्तु उन रियासतोंमें जहाँ हिन्दू शासक थे, इनका स्वागत करती थी। महासभा की नीति इससे उल्टी थी। उनके लिए जनताके लोकतन्त्रीय अधिकारोंका सवाल नहीं था। इसी प्रकार दोनोंही संस्थाओंका हिंसाकी ओर खास झुकाव था। संक्षेप में, उनकी राजनीति मानव-कल्याण-अभिमुखी न हो शक्ति-अभिमुखी थी।

हिन्दू साम्प्रदायिकता

भारतीय साम्प्रदायिकताके विकासमें हिन्दुओंने कुछ कम महत्वपूर्ण पार्ट अदा नहीं किया है। हिन्दू सम्प्रदायवाद जहाँ एक ओर मुस्लिम सम्प्रदायवादकी प्रतिक्रिया है, वहाँ दूसरी ओर वह उसका बड़ा उत्तेजक है। प्रत्येकने इसमेंसे एक दूसरेको उद्दीप्त किया है और पारस्परिक भोजन जुटाया है।

यह कहना ग़लत न होगा कि हिन्दू-मुसलमानोंको अलग करनेमें जाति प्रथाका बड़ा हाथ है। भारतीयोंका जब इस्लामसे सम्पर्क हुआ तब तक यह व्यवस्था बड़ी ही कठोर बन चुकी थी। हिन्दू-समाज मुसलमानोंको अपनी जाति व्यवस्थामें सम्भावित स्थान देनेके लिए तैयार न था। उसने उन्हें अपने दायरेसे बाहर कर उनके साथ अछूतोंके

समान व्यवहार किया। किन्तु जब तक मुसलमान शासक वर्गसे अपनेको सम्बन्धित मानते रहे, उन्होंने इसे अधिक महसूस नहीं किया। किन्तु राजनीतिक शक्तिके छिन जाने पर, यह उन्हें बहुत खला। फिर हिन्दुओं और मुसलमानोंमें १९ वीं शतीके अंतसे प्रारम्भ हुए पुनरुद्धार आन्दोलनने इस प्रवृत्तिको दृढ़ किया। एक अहरार नेता ने इस पक्षको अपनी पुस्तकमें विस्तारसे हमारे सम्मुख रखा। आर्य नसलके मुसलमान सूफी सम्प्रदायके मुसलमान, ऊँचे खानदानोंके मुसलमान, उच्च शिक्षित मुसलमान सभी के साथ हिन्दू समाजका व्यवहार अछूतोंका सा था। आप पक्के राष्ट्रवादी और सोलह आने गांधीवादी हो सकते हैं, लेकिन जैसे ही हिन्दूको यह पता चलेगा कि आप मुसलमान हैं, वह आपसे अछूतका-सा व्यवहार करेगा। हिन्दू इसकी चाहे कितनी ही कैफियत दें, चाहे वह इसके लिए अपने को कितना ही निरपराध ठहराएँ अगर मुसलमान उनके प्रति दुर्भावनाएँ रखें, तो वह उसकी शिकायत नहीं कर सकते।

उक्त उद्धरणमें अतिशयोक्ति है, पर सत्यका अंश भी है। हिन्दू यह नहीं समझते कि इस सामाजिक पार्थक्यसे वह अपना कितना नुकसान करते हैं। यह दुर्भाग्यका विषय है कि मुसलमानोंपर इस पार्थक्यकी प्रतिक्रिया उनकी ओरसे पार्थक्यमें व्यक्त होती है।

पुनरुद्धारवाद

पीछे हम भारतमें दो प्रकारके राष्ट्रवादोंका उल्लेख कर चुके हैं। डा० वेणीप्रसाद ने इन दो प्रवृत्तियोंको आधुनिकवाद और और पुनरुद्धारवाद कह कर सम्वोधित किया था। उनकी अन्तःक्रिया और सहअवस्थित राजनीतिक प्रतिक्रियासे वर्तमान हिन्दू-मुस्लिम समस्याका जन्म हुआ! एक अन्य लेखकने इसी प्रकारका निष्कर्ष निकालते हुए लिखा, "इस स्कूल (पुनरुद्धारवादी) के लिए अपनी राजनीतिक विचारधाराको धार्मिक और साम्प्रदायिक शब्दोंमें व्यक्त करना स्वाभाविक था। राष्ट्रवादको आर्यसमाज और आश्रमसे संयुक्त होना था....स्पष्ट ही इसमें भारतीय मुसलमानके लिए कोई जगह न थी वह 'वेदोंकी ओर लौटो' चिल्लाकर गौरव बोध नहीं अनुभव कर सकता था..उसे एक ऐसे मानसिक यंत्रकी ज़रूरत थी, जिससे वह अपनी गुलामीपर पर्दा डाल सके। और अपने स्वाभिमानकी रक्षा कर सके। अतः उसने इस्लामके कृत्योंका गुणगान प्रारम्भ किया। उसने बग़दाद और ग्रन्दाकके गीत गाने शुरू किए। और उस दिनके जब मुसलमान दुनियापर हकूमत करते थे। हरएक अरब और तुर्ककी विजय उसकी थी। रज़ा और कमालकी विजयपर उसका हृदय उछलता था। उसका विश्वास था कि गुलामी एक अस्थायी अवस्था है और युद्धोंका परिणाम है। एक युद्धमें वह हार गया। उसे अगले दिनकी इन्तज़ार करनी चाहिए। वह गुलाम नहीं, यह हिन्दू गुलाम हैं, क्या तुर्की और ईरान उसके वतन नहीं हैं? और बादमें उसका भी कारवाँ चला जोकि अभी भी चल रहा है। आप देखेंगे सम्प्रदायवाद तैयार हो रहा है।"

इस प्रकार दोनों समुदायोंने समानान्तर दिशाएँ अपनाई। इस प्रकार आप देखेंगे कि सम्प्रदायवादभी राष्ट्रवादकी एक अवस्था है।

मुसलमानोंकी तुलनामें हिन्दुओंमें यह पुनरुद्धारवाद ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय-कारणोंसे कहीं आगे बढ़ गया। हिन्दुओंके लिए अपने सम्प्रदायवादको राष्ट्रवादसे मिला

देना आसान था। किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, कि इस पुनरुद्धारवादने हिन्दू-मुस्लिम समस्याको पर्याप्त जटिल बना दिया। इस जटिलताको हम केवल इसी बातपर ज़ोर देकर सुलझा सकते हैं कि धर्म और संस्कृति दो भिन्न वस्तुएँ हैं और भिन्न धर्मोंके माननेवालोंके लिए भी एक समान सांस्कृतिक दायपर गर्व करना सम्भव है। उदाहरणके लिए ग्रीक ईसाई नहीं थे, किन्तु किसी भी योरोपीयनको उनके सांस्कृतिक ऋणपर गर्व है। बिना एक-दूसरेके धर्ममें हस्तक्षेप कर हिन्दू और मुसलमानोंने इस सामान्य सांस्कृतिक दायका पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किया।

पाकिस्तान की प्रतिक्रिया

१९३७ से १९४७ का समय भारतीय सम्प्रदायवादके विकासमें विशेष महत्वपूर्ण है। जहाँ एक ओर धर्म-निरपेक्ष सच्चे राष्ट्रवादकी शक्ति बढ़ी, वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिक राष्ट्रवादकी असाधारण प्रगति हुई। पाकिस्तानके नारेने भोले मुसलमानों पर जादूका का काम किया। साम्प्रदायिक हिन्दुओंने उसका जितना ही विरोध किया, उससे उतना ही उसमें उनका आकर्षण बढ़ा। ऐसे अविश्वास और अबौद्धिकताके वातावरणमें ठंडे दिलसे पाकिस्तानके हानि-लाभपर विचार करना सम्भव नहीं था। उधर भारतकी स्वाधीनता प्राप्त होती दीखने लगी। विभाजनकी माँग स्वीकार कर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। देशके सामने एक ही विकल्प था—पराधीन अविभक्त भारत और साम्प्रदायिक रक्तपात, अथवा स्वाधीन विभक्त भारत। हमारी रायमें कांग्रेसने उस समय विभाजनकी माँगको मानकर एक समझदारीका काम किया। पाकिस्तानका विरोधकर पाकिस्तानके बुखारको नहीं उतारा जा सकता था। कुछ लोगों का कहना है कि यह पाकिस्तानका ही परिणाम है कि जो इतनी भीषण मारकाट हुई। लेकिन कौन कह सकता है कि पाकिस्तान न बननेपर इससे कहीं अधिक भीषण मारकाट न होती?

पाकिस्तान बननेसे कमसे कम भारतवासी मुसलमानोंको तो यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि इससे उन्हें कुछ लाभ नहीं हुआ। स्वयं पाकिस्तानवासी मुसलमान भी अब यह समझने लगे हैं कि उनके शत्रु हिन्दू नहीं, जोकि अब वहाँ सर्वथा दुर्बल हैं, बल्कि स्वयं उनके अपने धर्मावलम्बी हैं। इस प्रकार पाकिस्तानकी हम चाहे कितनी ही हानियाँ क्यों न दिखायें, उसने कमसे कम पहली बार गुमराह मुसलमानोंको साम्प्रदायिकता के परिणाम देखनेपर मजबूर किया। वास्तविकता और नारेमें क्या अन्तर है, यह उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया। इसी प्रकार जो साम्प्रदायिक हिन्दू हर समय मुसलमानों की शक्तिका हव्वा बनाकर हिन्दुओंको डराते और उनके विरुद्ध भड़काते रहते थे, अब अपनेको निकम्मा पा रहे हैं। हिन्दू यह जानता है कि मुसलमान भारतमें निर्बल है और उसकी कृपाका पात्र है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पिछले दस वर्षोंमें अन्तः साम्प्रदायिक संघर्षमें पर्याप्त कमी हुई है। फिर भी जहाँ साम्प्रदायिक संघर्षकी उग्रता शांत हो गई है, वहाँ अभी भी दोनों सम्प्रदायोंमें पृथकताकी भावना विद्यमान है, जोकि अभी भी कभी-कभी अपने भोंडे रूपमें व्यक्त होती है। १९५६ में हुए कुत्ते और किताबके आन्दोलन इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

आखिर हिन्दू-मुस्लिम भावना और वैमनस्यके वह कौनसे स्थायी आधार हैं, जिनका उपकार साम्प्रदायिक सौहार्दके लिए आवश्यक है ?

वर्तमान स्थिति और भविष्य

इस सम्बन्धमें हाल ही में एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय गवेषणा प्रकाशित हुई है जिसमें कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्यके वैज्ञानिक अध्ययनका प्रयास किया गया है। उससे वर्तमान साम्प्रदायिक वैमनस्यको बहुत हद तक समझा जा सकता है।

भारतकी स्वाधीनता और मताधिकार ने देशकी जनसंख्याके समस्त भागोंमें नई चेतना उत्पन्न की है। इस चेतनाने नई इच्छाओं और आकांक्षाओंको जन्म दिया है। उदाहरणके लिए, हरिजन गाँवमें मरे जानवरोंको उठानेसे इन्कार करते हैं और एक काश्तकारकी हैसियतसे बसना चाहते हैं। हर कोई सरकारमें अपनी सुनवाई चाहता है। एक वर्गकी अल्पसंख्यक समूहके प्रति आक्रमणात्मक बननेकी प्रवृत्ति है। दूसरे वर्गमें राजनीतिक ताकत हथियाने की हविस है।

चूंकि परिस्थितियाँ बहुतसे वर्गोंको अपनी इच्छाओंको संतुष्ट करनेके अल्प अवसर प्रदान करती हैं, उनकी मानसिक शक्ति प्रतिगामी प्रवृत्ति धारण करती है। समस्याओं को अतिसरल रूप दिया जाता है। ऐसी स्थितिमें विभिन्न वादोंकी पूजा और काल्पनिक उद्देश्योंकी ओर झुकाव होता है और बहुतसे वर्ग, विशेषकर अल्पसंख्यक वर्ग, बिलकुल साहस छोड़ बैठते हैं। प्रायः समस्त जनसंख्या अपने वातावरणको अपने अनुकूल ढालने में असहाय अनुभव करती है। जाति, सम्प्रदाय और पुनरुद्धारवादी समूहोंकी कड़ियाँ मज़बूत हो ख़तरेकी सृष्टि करती हैं।

इस प्रतिगमनका सम्बन्ध पर-समूहोंसे होता है। मुसलमानोंको हिन्दू आक्रामक लगते हैं। इसी प्रकार हिन्दू यह महसूस करते हैं कि सरकार उनके ख़िलाफ़ है और विभिन्न राजनीतिक दलोंमें विभिन्न गुट एक दूसरेके विरुद्ध विषवमन करते हैं।

यह प्रतिगमन सामाजिक और भौतिक क्षमता विकसित करनेके स्थान पर निरन्तर राजनीतिक साधनोंमें जादुई और सर्वशक्तिमत्ताके विश्वासको दृढ़ करता है। उदाहरण के लिए, हर शहरमें सैंकड़ों किशोर अपने अवकाशको लाठी चलानेकी योग्यता प्राप्त करनेमें व्यय करते नज़र आते हैं। वे वहाँ पुराने तरीकेपर काल्पनिक किलेपर हमला करनेके खेल खेलते हैं। लेकिन उनके पास, लोहा, लकड़ी, कपास, कागज़ द्वारा नये कौशल सीखनेकी सुविधाएँ नहीं हैं। कुछ बड़ा होनेके बाद इनमेंसे कुछको इस बातका पश्चात्ताप होता है कि उनके द्वारा अर्जित कौशलका कोई उपयोग नहीं है। कालिज-स्तर पर होनेवाले अनेक अपराधोंमें किशोरावस्थामें अर्जित कौशल व्यक्त होता है। अनेक साल लाठी-अभ्यासमें गुज़ार देना, एक शत्रुसे घिरे होनेका मान पैदा करता है और एक काल्पनिक शत्रुके विरुद्ध यह कौशल नष्ट होता है। बहुतसे अपर्याप्त रूपसे रोज़गार में लगे हुए लोग, जिनमें नये काम सीखने या पैदा करनेकी क्षमता नहीं है आन्दोलनकर्त्ता बननेको अग्रसर होते हैं।

इस प्रकार वह उस पदको प्राप्त कर लेते हैं, जोकि उपयोगी और रचनात्मक कार्यों में लगे हुए लोगोंके पदसे कहीं अधिक श्रेष्ठ और सम्मानजनक हैं। प्रायः यह प्रचारक

और आन्दोलनकर्त्ता अपनी प्रतिष्ठा और अनुयायियोंकी वृद्धिके लिए विरोधको पैदा करते और बढ़ाते हैं।

भारतमें व्यक्त नयी चेतना जनताकी उस समान इच्छाको व्यक्त करती है, जिसके अन्तर्गत लोग अपने भौतिक और सामाजिक वातावरणपर अपना अधिकार करना चाहते हैं। नैतिक पतन और प्रतिगमन इन उद्देश्योंमें असफल होनेके नैराश्यका परिणाम हैं।

इस नैतिक पतनसे किस प्रकार बाहर निकला जा सकता है? इसका उत्तर परसराम ने इस प्रकार दिया है: लोगोंमें प्राप्त साधनोंकी सहायतासे अपनी तात्कालिक परिस्थिति को सुधारनेके लिए अभिरुचि उत्पन्न करना; उनके जीवनकी भौतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियोंका वैज्ञानिक अध्ययन; उनके साधनोंके सफल उपयोगके लिए उपयुक्त सामाजिक वातावरण उत्पन्न करना।

परसरामके अध्ययनके कुछ निष्कर्ष बहुत ही विचारणीय और महत्वपूर्ण हैं, जैसे कि ५० मेंसे केवल २ हिन्दू सूचनादाताओंने भारतीय मुसलमानोंको अनिवार्यत: पाकिस्तान भेजे जानेकी माँग की। उनमेंसे अन्य ४ संकटकालीन व्यवस्थामें मुसलमानों द्वारा गड़बड़ की सम्भावनाका भय करते हैं, लेकिन यह वह नहीं चाहते कि मुसलमानोंको ज़बर्दस्ती पाकिस्तान धकेला जाये। यह मज़ेकी बात है कि इन दो अति-मुस्लिम विरोधी हिन्दुओं में कोई भी शरणार्थी नहीं है। इन दोनों व्यक्तियोंका व्यक्तित्व ध्यान देने योग्य है। यह दोनों ही जन समूहमें जोशीला भाषण देना चाहते हैं। इन दोनोंकी आर्थिक स्थिति अरक्षित है, और यह जीविकोपार्जनके लिए कुछ करनेमें असमर्थ हैं। इनकी मनोवृत्ति उस प्रकारकी है, "अमुककी मिनिस्टर, जिला बोर्ड या म्युनिसिपैलिटीके अध्यक्षसे अच्छी पटती है, अत: मुझे उसके लिए काम करना चाहिए।" उन्हें अपने काल्पनिक उद्देश्य के लिए कार्य करनेमें एक विशेष प्रकारकी तृप्ति प्राप्त होती है। कुछ प्रकारके विद्यार्थियों में उनके पर्याप्त अनुचर हैं। इससे वह अपनेको शक्तिशाली अनुभव करते हैं। उन्हें यह विश्वास है, कि अगर वे चाहें, तो विद्यार्थियोंकी मददसे पुलिसपर हावी हो सकते हैं। उनके अपने कथनानुसार आर्थिक कठिनाईयोंके कारण उनकी विश्वविद्यालय-शिक्षा छूट गई थी। अन्य ४ व्यक्तियोंमें से ३ शरणार्थी हैं, जोकि मुसलमानोंसे हानिकी आशंका करते हैं। यह अपने पुनर्वासनमें पूर्णत: लिप्त हैं। १२ हिन्दू सभी स्तरपर मुसलमानों का स्वागत करते हैं, किन्तु उनके मनमें भी मुसलमानोंके गन्दे, गौहत्यारे, क्रूर व्यक्ति होने का चित्र है।

भारतीय समाजके विभिन्न स्तरोंपर विरोधके विभिन्न प्रतिमान हैं। गाय-स्तर बिना परिणामकी चिन्ता किए भयंकर विरोधको व्यक्त करता है। भाषाके स्तरपर पर्याप्त बहस-मुबाहिसा है। जो लोग मुसलमानोंसे विचारधारात्मक स्तरपर लड़ते हैं, वह इन सभी प्रतिमानोंसे लाभ उठाते हैं। विरोधके विचारधारात्मक स्तरपर समीकरण और संशोधनके चिन्ह दृष्टव्य हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिन्दूमहासभाने मुसलमानोंके प्रति अपने दृष्टिकोणमें कुछ संशोधन किए हैं। अत: विचारधारात्मक स्तरपर मुसलमानोंके विरोधकी सम्भावना बहुत कम हो गई है।

हिन्दुओंके प्रति मुसलमानोंके विरोधसे सम्बन्धित निम्न निष्कर्ष दृष्टव्य हैं: यद्यपि वास्तविक जीवनमें मुसलमानोंकी कठिनाइयाँ हिन्दुओंसे अधिक नहीं हैं, किन्तु मुसलमान

हिन्दुओंकी तुलनामें कहीं अधिक नैराश्य अनुभव करते हैं। मुसलमानोंकी तुलनामें शायद हिन्दुओंमें अपना अपमान सहनेकी कुछ अधिक क्षमता है। मज़दूर पेशा मुसलमान को अगर रोज़गार मिलता रहे, तो वह संतुष्ट है। वह अधिक आशावादी है और वह अन्य वर्गोंके मुसलमानोंकी भाँति उत्पीड़नकी कल्पनाएँ नहीं करता। मध्यवर्ग और उच्चवर्गके मुसलमानोंको उत्पीड़नका अधिक भय है। परिणामतः उनमें हिन्दुओं और सरकारके प्रति अधिक विरोध है।

हिन्दुओं और मुसलमानोंके बीच एक-दूसरेकी अवस्थासे घनिष्ट परिचय का अत्यन्त अभाव है। बहुत ही थोड़े हिन्दू मुसलमानोंकी कठिनाइयों और बेचैनीको समझते हैं। मुसलमानोंकी तुलनामें हिन्दू विभिन्न प्रकारके समाचार पत्र पढ़ते हैं। मुसलमान अख़बार हिन्दुओं द्वारा उत्पीड़नकी घटनाओंको अनुचित प्रमुखता देते हैं और इन घटनाओंका अंत असहायता व्यक्त करता है, जिसका कि मुस्लिम जनतापर निराशा-जनक प्रभाव पड़ता है।

मुस्लिम विरोधको समझनेके लिए परसरामने कुछ संकेत सुझाये हैं। वे हैं: सार्वजनिक सेवाओंमें विशेष वेटेज तथा विधान सभाओंमें पृथक प्रतिनिधित्व समाप्त हो जानेसे मुसलमानोंके पद को ठेस पहुँची है। विभिन्न धर्मावलम्बी और विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमिमें पले अधिकार-च्युत जमीदारों, राजाओं और उनके सम्बन्धियोंकी प्रतिक्रियाओंकी मुस्लिम मध्यमवर्गसे तुलना कर, मुस्लिम विरोधके इस प्रतिमानको समाप्त किया जा सकता है।

स्वाधीनता प्राप्तिके पहले दस सालोंमें प्रभावशाली मुसलमान नेताओंने आम मुसल-मानोंमें यह चेतना लानेका प्रयत्न किया कि वह अपने को पृथक वर्ग समझें। पाकिस्तान का लाभ उन्हें हुआ तो भारत छोड़कर चले गये, लेकिन जो यहाँ रह गये उनके लिए, यह सफलता दायित्व बन गई। उनके पुराने कृत्य अब निन्दित हो गये। हिन्दुओंसे पार्थक्य, जो कि एक समय उनके विश्वासका अंग बन चुका था, अभी भी विभिन्न मसलोंपर उनके विचारोंको रंग देता है।

लेकिन हमें साम्प्रदायिक समस्याके कुछ गतिशील पहलुओंसे आँख नहीं मूंद लेनी चाहिए। भारतीय मुसलमानोंके एक बड़े वर्गमें पाकिस्तानके प्रति भीषण प्रतिक्रिया हुई है। वह अच्छी तरह अनुभव करते हैं कि उन्हें उनके नेताओंने बेवकूफ़ बनाया। इससे उनको कोई लाभ नहीं हुआ। न पाकिस्तान बनता और न यह मुसीबतें आतीं। पाकिस्तानमें उसके लिए जगह नहीं। धार्मिक जोश ठंडा होनेपर प्रान्तीय भेद उभर आये हैं। बंगाली मुसलमान, बिहारी मुसलमानको फूटी आँख नहीं देखता। पंजाबी मुसलमानको यू० पी० के मुसलमान नहीं सुहाते: पाकिस्तानमें उनके लिए कोई सम्मान नहीं, ऐसी स्थितिमें यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि पाकिस्तानके प्रति उनके मनमें भीषण प्रतिक्रिया हो। वास्तवमें ऐसा हुआ भी है। फिर भी जब बहुतसे समझदार हिन्दू हर मुसलमानपर एक पाकिस्तानी एजेंट होनेका संदेह करें, तो क्यों न उन्हें इसका खेद हो और क्यों न वह अपनेको उत्पीड़ित और पृथक अनुभव करें?

साम्प्रदायिक समस्याके कुछ और गतिशील पहलू भी विचारणीय हैं। आज भारतमें यह स्थिति है कि एक हिन्दू सम्प्रदायवादी की तुलनामें मुसलमान सम्प्रदायवादी

अपनेको अधिक अरक्षित समझता है। उसमें स्पष्ट राजनीतिक कारणोंसे साम्प्रदायिकता फैलानेका साहस नहीं रह गया है। मुस्लिम लीग, हिन्दू-मुस्लिम विरोधको गरम रखना जिसका मुख्य अस्त्र था, अब मर चुकी है। ऐसी स्थितिमें मुसलमानोंमें साम्प्रदायिक प्रचारके साधन, संस्था, नेता क्रमशः समाप्त हो रहे हैं। नयी पीढ़ीको साम्प्रदायिकता की शिक्षा नहीं मिल पा रही है, पुरानी पीढ़ीकी साम्प्रदायिकताको निरन्तर ताज़ा नहीं किया जा रहा है।

यह दुर्भाग्यकी बात है कि मुसलमानोंमें अभी तक प्रभावशाली असाम्प्रदायिक नेतृत्व पैदा नहीं हो सका है। लेकिन परिस्थितिकी यह माँग है कि मुसलमानोंको नये ढाँचेमें अपना स्थान बनानेके लिए उसका विकास करना होगा। इसमें अवश्य कुछ देरी लगेगी। लेकिन यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। मुसलमान नवयुवकोंका एक बड़ा वर्ग, हिन्दुओंकी तुलनामें कहीं अधिक धर्मनिरपेक्ष, यहाँ तक कि धर्म विरोधी और समाजवादी संस्थाओंकी ओर आकर्षित हो रहा है। हम इस तथ्यसे आँख नहीं मूँद सकते। भारतमें ही नहीं, पाकिस्तानमें भी यह प्रतिक्रिया प्रबल और तेज़ीपर है। भावी साम्प्रदायिक सम्बन्धोंकी दृष्टिसे यह एक शुभ चिन्ह है।

पिछले दस सालोंमें मुसलमान बच्चोंकी एक नयी पीढ़ी तैयार हुई है, जो कि स्वाधीनता से पहलेके साम्प्रदायिक ज़हर और घृणाके प्रभावसे बहुत कुछ अछूती है। धर्म-निरपेक्षता, लोकतन्त्र और समाजवादकी नई विचारधाराएँ उनसे टकरा रही हैं। मुल्ला और मस्जिदका दबाव उनसे हट रहा है। यही अवस्था नई हिन्दू पीढ़ीकी है। छूतछात और खानपानके बन्धन टूट रहे हैं। हिन्दुओं और मुसलमानोंके सामाजिक दृष्टिसे मिलने के अवसर बढ़ रहे हैं।

पाकिस्तान बननेके सात-आठ साल तक विशेष रूपसे भारत और पाकिस्तानके संबंध बहुत ही तनातनीके रहे हैं। इस तनातनीने हमारे साम्प्रदायिक संबंधोंपर सीधा प्रभाव डाला है। पाकिस्तानमें साम्प्रदायिकताकी साक्षात प्रतिमूर्त्ति और प्रतिष्ठाता मुस्लिम लीगकी पराजय और धर्मनिरपेक्ष दलोंका जन्म और उदय भावी साम्प्रदायिक संबंधों के लिए बहुत ही उत्साहवर्धक घटनाएँ हैं। इससे स्पष्ट है भारतमें ही नहीं, साम्प्रदायिकताके गढ़ पाकिस्तानमें भी साम्प्रदायिकता—केवल पड़ौसी समुदायसे घृणाकी अपील और उसीके विनाशमें मुक्तिका संदेश ढूँढ़नेकी मनोवृत्ति समाप्त हो रही है।

अंतमें हम इसी बातपर बल देंगे कि धर्म-निरपेक्षता, लोकतन्त्र और समतापरक विचारधाराओंका प्रसार साम्प्रदाकिताके विनाश का प्रमुख साधन है। धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म-विरोध नहीं। धार्मिक होते हुए भी लोकतन्त्र और समानतामें विश्वास साम्प्रदायिक सौहार्दका स्थायी सिद्धांत है। वास्तवमें दूसरे सम्प्रदायके सदस्यके प्रति उस प्रकार न देखनेकी अयोग्यता, जिस प्रकार व्यक्ति अपनी ओर देखता है, विरोधका मूल है। सामुदायिक जीवनके विभिन्न स्तरोंपर लोकतन्त्रीय जीवन रीतिको अपनाना इस विरोधके शमनका सबसे प्रभावयुक्त उपाय है। इसके लिए यह ज़रूरी है कि विभिन्न सम्प्रदायोंके सदस्योंमें घनिष्ट संचार हो। वह एक-दुसरेकी कठिनाइयोंसे पूर्णतः अवगत हों। राष्ट्रके प्रत्येक सदस्यके समान अधिकार और समान कर्त्तव्योंमें उनकी आस्था दृढ़ हो। विभिन्न धर्मोंकी पुस्तकों और पैगम्बरोंका समान आदर हो। बच्चोंमें

साम्प्रदायिक अहंकार न विकसित होने देनेके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें दोनों ही सम्प्रदायोंके राष्ट्र-भक्तों, विद्वानों, कवियों, कलाकारों और संतोंकी जीवनीसे परिचित कराया जाये। हमारी पाठ्य पुस्तकों, विशेषकर हमारी इतिहासकी पुस्तकोंमें तत्काल संशोधन होना आवश्यक है।

साम्प्रदायिक दृष्टिसे इतिहासका विश्लेषण, जनताका उत्कर्ष और अपकर्ष दिखाना, मिथ्या इतिहास ही नहीं पढ़ाता, प्रत्युत सदाके लिए बच्चोंके दिमाग़में साम्प्रदायिकताके बीज बो देता है। इसलिए अपनी पाठ्य पुल्स्तकोंसे यदि हम हिन्दू और मुसलमान जातिका ही बहिष्कार कर सकें, तो साम्प्रदायिक सौहार्दमें बड़ा योगदान कर सकते हैं।

अंततः सच्चा साम्प्रदायिक सौहार्द तभी स्थापित हो सकता है, जब कि हम उन सामाजिक उद्देश्योंकी ओर अग्रसर हों जिनकी प्राप्तिके लिए हम बिना जाति, वर्ण या सम्प्रदायके भेदके समान रूपसे प्रयत्न कर सकें।

श्री हरिदत्त वेदालंकार

अन्तर्जातीय विवाह

भारतमें जाति भेदका विकास होनेके साथ-साथ पहले अपने वर्गमें तथा बादमें अपनी जातिमें विवाहको अच्छा समझा जाने लगा और इसपर बल दिया जाने लगा। यद्यपि आश्वलायन और आपस्तम्ब गृह्यसूत्रोंमें इसका वर्णन नहीं है, किन्तु मानव गृह्यसूत्र (१।७।८) तथा गौतम धर्म-सूत्रमें सहथी भार्या अर्थात् वर्ण और कुलकी दृष्टिसे अपने समान वधूको प्राप्त करनेका आदेश दिया गया है। मनुस्मृति (३।१२) में स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि विवाहकी दृष्टिसे सवर्ण पत्नी श्रेष्ठ होती है—'सवर्णाग्रे हि जातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि' नारदने इसीका अनुमोदन करते हुए कहा है—सजातिः श्रेयसी भार्या।

सवर्ण विवाहका नियम हिन्दू समाजमें कई कारणोंसे प्रचलित हुआ। एक कारण जाति-शुद्धिकी चिन्ता थी। जब कोई जाति अपनेको विशिष्ट समझती है, उस समय वह दूसरी जातियोंसे अपने वैवाहिक संबंध तोड़ लेती है, क्योंकि उनके साथ संबंध रखनेसे उसे अपनी वंशशुद्धिके नष्ट होनेका भय होता है। भारतमें ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा अपनेको ऊँचा समझे जानेसे ऐसी व्यवस्था उत्पन्न हुई। गौतमबुद्ध यद्यपि वर्णभेदका अन्त कर सामाजिक समानताके सिद्धान्तके महान् उपदेष्टा समझे जाते हैं, पर बौद्ध साहित्यके अध्ययनसे प्रतीत होता है कि जब ब्राह्मण और क्षत्रियके बीच जातीय श्रेष्ठताके संबंधमें विवाद होता था, तो वे क्षत्रियोंकी श्रेष्ठताका प्रबल समर्थन करते थे। अम्बठ्ठ सुक्तमें उन्होंने क्षत्रियोंको अनेक युक्तियों और दृष्टांतों द्वारा ब्राह्मणोंसे ऊँचा सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इनमें एक युक्ति यह भी है कि क्षत्रिय ब्राह्मणियोंको नहीं ग्रहण करते, जो क्षत्रिय ऐसा करते हैं, उनके लिये क्षत्रिय जातिमें कोई स्थान नहीं रहता, पर ब्राह्मण ऐसे क्षत्रियोंको अपनी जातिमें ले लेते हैं, अतः वे हीन हैं।

जातीय श्रेष्ठता और अभिमानके विचारसे उत्पन्न सवर्ण विवाहोंको स्मृतिकारोंने कई प्रकारसे प्रोत्साहित किया। सवर्ण स्त्रियोंको असवर्ण स्त्रियोंसे ऊँचा दर्जा दिया गया तथा असवर्ण स्त्रियोंसे उत्पन्न पुत्रोंके दायाधिकार कम कर दिये गये। इनमें जो स्त्री जितने निचले दर्जेकी थी, उसके पुत्रको सम्पत्तिमें उतना ही कम हिस्सा दिया गया। गौतम (२९।३७) ब्राह्मण पुरुषके शूद्रा स्त्रीसे उत्पन्न पुत्रको इकलौता बेटा होनेपर भी वृत्तिमात्र देनेकी व्यवस्था करता है। यदि किसी ब्राह्मण पुरुषके चारों वर्णोंकी पत्नियोंसे उत्पन्न पुत्र हों, तो मनुके कथनानुसार (९।१५०) उसकी सम्पत्ति दस हिस्सों में बाँटी जानी चाहिये, इसमें चार हिस्से ब्राह्मणीके पुत्रको, तीन हिस्से क्षत्रियाके लड़के

को, दो भाग वैश्य जातीय पत्नीके पुत्रको तथा एक भाग शूद्रा पत्नीके पुत्रको दिया जाना चाहिये।

स्मृतिकारों द्वारा निन्दित ठहराये जानेके बावजूद भी विभिन्न वर्णोंके मध्य युग तक वैवाहिक संबंध होते रहे। प्राचीन साहित्यमें और शिलालेखोंमें इनके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दूसरी श० ई० पू० में मौर्योंके उत्तराधिकारी शुंगवंशी ब्राह्मण थे। कालिदासने मालविकाग्नि मित्र नामक नाटकमें ब्राह्मण पुष्यमित्रके पुत्र अग्निमित्रका विवाह विदर्भके क्षत्रिय राजा यज्ञसेनकी कन्या मालविकासे कराया है। वाकाटक राजा ब्राह्मण थे, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीयकी पुत्री प्रभावती गुप्ता वाकाटकवंशी रुद्रसेन द्वितीय (३९५ ई०) की मुख्य रानी हुई। वाकाटक वंशी राजा देवसेनके मंत्री सोम नामक ब्राह्मणने एक ब्राह्मणी तथा एक क्षत्रिया स्त्रीके साथ पाणिग्रहण किया।

सातवीं शती ई० में यद्यपि युआन च्वांगने लिखा है कि भारतीय अपनी जातिके अन्दर विवाह करते हैं, पर उस समयमें तथा उसके बाद भी वर्णान्तर विवाहोंके अनेक उदाहरण मिलते हैं। बाणने हर्षचरितके प्रथम उच्छ्वासके अन्तमें अपने पारशव अर्थात् ब्राह्मण पिताके द्वारा शूद्रा स्त्रीसे उत्पन्न चन्द्रसेन तथा भ्रातृसेन नामक दो भाइयों का उल्लेख किया है। हर्षकी बहिन राज्यश्री वैश्यजातीय थी, पर उसका विवाह मैखरीवंशके राजा ग्रहवर्णसे हुआ। दसवीं शतीके प्रारम्भमें मायावट ब्राह्मण तथा संस्कृतके प्रसिद्ध कवि राजशेखरने चौहानकुलकी गुणवती कन्या अवनिसुन्दरीसे परिणय किया। ९७७ई० का आटपुरका अभिलेख यह बताता है कि गुहिल वंशके संस्थापक गुहदत्र ब्राह्मण के वंशज भ्रातृपुत्रने राष्ट्रकूट राज कन्यासे शादी की। विजयनगरके राजा बुक्क प्रथम (१२६८–१२९८) की कन्या निरूपादेवीका विवाह आरग प्रान्तके शासक ब्रह्म या वोमन्न वोडेय नामक ब्राह्मणसे हुआ था। इससे यह स्पष्ट है कि १३ वीं शताब्दी तक विभिन्न वर्णोंके लोगोंमें परस्पर विवाह होते थे।

किन्तु १३ वीं शती ई० से निबन्धकारोंने असवर्ण विवाहको कलिवर्ज्य अर्थात् कलियुगमें न किया जानेवाला कार्य कहा और इसका निषेध किया। स्मृतिचन्द्रिका (१२००–१५२५) ने इसकी पहले पहल चर्चा की। हेमाद्रि (१२६०–७७) ने चतुर्वर्ग चिन्तामणिमें इन विवाहोंका विरोध किया। बादमें पराशरमाधवीय (१३००–१३८०), रघुनन्दन (१२२०–७५) तथा कमलाकर भट्टने (१६१०–४०) भी इसे कलिवर्ज्य समझा। इन सब निबन्धकारों का आधार बृहन्नारदीय और आदित्य पुराणके कुछ वचन हैं। इसके बाद अपने वर्ण, जाति और उपजातिमें ही विवाहका नियम हिन्दू समाजमें सार्वभौम हो गया।

जातीय उच्चता तथा ,अभिमानके अतिरिक्त मध्ययुगमें सतजातीय विवाहोंको इस बातसे भी प्रोत्साहन मिला कि उस संकटपूर्ण युगमें शास्त्रकारोंने इसलामसे हिन्दू धर्मकी रक्षाके लिये वर्ण व्यवस्था और जातपाँतके बन्धनोंको कठोर बनाना शुरू किया। मुसलमानोंके साथ जिन हिन्दुओंका कुछ भी सम्पर्क हुआ, उन्हें जाति बहिष्कृत करना शुरू किया और जब इनकी पर्याप्त संख्या होती थी—तो इनकी एक अलग जाति बन जाती थी। कुछ उदाहरणोंसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। जाटोंका एक भेद दरबारी जाट कहलाता है। रोजने इनके उद्भवकी एक मनोरंजक कथा दी है। एक बार बादशाह अकबर शिकारके लिये निकले। उनकी फौज अकस्मात् एक कुँए

के पास आ निकली। वहाँ एक जाटिनी सिरपर पानी का घड़ा लिये खड़ी थी और उसके एक तरफ़ भैंस और दूसरी ओर बछड़ा था। फौजसे भैंस और बछड़ा बिदकने लगे। किन्तु जाटिनीने बड़ी हिम्मतसे एक हाथसे भैंसका एक सींग पकड़ा, दूसरेसे सिरपर पानीके घड़ेको सँभाला और बछड़ेको उसकी रस्सीपर पाँव रखकर नियंत्रित किया। अकबर जाटिनीका यह पौरुष और शौर्य देखकर विस्मित रह गया और उसने कहा कि ऐसी औरततो बहादुरोंकी माँ होनी चाहिये। बादमें उसने उस जाटनीसे विवाह कर लिया, उसके संबंधियोंको मुग़ल दरबारमें ऊँची प्रतिष्ठा मिली और वे दरबारी जाट कहलाये। इन्होंने अपनेको ऊँचा समझना शुरू किया और जाटोंके अन्य वर्गोंको अपनी लड़की देना बन्द कर दिया। इस प्रकार जाट विवाहकी दृष्टिसे कई अन्य जातियों में बँटने लगे। अग्रवालों में राजसाही भेद इसी प्रकार शुरू हुआ। इनके पूर्वजोंको मुग़ल दरबारमें बड़ी प्रतिष्ठा मिली थी, मुसलमानोंके साथ सम्पर्क होनेसे ये अन्य अग्रवालों से शादी-व्याह की दृष्टिसे पृथक् वर्ग बन गये। बंगालमें यह किम्बदन्ती प्रसिद्ध है कि ठाकुर अथवा टैगोर ब्राह्मणोंके एक पूर्वज मुस्लिम बादशाहके यहाँ दरबारमें ऊँचे पदपर थे, एक बार उन्होंने बादशाहको यह कहा कि आज उनके यहाँ गोश्त बड़ा स्वादिष्ट बना है, जब बादशाहने उनसे पूछा कि यह कैसे पता लगा, क्या उन्होंने इसे खाया, तो उत्तर मिल, नही, इसकी गन्ध उन्हें बहुत अच्छी लगी थी, इससे उन्हें इसके लज़ीज़ होनेका परिचय मिला। दूसरे ब्राह्मणोंने सूँघनेको आधा खाना (घ्राणमर्ध भोजनम्) मानते हुए उन्हें अपने वर्गसे बहिष्कृत कर दिया और इस प्रकार शादी-व्याह और खानपानकी दृष्टिसे उनकी एक पृथक् उपजाति बनी। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त कथाओंमें कल्पना और गप्पका अंश बहुत अधिक है, पर यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मुस्लिम सम्पर्क कुछ हद तक हिन्दुओंमें जाति भेद बढ़ानेमें सहायक सिद्ध हुआ।

इसके अतिरिक्त मध्य कालमें आवागमनके साधनोंके अधिक विकास होनेसे लोगों की परम्पराओं, रूढ़ियों रहन-सहन, रीति-रिवाज़, भाषा आदिमें अन्तर बढ़ने लगा। अपनी जातिसे बाहर रीतिरिवाजोंकी विभिन्नताके कारण पत्नीको बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था, वह सर्वथा नये वातावरणमें होनेके कारण बड़े कष्ट और प्रयत्नसे अपनेको उसके अनुकूल बना पाती थी, अतः उस समय यह अच्छा समझा गया कि अपनी ही जाति या उपजातिमें विवाह हों।

हिन्दू समाजमें सजातीय विवाह नियमके कारण अनेक भीषण दुष्परिणाम उत्पन्न हो गये हैं। पहला दुष्परिणाम यह है कि इससे वर-वधूके चुनावका क्षेत्र बहुत छोटा और संकुचित हो गया है। डा० भगवानदासजी ने लिखा है कि अवधके ज़िलोंमें पंच-गौडान्तर्गत सरयूपारीण, द्विवेदी और त्रिपाठी पंक्ति पावन ब्राह्मणोंमे विवाह संबंध योग्य व्यक्ति इतने कम रह गये हैं कि अब सगोत्र विवाह होने लगा है और केवल दूधका बचाव किया जाता है अर्थात् एक माँका दूध पीनेवाले भाई-बहिनमें विवाह नहीं होता, शेष संबंधियोंमें विवाह होते हैं। (पुरुषार्थ पृ० ४६०–१) छपराके सनाढ्य ब्राह्मणोंकी भी यहीं स्थिति है, कई उप जातियाँ इतनी छोटी हैं कि उनमें केवल आठ व्यक्ति हैं।

विवाह योग्य व्यक्तियों की संख्या कम होने के कारण दहेज और बेमेल विवाहोंकी कुरीतियाँ समाजमें खूब बढ़ रही हैं। कन्याका विवाह तो हिन्दू समाजमें रोका नहीं

जा सकता, वह अवश्य करणीय कर्त्तव्य है। किन्तु साथ ही उसके लिये वर अपनी जातिसे बाहर नहीं ढूँढ़ा जा सकता, अतः अपने वर्ग तक सीमित लड़कोंके साथ ही शादी करनी पड़ती है। लड़के कम हैं और उन्हें चाहनेवाले अधिक हैं, इस स्थितिमें लड़कोंकी माँग अधिक होनेसे अर्थशास्त्रके माँग-पूर्त्तिके सुप्रसिद्ध नियमके अनुसार लड़कोंका मूल्य बढ़ जाता है। लड़कोंके माता-पिता लड़कियोंके मातापिताकी लाचारी खूब जानते हैं, अतः दहेजके लिये बड़ी-बड़ी रकमें माँगते हैं।

इस दशामें कन्याके माता-पिताके सामने दो ही विकल्प होते हैं—या तो वे भारी कर्ज़ लेकर कन्याका विवाह करें या फिर ऐसे किसी धनी वृद्धके साथ अपनी लड़कीका ब्याह करें, जो दहेज कम माँगता हो या न माँगता हो। पहली दशामें वे जीवन-भर के कर्जदार बन जाते हैं, उनकी आयु ऋण उतारते-उतारते समाप्त हो जाती है और दूसरी अवस्थामें वे जान-बूझकर अपनी लड़कीको कुँएमें धकेलते हैं।

किन्तु इसके सिवाय उनके पास चारा भी क्या है ? दहेज देनेकी शक्ति नहीं है और लड़कीको क्वाँरी रखा नहीं जा सकता। माता-पिता बूढ़े ऊँटके गलेमें बकरी बाँधकर भले ही इस बातसे संतोष करलें कि उन्होंने कन्याविवाहके धार्मिक कर्त्तव्यका पालन कर लिया है पर वस्तुतः वे अपने गलेसे बला टालते हैं। पर वे यह भूल जाते हैं या जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करते हैं कि उन्होंने कन्याके गलेमें वृद्ध पतिकी फाँसी डाल दी है। अब उस कन्याके लिए रोनेके सिवाय और कुछ नहीं रहता। जो कन्यायें कुछ हिम्मत रखती हैं, वे स्नेह लताकी भाँति आत्महत्या कर अपने तथा अपने माता-पिताके कष्टोंका अन्त करती हैं।

बाल-विवाहकी बुराईको भी इससे बहुत प्रोत्साहन मिलता है। कन्याके माता-पिता यह चाहते हैं कि वह किसी वरके साथ जल्दीसे जल्दी अपनी लड़कीको व्याह दें। वे लड़कोंके माता-पिताके पास पहले पहुँचनेका यत्न करते हैं और उनकी यह कोशिश रहती है कि शादी जितनी जल्दी हो सके, अच्छा है। यदि शादी देर तक टाली गई तो सम्भव है, कि लड़केको कोई दूसरा अधिक दहेज देनेवाला मिल जाय या अधिक योग्य कन्या मिल जाय। अतः कन्याके पिताका प्रयत्न यही होता है कि विवाह शीघ्र हो जाय। इससे बाल-विवाहोंकी संख्या बढ़ती है और समाजको इससे बड़ी हानि पहुँचती है। छोटी आयुमें विवाह होनेसे कन्याको मातृत्वका बोझ अपने शारीरिक विकासके पूर्ण होनेसे पहले ही उठाना पड़ता है, इससे वह प्रसूतिमें नाना व्याधियोंका शिकार बनती हैं, उसकी सन्तान निर्बल होती है, जातीय ह्रासको प्रोत्साहन मिलता है, वृद्धोंके साथ अनमेल विवाहोंमें उसके शीघ्र विधवा होनेकी संभावना रहती है और हिन्दू समाज केवल इन बाल-विधवाओंके उत्पादन सामर्थ्य से वंचित होकर अपनी जातीय क्षीणता करता है। किन्तु इन बाल-विधवाओंके बाधित वैधव्यसे समाजमें अनैतिकता, दुराचार, भ्रूण हत्या और गर्भपातोंकी संख्यामें वृद्धि होती है।

जातियाँ छोटी होनेसे कई बार युवकोंको जबर्दस्ती अविवाहित रहना पड़ता है। इस दशामें ये युवक अन्य स्त्रियोंसे अनुचित संबंध रखते हैं, इन युवकोंके लिये स्त्रियाँ भगा कर लायी जाती हैं और इस तरह समाजमें व्यभिचारकी मात्रा बढ़ती है, स्त्रियोंको बेचने, बदला करने और किरायेपर अस्थायी पत्नियोंके तौरपर रखनेके समाज-विरोधी तथा घृणित रिवाज चल पड़ते हैं।

जब कन्याओंके विवाहमें सजातीय विवाहके नियमके कारण इतनी कठिनाई हो तो उनकी उपेक्षा होना स्वाभाविक है। इसी कारण पहले हमारे समाजमें कन्यावध की दूषित परिपाटी प्रचलित थी। अब यद्यपि वह बन्द हो गई है, किन्तु कन्याओंके साथ बुरा बर्ताव नहीं बन्द हुआ। हिन्दू समाजमें कन्याओंकी दुर्दशाका प्रधान कारण कन्याके लिये वर ढूँढ़ने तथा दहेज जुटाने तथा जँवाईको संतुष्ट रखनेकी कठिनाइयाँ हैं। कन्या पैदा होते ही घरमें जो शोककी लहर दौड़ जाती है, उसका मुख्य हेतु कन्याकी विवाह विषयक चिन्ता होती है और इसका प्रधान कारण सजातीय विवाहका कठोर बन्धन है।

सबसे बड़ी हानि यह है कि यह जातीय एकता, संघटन, सामूहिक चेतना तथा राष्ट्रीय एकानुभूतिका सबसे बड़ा बाधक है। जब तक सजातीय विवाहका नियम है, सब जातियाँ अपने को पृथक् पृथक् समझती रहेंगी, वे अपने वैयक्तिक हितों तथा स्वार्थोंकी अधिक चिन्ता करेंगी। राष्ट्रीय हित अथवा राष्ट्रीय एकताकी कोई परवाह न करेंगीं, जातीयता के विषका बीज हमारे यहाँ पनपता रहेगा और सामाजिक संगठन तथा एकताको पुष्ट न होने देगा। डा० भगवानदासजीने यह सत्य ही लिखा है कि "हम आत्म सन्तोषके लिये भले ही यह दावा करें कि भारतमें हिन्दुओंकी बहुसंख्या है, किन्तु यह दावा बिल्कुल थोथा और गलत है। वास्तवमें हिन्दू समाज आपसमें लड़ते हुए अल्प संख्यक समुदायों का—कोई तीन हज़ार जातियों और उपजातियोंका—जो सब भोजन और विवाहके विषयमें एक-दूसरेको अस्पृश्य समझती हैं—एक प्रतिक्षण विशीर्णकाय ढेर है।" निरन्तर क्षीण होते हुए भी हम आपसके जातिभेदोंको नहीं भूलते। संगठित होकर उन्नतिके लिये यत्न नहीं करते। हिन्दू जातिके विभिन्न वर्गोंमें सौहार्द उत्पन्न करनेके लिये और उन्हें एक सूत्रमें ग्रथित करनेके लिये अन्तर्जातीय विवाहोंका प्रारम्भ करना अत्यन्त आवश्यक है।

आधुनिक युगमें पिछली शताब्दीमें जब हमारे देशमें नव जागरण आरम्भ हुआ और समाज-सुधार आन्दोलन आरम्भ हुए तो अन्तर्जातीय विवाहोंकी ओर विशेष ध्यान दिया गया। ब्राह्म समाज, तथा आर्य समाजके सुधार कार्यक्रमोंमें जाति भेद का विनाश और अन्तर्जातीय विवाह एक महत्वपूर्ण अंग थे। ब्राह्म समाजियोंने अपने अनुयायियोंमें अन्तर्जातीय विवाहोंको वैध करानेके लिये १८७२ का विशेष विवाह-क़ानून पास कराया। कांग्रेसके अधिवेशनोंके साथ होनेवाली समाज-सुधार परिषदोंके प्रस्तावोंमें इसपर बहुत बल दिया जाता रहा। उत्तर भारतमें जातपात-तोड़क-मण्डल तथा अन्य सुधार करने वाली संस्थाओंने इन विवाहोंको प्रोत्साहित किया।

पर इसमें सबसे बड़ी बाधा क़ानूनी थी। वर्तमान न्यायालय प्राचीन शास्त्रोंका अनुसरण करते हुए अनुलोम विवाहोंको वैध मानते थे पर प्रतिलोम विवाहोंको अवैध माना जाता था अर्थात् ऐसे विवाहोंमें स्त्री पतिसे गुज़ारेकी माँग नहीं कर सकती थी, उसके पुत्रोंको पिताकी सम्पत्तिमें कोई अधिकार नहीं मिल सकता था। इससे स्त्रियों तथा बच्चोंके साथ किस प्रकार घोर अन्याय होता था, यह निम्न लिखित उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। बम्बई हाईकोर्टके सामने आये एक मुकद्दमेंमें १६ वर्षकी एक लड़की काशीने अपनेसे हीन जातिके जमनादास नामक युवकसे शादी की। २५ वर्ष तक दोनों साथ रहे,

इनके आठ बच्चे हुए, इसके बाद पतिने पत्नीको छोड़ दिया। हिन्दू स्त्री होनेसे संकोचवश ९ वर्ष तक वह अदालतमें नहीं गयी किन्तु अन्तमें बुढ़ापे और भूखसे तंग आकर उसने गुजारा पानेके लिये अदालतमें आवेदनपत्र दिया। बम्बई हाईकोर्टने यह फैसला दिया कि बधू ब्राह्मणी है और वर शूद्र। हिन्दू कानूनके अनुसार प्रतिलोम होनेके कारण यह विवाह जायज़ नहीं, अतः काशीको जमनादाससे गुज़ारा पानेका कोई अधिकार नहीं है। पच्चीस वर्ष तक इकट्ठा रहनेके बाद भी अदालतने शास्त्रीय आधारपर उन्हें पति-पत्नी स्वीकार करनेसे इन्कार किया, पत्नीको कोई संरक्षण नहीं प्रदान किया, इससे अधिक क्रूर उपहास की क्या बात हो सकती थी ?

हिन्दू-क़ानूनके इस दोषको सुधारनेके लिये सर्वप्रथम श्री बिट्ठल भाई पटेलने अन्तर्जातीय विवाहोंको वैध बनानेका एक प्रस्ताव १९१८में केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में प्रस्तुत किया। इसके पेश होते ही रूढ़िप्रिय, अनुदार कट्टरपंथी हिन्दुओंने इसका घोर विरोध किया। एक कट्टरपंथीके शब्दोंमें "यह बिल जाति-बन्धनको टुकड़े-टुकड़े कर देनेवाला और उन कुकर्मियोंके सुभीतेके लिये है, जो हिन्दू-परिवारकी प्रत्येक पवित्र और प्रिय वस्तुको पाँव तले रौंदना चाहते हैं, जो दुराचार व आवारागर्दीका जीवन बिताना चाहते हैं।" इन शब्दोंमें विरोधकी उग्रताका अनुमान किया जा सकता है। तीव्र विरोधके कारण यह बिल नहीं पास हो सका। इसके १९ वर्ष बाद २८ जनवरी १९३७ को डा० भगवानदासजीने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद्में श्री पटेलवाला बिल पुनः उपस्थित किया। उन्होंने इसके समर्थनमें प्रबल शास्त्रीय प्रमाण रखे, किन्तु यह सब अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। १९३७ ई० में श्री घनश्यामसिंहजी गुप्तके प्रयत्नसे आर्य-विवाह-वैधता क़ानून पास हुआ। आर्य समाज प्रारम्भसे जातिभेद तथा सजातीय विवाहोंका विरोधी था, आर्यसमाजियोंमें ऐसे अन्तर्जातीय विवाह होते थे, बम्बई हाई-कोर्टके उपर्युक्त निर्णय के अनुसार प्रतिलोम विवाह अवैध थे। आर्यसमाजियोंमें किये गये इन विवाहोंको वैध बनानेके लिये यह कानून पास किया गया।

किन्तु अभी तक ब्राह्मसमाजियों तथा आर्यसामाजियोंके अतिरिक्त शेष हिन्दूसमाजमें अन्तर्जातीय विवाह वैध नहीं थे। आर्यसमाज, कांग्रेस तथा विभिन्न समाजसुधार-आन्दोलनोंके कारण अन्तर्जातीय विवाहोंकी संख्या बढ़ रही थी। राजनैतिक क्षेत्रमें इस प्रकारका एक प्रतिलोम विवाह वैश्यजातीय महात्मागांधीजीके एक पुत्रका ब्राह्मण-जातीय चक्रवर्ती राजगोपालाचारिकी एक पुत्रीके साथ था। इस प्रकारके विवाहोंके बढ़नेके साथ इन्हें वैध बनानेका आन्दोलन प्रबल हुआ और श्री ठाकुरदास भार्गवके प्रयत्नों से १९४९ का हिन्दू-विवाह-वैधता क़ानून पास हुआ। इस क़ानूनकी तीसरी धारा का स्वरूप इस प्रकार है—"इस समय लागू होनेवाले हिन्दू क़ानूनके किसी ग्रंथ, नियम या व्याख्याके अथवा किसी रूढ़ि और रिवाज़के होते हुए भी हिन्दुओंमें कोई विवाह केवल इस कारण अवैध नहीं समझा जायगा कि उसमें वर-बधू विभिन्न धर्मों, जातियों या सम्प्र-दायोंसे संबंध रखते थे।" यह क़ानून अनुलोम, प्रतिलोम, दोनों प्रकारके विवाहोंको वैध बनाता है। इस क़ानूनने असवर्ण विवाहके शास्त्रीय नियमको बिल्कुल विलुप्त कर दिया है। यह रूढ़िवादपर सुधारवादकी विजयका प्रतीक है। यह क़ानून भविष्यमें होनेवाले विवाहोंको ही वैध नहीं बनाता अपितु इस क़ानूनके पास होनेसे पहले

किये गये विवाहोंको भी जायज़ बनाता है। निःसंदेह वर्तमान युगमें हिन्दू विवाहके क्षेत्रमें यह बड़ा क्रांतिकारी और महत्वपूर्ण क़ानून है। १९५५ के हिन्दूविवाह क़ानूनमें इस क़ानूनको सम्मिलित कर लिया गया है।

वर्तमान कालमें हिन्दू समाजमें जाति भेदकी प्रथाका विघटन करनेवाली अनेक प्रवृत्तियाँ अन्तर्जातीय विवाहोंके प्रोत्साहनमें सहायक सिद्ध हो रही हैं। औद्योगिक क्रांति, मशीनों द्वारा कारखानोंमें वृहत् परिणाममें वस्तुओंका उत्पादन, व्यापारके विकास, रेल, तथा आवागमनके अन्य साधनोंके अभूतपूर्व विकाससे पुरानी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थामें महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। गाँवोंमें पुराने उद्योगोंकी समाप्तिसे पुराने पेशोंका अन्त हो रहा है। वकालत, डाक्टरी आदिके नये पेशे बढ़ रहे हैं। इससे वृत्ति, धन्धे अथवा व्यवसायके आधारपर बनी पुरानी जातियोंका प्रभाव और महत्व कम हो रहा है। रेलगाड़ियोंमें, होटलोंमें तथा बड़े शहरोंकी भीड़भाड़वाली सड़कोंपर जातीय शुद्धि और पवित्रताके नियमोंकी रक्षा संभव नहीं है। स्वतन्त्रताप्राप्तिके बाद हमारे देशके नये संविधानमें सब नागरिकोंके समान अधिकार स्वीकार किये गये हैं। कांग्रेस का लक्ष्य वर्गहीन समाजका निर्माण है। जाति-भेद प्रथाको पुष्ट करनेवाली अस्पृश्यता का १९५५के अस्पृश्यता-अपराध-क़ानून द्वारा क़ानूनी तौरपर उन्मूलन हो चुका है। जाति-सूचक पदोंको अपने नामोंके पीछे लगाना बुरा समझा जाने लगा है और हटाया जाने लगा है। ऐसी दशामें जाति-भेदके आधारपर किये जानेवाले सजातीय विवाहके नियमके पालनमें भविष्यमें पर्याप्त शिथिलताकी तथा अन्तर्जातीय विवाहोंकी वृद्धिकी पूरी संभावना है। निःसंदेह यह हमारे समाजके उज्ज्वल भविष्यका सूचक है।

दहेज का पाप

दहेजकी प्रथा हमारे सामाजिक और पारिवारिक जीवनको घुनकी तरह खाये जा रही है। यह कहना कठिन है कि उसका प्रारंभ कब और क्यों हुआ? ऐसा विवेचन किसी भी सामाजिक बुराईके संबंधमें करना कठिन है। सच कहा जाए, तो इस ऐतिहासिक विवेचनकी ऐसी कोई आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि किसी भी बुराईका समर्थन केवल इसलिए नहीं किया जा सकता कि वह बहुत पुरानी है अथवा उसका प्रारंभ किसी ऊँचे आशय अथवा किसी सद्भावनासे किया गया था। देखना तो यह है कि आज समाजको उसका क्या दुष्परिणाम भोगना पड़ रहा है।

ऐसा लगता है कि विवाह संस्कारके समय किये जाने वाले कन्यादानकी प्रथाने दहेज की कुप्रथाको जन्म दिया होगा, क्योंकि अकेली कन्याका "दान" कोई अर्थ नहीं रखता। जब तक "दान" को साज-सँवारकर न दिया जाए, तब तक उसकी ठीक-ठीक क़ीमत नहीं आँकी जा सकती। कन्यादानके साथ गोदानको जोड़नेसे दहेजके जो बीज विवाह-संस्कार में विद्यमान रहते हैं, उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के अस्त-व्यस्त होनेपर वट-वृक्षका-सा रूप धारण कर लिया है। उस गोदानकी ही वे शाखा-प्रशाखाएँ हैं, जिन्होंने दहेजके नामसे नाना रूप धारण कर लिये हैं। गोदानके स्थानपर आजकल प्रायः निश्चित धनराशि अथवा सोनेकी अंगूठी आदि दे दी जाती है और गौ ख़रीदनेकी बात कहदी जाती है। न कोई गौ ख़रीदता है और न कोई गौ पालता है। बड़े-बड़े शहरोंमें तो नगरपालिकाओं की ओरसे ऐसे प्रतिबंध लगे हुए हैं कि वहाँ साधारणतः गौ नहीं रखी जा सकती। जहाँ रहनेके लिए घर मिलना एक समस्या बन गया है, वहाँ गौ रखनेके लिए स्थान कहाँ मिल सकता है? फिर भी गोदान किया जाता है और गोदानकी इस भावनाने ही दहेजकी कुप्रथाका भयानक रूप धारण कर लिया है। कन्यादान और गोदान दोनों मिलकर समाजके लिए इतने भारी बन गये हैं कि वे उसकी समामर्थ्यसे बाहर हो गये हैं। विवाह संसकारमें वैदिक मर्यादाकी लकीर पीटनेवाले भी आँखें खोलकर यह नहीं देखना चाहते कि कन्यादान और गोदानका प्रतिपादन किसी भी वेदमंत्रमें नहीं किया गया। स्मृति ग्रंथोंमें उसका उल्लेख मिलता है, किंतु स्मृति ग्रंथ वैदिक आचार-विचारके आधारभूत ग्रंथ नहीं हैं। वे तो समय विशेषकी सामाजिक व्यवस्था के निर्देशक हैं। मनु, याज्ञवल्क्य अथवा पाराशर ने अपने-अपने समयकी सामाजिक व्यवस्थाके लिए जो नियम अथवा विधान बनाये थे, वे उनके दिनोंमें लागू हो सकते थे। आज भी उन्हें लागू रखनेका आग्रह करना वैदिक

मर्यादाका पालन करना नहीं माना जा सकता। स्मृतिकारोंकी व्यवस्था उनके अपने समयकी व्यवस्था हो सकती है। वह वेदकालीन नहीं है और उसे वैदिक मर्यादाका अंग नहीं माना जा सकता। इसलिए हमारी मान्यता यह है कि कन्यादान और गोदान न तो वेद प्रतिपादित हैं और न वैदिक मर्यादाका अनिवार्य अंग हैं। यह स्पष्ट है कि कन्यादान और गोदानकी भावनाके गर्भमेंसे ही दहेजकी कुप्रथाका जन्म हुआ है।

हमारे समाजमें विद्यमान अनेक सामाजिक, विशेषतः वैवाहिक, कुप्रथाएँ ब्राह्मण धर्मकी देन हैं। ब्राह्मणधर्मसे हमारा अभिप्राय उस धर्मसे है, जिस पर ब्राह्मण वर्गका एकाधिपत्य था और उनके मुंहसे निकले वाक्यको बाबा वाक्यकी तरह प्रमाण माना जाता था। वे श्रुति और स्मृतिके नामसे जो कुछ भी कह देते थे, वह धार्मिक व्यवस्था मानली जाती थी। समाज आँखें मूंदकर उसे माननेके लिए बाध्य होता था। स्त्री और शूद्रके प्रति समस्त हीन भावनाओंका प्रारंभ उनके ही द्वारा किया गया। शासक वर्ग सदा ही भेद नीतिसे काम लेता है। जब समाजपर ब्राह्मण वर्गका धार्मिक शासन क़ायम हुआ, तब स्त्री और शूद्रको हीन ठहराकर भेदनीतिसे काम लिया गया। स्त्रीको हीन ठहराकर ही ब्राह्मणोंने घर-घरमें अपना वर्चस्व क़ायम किया, क्योंकि हीन ठहराई गई स्त्री अपने व्यक्तित्व, अस्तित्व और महत्वके लिए एक मात्र ब्राह्मणोंपर निर्भर रह गई। आज भी हमारे समाजकी बहुत-कुछ ऐसी ही स्थिति है। पंडों, पुजारियों, पुरोहितों आदिका प्रपंच और मायाजाल पुरुषोंकी अपेक्षा अधिकतर स्त्रियोंके ही सहारे चलता है। दयनीय स्थिति यह है कि जिस धर्म और धर्माचार्योंने स्त्रीको नितांत दीन-हीन स्थिति में डाल दिया, वे ही उनका आश्रय बनी हुई हैं और उनके ही सहारे धर्म और धर्माचार्य दोनों फूलते-फलते हैं। स्त्रीकी हीनता असहाय स्थितिकी इस चरम सीमा तक पहुँच गई कि उसने अपनेको पतनकी गहरी खाईमें धकेलनेवालेको ही अपना संरक्षक मान लिया है। जब एक बार कन्या, स्त्री अथवा महिलाको दीन-हीन स्थितिमें डाल दिया गया, तब यह आवश्यक हो गया कि अन्य साधनोंसे समाजमें उसकी क़ीमत अथवा महत्व बढ़ाया जाए। शिक्षासे उसे वंचित कर दिया गया और शिक्षाके माध्यमसे उसकी क़ीमत अथवा महत्व बढ़ाना संभव न रहा था। बाल-विवाहके रहते उसके लिए शिक्षा प्राप्त कर सकना संभव ही न रहा था। इसलिये केवल भौतिक पदार्थ कपड़ा, गहना और अन्य धन संपदा ही ऐसे पदार्थ रह गये थे, जो उसकी क़ीमत अथवा महत्व बढ़ा सकते थे। एक कन्या पिताके घरसे ससुराल जाए और वहाँ उसका मान-सम्मान हो, ऐसी भावना प्रत्येक माता-पितामें अपनी पुत्रीके लिए होना स्वाभाविक है और यह तभी हो सकता था, जब उसके साथ ऐसे भौतिक पदार्थ अधिकसे अधिक मात्रामें दिये जाएँ। इस मान-सम्मानकी भावनासे कन्याको स्वाभाविक रूपसे जो-कुछ भी दिया गया, वह अंतमें एक बंधन बन गया और यह बंधन भी ऐसा बना कि उसके लिए न केवल माँग, अपितु शर्तें भी पेश की जाने लगीं।

हिन्दू समाजमें कन्याएं सदाही एक भार समझी जाती रहीं। उनके लिए उस घरमें कोई स्थान न रहना, जहाँ वे जन्म लेती हैं, एक भयानक सामाजिक अभिशाप है। कहा जा सकता है कि यदि कन्या दूसरे घरमें न जाए, तो समाजका काम कैसे चले? परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वह पशुओंकी तरह दूसरे घरकी संपत्ति

मान ली जाए और अपने मायकेके साथ उसका कोई संबंध ही न रहे। वह एक माध्यम होनी चाहिए दो परिवारोंको मिलानेकी। विवाह संस्कार द्वारा दो व्यक्तियोंका ही नहीं, अपितु दो परिवारोंका मिलन होना चाहिए। परंतु ऐसा नहीं होता। दो परिवार एक नहीं बनते, अपितु वर पक्ष कन्यापक्षपर चढ़ाई करके कन्याका अपहरण करता है और उसे सदाके लिए अपने उपभोगकी वस्तु मान बैठता है। बरात लेकर जाना ऐसा ही है, जैसे सेना लेकर किसी पर चढ़ाई करने जाना हो। पुरुषमें पति होनेका जो झूठा अभिमान घर कर गया है, वही अभिमान कुछ छिपा हुआ बरात ले जानेमें भी विद्यमान है। तभी तो वर पक्ष कन्या पक्ष से शिष्टाचारकी सीमाका उल्लंघनकरके भी अपनी आवभगत और आतिथ्यसत्कार करवानेकी इच्छा रखता है और उसके लिए भी तरह-तरहकी शर्त्तें पेश की जाती हैं। हम यहाँ वर यात्रा और विवाह संस्कारके साथ जुड़ी हुई अन्य कुप्रथाओंके विस्तारमें नहीं जाना चाहते। हम केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि कन्या पक्षको हीन मानकर वर पक्ष अपना जो प्रभुत्व अथवा बर्त्ताव उसपर क़ायम करना चाहता है, वह हमारी अनेक सामाजिक बुराइयोंका मूल कारण है। "वर" को राजा कहकर जब कन्यापक्षके यहाँ पहुँचाया जाता है, तब उस राजाका यथोचित मान-सम्मान होना ही चाहिए और उस मान-सम्मानमें वह सब सामान सम्मिलित है, जिसे दान मान लिया गया है। उसका सम्मान और स्वागत-सत्कार कन्या-पक्षकी सामर्थ्य पर निर्भर न रहकर "राजा" की मान-प्रतिष्ठाका प्रश्न बन जाता है। दान कम हुआ कि उसकी नाक कट जाती है और यह समझा जाता है कि कन्यापक्ष वालोंने उसे अपने यहाँसे अपमानित करके भेजा है। इसलिए उस अपमानको टालनेके लिए अब मनमाना दान माँगने और उसके लिए शर्त्तें पेश करनेमें कुछ भी संकोच नहीं किया जाता अपितु वैसा करना अपना अधिकार माना जाता है। अधिकारकी कोई सीमा नहीं रहती। इसलिए दानकी माँग सीमा पार कर गयी है। आश्चर्य यह देखकर होता है कि दान या दहेज भी विशुद्ध व्यापार बन गया है और इस व्यापारको चलानेवाले दलालोंकी श्रेणी भी समाजमें पैदा हो गई है।

दहेजकी यह कुप्रथा प्राय: बिना किसी अपवादके भारतके सभी राज्यों, जातियों समाजों और वर्गोंमें पाई जाती है। आश्चर्य यह है कि जो समाज या वर्ग अथवा जाति जितनी अधिक सम्पन्न है, उसमें दहेजका उतना ही अधिक प्राबल्य है और उसकी मात्रा भी उतनी ही अधिक है। इतना ही नहीं वरकी शिक्षा, आमदनी और स्थितिके अनुपात से भी उसमें वृद्धि होती रहती है। कम आमदनीवाला अथवा कम शिक्षित दहेजकी थोड़ी मात्रा से संतुष्ट हो जाता है तो अधिक आमदनी करनेवाला और अधिक शिक्षित उतने ही अधिक दहेजकी माँग करता है और उसके लिए प्राय: अड़ जाता है। दहेजकी मात्राके सामने कन्याकी शिक्षा, उसके गुण अवगुण अथवा रूप रंगको प्राय: बिलकुल भी देखा नहीं जाता। इस दृष्टिसे दहेजके ही कारण समाजमें अनमेल विवाह होकर अनैतिकता को निरंतर आश्रय मिलता रहता है। मैट्रिक पास अथवा १००–१५० कमाने वाला यदि एक हज़ार से संतुष्ट हो जाता है, तो एफ़० ए० पास २००–२५० रुपये वाला ढाई-तीन हज़ारकी और बी० ए० पास ४००–५०० कमानेवाला पांच, दस और १५ हज़ार तककी माँग करनेमें संकोच नहीं करता। सगाई और विवाहपर नियत रक़म

चुकानेके बाद भी पीछा नहीं छूटता। हर तीज-त्योहारपर वर-पक्षका मुँह भरना ही पड़ता है और हिन्दू-समाजमें तीन सौ पैंसठ दिनोंमें तीन सौ साठ तीज-त्योहार होते ही रहते हैं; इन सभी पर कन्याके माता-पिताको वर पक्ष और वर महोदयकी आरती और पूजा करनी ही पड़ती है। तीन-चार लड़कोंके पिताका लखपती बन जाना साधारण बात है और तीन-चार कन्याओंके माता-पिताके सिरपर सहसा ही कंगाली छा जाती है। सिंधी समाजमें तीन-चार लड़कोंके पिताको न कोई नौकरी करनेकी आवश्यकता है और न कोई व्यापार व्यवसाय। लड़कोंका विवाह उसके लिए सबसे बड़ा व्यापार होता है और उसीसे वह मालामाल हो जाता है। अपनी ही जातमें अपनी कन्याके विवाहके लिये लाचार होनेसे दहेजको और भी अधिक बढ़ावा मिलता है। जात-पातके सीमित दायरेसे दहेजको बढ़ावा और उत्तेजन मिलता है। जिस समाजमें लड़कोंकी कमी है, उसमें लड़केवालोंकी बन आती है और उनकी मनमानी ख़ूब चलती है।

दहेजकी भीषणता इसीसे प्रकट है कि उसकी मांग करनेवालोंकी इच्छा और आकांक्षा की कोई सीमा नहीं रही। रुपया, पैसा, कपड़ा, गहना, गाड़ी, मोटर और मकान तक ही यह माँग सीमित नहीं, अपितु नौकरी दिलाने, व्यापार करवाने, शिक्षाके ख़र्च और विदेशयात्राके ख़र्च तककी निर्ल्लज्जतापूर्वक माँग की जाती है। पिछले दिनों दिल्लीका एक समाचार था कि अपने लड़कोंको कालेजमें प्रवेश दिलानेकी शर्त्त भी दहेजके रूपमें पेश की गई थी, क्योंकि कालेजमें प्रवेश मिलना बहुत कठिन हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवनकी जो भी कठिनाइयाँ अथवा समस्याएँ सामने आती हैं, वे सब दहेजके नामपर कन्यापक्षपर लाद दी जाती हैं। कन्यापक्षसे ऐसी झूठी आशाएँ, मिथ्या आकांक्षाएँ और ग़लत धाराणाएँ बना ली जाती हैं कि औसतन माता-पिता उन्हें पूरी नहीं कर सकते। परिणाम यह होता है कि विवाह होते ही "धोखा दिया गया" की भाषा का प्रयोग प्रारंभ हो जाता है और यह भाषा राग, द्वेष, कलह और वैमनस्यका कारण बन जाती है। कन्या पर ताने ही नहीं कसे जाते, अपितु उसके प्रति अत्यन्त कठोर और निर्दय व्यवहार करनेमें भी कुछ उठा नहीं रखा जाता। बेचारी कन्याओंको मारना-पीटना, घरसे निकाल देना, मायके भेजकर वापस न बुलाना और इसी प्रकार का दुर्व्यवहार करना साधारण बात हो गयी है। सास, पति अथवा अन्य ससुरालवालों द्वारा बहूकी नृशंस हत्या तकके समाचार पत्रोंमें जब तब पढ़नेको मिल जाते हैं। ऐसी घटनाएँ भी प्रायः सुननेमें आती हैं, जिनमें कन्याओंको केवल इसलिए जीवनसे हाथ धोना पड़ता है कि दूसरा विवाह होकर कुछ अच्छा दहेज मिल जायगा, क्योंकि लड़कोंके विवाहपर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है। वे एक पत्नीकी मृत्यु (अपने हाथोंकी गई हत्या) के बाद भी बहुत सरलतासे दूसरी और तीसरी शादी कर सकते हैं। हमारा सारा समाज ऐसा निर्ल्लज बन गया है कि वह ऐसे पापीको कोई दंड न देकर तुरंत पुनर्विवाहकी व्यवस्था कर डालता है। नृशंसता और हृदयहीनताकी यह पराकाष्ठा है। साधारण तौरपर समझा जाता है कि दहेजकी कुप्रथा पैसेवालोंमें ही अधिक प्रचलित है, परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। मध्य स्थिति और साधारण स्थितिके लोगोंमें भी दहेजकी कुप्रथा बुरी तरह घर कर गयी है। आदिवासी, भील, भिलालों आदिमें चरम सीमाकी ग़रीबी पाई जाती है, किंतु दहेजकी कुप्रथासे वे भी मुक्त नहीं। उनमें अनेक स्थानोंपर लड़की

वाले को कमसेकम १०० रु० तो देना ही होता है और जो नहीं दे सकता, उसकी लड़की का विवाह होना प्रायः असंभव हो जाता है। उड़ीसा और छत्तीसगढ़में इसका विशेष ज़ोर है। अन्य ग़रीब वर्गोंमें भी इसी प्रकारकी स्थिति पाई जाती है। कुछ प्रदेशों और जातियोंमें कुछ उलटी-सी प्रथा चल पड़ी है। उनमें लड़कीवालोंकी अपेक्षा लड़के वालोंको निश्चित रक़म देनी पड़ती है। इसे आम तौर पर कन्या विक्रय कहा जाता है। जिन प्रदेशोंमें कन्याएँ ससुरालमें आकर खेती-वाड़ी अथवा घर-गृहस्थीके काममें उपजाऊ दृष्टिसे कुछ हाथ बँटा सकती हैं, उनमें उनकी क़ीमत पैसोंमें आँकी जाती है। कुछ पहाड़ी प्रदेशोंमें यह कुप्रथा अधिक पाई जाती है। जिन समाजोंमें वृद्ध-विवाहका रिवाज प्रचलित है अथवा कन्याओंका विक्रय होता है, उनमें भी पैसा देकर कन्याएँ ली जाती हैं। इसे भी दहेजका ही रूपांतर समझा जाना चाहिए। परन्तु इस लेखमें हम वर-पक्षकी ओरसे की जाने वाली ज्यादतियोंकी ही विशेष रूपसे चर्चा करना चाहते हैं।

इस कुप्रथाके कारण समाजमें जो अनर्थ छाया हुआ है, वह भी प्रायः प्रति दिन के अनुभवका विषय बन गया है। कितनी ही अनर्थकारी दुर्घटनाओंके समाचार पत्रों में पढ़ने और सुननेको मिल जाते हैं। एक मध्यम स्थितिका पिता किसी प्रकार दहेजकी कुछ व्यवस्था करता है और वर पक्षके लोग बरात ले आनेके बाद भी दुगुनी-तिगुनी माँग करनेमें संकोच नहीं करते। उनकी माँग पूरी न की जा सकी, तो वे विवाह किये बिना वापस लौटनेमें भी नहीं शरमाते। कन्याका पिता अपनी क़िस्मतको कोसकर और माथा ठोंककर रह जाता है और उसके दिलपर इतनी गहरी चोट लगती है कि वह बीमारीके बिस्तरपर जो पड़ता है, तो फिर उठ नहीं सकता और कालका ग्रास बनकर सारे परिवार को निराश्रित बनाकर इस संसारसे उठ जाता है। अभी उस दिन बंबई विधान-सभा में एक सदस्यने अपने अनुभवकी जो घटना सुनाई, वह कितनी अनर्थकारी है। एक व्यक्तिने अपनी दूसरी कन्याका विवाह किसी प्रकार चार हज़ार रु० दहेज देकर किया, तो चार वर्ष पहलेकी विवाहिता उसकी पहली कन्याके ससुरालवाले और पति महोदय इस बुरी तरह बिगड़े कि कन्याको यह कहकर घरसे निकाल दिया गया कि चार हज़ार रु० लाओगी, तो घरमें रखा जाएगा। इस प्रकारके हृदयहीन निर्वासनकी जितनी चाहें, उतनी घटनाएँ इकट्ठी की जा सकती हैं। परिणाम यह है कि घर-घरमें कष्ट, क्लेश, कलह और वैमनस्य छाया हुआ है। सारा समाज इस विद्वेषकी आगमें झुलस रहा है। कितनी ही कन्याएँ जो माता-पिताके इस संतापको सहन नहीं कर सकतीं, वे स्नेहलता और हेमप्रभाकी तरह कपड़ोंमें आग लगाकर, विष खाकर, कुएँ या नदीमें कूदकर अथवा अन्य किसी प्रकार से आत्महत्या करके समाजके मुखपर कलंकका टीका लगा जाती हैं। कभी तो स्थिति यह थी कि कन्याको एक असह्य भार मानकर जन्मके साथ ही उसका गला घोंट दिया जाता था—न रहे बाँस और न बजे बाँसुरीकी कहावत के अनुसार कन्याको अपने निठुर हाथोंसे यमलोक पहुँचाकर सारे झंझटसे छुटकारा पा लिया जाता था। यह निर्मम व्यवहार सदियों तक अनेक जातियों और प्रदेशोंमें चलता रहा। आज भी कन्याके जन्मको अधिकांश समाजमें अपशकुन माना जाता है और जीवन भर उसके प्रति उपेक्षाका ही व्यवहार किया जाता है।

दहेजका समर्थन करनेवाले प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि कन्याको कुछ तो दिया ही जाना चाहिये और क्या पिताकी संपत्तिमें उसका कुछ भी भाग नहीं? यह ठीक है कि कन्याको कुछ मिलना चाहिए, परन्तु वह विवाहके अवसरपर ही बंधन अथवा शर्त्त के रूपमें क्यों दिया जाए अथवा माँगा जाए? उसे देनेके अनेक अवसर, साधन अथवा मार्ग हो सकते हैं। विवाह संस्कारकी मर्यादा अथवा पवित्रताको उससे क्यों नष्ट किया जाता है और क्यों विवाहको एक भार बना दिया जाता है? कन्या पक्षसे कितना भी धन क्यों न ले लिया जाए, उसके आधारपर वरपक्ष सुखी, संपन्न अथवा निश्चित होता नहीं देखा गया क्योंकि वर पक्षको भी किसी न किसी कन्याका विवाह तो करना ही होता है और उसके सामने दहेजकी समस्या उसी रूपमें उपस्थित हो जाती है। बहुतसे माता-पिता लड़कोंके दहेजसे अपनी पुत्रियोंके विवाहकी व्यवस्था करनेका हिसाब-किताब लगाते देखे गये हैं, परंतु वे सहसा ही यह भूल जाते हैं कि वे अपने पुत्र और बहूको इस प्रकार दुखी बनाकर सारे घरको सदाके लिए दुखी बना देते हैं। ऐसे पुत्र और बहू बहुत ही कम मिलेंगे, जो स्वेच्छा या दहेजमें मिली संपत्तिका दूसरे के लिए त्याग करनेको तैयार हों। यह ज़ोर-ज़बर्दस्तीका व्यापार किसी भी घरको सुखी नहीं रहने देता। अपने हाथोंसे इस संकटको मोल लेनेसे अधिक बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है? अब तो कन्याओंको पिताकी जायदादमें पुत्रोंके समान हिस्सा पानेका अधिकार क़ानून द्वारा सम्मत हो गया है। इसलिए दहेजके रूपमें चलनेवाला लेन-देन तो सर्वथा बंद हो ही जाना चाहिए।

कुछ लोग क़ानून द्वारा इस प्रथाको बंद कराना चाहते हैं। केवल क़ानूनको सब बीमारियोंका इलाज मानलेना बहुत ही बड़ी भूल है। क़ानून केवल कुछ अंशोमें अनुकूलता पैदा कर सकता है, परन्तु जड़ मूलसे किसी भी कुप्रथाको नष्ट नहीं कर सकता। बाल-विवाह और मृतक भोजादिके विरुद्ध बनाये गये क़ानून इन कुप्रथाओंका अंत नहीं कर सके जनताकी भावनाको बदले बिना और विरोधमें लोकमतको जाग्रत किये बिना क़ानून भी सफल नहीं हो सकता। फिर भी पंजाब और बंबईमें इस कुप्रथाके विरुद्ध क़ानून बनानेका प्रयत्न किया गया। उन क़ानूनोंके मसविदेमें दहेजपर प्रतिबंध लगानेकी अपेक्षा उसे मर्यादित करनेका ही प्रयत्न किया गया। समझौतेकी इस मनोवृत्तिसे कोई भी सुधार, परिवर्तन अथवा क्रांति नहीं की जा सकती। किसी कुप्रथाको मर्यादामें बाँधना कुछ अंशोमें ठीक हो सकता है, परन्तु उस मर्यादाके टूटनेमें अधिक समय नहीं लगता। इसलिए आवश्यक यही है कि किसी भी कुप्रथाको मर्यादामें बाँधकर संतुष्ट न हुआ जाए और उसे समूल नष्ट करनेके ही प्रयत्न किये जाएँ। क्रांतिका यही तक़ाज़ा है, इसलिए दहेजकी कुप्रथाके नष्ट करनेके लिए आवश्यक है कि कन्याओंके प्रति समाजकी हीनताकी भावनाको जड़-मूलसे नष्ट किया जाए। उन्हें भार न मानकर लड़कों के समान महत्व दिया जाए। उन्हें पालना-पोसना और शिक्षित बनाना निरर्थक न समझा जाए। एक कर्त्तव्यके रूपमें उनके प्रति अपनी ज़िम्मेवारी पूर्ण की जाए। विवाह-संस्कारमें किये जाने वाले कन्यादान और गोदानकी पद्धतिको सर्वथा समाप्त किया जाए। वह कितनी भी शास्त्रसम्मत क्यों न हो, उसे तुरंत बंद किया जाए। कन्या के साथ "दान" शब्दका प्रयोग अपमानास्पद और लज्जाजनक समझा जाए। गहने,

कपड़े आदिके सब आडंबर समाप्त किये जाएँ। कन्याके जन्मको पुत्रके जन्मके समान ही माना जाए।

कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि जो कुछ भी दिया जाए, उसका दिखावा नहीं किया जाना चाहिये। इसका मतलब यह हुआ कि लुक-छिपकर और लोगोंसे अदृश्य रखकर किया गया पाप पाप नहीं है। दहेज यदि त्याज्य और निंदनीय है, तो छिपाकर देनेसे वह पुण्य नहीं बन सकता। समाजमें बहुत-सा पाप इस-लिए फैलता चला जाता है कि वह छिपाकर किया जाता है। सच तो यह है कि छिपाव अथवा अंधकारमें ही पाप पनपता और फूलता-फलता है। इसलिए दिखावा न करना दहेजको और भी अधिक बढ़ावा देना है। पापका सर्वांशमें ही अंत होना चाहिए, इस लिए दहेजकी कुप्रथाका अंत भी सर्वांशमें ही किया जाना चाहिए।

कुछ स्थानोंपर दहेजके विरुद्ध लोकमत जाग्रत करनेके लिए धरना दिया गया है और वह सफल भी सिद्ध हुआ है। दहेजकी कुप्रथा प्रायः सभी समाजों, जातियों और देशोंमें पाई जाती है। पिछले दिनों कान्यकुब्ज समाजमें इसके विरुद्ध लोकमत जाग्रत करनेके लिये स्थान-स्थानपर एक सप्ताहका आयोजन किया गया था। श्रीमती लीलावती मुंशीने बंबईमें इस सप्ताहके उपलक्षमें की गई सभामें यह सुझाव प्रस्तुत किया था कि लड़कियाँ उन लड़कोंसे विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करें, जो अथवा जिनके माता-पिता दहेजकी माँग करें। अणुव्रत आंदोलनके प्रवर्तक आचार्य तुलसीने भी अणुव्रतोंकी प्रतिज्ञामें दहेज न लेने अथवा ठहराव न करनेकी प्रतिज्ञाको सम्मिलित किया है। ऐसी प्रतिज्ञाएँ अथवा धरना आदिके प्रदर्शन लोकमतको जाग्रत करनेके लिये निश्चय ही सहायक हो सकते हैं और यह एक प्रभावशाली क़दम हो सकता है। परंतु इतनेसे ही संतोष करना उचित न होगा।

सौ बातोंकी एक बात यह है कि विवाह-संबंधी सारी भ्रांत धारणाएँ एकदम बदली जानी चाहिएँ। कन्याके पितृगृहमें रजस्वला हो जानेको कभी नरकका निमित्त माना जाता था। इसी प्रकार पुत्रकी प्राप्ति नरकसे बचानेके लिए अनिवार्य मानी जाती थी। ऐसी भ्रांत धारणाओंसे विवाह और कन्याका बाल-बिवाह करना अनिवार्य हो गया था। अब भी ऐसी बहुत-सी भ्रांत धारणाएँ विवाहके साथ जुड़ी हुई हैं और उनके कारण विवाहका किया जाना अनिवार्य मान लिया गया है। अनिवार्य माने गये व्यवहार के साथ बहुत-से कुव्यवहार अपने आप जुड़ जाते हैं। जब विवाह अनिवार्य हो गया, तब उसके साथ दहेज भी जुड़ ही गया और वह अनिवार्य भी बन गया। इसलिए हमारा विनीत निवेदन यह है कि विवाहकी अनिवार्यताका ही अंत किया जाना चाहिए। लड़के और लड़की दोनोंके लिए विवाहकी समान आवश्यकता है। दोनोंमें कोई हीन नहीं है। विवाहके कारण यदि लड़केके प्रति कोई हीन भावना नहीं है, तो लड़कीके प्रति क्यों हो ? इस दृष्टिसे चीनने एक आदर्श उपस्थित किया है। वहाँ विवाहकी प्रथाके साथ जुड़ी हुई सारी कुप्रथाओंका एकाएक अंत कर दिया गया है और महिलाओंके प्रति समाजकी पुरानी भावना अथसे इति तक बदल दी गयी है। वैसा ही हमें भी करना होगा। तभी हम दहेज सरीखी राक्षसी कुप्रथासे अपना पिंड छुड़ा सकेंगे। बीच का कोई मार्ग नहीं है। समाज-सुधार और सामाजिक क्रांतिके क्षेत्रमें बीच-बचाव अथवा समझौतेकी नीति काम नहीं दे सकती।

अस्पृश्यता निवारण की ओर

हिन्दू जातिमें अस्पृश्यता और छूतछातकी जिस प्रथाने सनातन रूप धारण कर लिया था वह वस्तुतः सनातन नहीं है। प्राचीन कालमें यह प्रथा प्रचलित नहीं थी। वर्ण व्यवस्थाका सूत्रपात केवल कर्मोंका विभाजन मात्र था, इसका जन्मके साथ कोई संबंध नहीं था। भगवान मनुने 'जन्मना जायते शूद्रः' कहकर यह स्पष्ट घोषणा की थी कि वेदाभ्याससे विप्र होता है। जो जैसे काम करेगा, उसे वैसी संज्ञा दी जायगी। भगवान कृष्णने भी गीतामें यह घोषणा की है कि "चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुण-कर्म विभागशः।" गुण-कर्मोंके भेदसे भगवानने चारों वर्णोंकी सृष्टि की है। इन वर्णोंका केवल जन्मसे कोई संबंध नहीं है। यदि ब्राह्मण कुलमें पैदा हुआ कोई व्यक्ति नीच कर्म करेगा, तो शूद्रकी तरहसे उसका बहिष्कार करनेकी भी घोषणा मनुने की थी। चारों वर्णोंके काम गिना दिये गये थे और कामके अनुसार उन्हें वर्णकी संज्ञा दी जाती थी। अनेक ऋषि जन्मसे बहुत ऊँचे कुलोंमें उत्पन्न नहीं हुए थे। आदि कवि बाल्मीकिका भंगी कुलमें जन्म श्रुति परम्परागत है, किन्तु वे महान् ऋषि कहलाये। अन्य भी अनेक ऋषियोंके जन्मकी कथाएँ यह बताती हैं कि वे ऊँचे कुलोंमें उत्पन्न नहीं हुए थे। परन्तु जन्मके कारण उनका तिरस्कार नहीं किया जाता था, वे अपने गुण व कर्मके कारण समाजमें गौरव व सम्मानपूर्ण पद पाते थे।

यह कहना कठिन है कि अस्पृश्यता व जातिपाँतिकी प्रथा कबसे चली, परन्तु इतना निश्चित है कि प्राचीन कालमें यह प्रथा प्रचलित नहीं थी। वैदिक कालमें तो आर्यों का आदर्श ही 'कृण्वतो विश्वमार्यम्' या सबको आर्य बनाना था। कुछ अनार्य देवगण तक देवताओंमें सम्मिलित किये गये थे। छान्दोग्य उपनिषदमें जावालि ऋषि अज्ञात कुल थे, महाभारतमें विश्वामित्र क्षत्रिय वर्णसे और मातंग ऋषि चाण्डाल कुलसे ब्राह्मण हो गये थे। अनार्यों के साथ विवाह-संबंधोंके भी उदाहरण प्राचीन इतिहासमें कम नहीं मिलते। अर्जुन व भीमने अनार्य जातिकी उलूपी हिडिम्बासे विवाह किये थे। 'म्लेच्छदेशस्त्वतः परः" कह कर जिन विदेशियोंसे सम्पर्क भी स्थापित न करनेकी घोषणा बादमें की गई दूसरी तीसरी सदी तक उन्हें बौद्ध व हिन्दू धर्ममें दीक्षित किया जाता था। यूनानी, यूची व शक जातियोंने वैष्णव-धर्म स्वीकार कर लिया था। उन लोगोंको भारतके बुद्धिमान ब्राह्मणोंने आत्मसात कर लिया था। रुद्र दमन या जय दमन मिहिरकुल आदि प्रसिद्ध राजा विदेशी ही थे। भारतीय आचार्य दूसरे देशोंमें भी जाते थे और वहाँ बौद्ध या हिन्दू धर्मका प्रचार करते थे।

मुस्लिम काल में

यह कहना कठिन है कि जन्मना अस्पृश्यताकी प्रथा कबसे प्रचलित हुई, पर इसके उदाहरण इतिहासमें अवश्य मिलते हैं कि १० वीं, ११ वीं सदीमें और कुछ समय बाद भी मुसलमानोंको और मुसलमान बने हुओं को हिन्दू धर्ममें दीक्षित कर लिया जाता था। अलबेरुनीने अपने प्रसिद्ध ग्रंथमें इस प्रकारका उल्लेख किया है। एक निम्बालकर सरदार के मुसलमान बन जानेके बाद भी शिवाजीने उसे हिन्दू धर्ममें सिर्फ़ दीक्षित ही नहीं कर लिया, बल्कि उसके साथ अपनी लड़कीका विवाह कर लिया था। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस समय ऐसे उदाहरण अपवाद रूपसे रह गये थे। जन्मसे जातिपांति और छूतछात की प्रथा फैल चुकी थी। विभिन्न स्मृतियोंमें, जन्मके कारण अस्पृश्य जातियों की गणना की जाने लगी थी, उनके साथ भेद-भावमूलक व्यवहार रखनेके विधान जारी कर दिये गये थे। मनु स्मृतिमें भी इस प्रकारके श्लोक सम्मिलित कर लिये गये, जिनसे इस कलंकपूर्ण प्रथाको अधिकाधिक प्रश्रय मिला। हम उनसे प्रमाण उद्धृत करके इस लेखका कलेवर नहीं बढ़ाना चाहते, पर इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि पौराणिक ब्राह्मण नेताओंके इसपर निरंतर बल देनेके कारण अस्पृश्यताका कलंक हिन्दू जातिके हृदयमें संस्कार-स्वभावका एक अंग बन गया था। अस्पृश्योंकी स्थिति दीनसे दीनतर होती जाती थी। इस पतनकी पराकाष्ठा यह थी कि वे स्वयं भी भगवानका अभिशाप समझकर इस स्थितिको स्वाभाविक समझने लगे थे। उनके हृदय और मस्तिष्कमें यह बात बैठ गई थी कि सवर्ण उनसे कोई अन्याय नहीं करते, यह तो भगवानका बनाया हुआ नियम है। इसे बदलनेकी कोई इच्छा भी उनके हृदयमें उत्पन्न नहीं होती थी। अपने से छोटेको हीन व अस्पृश्य माननेकी परम्परा इन जातियोंमें भी जड़ जमाती गई। अस्पृश्य जातियोंमें अपनी दयनीय स्थितिके विरुद्ध असंतोष व विद्रोहकी भावना आनेकी संभावना ही नहीं थी। वे यह कल्पना करना भी भूल गई कि सब मानव समान रूपसे मंगलमय भगवानकी सृष्टि हैं और कोई छोटा बड़ा नहीं है। केवल शारीरिक रूपसे नहीं, उनका मन और मस्तिष्क भी इतना परतन्त्र और पतित बन गया था कि वे इसे सनातन धर्मका अंग मानकर जहाँ स्वयं भी इस प्रथाका पालन करते थे, वहाँ इसमें किसी प्रकारका अनौचित्य भी नहीं देख सके। देखते भी कैसे, वे स्वयं भी अपने से हीन जातियोंके साथ अस्पृश्यताका अमानुष व्यवहार करनेमें कतई असुविधा अनुभव नहीं करते थे। अस्पृश्यता-युक्त हिन्दू धर्मपर पूर्ण निष्ठा व आस्थाका ही यह परिणाम था कि सदियों तक कुत्तोंसे भी बुरा व्यवहार सहते हुए उन्हें हिन्दू धर्म छोड़नेकी कभी इच्छा भी नहीं हुई। वे यह सम्भावना भी नहीं कर सके। वस्तुतः संसारके इतिहास का यह बहुत बड़ा आश्चर्य है कि जिन करोड़ों भाइयोंको सवर्णोंने सदियों तक इस प्रकार पददलित किया, उन्हें मानव तक समझनेसे इन्कार किया, वे सवर्णों की सी और वस्तुतः उनसे भी अधिक आस्थाके साथ राम-कृष्णकी पूजा करते रहे, हिन्दू देवी देवताओंकी आराधना करते रहे और उनकी दयनीय स्थितिके एकमात्र कारण भूत ब्राह्मणों तथा स्मृतियोंको भी अनन्य आदरकी दृष्टिसे देखते रहे, उनके प्रति असंतोषकी चिनगारी भी उनमें पैदा नहीं हुई। इस प्रकार का उदाहरण इतिहासमें दुर्लभ ही है।

संतोंकी शिक्षाएं

समय-समयपर अनेक सन्त व भक्त हुए, जिन्होंने छोटे-बड़े व छूत-अछूतका भेद भूल जानेका उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि सब मंगलमय भगवानकी सृष्टि हैं, उनकी दृष्टिमें कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, सब एक समान हैं। हरिका भजन करनेसे कोई भी हरिका प्यारा बन सकता है। इन सन्तोंके उपदेशोंका प्रभाव कुछ समय तक रहता, पर अस्पृश्यताके बद्धमूल संस्कार शिथिल नहीं हो पाते थे। अस्पृश्य जातियोंकी स्थिति इन सन्तोंके उपदेशोंसे ऊँची न हो सकी। इसका कारण था कि इन संतोंने अछूत-पनके विरुद्ध जोरोंके साथ वैसा आन्दोलन नहीं किया जैसा सदियोंसे चली आनेवाली इस प्रथाको दूर करनेके लिए आवश्यक था। कहीं एक चाकूसे वृक्षका तना कट सकता है, उसके लिए जबरदस्त कुल्हाड़ा चाहिए था। सन्त उसका प्रयोग नहीं कर पाये। कुछ सन्त तथाकथित हीन जातियोंमें भी हुए, किन्तु उनकी शिष्य श्रेणीमें सवर्ण सम्मिलित नहीं हो सके, वे केवल उनका आदर करके रह गये।

अस्पृश्यताकी चरम सीमा

इस तरह छूतछातकी यह कलंकपूर्ण प्रथा सदियों तक अविच्छिन्न भावसे निरन्तर चलती गई और फैलती गई। दक्षिण-भारतमें इसे जो पोषण मिला, वह चरम सीमा तक पहुँच गया। वहाँ अछूतोंके जानेके लिये अलग रास्ते नियत कर दिये गये, ताकि उनकी परछाईं भी ब्राह्मणोंपर न पड़ जाय। वेद मंत्रों या गायत्रीका सुन लेना भी असवर्ण जातियोंके लिए पाप करार दिया गया। अनेक दलित जातियोंको विवाह या अन्य किसी मौक़ेपर पालकीमें बहूको ले जाने, घोड़ेपर वरके चढ़ने तथा सोने-चाँदीके ज़ेवर पहननेपर भी कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए। उत्तर प्रदेश तकमें भंगीका कंधेपर लाठी उठाना, या चमारिनका पैरोंमें बिछुए पहनना, भी भारी अपराध माना जाता था। यह सब केवल शाब्दिक क़ानून नहीं थे, बल्कि इनका उल्लंघन करनेपर हरिजनोंको वे कठोर यातनाएँ दी जाती थीं, जिनको देखना या सुनना भी हृदयको कँपा देता था। कुओंपर सवर्णों के साथ पानी भरना एक अक्षन्तव्य अपराध माना जाता था।

पंजाब, सिन्ध और सीमाप्रान्त आदि उत्तर भारतके भागोंमें अस्पृश्यता इस चरम सीमा तक नहीं पहुँची थी, इसका भी संभवतः एक कारण था। उत्तर भारत तथा विशेष-कर पंजाबके निवासियोंको सदियोंसे विदेशियोंके सम्पर्कमें रहना पड़ा, जो विदेशी आक्रामक आते थे, उनमेंसे बहुतसे वहाँ बस जाते थे। उनके साथ निकट सम्पर्कमें रहने के कारण हिन्दू धर्मके कठोर कर्तव्य, व्रत, जप-तप आदिके अनुष्ठान और पालन उत्तरी भारतमें संभव नहीं रहे थे। विदेशोंसे आनेवाली आक्रामक जातियों—यूची, हूण और शक और बादमें पठानों व मुग़लोंके आक्रमणोंकी परम्परा थोड़े या बहुत समयके अन्तर से प्रायः जारी रही। इनके सम्पर्क और व्यवहारके कारण हिन्दू अपने "धर्म" के अत्यन्त संकीर्ण दरवाजोंमें बंद नहीं रह सकते थें। फिर समय-समय पर होनेवाले संतोंकी वाणियोंका भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा, ऐसा मानना चाहिए।

उन्नीसवीं सदीमें राजा राममोहनराय और ऋषि दयानन्दने जो क्रांतिकारी संदेश दिए, जिसके कारण अस्पृश्यता व छूतछात और जात-पाँतके दृढ़ संस्कारोंको पहली वार चोट लगी। अस्पृश्यताका मूल वस्तुतः जन्मसे जात-पाँतमें था। ऋषि दयानन्द

ने उसीपर चोट की। उन्होंने प्राचीन धर्मशास्त्रोंके आधारपर सिद्ध किया कि जात-पाँतका कोई महत्व नहीं।

ऋषि दयानन्दकी शिक्षाओंको आर्य समाजने अपना लिया। पंजाबमें अछूतपनके विरुद्ध उसने एक तीव्र आन्दोलन किया और महात्मा मुंशीराम (पीछेसे स्वामी श्रद्धानन्द) ने मेघोंको अपनाना शुरू किया। उन्हें शिक्षा देने, उनका उपनयन संस्कार करने, उनके साथ भोजन करने आदिकी प्रथा आर्यसमाजोंमें चल पड़ी। हीन जातियोंमें उत्पन्न अनेक भाई आर्य कहे जाने लगे और समाजकी वेदीपर उनके धर्मोपदेश होने लगे। गुरुकुलोंमें दलित और सवर्ण बालक बिना किसी भेद-भावके एक साथ रहने, खाने और पढ़ने लगे। आर्य समाजने वस्तुतः उस कुसंस्कारपर चोट की थी, जो जंगकी तरह हमारे हृदयोंपर जम गया था परन्तु आर्यसमाजका क्षेत्र पंजाब तक ही सीमित रहा। उत्तर प्रदेश तथा अन्य अनेक समीपवर्ती राज्योंमें भी आर्य समाजने इस दिशामें कुछ प्रयत्न किए।

कांग्रेसके मंचसे

यह समय था जब भारतमें राजनीतिक चेतना जाग्रत होकर नागरिक अधिकार प्राप्त करनेकी अभिलाषा देशवासियोंमें उत्पन्न हो चुकी थी। दक्षिण भारतके दलित वर्गमें और विशेषकर अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त दलितोंमें विदेशी दासतासे मुक्त होनेके साथ-साथ सवर्णोंकी दासतासे भी मुक्त होनेके लिए असंतोष व जागृतिके लक्षण दिखाई देने लगे थे। अंग्रेज शासक उनकी इस नई भावनासे लाभ उठानेकी दूर-दर्शितापूर्ण नीतिके महत्वको समझने लगे थे। मुसलमानों और हिन्दुओंमें ही नहीं सवर्णों और दलितोंमें भी परस्पर विरोध, घृणा, और द्वेषभाव उत्पन्न करके अपने शासनको मज़बूत रखा जा सकता है, कमसे कम स्वराज्य आंदोलनको अधिक प्रभावशाली होनेसे बचाया जा सकता है, यह विचार अंग्रेजोंके हृदयमें उत्पन्न हो चुका था। इस तरह एक नया खतरा देशपर आने लगा था। यह भय था कि करोड़ों भारतीय राजनीतिक स्वराज्यके संघर्षसे अपनेको पृथक कर विदेशी शासनके पोषक बन जायंगे। दलितोंके सम्माननीय नेता श्री शंकरन नायरके भाषणोंसे इसका आभास मिलने लगा था। स्वामी श्रद्धानन्दकी दूरदृष्टिने इस खतरेको अनुभव किया और उन्होंने कांग्रेसके राजनीतिक मंचसे पहली बार छूत-छातको मिटानेके लिए अपनी ओजस्विनी वाणीमें राष्ट्रका आह्वान किया। अब तक अस्पृश्यताका यह कलंक देश और हिन्दू समाजको बहुत उच्छृंखल और कमजोर नहीं कर पाया था पर अब हमारी इस जाति गत भीषण दुर्बलताको समझकर विदेशी शासक उसका पूरा लाभ उठानेकी चिन्तामें था। ईसाई मुक्ति फौजके बूथटकरने रिफ़ार्म स्कीम कमेटीके सामने गवाही देते हुए कहा था कि भारतके ६॥ करोड़ अछूतोंको विशेष अधिकार मिलने चाहिए, क्योंकि ये भारतमें ब्रिटिश सरकार रूपी जहाज़के लंगर हैं। स्वामी श्रद्धानन्दने इस घटनाका उल्लेख करते हुए अमृतसर कांग्रेसमें एक हृदयस्पर्शी अपील की थी—"इस पवित्र राष्ट्रीय मन्दिरमें बैठे हुए अपने को मातृभूमिके प्रेम-जलसे शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि आजसे वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिये अछूत नहीं रहे, बल्कि हमारे भाई-बहन हैं।" स्वामीजीने मद्रासके गोखले हालमें भाषण देते हुए गंभीर चेतावनी दी कि यदि आपने अछूतोंको अपने साथ नहीं मिलाया, तो वह दिन

दूर नहीं जब आपके वे दलित भाई, जिन्हें आप पंचम कहते हैं, आपसे सब तरहका संबंध तोड़ देंगे।

स्वामी श्रद्धानन्दने उन्हीं दिनों यह सब देखकर महात्मागांधीके पास एक सुझाव भेजा था कि सभी कांग्रेसी अपने घरेलू कामोंके लिये एक-एक दलित नौकर रखें। स्वामीजीके सन्देशकी गंभीरता तथा महत्वको महात्मागांधीने अच्छी तरह अनुभव किया और अपने रचनात्मक कामोंमें अस्पृश्यता निवारणको सदा महत्वपूर्ण स्थान दिया। इस तरह महात्मागांधीके से महान व्यक्तित्व का बल पाकर अस्पृश्यता निवारणका संदेश देशमें बल पकड़ने लगा।

कम्यूनल एवार्ड

परन्तु अभी तक देश इस संदेशके महत्वको हृदयंगम नहीं कर पाया था। सदियों से लोगोंके दिलमें जड़ जमाये इस कुसंस्कारको उखाड़नेके लिए एक जबर्दस्त प्रहार की आवश्यकता थी और वह चोट की इंग्लैण्डके प्रधान मंत्रीके साम्प्रदायिक निर्णय (कम्युनल एवार्ड) ने। उन्होंने नए राजनीतिक संविधानमें ६ करोड़ अछूतोंको पृथक् करके अलग जाति बना दिया और उन्हें पृथक चुनाव का अधिकार दे दिया। इसका अर्थ था कि हिन्दू जाति सदाके लिए दो बड़े संघर्षशील भागोंमें विभक्त हो जाय। जो दलित जातियाँ सदियोंके अमानुष अत्याचार सहकर भी हिन्दू धर्मके प्रति अपनी आस्थाको शिथिल नहीं कर सकी थीं, वे इस निर्णयसे सदाके लिए हिन्दू जातिसे पृथक हो जाती थीं। सरकार पंजाबमें सिखोंको हिन्दुओंसे पृथक राजनीतिक इकाई बनानेमें सफल हो चुकी थी। यह नई चोट बहुत बड़ी और घातक थी। राष्ट्रपिता महात्मागांधीकी दूरदृष्टिने इस खतरेकी गंभीरताको समझ लिया और यह अनुभव कर लिया कि समझौतेको मानने का अर्थ है विशाल हिन्दू-समाजकी समाप्ति। उन्होंने इस निर्णयको बदलनेके लिए जब आमरण अनशनके व्रतकी घोषणा की, तब समस्त देश इस नए खतरेकी गंभीरताको समझने लगा।

महात्मा गांधीका हरिजन-आंदोलन

महात्मागांधीके महत्वपूर्ण उपवास, पूना में निर्णयकी कहानी देनेकी आवश्यकता नहीं है परन्तु यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस के बादसे हिन्दू जातिमें सामाजिक प्रगतिका नया अध्याय लिखा जाने लगा। महात्मागांधी यरवदा जेलसे ही हरिजन-आन्दोलन अथवा अस्पृश्यता-निवारण-आन्दोलनका संचालन करने लगे। उनके बलशाली व्यक्तित्व का सहारा पाकर यह आन्दोलन देशव्यापी हो गया। सब जगह हरिजनोंको अपनाने, उनकी उन्नति करने व उनकी सहायता करने की प्रवृत्तियोंने साकार रूप धारण कर लिया। हरिजन-सेवक-संघकी स्थापना हुई, हरिजन बालकोंके लिये पाठशालायें खुलीं, उन्हें छात्रवृत्तियाँ दी जाने लगीं, उनकी बस्तियों की सफाई होने लगी, बालकोंको साबुन, कपड़े बांटे जाने लगे और उनके लिए पानीकी व्यवस्थाकी गयी। सैकड़ों कुएँ हरिजन बस्तियोंमें खोदे जाने लगे। किन्तु इन सबसे अधिक महत्व दिया गया मंदिरोंमें हरिजनोंके देव-दर्शन अधिकार को। धर्म-प्राण हरिजन जनता जिस तरह सवर्ण हिन्दुओं द्वारा दुरदुराये जानेपर भी राम-कृष्ण या शिवकी भक्ति

करती आ रही थी, उसे मंदिरोंमें प्रवेश और देव-दर्शनका अधिकार जिस तरह संतुष्ट कर सकता था वैसी भौतिक सामग्री नहीं। मंदिरोंमें आकर वे हिन्दू धर्मसे सम्पर्क घनिष्ट कर सकते थे। नानाविध षड्यंत्रोंसे उनकी इस आस्थाको शिथिल करके विशाल हिन्दू समाजको ही जिस तरह दुर्बल करनेका प्रयत्न किये जा रहे थे, उनको तोड़ने के लिए देव-दर्शनका अधिकार एक अमोघ साधन था। देवोंके मन्दिरोंमें ही सबसे घोर अमानुषिकताके कलंक पूर्ण कृत्यको समाप्त होना चाहिए था। वहाँ यदि समानता क़ायम होती है, तो फिर अन्य सांसारिक क्षेत्रोंमें भी उसे प्राप्त करना कठिन न था। देव मन्दिरसे पवित्र स्थान कौन हैं, वहाँ उनका निर्वाध प्रवेश हिन्दू-जनताके मानसको बदल सकता था। और हरिजनोंमें भी आत्मविश्वास और समानताका गौरवपूर्ण भाव उत्पन्न कर सकता था। फलतः बहुत-से मंदिर हरिजनोंके लिए खोल दिए गए। कुछ मंदिरों में प्रवेशके लिए संघर्ष भी करना पड़ा। अबतक भी यह संघर्ष कहीं-कहीं जारी है। महात्मा गांधीने अस्पृश्यता निवारणको सवर्ण हिन्दुओंकी शुद्धि और आत्म-सुधारके लिए प्रायश्चित्तका नाम दिया। उन्होंने घोषणा की कि हिन्दुओंने मानव जातिके एक बड़े भागको दलित करके अमानुषिक अत्याचारका जो पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त उसे करना होगा। हरिजनोंके विकास या सुधारका प्रश्न नहीं, सवर्णोंको आत्मोद्धार करना होगा और प्रायश्चित्त स्वरूप हरिजनोंकी उन्नतिके लिए सब प्रकारका त्याग करना होगा। महात्मा गांधीने हरिजन कार्यके लिये देशव्यापी दौरे किए और जनताने मुक्तहस्त होकर उनकी झोली भर दी। इस प्रकार उनके नेतृत्वमें हरिजन सेवा और अस्पृश्यता-आंदोलन का नेतृत्व देशमें जड़ पकड़ने लगा।

धीरजकी सलाह ठुकरा दी गयी

कुछ सनातन धर्मी भाइयोंने महात्माजीको यह सलाह दी कि सदियोंके संस्कार एक झटकेमें दूर नहीं हो सकते। आप बहुत तेज दौड़ना चाहते हैं। यह काम शनैः-शनैः करना होगा, इसके लिए धीरज रखिए, मन्दिर प्रवेशके लिए एकदम आग्रह मत कीजिए। परन्तु अब धीरजके लिए समय नहीं था। यह हिन्दू जातिके अस्तित्वका, उनके जीवन-मरणका प्रश्न था। अस्पृश्यता निवारण बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था, इसमें देर नहीं की जा सकती थी। विरोधको सहन किया जा सकता है, परन्तु धीरज और प्रतीक्षा का तत्वज्ञान बड़ा भयंकर है। अमेरिकन स्वातंत्र्य-वीर विलियम लायड गैरिसनने जब कमर कसके गुलामीका विरोध करना शुरू किया, तो व्यवहार-कुशल लोग उससे कहने लगे—"ऐसी बेवकूफी मत करो, जरा सोच-समझकर काम करो।" तब उसने गुस्से में आकर यह जवाब दिया था, कि "धीरे-धीरे क़दम रखना मैं नहीं जानता। तुम्हारे घरमें आग लग रही हो, तब तुमसे कोई यह कहे कि नल जरा धीरे-धीरे खोलो और पानी जरा थोड़ा-थोड़ा डालो, तो तुम उसकी बात कितनी सुनोगे? अपना घर लूटनेवाले चोरका विरोध धीरे-धीरे तुम कैसे करोगे? अपनी मातापर अत्याचार करनेमें प्रवृत्त नराधमका प्रतिकार धीरे-से किस तरह कर सकोगे?" सुधार या प्रगति भले ही आराम के साथ हो, परन्तु अन्यायकी जड़ तो एक ही झटकेसे उखाड़ फेंकनी चाहिए, या खुली आँखों उसे देखते रहने वाले हम लोगोंका सर्वथा नाश हो जाना चाहिए। गांधीजीने भी इस आंदोलनको और अधिक तेजीसे चलानेका निश्चय कर लिया।

जनमतके प्रभावमें आकर सरकारोंने भी हरिजनोंको अनेक सुविधाएँ प्रदान कीं। स्थान-स्थानपर हरिजनोंके विकास और उन्नतिके लिये प्रयत्न किए गए, इसका प्रभाव भी अच्छा हुआ और हरिजन कार्यकर्त्ताओंमें आत्माभिमान जाग्रत होने लगा। हरिजनोंको नौकरियोंमें भी तरजीह दी जाने लगी। पूना पैक्टके कारण भी हरिजनोंको ऊँचा उठने का अवसर मिला। विभिन्न राज्योंमें उन्हें धारा सभाओंकी सदस्यता मिली।

दूसरा पहलू

किन्तु इस समस्त हरिजन-आन्दोलनका एक दूसरा पहलू भी है। वस्तुत: इस आन्दोलनमें हरिजन-सेवाका रूप, जात-पाँतकी समाप्ति, अस्पृश्यता निवारणपर अधिक हावी हो गया। लोगोंमें यह भावना उत्पन्न हुई कि मानवताका तकाज़ा है कि कोई वर्ग उपेक्षित, अनुन्नत या हीन न रहे। हरिजन भी हमारे एक अभिन्न अंग हैं, उनके साथ सामाजिक व्यवहार, रोटी-बेटीका संबंध भी हमें करना चाहिए, यह भावना हृदयमें घर नहीं कर सकी। हरिजन सामाजिक और शिक्षा-संबंधी उन्नति अवश्य कर रहे थे, पर वे सवर्ण हिन्दुओंमें आत्ममात् नहीं हो रहे थे। असवर्ण और सवर्णका भेद-भाव मिटाकर एकआत्मकता नहीं आ रही थी। आर्यसमाजने इस दिशामें कुछ काम किया था। गढ़वालके हरिजन अपनेको आर्य कहने लगे थे। उनके साथ खान-पान भी चलने लगा था, किन्तु गांधीजीके हरिजन-आंदोलनमें एक ऐसी पृथक जाति खड़ी कर दी, जो अपनी एक स्वतंत्र सत्ता और अधिकारोंपर ज़ोर देने लगी। अपनी योग्यता बढ़ाकर —अपनी सामाजिक कमजोरीको दूर करके सवर्णोंके साथ अपनेको आत्मसात् करनेकी भावना उनमें उत्पन्न नहीं हुई। सरकारी क़ानूनने भी उन्हें पृथक विशेष प्रतिनिधित्व देकर आर्यसमाजके किए हुए कामको भी धूलमें मिला दिया। जो दलित शिक्षा प्राप्त करके अपनेको आर्य कहने लग गए थे वे भी क़ानूनका लाभ उठाकर पुन: अपनेको हरिजन कहने और उनका प्रतिनिधि बनकर धारा-सभाओंमें जानेका प्रलोभन नहीं रोक सके। शेष दलित साधारण जन हरिजनोंको दी जानेवाली सुविधाओंका लाभ उठानेके लिए प्रयत्नशील हुए। यह स्वाभाविक था और इसके लिए हरिजनों या उनके कार्यकर्त्ताओंको दोष नहीं दिया जा सकता। कुछ हरिजन नेताओंने हरिजन जनतामें उत्पन्न आत्माभिमानको हिन्दू सवर्णोंके विरुद्ध अपने नेतृत्वके लिए भी प्रयुक्त करना आरम्भ किया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि "हरिजन" नामसे एक पृथक शक्ति संगठित हो गई, जो अपने नागरिक अधिकारोंके लिए संघर्षमें प्रवृत्त हो गई। कर्त्तव्यकी अपेक्षा अधिकारकी भावना स्वभावत: आकर्षक व प्रबल होती है। यह भी ठीक है कि सवर्ण हिन्दुओंने भी हरिजनों व दलितोंको सर्वात्मना नहीं अपनाया।

अस्पृश्यता निवारण का कानून

१९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ और सबसे पहले उसे अपना संविधान बनाना था। आजकल किसी भी देशमें संविधान बनाते हुए नागरिकके अधिकारोंका निश्चय करना होता है। भारतीय संविधान निर्माताओंने गांधीजीके नेतृत्वमें हरिजन-आंदोलनमें सक्रिय भाग लिया था। संविधानके निर्माणका कार्य डा० अम्बेदकर क़ानून मंत्रीको सौंपा गया था। वे स्वयं हिन्दुओंकी इस पापमूलक प्रथाके कटु अनुभव प्राप्त कर चुके

थे। कांग्रेसने अस्पृश्यता निवारणकी प्रतिज्ञाको बीसियों बार दुहराया था। परिणामत: संविधानने दो महत्वपूर्ण घोषणाएँ की :—

१—क़ानूनकी दृष्टिमें सभी नागरिक एक समान हैं। नौकरी, कारोबार आदि में जात-पाँत, लिंग व धर्मकी दृष्टिसे कोई भेद भाव नहीं किया जायगा।

२—अस्पृश्यताको क़ानूनी तौरपर अपराध ठहरा दिया गया।

नयी प्रवृत्तियां

इन दोनों घोषणाओंका हरिजनोंकी दृष्टिसे बहुत महत्व था, हरिजनोंकी उन्नति में आनेवाली सब बाधाएँ इससे दूर हो जाती थीं। किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे अस्पृश्यता व छूतछातको दूर करनेके लिए केवल क़ानून काफ़ी नहीं हैं। हृदय या मानस संस्कार केवल क़ानूनसे ही नहीं बदलते। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो यह कि समस्त समाजका वातावरण बदलना होता है। लोगोमें शनै:-शनै: निरन्तर प्रचार व परिस्थिति द्वारा ऐसा वातावरण बना देना चाहिये, जिससे लोग छूत-छातके ख्याल तक को दिलमें न लावें? क़ानून तो केवल मार्ग साफ़ करता है, परन्तु उस पर चलनेके लिए विवश नहीं करता। इसका प्रयत्न किया गया कि दलित जातियोंके प्रतिनिधि ऊँचे स्थानोंपर लिये जांय। वे जिन पदोंपर पहुँचे, वहाँ उनका सम्मान आवश्यक और अनिवार्य था। अस्पृश्यताका पालन वहाँ संभव ही नहीं था। फिर भी अवनत को उठानेके लिए विशेष सहारेकी आवश्यकता होती है। आखिर सदियोंसे पददलित भाई, सामाजिक योग्यता व संस्कृतिमें दूसरे नागरिकोंके समान धरातल पर एकदम आ नहीं सकते थे। उन्हें विशेष सहारा देना आवश्यक कर्तव्य था और ऐसा करनेमें कोई संकोच नहीं किया गया। चुनाव बालिग मात्र तक व्यापक कर दिया गया था। इससे जन सामान्य तक उम्मीदवारोंको पहुँचना पड़ा और राजनीतिक शिक्षाका प्रसार हुआ। उन्होंने दलित जातियोंकी भी उपेक्षा नहीं की और यदि वे ऐसा करते, तो उन्हींके लिए खतरा सिद्ध होता। सवर्ण शिक्षित व सम्पन्नोंको वोट लेनेके लिए दलित जातियोंका हार्दिक सहयोग अनिवार्य होनेसे छूत-छातकी समाप्तिमें बहुत बड़ी सहायता मिली। दूसरी ओर उनको सम्मान मिला, जिससे उनका जीवन स्तर भी ऊँचा होने लगा। संविधानमें यों सबको समान अधिकार दिया गया, सम्मिलित चुनावकी प्रथा डाली गई, किसी वर्ग-विशेषको विशेष प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया तथापि दलितोंकी स्थिति ऊँची करनेकी दृष्टिसे एक और व्यवस्था की गई और वह यह कि संविधानमें १० वर्षोंके लिए दलितोंके लिए कुछ सीटें सुरक्षित कर दी गईं। चुनाव सम्मिलित होना था, परन्तु सुरक्षित स्थानोंपर दलित भाई ही जा सकते थे। इस व्यवस्थासे संसद और राज्योंकी विधान सभाओंमें दलितोंके प्रतिनिधि काफी संख्यामें पहुँच गए। केन्द्र व राज्यके मंत्रिमंडलोंमें भी दलित जातिमें उत्पन्न योग्य व्यक्ति लिये गये। इससे न केवल उनका सम्मान बढ़ा, उन्होंने अपने नये पदोंपर जाकर हरिजनोंको सब स्थानोंपर प्रोत्साहित करनेके विविध उपाय किये। अनेक नये क़ानून बनाए गये। इन क़ानूनोंके विस्तारमें जाने की आवश्यकता नहीं, परन्तु इनका रूप समझनेके लिए संक्षेपमें कुछ पंक्तियाँ लिख देन आवश्यक है।

शिक्षणालयों व उच्च शिक्षणालयोंमें हरिजनोंके लिए विशेष सुविधाएँ दी गईं। जहाँ विद्यार्थियोंकी सीमित संख्या हो वहाँ उनके लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये गए भलेही वे योग्यताकी दृष्टिसे कुछ नीचे स्तर पर भी हों। उन्हें छोटी-बड़ी छात्र-वृत्तियाँ विशेष रूपसे दी गईं। आयुकी मर्यादाका बन्धन शिक्षणालयों और नौकरियोंमें उनके लिए कुछ शिथिल कर दिया गया। सार्वजनिक स्थानों, दुकानों, होटलों, कुओं, शिक्षणालयों, पार्कों व मन्दिरों आदिमें उनके प्रवेशको क़ानूनी तौरपर अधिकार सम्मत करनेकी घोषणा की गई और इसमें बाधा डालना क़ानूनी जुर्म क़रार दिया गया। हरिजनोंको पढ़ने-पढ़ानेकी सब सुविधाएं दी गई। उनके लिए छात्रावास बनाए गए, उन्हें पढ़ने के लिए पुस्तकें व स्टेशनरी आदिकी सुविधाएँ विशेष रूपसे दी गई। हरिजन बस्तियों के सुधारपर विशेष ध्यान देनेके प्रयत्न किये गये। इस प्रकारकी क़ानूनी सुविधाएँ देनेसे इसमें संदेह नहीं कि हरिजनोंको विकासमें बहुत सहायता मिली। होटलों, दुकानों, वप्याउओंमें उनके लिए पृथक व्यवस्था क़ानूनी तौरपर जुर्म करार दी गई।

अनेक सार्वजनिक और सामाजिक संस्थाएँ तथा केन्द्र व राज्योंकी सरकारें अस्पृश्यों व दलितोंकी स्थिति सुधारनेमें लगी हुई हैं। कुछ समय पूर्व भारत सरकारने पिछड़ी हुई जातियोंकी उन्नतिके लिए काका कालेलकरकी अध्यक्षतामें एक उपसमिति नियत की थी। उसने अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं, यद्यपि इनपर सरकारका अभिमत अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है तथापि यह निश्चित है कि इनमेंसे अधिकांशपर अमल किया जायगा। स्वयं दलित भाई भी शिक्षा और आर्थिक स्थितिके सुधारमें लगे हुए हैं। सरकारकी विभिन्न आर्थिक योजनाओंकी पूर्त्तिसे भी जन सामान्यको अत: दलितोंको भी उन्नत होनेका अवसर मिलनेवाला है। समयका प्रवाह भी अस्पृश्यता व छूतछातको समाप्त कर रहा है। यह सब शुभलक्षण हैं और यह आशा की जानी चाहिए कि निकट भविष्यमें ही अस्पश्यताका अमानुषिक कलंक सदाके लिए इतिहासकी वस्तु बनकर रह जायगा।

——:o:-

पंचम खण्ड

महिला-जागृति

अबला, तेरी करुण कहानी!

नर और नारी दोनों ही मनुष्य हैं और दोनोंमें एक बहुत ही घनिष्ठ नैसर्गिक व प्राकृतिक सम्बन्ध है। एक तरहसे दोनों मनुष्यके आधे-आधे अंग हैं। नर-नारीके अभावकी पूर्त्ति करता है और नारी नरकी कमी पूरी करती है। पूर्ण मनुष्यकी निष्पत्ति नर-नारी दोनोंके संयोग व एकात्मकारमें ही है। शिवजीके विषयमें हिन्दुओंकी जो यह मान्यता है कि उनका आधा शरीर नर-रूप है और आधा शरीर नारी-रूप है, वस्तु-स्थितिकी दृष्टिसे असत्य या काल्पनिक मात्र होते हुए भी यह अनादि-अनन्त या चिरन्तन सत्य है। उससे बहुत ही सुन्दरताके साथ प्रगट होता है कि नर और नारी दोनों मनुष्य के अर्द्धाङ्ग हैं और दोनोंका संयोग ही पूर्ण मनुष्यकी प्रतिष्ठा या स्थापना है। अनेक देव-देवियोंकी कल्पना तथा सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण व राधा-कृष्ण आदिकी युगल रूपमें प्रतिष्ठा भी यही दृष्टिकोण प्रकट करती है। वैज्ञानिकोंकी यह धारणा कि आदि कालमें या सृष्टिके आरम्भमें एक ही व्यक्ति नर और नारी दोनों होता था, अथवा यह कि वस्तुतः नर और नारीके शरीर पूर्णतः समान हैं। केवल नरके कुछ विशेष अंग और नारीके कुछ दूसरे अंग विशेष उन्नत व विकसित हुए हैं, वह भी इसी सत्यका प्रतिपादन करती है कि नर और नारी मनुष्यके दो रूप हैं जिनमें परस्पर कोई विशेष या मौलिक अन्तर नहीं है। यौन-परिवर्तनकी घटनाएँ भी यही प्रतिपादित करती हैं।

कुछ विशेषज्ञोंका मत है कि नर और नारीकी शरीर-रचनामें जो विभिन्नता है, उसके कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी दोनोंके विकासमें अन्तर पड़ा है। इस मतके अनुसार समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, राज-व्यवस्था आदि अन्य वाह्य परिस्थितियोंको नर और नारीके मनोवैज्ञानिक या मानसिक विकासके अन्तरका श्रेय उतना नहीं है जितना शरीर-रचना-भेद-जन्य सम्पूर्ण स्वभाव व प्रकृतिके मूल या आधारभूत भेद को है। इस तरह भिन्न-भिन्न विशेषज्ञ अपनी खोजसे अलग-अलग परिणामोंपर पहुँचे हैं। यूँ सूक्ष्म विश्लेषण करें तो उनके परिणामोंमें परस्पर विरोध भी दिखाई देगा और ऐसी हालतमें मूल और अमूलका, कृत्रिम व प्राकृतिकका अथवा अंतरंग और वाह्यका अलग-अलग रूपोंमें देखना कठिन ही नहीं, असम्भव है। साथ ही जिन गुण-भेदोंके सम्बन्धमें मतैक्य है, उनमेंभी ऐसी सीमा निर्धारित करना दुःसाध्य है जिसके एक ओर स्वभाव हो और दूसरी ओर विभाव हो अथवा जो प्राकृतिक व कृत्रिमके ठीक मध्यमें हो। यही कारण है कि इसके विरुद्ध कुछ विद्वानोंका यह भी मत है कि नर-नारीमें शरीर-रचनाकी दृष्टिसे

अन्तर होते हुएभी गुणोंकी दृष्टिसे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जो कुछ अंतर दिखाई देता है, उसका कारण हजारों वर्षोंसे चले आए हुए संस्कारों तथा परिस्थितियोंकी वह विषमता है जिससे नर और नारीको विकासके लिये समान रूपसे सुविधाएँ नहीं मिल पातीं हैं। अनेक विशेषज्ञोंने मानव-प्रकृतिका गंभीर अध्ययन करके यह निर्णय किया है कि वास्तवमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे नर और नारी मूलतः एक हैं। शरीर-रचनाका भेद परिस्थितियोंमें भेद लाता है और फिर इन परिस्थितियोंके प्रभावसे नर-नारीके विकासमें अंतर पड़ता है।

सच यह है कि नर और नारी दोनों मानवके ही दो रूप हैं जिनमें मौलिक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है पर शरीर-रचनाकी विभिन्नता या लिंग-भेदके कारण जो परिस्थितियों में अनिवार्य रूपसे विभिन्नता होनी चाहिए उनके फल-स्वरूप दोनोंके मनोवैज्ञानिक व मानसिक विकासमें अन्तर पड़ना भी अनिवार्य हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप नारीमें कुछ गुणोंका विकास नरसे ज्यादा और नरमें कुछ गुणोंका विकास नारीसे ज्यादा होता है, जबकि दोनों ही मनुष्य होनेके नाते समान हैं, एक ही सिक्केके दो बाजू हैं, एक दूसरेके पूरक हैं, नर-नारी दोनों मिलकर पूर्ण मनुष्यका निर्माण करते हैं। नारी नर ही की अर्द्धांगिनी नहीं है, नर भी नारीका अर्द्धांग है या दोनों नर—नारी पूर्ण मनुष्यके अर्द्धांग हैं। वास्तवमें दोनोंका व्यक्तित्व अलग-अलग है, स्वतन्त्र है, कोई किसीमें समाविष्ट नहीं है। नर स्वामी है, तो नारी स्वामिनी है, नारी दासी है, तो नर दास है। दोनोंमें न कोई छोटा है, न बड़ा है। दोनों बराबर हैं।

पर जैसाकि सदैव होता आया है, पाशविक शक्तिने स्वार्थ और अहंकारके उन्माद में नर-नारी—समानताके इस ध्रुव सत्यके साथ बुरी तरह खिलवाड़ किया है। पुरुषने प्रकृति-दत्त शरीर-बल तथा अन्य सुविधाओंसे अनुचित लाभ उठाकर नारीको दीन-हीन पराधीन बनानेमें कोई कमी नहीं की और जब भी जैसा भी मौका मिला है, उसे अपनी सम्पत्ति, दासी, रस-केलि-पुत्तलिका बनाकर, उसे जड़तुल्य व स्पन्दनहीन मानकर निर्दयतापूर्वक रौंदा है, भस्मीभूत किया है और उसकी राखपर अपनी प्रभुताका, महत्ताका अपने भोग-विलास व ऐश्वर्यका, अपने आमोद-प्रमोदका महल खड़ा किया है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मानव-जीवनका इतिहास अपूर्ण और एकांगी हो, यदि उसमें चिर-शोषिता नारीके उत्पीड़नकी करुण कहानीकाव र्णन न हो। अतीत के अंधकारको चीरकर जहाँ तक इतिहासकी प्रकाश-किरण पहुँचती है, नारीका स्वतंत्र व्यक्तित्व ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता है। यूँ नारीकी प्रशंसाके नामपर बहुत कुछ लिखा गया है पर यथार्थमें वह स्वत्वशालिनी नारीकी प्रशंसा नहीं है बल्कि उस नारीकी प्रशंसा है, जिसने अपना व्यक्तित्व, अपना सम्पूर्ण स्वत्व पुरुषके चरणोंपर समर्पित कर दिया है और इस प्रकार वह नारीकी प्रशंसा नहीं, नरकी श्रेष्ठता व महत्ताका गुणगान है। खुलकर होनेवाली नारी-निन्दा तक ही नारी-निन्दा सीमित नहीं है, बल्कि नारी-प्रशंसाकी भूल-भुलैयोंमें भी नारी-निंदा का सागर उमड़ रहा है। इतना ही नहीं जीवन के हर अंगमें नारी-निंदा व्याप्त है। और नारीके वैषम्यकी जड़ें इतनी गहरी उतर गई हैं और हमारे दैनिक जीवनमें उनको कुछ ऐसा स्थान मिल गया है कि सहज उसकी अनुभूति ही नहीं होती। हमारी भाषा और मुहावरोंमें, अर्थ-व्यवस्थामें समाजके

ढाँचेमें, धर्म और राजनीतिमें, गरज यह कि जहाँ भी दृष्टि डालिए, नर महोदय अपने पैरोंपर, वृक्षके सदृश खड़े हैं और बेचारी नारी लताकी तरह उस वृत्तक्षसे लिपटी और टिकी हुई है।

नरका दमन शोषणचक्र इतने ज़ोरोंसे चला है कि उसने दृष्टि ही बिगाड़ दी है, यहाँ तक कि नारीकी सार्वजनिकता ही निन्दनीय मानी जाने लगी है। परिणाम यह है कि नरका सीधा संबंध समाजसे है किन्तु नारीका सम्बन्ध समाजसे नरके द्वारा अथवा नरकी अर्धाङ्गिणीके रूपमें ही है। रोज़मर्राकी बोल-चालके मुहावरोंको लीजिए, अंग्रेज़ीमें सार्वजनिक पुरुष (Public man) गौरव-सूचक शब्द है लेकिन सार्वजनिक स्त्री (Public woman) निन्दात्मक शब्द है, गाली है। विश्व-पुरुष विशेषण गाली नहीं है, पर विश्व-स्त्री गाली है। बात यह कि पुरुषने व्यापक दृष्टिसे स्वयंको देखा है पर स्त्रीको केवल यौन दृष्टिसे, और इसी भेदने नारीको नरकी सम्पत्ति समझी जानेकी वृत्ति-प्रवृत्तिको जन्म दिया है। नरको महान और नारीको हीन माननेकी छाप भाषा व उसके व्याकरणपर तथा मुहावरोंपर भरपूर है। स्त्री-संज्ञाका छोटी चीज़के लिए प्रयुक्त होना यूँ ही आकस्मिक नहीं है। पुरुषको ईश्वरकी संज्ञा मानना प्रयोजनहीन नहीं है। ऐसे सभी शब्द प्रयोगों व मुहावरोंका निर्माण व प्रचार पुरुषने अपनी प्रतिष्ठा व महत्ताको स्त्रीपर थोपनेके लिये किया है और उसे पूर्ण सफलता मिली है।

समाज-व्यवस्थापर दृष्टि डालें, तो वहाँ भी नारीकी यही दुर्दशा है। वह चिर-आश्रिता है। बचपनमें पिताके संरक्षणमें, यौवनमें पतिकी छायाके तले और वृद्धावस्थामें पुत्रके सहारे जीना ही उसके भाग्यमें बदा है। कभी भी उसका अपना अलग व्यक्तित्व नहीं है। न सम्पत्तिमें उसका अधिकार है, न सम्पत्ति-निर्माणपर उसका वश व नियंत्रण है। स्वावलंबन उसके जीवनसे दूर है, बहुत दूर है। पतन यहाँ तक है कि वह स्वयं एक देय पदार्थ है। विवाहमें उसका दान (कन्यादान) होता है। जिसके हाथोंमें चाहिए उसे सौंप दीजिए, और वह उसे हाँक ले जायगा, और पाले-पोसेगा। इसी स्थितिको लक्ष्यमें रखकर मैरोने कहा है[1] कि वह नारी, जो वेश्या बनकर अपना शरीर बेचती है और वह नारी जो विवाह-बंधनमें बँधकर अपना शरीर बेचती है, दोनोंमें मौलिक अंतर नहीं है, अंतर केवल मूल्यमें व मुआयदे (Contract) की अवधिमें है। फोरेलने उसी बातको इस तरह कहा है[2] कि विवाह वेश्या-वृत्तिका एक फैशनेबिल रूप है, जिसके द्वारा काम्य पदार्थका खुला सौदा होता है। और भी विचारकोंने ऐसी ही चुभती हुई खरी सच्चाईसे काम लिया है। सच यह है कि नारीको जो पद या स्थान समाज व

---

[1] The difference between the woman who sells herself in prostitution and the woman who sells herself in marriage is only a difference in price and duration of the contract.

—**Marro**

[2] Marriage is a more fashionable form of prostitution, that is to say, a mode of obtaining or disposing of, for monetary consideration and sexual commodity.

—***Forel***

परिवारमें मिला है, और विवाह-संस्थाको पुरुषने जिस तरह अपने स्वार्थ व अहंकारकी पूर्त्तिका साधन बनाया है, उससे सचमुच नारी बहुत ही नीचे गिरी है, या गिराई गई है और उससे समाजका सारा ढाँचा तरंगित हुआ है ।

सम्प्रदाय वाद या धर्मने नारीके इस शोषण व उत्पीड़नपर दैवी छाप लगाकर तो गजब ही कर दिया । किसी भी सम्प्रदाय या धर्मका साहित्य देखिए यह स्पष्ट हो जाएगा कि उसने स्त्रीको सदा तिरस्कृत व पददलित किया है ।

हिन्दू धर्म वा हिन्दू संस्कृतिको लें तो हम देखेंगे कि यहाँ नारीको निकृष्ट स्थान मिला है । हिन्दू-धर्म-ग्रंथोंमें स्त्री-निन्दापर जितनी सामग्री है, यदि उसे संग्रहीत किया जाय, तो एक अच्छे-खासे ग्रंथका निर्माण हो सकता है । वेदोंसे लेकर उपनिषदों, पुराणों, स्मृतिग्रंथों और साधारण काव्य ग्रंथों तकमें नारी-निन्दा भरी पड़ी है । मनु, याज्ञवल्क्य, दत्तात्रेय, शंकराचार्य, से लेकर सूर, तुलसी, कबीर सभीने नारी-निंदा की है । उस निन्दापरम्परामें नारीपर बुरेसे बुरे वाक्य व्यबहार किये गये हैं ।

इस तरह हिन्दू धर्म-ग्रंथोंमें असंख्य स्थलोंपर स्त्रीकी खूब जी-भरकर निन्दा की गई है और शायद कोई भी ऐसे बुराई, जिसकी कल्पनाकी जा सकती है, स्त्रीसे अछूती नहीं रखी है । दुनिया-भरके सभी दोष बेचारी स्त्रीपर लाद दिये गये हैं : हर तरह उसे लांछित किया गया है । यह कहावत "त्रिया-चरित जाने ना कोई, पतिको मारके सत्ती होई"—कितनी प्रचलित है और नारीका यह कितना बड़ा अपमान है ? और भी ऐसी बहुत-सी बेहूदी कहावतों व पेटेन्ट गालियोंका काफी रिवाज है जिनमें स्त्री निंद्य हैं । यह तो रही हिन्दू-धर्म व हिन्दू-संस्कृतिकी बात, । पर बौद्ध-धर्म व जैन-धर्ममें अथवा श्रमण-संस्कृतिमें भी नारीको निकृष्ट स्थान ही मिला है, बल्कि शायद इस विषय में हिन्दू धर्मसे वहाँ होड़ ही की गई है ।

जैन-धर्मने नारीको विषकी बेल कहकर त्याज्य कहा है[1] । ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्र आचार्यने कहा है—स्त्रियाँ वाणीमें अमृत रखती हैं, लेकिन हृदयमें विष भरे हुए हैं और वे स्वभावसे ही कुटिल हैं । स्त्री-पुरुषोंको वज्राग्निकी ज्वालाके समान और साँपकी दाढ़के समान भय तथा संताप देनेवाली है । क्रोधसे फुंकार मारती चलती हुई सर्पिणी का आलिंगन करना श्रेष्ठ है किन्तु स्त्रीको कौतुक मात्रसे आलिंगन करना भी उचित नहीं है क्योंकि सर्पिणी यदि काटे तो एक ही बार मरण होता है पर स्त्री तो नरककी पद्धतिके समान है । वह एक बार नहीं, बार-बार मरण कराकर नरकमें ले जानेवाली है[2] ।

---

[1] संसारमें विष-बेलि नारी तज गए योगेश्वरा ।

[2] धारन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम् ।
निसंगं कुटिला नार्यो न विद्मः केन निर्मिताः
वज्र ज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रेव केवलम् ।
वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी ।
वर मालिंगता क्रुद्धा चलल्लोलात्र सर्पिणी
न पुनः कौतुके नापि नारी नरकपद्धतिः ।

(ज्ञानार्णव, अ १२–२, ३, ५)

विधाताने यमराजकी जीभ अग्निकी ज्वाला, बिजली और विष, इस सबके सार भागका संग्रह करके यह स्त्री बनाई है, स्त्रियोंके दोष-समूहको कहनेके लिये वृहस्पति समर्थ नहीं और सुननेके लिये इन्द्र भी समर्थ नहीं, कोई भी स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन नहीं कर सकता। यही नहीं, यदि स्त्रियोंके दोष किसी प्रकार मूर्त्तिमान हो जाएँ, तो निश्चय ही उन दोषों से यह त्रिलोक परिपूर्ण हो जाय। निर्दयता, अनार्यता, अपवित्रता, मूर्खता, अति चपलता, वंचकता और कुशीलता, ये दोष स्त्रियोंके स्वाभाविक होते हैं। स्त्रियाँ ऐसी निर्दय होती हैं कि दान, सन्मान, संभोग, नमस्कार, आदर, शिष्टाचार, आदि खुशामदके कार्योंसे सेवा करनेमें तत्पर पति को भी मार डालती हैं[1]। यह दोषारोपण स्वयं इतना भयंकर है और नारीके प्रति किये जाने वाले अपमानजनक व्यवहारका इतना वीभत्स उदाहरण है कि इसके आगे और कुछ कहनेकी आवश्यकता न थी। परन्तु यहीं तक विष उगलकर शुभचन्द्रको संतोष नहीं हुआ। आगे बढ़कर उन्होंने बिना किसी अपवादके सभी स्त्रियोंको दुराचारिणी कह दिया है। उन्होंने कहा है कि सभी स्त्रियाँ कामदेव सरीखे पतिको परकर भी अन्य पुरुषकी वांछा करती है। उन्होंने यह भी कह डाला है कि इस जगतमें कोई भी ऐसा मंत्र औषधि या विद्या नहीं है जिससे स्त्री सद्भावको प्राप्त हो या कुटिलता रहित हो[2]। इन शब्दोंमें स्त्रियोंको कुटिल ही नहीं कहा गया है बल्कि उनकी कुटिलताको अपरिहार्य भी ठहरा दिया है। अन्य जैन ग्रंथोंमें भी स्त्री-निन्दा काफी है। सुभाषित रत्न-संदोहमें अमित गति आचार्यने कहा है कि स्त्रियाँ सर्वदा माया करती हैं, इनका मन कभी स्थिर नहीं रहता, ये उपकारीका भी कभी उपकार नहीं मानतीं। ये झूठ बोलनेमें चतुर होती हैं,

[1] यम जिह्वानल ज्वाला वज्र विद्युद्विषंकुरान्।
समाहृत्य कृता मन्य वेधसेयं विलासिनी ।।
यद्वक्तुं न वृहस्पतिः शतमुखः श्रोतुं न राक्षत्क्षमः।
तत्स्त्रीणामगुण व्रजं निगदितुं मन्ये न कोऽपि प्रभुः ।।
यदि मूर्त्ताः प्रजायन्ते स्त्रीणां दोषाः कथंचन।
पूरयेयुस्तदा नूनं निःशेषभुवनोदरम् ।।
निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमतिचापलम्।
वंचकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ।।
दान सन्मान संभोग प्रणति प्रतिपत्तिभिः।
अपि सेवा परं नार्यं घ्नन्ति नार्योऽतिनिर्दयाः ।।
(सान्तर्णव अ० १२-२०-५४, ५०, ६, ३८)

[2] स्मरोत्संगमपि प्राप्य वांछन्ति पुरुषान्तरम्
नार्यः सर्वा स्वभावेन वदन्तीत्य मलाशयाः
न तदस्ति जगत्यस्मिन् मणि मन्त्रोपवान्वनम्
विद्याश्च येन सद्भावम् प्रयासन्तीह योषितः
(ज्ञानार्णव, अ० १२-३१, २९)

कुलमें धब्बा लगा बैठती हैं[१]। आगे यहीं उन्होंने स्त्रीको 'धर्मारामभंक्त्री' धर्मकी जड़ काटनेवाली, निंदनीय, आदि अनेक पदवियाँ भी दी हैं। प्रसिद्ध जैन-ग्रंथ सागर-धर्मामृतमें भी स्त्री-निंदा की गई है। दिगम्बर जैन पंथने स्त्रीके लिये मोक्षका द्वार ही बन्द कर दिया है। इस तरह हम देखते हैं कि जैन-धर्म स्त्री-निंदामें हिन्दू-धर्मसे पीछे नहीं है और व्यावहारिक जीवनमें जैन-नारी हिन्दू-नारीकी तरह ही दबी-पिसी हुई है। यहाँ भी वही शोषण और उत्पीड़न है, वही पद-दलन है, वही मरण है।

बौद्ध-धर्मके साहित्यमें भी स्त्री-निन्दाकी भरमार है। वहाँ कहा गया है कि स्त्रियाँ असाध्वी होती हैं। उनका कोई समय नहीं होता, जैसे दीपककी शिखा सबको जला देनेवाली होती है, वैसे ही वे रागानुरक्त तथा प्रगल्भ होती है[२]। स्त्रियाँ माया हैं, मरीचि है, शोक हैं, रोग है, उपद्रव हैं, बंधन है, मृत्यु-पाश है, गुहा आशय हैं। जो मनुष्य उनका विश्वास करे, वह नरोंमें अधम नर है[३]। स्त्री बौद्धाचार्यने उपदेश देते हुए कहा है कि जैसे नदी, महामार्ग शराबखाने, धर्मशालाएँ तथा पियाऊ सबके लिये आम या सामान्य हैं, वैसे ही लोकमें स्त्रियाँ सबके लिये सामान्य होती हैं। बुद्धिमान लोग उनके विषयमें क्रोध नहीं करते[४]। यहाँ नारीको कितना नीचा गिरा दिया गया है? और भी काफी स्त्री-निन्दा बौद्ध साहित्यमें है। हिन्दू-धर्म व जैन-धर्ममे स्त्री-निन्दामें बौद्ध-धर्म पीछे नहीं है।

ईसाई-धर्ममें भी स्त्री-निंदा कम नहीं है। बाइबिलमें नारीको मारे अनर्थोंकी जड़ कहा है। योरोपके प्रसिद्ध लेटिन धर्म याजक टारटुलियनने नारीको संबोधित करते हुए लिखा है तू शैतानका दरवाज़ा है और तू दैवी नियम या धर्मका सबसे पहले परित्याग करनेवाली है।

सेन्ट अगस्टिन प्रत्येक स्त्रीमें चाहे वह माँ हो या बहिन हो हौएका निवास मानते थे। और भी ईसाई धर्मके साहित्यमें जगह-जगह स्त्री निन्दाके के वाक्य मिलते हैं। इसी तरह इसलाम यहूदी आदि भी सभी सम्प्रदायों ने कम ज्यादा स्त्रीकी बुराई की है। उसे 'नाकिसउल-अक्ल' मूर्ख कहा गया है। यहूदियोंमें तो प्रार्थना की जाती है कि हे प्रभु आपने बड़ी कृपा की कि हमें स्त्री नहीं बनाया। कुरानमें एक जगह ऐसा लिखा है कि

---

[१] शाश्वन्मायां करोति, स्थिर पति न मनो मान्यते नोपकारं।
या वाक्यं वक्त्यसत्यं, मलिन पति कुलं, कीर्त्ति वल्लीलुनाति॥
(सु० र० संदोह, ११६)

[२] असा लोकित्थियो नाम वेला तासं न विज्जति।
सारत्ता च पगब्भा च सिखो सब्बघसो यथा।
ता हित्वा पब्ब जिस्सामि विवेक मनु ब्रूहयं॥

[३] माया चेथा मरिचि च सोको रोगी चुपद्दवो।
खरा च बन्धना चेता मच्चुपासो गुहासयो।
ता सुयो विस्ससे पोसी से नरेस नराधमो।

[४] यथा नदी च पन्था च पाणागारं समापया।
एवं लोकित्थियो नाम नासं कुज्झन्ति पंडिता:॥

जब उसने (मुहम्मद साहबने) बहिश्तका नजारा देखा, तो उसे मालूम हुआ कि वहाँ रहनेवालोंमें बहुत ज्यादा लोग ग़रीब हैं और जब दोजख या नरककी तरफ देखा तो पता चला कि जो कम्बख़्त वहाँ बन्द है उनमें ज्यादातर औरतें हैं। चीन देशमें यह कहावत बहुत प्रचलित है कि ज्ञान जिस प्रकार पुरुषोंकी शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार अज्ञान स्त्रियोंकी सुन्दरता बढ़ाता है। गरज यह कि जिस धर्म व देशके साहित्यको देखिये, स्त्री-निन्दा वहाँ परिपूर्ण है।

इस तरह हिन्दू-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म, इसलाम और ईसाई-धर्म, इन सभी महान धर्मोंमें नारीको निकृष्ट स्थान मिला है। और छोटे-छोटे धर्मों या पन्थोंमें भी यही रफ्तारेबेढंगी हैं। नारीकी निन्दा सर्वत्र ओत-प्रोत है। स्त्री-प्रशंसाके वाक्योंका जहाँ प्रयोग किया गया है, वहाँ भी छलना है, धोखा है; क्योंकि वहाँ भी उसी नारीकी प्रशंसा है जो अपना स्वतंत्र स्थान नहीं रखती है बल्कि जो नर-रूपी वृक्षके ऊपर टिकी हुई बेल मात्र है। देशमें, समाजमें, परिवारमें, खुद अपने घरमें स्त्रीको कोई मान प्राप्त नहीं है। जब तक पुरुषकी कृपा-दृष्टि है वह सब-कुछ है, जहाँ पुरुष महोदय की दृष्टि फिरी कि वह कुछ नहीं, केवल पगकी जूती है, दासी है, अबला है।

——:०:——

श्री मोहनसिंह सेंगर

गाँधीजी और भारतीय नारी

गाँधीजी केवल एक राजनेता ही नहीं, एक सच्चे हितू और हृदयवान सखा भी थे। इसीलिये लोग राजनीतिके सिवा उनसे अपने घरेलू, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं की भी चर्चा किया करते थे। उस दृष्टिसे उन्होंने जितनी स्त्रियोंके मनको जीता, उनकी कष्ट-कठिनाइयोंमें मदद की, उतनी शायद ही और किसी भारतीय नेताने की होगी। इसका एक विशेष कारण था और वह यह कि चूंकि गाँधीजीकी राजनीति मानवतावादी थी, वे मानव और उसके भले-बुरे, नीति-अनीतिपर गंभीर नज़र रखते थे। दूसरे धर्मालु और नैतिकतावादी होनेके कारण गाँधीजी किसी भी अन्याय, अत्याचार या अनीति को सहन करनेको तैयार न थे। और जब उन्होंने राष्ट्रीय कार्योंके सिलसिलेमें देश के विविध भागोंकी नारियोंके सम्पर्कमें आकर अनुभव किया कि वे कितनी पराधीन और पिछड़ी हैं, तो उन्होंने उनकी अवस्था सुधारनेके कार्यको अपने कार्यक्रमका एक प्रमुख अंग बनाया। इसीलिए विशेष रूपसे बहनोंके विश्वास-भाजन बन सके।

अपने राष्ट्रीय आन्दोलनके दौरानमें गाँधीजीने अनुभव किया कि जिनका भारतीय सभ्यता और संस्कृतिमें इतना महत्वपूर्ण स्थान और योग रहा है, जो मनुष्यकी सहधर्मिणी रही हैं, वे आज शिक्षा-स्वत्वहीन पाँवकी जूती-सी बनी हुई हैं। और जब तक उनकी यह अवस्था है, देश क्या स्वराज्य हासिल कर सकेगा? क्या वह उससे लाभ उठा सकेगा? और यह बात उनके मनमें ऐसी कौंध गई कि न सिर्फ़ अपनी स्त्रीके प्रति उनका रुख़ बदला, बल्कि समूचे देशकी नारियोंके उद्धार, उनकी समानता और स्वतंत्रताके लिए उन्होंने आन्दोलन करना शुरू किया। धर्म और परम्पराके ख़िलाफ़ उन्होंने आवाज़ उठाई और यहाँ तक कहा कि "यदि धर्मशास्त्र नारीकी समानता और स्वतंत्रता के विरोधी हैं, तो मेरे लिए वे मान्य और पवित्र नहीं हैं!" उन्होने बाल-विवाह, जबरन थोपे गए वैधव्य, पर्दा, देवदासी-प्रथा, वेश्यावृत्ति, दहेज, विवाहिता स्त्री की अर्थनीतिक दासता आदिके ख़िलाफ़ बोल और लिखकर ज़बर्दस्त आवाज़ उठाई और डंकेकी चोट कहा कि "स्त्री और पुरुष हर दृष्टिसे बराबर हैं। जहाँ तक स्त्रियोंके अधिकारोंका सवाल है, मैं कोई समझौता नहीं कर सकता।" यही कारण है कि अपने आश्रमों और आन्दोलनोंमें गांधीजीने स्त्री-पुरुषोंमें कभी भेद नहीं किया। उनके चर्खा-संघमें तो बहनोंका ही प्रभुत्व हो गया। उन्होंने नारीको त्याग और सहिष्णुताका प्रतीक माना है और कभी भी प्रलोभनमें आकर अपने-आपको न बेचनेका उपदेश दिया

है। वे नारीको 'अबला' या 'दुर्बला' न मानकर सदा उससे अपनी आत्मा और शरीरको बलवान बनाने तथा बिना पुरुषके संरक्षणके रहने लायक बननेका अनुरोध करते रहते थे।

२० फरवरी, १९१८ के बम्बई भगिनी-समाजकी अध्यक्षता करते हुए आपने कहा था—"जब हम नारीके पुनरुद्धारकी बात कहते हैं, तो स्वभावतया उसमें यह बात तो आ ही गई कि उनकी स्थिति बड़ी ख़राब है।" इसके बाद आपने अपना अनुभव बताते हुए कहा कि—"देशके विभिन्न भागोंमें घूमकर मैंने यह अनुभव किया कि देशकी स्वाधीनताका जो आंदोलन चल रहा है, वह केवल १५ प्रतिशतमें ही; बाकी ८५ प्रतिशत इससे एकदम उदासीन हैं। ये शहरों या गाँवोंमें रहते हैं। कुछ करते भी हैं। एक-दूसरेकी मदद भी करते हैं। पर इनके जीवनमें एक तरहकी अपूर्णता है। इनमें स्त्रियोंकी जो दुरवस्था है, वह शास्त्रोंकी देन है और जिसे अंध-परंपराके रूपमें स्त्रियाँ मान रही हैं। हमारी स्मृतियोंमें स्त्रियोंके बारेमें जैसे आक्षेप हैं, उन्हें पढ़कर लज्जा आती है। पर शायद जल्दी ही हम उन्हें भूल जायेंगें।" पर उन्होंने कहा कि इनसे नारियोंको मुक्त करनेका काम स्त्रियोंको ही करना होगा। इस सम्बन्धमें उन्होंने कहा—"इसके लिए पहला प्रयत्न इस बातका करना होगा कि अधिकाधिक स्त्रियोंके मनमें उनकी वर्तमान स्थिति के संबंधमें एक जागरूकता पैदा करनी होगी। मैं यह नहीं मानता कि यह केवल पुस्तकीय शिक्षासे ही हो सकता है। उस दृष्टिसे काम करना इस कार्यको अनिश्चित कालके लिए स्थगित कर देना होगा, क्योंकि वैसा होने तक ठहरना क़तई आवश्यक नहीं है। हमारे देशकी स्त्रियोंको बिना शिक्षित किए ही उन्हें उनकी मौजूदा दयनीय अवस्थासे परिचित तो कराया ही जा सकता है।" आगे चलकर उन्होंने कहा—"नारी नरकी सच्ची सखा है और उसीके समान उसकी दिमाग़ी क्षमता है। उसे भी उतनी ही स्वतंत्रता है, जितनी कि पुरुषोंको और उसके हर काममें शामिल होनेका उसे भी पूरा अधिकार है। जिस प्रकार आदमी का अपने क्षेत्रमें उच्च स्थान है, उसी प्रकार नारी का भी उसके क्षेत्रमें उच्च स्थान है। यह स्वाभाविक स्थिति होनी चाहिये, पढ़ने-लिखने के बादकी नहीं। पर दुर्भाग्यवश केवल हानिकर परम्पराके कारण बड़े अज्ञ और निकम्मे पुरुष तक स्त्रियोंपर ऐसा प्रभुत्व पाए हुए हैं, जिसके न वे योग्य हैं, और न जो उन्हें मिलना ही चाहिए। हमारे अनेक आन्दोलन इसीलिए अधूरे रह जाते हैं कि हमारी स्त्रियोंकी स्थिति बड़ी दयनीय है।"

केवल शिक्षाके अभावके कारण कोई स्त्रियोंको दबाकर रखे या उन्हें कोई अधिकार न दे, इस विषयकी चर्चा करते हुए आपने कहा—"मैंने समय-समयपर कहा है कि केवल इसलिए कि स्त्रियाँ अशिक्षित हैं, आदमीके लिए उन्हें समान स्वतन्त्रता एवं अधिकारोंसे वंचित रखना उचित नहीं है; यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि इन नैसर्गिक अधिकारोंका उपयोग करने तथा उनका बुद्धिमत्तापूर्वक उपभोग करनेके लिए शिक्षा एक अनिवार्य आवश्यकता है। बिना शिक्षाके करोड़ोंके लिए अपने आपको समझना भी मुश्किल है। अनेक ग्रंथ हैं, जिनसे आनन्दकी उपलब्धि हो सकती है। पर जो शिक्षित नहीं, वे इससे वंचित ही रहते हैं। ऐसा कहना अत्युक्ति न होगा कि बिना शिक्षाका मानव पशुसे बहुत भिन्न नहीं है।"

स्त्री-शिक्षाका आदर्श

भगिनी-समाजके अपने भाषणके दौरानमें गाँधीजीने स्त्री-शिक्षाके सम्बन्धमें कहा—"शिक्षा स्त्रीके लिए भी उतनी ही ज़रूरी है, जितनी कि पुरुषके लिए। पर इसका मतलब यह नहीं कि दोनोंकी शिक्षा-प्रणाली भी एक ही हो। हमारी मौजूदा शिक्षा-प्रणाली ग़लतियोंसे भरी है और इससे स्त्री-पुरुष दोनोंको समान रूपसे बचना चाहिए। यदि आजकी शिक्षा-प्रणाली दोषहीन होती, तब भी मैं इसे सब दृष्टियोंसे स्त्रियोंके उपयुक्त न मानता।" इस विषयको उन्होंने और भी अधिक स्पष्ट किया २७ नवम्बर, १९२७ को जाफ़ना (लंका) के रामनाथन गर्ल्स कालेजकी भारतीय छात्राओंके सामने दिए गए अपने भाषणमें, जिसमें उन्होंने कहा—"यह कहना आसान है कि आप लोग ज़रा अधिक सादा और परिश्रमका जीवन बितायें। पर यह स्त्री-शिक्षाके प्रश्नके साथ खिलवाड़ करना-मात्र होगा।.... इस कालेजमें आप लोगोंको धार्मिक शिक्षा दी जाती है, यह अच्छा ही है। आपके यहाँ एक सुन्दर मन्दिर भी है। आपके टाइम-टेबुलसे पता चलता है कि आपका कार्यक्रम पूजा और प्रार्थनाके साथ शुरू होता है। यह सब अच्छा और व्यक्तिको ऊपर उठानेवाला है। पर यदि इस पूजा-प्रार्थनाको आप लोग नित्य-नैमित्तिक जीवनमें किसी व्यावहारिक कार्यके रूपमें परिणत न करें, तो यह सब एक सुन्दर दिखावे के सिवा और कुछ भी नहीं है।" आगे चलकर बापूने कहा—"आपके कालेज की पत्रिकामें बड़े गर्वके साथ यह विज्ञापित किया गया है कि पुरानी छात्राएँ क्या कर रही हैं। मैंने ४–५ ऐसे नोटिस भी देखे कि अमुकने अमुकसे विवाह कर लिया है। पर इन नोटिसोंमें मुझे एक भी लड़कीका उल्लेख नहीं मिला, जिसने केवल सेवा-कार्यके लिए अपना जीवन दे दिया हो। इसलिए मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि यदि शिक्षा द्वारा आप लोग गुड़िया बनें और शिक्षण-संस्था छोड़ते ही सार्वजनिक क्षेत्रसे अदृश्य हो जायँ, तो आपकी शिक्षाके लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं एवं जो खर्च किया जा रहा है, उसका कोई बड़ा फल नहीं निकल रहा।.... हर लड़की, हर भारतीय लड़की, केवल शादी करनेके लिए ही पैदा नहीं हुई है। मैं ऐसी कई लड़कियोंको जानता हूँ, जिन्होंने एक आदमीकी सेविका न बनकर सार्वजनिक सेवाके लिए जीवन उत्सर्ग कर दिया है।"

नारीकी सामाजिक स्थिति

यद्यपि गाँधीजीने नारीके लिए सेवा और पवित्रताके आदर्शकी बात कही है, पर मूलतः वे उसका क्षेत्र घर ही मानते थे। किन्तु इसमें उसकी आजकी-सी पराधीनता या हीन स्थिति वे कदापि स्वीकार करनेको तैयार न थे। उनका कहना था कि "यदि पुरुषके लिए कोई क़ानूनी अयोग्यता नहीं है, तो स्त्रीके लिए भी नहीं होनी चाहिए। स्त्रीके अधिकारोंके मामलेमें मैं कोई समझौता करनेको तैयार नहीं।" पर स्त्रीके सांपत्तिक अधिकारोंके बारेमें उनका कहना था—"अधिकांश स्त्रियाँ विवाहिता होती हैं और (सांपत्तिक अधिकार-संबंधी) क़ानूनी अयोग्यताके बावजूद अपने पतियोंकी सत्ता-सुविधाओं में हाथ बँटाती हैं। अक्सर वे इसी स्थितिमें खुश रहती हैं और विषमता दूर करनेके लिए उग्र सुधारों-संबंधी गरमागरम बहसोंमें चाहे जितना भाग लें, पर इस स्थितिको छोड़ना नहीं चाहतीं। इसलिए जहाँ मैं नारियोंकी सभी प्रकारकी कानूनी अयोग्यताओं

को दूर करनेकी सदा वक़ालत करता आया हूँ, मैं चाहूँगा कि भारतकी जाग्रत नारियाँ जड़-मूलसे इस समस्याका इलाज करें। नारी चूँकि त्याग और सहिष्णुताका प्रतीक है, अतएव उसका सार्वजनिक क्षेत्रमें आना इसे पवित्र बनानेके लिए होना चाहिए एवं उसे अबाध महत्वाकांक्षा और सम्पत्ति बनानेके लोभको संवरण करना चाहिए। उन्हें जानना चाहिए कि लाखों व्यक्तियोंके पास अपने उत्तराधिकारियोंके लिए छोड़ जानेको सम्पत्ति नहीं होती। इससे हमें यह नसीहत लेनी चाहिए कि जो इने-गिने लोग बच रहते हैं, उन्हें भी किसी पैतृक सम्पत्तिकी आशा नहीं करनी चाहिए। असली सम्पत्ति तो वह चरित्र और शिक्षा है, जो माँ या बाप अपनी सन्ततिके लिए समान रूपसे छोड़ सकते हैं। माँ-बापको अपने लड़के-लड़कियोंको आत्म-निर्भर और अपने पसीनेकी कमाईसे ईमानदारीके साथ जीविकोपार्जन करने लायक बनाना चाहिए। इसके विपरीत जो धनी अपने बच्चोंको माकूल शिक्षा न देकर पैतृक सम्पत्तिका गुलाम बना जाते हैं, वे उनकी प्रेरणाको मारकर उनमें ऐसी अकर्मण्यता पैदा कर जाते हैं, जिससे वे आलसी और आराम तलब ही होते हैं। आजके धनी घरोंके अधिकांश बच्चोंके अविकासका यही कारण है। जाग्रत महिलाओं का यह विशेष कर्तव्य है कि वे इस युगातीत बुराईको दूर करें।"

२८ नवम्बर, १९३६ के "हरिजन" में गांधीजीने बेजवाड़ासे प्रकाशित "इंडियन स्वराज्य" के उस लेखकी चर्चा की है, जिसमें स्मृतियोंके आधार पर स्त्रीके सम्बन्धमें कहा गया है—(१) पति चाहे जैसा भी चरित्रहीन, कामुक और दुर्गुणी क्यों न हो, स्त्री उसे परमेश्वर समझे (मनु० ५—१५४)। (२) स्त्रीका सबसे बड़ा धर्म यही है कि वह अपने पतिकी आज्ञाका पालन करे (याज्ञवल्क्य, १—१८)। (३) स्त्रीके लिये कोई अलग त्याग, तपस्या या व्रत-उपवास नहीं हैं। वह तो पतिकी सेवा करने-मात्रसे ही स्वर्ग में जाती है (मनु० ५—१४५)। (४) जो स्त्री पतिके जीतेजी व्रत-उपवास करती है, वह पतिकी आयु कम करती है और नरकमें जाती है। जो स्त्री पतिके पाँव या सारा शरीर धोकर पी जाती है, उसको सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है (अत्रि, १३६—३७)। (५) पतिसे ऊँचा स्थान स्त्रीके लिए और कोई नहीं है। जो पतिको अप्रसन्न रखती है, वह कभी भी उसके लोक को नहीं जा पाती। इसलिए उसे कभी भी पतिको अप्रसन्न नहीं करना चाहिए। (वशिष्ठ, २१—४१)। (६) जो स्त्री अपने पतिकी आज्ञा न मानकर पितृ गृहमें गर्वपूर्वक रहती है, राजाको चाहिए कि उसे जनताके सामने कुत्तोंसे नुँचवा दे (मनु० ८—३७१)। (७) पतिकी आज्ञा न माननेवाली स्त्रीके हाथका भोजन किसी भी व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। ऐसी स्त्री दुराचारिणी कही जानी चाहिए (आंगीरस, ६९)। (८) यदि पतिकी दुश्चरित्रता या शराबखोरी या बीमारीके कारण स्त्री उसकी आज्ञा न माने, तो उसके क़ीमती वस्त्राभूषण छीनकर उसे तीन मास तक अलग रखा जाना चाहिए (मनु० १०—७८)।

इसपर टिप्पणी करते हुए गांधीजीने लिखा—"यह दुःखकी बात है कि स्मृतियोंमें ऐसी बातें हैं, जिन्हें अपने समान ही नारीको स्वतंत्र देखनेवाला तथा उसे जगतजननी माननेवाला कोई भी व्यक्ति इज्जतकी निगाहसे नहीं देख सकता। यह इससे भी अधिक दुःखकी बात है कि पुराणपंथियों द्वारा प्रकाशित एक पत्रमें स्मृतियोंकी ये बातें ऐसे छपें,

मानो ये धर्मका ही अंग हों। यथार्थमें तो स्मृतियोंमें ऐसी बातें भी हैं, जो नारीको उसका उचित स्थान देती और उसे सम्मानकी दृष्टिसे देखती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जिन स्मृतियोंमें ऐसी परस्पर-विरोधी बातें हों, और जिनसे आदमीकी नैतिक मान्यताओं को ठेस पहुँचती हो, उनका क्या किया जाय? जैसा कि मैं पहले भी कई बार कह चुका हूँ कि यद्यपि इन्हें धर्मशास्त्रके नामपर प्रचारित किया गया है, हमें इसे ईश्वर-वाक्य या इलहाम ही नहीं समझना चाहिए। फिर हर एक के लिए यह तय करना भी मुश्किल है कि क्या अच्छा और अधिकृत है एवं क्या बुरा और प्रक्षिप्त है। इसलिए अधिकारी विद्वानोंकी कोई ऐसी संस्था होनी चाहिए, जो धर्मशास्त्रोंके नामपर चलनेवाले इन सब ग्रंथोंको दोहराये और इनमेंसे जिन बातोंका नैतिक मूल्य नहीं है अथवा जो धर्म और नैतिकताके मूलभूत सिद्धान्तोंके विपरीत हैं, उन सबको निकाल दे और हिन्दुओंके मार्ग प्रदर्शनके लिए इनका अधिकृत संस्करण तैयार कराये।" एक अन्य स्थानपर उन्होंने लिखा—"जो स्त्री सम्यकरूपेण अपने कर्तव्य का पालन करती है, वह अपनी प्रतिष्ठापूर्ण स्थितिसे अपरिचित नहीं। वह घरकी दासी नहीं, रानी है।" (हरिजन, १२–१०–३४)

२४–२–१९४० के "हरिजन" में गांधीजीने स्त्रियोंकी स्थितिके सम्बन्धमें एक बहनका पत्र छापकर लिखा है—"जब तक हम यह समझते रहेंगे कि स्त्रीके साथ पुरुषसे भिन्न व्यवहार होना चाहिए, इस समस्याका कोई सही हल संभव ही नहीं। अंततः यह निर्णय तो अधिकारपूर्वक स्त्रीको ही करना पड़ेगा कि वह क्या चाहती है? मेरा अपना ख़याल यह है कि चूँकि मूलतः स्त्री और पुरुष एक हैं, सार रूपमें उनकी समस्याएँ भी एक ही होनी चाहिए। दोनोंकी आत्मा एक है। दोनोंकी भावनाएँ एक हैं दोनों एक-सा जीवन बिताते हैं। दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। दोनों एक-दूसरेकी सक्रिय सहायताके बिना नहीं रह सकते। किन्तु किसी प्रकार युगोंसे पुरुष नारीपर प्रभुत्व करता आया है और इसी कारण स्त्रीमें एक प्रकारकी हीनता की भावना है। उसने आदमीकी इस स्वार्थपूर्ण शिक्षाको ही सच माना है कि वह पुरुषसे हीन है। पर पुरुषोंमें जो उच्चात्मा हुए हैं, उन्होंने सदा स्त्री-पुरुषकी समानताको ही माना है।"

महिलाएं और शान्ति

जब गांधीजी पहली गोलमेज़ कांफ्रेंसमें लंदन गए थे, तो लौटते हुए वे इटली आदि यूरोपके कुछ देशोंमें भी रुके थे। वहाँ हुई महिलाओंकी एक सभामें उनसे पूछा गया कि क्या स्त्रियाँ सैनिकवादके ख़िलाफ लड़ सकती हैं? इसके उत्तरमें गांधीजीने कहा—"यदि स्त्रियाँ सिर्फ़ यह भूल जायँ कि वे दुर्बल हैं, तो वे युद्धके ख़िलाफ पुरुषसे कहीं अधकि काम कर सकती हैं। इस प्रश्नका उत्तर आप लोग अपने मनमें दीजिए कि यदि आपके महान् सेनपतियों और सिपाहियोंकी पत्नियाँ, पुत्रियाँ और माताएँ उनके सैनिकवादमें भाग लेनेका विरोध करें, तो वे क्या कर सकेंगे?"

लूसेनकी एक दूसरी महिला-सभामें बोलते हुए उन्होंने कहा—"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि यूरोपने कभी अहिंसाका महत्व समझा तो वह यहाँकी स्त्रियोंके द्वारा ही संभव होगा। स्त्री आत्मोत्सर्गका प्रतीक है। पर दुर्भाग्यवश आज वह महसूस नहीं कर रही है कि पुरुषके मुकाबलेमें उसकी कितनी अधिक शक्ति है। टाल्स्टायका कहना था कि वे पुरुषके

जादूके प्रभावमें रह रही हैं। यदि वे स्वयं अहिंसाकी शक्तिको महसूस करलें तो अपने आपको दुर्बल कहलाना भी पसन्द नहीं करेंगी।"

इसी संबंधमें इटलीकी एक अन्य सभामें बोलते हुए आपने कहा—"अहिंसाकी लड़ाई की विशेषता यही है कि इसमें स्त्री भी पुरुषकी तरह ही भाग ले सकती है। हिंसात्मक युद्धमें स्त्रियोंको यह सुविधा नहीं है। भारतके पिछले अहिंसात्मक संग्राममें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँने अधिक महत्वपूर्ण भाग लिया। इसका कारण बड़ा सरल है। अहिंसात्मक संग्राममें अधिकतम त्याग करना पड़ता है और स्त्रियोंसे अधिक शुद्धता और भलमंसाहतसे कौन त्याग कर सकता है? भारतीय महिलाओंने पर्दा फाड़ फेंका और राष्ट्रके लिए काम करनेको घरोंसे बाहर आ गईं। उन्होंने देखा कि आज देश उनसे केवल घरोंकी देख-भालसे कुछ ज्यादा काम की अपेक्षा रखता है। (यंग इंडिया, १४–१–३२)

उपर्युक्त बातें गांधीजीने उस समय कही थीं जब कि हिटलर, मुसोलिनी और तोजो की दुरभिसंधिके कारण युद्धकी आशंकासे यूरोप त्रस्त था। पर कुछ समय बाद जब यह आशंका कम हो गयी तब एक अंग्रेज महिला मित्रने उन्हें लिखा—"जब मानवता विनाशके किनारे पहुँची हुई थी, आपका इस सम्बन्धमें कुछ कहना सर्वथा स्वाभाविक ही था। पर प्रश्न तो यह है कि क्या दुनिया आपकी बात सुनेगी?—जब यह समाचार आया कि फिलहाल लड़ाई टल गई है, तो हमें जो राहत मिली, जो खुशी हुई, ईश्वरके प्रति हमने जो कृतज्ञता दिखाई, वह मुझे जीवन-भर न भूलेगी। पर क्या वर्णनातीत विनाश, कष्ट-सहन, अपने कुटुम्बी लोगोंको एक देशके दूसरे द्वारा ज़लील किये जाने का भय ही हमारे युद्धसे घृणा करनेका कारण नहीं है? क्या हमें इस बातकी खुशी है कि एक दूसरे राष्ट्रको ज़लील कर युद्ध टाला गया है? यदि हमसे अपना आत्मसम्मान खोनेकी बात कही जाती, तो क्या हम इससे कुछ भिन्न महसूस करते? क्या हम इस लिए युद्धसे घृणा करते हैं कि हम इसे आपसी झगड़े तय करनेका एक ग़लत तरीका समझते हैं या इसके प्रति हमारे मनमें जो घृणा है, वह हमारे भयका कारण है? यदि संसारसे सचमुच युद्धका विनाश होना है, तो इन प्रश्नोंका भलीभाँति उत्तर दिया जाना चाहिए। संकट टल जानेके बाद हम देखते हैं कि पहलेसे भी अधिक तगड़ी दौड़ पुनः शस्त्रीकरणके लिए शुरू हो गई है और युद्धकालमें स्त्री-पुरुष, साधनों और ज्ञानका जितना बड़ा संग्रह नहीं होता, उतना अब हो रहा है! कोई यह नहीं कह रहा कि युद्ध नहीं होगा। क्या इसका यह अर्थ नहीं कि यद्यपि आज युद्ध टल गया है, पर उसकी संभावना डेमोक्लीजकी तलवारकी तरह हमारे सिरपर लटक रही है? एक स्त्रीके नाते मैं यह महसूस कर रही हूँ कि मेरी जाति अपनी भावना और विशेषाधिकारोंके कारण विश्व-शांतिके लिए जितना कुछ कर सकती थी, नहीं कर सकी।" इस पत्रको बिना किसी संकोचके ५–११–१९३८ "हरिजन" में प्रकाशित कर गाँधीजीने लिखा—"मेरा यह विश्वास है कि स्त्रीका यह मिशन है कि वह अहिंसाका उच्चतम और श्रेष्ठतम रूप उपस्थित करे। लेकिन इसकेलिए यह ज़रूरी क्यों हो कि पुरुष उसका हृदयमंथन करे?—संभव है कि कभी स्त्रियोंमेंसे कोई एक ऐसी निकले, जो मेरी कल्पनासे भी आगे जा सके, क्योंकि पुरुष की अपेक्षा स्त्री अहिंसाके क्षेत्रमें अधिक प्रयोग करने तथा अधिक दृढ़तासे कार्य करनेकी

क्षमता रखती है। आत्म-त्यागके साहसमें स्त्री पुरुषसे कहीं ऊँची है, भले ही पशु-बलमें पुरुष उससे कितना ही ऊँचा क्यों न हो।" इसी संबंधमें जुलाई १९४० में एबटाबाद में हुए महिला-सम्मेलनके प्रस्तावपर टिप्पणी करते हुए आपने लिखा—"मेरी ही तरह इन बहनोंका भी विश्वास है कि युद्ध-विरोधी संघर्षमें संसारकी महिलाएँ ही अग्रणी हो सकती हैं। यह उनकी विशिष्टता है।"

आधुनिक नारीके सम्बन्धमें गाँधीजीकी ग़लत धारणा

जहाँ गाँधीजीने नारीके युद्ध-विरोधी कर्त्तव्यका जिक्र किया है, इसके लिए उसकी अद्भुत क्षमताकी दाद दी है, वहाँ उन्होंने यह भी लिखा है—"मेरी रायमें यह स्त्री और पुरुष दोनोंका पतन है कि स्त्रीसे घर छोड़कर उसकी रक्षा के लिए बंदूक धारण करनेका अनुरोध किया जाय या उसे मजबूर किया जाय। यह तो फिर बर्बरताको लौट जाना और अंतका आरम्भ है। जिस घोड़ेपर पुरुष चढ़ा, उस पर चढ़नेकी कोशिश कर नारी अपनेको और उसको गिराती है।"

यहाँ हम अपने-आपको गाँधीजीके मतसे सहमत नहीं पाते। अगर स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं, अगर दोनों एक-दूसरेके पूरक और सहायक हैं, अगर स्त्री पुरुषकी सह-धर्मिणी और सहगामिनी है, तो घरकी रक्षाको निरा पुरुषका कार्य और कर्त्तव्य समझकर छोड़ देना अन्याय होगा। फिर आक्रमणात्मक और रचनात्मक युद्धमें अन्तर भी करना होगा। गाँधीजीके हिसाबसे तो पिछले महायुद्धमें जिन महिलाओंने अपूर्व कार्य किया, वे सब गुमराह थीं? युद्ध केवल पुरुषको या उसके घरको ही नष्ट नहीं करता, स्त्रियों और बच्चोंको भी; अतः उसकी विरतिका उपाय करना पुरुषके साथ स्त्रियोंका भी कर्त्तव्य है।

इसी प्रकार गाँधीजीने स्त्री द्वारा बाहरी काम करनेके सम्बन्धमें भी कहा है—"यदि लाखों स्त्रियाँ मजबूरन घर छोड़कर रोज़ी कमाने लगती हैं, तो यह भी ग़लत है—यद्यपि बन्दूक धारण करने जितना ग़लत नहीं। मूलतः परिश्रम करनेमें कोई बर्बरता नहीं है। स्त्रियाँ घरोंकी देख-रेख करती हुई स्वेच्छासे खेतोंमें काम करें, इसमें कोई बर्बरता नहीं देखता। मेरी कल्पनाकी नई व्यवस्थामें सभी अपनी क्षमताके अनुसार काम करेंगे और उन्हें श्रमके अनुपातसे ही पारिश्रमिक मिलेगा। नई व्यवस्थामें स्त्रियाँ अल्पकालिक काम ही करेंगी, उनका प्राथमिक कार्य तो घरकी देखभाल करना ही होगा।" (हरिजन, १२–३–४०)

युद्धमें नारीने बंदूक तो धारण नहीं की, पर पुरुषकी सहायिकाके रूपमें उसने जो कार्य किया, वह सर्वविदित है। किन्तु देशके विभाजनके फलस्वरूप शहरी अर्थव्यवस्था का जो ढाँचा टूटा, तो अनेकोंको घर छोड़कर अथवा घरकी देख-भालके साथ ही अपने और अपने परिवारके जीविकोपार्जनके लिए बाहर आकर काम भी करना पड़ा। अगर किसान-स्त्रीका खेतमें काम करना अनुचित नहीं तो यह कैसे ख़राब हो गया? इस बातको भुलाया नहीं जा सकता कि कामकाजी स्त्रियोंने जाने कितने परिवारोंको भूख और दरिद्रताका शिकार होनेसे बचाया है।

बाल और अनमेल विवाह

शारदा-बिल जब केन्द्रीय धारा सभामें पेश किया गया, तो श्रीमती डोरोथी जिनराज-दासने उसके समर्थनके लिए एक पत्र भेजकर गाँधीजीसे भी अनुरोध किया। इसके उत्तरमें गाँधीजीने लिखा—"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं बिलसे अनभिज्ञ हूँ, पर लड़कियों के विवाहकी उम्र बढ़ाकर १४ नहीं, १६ करनेके ज़ोरोंसे पक्षमें हूँ। विवाहकी तथाकथित रस्म-अदाईसे १४ वर्षकी लड़कीके साथ हुए विवाह-रूपी एक अनैतिक और अमानवीय कार्यको क़ानूनी नहीं माना जा सकता। जो कार्य अपने-आपमें अनैतिक है, उसे संदिग्ध संस्कृत श्लोकोंसे पवित्र नहीं बनाया जा सकता। मैंने बहुत-सी बाल-माताओंकी तन्दुरुस्ती चौपट होते देखी है और जब बाल-विवाहके साथ बाल-वैधव्यकी विभीषिका भी मिल जाती है, तब तो मानवकी यह दुखान्त कहानी सम्पूर्ण हो जाती है।" (यंग इंडिया, २७–८–२५) इसके बाद शारदा-क़ानून बना, पर १४ वर्षसे कम उम्रकी शादियाँ खुलेआम गाजे-बाजेके साथ जारी रहीं। हालहीमें पास हुए विवाह-क़ानूनमें यद्यपि लड़कीकी विवाहकी उम्र १८ वर्ष कर दी गई है, तथापि १४ और इससे भी कम उम्रकी लड़कियोंके विवाह बदस्तूर जारी हैं। ग्रामीण क्षेत्रोंमें तो १४ वर्षकी कोई लड़की शायद ही कुमारी मिले! इससे देशमें जो अहित हो रहा है, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

श्रीमती मार्गरेट ई० कज़िन्सने गाँधीजीको मद्रासकी अदालतमें चले एक मुक़दमेका विवरण भेजा था, जिसमें १३ वर्षकी बालिकाका २६ वर्षके एक पुरुषसे विवाह हुआ था और जो विवाहके १३ दिन बाद ही कपड़ोंमें आग लगनेसे जल मरी थी। अपने बयानमें लड़कीने कहा था कि उसके पतिने उसके कपड़ोंमें आग लगा दी, पर जूरीका निर्णय था कि अपने कामासक्त पतिके अमानुषिक दुर्व्यवहारको सह सकनेमें असमर्थ होनेके कारण लड़कीने कपड़ोंमें आग लगाकर आत्महत्या करली थी। इसपर टिप्पणी करते हुए गांधीजीने लिखा था—"कामान्धता कोई विवेक या दया नहीं जानती। लड़की कैसे मरी यह मुख्य प्रश्न नहीं है। निर्विवाद तथ्य तो ये हैं कि (१) लड़कीका केवल १३ वर्षकी आयुमें विवाह हुआ; (२) लड़कीको कामेच्छा नहीं थी, इसीलिए उसने अपने 'पति' की ज़बर्दस्तीका भी विरोध किया; (३) "पति" ने उसके साथ क्रूरताकी और (४) वह मर गई! इस तरहके क्रूर रिवाज़को धार्मिक स्वीकृति देना धर्म नहीं, अधर्म है। स्मृतियाँ परस्पर विरोधी बातोंसे भरी पड़ी हैं। उचित बात यही लगती है कि इसमें जो अंश स्वीकृत नैतिकताके —और खासतौरसे स्मृतियोंकी नैतिक मर्यादाके— प्रतिकूल हों, उन्हें प्रक्षिप्त मानकर निकाल देना चाहिए। आत्म-संयमकी प्रेरणादायक बातें उसी लेखनीसे कदापि नहीं लिखी जा सकतीं, जिससे कि मानवके भीतरके पशुको प्रोत्साहन देनेकी बातें लिखी गई हों। जो आदमी आत्मसंयमसे अनभिज्ञ और पापमें डूबा हुआ है, वही रजस्वला होते ही लड़कीका विवाह न करनेको बुरा कहेगा। रजस्वला होनेके कई वर्ष बाद भी लड़कीका विवाह कर देना पाप समझा जाना चाहिए। रजस्वला होनेके बाद कोई भी लड़की वैसे ही गर्भाधानके योग्य नहीं हो जाती, जैसे कि रेख निकलने पर कोई भी लड़का पिता बननेके उपयुक्त नहीं हो जाता। बाल-विवाह-की यह बुराई नैतिक और शारीरिक दोनों दृष्टियोंसे बुरी है, क्योंकि इससे नैतिकता तो नष्ट होती ही है,

शारीरिक ह्रास भी होता है। ....सामान्यतया १८ वर्षसे कम उम्रकी किसी लड़कीका विवाह होना ही नहीं चाहिए।" (यंग इंडिया, २६-८-२६)

गाँधीजीके उपर्युक्त विचारोंकी आलोचना करते हुए "यंग इंडिया" के एक पाठकने बाल विवाहके समर्थनमें उन्हें एक लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा, जिसपर टिप्पणी करते हुए गाँधीजीने लिखा—"पर क्या लेखक यह कह सकते हैं कि जिन कई मूल स्मृतिकारोंने आत्म-संयमपर अत्यधिक ज़ोर दिया है, उन्होंने ही छोटी बालिकाओंसे विवाह करने की बात लिखी होगी? क्या यह समझना अधिक उचित न होगा कि ऋषिलोग अपवित्रता अथवा मानव-शरीरके विकासकी मूल बातोंसे अनभिज्ञ नहीं हो सकते। पर यदि उन्होंने बाल-विवाहकी बात लिखी भी हो, तो हमें वैज्ञानिक जानकारी और सुनिश्चित अनुभव के आधार पर उसे अस्वीकार कर देना चाहिए। मैं इस कथन को सही नहीं मानता कि हिन्दू समाजमें सर्वत्र बाल-विवाह प्रचलित रहा है। यह जानकर मुझे दुःख होता है कि लाखों अबोध बालिकाओंका विवाह कर दिया जाता है और वे पत्नी बनकर रहनेको मजबूर होती हैं। पर हिन्दू-जाति कभीकी खत्म हो चुकी होती यदि उसमें लाखों लड़कियों का ११ वर्षकी उम्रमें विवाह हुआ होता।" (यंग इंडिया, ६-६-२६)

बंगालकी एक बहनने एक दस वर्षीय कन्याके दो रात अपने "पति" के साथ रहने के बाद उसके पास जानेसे इन्कार कर देने और फिर एक दिन पति द्वारा मार डाले जानेकी एक घटनाका विवरण भेजा और बंगालकी बाल-विधवाओंकी दुरवस्थासे उन्हें अवगत कराया। इसपर गाँधीजीने लिखा—"मैं एक ऐसे डाक्टरको जानता हूँ जिसने अपनी लड़कीकी उम्रकी एक बालिकासे विवाह किया और अब वे दोनों "पति-पत्नी" की तरह रह रहे हैं। एक और ६४ वर्षीय शिक्षणशास्त्रीने एक ६ वर्षकी बालिकासे विवाह किया। अपनी और अपने मित्रोंकी जानकारीके और उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि मूलतः इस स्थितिकी ज़िम्मेदारी पुरुषोंपर ही है। पर क्या स्त्रियोंके लिए यह उचित है कि वे सारा दोष पुरुषोंके मत्थे मढ़कर अपने मनको सान्त्वना दे लें? क्या प्रगतिशील महिलाओंका यह कर्तव्य नहीं है कि वे इस स्थितिको सुधारने के लिए कुछ करें? यदि वे केवल अपने पतिकी गुड़िया ही बनें और समयसे पहले ही बच्चे पालने लगें, तो उनको दी गई शिक्षाका क्या अर्थ?....ऐसी वीर महिलाएँ कहाँ हैं, जो बाल-पत्नियों और बाल-विधवाओंमें काम करें और उस समय तक न स्वयं आराम करें और न पुरुषोंको करने दें जब तक कि बाल-विवाह असम्भव न हो जाय और जब तक कि हर लड़की अपने-आपमें इतनी शक्ति महसूस न करे कि पूरी उम्र हुए बिना और अपनी पसंदके आदमीके सिवा किसीसे भी शादी करनेसे साफ इन्कार कर दे।" (यंग इंडिया, ७-१०-२६)

१९३५ में बाल-विवाह-निषेध समितिने एक बुलेटिन प्रकाशित किया था, जिसमें १९३१ की मर्दुमशुमारीसे बालिकाओंके विवाह, वैधव्य, सन्तान-जन्म और मृत्युके आँकड़े उद्धृत किए गए थे। बाल-विवाहोंके परिणामस्वरूप इसमें १ से १५ वर्ष तक की बाल-विधवाओंकी संख्या लाखोंमें दिखाई गई थी। इसमें कहा गया था कि बाल-विवाहों की संख्या यदि कम भी मान ली जाय, तब भी दो लाख बाल-माताओंका प्रतिवर्ष मरना तथा १००० में से १८१ बच्चोंका पैदा होते ही मर जाना कम चौंका देनेवाले आँकड़े नहीं

हैं। इसपर गाँधीजीने लिखा—"इन आँकड़ोंको देखकर हम सबको शर्मसे सिर झुका लेना चाहिए। पर इससे रोगका कोई इलाज तो न होगा। यह रोग गाँवोंमें भी उतना ही व्याप्त है, जितना कि शहरोंमें। यह काम स्त्रियोंका है, यद्यपि पुरुषको भी अपना कर्त्तव्य पालन करना होगा। जब आदमी पशु हो जाता है, वह कोई तर्क नहीं सुनता। यह काम तो शिक्षित माताओंका ही है कि वे अपने इस विशेषाधिकार और पुरुष से न कहनेके कर्त्तव्यको भलीभाँति समझें। यह बात स्त्रियोंके सिवा उन्हें कौन सिखा सकता है?" (हरिजन, १६–११–३५)

अनमेल विवाह और उसके दुष्परिणामोंपर भी गाँधीजीने काफी लिखा है और लड़के-लड़कियोंको लगभग हर अवसरपर कहा है कि वे २०–२५ के होने, स्वावलंबी होने और अपनी पसंदका साथी मिले बिना विवाह न करें। शिक्षित युवक-युवतियों और विशेष रूपसे स्त्रियोंसे उन्होंने बराबर अनुरोध किया है कि वे बाल-विवाहके विरुद्ध आन्दोलन करें और इसे असम्भव कर दें।

दहेज या बिक्री

१९२७ में ८–९ वर्षके दो बच्चोंके एक ६० वर्षीय विधुर पिता द्वारा १२ वर्षकी एक लड़कीसे विवाह करनेका कारण गाँधीजीको भेजा गया, जिसमें कहा गया कि धन देकर लड़कीको ख़रीदा गया है। इसी वर्ष बम्बईके एक सुशिक्षित सरकारी अफ्सर ने अपने विवाहमें दहेजके रूपमें २०,००० रुपए लिए। शोलापुरके एक माहेश्वरी युवकने गाँधीजीको लिखा कि उसकी जातिमें अशक्त और अपाहिज बूढ़े भी रुपया देकर अबोध बालिकाओंको खरीदते हैं। सिंधके एक भाईने गाँधीजीको एक अख़बारमें छपी ख़बर दिखाई, जिसमें एक नौजवानने सगाईके समय ही २०,०००) लिए थे। उसने बताया कि आजकल सिंधमें लड़कोंकी क़ीमतें बढ़ती जा रही हैं। इस पर गांधीजीने लिखा—"दहेजकी पातकी प्रथाके ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त लोकमत बनाया जाना चाहिये और जो नौजवान इस प्रकार ग़लत ढंगसे लिए गए धनसे अपने हाथोंको अपवित्र करें, उन्हें जाति बहिष्कृत कर देना चाहिये। लड़कियोंके माँ-बापको भी अंग्रेज़ी डिग्रियोंका मोह छोड़कर अपनी कन्याओंके लिए सच्चे और बहादुर वर खोजने अपनी जाति और प्रान्त के बाहर जानेमें भी झिझकना नहीं चाहिए।" (यंग इंडिया, २१–६–२८)

इसके कुछ समय बाद "स्टेट्समैन" ने अपने पाठकोंके कई पत्र इस सम्बन्धमें छापकर इसपर सम्पादकीय टिप्पणी भी की थी। इसपर टिप्पणी करते हुए गांधीजीने लिखा था—"इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यह एक हृदयहीन बुराई है। यद्यपि करोड़ों ग्रामीणोंमें यह नहीं है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि इसकी उपेक्षा की जाय। इस रिवाज का अन्त होना ही चाहिए। विवाह वर-वधूके माता-पिता के लेन-देनका सौदा नहीं रहना चाहिये। पर इस रिवाजका जाति-व्यवस्थासे घनिष्ट संबंध है। जब तक वर-वधू का चुनाव जाति-विशेषके कुछ सौ लड़के-लड़कियोंमें से ही होगा, यह रिवाज रहेगा ही—भले ही हम उसके ख़िलाफ़ चाहे जो-कुछ कहें। अतः यदि इस बुराईको दूर करना है, तो लड़के-लड़कियोंको या उनके माता-पिताको जातिकी सीमाओंको तोड़ना होगा। विवाहकी उम्रको भी बढ़ाना होगा, ताकि योग्य वर न मिलनेपर लड़कियाँ कुमारी रह

सकें। यह सब उस चरित्र-निर्माणकी शिक्षासे ही होगा, जो कि देशके युवा समाजमें क्रांति लायगा।" (हरिजन, २३–५–३६)

लड़कियों से छेड़छाड़

वैसे तो भारतमें प्राय: सर्वत्र लड़कियोंको छेड़ने, आवाजें कसने, सीटियाँ बजाने और इशारे आदि का रिवाज-सा है; पर पंजाबमें यह कुछ अधिक उग्र रूप में रहा है। १९३८ में किसी कॉलेजमें पढ़नेवाली एक लड़कीने इसके कुछ उदाहरण देते हुए गाँधीजीको लिखा कि आखिर ऐसी स्थितिमें वे क्या करें? इसपर गाँधीजीने लिखा—"लखनऊकी एक बहनने भी अपनी सहेलियोंके कुछ इसी तरहके अनुभवोंको लिख भेजा है। सिनेमा-थियेटरोंमें उनके पीछे बैठे लड़के उन्हें छेड़नेके लिए न सिर्फ गंदी भाषाका ही प्रयोग करते हैं, बल्कि ऐसी गंदी हरकतें भी करते हैं, जिनको मैं यहाँ उद्धृत नहीं करना चाहता। शरीर-बलका प्रयोग इसका एक इलाज है और आजकल तो लड़कियोंको आत्म-रक्षाकी शिक्षा देनेका एक फैशन-सा हो गया है। पर क्या यह इस बढ़ती हुई बुराईका इलाज है? जहाँ कहीं लड़कियोंसे गंदी बातें कही जायँ, उन्हें विचलित नहीं होना चाहिए और न इसकी उपेक्षा ही करनी चाहिए। ऐसे मामले पत्रोंमें प्रकाशित करा देने चाहिए जहाँ ऐसे अपराधियोंका पता चल जाय, वहाँ उनके नाम भी छपा देने चाहिए। इस प्रकार इस बुराईका पर्दाफाश करनेमें व्यर्थ बदनामीका संकोच नहीं होना चाहिए।—पर मुझे भय है कि आधुनिक लड़की मनसे आधे दर्जन रोमियोकी जूलियट बननेमें आनन्द का अनुभव करती है। उसे साहसिक कार्योंमें आनन्द आता है। आधुनिक लड़की धूप, वर्षा और हवासे बचनेको नहीं, आकर्षक बननेके लिए कपड़े पहनती है। वह अपने प्रकृत रूपको बना सिंगारकर असाधारण दिखनेवाली बनती हैं। ऐसी लड़कियोंके लिये अहिंसा का रास्ता नहीं है। मैंने अक्सर उन निश्चित नियमोंका जिक्र किया है, जिनसे हममें अहिंसाकी भावना जाग्रत हो सकती है। यह बड़ी मेहनतका प्रयास है। इससे आदमीके विचारों और रहन-सहनमें एक प्रकार क्रांति हो जाती है। इससे लड़कियाँ देखेंगी कि उनके सामने फिर जो भी युवक आयेंगे, वे उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करेंगे और सद्-व्यवहार करेंगे। पर कभी ऐसा मौका आए कि उन्हें अपनी अस्मत खतरेमें नजर आए, तो उनमें इतनी ताकत पैदा होनी चाहिए कि वे आदमीकी पशुताको आत्मसमर्पण करने के बजाय मर जायँ। यदि कोई कहे कि अगर किसी लड़कीको बाँध दिया जाय, तो वह संघर्षकर या मर भी कैसे सकेगी तो मैं यह कहूँगा कि प्रतिरोधकी तीव्र भावना वाली लड़कीमें इतना बल आ जायगा कि वह बंधन तोड़ दे और मर जाय।" (हरिजन, ३१–१२–३८)

गाँधीजीने "यंग इंडिया" (२१–७–२१) में कटककी श्रीमती सरलादेवीका एक पत्र प्रकाशित किया था, जो इस प्रकार था—"क्या आप यह नहीं मानते कि स्त्रियोंके साथ होनेवाला व्यवहार भी उतनी ही खराब बीमारी है, जितनीकी अस्पृश्यता। मैं जिन नौजवान, राष्ट्रवादियों के सम्पर्कमें आयी हूँ, उनमें १०० में से ९० का व्यवहार एकदम पाशविक है। भारतमें ऐसे कितने असहयोगी हैं, जो स्त्रीको केवल भोगकी वस्तु न समझते हों। क्या उस समय तक आत्म-शुद्धि संभव है, जब तक पुरुषोंका स्त्रियोंके प्रति रुख न बदले।" इसपर टिप्पणी करते हुए गाँधीजीने लिखा था—"अपनेआपको

सच्चे स्वराज्यके उपयुक्त बनानेके लिए हमें नारी और उसकी पवित्रताके प्रति अधिक सम्मानपूर्ण रुख अपनाना होगा। यदि एक भी स्त्रीके प्रति हमारा रुख भोग का है, तो सारे मनुष्योंका सिर शर्मसे झुक जाना चाहिए। पेश्तर इसके कि हम ईश्वरकी एक सर्वश्रेष्ठ कृतिको अपने भोगका हेतु बनाये, सारी मानव जाति का ख़त्म हो जाना मैं ज्यादा पसन्द करूँगा।" पर न तो मानव-जाति ही ख़त्म हुई और न उसकी यह बुराई ही।

गाँधीजीके उपर्युक्त कथनपर आंध्रकी एक लड़कीने लिखा कि उसकी सहेलियोंकी सादी पोशाक भी उनकी रक्षामें सहायक नहीं होती। पंजाबकी ११ लड़कियोंने संयुक्त पत्रमें गाँधीजी द्वारा एक आधुनिक लड़कीके आध दर्जन रोमियोकी जूलियट बननेकी उक्तिपर आपत्ति करते हुए लिखा कि कुछ लड़कियाँ भले ही ऐसी हों, पर सब जूलियट नहीं हो सकतीं। उन्होंने लिखा कि आज जब स्त्रियाँ बंद दरवाज़ोंसे बाहर आ रही हैं और जीवनके बोझका अपना पूरा हिस्सा ले रही हैं, तो यह बड़ा अजीब बात है कि पुरुषों द्वारा दुर्व्यवहार किए जानेपर भी दोष उन्हीं पर मढ़ा जाता है। यहाँ गाँधीजी की उक्तिमें हमें दो कारणोंसे थोड़ी अत्युक्ति और असंगति लगती है: (१) भारतीय युवतियोंको केवल पोशाक या बनाव-श्रृंगारके कारण लोग छेड़ते हैं, यह यदि सत्य भी हो, तो भी अनुचित और निन्द्य है। स्त्रियाँ कब क्या पहनें, कैसे घरसे बाहर निकलें, यह तय करना पुरुषोंका कार्य नहीं है। फिर विदेशोंकी स्त्रियाँ तो भारतीय नवयुवतियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक बनाव-शृंगार कर निकलती हैं। पर इस कारण वहाँके पुरुष तो उन्हें छेड़नेको लालायित नहीं होते! फिर जैसाकि आंध्रकी बहनने लिखा है, सादी पोशाकवाली लड़कियाँ भी पुरुषोंकी लुब्ध दृष्टिसे बच नहीं पातीं। (२) अच्छे कपड़े पहनकर निकले किसी सुन्दर पुरुषको किसी स्त्रीने छेड़ा हो, ऐसा आज तक नहीं सुना गया तब पुरुषको ही यह अधिकार कैसे प्राप्त है कि वह अच्छे कपड़ोंवाली या सुन्दर आकर्षक स्त्रीको छेड़े? फिर १०–१२ वर्षकी बच्चियोंका छेड़ा जाना कहाँ तक समीचीन है?

महिलाएँ और गहने

१९२७ में भारतके भूखों-नंगोंके लिए चंदा करने गाँधीजी लंका गए थे। वहाँ कोलंबोमें हुई महिलाओंकी एक सभामें उन्होंने धन-संग्रहके लिए की गई अपीलमें गहने भी माँगते हुए कहा—"गहने माँगनेमें मेरा एक और भी उद्देश्य है और वह यह कि महिलाओं को इनके मोहसे मुक्त करूँ। क्या मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि पुरुषकी अपेक्षा स्त्री अपने आपको अधिक सजाती क्यों है? कई महिला-मित्रोंने मुझे बताया है कि वह पुरुषको रिझाने के लिए ऐसा करती है। पर मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि यदि आपको संसारके कार्यों में अपना कर्तव्य पूरा करना है, तो आप पुरुषको रिझानेके लिए अपने-आपको कभी भी न सजाइए। यदि मैं स्त्री पैदा हुआ होता, तो पुरुषकी इस धारणाके ख़िलाफ़ बग़ावत करता कि स्त्री उसके हाथका खिलौना-भर है! —अपने प्रलोभनों और पुरुषोंकी गुलाम न बनिए। अपने आपको इत्र और लेवेण्डर से सजाइए मत। यदि आप कोई खुशबू फैलाना चाहती हैं, तो वह आपके हृदयमें से निकलनी चाहिए।" (यंग इंडिया, ८–१२–२७)

तामिलनाडकी एक लेडी डाक्टरने एक राजाके वारिस पैदा होनेपर मिली हीरेकी अँगूठी और कानके बुंदे गाँधीजीको भेजते हुए लिखा—"१२ वर्षसे ये चीज़ें बराबर साथ रही हैं। पर अब जब मैं इनकी ओर देखती हूँ, मेरे मनमें कटुता पैदा होती है, जो दूसरे ही क्षण उन लाखों भुखमरे भारतीयोंके प्रति सहानुभूतिमें बदल जाती है और मैं आपसे कहती हूँ कि क्या ये गहने जनताके धनसे नहीं बने हैं? फिर मैं उन्हें अपना समझकर रखनेकी अधिकारिणी कैसे?" इस तरहकी बहिनें अधिक नहीं होतीं। अधिकांश तो पतियोंकी कमाईका बहुत बड़ा अंश इन्हींमें लगाकर अपना शरीर सजानेमें ही सुख और गर्व अनुभव करती हैं।" (यंग इंडिया, ५–४–२८)

एक पत्रने गाँधीजी द्वारा दानमें गहने लेनेकी प्रतिकूल आलोचना की। इसपर उन्होंने लिखा—"इस देशमें जहाँ कि करोड़ों आदमी नाम-मात्रका पोषण पाते हों और ८० प्रतिशत पर्याप्त पोषण पाते हों, गहने पहनना अपराध है। फिर अधिकांश गहनों में कलाका कोई आभास नहीं। बहुतसे देखनेमें बड़े भद्दे होते हैं, जिनमें मिट्टी जम जाती है। मेरी रायमें क़ीमती गहने पहनना देशके लिए सरासर हानिकर है। इनके रूप में बहुत बड़ी रक़म बेकार रुद्ध हो जाती है या धीरे-धीरे छीजती है।" (हरिजन, २२–१२–३३)

गाँधीजी और तथाकथित पतिताएँ

जब गाँधीजी १९२१ में तिलक स्वराज्य फण्डके सिलसिलेमें दक्षिण का दौरा कर रहे थे, तो एक दिन रातको १० बजे कोकनदमें दो वेश्याएँ उनके "दर्शन" करने आईं। जब उन्होंने गाँधीजीको अपना परिचय दिया तो वे बड़े दुःखी हुए और बोले कि क्या तुम कोई और कार्य नहीं कर सकतीं? उन्होंन कहा कि "हाँ, यदि हमारी जीविकाका प्रबंध हो जाय, तो अवश्य कर सकती हैं।" इसपर गाँधीजीने लिखा—"जब मैं पूरी तरह समझा कि वे कौन हैं, तो जैसे मैं ज़मीनमें धँसने लगा। इस कलंकको दूर किया ही जाना चाहिये। यह उचित नहीं है कि हमारी विषय-वासनाके लिये किसी एक भी बहनको शर्म और ज़िल्लतकी ज़िन्दगी बितानी पड़े। " (यंग इंडिया, ११–५–२९)

कुछ समय बाद एक अँगरेज़ मित्रने गाँधीजीको लखनऊके वेश्याओंके बारमें लिखा—"मेरा हृदय लखनऊकी इन पतिता बहनोंके साथ है। उन्हें मजबूरन शर्मकी जिन्दगी बितानी पड़ रही है और मानवके भीतरके पशुने इस घृणित जुर्मको भी एक कमाईका पेशा बना दिया है।"

आंध्रके बाद बरीसालकी १०० से अधिक वेश्याएँ गाँधीजीसे मिलीं। उनसे मिलनेके बाद गाँधीजीने लिखा—"जिन बुराइयोंके लिये आदमीने अपने-आपको जिम्मेदार बनाया है, उनमें से स्त्रियोंके इस दुरुपयोगसे ज्यादा आघात देनेवाली, क्रूर और पतनकी ओर ले जानेवाली और कोई बुराई नहीं है। हमें इस भ्रममें नहीं रहना चाहिए कि यह बुराई हमारे विकासका एक आवश्यक अंग है। या किसी अन्य उदाहरणसे हमें इसे क़ायम रखनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। यदि हम बिना बुराई-भलाईका भेद किए मानसिक दासतासे अजाने अतीतका अंधानुकरण करने लगेंगे, तो हमारा विकास रुक जायगा। हमें अतीतकी ग़लतियोंको दोहराकर अपनी सांस्कृतिक विरासतका अपमान नहीं करना चाहिए। आत्म-सम्मानवाले भारतमें क्या हर स्त्री के सतीत्व

की रक्षा, हर आदमीकी अपनी बहनके सतीत्वकी रक्षा की तरह आवश्यक नहीं है ?" बरीसालकी वेश्याओंने बताया कि २० हज़ारकी आबादीमें ३५० वेश्याएँ हैं। इसपर गाँधीजीने लिखा—"इस हिसाबसे समग्र भारतमें कम से कम १०॥ लाख स्त्रियाँ ऐसी होंगी, जो अपनी इज्ज़त बेचकर जी रही हैं। इन बहनोंको उनकी पतनावस्थासे उबारने के लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिएँ। हम पुरुषोंको अपने आवेगों पर काबू पाना चाहिए और इन बहनोंके लिए ऐसे काम ढूँढ़ने चाहिए जिन्हें करके ये सम्मानपूर्वक अपनी जीविका कमा सकें। इन बहनोंको बिवाहकी बात नहीं सोचनी चाहिए। इन्हें तो सच्ची संन्यासिनी बनकर, जीवनकी सब चिन्ताओंसे मुक्त होकर, सेवा-भावसे कातना-बुनना चाहिए।" (यंग इंडिया, १५-६-२१)

नोआखालीमें इस सम्बन्धमें बोलते हुए उन्होंने कहा—"जब तक कोई असाधारण पवित्रता और चरित्र-बलवाली महिला आगे आकर इन पतिता बहनोंको ऊपर उठाने का काम अपने हाथमें नहीं लेती, वेश्यावृत्तिकी समस्या का कोई हल नहीं निकल सकता। इसी प्रकार जो आदमी अपनी विषय-वासनाकी तृप्ति के लिए अपने-आपको गिराते और कमसिन लड़कियोंको अपना शरीर बेचनेपर मजबूर करते हैं, उन्हें रोकनेके लिए आदमी भी बहुत-कुछ कर सकते हैं। यद्यपि वेश्यावृत्ति इतनी पुरानी है, जितनी कि दुनिया पर मुझे भय है कि यह आज की तरह कभी नागरिक जीवनका एक आवश्यक अंग रही हो। पर जो कुछ भी हो, वह समय अवश्य आयगा जब कि मानवता इस बुराईके ख़िलाफ़ खड़ी होगी और वेश्यावृत्तिको अतीतकी बात बना देगी। (यंग इंडिया, २८-५-२५)

बरीसालकी जिन वेश्याओंसे पेशा छुड़वाकर उन्हें कातनेका कार्य दिया गया था, उनका जब वहाँके नौजवानोंपर बुरा असर पड़ने लगा तो गाँधीजीने उनकी संस्थाको भंग करनेकी सलाह दी। यह पढ़कर बंगालके एक पाठकने उन्हें चटगाँव इस आशयका एक पत्र दिया कि बँगलामें अपहरण, भ्रष्टाचार आदि काफ़ी व्यापक हैं। पूर्व, पश्चिम और उत्तर-बंगालके जिलोंमें इसका बहुत जोर है। जूटके हल्कों, बाजारों, मेलों, कचहरी या ज़मीदारके घरके पास वेश्यालयोंका होना एक रिवाज-सा बन गया है। इसपर गाँधीजीने लिखा—"मैं जानता हूँ कि वेश्यावृत्ति एक बड़ी और फैलनेवाली बीमारी रही है। कलाके पवित्र नाम या भावुकताकी ओटमें बुराईमें भी भलाई देखने अथवा बुराई को माफ़ कर देनेकी भावनाने ही इस पातकी प्रवृत्तिको एक प्रकारका सम्मान दे दिया है, जो इस नैतिक कोढ़के प्रसारका बहुत बड़ा कारण है। पर मुझे यह नहीं मालूम कि बंगालमें स्थिति इतनी भयंकर है। मुझे भय है कि कहीं उन्होंने अत्युक्ति तो नहीं की है। यदि क़ानूनसे इसका इलाज हो सकता, तो यूरोपके सुव्यवस्थित देशोंने इसका कभी अंत कर दिया होता। मेरे जैसे सुधारकोंके लिखने पर भी कोई ख़ास असर नहीं पड़ेगा। मैं यह नहीं कहता कि ब्रिटिश शासनसे पहले भारतमें वेश्यावृत्ति नहीं थी, पर उसके कालमें यह बढ़ी है। पहले यह ऊपरके कुछ तबकोंमें थी, पर अब तो मध्य श्रेणीके नौजवानों का भी नाश कर रही है। फिर भी मेरी आशा तो नौजवान ही हैं। जो इस बुराईमें फँसे हैं, वे स्वभावसे बुरे नहीं हैं। अविचार और असहायावस्था से ही वे इस ओर फिसलते हैं। इससे उन्हें और समाजको जो हानि हुई है, उसे उन्हें महसूस करना चाहिए,

उन्हें यह समझना चाहिए कि कठोर संयमपूर्ण जीवन ही उन्हें और देश को सर्वनाशसे बचा सकता है। "य० इंडिया, ९-७-२५)

दक्षिण-भारतके दौरेमें देव-दासियोंके द्वारा दिए गए मानपत्रके उत्तरमें उन्होंने कहा था—"ये अभागी बहनें चाहे देवदासी कहलायें चाहे और कुछ, इनकी समस्या तो एक ही है। यह बड़े दुःख, शर्म, और ज़िल्लतकी बात है कि इतनी बड़ी संख्यामें स्त्रियोंको पुरुषोंकी हविस पूरी करनेके लिए अपनी अस्मत बेंचनी पड़े। समाज-व्यवस्थाके क़ानून बनानेवाले पुरुषको तथाकथित दुर्बल नारीको इस भयंकर गह्वरमें धकेलनेके लिए भयंकर दंड भोगना पड़ेगा।.... पर दुःखकी बात तो यह है कि बुराईके इन अड्डोंपर जानेवाले अधिकांश पुरुष विवाहित होते हैं और इस प्रकार वे दोहरा पाप करते हैं। एक पाप तो वे उन पत्नियोंके प्रति करते हैं, जिनके प्रति वफ़ादार रहनेको वे वचनबद्ध हैं और दूसरा पाप उन अभागिनोंके प्रति करते हैं, जिनकी अस्मत उनके लिए अपनी सगी बहनोंकी अस्मतकी तरह ही प्यारी होनी चाहिए। यदि हम भारतीय पुरुष अपनी मर्यादाको महसूस करें, तो यह बुराई एक क्षणको भी नहीं रह सकती। (यंग इंडिया, १६-४-२५)

विधवाओंकी समस्या

१९२६ में सर गंगारामने विधवाओंके आँकड़े प्रकाशित किये थे। इसपर टिप्पणी करते हुए गाँधीजीने लिखा —"इनसे और भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू-बाल-विधवाओं की क्या दुरवस्था है? हम गो-रक्षाके लिए तो चिल्लाते हैं, पर बाल-विधवा रूपी इन मानवी गायोंकी रक्षा नहीं करते हैं। धर्मके नामपर हम अपनी तीन लाख ऐसी अबोध बालिकाओंपर वैधव्य थोपे हुए हैं, जिनको विवाह-संस्कारका अर्थ तक भी मालूम नहीं। छोटी बालिकाओंपर वैधव्य थोपना एक ऐसा जुर्म है, जिसके लिये हमें नित्य भुगतना पड़ता है। अगर सचमुच हमारी आत्मा जाग्रत होती, तो हम १५ वर्षसे कम की किसी लड़कीकी शादीही नहीं करते और यह घोषणा कर देते कि इन तीन लाख बालिकाओंकी धर्मानुसार शादी ही नहीं हुई। इनपर इस प्रकार का वैधव्य थोपनेकी अनुमति तो किसी भी शास्त्रमें नहीं है।" (यं० इं०, ५-८-२६)

एक व्यक्तिके यह लिखनेपर कि यदि सब विधवाएँ शादी करने लगीं, तो कुमारियों का मिलना मुश्किल हो जायगा, गाँधीजीने लिखा—"सभी विधवाओंकी शादी होनी ही चाहिए, ऐसा तो मैंने कभी नहीं कहा। सर गंगाराम द्वारा एकत्रित जिन आँकड़ोंकी मैंने चर्चा की, वे बेचारी पतिव्रत धर्म क्या जानें? प्रेमका उनसे कोई वास्ता नहीं। यह कहना ज्यादा सही होगा कि उनकी कभी शादी ही नहीं हुई। (यं० इं०, १९-८-२६) इसी संबंधमें आपने एक और जगह लिखा है—"मेरे कहनेका आशय यही है कि जिन माँ-बापने अपनी लड़कियोंको कच्ची उम्रमें ब्याह देनेका पाप किया है, वे कम उम्रमें ही विधवा हो जाने पर ऐसी कन्याओंका पुनर्विवाह कर अपने पापका प्रायश्चित करें। पर जो बड़ी उम्रमें जाकर विधवा हों, वे फिर शादी करें या विधवा ही रहें, यह उन्हींके तय करनेकी बात है। यदि कोई ५० वर्षका विधुर शादी कर सकता है, तो इसी उम्रकी विधवाको भी ऐसा ही करनेका अधिकार होना चाहिए।" (यंग इंडिया, १४-१०-२८)

स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध और गांधीजी

एक बार एक व्यक्तिने गाँधीजीसे एक प्रश्न पूछा कि हिन्दुस्तानमें धर्मके अनुसार पत्नीको पतिकी अनुगामिनी होना और अपने आपको पतिमें बिल्कुल विलय कर देना ही उसका चरमोत्कर्ष है। पर यदि किसीका पति माँस खाता हो और पत्नीको वह बनाने और खानेमें मजबूर करे, तो उसे क्या करना चाहिए? इसका उत्तर देते हुए गांधीजी ने लिखा—"एक स्त्रीके लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह अपने पतिके जुर्मोंमें भी भाग लेने को तैयार हो। और जब वह किसी चीज़को ग़लत समझे, तो उसमें सही करनेका साहस होना चाहिए।" यहाँ हमें भय है कि गाँधीजीकी सलाह दाम्पत्य जीवनके सुख और शान्तिके लिए शायद बहुत ठीक नहीं बैठती। उन्होंने स्त्रीको ग़लत समझने और साहसकी जो बात कही है, अज्ञान और अंधविश्वासके कारण वह बहुत अंशोंमें अनेक परिवारोंकी अशान्ति और विनाशका भी कारण बनी नज़र आती है। यदि वास्तवमें स्त्रीका धर्म पतिकी अनुगामिनी नहीं बल्कि सहगामिनी और सहधर्मिणी होना है, तो उसे अपने, अपने पतिके और परिवारके सुख तथा शान्तिके लिए दोनोंके विचारों, आदतों और आदर्शोंमें संघर्षके बजाय समझौतेके मार्गको ही अपनाना अधिक श्रेयस्कर लगता है। फिर केवल खान-पानके सम्बन्धमें सही और ग़लत का निर्णय कोई डाक्टर या विज्ञानवेत्ता ही अधिक कर सकता है। धर्म और नीतिको इसमें घसीटना अनावश्यक ही नहीं हानि-कर भी जान पड़ता है।

एक बार एक आदमीने गाँधीजीसे पूछा कि मैं तो खद्दर पहनता हूँ, पर मेरी पत्नीको वह पहनना इसलिये स्वीकार नहीं है कि वह उसे मोटा लगता है। एक अन्य भाईने पूछा कि मैं तो हरिजनोद्धारके कार्यमें लगा हूँ, पर मेरी पत्नीका इसमें विश्वास नहीं। इस सम्बन्धमें गाँधीजीने लिखा—"मैंने अक्सर कहा है कि चूंकि पति अधिक शक्तिशाली और शिक्षित है, वह पत्नीके लिए शिक्षकका काम करे और अगर उसमें कुछ कमियाँ हों, तो उन्हें दूर करे। पर आदमी मजबूर करके नहीं, प्रेमसे पत्नीको जीते।" यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि गाँधीजीने यही सलाह खान-पानके बारेमें भी क्यों नहीं दी?

विवाह का उद्देश्य

एक बार एक व्यक्तिने गाँधीजीको लिखा कि हिन्दू-शास्त्रोंमें जोर देकर कहा गया है कि विवाहका एकमात्र उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है और एक पुरानी कहावतके अनुसार विवाह के समय बड़े-बूढ़े बधूको यह आशीर्वाद दिया करते थे कि तुम आठ बच्चोंकी माँ हो। पर आपका कहना है कि विवाहके बाद स्त्री-पुरुषका संसर्ग एकमात्र सन्तानोत्पत्तिके लिए ही नहीं होना चाहिए बल्कि एक ही सन्तान होना चाहिए—चाहे वह लड़की हो या लड़का। इस व्रतका पालन करनेवाले ही ब्रह्मचारी हैं। पर अधिकांश विवाहित लोगोंके लिए ऐसा करना व्यावहारिक नहीं देख पड़ता। वे केवल एक बार सन्तानकी इच्छासे संसर्ग करें और फिर सन्तान होनेके बाद जीवन-भर संयम एवं ब्रह्मचर्यसे रहें, यह आदर्श हो सकता है किन्तु व्यावहारिक जीवनमें कितने इस आदर्शको निभा सकते हैं? कामेच्छा आदमीकी प्राकृतिक भूख है, जबकि संयम और नियंत्रण एक प्रकारका कृत्रिम गुण। अत: जो लोग प्राकृतिक कामेच्छाका दमन न कर सकें, उन्हें पतित या दया अथवा कृपाका

पात्र नहीं समझा जा सकता। वशिष्ठकी पत्नी अरुन्धती के १०० पुत्र होनेपर भी विश्वामित्रने उसे ब्रह्मचारिणी कहकर सम्बोधित किया था। इसपर टिप्पणी करते हुए गाँधीजीने लिखा—"यदि विवाहको पवित्र माना जाय, तो इसमें एक सन्तानके लिए ही स्थान है। इसीलिए शास्त्रोंमें पहली सन्तानको "धर्मज" और बाकीको "कामज" कहा गया है। लड़के और लड़कीमें मैं कोई अन्तर नहीं करता।.... केवल क्षणिक आनन्दके लिए होनेवाला मैथुन तो पशुताको लौटना है। इसलिए मनुष्योंका यही प्रयत्न रहना चाहिए कि वे इससे ऊपर रहें।" (हरिजन, ५–६–३७)

इस प्रकार गाँधीजीके विचार विवाह अथवा स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंके बारेमें शायद कोई नया प्रकाश नहीं डालते। शास्त्रोंकी बात मानवके शरीर-धर्मके इतनी प्रतिकूल लगती है कि यौन-विज्ञानका सामान्य ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति उसपर हँसे बिना नहीं रहेगा। दाम्पत्य-जीवनमें यौन-संबंधकी सीमाका निर्धारण एक कठिन और पेचीदा काम ज़रूर है, पर एक सन्तानके बादके शरीर सम्बन्धको किसी भी युगमें यथार्थमें व्यावहारिक माना गया हो, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत इस प्रकारके कल्पित आदर्शकी अवमाननाको पाप, अब्रह्मचर्य या जुर्म कहना या समझना भी कम हास्यास्पद नहीं है। कदाचित इसीलिए गांधीजीने परिवार-नियोजनकी वैज्ञानिकताको स्वीकार नहीं कर अपने शास्त्रीय धर्मकी ही दुहाई दी है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि देशकी अबाध गतिसे बढ़ती हुई आबादी और उसके साथ ही साथ बढ़ती हुई दरिद्रता तथा सामाजिक असन्तुलनको रोकनेमें उनके विचारोंसे जितनी चाहिए उतनी मदद नहीं मिल सकी है।

-:०:-

श्रीमती सावित्री निगम

महिलाओंकी जागृति

स्वातन्त्र्य-संग्रामने युगोंकी सुषुप्त नारीके कानोंमें जागरण-सन्देश फूंका और युग-प्राचीन मानसिक तथा शारीरिक संघर्षोंकी रगड़से चिरसंतप्त हृदयमें नवचेतनाकी चिनगारी प्रज्ज्वलित हो उठी।

नारीको जब अपनी स्थितिका ज्ञान हो चुका तो उसे चिन्ता हुई कि वह परदेके मन्दिर में पली हुई पाषाणी देवीके रूपको बदलकर अधिकार, सामाजिक सम्मान और सुख पूर्वक जीनेका अधिकार प्राप्त करनेवाली मानवी बन जाये। उसने जब सचेत होकर अतीत पर दृष्टि डाली, तो उसे लगा कि उसे सब कुछ सुधारना होगा, आगे दृष्टि उठाई, तो देखा कि उसको अभी अनेक मंजिलें पार करनी होंगी क्योंकि वह अभी बहुत पीछे है। और सामने हैं अनेक सामाजिक कुरीतियोंके ऊँचे टीले, रूढ़ियों और अमानवीय परम्पराओं की गहरी खाइयाँ, पीठपर परिवारका बोझ और सिरपर नवनिर्माणका गट्ठर। उसने कुछ ठहरकर सोचा और सिर पर हाथ रखकर वह कह उठी कि "मुझे स्वयं भी तो युगों का रटा हुआ धार्मिक अन्धविश्वासों एवं मान्यताओंका और रीति-रिवाजोंका पाठ भुलाकर मानसिक दासता तथा हीनत्वकी भावनाका परित्याग करना है। मानवता तथा समानताके नये अध्यायोंको पढ़कर आत्मसात् करना है। इतना ही नहीं उसे पातिव्रत्य, सतीत्व श्रद्धा एवं सदाचारसे अनुरंजित भारतीय संस्कृति तथा युगोंकी दलित दमित इच्छाओंकी प्रतिक्रिया रूपमें उत्पन्न उच्छृंखलता, विकलता, अधिकार-प्राप्तिकी जल्दबाजी, एवं देश-विभाजन, तथा आज़ादीकी ग़ुलामीसे उत्पन्न नैतिकतामें समन्वय करना है। तभी वह समाजोपयोगी तत्वोंके चयनसे नव युगके स्वस्थ निर्माण का गुरुतम कार्य सफलतापूर्वक कर सकेगी।

उसे और सभीको यह विदित है कि भाषणों, नसीहतों, आदेशों और सुझावोंसे उसका कल्याण न होगा। उसके सामने ठोस समस्याएँ हैं, उनका समाधान ही नारी जातिकी सबसे बड़े सेवा और उपकार है।

उसे आज यह ज्ञात हो चुका है, कि शिक्षा, ज्ञानप्राप्ति, प्रशिक्षण तथा आर्थिक स्वावलम्बन और घर तथा बाहरके क़ानूनोंका संशोधन उसकी समस्याओंको सुलझानेके नये रास्ते निकाल सकता है।

पर कितने ऐसे जीवनसंगी या संरक्षक और अभिभावक हैं, जो उसे ऐसे अवसर पानेकी सुविधायें देंगे। चाहे पिता हो, अथवा पति, बड़ा भाई हों या जेठ, चिरकालसे

अपने और अपने धर्म गुरुओंके द्वारा वर्णित नारीका जो रूप मान चुके उसे बदलना उन्हें उनकी स्वतन्त्रता, सुख और सुविधा तथा जाति और धार्मिक बंधनों और आचार-विचार तथा रूढ़ियों और रिवाजोंके विपरीत प्रतीत होता है।

धार्मिक पक्षपातपूर्ण मान्यतायें उन्हें प्रिय हैं, नारीका पाषाणवत् गुड़ियाका-सा मनोरंजक रूप उन्हें प्रिय है। पतिव्रता तथा वीरांगना पद्धति दोनों पर उन्हें विश्वास है क्योंकि अपने सुख-सुविधाको वे ख़तरेमें डालना नहीं चाहते। वे चाहते हैं बहु-बेटियाँ कुलकी लज्जापर मर मिटनेकी परम्पराको न तोड़ें। चार साड़ियाँ, दो रोटी और कंकड़-पत्थर-से चार सोने-चाँदीके जेवर देकर वे संतोषकी सांस लेते हैं। पर जो लोग आर्थिक कारणोंसे इच्छुक हैं कि स्त्रियाँ बाहर निकलें और शहरकी हवाने उन्हें तय्यार भी कर दिया है कि वे उन्हें पढ़ायें, उनकी समस्यायें दूसरी हैं। नौकर रखनेके लिये पैसे नहीं हैं; रोटी-पानी सफ़ाई करके पत्नी या बेटी स्कूल चली जाये पर उसे भेजने और लानेवाला चाहिये। स्कूलका ख़र्च यदि मार-पीटकर जुटा भी लिया, तो घरमें बच्चे कौन सँभाले? बीमारी, मेहमान, त्योहार और रिश्तेदार एक बोझ बनकर मध्यम-वर्गीय नारीपर छाये हैं। भोजन-संबंधी उलझन-भरी आदतें बदलनेका नाम नहीं लेती। कमसे कम ५-७ चीज़ें थालीमें न हों, तो चैन कहाँ? चाहे पापड़, कढ़ी, बरी, मुगौरी, सेवई जैसी पोषक तत्वोंसे हीन ही वस्तुयें क्यों न हो और पूरा भोजन स्वास्थ्यके लिये न होकर केवल जिह्वादेवीके स्वाद संस्थानको संतुष्ट करनेके लिए ही हो। पर बिचारी गृहणीकी तो मुसीबत ही रहती है। स्कूलका काम कब करे, फाइलें कैसे देखे? दोहरा काम, चौगुनी ज़िम्मेदारियाँ, न घरमें कोई खुश, न आफिसमें ही सन्तुष्ट और जो उद्यमशील महिलापर बीतती है या वह जानती है या उसके भगवान। भोजन सम्बन्धी आदतें तथा अतिथि सत्कारकी प्रथामें संशोधन करना अत्यन्त आवश्यक है।

अगर पति और उसके विचारोंमें मेल न खाया, तो मुसीबतोंका नया प्रकरण खुल जाता है। बच्चोंका बोझ सामाजिक उपेक्षाका भय आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो सैकड़ों स्त्रियोंको भीतर ही भीतर घुट-घुटकर सब-कुछ सहनेको विवश करती हैं। आँसू पोंछ कर ऊपरसे पाउडर लगाकर दफ्तर या स्कूल जानेवाली स्त्रियोंकी संख्या लाखोंमें है। बच्चोंकी निगरानीको लिये क्रिशे और वालवाड़ी तथा सस्ते भोजनकी सहकारी या सरकारी संस्थायें शीघ्र खुलनी चाहियें।

दफ्तरोंका भी वातावरण ऐसा विचित्र है कि जिसपर बीतती है, वही जानता है। अपनी स्त्रियोंको सात परदेमें बंद रखकर सहयोगिनी स्त्रियोंका सम्मान करना केवल उँगलियोंपर गिननेवाले ही लोग जानते हैं। बेचारी कम उम्र लड़कियोंको डरा-धमका कर या तरक्कीका लालच दिखाकर गुमराह करनेकी कोशिशमें लगे रहना साधारण बात है क्योंकि जन-साधारणकी दृष्टि इतनी कुंठित है कि वे स्त्रीको महिमामयी माँ या पोषक पालक बहिनके रूपमें नहीं देखते।

उन्हें आदत पड़ी हुई है "स्त्री" को मनोरंजनका साधन माननेकी। जब तक देशके शिक्षक और विचारक स्त्रीका सम्मान करना सीखनेके तरीकोंपर विचार करके इस दिशा में कुछ नये नियम निर्धारित न करेंगे, लोगोंके दृष्टिकोणमें अन्तर लाना बड़ा ही कठिन होगा। और दफ्तरोंमें भी नारी-जीवन अत्यन्त संघर्षमय बना रहेगा। सम्पन्न एवं

विदेशी शिक्षाप्राप्त या ऊँची नौकरियोंमें पहुँचनेवाली बहिने या तो बड़ी नौकरियोंवाले पति ढूँढ़कर नवाबों राजाओं और मिल-मालिकों तथा राष्ट्रपति भवनकी पार्टियोंकी शोभा बढ़ाती हैं या उन्हें "क्लब" "बाल" और "डिनरोंसे" अवकाश नहीं रहता। अक्सर उन्हें विलासपूर्ण जीवन बितानेके लिये इतने अधिक धनका उपार्जन करना पड़ता है कि वे उसीमें जुटी रहती हैं फिर भला देशकी अशिक्षित बहिनोंकी कुटियोंके द्वार-द्वार पर जाकर उन्हें कैसे जगायें? कैसे देशकी करोड़ों बहिनोंमें जागृति फैले?

अधिकतर देखा जाता है कि मध्यम वर्गकी जाग्रत अर्धशिक्षित महिलाओंपर ही सारे नारी समाजके जागरणकी जिम्मेदारी पड़ जाती है। जो वही भाग्यशाली स्त्रियाँ उठा पाती हैं, जो पत्नीत्व, मातृत्व और गृहणीत्व सभी परीक्षणोंको पास करले। जो इतनी सौभाग्यशालिनी हो कि उनको पति तो अच्छा मिले पर नौकर भी विश्वासी मिले। यही बहिनें संस्थाओंको सँभालती हैं। यही भाषण तथा आयोजन करनेका भार उटाती है। इन्हें सर्वगुण सम्पन्न बनना पड़ता है। संस्थाओंके लिये रुपया जुटाने, चन्दा माँगनेके हुनरके साथ ही साथ आफिसका हिसाब-किताब, पत्र-व्यवहार करनेके लिये क्लर्ककी योग्यता, दरी, फर्श तथा माईककी व्यवस्था करनेके लिये चपरासीकी दक्षता और मंच बनाने फर्श लगानेके लिये एक कारीगरका चातुर्य भी उनमें होना चाहिये।

इतना ही नहीं नेताओं, भाषणकर्त्ताओंके घरोंका चक्कर काटनेके लिये टैक्सीके किराये के लिये पैसोंसे भरे बटुएकी स्वामिनी बनना भी उनके लिये आवश्यक है। इनके अन्य संस्थाओंके सदस्योंकी कटु आलोचना, प्रतिक्रियावादी व्यक्तियोंके व्यंग सुननेके के लिए उनमें कुलवधू के शील का होना भी जरूरी है। अन्यथा विचारी बहुत-सी बहनें कार्य छोड़कर इसीलिए घर बैठ जाती हैं कि सेवाके बाद नाम न मिले, तो न सही पर व्यर्थके व्यंग नहीं सुने जाते। इतना ही नहीं गान, कविता, व्याख्यान, साथियों की खुशामद चापलूसी व नखरे बर्दाश्त करना अवैतनिक कार्य करनेकी क्षमता उदारता व सच्चाई भी उनमें अवश्य होनी चाहिये। तभी वे महिलाओंमें जागृति फैला सकती हैं। इसलिये विचारकोंको ऐसी बहिनोंको प्रशिक्षित करनेके लिये सरकारी तौरसे ऐसी योजना बनानी चाहिये, जिससे बहिने सीखकर सिखा भी सकें।

-:०:-

षष्ठ खण्ड

कुछ विशिष्ट समाज-सुधारक

महाराष्ट्रको पहली पीढ़ीके प्रमुख सुधारक

महाराष्ट्रमें सुधारक प्रवृत्तिका प्रारम्भ सन् १८४० के आसपास हुआ था। श्री बालशास्त्री जांभेकरने सन् १८३२ में "दर्पण" नामक साप्ताहिक तथा "दिग् दर्शन" नामक मासिक पत्रोंका प्रकाशन बम्बईसे पहले-पहल प्रारंभ किया। महाराष्ट्रके प्रथम सुधारक यही कहे जा सकते हैं। श्री बालशास्त्रीने सन् १८४० में श्री गंगाधरशास्त्री फड़के द्वारा विधवा-विवाहके समर्थनमें एक पुस्तक लिखवा कर विधवा-विवाहके आंदोलन को प्रोत्साहित किया। उन्होंने श्रीपाद शेषाद्रि नामक ईसाई बने हुए व्यक्तिको पुनः हिन्दू-धर्ममें प्रविष्ट करके आधुनिक कालमें पतितोंको पुनः स्वधर्ममें सम्मिलित करनेकी प्रवृत्तिका पहला उदाहरण प्रस्तुत किया। श्री बाल शास्त्रीने अपने सामयिक पत्रों द्वारा इस बातका भी भान कराया कि पाश्चात्य विद्याओंके प्रसारके बिना हिन्दुओंका उद्धार नहीं हो सकता। सन् १८४२ में बालशास्त्री बम्बईके एलफिन्स्टन कॉलेजमें अध्यापक नियुक्त किए गए। श्री बालशास्त्रीका जन्म सन् १८१० में हुआ था और उनका अवसान १८४६ में हुआ। छत्तीस वर्षके अपने छोटेसे जीवनमें उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञानका प्रसार किया, सामयिक पत्रोंका प्रकाशन किया, विधवा-विवाहको प्रोत्साहन दिया और अन्य धर्मोंमें गये हुए लोगोंको पुनः हिन्दू-समाजमें सम्मिलित करनेकी प्रवृत्ति को सक्रिय सहायता दी। इन कार्यों द्वारा उनकी प्रतिभा, विचारोंकी उदारता, धर्म-निष्ठ सुधार वृत्ति, एवं सार्वजनिक हिताकांक्षा आदि सद्गुणोंका परिचय मिलता है। अल्पजीवी होनेके कारण महाराष्ट्रको उनके गुणों और कार्योंका वांछित लाभ नहीं प्राप्त हुआ।

श्री बालशास्त्रीको उन दिनों मराठीके प्रख्यात व्याकरणकर्त्ता श्री दादोबा पांडुरंग तर्खड़का भी सहयोग प्राप्त हुआ था। श्रीपाद शेषाद्रिको ईसाई-धर्मसे पुनः हिन्दू-धर्म में सम्मिलित करनेके कारण श्री बालशास्त्रीके विरुद्ध बड़ा उपद्रव खड़ा हो गया था। उस समय उनके बचावके लिए बम्बईमें तत्कालीन नगरसेठ श्री जगन्नाथ शंकरसेठ ने अच्छी सहायता की थी। श्री जगन्नाथ शंकर सेठकी सरकारी दरबारमें अच्छी प्रतिष्ठा और प्रभाव था। सती-प्रथा बंद करनेके लिए उसके पक्षमें अपना विचार प्रकट करके उन्होंने सरकारकी सहायता की थी। परन्तु उन दिनों, महाराष्ट्रमें अर्थात् बम्बई और पूनामें सार्वजनिक जीवनका प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। समाचार-पत्र भी नहीं थे। साम-यिक पत्रों द्वारा सार्वजनिक विचारोंपर प्रभाव डालनेका प्रथम श्रेय श्री बालशास्त्रीको

है । उन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ किया । सती-प्रथा क़ानून द्वारा बंद हो चुकी थी । उस समय स्त्री-स्वातंत्र्यकी दृष्टिसे विधवाके पुनर्विवाहका प्रश्न, स्वामी रामतीर्थके शब्दोंमें कहें तो "जीवित सती" का प्रश्न, समाजके सामने खड़ा था । इस क्षेत्रमें बंगालके सुधारकों की अपेक्षा महाराष्ट्रीय सुधारकोंमें कुछ विशेषताएँ थीं ।

श्री दादोबा पांडुरंगने सन् १८४० में ही बम्बईमें "परमहंस मंडली" नामक एक गुप्त संस्था जातिभेदके उन्मूलनके उद्देश्यसे बनाई थी । इस संस्थाके विषयमें श्री बाबा पदमजीने अपनी आत्मकथामें इस प्रकार लिखा है—

> "इस मंडलीकी मुख्य मान्यताएँ इस प्रकार थीं—जाति-भेद नहीं मानना चाहिए। विधवाओंके पुनर्विवाहका समर्थन करना चाहिए तथा मूर्त्तिपूजा नहीं करनी चाहिए । इसके सिवाय धर्म विषयक उनका विचार किस प्रकारके होने चाहिएँ, इसका कोई निश्चित निर्णय नहीं किया गया था । मंडलीके सदस्यों की संख्या खूब न बढ़ जाय तब तक इन मान्यताओंको गुप्त रखना चाहिए । मंडलीके अधिवेशन गुप्त रूपमें किये जाते थे । ...."

राजनीतिके क्षेत्रमें तो हमने इस प्रकारके गुप्त मंडलोंकी बातें बहुत सुनी हैं, परन्तु जाति-भेद ऐसी सामाजिक संस्थाके विनाशके लिए ऐसी गुप्त संस्था स्थापित हुई हो, ऐसा सुननेमें यह पहली बार आया है । इस सभाके सदस्योंमें इसाई और मुसलमान भी थे । इसकी शाखाएँ बम्बईसे बाहर अन्य स्थानोंपर भी थीं । इस सभाके दिशा-दर्शनके लिए श्री दादोबा पांडुरंगने "पारमहंसिक ब्रह्मधर्म" नामक एक पद्यमय ग्रंथ भी लिखा था ।

इस गुप्त मंडलीका काम बीस वर्ष (सन् १८६०) तक चलता रहा । एक सदस्य ने संस्थाकी बातें सार्वजनिक रूपमें प्रकट कर दीं, तथा उसके सदस्योंके नाम भी प्रकट कर दिए । फलतः सब सदस्य संस्थासे संबंध तोड़कर स्वतंत्र हो गए और सामाजिक बहिष्कारके भयसे अपने -अपने स्थानोंपर चुपचाप बैठ गए । नैतिक साहसके बिना समाज-सुधार नहीं हो सकता था ? तथापि इस संस्थाकी राखमें से सन् १८६७ में प्रार्थना समाजका उद्भव हुआ । प्रार्थना समाजको न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे और डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर सदृश मनीषी और चारित्र्यके धनी महानुभाव मिले । इस कारण कुछ समय तक यह समाज खूब प्रगतिशील रहा । परन्तु बंगालके ब्राह्म समाजकी तरह इस समाजको महाराष्ट्रके जीवनमें विशेष महत्व नहीं मिल सका । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सन् १८८० में श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, श्री गोपालगणेश आगरकर तथा लोकमान्य तिलक सदृश महाप्राण तीन विभूतियोंने आगे बढ़कर महाराष्ट्रमें राष्ट्रवाद और बुद्धिवादकी स्थापना की । महाराष्ट्रमें १८८० के आसपास श्री तिलक-आगरकर आदि कर्मवीरोंने देशपूजाका व्रत लेनेवाले लोगों का एक संप्रदाय बनाकर, एक अपूर्व प्रथाको प्रारंभ किया । उसकी प्रभाके आगे प्रार्थना-समाजकी सुधारक-मंडलीका तेज फीका पड़ गया । महाराष्ट्रके तरुणोंके मन अन्य लोगोंने आकृष्ट कर लिए ।

सुधारका जो शुभ कार्य सन् १८४० में श्री बालशास्त्री, दादोबा पांडुरंग तर्खड, तथा डॉक्टर भाऊदाजी लाड आदि महानुभावोंने प्रारम्भ किया था उसे वास्तविक रूप प्रदान करनेका तथा सर्वांगीण सुधार करनेका सत्कार्य सरदार गोपालराव हरि देशमुख

उर्फ "लोकहितवादी" ने किया। श्री लोकहितवादी बहुमुखी प्रतिभावाले व्यक्ति थे। श्री बालशास्त्री, दादोबा पांडुरंग, श्री डॉक्टर भाऊडाजी आदिमें किसीको भी सच्चे अर्थमें सर्वांगीण सुधारक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने देशकी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितिकी ओर ध्यान नहीं दिया। पहली पीढ़ीके लोगोंमें इस बातका श्रेय लोकहितवादीको ही देना चाहिए। अगली पीढ़ीके लोगोंमें यह मान श्री रानाडेको दिया जाना उचित है। दूसरी पीढ़ीमें न्यायमूर्त्ति रानाडेने जो-जो कार्य किए उनकी भूमिका में विद्यमान तात्विक विचारोंके बीज लोकहितवादीके लेखोंमें दृष्टिगत होते हैं। कितने ही विषयोंमें तो लोकहितवादी लेखोंमें श्री रानाडे की अपेक्षा भी अधिक मूलग्राही दृष्टि और साहसिक वृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

लोकहितवादीने अपने लेखोंका प्ररंभ सन् १८४८ में किया। उस समय उनकी उम्र २५ वर्षकी थी। उनका जन्म सन् १८२३ में पूनामें हुआ था। तब मराठी राजसत्ताको समाप्त हुए पाँच ही वर्ष हुए थे। लोकहितवादीके पिता श्री हरिपंत देशमुख बीरवर बापू गोखलेके हिसाब-नवीस थे। बापू गोखलेने पेशवाईकी रक्षाके लिए अंतिम दम तक लड़ते हुए रणक्षेत्रमें अपना शरीर छोड़ा था। श्री हरिपंत देशमुख एलफिन्स्टन साहबके बुलानेपर भी, उनके पास नहीं गए थे। इस कारण उनकी जागीर जब्त कर ली गई थी। बादको पेशवा द्वारा सिफारिश करनेपर लौटा दी गई थी, परन्तु उनकी मृत्युके पश्चात् पुनः जब्तकर ली गई थी। फलतः गोपालराव देशमुख (लोकहितवादी) को विभिन्न पदोंपर नौकरी करनी पड़ी। पहले वे मुन्सिफ बने। बादको सहायक न्यायाधीश और अन्तमें स्माल काज कोर्टमें न्यायाधीश बनाए गए। सन् १८७८ में वे नौकरीसे निवृत्त हुए और सन् १८९२ में उनहत्तर वर्षकी उम्रमें उनका देहावसान हुआ।

इस प्रकार अँग्रेजोंके शासनमें शिक्षा-दीक्षा पाए हुए प्रथम पीढ़ीके लोगोंके साथ सार्वजनिक कार्यका प्रारम्भ करके रानाडे, भांडारकर, तैलंग आदिकी दूसरी पीढ़ीको तथा चिपलूणकर, तिलक, आगरकर आदिकी तीसरी पीढ़ीको देशसेवा करते हुए देखनेका सौभाग्य लोकहितवादीको प्राप्त हुआ था। वे अपने सम सामयिक सुशिक्षित लोगोंकी तुलनामें अधिक विद्वान्, अधिक तेजस्वी और अधिक दूरदर्शी थे।

ब्रिटिश राज्यके विरुद्ध बलवा करके स्वराज्य प्राप्त किया जा सकेगा तथा हमारे सामान्य सरदार तथा जागीरदार एकत्र हो कर अँगरेज़ोंको यहाँसे हाँक निकालेंगे, इत्यादि बातोंको सुनकर लोक हितवादी कहा करते थे कि यह तो ऐसी बात हुई कि सब पशु मिलकर यह सोचने लगें कि हम सब ग्वालेकीं सत्ताको नष्ट कर देंगे।

उस समयके ब्राह्मण अंग्रेजी राज्यपर गालियोंकी वर्षा किया करते थे। इस राज्य के कारण ही हमारी वह अपदशा हुई है, इस प्रकार कहते हुए पेशवाईको याद कर कर के वे रोया करते थे। परन्तु अंग्रेजी राज्यका प्रतिकार किस प्रकार किया जा सकता है, इस बातका कुछ भी ख्याल उन्हें नहीं था। पूनाका पतन हो जानेपर वहाँके ब्राह्मणोंने एक छोटा-सा बलवा किया था, परन्तु एलफिन्स्टनने उसे तुरंत ही दबा दिया था। उसके पश्चात् ये ब्राह्मण अंग्रेज़ोंके आगे इस तरह दब गए कि दो पीढ़ियों तक कोई अपना माथा ऊँचा नहीं कर सका। इस प्रकारके डरपोक, अज्ञानी और व्यक्तिगत स्वार्थमें रचेपचे

रहनेवाले ब्राह्मणोंसे अँग्रेज हार जाएँगे यह सर्वथा असम्भव था। इसलिए इस प्रकारके ब्राह्मणोंके शापों और गाली वर्षणोंसे अंग्रेजोंका कुछ भी नुकसान नहीं हो सका। उन लोगोंने के विश्वासों और प्रलापोंसे एक लाभ अवश्य हुआ। वह यह कि पूना में रहनेवाले समझदार व्यक्ति यह समझने लगे कि अंग्रेज़ोंके शासनमें हम कंगाल और सत्ताहीन होते जा रहे हैं। बंगदेशीय हिन्दुओंकी तरह पूनाके ब्राह्मण ऐसा नहीं समझते थे कि मुसलमानोंके अत्याचारोंसे छुड़वानेके लिए परमेश्वरने यहाँ अंग्रेजी राज्य भेजा है। यह अनुभव करनेका भी कोई कारण नहीं था कि इस राज्यमें हम खुशहाल हो रहे हैं।

हाँ, अंग्रेज़ी विद्याके प्रसार होनेपर, कोंकणके पर्वतीय प्रदेशसे कंधेपर झोली लटका कर मैदान (देश) में आने वाले और अंग्रेज़ी पढ़कर तहसीलदारकी नौकरी मिल जानेपर स्वर्ग प्राप्तिका-सा आनन्द अनुभव करनेवाले कतिपय ब्राह्मणोंको कुछ समयके लिए इस राज्यकी अच्छाईका आभास अवश्य हुआ था। परन्तु पूनाके सरदार परिवारमें पैदा होकर पिताकी जागीर जब्त हो जानेके कारण, लाचारीमें सरकारी नौकरी स्वीकार करने वाले विचार:शील गोपालरावको इस सचाईका अनुभव करनेमें अधिक समय नहीं लगा कि अंग्रेज़ी शासनमें हमारा देश दरिद्र हुआ जा रहा है और दरिद्रताको दूर करनेके लिए हमें सामाजिक और राजनीतिक सुधारोंकी विशेष आवश्यकता है।

लोक हितवादीने पचीस वर्षकी उम्रमें, बम्बईसे श्री भाऊ महाजनके संपादकत्वमें प्रकाशित होनेवाले "प्रभाकर" साप्ताहिक पत्रमें लेख लिखने प्रारम्भ किए। १३ अगस्त सन् १८४८के दिन उन्होंने "प्रभाकर" में "राज्य सुधारण" शीर्षक एक लेख लिखा था। उसका निम्नलिखित अंश पठनीय है—

देशकी ग़रीबीको दूर करना हो, तो सर्वप्रथम राज्यको सुधरना चाहिए। उत्तम प्रकारसे राज्यके संचालनके लिए कोई न कोई उपाय खोज निकालना चाहिए। मुझे ज्ञात है कि लोग मूर्ख हैं और उनमें इस बातके विचारकी शक्ति नहीं है। तथापि मुझे जो उपाय सूझ पड़ता है, वह मैं प्रस्तुत करता हूँ। इस समय भारतके एक बड़े भाग पर कंपनी सरकारका राज्य है। इस शासनमें जनताका कुछ भी अधिकार नहीं है। यदि हम अंग्रेज़ोंके अपने देशके शासनपर दृष्टिपात करें, तो पता चलेगा कि वहाँ ऐसा नहीं है। वहाँकी जनताको शासनमें हिस्सा लेनेका तथा क़ानून बनानेका अधिकार है। लोगोंकी सभा (पार्लमेंट) क़ानून बनाती है और उसके आधारपर राजा राज्यका प्रबन्ध करता है। भारतवर्षमें भी इसी प्रकारकी शासन-व्यवस्था होनी चाहिए।

इसके बाद कंपनी सरकारको अगले २० वर्षोंके लिए शासनको नई सनद प्राप्त होनेपर भी लोकहितवादीने एक लेख लिखकर इस बातका आंदोलन किया था कि हिन्दुस्तान में लोगोंके प्रतिनिधियोंका शासन शुरू किया जाना चाहिए।

ब्रिटिश भारतमें प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन होनेसे देशी राज्योंपर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा इसपर भी लोक हितवादीने उस जमानेमें बड़े सुन्दर और दूरदर्शी विचार प्रकट किए थे।

लोक हितवादीके इन लेखोंसे उनकी बुद्धि, देशप्रेम और प्रतिभाका ठीक-ठीक परिचय मिलता है। यूरोपमें उन दिनों जो क्रांतियाँ और मौलिक परिवर्तन हो रहे थे उन सबके विषयमें लोकहितवादी अपने तात्विक विचार लोगोंके सामने मराठी भाषामें व्यक्त किया

करते थे। लोकहितवादीने जिन सर्वांगीण सुधारोंका पहले पहल तत्व दर्शन किया वे आगे जाकर फल लाए। लोकमान्य तिलकने उससे प्रेरणा लेकर प्रगतिशील राजनीतिको जन्म दिया। सुधारक शिरोमणि आचार्य आगरकरने महाराष्ट्रमें समाज सुधारका शंखनाद किया। महामना गोखलेने वैधानिक राजनीतिको प्रगति प्रदान की।

लोकहितवादीके युगमें ही महाराष्ट्रमें श्री० विष्णुबुवा ब्रह्मचारीने एक प्रकारके समाजवादका संदेश अपने "सुखदायक राज्य प्रकरण" नामक निबंधमें सुनाया। यह वस्तुतः बड़े विस्मयकी बात है। श्री विष्णु बुवा ब्रह्मचारीका जन्म सन् १८२५में और देहावसान सन् १८७१ में हुआ था। अपने धर्मपर उनकी दृढ़ श्रद्धा थी। अपनी तेजस्वी वक्तृत्व-शक्ति द्वारा वे ईसाई धर्म प्रचारकोंको ललकारते थे और हिन्दुओंमें स्वधर्म की निष्ठा और अभिमान प्रबुद्ध करते थे। उन्होंने धर्म-विषयक कुछ पुस्तकें भी लिखीं हैं। परन्तु उनके "धर्म" शव्दका अर्थ बहुत व्यापक था। उसमें समाजके ऐहिक अपराधका भी समावेश था। वे कहते थे कि हमारे समाजमें अनेक सुधारोंकी आवश्यकता है। परन्तु साथ ही वे यह भी कहते थे कि उन सुधारोंके लिए पाश्चात्य संस्कृतिका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं। अपनी प्राचीन संस्कृतिमें से ही हमें अपनी उन्नतिका मार्ग प्राप्त हो सकेगा। आध्यात्मिक वृत्ति वाले इस ब्रह्मचारीने समाज सत्ताके विषयमें जो विचार पहले पहल मराठी भाषामें व्यक्त किए, वे जानने योग्य हैं उनका कहना यह था कि "प्रजा द्वारा सारी जमीनकी खेती कराई जानी चाहिए। जहाँ जो फसल हो, सकती हो, वहाँपर वह अनाज बोना चाहिए। अनेक प्रकारके अनाज, फल, कंद, शाक तथा आहारकी अन्य वस्तुएँ पैदा करके ग्राम-ग्राममें उनके भंडार भरकर रखने चाहिएँ। उन भांडागारोंमें से सब ग्रामवासियोंको वांछित वस्तुएँ देनी चाहिएँ तथा पशुओंके लिए घास चारा मिलना चाहिए। इस प्रकार सर्दी-गर्मी और चौमासे में सारी जमीनमें से वांछित फसल लेनी चाहिए। यह सारी साझी उपज एकत्र करके एक व्यक्तिके पास रखनी चाहिए। जिसे जितनी आवश्यकता हो, उसे उतनी वस्तुएँ मिलनी चाहिए। राजा को रूईके, ऊनके, रेशमके और सन के कपड़े तैयार रखने चाहिएँ और ग्राम-ग्राममें उनके भण्डार भर कर रखने चाहिएँ। उसमेंसे जिसको जितना कपड़ा जरूरी हो, उतना मिल जाना चाहिए।.... गृहस्थोंके लड़के-लड़कियाँ पाँच वर्षके हो जायँ, तो वे राजाको सौंप देनी चाहिएँ। राजा उनके लिए सब विद्याओंके सीखनेकी व्यवस्था करे। जिसमें जिस कामकी निपुणता हो, उसे वह काम राजा द्वारा सौंपा जाना चाहिए। स्त्री-पुरुषोंके वृद्ध हो जानेपर उनसे काम-धंधा नहीं कराना चाहिए। उनके लिए विश्वशांतिपूर्वक रहने और खानेकी व्यवस्था होनी चाहिए।"....

विष्णु बुवा ब्रह्मचारीके साम्यवादसे मिलते-जुलते इन विचारोंको पढ़कर आज कल के शिक्षित जनोंको आश्चर्य होगा कि कार्लमार्क्सके ग्रंथोंके पढ़े बिना इस व्यक्तिको साम्यवाद (कम्युनिज्म) की बात कहाँसे सूझी। परन्तु इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं। जो अपने स्वार्थ की होलीकर चुका हो, जिसका संन्यासी हृदय वर्ग स्वार्थसे मुक्त हो, जो व्यक्ति प्राचीन ऋषियों द्वारा अपनी प्रतिभासे सींचें हुए ध्येय को अपने आचरण में उतारनेका सतत प्रयत्न करता रहा हो, ऐसा पुरुष रेलगाड़ी, तार आदि धनोत्पादक यंत्रोंको देखकर शीघ्र ही वह अनुभव कर सकता है कि इन यंत्रोंसे

उत्पन्न मालकी स्पर्धामें स्वदेश के कुटीर उद्योग और शिल्प नष्ट हुए जा रहे हैं, लोग दिनों दिन बेकार बन रहे हैं और देशमें दरिद्रता और हीनता बढ़ती जा रही है। यह सब यंत्रकला और भौतिक-विद्या अन्य देशोंको चूसनेके काममें प्रयुक्त हो रही है। इन यंत्रोंकी सहायतासे मुट्ठी-भर लोग स्वयं करोड़पति बनकर करोड़ों लोगोंको अपना गुलाम बना रहे हैं। यदि इस यंत्रकला और विज्ञानका उपयोग अपनी संतान की तरह प्रजाका पालन करनेवाली राजसत्ता करने लग जाय और प्राचीन ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किए हुए विश्व कुटुम्बके सिद्धान्तका स्थापन किया जाय, तो उत्तम होगा— इस प्रकारकी कल्पनाके लिए कार्लमार्क्सके ग्रंथोंको पढ़नेकी आवश्यकता नहीं है। संन्यासी वृत्तिवाले और लोक कल्याणमें ही आनन्द माननेवालें शुद्ध सात्विक चेता मनुष्य को ऊपर लिखित परिणामोंतक पहुँचनेमें देर नहीं लग सकती।

लोकहितवादीके जमानेमें ही महाराष्ट्रमें एक बड़े सुधारक श्री ज्योतिराव गोविन्दराव फुले हुए हैं। वे महाराष्ट्रमें ब्राह्मणेतर आंदोलनके पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। समाज-सुधारके आन्दोलनको सामाजिक वर्गविग्रह का स्वरूप प्राप्त हुआ, इसमें श्री फुले द्वारा स्थापित "सत्य शोधक समाज" की विचारसरणी ही कारणभूत हुई थी।

निचले स्तरके विशाल समाजको साक्षर बनाकर और उनकी गुलाम-वृत्ति मिटाकर उनमें समताका प्रचार करनेके लिए इन्होंने बड़ा प्रयत्न किया।

अपनी इन समाज-सुधार प्रवृत्तियोंको वेग प्रदान करनेके लिए सन् १८७३ में उन्होंने "सत्यशोधक समाज" की स्थापना की। इनके मित्र कृष्णराव पांडुरंग भालेकर ने सन् १८७५ में इन सुधार-प्रवृत्तियोंके प्रचारके लिए "दीनबंधु" नामक साप्ताहिक पत्र निकालना प्रारंभ किया। ज्योतिराव फुले इस पत्रमें बराबर लेख लिखकर समाज-संशोधनका काम करते रहे। महाराष्ट्रमें अस्पृश्यता निवारणका आन्दोलन पहले-पहल श्री फुलेने ही प्रारंभ किया। सन् १८६३ में पूनामें सारस्वत जातिमें पुनर्विवाह करानेमें वे अग्रसर थे। प्राथमिक शिक्षा और विशेषत: ग्रामोंमें तालीमके प्रसारके वे बड़े पक्षपाती थे। ये कहा करते थे कि किसानके सुखी होनेपर ही सारा देश सुखी हो सकता है। दीन दरिद्रको निहार कर इनका हृदय द्रवित हो जाता था। अपना समस्त जीवन इन्होंने लोकसेवामें ही व्यतीत किया। महाराष्ट्रमें एक व्यापक आंदोलनको इन्होंने प्रारंभ किया। ठेठ देहातों तक पहुँचने वाला पहला समाज-सुधारक आंदोलन यही था। समाज-रचनामें मौलिक परिवर्तन लानेके लिए इन्होंने रूढ़िप्रतिपादक शास्त्रों का खूब खण्डन किया। अपने विचारों के प्रसार के लिए इन्होंने १०-१२ ग्रंथ भी लिखे। इनकी सेवा, तपस्या और त्यागवृत्तिको देखकर जनता इनको "महात्मा" नामसे आज भी याद करती है। महाराष्ट्रमें समाज-सुधारके इतिहासमें इनका नाम अमर है। महामति रानाडे आदि पुरुषोंने भी आपकी प्रवृत्तियोंका अभिनंदन किया था। इनका अवसान सन १८९० में हुआ। (इनका संक्षिप्त जीवन-परिचय अन्यत्र दिया गया है—सम्पादक)

सन् १८७६में बम्बईमें "प्रार्थना समाज"की स्थापनामें लोक हितकारी का भी हाथ था। श्री दादोबा पांडुरंग तर्खड़ और उनके बंधु डाक्टर आत्माराम पांडुरंग इस समाजकी प्रवृत्तिके अगुवा थे। महामति रानाडे और महाविद्वान डॉ० रामकृष्ण गोपाल

भांडारकर तथा श्री वामन आबाजी मोडक प्रवृत्ति महानुभव इस समाजके अग्रनायक रहे। उन्हें हम महाराष्ट्रकी दूसरी पीढ़ीके महान समाज सुधारकोंमें स्थान दे सकते हैं।

प्रार्थना समाजकी कल्पना यद्यपि बंगालके ब्राह्म समाजसे प्रेरणा पाकर हुई थी, परन्तु यह समाज हिन्दू-धर्मसे पृथक होना नहीं चाहता था। श्री केशवचन्द्र सेनने ब्राह्म समाजको जो स्वरूप प्रदान किया था, वह ईसाई मतकी ओर बुरी तरह झुक गया था। यह बात महामान्य रानाडे तथा डाक्टर भांडारकरको सर्वथा पसंद नहीं थी। मूर्त्ति-पूजा तथा अवतार कल्पनाका प्रार्थना समाजी खूब खंडन करते थे परन्तु वे इस बात का सदा प्रतिपादन करते रहते थे कि प्रार्थना-समाज हिन्दू-धर्मका ही एक सुधारक पंथ है। महामति रानाडे और डा० भांडारकर दोनों ही हिन्दू धर्मके कट्टर अभिमानी थे और अपने "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति" के सिद्धान्तके लिए वे बहुत गौरव अनुभव किया करते थे। डॉ० भांडारकर एक स्थानपर कहते हैं कि—परमेश्वर हमारे समीप ही वास करता है। वह हृदयस्थ है। इस अत्युत्तम विचार का हमारे समाजमें विशेष विस्तार है। तथापि वे जीवात्मा और परमात्माके अद्वैत तथा "अहं ब्रह्मास्मि" के सिद्धान्तको नहीं मानते थे। वे अव्यक्त परमात्मा की उपासना करते थे और मूर्त्तिपूजा के विरोधी थे, तथापि परमात्मा को सगुण मानते थे। शंकराचार्यका निर्गुण परमब्रह्म और "मायावाद" भी उनको मान्य नहीं था। वे भक्तिमार्गी, सगुणोपासक और द्वैतवादी थे, परन्तु मूर्तिपूजा और अवतारवादके विरोधी थे। उन्हें प्रार्थना आवश्यक प्रतीत होती थी, परन्तु वे प्रार्थना द्वारा भौतिक फलकी प्राप्ति नहीं मानते थे। उनका विशेष आग्रह था कि प्रार्थना केवल आध्यात्मिक उन्नतिके लिए ही करनी चाहिए। इस प्रकार भौतिक व्यवहारोंमें से अशास्त्रीय चमत्कारोंको प्रार्थना समाजने दूर कर दिया था।

मूर्त्ति-पूजाके विषयमें डॉक्टर भांडारकरके विचार जानने योग्य हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि—

"अमुक देवता अथवा प्रतिमाका ही भज या उसकी शरणमें जा, यह कहना ठीक नहीं केवल प्रतिमाको दृष्टिके सामने रखकर भजन-पूजन करनेसे अनेक अनिष्ट परिणाम होते हैं। प्रतिमा पुरुषकी हो या स्त्रीकी, सच्चे देवताके स्वरूप और महिमाका विस्मरण तो हो ही जाता है और उस देवके उपासक उसके ऊपर मनुष्यके क्रिया-कलापका आरोपण कर बैठते हैं। देव यदि पुरुष हो, तो उसके लिए पत्नी खोज लाते हैं, यदि देवता स्त्री हो तो उसके लिए पतिकी व्यवस्था की जाती है। फिर उसके लिए मनुष्योंकी सी शय्या तैयार की जाती है। उपासक यदि तमाकू सेवी हो तो उसके लिए पान, सुपाड़ी तथा तम्बाकूकी पीकदानकी व्यवस्था देवगृहमें की जाती है। इस प्रकार प्रभुकी केवल विडम्बना ही की जाती है। ....ऐसे अनिष्टोंका समावेश धर्ममें न होने पाये इसीलिए धर्माचरणमें मूर्तिपूजाको स्थान नहीं देना चाहिए।"

इस प्रकार महाराष्ट्रके आद्य सुधारकोंके कार्योंका विचार करते हुए हम १८७० के समय तक पहुँच जाते हैं। इनके पश्चात् महाराष्ट्रके इतिहासको एक नवीन मोड़ प्राप्त होता है।

अनुवादक—श्री शंकरदेव विद्यालंकार

श्री गोपाल गणेश आगरकर

महाराष्ट्रमें समाज-सुधारकी भावनाका प्रसार करनेवाले इस मनीषी पुरुषका जन्म सन् १८५६ में सतारा जिलेके टेंगू नामक गाँवमें हुआ था। करहाडमें तीसरी श्रेणी तक अंग्रेजीका शिक्षण करनेके बाद कुटुम्बकी आर्थिक कठिनाइयोंके कारण इनकी पढ़ाई छूट गई तथा इन्होंने मुन्सिफ कोर्टमें काम शुरू किया। परन्तु अध्ययन और अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्कट आकांक्षाके कारण वे अधिक समय तक काम नहीं कर सके और मुन्सिफ नागपुरकर से ७५ रु० की सहायता लेकर अधिक अध्ययन करनेके लिए रत्नगिरि चले गये। वहाँ भी इनको अपने ध्येयमें सफलता नहीं मिली। ये जिस सद्गृहस्थ के यहाँ गये थे उसकी मृत्यु हो गई। दूसरोंके यहाँ बारी लगाकर भोजन करनेकी भी व्यवस्था नहीं हो सकी। अतः वे पुनः करहाड लौट आये और वहाँके अस्पतालमें कम्पाउन्डरके रूपमें नौकर हो गये। परन्तु अध्ययनकी लालसासे इनका मन वहाँ भी स्थिर नहीं रह सका और वे वहाँसे अपने मामाके साथ अकोला चले गए। अकोलामें अनेक पारिवारिक संकटों और विपदाओंका मुकाबला करते हुए उन्होंने १८७५ में मैट्रिककी परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

एक दिन ये किसी कारणवश स्कूलमें विलम्बसे पहुँचे। इसपर अध्यापकने इन्हें बुरी तरह फटकारा और कहा "तुम इस प्रकार पिछड़ते जाओगे, तो बड़े होकर कुछ भी नहीं कर सकोगे।" इसपर गोपालने तत्काल उत्तर दिया "यदि मैं आपकी तरह ही एम० ए० न करलूं, तो मेरा नाम आगरकर नहीं।" बचपनमें रोषसे ही निकले इन उद्गारोंको उन्होंने पूरा कर दिखाया।

गोपालकी शिक्षणकी अत्यधिक अभिलाषा और प्रवृत्ति देखकर इनके अध्यापकोंने स्वयं चन्दाकर ६० रु० एकत्र किये तथा कालेजकी प्रथम तिमाही की फीस इन्हें दे दी। इस राशिको लेकर ये डेक्कन कालेजमें प्रविष्ट हो गये। कालेजमें अपने खाने-पीने तथा पुस्तकों आदिको जुटानेके लिए इन्हें घोर परिश्रम करना पड़ा। समाचार-पत्रों में ये कुछ लिखा करते थे, उससे इन्हें ५) प्रति मास मिलता था। प्रति तीन मास बाद जूनियर छात्र वृत्ति भी मिलती थी। परन्तु इससे भी आर्थिक समस्या हल नहीं होती थी। कालेजमें इनके पास विस्तरके रूपमें केवल १ चादर ही थी। कालेजकी भाषण व निबन्ध प्रतियोगिताओंमें विजयी होनेपर इन्हें ५०-५० रु० पुरस्कारमें मिले। बहुत मितव्ययी जीवन बितानेपर भी ये एम० ए० की परीक्षाके लिए फीसके पैसे न जुटा

सके। इन्होंने नाटक लिखकर पैसे प्राप्त करनेका उपक्रम किया और इसके लिए रात-रात-भर जगकर लेखन-कार्य करने लगे। इनके एक प्राध्यापक श्री छत्रेको यह बात मालूम हुई और उन्होंने उनकी फीस भर दी। आर्थिक संकटोंके साथ जूझते हुए इन्हें दमेकी व्याधिने भी धर दबोचा। दर्शन व इतिहास लेकर इन्होंने सम्मानपूर्वक एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। मिल और स्पैन्सर जैसे बुद्धिवादी और अज्ञेयवादी दार्शनिकों का इनपर गहरा प्रभाव पड़ा और ये प्रत्येक बातको बुद्धिकी तुलापर तोलनेके आदी हो गए।

जीवन का नया ध्येय

उस समय इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवालोंके लिए मोटी तनखाह की नौकरी तथा मान-सम्मान मिलना अत्यन्त सहज था। परन्तु अपने ध्येयवाद और डेक्कन कालेजमें ही तिलकके साथ हुए सम्पर्कके कारण उन्होंनें अपने जीवनका मूल्यांकन और ही ढंगसे किया। इस सम्बन्धमें उन्होंने अपनी माताजीको जो पत्र लिखा था, वह स्मरणीय है। उन्होंने पत्रमें लिखा था—"मेरे पुत्रने बड़ी ऊँची परीक्षा दी है तथा उसे खूब बड़ी वेतन वाली नौकरी मिलेगी और हमारे दुःखके दिन फिर जायँगे ऐसी आशाएँ तुमने लगा रखी होंगी। परन्तु माता! मैं अभीसे ही तुम्हें यह कह देना चाहता हूँ कि विशेष सम्पत्ति और विशेष सुखकी मुझे कोई आकांक्षा नहीं है। मैं केवल अपनी उदर-पूर्तिके लिए ही आवश्यक पैसे रखकर शेष सब परोपकारके लिए ही व्यय कर दूंगा।"

१८८० में श्रीविष्णु शास्त्री चिपलूणकरने जिस समय न्यू इंगलिश स्कूलकी स्थापना की उस समय उनके सहकारी केवल आगरकर और तिलक ही थे। उसके बाद १८८१ में जब "केसरी" और "मराठा" पत्रोंको शुरू किया गया तब केसरीके प्रथम सम्पादक श्री आगरकर ही थे। अगले वर्ष छत्रपति कोल्हापुर नरेशके पक्षका समर्थन करनेके कारण इन्हें तथा श्री तिलकको १०१ दिनके कारावासका दण्ड मिला। उस समय उनकी मनःस्थिति क्या थी, इसका स्पष्ट आभास उसकी "डोंगरीकी जेलमें एक सौ एक दिन" नामक पुस्तकसे मिलता है।

न्यू इंग्लिश स्कूल बढ़कर फर्ग्युसन कालेजके रूपमें परिवर्तित हो गया। इस कार्य में भी श्री आगरकर श्री तिलकके साथी थे। जनतामें ज्ञान प्रसारके लिए उन्होंने यद्यपि "केसरी" में तर्क और बुद्धिकी कसौटीके आधार पर बड़े विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे तथापि उनका मन निरन्तर सामाजिक सुधार सम्बन्धी बातोंकी ही चिंतना करता था। १८८४ में मलावारके शेटजीने यह प्रस्ताव रखा कि सरकारी क़ानूनोंकी सहायतासे बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। श्री आगरकरको यह मत पूर्णतया मान्य था, किन्तु इनके सब सहकारी इसके विरुद्ध थे अतः इस बातको दबाया जाने लगा।

श्री तिलक से विरोध

इसी समय 'पहले सामाजिक सुधार या राजनीतिक सुधार'—विवाद उठ खड़ा हुआ। लोकमान्य तिलक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे। उनका सारा ध्यान इस बातकी ओर था कि विदेशी सत्तासे देशको बाहर निकाल फेंकनेके लिए किस प्रकार चक्रव्यूह रचा जाय। उनका यह विश्वास था कि सर्वप्रथम विदेशी सत्ताको समाप्त

करना चाहिए; इस कार्यको करते हुए यदि सामाजिक सुधारका कार्य कुछ विलम्बित हो जाय, तब भी कोई चिन्ताकी बात नहीं। लोकमान्यको यह चिन्ता थी कि राजनीतिक आन्दोलनके लिए जनताको साथ लेनेके लिए कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिससे उनके अनुयायियोंमें ही किसी विषयको लेकर बुद्धि-भेद हो जाय और वे राजनीतिक संघर्षके मार्गसे विचलित हो जायँ। श्री तिलककी यह मान्यता थी कि हम अपने समाज में जो सुधार करना चाहते हैं उसे हमें स्वयं करना चाहिये। इसके लिए विदेशी सरकार अपने क़ानूनोंसे हमें अमृत भी दे, तो वह हमें स्वीकार नहीं। उनका यही कथन था कि एक बार जब विदेशी सत्ता यहाँसे चली जायगी तब हम जो सुधार करना चाहते हैं, स्वयं कर लेंगे।

इसके विपरीत श्री आगरकरका यह मत था कि हिन्दू-समाजका यह वट-वृक्ष अनेक स्थानोंसे खोखला हो गया है, उसकी तूफानोंसे मुक़ाबला करनेकी शक्ति क्षीण हो गई है। उसमें विद्यमान अनिष्ट प्रवृत्तियों और घातक रूढ़ियोंको निर्दयतापूर्वक काट-छाँटकर निकाल देना चाहिए। इसे नये विचारों और ज्ञानका खाद-पानी मिलना चाहिए। यदि समाजके घटक व्यक्तियोंमें आंतरिक बल और सामर्थ्य आ जाय, तो विदेशी सत्ताको समाप्त करनेमें अधिक समय नहीं लगेगा। इसके विपरीत यदि समाज निर्बल और क्षीण रहा, और उसे स्वतंत्रता मिल भी गई, तो भी वह अधिक समय तक टिक नहीं सकता।

केसरी से त्यागपत्र : नये पत्र का प्रारम्भ

इस विवादमें श्री तिलक और श्री आगरकरके मूल मतभेदके कारण केसरीके अन्य सहकारी जो श्री तिलकके पक्षमें थे, श्री आगरकर की अवज्ञा करने लगे। यह परिस्थिति जब असह्य हो गई तब २५ अक्टूबर १८८७ को उन्होंने "केसरी" से त्यागपत्र दे दिया तथा समाज-सुधारके ध्येयसे १८८८ में उन्होंने "सुधारक" नामका एक पत्र प्रारम्भ किया।

श्री आगरकरने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि "सुधारक" पत्र उसी बातकी उद्-घोषणा करेगा जो बुद्धि और तर्क सम्मत होगी। इस कार्यके लिये किसी भी पक्षसे आनेवाले विरोधका प्रतिकार करनेके लिए वे पूर्णत: तैयार थे। प्रथम वर्ष खर्च निकाल कर "सुधारक" को ३० रु० का लाभ हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रति मास उनका वेतन २।।) रु० पड़ा।

समाज सदासे ही प्राचीनताका अभिमानी रहा है। इस प्रकारके प्रतिकूल समाजमें भी उन्होंने अपने लेखों द्वारा अपने विचारोंका निर्भीकतापूर्वक प्रचार किया। इन्हें इस प्रकार के नवीन विचारोंका प्रचार करनेके कारण मार देनेकी धमकियाँ दी गईं। इतना ही नहीं इनके विरोधियोंने इनके जीवनमें ही इनका पुतला बनाकर अर्थी निकाली तथा उसकी अन्त्येष्टि की। परन्तु श्री आगरकर अपने अंगीकृत मार्गसे एक क्षणके लिए भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने उस समय विद्यमान सभी अनिष्टकारी रूढ़ियों और अन्य विश्वासोंपर निर्मम आक्रमण किए।

उन्हीं दिनों होल्कर सरकारने उन्हें ५०० रु० की नौकरीपर बुलाया, किन्तु उन्होंने इसे अस्वीकार कर अपने स्वार्थ त्यागके मन्दिरपर स्वर्ण कलश मंडित कर दिया।

१८९२ में प्रिंसिपल आप्टेके निधनके बाद उन्हें फर्ग्युसन कालेजका प्रिंसिपल बनाया गया। कुछ समय बाद ही कालने, जो बहुत समयसे इनकी प्रतीक्षामें था, इनके दरिद्री, दमा-पीड़ित, मिताहार और समाज-सेवासे जीर्ण शरीरको १८९५ में ग्रास बनाकर ही दम लिया।

उस समयका महाराष्ट्रीय मध्यम वर्गका जीवन-क्रम आर्थिक कठिनाइयोंके कारण परिवर्तित हो रहा था। नवीन परिस्थितिके अनुसार होने वाले इन परिवर्तनोंका समर्थन करनेके कारण नवीन पीढ़ी इन्हें अपना मार्ग-दर्शक समझती थी। इस प्रकार यह कहना अत्युक्ति न होगी कि श्री आगरकर उन व्यक्तियोंमें अग्रणी थे, जिन्होंने समाज-सुधार के कार्यकी नींव रखकर मध्यम वर्गके जीवनमें क्रांतिकारी परिवर्तनका समावेश किया।

सामाजिक विवेचना

श्री आगरकरने अपनी लेखनीको समाजके किसी भी विषयसे अछूता नहीं छोड़ा। उन्होंने समाजमें विद्यमान प्रत्येक रीति-रिवाजको तर्ककी कसौटीपर परखकर उसके गुण-दोष को प्रकट किया। समाज की वेश-भूषा क्या हो इस प्रकार के वाह्यविषयों से लेकर उन्होंने परलोक, चातुर्वण्य, ग्रंथ-प्रामाण्य, जाति-भेद, अन्धविश्वास जैसे गूढ़ विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई। इसी प्रकार राजा, प्रजा, क़ानून, स्वराज्य, स्वतंत्रता अन्न-वस्त्रकी समस्या आदि प्रश्नोंपर भी उन्होंने निर्भीकतापूर्वक अपने विचार प्रकट किए। यद्यपि उनकी ख्याति समाज-सुधारकके रूपमें थी तथापि राजनीतिक विचारोंमें भी वे सबसे आगे थे। "धर्मशास्त्रोंकी आज्ञाके समान सरकारके कायदे-क़ानून भी किसी मर्यादा तक ही पालन किए जा सकते हैं। सत्य बोलने वाले व्यक्तियोंको रूढ़ि-वादियोंसे या शासकसे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं। प्रारम्भमें विरोध होनेपर भी अन्ततः जनताको यह मालूम हो जायगा कि सच बोलने वाला कौन है। वाह्य राज्यक्रांतिकी अपेक्षा सामाजिक क्रांति—अन्तः क्रान्ति—अधिक महत्वकी है। संक्षेपमें अन्तःक्रांतिके बिना राज्यक्रांति भी निरर्थक हो जायगी।" इस प्रकारके विचार उनके लेखोंमें यत्र-तत्र ध्वनित होते हुए देखे जा सकते हैं।

श्री आगरकर जहाँ दार्शनिक-क्रांतिकारी थे वहाँ श्री तिलक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे। अनावश्यक और सहज रूपसे सिद्ध न होनेवाली बातोंको कहकर लोगोंका व्यर्थमें विरोध क्यों मोल लिया जाय, यह श्री तिलकका कहना था। इसके विपरीत श्री आगरकर को ऐसा लगता था कि जो सत्य है, उसे न कहना, या केवल स्वार्थके लिए ही उसे बोलना सत्यके अपलापका दोषभागी होना है। इसी बातको लेकर इन दोनों महान कर्तव्य-निष्ठोंमें मतभेद हो गया।

आज श्री आगरकरके विचारोंको सब मानने लगे हैं। राजकीय परिस्थितियोंमें सुधार करनेकी इच्छा होनेपर भी अब सब इस बातको माननेके लग गये हैं, कि समाजके दोषोंको दूर किया जाना चाहिए, तथा लोगोंमें व्यक्तिगत गुणोंका विकास किया जाना चाहिए।

व्यक्तिका विकास, उसका आचरण, सामाजिक रीति-रिवाज और स्त्रियोंकी उन्नति के सम्बन्ध में उनके अनेक लेख अत्यधिक पठनीय और माननीय हैं। जीवन-दर्शन, कर्म और समाज-सेवाके लिए व्यग्रताके सम्बन्धमें उनके विचार बुद्धिग्राह्य हैं।

श्री आगरकर द्वारा सुझाए गए अनेक समाज-सुधारोंको महाराष्ट्र-समाजने आज पूर्णतया स्वीकार कर लिया है। आज सीधी-सादी लगनेवाली इन बातोंके लिए इस मनस्वीको कितना कष्ट और अपमान सहना पड़ा यह आजके लोग पूरी तरह नहीं समझ सकते। समाजका स्वरूप ही आज इतना बदल गया है कि जिस व्यक्तिकी जीवित अवस्थामें अर्थी निकाली गई आज उसे ही लोग अपने भालका गौरव समझने लगे हैं। हालही में इस महापुरुषकी जन्म शताब्दी मनाकर तथा उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित कर समाजने अपने पूर्व पापोंका प्रायश्चित्त किया है।

—:०::०:—

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

लाला देवराज

"लाखोंमें एक" ये शब्द स्वर्गीय लाला देवराजजीके सम्बन्धमें १९०५ में पंजाब-सरकारके शिक्षा संचालक श्री डब्ल्यू० बैलने कहे थे और उन दिनोंमें इन्हीं शब्दोंमें उनके व्यक्तित्व और कार्यका दिग्दर्शन कराया जा सकता था। लाहोरके क्वीन मेरी कालेज के साथ कन्याओंके लिए बोर्डिंग हाउस कायम करनेका प्रस्ताव सरकारके सामने विचारके लिए उपस्थित था। उसकी सम्भावनाओंकी जाँच करनेके लिए श्री डब्ल्यू० बेलको सरकारकी ओरसे जालन्धर भेजा गया था; क्योंकि सारे पंजाबमें, लालाजी द्वारा संस्थापित जालंधर कन्या महाविद्यालय ही एक ऐसी संस्था थी, जिसके साथ बोर्डिंग हाउस लगभग दस वर्षोंसे कायम था। १८८४ के लगभग कन्या विद्यालयकी स्थापनाकी कल्पना करना एक असाधारण बात थी, सदियों पुरानी यह धारणा कि "स्त्री शुद्रौ नाधीयाताम्" इतनी बद्धमूल हो चुकी थी कि अपनेको जाग्रत और प्रगतिशील माननेवाले आर्य समाजियोंको भी उसके लिए तैयार करनेके लिए लालाजीको बड़ी मेहनत करनी पड़ी थी। उनको तैयार कर लेनेके बाद भी दो बार तो विद्यालय इसलिए नहीं चल सका कि उसके लिए पहली बार अध्यापिका न मिल सकी और दूसरी बार जब अध्यापिका मिली, तब कन्यायें न मिल सकीं। लालाजी अपनी जेबमें खिलौने और मिठाइयाँ ले जाते थे और घर-घर जाकर लड़कियोंको मिठाई व खिलौना का लालच देकर पढ़ानेके लिए लाते थे। आज एक लड़की आती तो कल कोई भी उसका रिश्तेदार आकर उसको उठा ले जाता अथवा उसको घर पर ही रोक लिया जाता।

लाला देवराजजीने स्वयं अपने एक व्याख्यानमें इन कठिनाइयोंकी चर्चा की थी। १९१० में जालन्धर आर्यसमाजके उत्सवपर उन्होंने कहा था कि "जब कोलम्बसने पाताल देश अमेरिकाका पता लगाया था, तब उसको अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़े थे। उसके पास किसी प्रकारकी कुछ भी सामग्री नहीं थी। सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि उसकी बातपर कोई यकीन न करता था। कोई यह नहीं मानता था कि कोई पाताल है भी।

"मैं कन्या महाविद्यालयके कामको कोलम्बसके कामसे उपमा दूंगा। अन्तर केवल इतना है कि कोलम्बस ढाई वर्षकी मेहनतके बाद पाताल-देशके तटपर पहुँच गया, मगर विद्यालयके कार्यकर्ताओंको बीस वर्षके अर्सेके बाद अभी सिर्फ किनारा नज़र आने लगा है। विद्यालयरूपी पाताल देशके कोलम्बस उसके अधिकारी लाला बद्रीदासजी,

लाला रामकिशनजी, लाला कर्मचन्दजी व लाला जेठामलजी हैं और हमारी इज़ाबेला वह थी, जिसने उस समय हमें इस महायज्ञका अनुष्ठान करनेके लिये प्रेरित किया था, जबकि उसको शुरू करनेके लिए हमारे पास केवल ८) रु० की पूंजी थी। सदियोंसे गिरी हुई स्त्री-शिक्षाकी ध्वजाको उड़ाकर फिरसे ऊँचे आकाशमें फहरानेवाली वह देवी थी हरियानाकी माई भगवती। आज जमाना बदल चुका है। समाज-सुधारके मैदानमें हम काफ़ी हद तक आगे बढ़ गए हैं। आज ये देवियाँ बिना चिक व परदेके यहाँ बैठ सकती हैं। मगर हरियानाकी इस इज़ाबेलाने ऐसे समय पर काम करना शुरू किया था, जबकि स्त्रियोंके लिए नंगे मुँह फिरना, कलंकित करनेवाला कार्य था। हम हरियानाको ऐसा ही पवित्र समझेंगे, जैसे हरिद्वारको।

"विद्यालय एक वृक्ष है। इसकी शाखाएँ बहुत-सी हैं। इनमें से किसीमें कुछ लगा हुआ है और किसीमें कुछ। पहली शाखा विद्यालय, स्कूल या कालेज है, दूसरी शाखा आश्रम है। तीसरी शाखा विधवा-भवन और चौथी कन्या अनाथालय।

"सज्जनो, विद्यालय एक आर्यसमाजी संस्था है। इसकी प्रबन्धकारिणी समिति एक रजिस्टर्ड संस्था है, जो कि समस्त आर्य समाजकी है। कुछ लोग एतराज करते हैं कि विद्यालय सामाजिक संस्था कैसे हो सकता है? विद्यालयकी प्रबन्धकारिणी सभा में आर्यसमाजके प्रतिनिधि आते हैं। जो संस्था अपनी पहली जमातकी लड़कियोंको आर्यसमाजके नियम याद कराती है, और स्वामीजी के ग्रंथोंको बाकायदा पढ़ाती है, यदि वह संस्था सामाजिक नहीं, तो और कौन सामाजिक संस्था हो सकती है? यह समाजका बच्चा है, सामाजिक संस्था है और ईश्वर करे कि यह समाज की ही रहे।

"लोग कहते हैं कि विद्यालयके अधिकारियोंके दिमाग़में खलल आ गया है। उन्होंने ऐसी बहुत-सी बातें जारी करदी हैं, जो शास्त्र विरुद्ध हैं जैसे गाना बजाना। यदि बाइबिल या कुरानका माननेवाला ऐसा ऐतराज करें, तो क्षमा किया जा सकता है। लेकिन, यदि वेदोंका माननेवाला ऐसा कहे, तो उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। उसके लिए निहायत अफसोस है। हमारा तो गानेके साथ सृष्टिके प्रारम्भसे गहरा सम्बन्ध है। यहाँ तक कि चारमें से एक वेद, सामवेद, केवल गान-विद्याके लिए है।

"दूसरी शंका पहरावेपर है। कोई कहता है कि लँहगेको लिवासमें शामिल करो। हमारे यहाँ देश-देशान्तरोंसे कन्याओंको आना है। यदि आश्रम या विद्यालय किसी ख़ास प्रान्तके लिए होता, तो हम भी वैसा ही पहरावा नियत कर लेते। मगर, यह सारे देशके लिए है। किसी खास प्रान्तके लिए नहीं। सारे देशकी प्रतिनिधि कन्याएँ हैं। इसलिए हमें ऐसा ही पहरावा रखना होता है जिसको अपनाने और पहिननेमें किसी भी प्रान्तकी लड़कियोंको आपत्ति न हो।

"मातामें पिताकी अपेक्षा सन्तानके लिए अधिक हित होता है। इसलिए माता पिताकी अपेक्षा कुरबानी भी अधिक कर सकती है। यदि किसी संस्थाके छात्रोंमें त्याग है, तो वह अमृत देनेवाला है। विद्यालयमें जब आप ड्योढ़ीमें प्रवेश करेंगे, तो आपको इन छात्राओंके नाम देखनेको मिलेंगे, जिन्होंने छः मास या उससे अधिक समय, अपने आरामको कुरबान करके, विद्यालयकी सेवा है।

"अभी हमें बहुत काम करने हैं। लड़कियोंके लिए एक टैकनिकल स्कूलकी आवश्यकता है। जिल्दसाजी, घड़ीसाजी, आदिके काम लड़कियाँ घर बैठे कर सकती हैं। कन्याओंको विदेश भेजकर विद्यालाभ करानेके लिए "विदेश-यात्रा फंड" क़ायम करनेकी ज़रूरत है। 'सिक-नरसिंग' की शिक्षा लड़कियोंको दी जाती है, इसको अधिक बढ़ाने की ज़रूरत है। जगह-जगह विद्यालयकी शाखाएँ क़ायम करना ज़रूरी है। पहाड़पर लड़कियोंके लिए 'रेस्ट हाउस' बनानेकी आवश्यकता है। किश्ती चलाने और घुड़सवारी सिखानेके लिए सामान जुटाना आवश्यक है। स्त्री प्रचारिकाएँ भी पैदा करनी हैं।

हम अपनी सारी कन्या पाठशालाओंमें एकही पाठ-विधि प्रचलित करके एक "महिला विश्व विद्यालय" की स्थापना करना चाहते हैं।"

लालाजीने अपनी और अपने साथियोंकी कोलम्बससे ठीक ही उपमा दी थी। उनके इस भाषणसे यह प्रकट है कि उनके मार्गकी कठिनाइयाँ १९१० में भी दूर नहीं हो सकी थीं। आर्यसमाजी भी स्त्री-शिक्षाको आर्य समाजके कार्यका अंग नहीं मानते थे। वे लड़कियोंकी पढ़ाई और पहरावेतक पर आपत्ति करते थे। इस भाषणमें स्त्री-शिक्षा के सम्बन्धमें लालाजीके ऊँचे विचारों और महत्वाकांक्षाकी भी एक स्पष्ट झलक मिलती है। आज देशमें स्त्री-शिक्षाके क्षेत्रमें काम करनेवाली ऐसी संस्थाओंकी कुछ कमी नहीं है जिनका कि स्वप्न लालाजीने १९१० में देखा था; परन्तु उन दिनोंमें वह स्वप्न देखना भी कोई साधारण बात नहीं थी। अन्य प्रदेशोंमें स्त्री-शिक्षाका काम करनेवालोंको भी ऐसे ही विरोध और बाधाओंका सामना करना पड़ा है; परन्तु लालाजी और उनके साथियोंको विशेष विरोध और बाधाओंका सामना मुख्यत: दो कारणोंसे करना पड़ा है। एक यह था कि जब उन्होंने अट्ठारहवीं सदीके अन्तिम चरणमें काम किया तब स्त्री शिक्षाके लिए कोई बात तक करनेवाला नहीं था और दूसरा यह कि जिस प्रदेशमें उन्होंने काम शुरू किया, वह परदा सरीखी उन रूढ़ियोंका गढ़ था जो स्त्रियोंके प्रति पुरुषोंके अन्याय तथा पक्षपातकी प्रतीक थी। महर्षि कर्वेको भी भयानक विरोध और विषम परिस्थितियोंका सामना करना पड़ा था; किन्तु उनसे भी वे परिस्थितियाँ कहीं अधिक विषम थीं, जिनमें लालाजीने स्त्री-शिक्षाका बीजारोपण किया था। लालाजीकी स्त्री-शिक्षाके संबंधमें जो महत्वाकांक्षाएं थीं, वे भी प्राय: अधूरी इसलिए रह गईं कि जब उनके अनुकूल वातावरण बना तब वे चल बसे, फिर भी उस वातावरणके बनानेका जो काम उन्होंने किया, उसका भी महत्व कुछ कम नहीं है।

यहाँ केवल कुछ घटनाएँ इसलिए दी जा रही हैं कि उनसे लालाजीके मार्गकी कठिनाइयोंके साथ-साथ देशकी उस समयकी परिस्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनकी चर्चा करते हुए लालाजीकी समाज-सुधार सम्बन्धी कुछ प्रवृत्तियोंकी चर्चा करनी भी आवश्यक हो जाती है; क्योंकि लालाजीने स्त्री-शिक्षाका कामकाज समाज-सुधारकी भावनासे ही प्रारम्भ किया था। पंजाबमें भी स्त्रियोंके संबंधमें अत्यन्त गर्हित सामाजिक रूढ़ियाँ प्रचलित थीं। परदा, स्यापा, गंदे गीत आदि उनमें प्रमुख थे। लालाजी अपनी युवावस्थासे ही अपनी डायरी नियमित रूपसे लिखा करते थे। १८८३ में ५ मार्चको अपनी डायरीमें उन्होंने लिखा था कि ...."वहाँ स्त्रियाँ गंदे गीत गा रही थीं।

तोबा ! अफसोस !! ऐसा कोई भी नहीं, जो इन बेचारियोंको जहालतके पल्लेसे छुड़ा दे। स्त्रियोंका क्या दोष ? दोष इनके पतियों और रिश्तेदारोंका है। मैं हमेशासे स्त्रियोंका तरफदार रहा हूँ। मेरे दिलमें यह खूब अच्छी तरह बैठा हुआ है कि स्त्रियाँ आदमियोंकी निस्बत नेक और रहमदिल होती हैं।....आह ! इनकलाबे दौरां !! स्त्रियाँ इतनी जाहिल हो गई हैं कि गन्दे और अच्छे गीतोंमें कुछ फर्क नहीं कर सकतीं, ऐ आर्यावर्त ! इस गिरोहके इक़बालका सितारा कम चमकेगा ?" फिर ११ नवम्बर १८८६ की डायरीमें उन्होंने लिखा था कि "हमारे लड़के लड़कियाँ विद्या नहीं पढ़ते। मुझे इस ओर ध्यान देना चाहिए और कोई न कोई समय इनकी तालीमके लिए निकालना चाहिए।"

लालाजीने जिन परिस्थितियोंमें काम शुरू किया उसका वर्णन महाविद्यालयकी मुख पत्रिका "जलविद सखा"में बहुत सुन्दर शब्दोंमें किया गया है। वह लेख उनकी ७४ वीं वर्ष गाँठके उपलक्षमें लिखा गया था। उसमें लिखा गया है कि "जब स्त्री-शिक्षा के प्रेमियोंपर ईंटों और पत्थरोंकी बौछार होती थी, लोग उनपर अनेक लांछन लगानेमें संकोच नहीं करते थे, शिक्षा पाप कर्म समझा जाता था, किसी कन्याके हाथ "अक्षर-दीपिका" होना इतना बड़ा अपराध समझा जाता था कि उसकी सगाई छूट जाती थी, तब श्रद्धेय चाचाजीने कन्या-महाविद्यालयकी स्थापना कर बड़ी दूरदर्शिताका काम किया। १९६६ विक्रमीकी बात है कि जब मैं वहाँ पढ़नेके लिये आई, तो बिरादरीने घरवालोंको सामाजिक बहिष्कारका भय दिखाया। बिरादरीवालोंको डर था कि मैं ऐसे आर्यों में जाकर भ्रष्ट हो जाऊँगी, जो कि विधवाओंकी शादी करते हैं। कुलको दाग लगाकर अपने बाप-दादोंकी ममर्यादाका उल्लंघन कर डालूँगी।" लालाजीने स्वयं भी एक जगह लिखा है कि "पंडित श्रीपतिने कन्या-शिक्षाका काम तब आरम्भ किया था, जब स्त्री शिक्षाका नाम लेनेवालोंको मूर्ख, पागल, धर्मनाशक और देशको तबाह करनेवाले कहा जाता था, । यह उन दिनोंकी बात है, जब हरियानाकी देवी माई भगवतीके सगे भाइयों तकने उनसे स्त्री-शिक्षा और धर्म प्रचारकी वजहसे सम्बन्ध तोड़नेमें अपनी कुशल समझी और पूजनीया माईजीको गालियां ही नहीं दीं, किन्तु उनपर फौजदारी मुक़दमे चलाकर उन्हें अदालतोंमें घसीटा। माईजीको यदि पंजाबमें स्त्री-शिक्षाकी पथ-प्रदर्शिका कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं। उन दिनों यदि किसी कन्याके हाथमें कोई पुस्तक होती, तो उसकी सगाई छूट जाती थी, क्योंकि भूली भटकी अज्ञानता-ग्रसित जनता यह समझती थी कि लड़की पढ़ी-लिखी कि हाथसे गई।"

दूसरोंकी बात क्या की जाय आर्यसमाजी भी स्त्री-क्षिाके सम्बन्धमें सामान्य जनता के समान ही विचार रखेते थे और महिलाओंके सम्बन्धमें भी उनके विचारोंमें विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। पंडित श्रीपतिजीने १८ जून १८८६ को जालन्धर आर्यसमाज में यह सुझाव उपस्थित किया था कि स्त्रियोंको भी साप्ताहिक सत्संगमें उपस्थित रहने का अवसर दिया जाय; परन्तु उसको स्वीकार नहीं किया गया, जब जालन्धरके आर्य-समाजियोंकी यह मनोवृत्ति थी, तब दूसरोंकी मनोवृत्तिका अनुमान लगाना कुछ भी कठिन नहीं होना चाहिए।

आर्य समाजने शिक्षाका जो कार्य किया है उसका मुख्य लक्ष्य शिक्षाके क्षेत्रमें ईसाई पादरियोंकी राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियोंका सामना करना था। जब भी कभी देशमें राष्ट्रीयताके विचार प्रबल हुए तब सदा ही अँगरेज़ी शिक्षाके विरुद्ध राष्ट्रीय शिक्षाके प्रारम्भ किए जानेकी आवश्यकता अनुभव की गई। दक्षिणमें जो काम शिक्षाके क्षेत्रमें श्री आगरकर, लोकमान्य तिलक, चिपलूणकर और उनके साथियोंने किया वही काम उत्तरमें १८५०में लाहौरमें दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेजकी स्थापना करके आर्यसमाजने शुरू किया था। कन्या महाविद्यालयकी स्थापनाके लिए जालन्धर आर्यसमाजको प्रेरित करनेवाली ऐसी ही एक घटना हुई। लाला मुंशीराम जी, बादमें स्वामी श्रद्धानन्द की लड़की वेदकुमारी स्कूलसे लौटकर एक दिन यह गा रही थी कि "एक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल ?" लाला मुंशीराम इसको सहन नहीं कर सके। उसी सप्ताह आर्यसमाजमें इस पर चर्चा हुई और २६ दिसम्बर १८८६को कन्या विद्यालय स्थापित करनेका निश्चय करके एक रुपया मासिक खर्च उसके लिए स्वीकार किया गया। उसी वर्षकी आर्यसमाजकी रिपोर्टमें यह लिखा मिलता है कि अध्यापिका न मिलनेसे वह विद्यालय बन्द कर दिया गया और आर्यसमाजने १) रु० खर्च देना भी बन्द कर दिया। माता काहनदेवी माई लाडी, जो कि मिशन स्कूलमें अध्यापिका थीं १) रु० महीना और चार रोटी लेकर किसी प्रकार उसको चलाती रहीं; परन्तु कन्याओंके अभावमें उनका प्रयत्न भी अधिक दिन नहीं चल सका। ३० अगस्त १८८९ को लाला देवराजजीके प्रस्तावपर आर्यसमाजने एक बार फिर विद्यालयको चलानेका निश्चय किया। उसके लिए बनाई गई कमीटीने कोई काम नहीं किया तो २४ सितम्बर, १८९० को एक और कमीटी बनाई गई। परन्तु उसने भी केवल कागजी योजना बनाई और यह कहकर उसको कार्यमें परिणत नहीं किया कि उसके लिए योग्य अध्यापिका मिल नहीं सकती। ५ जुलाई १८९१ को फिर प्रयत्न किया गया और केवल १०) महीनेका बजट बनाया गया। अध्यापक श्रीपतिजी २) और अध्यापिका ४) रु० महीनेपर काम करने लगीं। केवल ८ लड़कियोंसे एक कमरेमें काम प्रारम्भ किया गया। यह प्रयत्न सफल हो गया और दो ही वर्षमें कन्याओंकी संख्या ५५ तक पहुंच गई। यह सारा विवरण केवल यह दिखाने के लिए दिया गया है कि किस प्रकार सर्वथा विपरीत और अत्यन्त विषम परिस्थितियोंमें कन्या-शिक्षाका बीजारोपण किया गया था। वह वट-बीज किस प्रकार एक बड़ा वृक्ष बन गया और किस तेजीसे उस विद्यालयका विकास हुआ इसके विस्तारमें न जाकर यहाँ कुछ आवश्यक बातोंका उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा।

१५ अप्रैल १८९२ को उस पाठशालाको विशाल रूप देनेका निश्चय किया गया। यह विचार किया गया कि उसके साथ आश्रम (बोर्डिंग हाउस), अनाथ गृह और विधवाओं के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाय। इस योजनाका सर्वत्र स्वागत होनेपर भी डी० ए० वी० कालेज लाहौरकी ओर से कड़ा विरोध किया गया। उसके संचालकोंने इस योजनाको अपना प्रतिद्वन्दी समझ लिया और उनके पत्र "आर्य गजट" में उसका विरोध ही नहीं, अपितु तरह-तरहके लांछन भी लगाए जाने लगे। विरोध इतना बढ़ गया कि पंजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा में भी उसके विरुद्ध प्रस्ताव लाया गया। इतना ही अच्छा था कि

इस विरोधी प्रस्तावका समर्थन करनेवाली ६८ समाजोंमें से केवल १४ थीं और शेष ५४ उसकी विरोधी थीं। इसी कारण यह विरोध चल नहीं सका और विद्यालय समस्त बिघ्न-बाधाओंको पार करता हुआ विकास, उन्नति व प्रगतिके पथपर अग्रसर होता रहा। १४ जून १८९६ को विद्यालयको कन्या महा विद्यालय नाम दे दिया गया। १२ अप्रैल, १८९५को आश्रम, छात्रावास अथवा बोर्डिंग हाउसकी स्थापना की गई। इसका प्रारंभ लालाजीने अपने घरमें कई वर्ष पहले कर दिया था। कोई और व्यवस्था न होने से बाहरसे आनेवाली लड़कियोंको वे माताजीकी निगरानीमें रख लेते थे। आश्रममें रहनेवाली कन्याओंकी संख्या निरन्तर बढ़ती गई। पहले वर्षमें ५, दूसरे में १६ और तीसरेमें २२ हो गईं। शहरमें संस्थापित अनाथालयका प्रबन्ध आर्यसमाजके हाथमें आनेसे उसको १२ अक्तूबर १८९८ को कन्या महाविद्यालयकी संचालक सभाके अधीन कर दिया गया और उसकी एक शाखाके रूपमें उसका संचालन किया जाने लगा। महाविद्यालयकी पहली आचार्या बहन सावित्री देवीजी दक्षिणके दौरेपर गई थी। तब उन्होंने पूनामें महर्षि कर्वे द्वारा संचालित विधवा आश्रमका निरीक्षण किया था। उनके जालन्धर लौटनेपर उनकी ही प्रेरणासे मार्च १९०९ में महाविद्यालय के साथ "विधवा आश्रम" की भी स्थापना की गई। इस प्रकार संस्थाको चतुर्मुखी ब्रह्माका रूप प्राप्त हो गया और वह महिला-उत्थान और महिला-जागृतिके क्षेत्रमें चहुँमुखी कार्य करने लग गया।

१८९१ में विद्यालयमें पढ़नेवाली लड़कियोंकी संख्या केवल ८ थी। १९०० में वह १२० और १९१० में ३०० तक पहुँच गई, आश्रममें भी लगभग २०० लड़कियां रहने लगीं। इससे भी बड़ी उल्लेखनीय बात यह है कि महाविद्यालय और आश्रममें प्राय: सभी प्रान्तोंसे आई हुई लड़कियां सम्मिलित थीं और बर्मा, फिजी तथा अफ्रीका तकसे उन्होंने आना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि आधुनिक अर्थोंमें महाविद्यालय विश्वविद्यालय नहीं बन सका था; फिर भी अपनी स्वतन्त्र शिक्षा प्रणाली, पाठ्य-पुस्तकों और उन पाठ्य पुस्तकों के अन्य अनेक कन्या विद्यालयोंमें चालू होनेसे निश्चय ही उसको विश्वविद्यालयका रूप प्राप्त हो गया। पंजाबमें १२५ से भी ऊपर ऐसे विद्यालय थे, जिनमें महाविद्यालय के पाठ्य-क्रम और पाठ्य-पुस्तकोंको स्वीकार किया गया था। इसी कारण महाविद्यालयकी अनेक पुस्तकोंके २०, २५ और ३० हजार तकके कई संस्करण प्रकाशित हुए। यह भी उल्लेखनीय है कि इन पुस्तकोंके लेखक स्वयं लालाजी ही थे। उन दिनों कन्याओंके लिए उपयोगी पुस्तकें लिखनेवाले लेखक हिन्दी में कहाँ थे? लालाजीका लक्ष्य कन्याओंको केवल साक्षर बनाना नथा वे उनके चरित्र का भी निर्माण करना आवश्यक समझते थे। उनको वर्तमान अंध रूढ़ियों और सामाजिक परम्पराओंसे ऊपर उठाकर उनके जीवनको आर्य-संस्कृतिके ढाँचेमें ढालना चाहते थे। इसलिए उनकेलिए वैसे ही साहित्यकी परम आवश्यकता थी। ऐसे सम्पूर्ण साहित्य और पाठ्य पुस्तकोंका निर्माण पहली श्रेणीसे लेकर दसवीं श्रेणी तक लालाजीने स्वयं किया। १९१३ में शहरसे दो मीलकी दूरीपर महाविद्यालयके अपने भवनकी आधारशिला रखी गई। शहर में शाखाविद्यालय रखा गया। दोनों बहुत अच्छी स्थितिमें फलने-फूलने लग गए। नगरके शाखा-विद्यालयमें लड़कियोंकी

संख्या इस समय १००० के लगभग है, और बाहर भी लगभग ५०० कन्याएँ शिक्षा प्राप्त करती हैं। लालाजी को सब लड़कियां चाचाजी कहा करती थीं और अध्यापिकाओंके लिए भी छोटी बहनजी तथा बड़ी बहनजी आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाता था। अभिप्राय इसका यह था कि महाविद्यालयका संचालन विशुद्ध पारिवारिक भावनासे किया जाता था और उसको एक बड़ा परिवार कहा जा सकता था। विद्यालयमें अनुशासन तथा नियंत्रण कायम करनेका सबसे बड़ा और प्रभावशाली तरीका यही था कि लालाजी कुछ दिनोंके लिए वहाँ जाना बन्द कर देते थे और लड़कियाँ स्वयं व्यवस्था कायम कर लेती थी। कभी किसी लड़कीको कोई दंड देनेका प्रसंग नहीं उपस्थित होता था। विद्यालयकी शिक्षाप्रणालीमें कुछ सर्वथा मौलिक बातें अपनाई गई थीं और वे लालाजीके अपने ही दिमागकी उपज थीं। उनकी सूझ-बूझ, प्रतिभा और कल्पना कमालकी थी। इस समयके किंडर गार्डनकी तरह उन्होंने "संगीत बालोद्यान" का और कुछ खेलोंका ऐसा आविष्कार किया था कि बच्चे गीतों और खेल-कूदके साथ बहुत कुछ सीख लेते थे। अक्षराभ्यास और प्रारंभिक शिक्षा प्रायः खेल-कूदमें ही दी जाती थी। छोटे-छोटे बच्चोंकी 'हो मंडली' और बड़ी लड़कियोंकी "जलविद माता" उनकी ही सूझ थी। हिन्दी भाषाके माध्यमको शुरूसे ही अपनाया गया था। शारीरिक एवं धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ शिल्प, गृहकार्य, स्वच्छता, आरोग्यता एवं संगीत शिक्षाके अनिवार्य अंग थे। परदा-प्रथा, जात-पाँत साम्प्रदायिकता तथा प्रादेशिकता आदिकी सब संकीर्णताओंका महाविद्यालयने अतिक्रमण कर दिया था। लड़कियोंमें स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमानकी भावनाका संचार कर अपने देशके अतीतमें श्रद्धा, वर्तमानमें आशा तथा भविष्यमें विश्वास पैदा करनेका पूरा ध्यान रखा जाता था। दीनता, हीनता तथा पराधीनता की कोई छाया तक उनमें न रहने दी जाती थी। यही महाविद्यालयकी शिक्षाका एकमात्र लक्ष्य था। सादगी, सरलता, सात्विकता और सेवा तो मानो महाविद्यालयके मूलमंत्र ही थे। देश-सेवा और सार्वजनिक सेवाकी भावना उनमें स्वाभाविक ढंगसे पैदा की जाती थी अनेक अवसरोंपर महाविद्यालयकी लड़कियोंने अपने भोजनादिमें कमी करके चंदा किया। गाँधीजीके दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहके लिए उन्होंने इसी प्रकार १५०) प्रदान किया। भारतमाताकी वन्दना, राष्ट्रीय ध्वजाके अभिवादन और राष्ट्रीय नेताओंके पुण्य-दिवसके आयोजन महाविद्यालयमें नियमित रूपसे किए जाते थे। समाज-सुधार-परिषदों और कांग्रेसके अधिवेशनोंमें भी लालाजी उनको ले जाया करते थे। गाँधीजीके आन्दोलन, आर्यसमाजके प्रचार और कन्या-शिक्षा के प्रसार में वहां की पढ़ी हुई कन्याओं ने विशेष भाग लिया। ऐसी आदर्श संस्था के संस्थापक लाला देवराज जी का जन्म ३ चैत्र १९१७ वि० तदनुसार ३ मार्च १८६० को पंजाबके सुप्रसिद्ध शहर जालन्धरमें उस सोंधी परिवार में हुआ, जिसको उनके भाई सुप्रसिद्ध बैरिस्टर लाला भक्तराम और सुप्रसिद्ध देशभक्त लाला हंसराजजीको जन्म देनेका सौभाग्य प्राप्त है। उनके पूर्वज अपने पराक्रमसे जालन्धरमें आकर बसे थे। मुस्लिम शासकोंके साथ संघर्षमें लगे रहनेके कारण उनको अनेक वर्ष खानाबदोश लोगोंकी तरह बिताने पड़े थे। परन्तु जब वे जालन्धर

में जम गए तब उन्होंने शहरके एक बड़े हिस्सेपर अपना अधिकार जमा लिया था। शहर के बाहरका कोट तथा उसके आसपासका बहुत सा हिस्सा आज भी उनके परिवारके लोगोंके हाथमें है। माता काहन देवीने बचपनमें उनका लालन-पालन बड़े चावसे किया,। बचपनमें वे प्रायः बीमार रहते थे और रंग भी उनका दूसरे भाइयोंकी अपेक्षा गहरा था। इसलिए सब लोग उनको साँवले शाह कहा करते थे। पिताका नाम सालिगराम था। शहरके बड़े रईसोंमें उनकी गिनती की जाती थी। लेन-देन व साहूकारी वंश परम्परागत धंधा था। कुछ समय उन्होंने सरकारी नौकरी भी की थी परन्तु नौकरीकी अपेक्षा स्वतंत्र धंधे और जीवनकी सादगी, सरलता, पवित्रता तथा सात्विकता पर वे बहुत जोर देते थे। सनातन धर्ममें उनकी गहरी निष्ठा थी। यह सब संस्कार देवराजजीमें खूब फले और फूले। उनको तीन भाई, बालकराम, भक्तराम व हंसराज और एक बहन शिवदेवी थीं। आयुकी दृष्टिसे वे दूसरे थे। शिवदेवीका विवाह आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध नेता लाला मुंशीराम (अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द) के साथ हुआ था।

वे बचपन और कुमार अवस्थामें बहुत चंचल और खिलाड़ी वृत्तिके थे। उन्होंने अपनी डायरीमें उन दिनोंके सम्बन्धमें लिखा है कि "मैं बड़ा खिलाड़ी था। मेरे जमानेमें क्रिकेट आदिका रिवाज़ न था। हम गुल्ली डंडा, कोडला जमालशाही, दौड़ लगाना, कुश्तियाँ और तैरना आदि खूब चावके साथ खेला करते थे, कोटके लड़कोंने एक फौज बना रखी थी। मैं उसका सेनापति था। हमने लकड़ीकी तलवारें और बाँसकी कमानें बनाई हुई थीं। हमारी फौजका एक झण्डा भी था। फौजमें करीब २० लड़के थे। बिगुल बजाते ही सब धावा बोलनेको तैयार हो जाते थे, । लोढ़ीके दिनों में तो धावा बोलकर कोटके पासके पेड़ भी काट लिया करते थे। ऐसा ही हुड़दंग होली पर भी मचाया करते थे।"

युवावस्थासे ही उनके विचार बड़े उदार और स्वतंत्र थे। इसलिए उनके साथी उनको मिस्टर लिबर्टी अथवा सत्यप्रकाश के नामसे पुकारा करते थे। उनकी शिक्षा जालन्धर और होशियारपुरमें हुई। अपने उदार और स्वतंत्र विचारोंके कारण उनमें कुछ स्वच्छन्दता भी पैदा हो गई थी। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "कुसंगतिमें पड़कर, छात्रावस्थामें, मेरा कुछ समय ऐसा खराब हो गया था कि उसकी याद मुझे बहुत दुःख देती है। उन दिनों मैं बोर्डिंग हाउसमें रहा करता था। मुझे कुछ अरसेसे शराब पीनेकी आदत पड़ गई थी। यह अरसा मेरे जीवनका "डार्क पीरियड" था। यह "डार्क पीरियड" अधिक दिन नहीं रहा। छोटी से छोटी घटनाको भी वे बहुत बारीकी से देखा करते थे और उन घटनाओंके प्रकाशमें मुमुक्षु दृष्टिसे सदा ही आत्म-निरीक्षण करते रहते थे। आप बीती घटनाओंकी गहराईमें जाकर उनका कारण ढूंढ़ने और उनकी पुनरावृत्ति न होनेके लिए वे सदा ही जागरूक रहते थे। इस वृत्तिके कारण वे तुरन्त सँभल गए और जीवनके, उत्कर्षका जो मार्ग एक बार पकड़ा उसपर निरन्तर अग्रसर होते गए।" "कर्म फल" और ईश्वरमें उनकी दृढ़ आस्था थी इस लिए जरा सा पैर फिसलते ही वे एकाएक सावधान हो जाते थे। मातासे प्राप्त हुए संस्कारोंके संबंधमें

उन्होंने स्वयं लिखा है कि "मैं एक हिन्दू परिवारमें पैदा हुआ हूँ। अन्य हिन्दुओंकी भाँति मेरा भी ईश्वर-प्रार्थना पर कुछ न कुछ विश्वास था। मैं मूर्त्तिपूजा किया करता था व्रत भी रखा करता था। बहुत छोटी आयुमें भूत-चुड़ैलोंको भी मानता था, मगर था निडर, पन्द्रह वर्षकी आयु तक मैंने गोश्त नहीं खाया। मेरे पिता और दादा गोश्त खाया करते थे। लेकिन घरके चौकेमें कभी गोश्त नहीं आया। माताजीने मुझे कई गीत सिखाये थे। मैं उनका पाठ बड़े प्रेमसे किया करता था।" स्वदेशी और देश-भक्तिकी भावना भी उनमें विद्यार्थी अवस्थामें ही पैदा हो गई थी। २३ वर्षकी आयुमें सन् १८८३में स्वदेशीका जो व्रत लिया, उसको जीवन भर निभाया। महाविद्यालयकी कन्याओंमें भी स्वदेशी और देशभक्तिकी जो भावना पैदा की उसकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। अन्य स्थानीय विद्यालयों और आर्य समाजमें भी अपने भाषणोंमें वे स्वदेशी और देशभक्ति पर पूरा जोर दिया करते थे।

लालाजी स्वभावतः समाज-सुधारक थे। जात-बिरादरीमें फैली हुई कुरीतियों को हटाने, महिलाओंके प्रति पैदा हुए धार्मिक पक्षपात एवं सामाजिक अन्यायको दूर करने और यथासंभव अपने व्यक्तिगत जीवन एवं अपने घरमें प्रत्येक सुधारको लागू करने पर सदा ही विशेष ध्यान दिया करते थे। उन्होंने अपनी माताजी और धर्मपत्नीको स्वयं शिक्षित किया और इसी प्रकार कन्याओं तथा महिलाओंकी शिक्षाका सूत्रपात किया, साधारण हिन्दू घरों तथा परिवारोंकी तरह उनका विवाह भी दस-ग्यारह वर्षकी आयुमें हो गया था; परन्तु अपने प्रयत्नोंसे उन्होंने अपने गृहको आदर्श बना लिया। धर्मपत्नी का मायकेका नाम "सुन्दरी" और ससुरालका नाम "टहल देवी" था। वे अपने पतिके हर काममें, यहाँ तक कि कन्या महाविद्यालयके काममें भी पूरा हाथ बँटाया करती थीं। स्थानीय स्त्री-आर्य-समाजके काममें भी वे बहुत रुचि लेती थीं। कन्या महाविद्यालयमें आश्रमकी स्थापनाका सूत्रपात घरसे ही किया गया था, आर्य समाजके प्रवेश करनेके बाद अपने व्यक्तिगत जीवन और परिवारको भी पक्का आर्यसमाजी बनानेमें आपने कुछ भी उठा न रखा। "सत्य प्रकाश" नाम पूरी तरह सार्थक हो गया और समाज-सुधारकी भावनाएँ भी पूरी तरह विकसित हो गईं। पढ़ने-लिखनेका लालाजीको बहुत शौक था। बचपनमें ही तुकबन्दी शुरू करदी थी। छोटी-छोटी कहानियाँ और छोटे-छोटे नाटक भी लिखने शुरू कर दिए थे। १८८० में २० वर्षकी आयु से डायरी लिखने का नियम बनाया और उसको जीवनके अंतिम दिन तक निभाया। इस डायरीमें जीवनके उतार-चढ़ावका इतना सुन्दर चित्र अंकित किया गया है कि वह दूसरोंके लिए दीपकका काम दे सकता है। स्वाध्यायकी प्रवृत्ति भी कुछ स्वाभाविक थी। चरित्र-निर्माणकी ओर जब ध्यान गया, तो उसके बाद कदाचित् ही कोई भूल की होगी। समाचार पत्रोंमें लिखनेकी जो रुचि पैदा हुई उससे शीघ्र ही सफल पत्रकार बन गए। प्रारम्भ में लालाजी "केसरी" के सम्पादक हुए। लाला मुंशीरामजीके साथ मिलकर "सद्धर्म प्रचारक" निकाला गया। उसका भी काफी समय तक सम्पादन किया, फिर "सहायक" नामसे एक पत्र शुरू किया। "पांचाल पंडिता", "भारती" और "जलविद् सखा" नामसे मासिक पत्रिकाएँ भी निकाली गईं। लालाजीके साहित्यिक रूपकी चर्चा

पीछे की जा चुकी हैं। उनको निस्संदेह एक सफल और प्रगतिशील लेखक व पत्रकार कहा जा सकता है। वे वक्ता भी अच्छे प्रभावशाली थे।

समाज-सुधारकोंको जिस धर्म-संकटका प्राय: सामना करना पड़ता है उससे लालाजी भी बच नहीं सके। १८७९ के फरवरी मासमें धर्मसंकटके ही कारण घरका परित्याग कर वे रंगून जानेको निकल पड़े। डायमन्ड हारबरसे जहाजसे उतारकर उनको घर वापस लाया गया। । घर तथा जात-बिरादरीका विरोध तो इस धर्म-संकटसे दूर हो गया; किन्तु इससे भी बड़ा धर्मसंकट उस विरोधसे पैदा हुआ जो आर्य समाज की ओरसे किया गया गया। उनपर यह आक्षेप किया गया कि वे महाविद्यालयके सर्वेसर्वा बन जाना चाहते हैं। इस विरोधका सामना भी उन्होंने बड़े धैर्य, साहस और आत्म-विश्वासके साथ किया। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "यह मेरा कसूर नहीं, मेरा मन स्त्री-समाजके अर्पण हो चुका है। इसलिए अधिक काम मुझे अपने हाथसे करना पड़ता है। मैं यह काम मुक्तिका साधन समझकर करता हूँ। प्रबन्ध-कर्तृ-सभा द्वारा यह तय हुआ कि मेरी जगह महाविद्यालयके प्रबन्धकर्त्ताका काम लाला रामकृष्ण जी और आश्रमका मास्टर सन्तरामजी करें। जिस समय यह विचार हो रहा था, मैं पागल की तरह महाविद्यालयकी दीवारोंकी तरफ देख रहा था। मेरे होश-हवाश गायब थे। मेरे मनमें यही विचार उठ रहे थे कि हाय ? क्या मैं विद्यालयसे अलग हो रहा हूँ ! विद्यालयका क्या हाल होगा ? कन्याओंकी देखभाल कौन करेगा ? निस्संदेह लाला रामकृष्ण और लाला मुंशीराम मुझसे अधिक योग्य हैं, लेकिन मैंने तो इस कामको अपनी ज़िन्दगीका मकसद बनाया हुआ है। मैं तो कन्याओंका माता-पिता बना हुआ हूँ। सबके घरोंमें चला जाता हूँ। इन साहेबानसे ऐसा न हो सकेगा। इतना समय भी इनके पास कहाँ है ? महाविद्यालयका ज़रूर नुकसान होगा। लगा हुआ पौदा मुर्दा हो जायगा। हाय ! यह क्या हो रहा है ? मुझे अपनी कन्याओंसे अलग किया जा रहा है। ईश्वर इच्छा। सारी रात नींद नहीं आई। मैं रोता रहा। सोचता था कि शायद ये साहबान मेरे कामको नहीं समझे। ये कन्याओंके प्रति मेरे मातहित को नहीं जानते। कन्याओ ! मैं जब तक जीऊँगा, तुम्हारी ही सेवा करूँगा।" गृह कलहके कारण जिस धर्म-संकटका सामना लालाजी को करना पड़ा, उसका परिचय इन पंक्तियोंसे मिल जाता है। इसमें भी वे पूरी तरह सफल हुए और महाविद्यालयका सारा कार्य उनको ही सौंप दिया गया। सच तो यह है कि वे उसके कार्यको मुक्तिके लिए की जानेवाली साधनाके रूपमें करते थे और जीवनकी अंतिम घड़ी तक वे उसीमें लगे रहे।

लालाजीके महान व्यक्तित्वके सम्बन्धमें एक वाक्यमें यही कहा जा सकता है कि वे मातृ-जातिके लिए एक चलती-फिरती संस्था थे। पंजाबके ही नहीं, परन्तु समस्त देशके मातृ जातिके कल्याण व उद्धार और समाज सुधारके लिये किए गए उनके महान कार्यका उल्लेख अत्यन्त गर्व एवं गौरवके साथ किया जा सकता है। लाहौरमें १९०९ में कांग्रेसके साथ हुए समाज सुधार सम्मेलनका उनको अध्यक्ष चुना गया था। उन दिनों की भावनाके अनुसार उनको भी घरवालोंके आग्रहके कारण जेलदारी और औनरेरी मजिस्ट्रेटी करनी पड़ी; किन्तु वे तो अपना मिशन मातृ-जातिकी सेवा बना चुके थे। उसमें

एकान्त साधककी तरह निमग्न होनेसे उन्होंने उनको जल्दी ही तिलांजलि देदी। वित्तेष्णा, लोकेष्णा और बहुत कुछ पुत्रेष्णाको भी उन्होंने उसीके कारण त्याग दिया था। ऐसे कर्मशील महान जीवनका अंत १७ अप्रैल १९३५की अर्धरात्रिमें हृदयकी गति रुक जाने से एकाएक हो गया। उनका महाविद्यालय उनके स्मारकके रूपमें दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। महापुरुषोंके वास्तविक स्मारक उनके कार्योंका चहुँमुखी विकास ही है।

—:०:—

श्री अनन्त हरि जोशी

श्री ज्योतिबा गोविन्द फुले

महाराष्ट्रमें समतावादकी स्थापना करनेवाले इस प्रथम समाजसुधारकका जन्म पूनामें १८२७ में हुआ था। जातिके यह माली थे। १ वर्षकी आयुमें ही इनकी माता का देहान्त हो गया। अतः पालन-पोषणका भार इनके पिताको ही संभालना पड़ा।

सात वर्षकी आयुमें इन्होंने स्कूल जाना प्रारम्भ कर दिया। स्कूलके बाद बागका काम भी करते रहते थे। बादमें इनके पिताने इन्हें एक अंग्रेज़ी स्कूलमें दाखिल करा दिया। जहाँ इनकी पाँच वर्ष तक और पढ़ाई हुई। महाराष्ट्रके प्रसिद्ध वंडखोर बासुदेव बलवन्त फड़केके माँग जातिके गुरू लहूजी बुवाके पास रहकर इन्होंने लाठी-गतका व पटेबाजीका अभ्यास किया। इन्हीं दिनों इनपर ईसाई-धर्म-प्रचारकोंकी कार्यपद्धति तथा समाजसेवा की भावनाका प्रभाव पड़ा और इन्होंने भी उनका अनुकरण कर समाज को शिक्षित बनाने व ऊँच-नीचका भेद मिटाकर समता स्थापित करनेका अपना कार्य जोरशोरसे शुरू कर दिया।

लड़कियोंकी शिक्षा

सर्वप्रथम १८४१ में इन्होंने कुछ ब्राह्मण मित्रोंकी सहायतासे पूनेमें एक लड़कियोंका स्कूल खोला। इस कार्यमें इन्हें समाजका तथा समाजका विरोध करनेसे डरने वाले अधिकारियोंका तीव्र विरोध सहन करना पड़ा। इनकी पत्नी सावित्री बाईने समाजके मानापमानकी चिन्ता किये बिना तथा पुरानी परम्पराका परित्याग कर इस कार्यमें पूरा योग दिया। शीघ्र ही इस स्कूलकी १८४३ में दो शाखाएँ और खुल गईं। संस्थाके दूसरे वर्षके वार्षिक समारोहमें ३००० लोग उपस्थित थे। इस नवीन और अभिनन्दनीय कार्यके लिए इनका सार्वजनिक रूपसे स्वागत किया गया तथा सरकारकी ओरसे २०० रु० मूल्यका शाल भेंट किया गया।

अस्पृश्योंके लिए स्कूल

लड़कियोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करनेके बाद इन्होंने १८४२ में अपने व्ययसे अस्पृश्यों के लिए भी पूनामें ही दो स्कूल चलाए महार माँग आदिको शिक्षा देनेके लिए इन्होंने १८४३ में एक समिति बनाई। स्कूलके लिए जगहकी तंगी होनेपर रा० ब० गोंवडे ने अपनी जगह स्कूलके लिए देदी। १८४८ में इस स्कूलमें २५८ लड़के हो गए और तीन शाखाएँ खुल गईं। लड़कोंको पानी पिलानके लिए इन्होंन एक टंकी बनवाई। तथा अपने घरकी टंकियाँ भी इनके लिए खुलवा दीं।

ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंमें विधवा स्त्रियोंके कष्टोंको देखकर इन्होंने विधवा-विवाह का प्रचार किया। तथा इस प्रकारका एक विवाह १८६४ में सम्पन्न भी कराया। इसी प्रकार पथभ्रष्ट होनेपर गर्भपात करानेकी स्थिति न आए इसके लिए इन्होंने अपने घरके पास ही १८६४ में बाल-हत्या-प्रतिबन्धक गृहकी स्थापना की। यहाँपर गुप्त रूपसे प्रसूतिकी व्यवस्था की गई थी। पंढ़रपुरका सुप्रसिद्ध "बाल-हत्या-प्रतिबन्धक गृह" भी इन्हींकी प्रेरणाका परिणाम था।

इस प्रकार समाजके विरोधका मुकाबला करते हुए इनका समाज-सेवाका कार्य जारी रहा। इस कार्यको ठोस आधारपर खड़ा करनेके लिए इन्होंने २४ सितम्बर १८७३ में "सत्य-शोधक-समाज" की स्थापना की। ब्राह्मणादिकोंकी दासतासे तथा उनके कृत्रिम व कर्मकाण्डी ग्रंथोंसे समाजको मुक्त करनेके लिए ही इस समाजकी स्थापना की गई। परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए किसी मध्यस्थकी आवश्यकता नहीं है—यह इस संस्था का ध्येय वाक्य था। इस समाजमें प्रति रविवारको प्रार्थना व १५ दिनमें १ वार व्याख्यान होते थे। पुरोहितके बिना ही विवाह करने व मराठीमें ही मंगलाष्टक बोलनेका उपदेश दिया जाता था। इस समाजकी अन्य भी शाखाएँ खुल गईं तथा सदस्य संख्या ३०० से भी अधिक हो गई। १८८५ में इस समाजका एक जुलूस निकला। इसमें भाग लेनेवालोंमें न्यायमूर्त्ति श्री रानडे भी थे।

कोल्हापुर-प्रकरणमें श्री तिलक और श्री आगरकरपर मान हानिका मुक़दमा चला था। उस समय श्री फुलेने ही उन्हें अपने यहाँ छिपाकर रखा, उनकी जमानतकी व्यवस्था की तथा जब वे जेलसे छूटकर आए तब बम्बईमें उनका सार्वजनिक स्वागत किया।

अनिवार्य शिक्षाके बिना समाजकी स्थितिमें सुधार संभव नहीं है—यह इनका दृढ़ मत था। तथा इन्होंने इस बातका प्रचार भी किया। हण्टर कमेटीके सामने दिए गए अपने बयानमें भी इन्होंने इसी बातपर बल दिया। रायगढ़में स्थित शिवाजीकी समाधिके जीर्णोद्धारका प्रश्न भी इन्होंने ही उठाया और उसे सुधारनेके लिए प्रयत्न किया। जिस समय ड्यूक आफ़ यार्क पूना आए उस समय भारतके किसानोंकी वास्तविक स्थिति दिखानेके लिए वे ग़रीब किसानोंकी घोंगड़ी व पंचाकी पोषाक पहिनकर ही उनसे मिलने गए।

समाजशास्त्रियोंने निरन्तर अभ्यास करके जो सिद्धान्त ढूंढ़ निकाले, उनका इन्होंने आत्मप्रेरणासे प्रतिपादन किया। अन्य सुधारकोंकी तरह इन्होंने केवल सुधारके लिए उपदेश या मार्ग-प्रदर्शन करके ही अपनी कार्यपूर्त्ति नहीं समझी अपितु उसके लिए सक्रिय कार्य किया। समाजकी रचनाको मूलसे बदलनेके लिए उस समाजके आधार ब्राह्मणों तथा वेद-पुराणोंपर ही इन्होंने तीव्र आक्रमण किया। इन्होंने इस कार्यके लिए बड़ी सरल और मनमें बैठनेवाली भाषाका प्रयोग किया। इस खण्डन-मण्डनके कार्यमें आनेवाली विपत्तियोंको इन्होंने सहर्ष झेला। इन्होंने प्रचारका नया ही प्रकार स्वीकार किया। यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इन्होंने प्राय: सभी समाज-सुधारके कार्योंका श्रीगणेश किया और उनकी गणना हम महाराष्ट्रके प्रथम समाज सुधारकोंमें कर सकते हैं। उनका देहावास हो १८९० में गया।

विधवाओंके बन्धु सर गंगाराम

"मृत्युने सर गंगारामको क्या उठाया, हमारे बीचसे एक सुयोग्य और व्यवहारदक्ष, खेती-शास्त्रके जानकारको, एक महान दाता और विधवाओंके बंधुको उठा लिया। सर गंगाराम यों तो वयोवृद्ध थे, किन्तु उनमें उत्साह युवकोंका सा था। उनकी आशावादिता भी उतनी ही प्रबल थी, जितना कि उनका अपने विचारोंसे आग्रह। इधर मुझे उनसे निकट सम्बन्ध प्राप्त करनेका सुअवसर मिला था और यद्यपि हम अनेक बातों में एक-दूसरेसे भिन्न मत रखते थे, तथापि मैंने देखा कि वे एक सच्चे सुधारक और लगन के महान कार्यकर्त्ता थे।

भारतको हर तरहसे इस बातका अभिमान है कि सर गंगारामके समान पुरुष उसके विख्यात सपूतोंमें से एक हैं। उनकी अकस्मात् मृत्युकी बात सुनकर मुझे कितना दुःख हुआ होगा—यह पाठक अनुमान कर सकते हैं।"

आजसे लगभग ३० वर्ष पूर्व हिन्दी नवजीवनमें २१ जुलाई १९२७ को लिखे महात्मा गांधीजीके यह शब्द उस महापुरुषका सच्चा चित्र उपस्थित करते हैं, जो देशके ठोस और मौन कार्यकर्त्ता थे तथा बाह्य प्रदर्शन, जलूस, सार्वजनिक सत्कार, मानपत्र, फूलोंके हार, पुष्प-वर्षा इत्यादिसे सर्वथा दूर रहनेवाले थे। सर गंगारामका सारा जीवन सरकारी नौकरी और ब्रिटिश सरकारके साथ सहयोग करनेमें ही बीता। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनमें देशभक्तिकी भावना किसी से कम थी। देशकी सेवा केवल राजनीति द्वारा ही नहीं हो सकती है। बहुधा त्वरित यशप्राप्तिके लिए राजनीतिक क्षेत्र सर्वोत्तम होता है। सर गंगाराम भी सरकारी सेवासे निवृत हो तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्रमें चमक सकते थे। देशकी उस समयकी अवस्थाके अनुसार यह शायद, सहज होता।

पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। आप जानते थे कि विदेशियोंको गाली देकर देशभक्त बनना आसान है, किन्तु अपने घरके फोड़ोंकी चीर-फाड़ करना दुष्कर है। इसमें यश मिलना तो दूर रहा, घरवालोंसे ही निन्दा और भर्त्सना सुननी पड़ती है। सर गंगाराम का यह दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक सुधारके बिना राजनीतिक उन्नति और स्वतंत्रता लँगड़ी है। इसलिए उन्होंने सामाजिक सेवाको अपना क्षेत्र चुना और इसमें भी उस समस्या को हाथमें लिया, जो सबसे अधिक नाजुक है, अर्थात् विधवाओंका प्रश्न। उस समय वाचाल समाज-सुधारकोंकी कमी नहीं थी, पर ऐसे साहसी बहुत कम थे, जिन्होंने विधवाओं के प्रश्नोंको हाथमें लिया हो। इस समस्याका सम्बन्ध, प्रधानतः हिन्दू समाजके साथ

है। यही ऐसा समाज है, जिसमें ६ माससे लेकर ९० वर्ष तककी विधवाएँ हैं और जिनकी संख्या उस समय लगभग दो करोड़ थी। इन विभिन्न आयुकी विधवाओंकी समस्याका हल एक साथ नहीं हो सकता। बाल विधवाओंकी समस्याका यदि एक हल है, तो दीर्घायुकी विधवाओंकी समस्याका हल दूसरा है।

सौ हाथ से कमा, हजार हाथ से दे

सर गंगाराम बड़े दूरदर्शी, कालज्ञ और स्थिति परीक्षक थे। इसके साथ, वह समृद्ध और साधनसम्पन्न भी थे। जहाँ एक ओर उनका कोमल हृदय विधवाओंके करुणा क्रन्दनसे द्रवित होता था, वहाँ साथ ही उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भारतकी दरिद्रता की अमोघ औषधि उद्योग और कृषिके विकासमें हैं। सर गंगाराम पहले पंजाब सरकारके चीफ एग्जेक्यूटिव इंजीनियर थे, वहाँसे निवृत्त होकर पटियाला रियासतमें चीफ एग्जेक्यूटिव इंजीनियर नियुक्त हो गए। वहाँसे विमुक्त होकर आपने जिला मिंटगुमरीके रेनालाखुर्द गाँवके पास पंजाब-सरकारसे कई सौ बीघे ज़मीन ठेकेपर लेली जिसे बंजर घोषित कर दिया गया था। सर गंगाराम पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने आजसे ३५ वर्ष पूर्व वैज्ञानिक ढंगसे खेतीके परीक्षण किए, कृषि साधनोंमें यंत्रोंका प्रयोग किया और उसमें सफलता प्राप्तकी। उन दिनों पंजाबकी मंडियोंमें "गंगाराम फार्म" के गेहूँ, कपास, चना, तोरिया इत्यादि आदर्श समझे जाते थे और मँहगे बिकते थे। गंगारामने अपने पुरुषार्थ और बाहुबलसे कृषिसे खूब धन कमाया और उसका प्रयोग विधवाओंके कष्ट निवारणकी दिशामें किया।

अपने समयके अनोखे इस समाज-सुधारकने विधवाओंको चार श्रेणियोंमें बाँटा।

(१) बाल विधवाएँ अथवा ऐसी युवती विधवाएँ जिन्हें पुनर्विवाहके लिए प्रेरित किया जाना चाहिए।

(२) ऐसी युवती विधवाएँ, जो किसी कारणसे पुनर्विवाह नहीं करना चाहतीं परन्तु शिक्षा प्राप्त करके अपना निर्वाह करना चाहती हैं।

(३) मध्यम आयुकी विधवाएँ जो किसी प्रकार दस्तकारी आदिसे अपना और अपनी सन्तानोंका पालन करना चाहती हैं।

(४) निराश्रिता विधवाएँ, जिनके पालन-पोषणका कोई प्रबन्ध नहीं है अथवा अत्यन्त वृद्ध होनेसे अभाव ग्रस्त हैं और उन्हें कोई पूछनेवाला नहीं है।

सर गंगारामने अपनी विशाल सम्पत्तिमेंसे लगभग १ करोड़ रु०का ट्रस्ट "सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी" के नामसे स्थापित किया। यह ट्रस्ट एक दिनमें ही कायम हो गया हो, ऐसी बात नहीं है। इसकी भी एक दिलचस्प कहानी है और प्रभुकी कृपासे शुभ कार्य करने वालोंकी किस प्रकार श्री वृद्धि होती है, इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

विधवा-विवाह का कार्य

सर गंगाराम जिस समय १९१३ में पटियाला रियासतसे कार्यमुक्त हुए उससे पहले ही आर्यसमाजके साथ सम्बन्ध होनेके कारण, आपके हृदयमें हिन्दू विधवाओंका कष्ट निवारण करनेकी प्रबल भावना थी। १९१४ में आपने लाहौरमें अपनी कोठीके एक कमरेमें आंशिक समयके लिए काम करनेवाले एक सज्जनके साथ "विधवा-विवाह-सहायक सभा" कायम की। उसी वर्ष आपको ज़िला मिन्टगुमरीके रेनालाखुर्द गाँवके पास

सरकारकी ओर कई मुरब्बे जमीन ठेकेपर खेतोंके लिए मिली। इधर, विधवाविवाह का काम ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों आपको इन मुरब्बोंसे अधिक आमदनी होने लगी। आपने और भी जमीन ले ली और लाहौरमें कई अच्छी इमारतें खरीद लीं। यह सब अचल सम्पत्ति और कई लाख रु० नकद देकर आपने "विधवा-विवाह-सहायक-सभा" सहित "सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी" स्थापित की। "माडर्न रिव्यू" कलकत्ताके सम्पादक श्री रामानन्द चैटर्जीने सर गंगारामकी मृत्युपर उन्हें श्रद्धांजलि भेंट करते हुए कहा था कि इस सामय भारतमें इसके सदृश सुव्यवस्थित, नियमित और सदुद्देश्य युक्त ट्रस्ट बहुत कम हैं। १९२६ में स्थिति यह थी कि जहाँ यह ट्रस्ट लगभग १ करोड़की सम्पत्ति—(चल-अचल)—का मालिक था वहाँ विधवा-विवाह-सहायक-सभाका कार्य सारे भारतमें फैल गया था। इसके कार्यालयमें दर्जनसे अधिक व्यक्ति काम करते थे, लगभग २५ उपदेशक और प्रचारक थे, १० विधवा-आश्रम थे और लगभग सभी प्रान्तोंके मुख्य नगरों व राजधानियोंमें उप-कार्यालय थे तथा अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं सहित लगभग ६०० विधवा-विवाह-सहायक-सभाएँ सारे देशमें थीं। हिन्दीमें "विधवा बन्धु" और अंग्रेज़ीमें "विडोज कौज" दो मासिक पत्र निकलते थे। इसके अतिरिक्त लाखोंकी संख्यामें प्रति वर्ष हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ीके अतिरिक्त प्रांतीय भाषाओंमें पैम्फलेट और पुस्तिकाएँ मुफ्त बाँटी जाती थीं। प्रारम्भमें विधवा-विवाहका बड़ा विरोध होता था। सर गंगाराम रुग्ण होते हुए भी, लाहौरमें, प्रत्येक विधवा-विवाहमें उपस्थित होते थे। बादमें उनका आदेश था कि प्रत्येक विधवा-विवाहमें देवीको एक साड़ी और कुछ रुपया उनकी ओरसे भेंट दिया जाए। जब विधवा-विवाहका अधिक प्रचार हो गया तब इस की आवश्यकता नहीं समझी गई।

अन्य प्रकार की विधवाओं के लिए

दूसरी प्रकारकी विधवाएँ जो पुनर्विवाह न करके शिक्षा प्राप्त कर अपनी जीविका चलाना चाहती थीं, उनके लिए आपने लाहौरमें एक "विडोज होम" स्थापित किया, जिसमें एस० ए० वी० और जे० ए० वी० की ट्रेनिंग दी जाती थी। सर गंगारामने इस संस्थाका सारा प्रबन्ध, बादमें सरकारको दे दिया था। इस संस्थाकी इमारत आपने खरीदकर सरकारको दे दी इससे प्रत्येक विधवाको छात्रवृत्ति दी जाती थी।

तीसरी प्रकारकी विधवाओंके लिए आपने लाहौरके बच्छोवाली मुहल्लेमें एक "इंडस्ट्रियल स्कूल" खोला जहाँ अपने पाससे मशीने इत्यादि देकर सिलाई, कटाई आदि सिखाई जाती थी तथा वहाँ जो सामान तैयार होता था, उसे बेचनेके लिए आपने एक दूकान खोल रखी थी।

चौथी प्रकारकी विधवाओंके लिए जहाँ एक ओर मासिक सहायताका प्रबन्ध था, वहाँ दूसरी ओर लाहौरमें छोटी रावीके पास एक "अपाहज आश्रम" खोला गया था जिसमें एक ओर निराश्रित और अभावग्रस्त पुरुषोंका और दूसरी ओर विधवाओंका प्रबन्ध था। यहाँ भोजन वस्त्र, औषधि, दूध, फल सब मुफ्त मिलता था। खाली समयमें चर्खा, निवार इत्यादि कातने-बुननेकी व्यवस्था थी। इस आश्रमके साथ विशाल बाग, बिजलीसे पानी खींचनेवाला स्नानानागार, तालाब इत्यादि सब सुख-सुविधाएँ थीं और एक प्रार्थना-स्थान था, जहाँ प्रति दिन प्रातः सायं कथा-सत्संग आदि होता था।

जन्म, शिक्षा और वसीयत

सर गंगारामका जन्म १३ अप्रैल १८५१ ई० वैशाखीके दिन जिला शेखपुराके माँगटावाला गुरुद्वारेमें हुआ था। आपके पिता अमृतसरमें थाना-मुँशी थे। मैट्रिक पास करनेके बाद आपने रुड़कीसे इंजीनियरी पास की। पहले आप लाहौरमें ही नियुक्त हुए।

आपने जो ट्रस्ट कायम किया था, उसमें सारा धन आपका ही था। जनतासे किसी भी रूपमें एक पैसा भी नहीं माँगा गया। विधवा-विवाह-सहायक-सभाके अतिरिक्त इस ट्रस्टके आधीन निम्नलिखित संस्थाएँ थीं।

(१) सर गंगा राम फ्री अस्पताल, वच्छोवाली, लाहौर

(२) लाइब्रेरी और हिन्दू-छात्र-सहायक-समिति (इस लाइब्रेरीमें केवल वैज्ञानिक और टेकनिकल पुस्तकें थीं और इसीकी पढ़ाईके लिए हिन्दू छात्रोंको सहायता व कर्ज दिया जाता था।)

(३) सर गंगाराम गर्ल्स स्कूल—सर गंगारामके पुत्रोंने आपकी मृत्युके बाद इस स्कूलको कालेज बना दिया और साथ ही लड़कियोंके लिये ट्रेनिंगकी कक्षाएँ खोल दीं।

(४) टेली कालेज आफ कामर्स (आन्तरिक प्रबंध सरकार को दे दिया)

१९२१ में पंजाबमें "गुरुके बाग" का प्रश्न आया, जहाँ अकाली आंदोलन चला था। अकालियोंके सत्याग्रह से सरकार बड़ी परेशान थी क्योंकि गाँधीजी का वहिष्कार आंदोलन भी जोरोंपर था। सर गंगारामने अपनी उदारतासे दोनोंकी सहायता की। वह सारा बाग मोल लेकर अकालियोंको दानकर दिया।

सन् १९२६ में भारत सरकारने लार्ड लिनलिथगो—जो बादमें वायसराय हुए—की अध्यक्षतामें एक कृषि कमीशन नियुक्त किया था। सर गंगारामजी इसके सदस्य थे। पर आपने सदस्य होनेके नाते सरकारसे भत्ता, मार्ग व्यय तथा अन्य खर्च कुछ भी नहीं लिया और सारा व्यय अपने पाससे किया। इसी सम्बन्धमें आप अप्रैल १९२७ में इंगलैण्ड गए थे। आपके स्वास्थ्यको देखते हुए आपके पुत्रों और सम्बन्धियोंने आपको रोका पर आपने कहा—"मेरा निश्चय अटल है पर साथही मैं वापस नहीं आऊँगा। प्रस्थान करनेसे पूर्व आप अपनी वसीयत एक मोहरबन्द लिफाफेमें पंजाब नेशनल बंकमें जमा कर गए थे और मरनेके बाद खोलनेका आदेशदे गए थे। १० जुलाई १९२७को लंदन में ७५ वर्षकी आयुमें आपकी मृत्यु हृदयगति रुक जानेसे हुई। आपके स्वर्गवासके पश्चात् जब वसीयत खोली गई, तब उसके ट्रस्ट सोसाइटीको १० लाखकी अतिरिक्त राशि देनेके साथ-साथ अपने निकट व दूरके सम्बन्धियों और घरके चापलूसियों तथा खानसामों तक के लिए आजीवन पेंशन इत्यादि की व्यवस्था कर गए थे।

दानी पिता के दानी पुत्र

सर गंगारामके तीन पुत्र थे और वे भी अपने पिताके समान दानी थे। प्रत्येक कुशल व्यवसायी और सम्पन्न था। सबसे बड़े राय बहादुर सेवक राम थे। उन्होंने अपने नामसे एक अलग ट्रस्ट कायम किया। उससे भी विधवा-अनाथोंकी सहायता मिलती थी। दूसरे लाला बालकराम थे। इन्होंने लाहौरमें लगभग २० लाख रु० से "बालकराम मेडिकल कालेज" स्थापित किया था, जो सरकारसे मंजूर हो गया था।

तीसरे लड़के लाला हरिराम थे । वह भी अपने दोनों भाइयोंके सार्वजनिक कार्योंमें पूरा साथ देते थे । इस समय इन तीनों पुत्रोंका देहान्त हो चुका है ।

गीतामें आदर्शदानीका लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्विकं स्मृतं ।।१७।२०

कर्त्तव्यकी भावनासे और उपकार न करनेवालेके लिए भी तथा देश, काल और पात्र को देखकर जो दान दिया जाता है, वह सात्विक दान कहलाता है ।

सर गंगाराम इस प्रकार एक आदर्श दानी और सच्चे समाज-सुधारक थे । गाँधीजी के शब्दोंमें वह, वस्तुतः "विधवाओंके बंधु" थे ।

कल्याण-मार्ग के पथिक स्वामी श्रद्धानन्द

"कल्याण-मार्गके पथिक" के नामसे स्वामी श्रद्धानन्दजीने अपनी आत्मकथाका कुछ अंश लिखा है। उसको वे पूरा नहीं कर सके उसमें आपने अपनेको जिस रूपमें उपस्थित किया है, वह आपके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करता है। अन्य अनेक महापुरुषोंकी तरह आपने भी जब पतनकी ओरसे विमुख होकर आत्मोन्नतिकी ओर अपनेको लगाया, तब आप सदा उसी मार्गपर अग्रसर होते गए। वास्तवमें ही आपकी जीवन-गाथा कल्याण मार्गके पथिककी सफल यात्राकी स्फूर्तिदायक कहानी है। वह किसी भी विवेक भ्रष्ट व्यक्तिको शतमुखी पतनसे बचा सकती है और कल्याण-मार्गकी ओर अग्रसर होनेके लिए प्रेरित कर सकती है। मालूम नहीं कि आपमें कबके संस्कार थे, जो इस प्रकार खिल उठे और जिनके कारण आपका कायाकल्प होकर आप महात्मा पदपर प्रतिष्ठित होनेके बाद आदर्श संन्यासीके रूपमें प्रकट हुए। अपने चरित्रसे आपने यह सिद्ध कर दिया कि अपने यौवनमें भोग विलास और ऐश्वर्यके उपभोगमें फँस जानेवाला व्यक्ति भी ब्रह्मचर्यका उद्धारक, महात्मा और आदर्श संन्यासी बन सकता है, गुरुकुल सरीखी महान शिक्षा-संस्थाकी स्थापना करके अट्ठारह वर्ष तक उसके आचार्यपद पर सुशोभित रह कर ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणालीके पुनरुद्धारका यश सम्पादन कर सकता है। एक तहसीलदारके घरमें जन्म लेकर और नायब तहसीलदारीके साथ जीवनमें प्रवेश करनेवाला सरकारी नौकरीका परित्याग कर अंतमें सत्याग्रही एवं राजद्रोही बनकर जेल तकमें जा सकता है। नास्तिकताकी लहरमें बह जानेवाला भी धर्मके लिए सर्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कर आदर्श धर्म वीर बन सकता है। गहरे पतनके बाद इतने महान उत्कर्षमय आदर्श जीवनकी प्राप्ति आपके जीवनकी लम्बी कहानी का सार है, जो ज्योति स्तम्भकी तरह दिव्य प्रकाशको फैलाकर दूसरोंके लिए पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

आपका जन्म फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी संवत १९१३ विक्रमीको जिला जालन्धरमें तलवन ग्राममें उस परिवारमें हुआ था जो अपने ही परिश्रमसे असाधारण स्थितिको प्राप्त हुआ था। भगवत भक्ति, सज्जनता, वीरता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता और सत्य परायणता आदि गुण आपको विरासतमें मिले थे। पिता लाला नानकचन्द बहुत ही स्पष्टवादी थे इसीलिए नौकरीमें कहीं टिक नहीं सके। कपूर्थलामें थानेदार थे कि त्यागपत्र देकर चले आए, फिर सियालकोटमें फौजदारीमें खजांची नियुक्त हुए। वहाँसे अफसर

से लड़कर चले आये। अमृतसर और लाहौरमें की गई सरकारी नौकरी भी निभ न सकी। १८५७ की राज्य क्रांतिमें उनका भाग्य भी खिल उठा। निराश हो उन्होंने दिल्लीका रास्ता पकड़ा और हिसार पहुँचे थे कि दिल्लीमें विद्रोहका शंख फूंक दिया गया। हिसारमें गोरी फौजका साथ देने और एक चौधरीके यहाँसे ब्रह्मभोज के लिए तैयार की गई भोजन-सामग्री लेकर गोरी फौजकी भोजन-व्यवस्था कर देनेके फलस्वरूप उनको हिसारका कोतवाल नियुक्त कर दिया गया। उसके बाद मेरठ, सहारनपुर तथा नैपाल में मेलाघाटमें हुई लड़ाईमें अंगरेज़ोंका साथ देनेके कारण उनको बाँस बरेलीकी पुलिस लाइन्सका चार्ज दे दिया गया। इन्हीं दिनोंमें छठी सन्तानके रूपमें चरित्रनायकका जन्म हुआ। जन्मका नाम वृहस्पति रखा गया, जो व्यवहारमें नहीं आया। व्यवहार का नाम मुंशीराम था। पिताजीकी बदायूं, बनारस, मिर्ज़ापुर फिर बनारस और बलिया आदिमें पदवृद्धि होकर बदली होती रही। मुंशीरामकी पढ़ाईका सिलसिला कहीं न जम सका। बनारस और बलियामें कुछ नियमित पढ़ाई हो सकी। बलियासे पिताजी ने बनारस भेजकर क्विंस कालेजमें भरती करा दिया। तब लगातार साढ़े चार वर्ष तक पढ़ाई का क्रम जारी रह सका। कुछ समय आवारागर्दीमें भी बीता। इन्हें दिनोमें कुछ दुर्गुण भी आवारागर्दीके कारण लग गए। एक आध घटना चरित्रकी निर्बलता सम्बन्धी भी घट गई; परन्तु सहसा ही सावधान हो गए। विचारोंमें पहले कुछ नास्तिकताका संचार हुआ फिर एक बार इसाई बन जानेका भी निश्चय किया गया। मांस, मदिरा, जुआ तथा हुक्का आदिके दुर्व्यसनोंका प्रारम्भ भी इन्हीं दिनोंमें हुआ।

आपका विवाह पंजाबमें स्त्री शिक्षाके प्रवर्तक लाला देवराजजीकी बहनके साथ हुआ। उस समयकी सामाजिक स्थिति और आपकी मनोदशाका कुछ पता आपके अपने शब्दोंसे लगता है। अपने विवाहकी चर्चा करते हुए आपने लिखा है कि "मैं विवाह के धूम-धड़क्केसे निवृत होकर बहुत निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधू युवा मिलेगी परन्तु अभी वह बाल्यावस्थामें ही थी। फिर यह निश्चय किया कि मैं उसे स्वयं पढ़ाऊँगा और इस विचारने मुझे बहुत संतोष दिया। मैंने उसी समय बाल-विवाह कुप्रथाके भयंकर परिणाम अनुभव किये थे और इसीलिए आर्यसमाजमें प्रवेश करते ही मैंने इसके संशोधनमें बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाहका ख्याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता, तो काशीसे ग्रेजुएट बनकर मैं किसी अन्य ऊँची दशामें चला जाता। कमसे कम यदि धर्मपत्नीकी आयु सोलह वर्षकी होती और परस्पर की प्रसन्नतासे आँखें खोलकर विवाह होता, तो मैं उस अन्धकूपमें गिरनेसे बच जाता, जिसमें आगामी दो-ढाई वर्ष गिरा रहा।"

विवाहके बाद डेढ़ वर्ष तलवनमें बिताकर पिताजीके बरेली चले जानेसे आप भी वहाँ चले गए। इलाहाबादमें एफ० ए० की परीक्षामें बैठे। किन्तु सफल न हो सके। बरेलीका डेढ़ वर्षका जीवन नाच, रंग, तमाशोंके अन्धकूपमें बीता। मदिरापानका दुर्व्यसन चरमसीमापर पहुँच गया। उन दिनोंकी मानसिक स्थितिका चित्र चित्रण करते हुए आपने फिर लिखा है कि "मैं अपने जीवनमें मुझे दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावटका संस्कार फिर जाग उठा। घंटों बेहोश सा पड़ा रहा, परन्तु आत्मामें कोलाहल मचा हुआ था। प्रातःकाल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्तमें बैठकर अनुताप

करता रहा। उस दिन शामको ही लौटकर भोजन किया। दूसरे दिनसे ही काया फिर पलट गई। नाच, तमाशे, दावतोंमें जाना बन्द हुआ और फिलासफीका स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ कालके लिये विदा हो गये।" इस बारके पतनमें आशाकी झलक केवल वह अनुसंताप था, जो आत्मा अनुभव करती रहती थी। पश्चात्तापकी यह भावना परीक्षा देनेके लिए अलीगढ़ जानेपर कुसंगतिके कारण फिर मन्द पड़ गई।

बरेलीके इस घोर अन्धकारमय जीवनमें १४ श्रावण संवत् १९३६ को स्वामी दयानन्द सरस्वतीके बरेली आनेपर उनका जो सत्संग मिला, वह कुछ ऐसे संस्कार छोड़ गया कि उसके बादमें आपका कायाकल्प हो गया। आप दुपहरके समय शंका समाधान और रातको व्याख्यानके समय सबसे पहले उपस्थित होते और अंत तक बने रहते। जीवनका यह उतार-चढ़ाव निरन्तर बना रहा। पत्नीकी सेवा-भावनाने भी कुछ जादू किया, परन्तु धूप-छायाका सिलसिला काफी समय बना रहा।

पुत्रका मन पढ़ाईमें लगता न देख पिताजीने अपने प्रभावसे आपको नायब तहसीलदार बनवा दिया। एक ही मास बाद स्थानापन्न तहसीलदारका पद मिल गया। परन्तु अंग्रेज़ अफ्सरोंके साथ मेल नहीं बैठ सका। तीन ही मास चाकरीका यह क्रम चल सका। पिताजीके सामने सिवाय पुलिसकी नौकरीके दूसरा कोई विचार न था परन्तु आपका मन उधर से फिर चुका था। पिताजीने अंतमें घरका कामकाज सँभालने और लाहौर जाकर वकालतकी परीक्षा देनेके लिए घर भेज दिया। घरका काम-काज और परीक्षा की तैयारी साथ-साथ चलने लगी। दो बार असफल होनेके बाद तीसरे वर्ष मुख्त्यारी की परीक्षा पास की जा सकी। इस बीच उत्थान-पतनका सिलसिला भी बना रहा। पिताजी भी पेंशन लेकर घर आ गए। आपने जालन्धरमें मुख्त्यारीका धंधा शुरू कर दिया। १३, कार्त्तिक संवत् १९४० को स्वामी दयानन्दका देहान्त होनेपर आपके ही प्रयत्नोंसे जालन्धरमें शोक सभा का आयोजन किया गया, परन्तु जालन्धरमें भी पुराने व्यसनोंने आ घेरा और मदिरा-मांसका अव्याहत दौर चलता रहा। इस बीच कुछ समय फिल्लौर में वकालत करनेमें भी बिताया। जालन्धरमें अपने एक मित्रके मदिरापानमें चूर होकर वेश्यागमन करनेकी घटनाकी हृदयपर कुछ ऐसी चोट लगी कि घर आकर शराबकी बोतल को पासकी गलीमें जो फेंका, तो उस व्यसनसे सदाके लिए छुट्टी मिल गई और एक नए जीवनका सूत्रपात हो गया। इसी कारण दूसरे दिन सबेरे ही आप लाहौर चल दिए। वहाँ वकालतकी परीक्षा पास की। जालन्धरमें हृदयने जो चोट खाई थी उसने जब गहरा रंग पकड़ा, तब आपका झुकाव ब्राह्म-समाज और उसके बाद आर्य-समाजकी ओर हुआ। ब्राह्म-समाजके सारे साहित्यको पढ़नेके बाद भी जब आत्माको सन्तोष न हुआ, तब "सत्यार्थ प्रकाश" का अध्ययन किया और आर्य-समाजके विधिवत सदस्य बन गए। पहले ही दिन आर्य-समाजमें आपका जो व्याख्यान हुआ, उसका सार यह था कि "हम सबके कर्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिए। जो वैदिक धर्मके एक-एक सिद्धान्तके अनुकूल अपना जीवन नहीं ढाल सके, उसको उपदेशक बननेका साहस नहीं करना चाहिए। भाड़ेके टट्टुओंसे धर्मका प्रचार नहीं हो सकता। इस पवित्र कार्यके लिए स्वार्थत्यागी पुरुषोंकी आवश्यकता है।" इन शब्दोंमें उनके भावी नव-

जीवनका स्पष्ट चित्र देखा जा सकता है। मांस और हुक्के आदिका भी परित्याग उन्होंने उसी प्रकार किया जैसे शराबका किया था और वह केवल इसलिए किया था कि स्वामी दयानन्दने उनका निषेध किया है। अपनेको सच्चा आर्यसमाजी बनानेकी भावना का हृदयमे संचार होना था कि सारे दुर्व्यसन छूट गए और जीवन सहसा ही एक नए ढाँचेमें ढल गया।

जीवनके उत्थान-पतनकी लम्बी कहानीका यह संक्षिप्त विवरण केवल यह दिखानेके लिए दिया गया है कि स्वामीजी सुधारकी पहली सीढ़ी आत्म-सुधारको मानते थे और आत्म-सुधार प्रारम्भ होता है व्यक्तिगत जीवनसे। उस व्यक्तिगत जीवन का निर्माण स्वामीजी ने जिस रूपमें किया वह निराशसे निराश हृदयमें भी दिव्य आशाका संचार कर सकता है। इस प्रकार लाला मुंशीरामने कल्याण-मार्गका पथिक बनकर महात्मा पदकी प्रतिष्ठा प्राप्त की और बादमें संन्यासी बनकर लोक कल्याणके महान कार्यपर अपनेको न्योछावर कर दिया। उसकी जीवन-कहानी भी अत्यन्त प्रेरणाप्रद और स्फूर्त्तिदायक है।

आर्यसमाजकी स्थापना तो स्वामी दयानन्दने की; किन्तु उसका वर्तमान रूपमें निर्माण और संगठन आपने ही किया। प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाके रूपमें उनका संगठन स्थापित करने वाले आप ही हैं। स्वयं दृढ़ आर्य बननेकी जो धुन आपमें समाई, तो कितनोंको ही दृढ़ आर्यसमाजी बना डाला। आर्य समाजमें डी० ए० वी० कालेजकी शिक्षा पद्धतिके सम्बन्धमें जो चर्चा शुरू हुई उसने सहसा ही मांसाहारके विवादका रूप धारण कर लिया और उसके कारण दो दल बन गए। आप स्वभावतः कट्टर आर्यसमाजी बन जानेसे मांसाहारके विरोधी थे और विरोधी दलके अगुवा थे। इस नाते सारे पंजाबमें और बादमें समस्त भारतमें आप आर्यसमाजके अद्वितीय नेता माने गए। आर्यसमाजियोंको आर्यसमाजके आदर्शों तथा सिद्धान्तों और कार्यक्रमपर सुदृढ़ रहनेकी आप हमेशा ही प्रेरणा देते रहते थे। बीसवीं सदीके पहले चरणमें १९०७ में लाला लाजपतराय तथा भाई परमानन्द आदिके कारण सारे ही आर्यसमाज को राजद्रोहका मूल कारण बताया जाता था और यह कहा जाता था कि जहाँ आर्य-समाज का जोर है वहाँ राजद्रोह भी प्रबल है इसी कारण आर्यसमाजियोंके घोर दमनका सिलसिला शुरू किया गया, अनेक आर्य समाजियोंपर जहाँ-तहाँ मुकदमे चलाए गए। "सत्यार्थ प्रकाश" को जब्त करनेके लिए राजद्रोही ग्रन्थ बतानेको भी कुछ मामले दायर किए गए और पटियालामें आर्यसमाज मन्दिरपर ताला लगाकर सभी सदस्योंपर राजद्रोहका मुकद्दमा चलाया गया। ऐसे कठिन अवसरपर आर्य समाजको अपनी नैतिकतापर कायम रखकर आर्य समाजियोंमें कोई दीन-हीन भावना न पैदा होने देनेका सारा श्रेय एकमात्र आपको है। पंजाब-केसरी लाला लाजपतरायकी १९०७ में मांडलेमें की गई नजरबन्दी पर जब कुछ क्षेत्रोंमें उनके आर्यसमाजी न होनेकी बात कही गई तब लाहौर पहुँचकर आपने बहुत महत्वपूर्ण भाषण दिए। आर्यसमाजपर कहीं कोई संकट आता, तो वहाँ सबसे पहले आप पहुँचते। पटियालाके मुक़द्दमेकी पैरवी की सारी व्यवस्था आपने ही की। वर्षों आप पंजाब-आर्य-प्रतिनिधि-सभा और सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभाके अध्यक्ष रहे।

आर्य समाजकी दृष्टिसे गुरुकुल की स्थापना आपका सबसे बड़ा काम है और शिक्षा के क्षेत्रमें भी वह अपने ढंगका एक अद्‌भुत प्रयोग था। विक्रमी १९५३में आपने उसके सम्बन्धमें अपने पत्र "सद्धर्म प्रचारक" में चर्चा प्रारम्भ कर दी थी। नवम्बर १९५८ तक यह चर्चा चलती रही। तब पंजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभाने गुरुकुल स्थापित करने और स्वामी दयानन्दके वेद भाष्यको पूरा करनेका निश्चय किया। जो बोले सो कुंडा खोले वाली बात हुई। अगस्त १८९८ को आपने ३० हज़ार रुपया जमा करनेका संकल्प करके यह घोषणा कर दी कि यह धनराशि जमा होने तक मैं घर नहीं लौटूंगा। ८ अप्रैल १९०० को केवल नौ मासमें आपने ४० हजार रुपया जमा कर लिया। इन्हीं दिनोंमें आपको आर्य जनताने महात्मा पदसे विभूषित किया। २ मार्च १९०२ को गुजरान्वांला से ३४ ब्रह्मचारियोंको लेकर हरिद्वारके उस पार गंगाके किनारे कांगड़ी गाँवके समीप गुरुकुलकी स्थापना की गई और होलीकी छुट्टियोंमें २१ से २४ मार्च नक विशेष उत्सव मनाकर उद्‌घाटन-विधि सम्पन्न की गई। दिन दूनी और रात चौगूनी उन्नति करते हुए गुरुकुल एक स्वतंत्र राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बन गया, जिसके लिए स्वामीजीने सर्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर न केवल अपना तन किन्तु मन और धन भी अर्पित कर दिया। अपना पत्र, प्रेस, पुस्तकालय और जालन्धरकी कोठी आदि सब कुछ उसकी भेंट कर दिया। आर्य जनताने भी प्रति वर्ष हज़ारों लाखोंकी भेंट करते हुए धनकी कमी नहीं रहने दी। कुरुक्षेत्र, दिल्ली, मटिं, गुजरातमें, सूपा आदिमें उसकी शाखाएँ स्थापित की गईं। आप बंगाल और मद्रासमें भी उसकी शाखाएँ स्थापित करनेके यत्नमें रहे। बहुत वर्षों के बाद स्त्री-शिक्षाके लिए भी गुरुकुलके ढंगपर कन्या गुरुकुल स्थापित किया गया, जो इस ममय देहरादूनमें चल रहा है। विक्रमी १९८० में जब गुरुकुलका रजत-जयन्ती-महोत्सव मनाया गया तब उसमें विद्यार्थियोंकी संख्या १००० से ऊपर थी और २० लाख से भी अधिक रुपया जनता उसके लिए दे चुकी थी। गुरुकुलके स्वरूप-महत्व और विशेषताओंके सम्बन्धमें जितना लिखा जाय थोड़ा है। यहाँ हम केवल दो-एक सम्मतियाँ ही उद्धृत कर रहे हैं। इंगलैण्डके भूतपूर्व प्रधान मंत्री मि० रैमजे मैक्डानल्ड १९१४ में गुरुकुल आए थे। उन्होंने इंगलैण्ड लौटकर 'डेली क्रानिकल' में जो लेख लिखा था वह उसके राष्ट्रीय स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालता है। उन्होंने लिखा था कि "भारतके राजद्रोहके सम्बन्धमें जिन्होंने कुछ थोड़ा सा भी पढ़ा है, उन्होंने गुरुकुल नाम अवश्य सुना होगा जहाँ कि आर्य समाजियोंके बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। आर्योंकी भावना और सिद्धान्तोंका यह अत्यन्त उत्कृष्ट मूर्त्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाजके सम्बन्धमें जितने भी सन्देह किए जाते हैं, वे सब इस गुरुकुलपर लाद दिए गए हैं। इसीलिए सरकारकी इसपर तिरछी नजर है, पुलिस अफसरोंने इसके सम्बन्धमें गुप्त रिपोर्टें की हैं और अधिकांश ऐंग्लो इंडियन लोगोंने इसकी निन्दा की है सरकारी लोगोंके लिए गुरुकुल एक पहेली है, अध्यापकोंमें एक भी अँगरेज़ नहीं है। अंगरेज़ी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षाके लिए पंजाब युनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें भी यहाँ काममें नहीं लाई जातीं, सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षाके लिए यहाँ से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता और विद्यार्थियोंको विद्यालयसे अपनी ही उपाधियाँ दी जाती हैं। सचमुच यह सरकारकी अवज्ञा है। घबराए हुए सरकारी अधिकारीके मुँहसे

इसके लिए पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुलके विषयमें यह अन्तिम राय नहीं हो सकती। सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेखमें मैकालेके सम्मति प्रकट करनेके बाद भारतके शिक्षाके क्षेत्रमें यह पहला ही प्रशस्त प्रयत्न किया गया है। उस लेखके परिणामोंसे प्रायः सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहाँ तक मुझको मालूम है गुरुकुलके संस्थापकोंके सिवा किसी औरने उस असंतोषको कार्यमें परिणत करते हुए शिक्षाके क्षेत्रमें नया परीक्षण नहीं किया।"

उसके क्रांतिकारी सामाजिक स्वरूपका परिचय लन्दनके एक और पत्र "दि न्यू स्टेट्स-मैन" के २० जून सन् १९१४ के लेखसे मिलता है। उसमें लिखा गया था कि "भारतीय दृष्टिसे इस संस्था की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण विशेषता जात-पांतके भेद व अंतरको मिटाना है। उसमें ब्राह्मणसे लेकर मेहतर तक सभी जातियों के बालक शिक्षा पाते हैं। सबका एकसा जीवन और रहन-सहन है। जात-पांतका भेद भारतमें खूब गहरी जड़ें पकड़े हुए है, पश्चिमकी शिक्षा और आदर्शोंके सहारे भी उसकी जड़ोंको खोदना कठिन है। परन्तु यहाँ गुरुकुलमें उसकी जड़ें बड़ी सफलताके साथ काट दी गई हैं, पश्चिमके नामपर उसके अनुकरणपर नहीं किन्तु पूर्वके पुराने और सुन्दर आदर्शोंको पुन-र्जीवित करनेकी दृष्टिसे। आर्य समाजके शिक्षाके कार्यका यह नमूना है और शिक्षाका यह कार्य उस महान समाज-सेवाके कार्यका छोटा-सा हिस्सा है, जो आर्य समाज उत्तरी भारतमें कर रहा है। आध्यात्मिकता एवं नैतिकतासे प्रायः रहित प्रतिभाशून्य ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते हैं। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं। इसलिए वे उसमें राज-द्रोहका का सन्देह करनेके आदी हो गए हैं।"

गुरुकुलके आकर्षण और विशेषताओंके सम्बन्धमें इन दो सम्मतियोंके बाद कुछ और कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती। हिन्दीके माध्यमसे सम्पूर्ण शिक्षा देनेवाली वह पहली संस्था है। मेहनत मजदूरी करके और भोजनमें कमी करके गुरुकुलके ब्रह्मचारियों और कर्मचारियोंने १५००) दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके लिए भेजा था। उसी समय से गांधीजीका गुरुकुलने प्रेम सम्पादन कर लिया था: गांधीजीके लिए महात्मा शब्द का प्रयोग सबसे पहले गुरुकुल द्वारा दिए गए मानपत्रमें ही किया गया था। गाँधीजीने गुरुकुलके उत्सवकी व्यवस्था को कांग्रेसके लिए अनुकरणीय बताते हुए उसकी अनेक बार प्रशंसा की थी, यहाँ यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि शिक्षाके प्राचीन वैदिक आदर्श को पुनर्जीवित करनेके लिए गुरुकुलकी स्थापना की गई थी और उन आदर्शोंको मूर्त्त रूप देनेका पूर्ण प्रयत्न आपके ही कारण किया जा सका।

१२ अप्रैल १९१७ को सम्बत्१९७४ की पहली वैशाखको आपने हरिद्वार और कनखलके बीच स्थित मायापुर वाटिकामें संन्यास आश्रममें प्रवेश किया और यह कहते हुए स्वयं अपना नाम श्रद्धानन्द रखा कि मेरे सम्पूर्ण जीवनमें मुझे एकमात्र श्रद्धाका ही सहारा रहा है। गुरुकुल और आर्यसमाज तक अपनेको सीमित न रखकर विस्तृत कार्य-क्षेत्रमें पदार्पण किया। प्रत्यक्ष राजनीतिसे पृथक रहते हुए भी आपकी वृत्ति राष्ट्रीयता से ओत प्रोत थी। धर्मको आप जिस व्यापक दृष्टिसे देखते थे राजनीति उसका एक अंग थी। गुरुकुलकी स्थापना और उसका संचालन भी मुख्यतः राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे किया गया था। अपनी धर्म प्रधान वृत्तिके कारण ही आप गांधीजीके सत्याग्रहको धर्मयुद्ध

कहकर उसमें सम्मिलित हुए थे। गुरुकुलसे अलग होते हुए आपने उसके प्रधानको २५ सितम्बर १९२० को लिखे गए पत्रमें लिखा था कि "इस समय मेरी सम्मतिमें असहयोग की व्यवस्थाके क्रियात्मक प्रचारपर ही मातृभूमिका भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्माजीको सहायता न मिली तो देशकी स्वतंत्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जातिके जीवन व मृत्युका प्रश्न हो गया है। इसलिए मैं इस काममें शीघ्र ही लग जाऊँगा। यदि आपकी सम्पत्तिमें इस काममें लगने के लिए मुझे गुरुकुल व आर्य-समाजके अन्य कामोंसे अलग हो जाना चाहिए, तो जैसा पत्र आप तजबीज करेंगे, मैं पब्लिकमें प्रकाशित करूँगा। मैं इस कार्यसे रुक नहीं सकता, मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दीखता है।"

इस पत्रसे स्पष्ट है कि स्वामीजीको गांधीजी के आन्दोलनने कुछ स्वाभाविक रूपसे ही अपनी ओर आर्कषित कर लिया था। गुरुकुल और आर्यसमाजमें रहते हुए भी आप राजनीति सेपृथक नहीं थे; परन्तु उसमें कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते थे। सूरत कांग्रेसके भंग होनेपर रार्जाष गोखलेने आपको अत्यन्त मर्मस्पर्शी पत्र लिखा था और आपके साथ उनका बहुत ही निकटका सम्पर्क बना रहा। गुरुकुलसे आकर दिल्लीमें स्वामीजी गांधीजीसे मिले। स्वामीजीकी योजना यह थी कि देशमें कुछ क्षेत्र ऐसे तैयार किए जायँ, जिनमें असहयोगको पूर्ण बनाकर लगानबन्दीका सत्याग्रह शुरू किया जाय और आन्दोलनको कहीं भी केन्द्रित न रखा जाय। आपने पंजाबमें पाँच जिले इस प्रकार तैयार करनेका दायित्व लेनेकी इच्छा प्रकट की और गांधीजीसे गुजरातमें पाँच जिले तैयार करने को कहा। दिल्लीमें रहकर रौलेट एक्टके विरुद्ध हुए आन्दोलन का संचालन, घंटाघरके नीचे गुरखोंकी नंगी किरचोंके सामने हज़ारों लोगोंका नेतृत्व करते खड़े होना, जामा मस्जिदकी वेदीसे वेद मंत्रोंके उच्चारणके साथ भाषण देना और कई सप्ताह तक दिल्लीसे अंग्रेज़ी राजको समाप्त करके सच्चा स्वराज्य कायम करना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अंकित हो गई हैं। पंजाब जब फौजी शासनके भीषण अत्याचारों तथा अमृतसरके जलियानवाला बागमें हुए हत्याकांड सरीखे नृशंस दमनसे कराह रहा था और बाहरसे किसीका भी वहाँ आना-जाना निषिद्ध था तब सबसे पहले अमृतसर और लाहौर पहुँचनेवाले स्वामीजी थे। समाचार पत्रों में वहाँ की स्थिति पर आपने प्रकाश डाला और कांग्रेसपर जोर डालकर जाँच समिति की नियुक्ति करवाई, जिसमें गांधीजी, देशबन्धु दास और पंडित मोतीलाल जी नेहरू सरीखे नेता सम्मिलित थे। अमृतसरमें कांग्रेसका अधिवेशन होना असंभव बना दिया गया था। वह आपके ही प्रयत्नसे हो सका और आपही उसके स्वागताध्यक्ष चुने गए। मुहावरेदार ठेठ हिन्दीमें कांग्रेसके मंचसे दिया गया वह पहला ही भाषण था और उसमें आपने राष्ट्रके नैतिक जीवन के निर्माण और हरिजनोंके उद्धार आदि विषयोंकी कांग्रेस के मंचसे पहली ही बार चर्चा की थी। राजनीतिक दृष्टिसे तब पहली ही वार समाज-सुधारके महत्वका प्रतिपादन किया गया था। फिर आपको 'सिखोंके गुरुका बाग' सत्याग्रहके कारण अमृतसरमें कारावासका दंड भी दिया गया। कलकत्ताके कांग्रेसके विशेष अधिवेशन और नागपुर तथा अहमदाबादके अधिवेशनोंमे भी आप गांधीजीका समर्थन करनेके लिए उपस्थित हुए थे।

यह देशका दुर्भाग्य ही था कि आप कांग्रेसमें अधिक दिन न रह सके—कारण इसका यह था कि आप समाज-सुधारको राष्ट्रनिर्माणके लिये अनिवार्य मानते थे। एक करोड़ की तिलक-स्वराज्य-निधिके विनियोगका प्रश्न जब लखनऊ में कांग्रेस महासमितिके सामने विचारके लिए उपस्थित हुआ तब आपका सुझाव यह था कि पाँच लाखकी धनराशि हरिजनोंके उद्धारके लिए अलग रख देनी चाहिए। कांग्रेसके दूसरे नेता इससे सहमत नहीं हुए। उन्होंने आपके इस प्रस्तावका कुछ उपहास भी किया। बस, आपने कांग्रेस छोड़ दी और दिल्ली लौटकर दलितोद्धार सभाकी स्थापना करके हरिजन सेवाका काम शुरू कर दिया। कुछ मुस्लिम नेताओंसे दलितोंके संबंधमें जो मतभेद, विवाद तथा वितंडा प्रारम्भ हुआ, उसके कारण आपने शुद्धि तथा संगठनका आन्दोलन भी प्रारम्भ किया और हिन्दू महासभामें एक नया जीवन फूंक दिया। कुछ वर्ष बाद समाज-सुधार के दूसरे प्रश्न विधवा-विवाहपर हिन्दू नेताओंके साथ आपकी पटरी बैठ नहीं सकी। महामना पंडित मदनमोहनजी मालवीयने कांग्रेस-स्वराज्य-पार्टीके विरुद्ध नेशनलिस्ट पार्टीका संगठन करके हिन्दू महासभाका उपयोग कांग्रेसके विरुद्ध अपनी पार्टी और चुनावके लिए करना चाहा, तब आपने विधवा-विवाह और चुनावके प्रश्नपर हिन्दू महासभाको भी छोड़ दिया। चुनाव में आपने प० मोतीलाल नेहरू का साथ दिया। हिन्दू-समाजमें नव-जीवन पैदा करनेकी आकांक्षा रखते हुए और उसके लिए प्रयत्न करते हुए भी आप हिन्दू महासभाकी साम्प्रदायिकतासे कभी सहमत नहीं हुए और साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे आपने मुसलमानोंका विरोध नहीं किया।

दो विषयोंकी चर्चा करनी आवश्यक है। एक तो यह कि जब आपने आर्य-समाजमें प्रवेश किया तब पिताजी और घरवालोंके कट्टर सनातनधर्मी होनेसे आपको भी भीषण धर्म-संकटका सामना करना पड़ा। जात-बिरादरीवालोंके विरोध और बहिष्कारकी धमकियाँ भी आपको अपने मार्गसे विचलित नहीं कर सकीं। गुरुकुलके उत्सवसे लौटते हुए आर्यसमाजियोंपर हरिद्वारमें कुछ पंडोंके बहकानेपर एक उत्तेजित भीड़ने हमला कर दिया। बलवेके अपराधमें अनेक हिन्दू गिरफ्तार किए गए। आपने उस मुकदमें में सरकारका साथ न देकर सब मुकदमें वापस लेनेके लिए उसको मजबूर किया। जब भी कभी इस प्रकारके प्रसंग उपस्थित हुए तब आपने सदा ही सत्याग्रही वृत्तिसे काम लिया। देशमें कहीं भी अकाल, बाढ़ तथा भूकम्प आदिके दैविक संकट उपस्थित होते तब गुरुकुल से सदा ही एक अच्छी धनराशि जमा करके भिजवाते और यथासंभव स्वयं भी वहाँ पहुँच जाते।

दूसरे जिस विषयकी चर्चा करना आवश्यक है, वह है आपका हिन्दी-प्रेम, सम्बत् विक्रमी १९४६ में आपने कुछ साथियोंके साथ मिलकर आर्य समाजके प्रचारके लिये उर्दू में "सद्धर्म प्रचारक" पत्र निकालना प्रारम्भ किया। यह अनुभव होते ही कि आर्य-समाज का सारा काम हिन्दीमें होना चाहिये आपने १ मार्च १९०७को अपने पत्रको एकाएक हिन्दी में प्रकाशित करना शुरू कर दिया। आर्य-समाजमें हजारों लोगोंने केवल "सद्धर्म प्रचारक" के हिन्दीमें किए जानेसे हिन्दीका अभ्यास किया। आर्यसमाजकी छोटी-बड़ी कन्या पाठशालाओं में हिन्दीको ही अपनाया गया था किन्तु गुरुकुलमें आदिसे अंत तक सारी शिक्षाका माध्यम हिन्दीको रखकर जो परीक्षण किया गया था वह अपने ढंगका पहला था। गुरुकुलसे १९१८–१९ में "श्रद्धा" नामसे साप्ताहिक पत्रिका आपने निकाली।

दिल्लीसे १९१९-२० में "विजय" और १९२४-२५ में "अर्जुन" दैनिक पत्र प्रारम्भ किए गए थे। हिन्दीपर आपका पूर्ण अधिकार था। अमृतसर कांग्रेसके स्वागताध्यक्षके पदसे मुहावरेदार ठेठ हिन्दीमें आपने जो भाषण दिया था उसका अँगरेज़ीमें अनुवाद करना कठिन हो गया था। अनेक ग्रंथ भी आपने लिखे। उर्दूके गढ़ दिल्लीमें हिन्दीको रोपनेका श्रेय आपको ही है। आपके ही कारण दिस्ल्लीमें हिन्दी और हिन्दी पत्रकारिता प्रतिष्ठित हुई है। दक्षिण भारत तथा मद्रासमें आपने १९१९में हिन्दीका प्रचार गुरुकुलके कुछ स्नातकोंको भेजकर सबसे पहले शुरू किया था। आपकी इस हिन्दी सेवाके कारण विक्रमी संवत् १९७० में भागलपुरमें हिन्दी साहित्य सम्मेलनके चौथे वार्षिक अधिवेशनका आपको अध्यक्ष चुना गया था। सम्भवत: वह पहला ही अवसर था जब कि साहित्यिक योग्यताकी अपेक्षा हिन्दी-सेवाको प्रधानता दी गई थी।

यह भी आपके जीवनकी समाज-सुधारकी दृष्टिसे एक उल्लेखनीय घटना है कि ३१ अगस्त १८९१ में केवल ३६ वर्षकी आयुमें धर्मपत्नीका देहान्त हो जानेपर घर, परिवार तथा जात बिरादरी वालोंके अत्यन्त आग्रह पर भी आपने विवाह करनेका विचार तक नहीं किया। समाज-सुधारकी दृष्टिसे इससे भी अधिक बड़ी बात यह है कि अपनी संतानोंका विवाह जात-बिरादरीके बन्धन त्यागकर किया। कन्या अमृतकलाके विवाहपर काफी तूफान खड़ा हो गया; परन्तु आप अपने विचारसे टससे मस नहीं हुए। गुरुकुलमें जात-बिरादरीके सामाजिक भेदभाव और धार्मिक पक्षपात आदिको जड़मूलसे मिटा दिया गया था। कांग्रेस और हिन्दू महासभामें समाज-सुधारकी आवाज बुलन्द करनेका श्रेय आपको ही है।

एक धर्मान्ध मुसलमान अब्दुल रशीदको २३ दिसम्बर १९२६ को (४ पौष सम्बत् १९८३) मृत्युने अपना निमित्त बनाकर आपके साथ बहुत बड़ा विश्वासघात किया और उससे आपके महान व्यापक जीवनपर संकीर्ण साम्प्रदायिकता का एक काला परदा पड़ गया। महीनोंसे आप बीमार चले आ रहे थे और आपके पारिवारिक चिकित्सक डा० अन्सारी आपकी चिकित्सा कर रहे थे। उनको पूरा विश्वास था कि वे आपको मृत्यु से बचा लेंगे। लेकिन, अब्दुल रशीदने बीमारीके विस्तरपर पड़े हुए आपकी छातीपर गोलियाँ दागकर ७१ वर्षकी आयुमें आपकी इहलीला समाप्त कर दी। सच तो यह है कि आपकी मृत्यु ने डा० अन्सारी और अब्दुल रशीदके रूपमें मानवके दो रूप उपस्थित किए। एक वह है जो स्वामीजीको बीमारीके मुँहसे बचानेके लिए मृत्युके साथ जूझ रहा था। और दूसरा वह जिसने उनको मृत्युके घाट उतार दिया। एक मानव-हृदयमें विद्यमान प्रकाशका प्रतीक है, तो दूसरा अंधकारका। सभी देशों, जातियों, समाजों, सम्प्रदायों और समयोंमें ऐसे देव और असुर पाए जाते हैं। उनका सम्बन्ध किसी विशेष देश, जाति, समाज, सम्प्रदाय अथवा समयके साथ नहीं है।

स्वामीजीकी इस गौरवमय जीवनगाथाके बाद उनके महान् व्यक्तित्वके सम्बन्धमें कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं। आप ने अपने जीवनको प्राचीन वैदिक प्रणालीके ढांचे में ढालकर जो आदर्श उपस्थित किया वह हमें सदैव कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित करता रहेगा। देशके सार्वजनिक जीवनका कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिस पर पड़े हुए आपके पद चिन्ह हमारा पथ प्रदर्शन नहीं कर रहे हैं।

श्री हरविलास शारदा

बाल-विवाहपर प्रतिबन्ध लगानेके लिए शारदा क़ानूनके प्रस्तुतकर्ता दीवान बहादुर श्री हरविलासजी शारदाका जन्म अजमेरमें उनके पूर्वजोंके 'गणपत पुरा' मुहल्लेके पुराने मकानमें ३ जून सन् १८६७को हुआ था। वे बचपनसे ही बड़े कुशाग्र बुद्धि, सुन्दर, स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट थे। अपनी कक्षामें हमेशा पहले रहते थे। १८८८ में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालयसे बी० ए० आनर्स की परीक्षा पास की थी। १८८६–६१ के बीच वे देश विदेश की अनेक साहित्यिक तथा अन्य संस्थाओंके सदस्य बन गए। उनमें रायल एशियाटिक सोसाइटी, रायल सोसाइटी आफ लिटरेचर, रायल स्टैटिस्टिकल सोसाइटी, टीचर्स गिल्ड, रायल आर्कियोलोजिकल इंस्टिट्यूट मुख्य हैं। ८८ वर्षकी आयुमें सन् १९५५ में जब उनका देहान्त हुआ तब उनके परिवारके सदस्योंकी संख्या १०० से ऊपर थी। उनके निधनपर केन्द्रीय एसेम्बलीके पुराने सदस्य होनेके कारण संसदमें शोक प्रकट किया गया और अजमेरके बाहर राजस्थान तथा समस्त भारतमें भी अनेक स्थानोंपर शोक साभाएँ की गईं। समाज-सुधारके क्षेत्रमें उनका अभाव विशेष रूपसे अनुभव किया गया।

१९२४ में वे अजमेर-मेरवाड़ा से केन्द्रीय एसेंबलीके सदस्य चुने गए थे और १९३६ तक उसके सदस्य रहे। अजमेर नगरपालिकाके वे १८९४ में सदस्य नियुक्त किए गए थे। १९३४ से १९३७ तक उसके उपाध्यक्ष रहे। १९२५ में उन्होंने केन्द्रीय एसेम्बलीमें शारदा-क़ानून उपस्थित किया था। विधवाओं को पतिकी जायदादमें हिस्सा देने और बच्चोंके धूम्रपान निषेधके लिए भी विधेयक उपस्थित किए थे। १९३३ में वे केन्द्रीय एसेम्बलीमें महामना मालवीयजीकी नेशनलिस्ट पार्टीके उपनेता चुने गए। अजमेर तथा पश्चिमोत्तर प्रदेशोंकी प्रारम्भिक शिक्षा कमेटी के सदस्य नियुक्त किए गए।

आर्य समाज की सेवा

शारदाजीका आर्य समाजके साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहा। अजमेरमें उनको आर्यसमाजका निर्माता कहना चाहिए। स्वामी दयानन्दके वे अन्यतम भक्त थे। सन् १८८८में उन्होंने अजमेरमें आर्यसमाजकी स्थापना की। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवाकी भी उन्होंने १८८९ में स्थापना की और उसके प्रथम सभापति चुने गए। उसी वर्ष उन्होंने अजमेरमें दयानन्द हाई स्कूल स्थापित किया जो आजकल

दयानन्द कालेजके रूपमें चल रहा है। सन् १८९० में वे परोपकारिणी सभाके सभासद और १८९३ में उसके मंत्री चुने गए। ६२ वर्ष तक वे मंत्रीपदका काम करते रहे। दयानन्द निर्वाण अर्धशताब्दी सन् १९३३ में बड़ी धूमधामसे अजमेर नगरमें उनके ही कारण मनाई गई। उसके साथ अखिल भारतवर्षीय औद्योगिक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया।

साहित्य-सेवा

शारदाजीकी साहित्य सेवा भी बहुत अधिक है। उन्होंने निम्नलिखित पुस्तकें लिखीं :—

१—हिन्दू सुपीरियोरिटी २—अजमेर हिस्टोरिकल एंड डिस्क्रिपटिव, ३—महाराणा कुम्भ ४—महाराणा गंग ५—हम्मीर आफ रणथम्बौर ६—दयानन्द सरस्वती स्मृति ग्रंथका सम्पादन ७—स्पीचेज एंड राइटिंगस ८—वर्कस आफ महर्षि दयानन्द एंड परोपकारिणी सभा। ९—शंकराचार्य एंड दयानन्द १०—लाइफ आफ बिरजानन्द सरस्वती, गुरु आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती। ११—दि परोपकारिणी सभा एंड सत्यार्थ प्रकाश। १२—लाइफ आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती। १३—रिकलेक्शन्स् एंड रेमिनिसेंसेज १४—महात्मा गांधी हिज़ पर्सनालिटी एंड हिज़ टीचिंगस

स्वामी दयानन्दके अन्यतम शिष्य सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री श्यामजी कृष्ण वर्माके साथ भी आपका पुराना सम्बन्ध था। उनकी जीवनी लिखनेकी आपकी प्रबल इच्छा थी। वर्माजीने लन्दन तथा वर्मामें अनेक वर्ष रहकर भारतीय क्रांति के लिए जो कार्य किया है उसपर इस जीवनीसे अच्छा प्रकाश पड़ा होता।

सन् १८८९ में शारदाजी गवर्नमेंट कालेज अजमेरमें तृतीय अध्यापक, १८९२ में अजमेर राज्यके कमिश्नरकी कचहरीमें अनुवादक १८९४ से १९०२ तक हिज हाइनेस महारावल साहब जैसलमेरके गार्जियन व अध्यापक, १९०२ में अजमेरके कमिश्नरके दफ्तरमें सुपरिण्टेण्डेण्ट, १९०८ में व्यावरके सब जज, १९०९ में स्माल काज कोर्ट (खलीफा कचहरी) के रजिस्ट्रार, १९१२ में अजमेरके फर्स्ट क्लास स्पेशल सब जज और जज खलीफा, १९१९ में व्यावरके डिप्टी मजिस्ट्रेट व सब जज, १९२१ में फिर अजमेरके जज खलीफा और १९२३में अजमेर मेरवाड़ाके डिस्ट्रिक्ट और सेशन जज रहे। सन् १९२४ में उन्होंने सरकारी नौकरीसे अवकाश ग्रहणकर लिया और सार्वजनिक कार्य करनेमें लग गए। १९२५-२६ में वे जोधपुर हाईकोर्टके जज नियुक्त किए गए। १९२४ में बरेलीमें हुई अखिल भारतीय वैश्य महासभा और १९२९ में लाहौरमें हुई कांग्रेसकी अखिल भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सेवा-सभाके भी वे सभापति मनोनीत हुए। शारदाजीका जीवन देश-सेवा, समाज-सेवा तथा सरस्वतीकी उपासनामें ही व्यतीत हुआ। भारतको विशेषकर राजस्थानको अपने ऐसे सपूतपर गर्व है। वे अपने ढंगके निराले व्यक्ति थे और अपने देशकी विभूति थे। वे सदा लोकप्रिय बने रहे। यह उनके जीवनकी विशेषता है।

-::००::-

श्री शंकरदेव विद्यालंकार

महर्षि अण्णा साहब कर्वे

सन् १८७४ की एक भयंकर रात्रि । सितम्बरका महीना । आकाश भी डरावना सा हो रहा था और शीतल पवन वेगसे बह रहा था । सतारा जिलेकी पर्वतमाला और भी अधिक भयावह प्रतीत हो रही थी । ऐसे समय में सत्रह वर्षका एक ब्राह्मण कुमार अपर्याप्त कपड़ोंके कारण एक चट्टान पर बैठा हुआ शीतसे काँप रहा था । यह कुमार कोंकण प्रदेशके मुरुड़ गाँवसे ११० मील पैदल चल कर आया था । सत्रह वर्षका यह विप्र-कुमार मैट्रिक की परीक्षा देनेके लिए सतारा नगरमें पहुँचा था । अगले दिन यह युवक परीक्षा भवन में प्रविष्ट हुआ । उमर ठीक होने पर भी डील डौल में छोटा प्रतीत होनेके कारण इसको परीक्षामें नहीं बैठने दिया गया । इस घटनाके समय इस कुमार के कोमल मनको कितना धक्का लगा होगा—इसकी कल्पना करना कुछ कठिन नहीं । दुर्भाग्यके कठोर आघात को धीरतासे सहन करके यह युवक पुनः अपने गाँव मुरुड़को वापस लौटने लगा । इस तरुणके जीवनकी इस प्रारंभिक घटनासे उसकी धीरता और ध्येय-निष्ठा का सहज ही भान हो सकता है । इसी तरुणने आगे जाकर पूनामें "हिन्दू विधवा-आश्रम" और "भारतीय महिला-विद्यापीठ" की स्थापना करके भारतके महान समाज-सेवक और सुधारकका गौरव प्राप्त किया । यही युवक संप्रति अपनी त्यागवृत्ति, तपस्या, सेवा, साधना और ध्येय-निष्ठाके कारण महाराष्ट्र और भारत-राष्ट्रमें महर्षि अण्णा साहब धोंडो केशव कर्वे के रूपमें पूजित हो रहा है । इसी तपस्वीने भारतकी विधवाओं के करुणक्रंदनको सुनकर, उनके उद्धारको ही अपने जीवनका ध्येय बनाया था ।

१८ अप्रैल, सन् १८५८ में कोंकण प्रदेशके मुरुड़ नामक गाँवमें कर्वेका जन्म हुआ । उन दिनों गाँवकी पाठशाला मंदिरमें ही लगा करती थी । वहींपर ग्राम-शिक्षक द्वारा इनका शिक्षण प्रारंभ हुआ । उन दिनों गाँवोंमें लकड़ीकी पटियापर धूल बिछाकर अक्षर ज्ञान कराया जाता था । ऐसी लकड़ीकी पटियापर ही बालक कर्वेने मराठी अक्षरोंका परिचय प्राप्त किया । प्राथमिक शिक्षण तथा अँग्रेज़ीकी चार कक्षाएँ मुरुड़में ही पूरी हुई । इसके बाद वे बम्बई आ गए और आगेकी शिक्षा वहीं प्राप्त की । सन् १८८४ में एल-फिन्स्टन कॉलेजसे बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की । गणित इनका प्रिय विषय था । कॉलेजमें महामना गोपालकृष्ण गोखले इनके सहपाठी थे । बी० ए० पास करके बम्बई में ही रहकर यह आई० सी० एस० की तैयारी करनेवाले दो छात्रोंको गणित पढ़ाया करते थे ।

उन्हीं दिनों पूनाके सुविख्यात फरग्यूसन कॉलेजमें महामना गोखले अध्यापन-कार्य कर रहे थे। उनके निमंत्रणपर ये पूना आ गए और उक्त कालेजमें गणित शास्त्रके प्राध्यापक बन गए। और कालेजकी स्वामिनी सभा "दक्षिणशिक्षा-समिति" के आजीवन सदस्य बन गए। वहाँ बीस वर्ष तक यशस्वी रूपमें सेवा-कार्य करके सन् १९१४ में निवृत्त हुए। फरग्यूशन कॉलेजमें अध्यापन करते समय ही आपका वहाँ के कई त्यागी, तपस्वी लोक-सेवकों और समाज-सुधारकोंसे परिचय हुआ। आपके अतिनिकटके आत्मीय जन डॉक्टर रघुनाथ पुरुषोत्तम परांजपे (गणित केसरी) ने भी आपकी छत्रछायामें ही विद्या और लोक-सेवाकी शिक्षा और प्रेरणा प्राप्त की।

उस कालकी प्रथाके अनुसार चौदह वर्षकी उम्रमें ही आपका विवाह हो गया था। उस समय पत्नीकी उम्र आठ वर्षकी थी। महाराष्ट्रमें वह जमाना घोर रूढ़िवादका था। अपने गाँव मुरुड़में रहते हुए तरुण कर्वेने अपने सगे संबंधियोंके घरमें विधवाओं के प्रति होने वाले असह्य अत्याचारोंको अपनी प्रबुद्ध आँखोंसे निहारा था। हिन्दू-विधवाओं के दुःखभरे चीत्कारोंको सुनकर कर्वेका हृदय काँप उठता था। वैधव्यकी यातनाओंको निहार-निहारकर उनकी मनोव्यथाका कोई पार नहीं रहा।

पूना आकर प्राध्यापक बननेके दूसरे वर्ष में ही आपकी पत्नीका देहान्त हो गया। उस समय द्वितीय विवाहके लिये आपके पास अनेक कुलीन कुटुंबोंकी कुमारी कन्याओंके अभिभावकोंके प्रस्ताव आए। परन्तु आपका निश्चय था कि विवाह करूँगा, तो विधवा से ही करूंगा।

उस युगमें विधवा-विवाह करना कोई मामूली बात नहीं थी। सगे-संबंधियोंका क्रोध और बिरादरीका बहिष्कार सहन करना पड़ता था। माता-पिता और भाई-बहनोंसे भी संबंध छोड़कर अकेला और असहाय हो जाना पड़ता था। इन सब संकटों की संभावना होते हुए भी आपने विधवाके साथ ही विवाह किया। विवाह के पश्चात् दोनों अपने माता-पिताके पास गए। उस समय माता-पिताने एक दरीपर उनके साथ बैठनेसे इन्कार कर दिया। बहुत दिनों तक बोलने चालनेका संबंध भी नहीं रखा। अन्तमें बहुत दिन बीत जानेपर उनके हृदय परिवर्तित हुए। तथापि आपकी बिरादरी वालोंने आपका सामाजिक बहिष्कार कर दिया जो अब तक चालू है। आपका यह विवाह आपके द्वारा उठाये हुए विधवा-विवाह आन्दोलनके लिए मार्गदर्शक हो गया। विवाहके कुछ समय पश्चात् आपने विधवाओंके विवाहकी व्यवस्था के लिए एक संस्था स्थापित की। इसके प्रथम सभापति महाविद्वान रामकृष्ण गोपाल भांडारकर बने। अपने साहस त्याग तपस्या और निष्ठाके कारण इस प्रवृत्तिमें श्री कर्वेको अनेक गण्यमान्य महानुभावोंका सहयोग और स्नेह प्राप्त हुआ। समय बीतनेपर श्री कर्वे ने अनुभव किया कि विधवाओंकी सेवा और सहायताका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उनको शिक्षा दी जाय तथा स्वावलंबी बनाया जाय। तभी वे समाजमें अपना जीवन मानपूर्वक बिता सकेंगी। यही सोचकर सन् १८९६ में आपने "हिन्दू विधवा-आश्रम" की स्थापना पूनासे चार मील दूर हिंगणें नामक एकांत स्थानमें की। आज इस आश्रम में भवनोंकी कीमत कोई दो लाख रुपया है। परन्तु प्रारम्भमें एक छोटी सी पर्णशालामें इसका श्रीगणेश किया गया था। वहाँ तक पहुँचनेके लिए कोई अच्छा रास्ता नहीं था।

अनेक बार आश्रम कुटीरके छप्परोंसे वर्षाका पानी टपकता रहता था और बालिकाओंके शरीरको पानीसे बचानेके लिए घासकी चटाइयाँ ओढ़ानी पड़ती थीं। वर्षा ऋतु में तो आश्रम तक पहुँचना भी बहुत कठिन था। परन्तु श्री कर्वे प्रति दिन आश्रम जानेमें चूकते नहीं थे।

कॉलेजमें दिन-भर कठोर परिश्रम करनेके बाद आप प्रति दिन आश्रम जाने के लिए आठ मीलकी यात्रा पैदल तै किया करते थे। घरमें गृहिणी अथवा बालकोंकी बीमारी होनेपर भी आश्रममें जाना उनके लिए देव-मन्दिरमें जानेके समान आवश्यक था। इस आश्रमके विकासका सम्पूर्ण श्रेय आपको ही है। यह दुःसाध्य और महान कार्य आपकी साधना और तपस्यासे ही हुआ है। आजकल इस आश्रममें कुमारी, परिणीता और विधवाओंको मिलाकर ढाई सौ से ऊपर विद्यार्थिनियाँ हैं। इस आश्रममें इन दिनों एक हाई स्कूल, एक ट्रेनिंग स्कूल, एक प्रेक्टिसिंग स्कूल और एक छात्रावास चल रहा है। अनेक स्त्रियोंको उच्च शिक्षाके लिये विदेश भी भेजा गया है। पूना ही नहीं वरन समस्त महाराष्ट्रमें यह संस्या अपना विशेष स्थान रखती है।

आपने स्त्री-शिक्षापर अपना सारा जीवन लगा दिया है। आपमें वस्तु स्थितिको भाँपकर शीघ्र ही निर्णयपर पहुँच जानेकी अद्भुत क्षमता है। आपके विचारके अनुसार स्त्री-शिक्षाका उद्देश्य सुयोग्य गृहिणी, प्रेममयी माता और उत्तम पड़ौसी बनाना होना चाहिए। प्रकृतिने स्त्रियोंको जो विशेष शक्ति, क्षमता और कार्य सौंपे हैं, उनका सुन्दर विकास स्त्री-शिक्षाका सच्चा ध्येय है। इस दृष्टिसे जापानमें चलनेवाली स्त्री-शिक्षाकी प्रणाली आपको बहुत पसंद आई। आपने एक महिला विद्यापीठ स्थापित करनेका निश्चय किया। आपके इस विचारकी पहले बड़ी कटु आलोचना और विरोध किया गया। परन्तु आप धीर, गंभीर और वीर पुरुष हैं। विरोधियोंकी टीकाओं की कुछ भी परवाह न करके आपने सन् १९१६ में विधिवत् महिला विद्यापीठकी स्थापना की। इसके प्रथम कुलपति डॉ० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर तथा उप कुलपति डॉक्टर रघुनाथ पुरुषोत्तम परांजपे बनाये गए। शीघ्र ही इसकी एक नियामक सभा बनाई गई और बम्बईकी राष्ट्रीय सामाजिक परिषद्में विद्यापीठकी घोषणा की गई।

आपकी यह सम्पूर्ण योजना और कार्यशैली बम्बईके प्रसिद्ध उद्योगपति सर विट्ठल दास ठाकरसीको बहुत पसंद आई। उन्होंने इस महिला-विद्यापीठको पंद्रह लाख रुपये का एक बड़ा दान दिया। सर विट्ठलदासजीकी माताजीके नामपर संस्था का नाम श्रीमती नाथी बाई दामोदर ठाकरसी महिला विद्यापीठ रखा गया। आपने स्वयं भी समस्त देशमें घूमकर बहुत द्रव्य एकत्र किया। महाराष्ट्र और गुजरातमें इसकी कई शाखाएँ खोली गईं। इस प्रकार संप्रति हजारों कन्याएँ और महिलाएँ इन संस्थाओंमें अपने जीवनोत्कर्षकी सर्वांगीण तालीम प्राप्त कर रही हैं। यह संस्था अपने स्वरूपमें पूर्ण राष्ट्रीय रही है। पचास वर्ष पूर्व एक मामूली-सी झोंपड़ीमें केवल ४–५ विधवाओं और कुमारी कन्याओंको लेकर जिस कार्यका सूत्रपात किया गया था वह आज एक महान वट-वृक्षकी तरह फैल गया है।

इन सब संस्थाओंको आपने अपने खूनसे सींचकर बड़ा किया है। आज भारतका कोई भी शिक्षित व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो इस यशस्वी संस्थाके नाम और कार्यसे परिचित न हो।

७१ वर्षकी बड़ी उम्रमें श्री कर्वेने अपने इस आदर्श शिक्षणालयका परिचय देनेके लिए तथा उसके लिए आर्थिक सहयोग प्राप्त करनेके लिए विश्वका परिभ्रमण किया। इस विश्व यात्रामें आपको पर्याप्त सफलता मिली। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुरने पत्र द्वारा संस्था का अभिनन्दन किया और महात्मा गांधीजीने स्वयं हिंगणें जाकर अनाथ बालिका और महिला विद्यापीठको आशीर्वाद दिया। महिला उन्नतिके किसी भी कार्यकी आपने उपेक्षा नहीं की। आपके शिक्षणालयमें शिक्षा पाई हुई महिलाओंमें एक विशेष प्रकार का आत्मविश्वास पैदा हो जाता है। कुटुंबमें, समाजमें और विश्वमें स्वावलम्बन और स्वातंत्र्यके साथ अपना कर्तव्य पूर्ण करनेकी क्षमता और दृष्टि उनमें समा जाती है। सन १८१८ से १८२७ तक इस विद्यापीठने २३ ऐसी महिलाएं तैयार की जो सर्वथा स्वावलम्वनके आधार पर लोक-सेवा का कार्य कर रही थी। यह विद्यापीठ महिलाओंके लिए वरदान सिद्ध हुआ है और अंतर्भारतीय संस्कृति का संगम बन गया है। महाराष्ट्रमें इसने महिलाओं की उन्नतिके क्षेत्रमें जो कार्य किया है वह उसके सामाजिक समुत्थानमें विशेष महत्व रखता है। महर्षि कर्वे आदर्श समाज-सेवक हैं। आपकी भावना संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं है, आप तत्त्वतः मानवतावादी हैं। मानवता और समताके उपासक हैं। सबके सुखमें सुखी होना और दुःखमें दुखी होना यही आपका धर्म है।

आपने अपने जीवनकी इन सारी क्रांतिकारी गाथाओंको मराठीके "आत्म वृत्त" नामक ग्रंथमें विस्तारसे लिखा है। "यह आत्म वृत्त" भारतीय साहित्यके आत्मचरित्रोंमें विशेष महत्व रखता है। इसमें महाराष्ट्रके लगभग एक शतीके सामाजिक समुत्थान, महिला जागरणकी स्फूर्तिदायक कहानी दी गई है। इसको पढ़कर अनेक पुराणमतवादियोंके विचारोंमें अद्भुत परिवर्तन आया है। इस परिपक्व वृद्धावस्थामें भी आपका जीवन अतिशय नियमित, संयत और परदुःखकातर हैं। आपके ज्येष्ठ सुपुत्र डा० रघुनाथ कर्वे बम्बईके विल्सन कालेजमें प्राध्यापक थे और कामशास्त्रमें विशेषज्ञ थे। द्वितीय अफ्रीकामें चिकित्सा-व्यवसाय करते हैं और तृतीय पुत्र डॉक्टर दिनकर कर्वे पूनाके सुप्रसिद्ध फरग्यसन कॉलेजके प्रधान आचार्य हैं। आधुनिक युगके इस महर्षिको हमारा शततः प्रणाम है।

--::००::-

स्वामी दयानन्द

फर्डिनेण्ड लासेलने लिखा है : "शासन पद्धति सम्बन्धी प्रश्न मुख्यत: अधिकारका प्रश्न नहीं वरन् शक्तिका प्रश्न होता है। किसी देशकी वास्तविक शासन-पद्धतिका अस्तित्व उस देशमें पाई जानेवाली शक्तिकी वास्तविक दशामें ही होता है। इसलिये राजनीतिक रचनाओंका मूल्य और स्थिरता तभी होती है जब वे समाजमें कार्यत: विद्यमान शक्तियोंकी अवस्थाओंको ठीक-ठीक प्रकट करती हैं।..... इसलिए जो भी शक्ति अपनी सफलता चाहती है उसे पहले समाजकी शक्ति को माप लेना जरूरी है। जिन देशोंने गुलामीके बन्धन तोड़े हैं, या किसी और रूपमें प्रगति की है, उन्होंने सबसे पहले ऐसी ही सामाजिक शक्तिका संचय किया था। अरब जातिकी अद्‌भुत राजशक्तिका कारण हजरत मोहम्मद का इस्लाम मत था जिसने उस क्षीण जाति में सामाजिक क्रांति पैदा करके उसे ऊपर उठा दिया। लूथरने जिस सुधार घोषणाका स्वर उठाया था उसीने आगे चलकर सारे यूरोपमें राजनीतिक उथल-पुथल मचा दी। प्राचीन भारतमें तथागत बुद्धकी सामाजिक क्रांतिकी नींवपर ही चन्द्रगुप्त और अशोकके साम्राज्य स्थापित हुये थे। गुरु नानककी सामाजिक विचारधारा गुरु गोविन्दसिंहके समयमें आकर राजनीतिक शक्तिका कारण बनी। हमारी वर्तमान मुक्तिका आधार भी पिछली शताब्दीकी सामाजिक क्रांति ही थी। उसीकी नींवपर बादमें स्वतंत्रता-संग्रामका महल खड़ा हुआ।

वैसे तो भारतमें यह क्रम ऐतिहासिक रूपसे तथागत बुद्धसे आरम्भ होता है। परंतु तेरहवीं शताब्दी और उसके आसपास जितने सुधार-आन्दोलन का जन्म हुआ उनका कारण मुस्लिम सम्पर्क था। उसी प्रकार १९ वीं शताब्दीमें जितने सुधार-आन्दोलनों का जन्म हुआ उनका कारण यूरोपियनों विशेषकर अंग्रेजोंका आगमन था। मुगल साम्राज्य यों तो सन् १८५७ तक चलता रहा किन्तु वास्तवमें उसका अन्त १७५७ में ही हो गया था। १९ वीं शताब्दीकी द्वितीय दशाब्दीमें मराठोंकी शक्तिका अन्त भी हो गया और चौथी दशाब्दीमें (१८३९) सिक्ख साम्राज्यके नेता महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु हो जानेपर अंग्रेज भारतके वास्तविक शासक बन गए। जैसा कि सदा होता है इन विजेताओंके साथ इनकी सभ्यता और संस्कृति भी इसदेशमें आई। शुरू-शुरूमें ईसाई धर्म प्रचारकोंने हिन्दू धर्मपर खुले हमले किये। उस समय दोष चुन-चुनकर उसकी खिल्ली उड़ाना ही पादरियोंका धर्म रह गया था। इसलिये इस कालमें सुधार-आंदोलनों उसकी के जन्मका एक कारण इस आक्रमणका प्रतिकार करना था। परन्तु मात्र यही कारण

नहीं था। आक्रमणके बावजूद पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा ने भारतवासियोंको बहुत प्रभावित किया। ब्रिटिश शासन और ईसाई प्रचारकोंके सम्पर्कसे उनमें नई चेतना उसी प्रकार पैदा होने लगी कि जिस प्रकार द्वार बन्द हो जानेपर भी सूर्यका प्रकाश अन्दर पहुँच ही जाता है। राजा राममोहन राय (१७७४–१८३३) ने सन् १८२८ में ब्राह्म समाजकी स्थापना और सन् १८२९ में सती और बाल हत्या जैसी बर्बर प्रथाओंको राज्य के क़ानून द्वारा बन्द करवानेकी चेष्टा की। आचार्य जावड़ेकरके शब्दोंमें, "हिन्दू धर्ममें सुधार किए जाएँ, एकेश्वरी धर्मका सर्वत्र प्रचार करके यह बताया जाए कि सब धर्मोंका अंतरंग एक ही है और इस तरह संसारके धर्मभेदोंका अन्धकार दूर करनेवाले सार्वत्रिक विश्व-धर्मके सूर्यका प्रकाश सर्वत्र फैलाना उनकी बड़ी महत्वाकांक्षा थी।" (आधुनिक भारत पृष्ठ ५२) वे ईसाई धर्मको हिन्दू धर्मसे किसी प्रकार अच्छा नहीं मानते थे। परन्तु वे मानते थे कि ईसाइयोंमें बहुत से अच्छे लोग हैं।

ब्राह्म समाजी पश्चिमी शिक्षासे बहुत प्रभावित हुए और आगे चलकर ब्रह्मानन्द केशव बाबूके समयमें तो वे वेदोंके 'ब्रह्म' से बहुत दूर हट गए। ब्राह्म समाजका प्रभाव केवल बंगाल ही तक सीमित रहा। लेकिन बम्बई और अहमदाबादमें इसीसे मिलते-जुलते एक और सुधार-आन्दोलन का आरम्भ हुआ। महाराष्ट्रमें सुधार-आंदोलन १९ वीं शताब्दीके आरम्भसे ही चल पड़ा था। इन्हींकी नींवपर सन् १८६७ में प्रार्थना समाजकी स्थापना हुई। लेकिन इसके नेता हिन्दू धर्मके बड़े नेता थे और प्रार्थना-समाज को उसका एक सुधारक पंथ मानते थे। यह समाज भी बहुत जोर नहीं पकड़ सका, क्योंकि सन् १८८० में तिलक और आगरकरने आजन्म देश-सेवाकी दीक्षा लेने वालों का दल खड़ा करने की जो अपूर्व प्रथा डाली उससे प्रार्थना-समाजकी सुधारक-मंडली का तेज फीका पड़ने लगा। इस कालके दूसरे समाज-सुधारक-आंदोलनोंमें ईश्वरचन्द विद्यासागर का विधवा-विवाह -आन्दोलन उल्लेखनीय है। रामकृष्ण परमहंस यद्यपि इस प्रकारके सुधारक नहीं थे लेकिन उन्होंने विवेकानन्दका निर्माण करके लोक-सेवा और राष्ट्रीयताको प्रमुखता दी। "भौतिक प्रगति को और प्रवृत्ति-परताको प्रधानता देकर वेदान्तको कर्म-प्रबल बनाना, ईसाई पादरियोंकी तरह धर्माचरणमें लोक-सेवाको प्रधानता देना और धर्मके आधारपर राष्ट्रभक्ति और स्वाभिमानकी ज्योति जलाकर लोगोंमें स्वाधीनताके विरुद्ध क्रांतिका भाव फैलाना स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशनका उद्देश्य था।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसी कालमें आर्य समाजको लेकर सामने आए। कई रूपों में यह आन्दोलन सबसे व्यापक था। यद्यपि पंजाब इसका मुख्य केन्द्र माना जाता था परन्तु इसका प्रभाव आजके उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बंगाल, बिहार आदि पर भी पड़ा था और खूब पड़ा था। स्वामी दयानन्द एक बातमें भिन्न थे। दूसरे आन्दोलन किसी न किसी रूपमें पश्चिमी सभ्यतासे प्रभावित थे परन्तु स्वामी दयानन्द प्राचीन सभ्यताके प्रबल समर्थक थे। वे संस्कृतके प्रकाण्ड पंडित थे और अंग्रेजीसे अनभिज्ञ तथा संन्यासी होनेके कारण पश्चिमी सभ्यताका उन पर कोई सीधा प्रभाव नहीं था। उन्होंने मथुराके दण्डी स्वामी विरजानन्दसे शिक्षा ग्रहण करके उन्हींकी आज्ञासे तत्कालीन भारतमें फैले हुए पाखण्ड और अविद्याके विरुद्ध जहाद बोल दिया। इनकी तमाम

शिक्षायें वेदोंपर आधारित थीं । इन्होंने वेदोंसे प्रमाण देकर सिद्ध किया कि परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान वेदोंमें है । वेदाध्ययनका अधिकार सब मनुष्योंको है । मूर्त्ति-पूजा, वेद-विरुद्ध है । श्राद्ध भी वेद-विरुद्ध हैं । चातु-र्वर्ण जन्म सिद्ध नहीं किन्तु गुण और कर्म पर अवलम्बित है । समुद्र-यात्रा, खान-पान और अंतर्जातीय विवाह वर्जित नहीं हैं । विधवा-विवाह भी उचित है । अस्पृश्यता त्याज्य है ।

स्वामी दयानन्दकी विचारधारा कुछ अंशोंमें राजा राममोहनरायकी विचारधारा से मिलती थी । लेकिन बादमें उनमें बहुत अन्तर आ गया । आज बीसवीं शतीके उत्तरार्धमें इन सुधारोंका मूल्यांकन करनेमें बेशक हम समर्थ न हों सकें लेकिन आजसे १०० साल पहलेकी स्थितिमें अपनेको रखकर यदि हम उनपर विचार करेंगे, तो निस्संदेह इस निर्णयपर पहुँचेगे कि स्त्री शिक्षाका व्यापक प्रचार तथा अछूतपन और वर्जनशीलता का घोर विरोध करके ही स्वामी दयानन्दने भारतकी राजनीतिक क्रांतिका मार्ग प्रशस्त किया था । उस कालमें जब विवाहित स्त्री पुरुषका दिनमें एक-दूसरेका मुँह देखना पाप समझा जाता था, तब स्वामी दयानन्दने यह घोषणा की—"प्राचीन कालमें स्त्रियों को विद्या प्राप्तिका अधिकार था । वे आजन्म ब्रह्म चर्यव्रत धारण करती थीं और साधारण स्त्रियोंके भी उपनयन और गुरुगृहमें वास आदि संस्कार होते थे ।" उन्होंने 'स्त्री शुद्रौनाधियाताम' का खंडन करके "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:" इस मंत्रकी घोषणा की । वस्तुत: एक नेताके शब्दोंमें "ऋषि दयानन्द १९ वीं शताब्दीमें नारी जातिको अपने गौरव-शाली पूर्व पदपर स्थापित करानेके लिए मसीहाके रूपमें अवतरित हुए ।"

हमारे समाजके जिस दूसरे अंगके लिए स्वामी दयानन्दने अपने जीवनकी बाजी लगाई वह तथाकथित शूद्रोंका था । तथागत बुद्धके कालसे लेकर अनेक सन्त और महात्मा इस बुराईको मिटानेकी चेष्टा कर रहे थे लेकिन उसका कोई विशेष प्रभाव समाज पर नहीं पड़ सका था । इसका प्रमुख कारण यह था कि ये लोग धर्म और समाज-व्यवस्था को एक मानकर चलते थे । वे धार्मिक अधिक सुधारक कम थे । दयानन्द पहले सुधारक थे जिन्होंने इस ओर सक्रिय क़दम उठाया । उन्होंने अपनी ओजस्वी बाणीमें उनके लिए समानाधिकार का प्रतिपादन किया । बतलाया "यदि परमेश्वरका अभिप्राय शूद्रोंको पढ़ानेके विषयमें न होता तो उनके शरीरमें वाक और श्रोत्र इन्द्रियाँ क्यों रचता ।.... जहाँ कहीं निषेध किया है उसका अभिप्राय यह है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ नहीं आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होनसे शूद्र कहाता है ।" श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने ऋषि दयानन्दके प्रमाणोंके आधारपर ही शूद्रोंको वेद पढ़ानके अधिकारकी व्यवस्था की । 'यथे माम वाचनम् कल्याणी मा वदानि जनेभ्य:' आदि मंत्रोंका ठीक-ठीक अर्थ समझाया । किसानोंको वास्तविक राष्ट्र निर्माता बतलाते हुए स्वामीजीने लिखा—"राजाओंका राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं और राजा उनका रक्षक है ।" अपने जीवनके अन्तिम कालमें तो उन्होंने तत्कालीन वर्ण व्यवस्थाको मरण व्यवस्था कहा । उनका मत था कि प्राचीन कालमें एक वेदोक्त धर्म होनेके कारण खान-पान और विवाह आदि व्यवहार सारे भूगोल में परस्पर होते थे । जबसे ईसाई मुस्लिम आदिके मत मतान्तर चले, आपसमें वैर-विरोध हुआ, उन्होंने मद्यपान और मांस आदि का खान-पान स्वीकार किया उसी समयसे भोजनादिमें बखेड़ा हो गया ।"

इस प्रकार समुद्र यात्राका समर्थन करते हुए उन्होंने कहा—"प्रथम आर्यवर्त देशी लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमणके लिए सब भूगोलमें घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होनेकी शंका है, वह केवल मूर्खोंके बहकाने और अज्ञान बढ़नेसे है।.... धर्म हमारी आत्मा और कर्तव्यके साथ है। जब हम अच्छा काम करते हैं, तो हमको देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर जानेमें कुछ दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप करनेमें लगता है।"

इस प्रकार सहस्त्रों वर्षोंसे रूढ़ियों और अन्धविश्वासोंसे ढके हुए हिन्दू धर्मको स्वामी दयानन्दने उसके सच्चे रूमें प्रकट किया। उन्होंने धीरे-धीरे चलनेकी नीति नहीं अपनाई। बल्कि घनकी चोट की। इस दृष्टिसे वे अपने समकालीन सुधारकोंसे बहुत आगे हैं और इसी कारण वे उग्र भी मालूम देते हैं। उन्होंने नीर्भीकताके साथ या कह सकते हैं किसी सीमा तक क्रूरताके साथ जो कुछ उन्हें बुरा लगा उसे स्पष्ट रूपमें कहा। उन्होंने वेदोंके अतिरिक्त किसी भी धर्मग्रंथको माननेसे इन्कार कर दिया। उन्होंने मूर्त्तिपुजा, अवतारवाद, तीर्थ और पौराणिक कर्मकाण्डको एकदम निषिद्ध घोषित किया। उनकी इन बेलाग और उग्र बातोंका एक परिणाम यह हुआ कि उनका विरोध अति प्रबल हो उठा। वे प्रचण्ड तार्किक थे। विद्वान भी थे। लेकिन जिस समय वे उग्र हो उठते थे उस समय भारतीय सन्त परम्परासे बहुत दूर दिखाई देने लगेते थे। उन्हींके समकालीन रामकृष्ण परमहंस जब उनसे मिलनेके लिए गए तो उस भेंटका उन पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है: "दयानन्दसे भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्षस्थल सदैव आरक्त दिखाई पड़ता था। वे बैखरी अवस्थामें थे। रात दिन लगातार शास्त्रोंकी ही चर्चा किया करत थे। अपने व्याकरण ज्ञानके बल पर उन्होंन अनेक शास्त्र वाक्योंके अर्थमें उलट फेर कर दिया है। मैं एसा करूँगा। मैं अपना मत स्थापित करूँगा? एसा कहने में उनका अहंकार दिखाई देता है।"

एक सन्त पर दयानन्दका यही प्रभाव पड़ सकता था। परन्तु ऊपरसे दिखाई देनेवाले इस रूपके भीतर वह कुछ और भी थे। अहंकार उनमें भले ही रहा हो, पर अपनेको उन्होंने बड़ा कभी नहीं माना। उन्हांने बहुत बड़ा दावा भी नहीं किया। वे तो अपने चारों ओर फैले हुए पाखण्ड को देखकर तिलमिला उठे थे और उसको दूर करनेके लिए उन्होंने चारों ओर प्रहार करना भी आरम्भ कर दिया था। पर इस प्रहार में द्वेष नहीं था, घृणा नहीं थी। बेशक उनका मूल्यांकन सही न हो लेकिन उद्देश्य खरा था। उन्होंने कहा है:—"मेरी कोई नवीन कल्पना या मत मतान्तर चलानेका लेश-मात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु जो सत्य है उसे मानना मनवाना और जो असत्य है, उसको तोड़ना-तुड़वाना अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्तके प्रचलित मतों में से किसी एक मतका आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्यवर्त व अन्य देशोंमें अधर्म-युक्त चाल चलन है, उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य-धर्मके बाहर है।"

इससे स्पष्ट हो जाता हैं कि उनका उद्देश्य क्या था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उन्होंने वेदोंके अतिरिक्त किसी भी धर्म-ग्रंथ को माननेसे इन्कार कर दिया था। इसी

मान्यताके परिणामस्वरूप उनका वह एकता सम्मेलन विफल हो गया था, जो उन्होंने जनवरी सन् १८७१ के कैसरी दरबारके अवसरपर बुलाया था। वर्तमान भारतमें विभिन्न धर्मावलम्बियोंको एक मंचपर लानेवाला वह पहला सम्मेलन था। स्वामीजी ने इसमें यह प्रस्ताव रखा था कि यदि हम सब लोग एकमत हो जाएँ और एक ही रीति-से देशका सुधार करें, तो आशा है, देश शीघ्र सुधर जाएगा।

लेकिन ऐसा हो न सका। इस सभाके एक सभासद बाबू नवीनचन्द्ररायके शब्दों में : "इस विषयमें बहुत बात-चीत हुई। पर मौलिक विश्वास में हम लोगोंका उनसे मतभेद था इसलिए जैसा वे चाहते थे एकता न हो सकी।" बाबू केशवचन्द्र सेन की जीवनीमें भी इस घटनाका स्पष्ट उल्लेख है :—बाबू केशवचन्द्र सेन जब फिर दिल्लीमें स्वामीजीसे मिले, तो उन्होंने कहा कि वे बहुत बातोंमें उनसे सहमत हैं लेकिन एक बात उनकी समझमें नहीं आती कि बिना वेदका सहारा लिए धर्म शिक्षा कैसे दी जा सकती है।" इन बातोंसे और उनके तमाम जीवनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वेदोंको ही सब कुछ मानते थे। आज वेदोंको अपौरुषेय कहना बेशक हँसीकी बात जान पड़ती हो लेकिन उस कालमें इसीके आधारपर उन्होंने अपने आन्दोलनको चलाया। इससे जान पड़ता है कि व्यावहारिकतामें वे बहुत निपुण नहीं थे। लेकिन बात ऐसी ही नहीं है। तसवीरका एक और पहलू है जिसे उनके अनुयायी देखनेसे इन्कार कर देते हैं। हमने उनके जीवनको और भी कई लोगोंकी दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न किया है। उसमें कई अद्‌भुत बातें मालूम हुई हैं। बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायने अपने जीवनके २० वर्ष खपाकर स्वामी दयानन्दकी जीवनी के सम्बन्धमें बहुत सी सामग्री इकट्ठी की हैं। वे आर्यसमाजी नहीं थे लेकिन जिस अपूर्व श्रद्धासे उन्होंने स्वामीजीके जीवनपर प्रकाश डाला वह उनकी लगनको प्रमाणित करता है। उन्होंने लिखा है कि "इस सम्मेलनके तीन साल बाद दिसम्बर १८८० में स्वामीजी आगरा गए और सेंट पीटर्सके विशप महोदयसे उन्होंने कहा—"यदि हम और आप तथा अन्य धर्मोंके बुद्धिमान नेता केवल उन बातों का प्रचार करें, जिन्हें सब मानते हैं, तो एकता स्थापित हो सकती है। हमारे मुकाबले पर फिर नास्तिक ही रह जाएँगे।"

इस बातसे जान पड़ता है कि स्वामीजीने उस समय वेदोंपर जोर देना छोड़ दिया था। अहमदाबादके सामाजिक नेता रायबहादुर भोलानाथ सारा भाईके जीवन चरित्र में एक और अद्‌भुत घटनाका वर्णन मिलता है। स्वामी दयानन्दको उसमें डिप्लोमेटिक रिफोर्मर कहा है। "एक समय भोलानाथने दयानन्दसे कहा, 'स्वामीजी आप वेदोंको ईश्वर प्रणीत बतानेका प्रयत्न करते हो सो बुद्धिमान लोगोंके सामने तो व्यर्थ है।' इस पर दयानन्दने कहा—"यह सब बात तो सच है परन्तु भोलानाथजी ऐसा समझाए सिवाय लोग सब अपने संग कैसे आने वाले और अपनी गाड़ी चले कैसे।"

इसी सम्बन्धमें एक और बातका पता चला है। कहते हैं कि स्वामीजी ने देहरादून के बाबू ज्योति प्रसादजीको एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने स्वीकार किया था कि वेदोंमें अनेक गलतियां हैं। पहले मैं उन सबका अर्थ कर लूं फिर उसके बाद उन गलतियों को छाटूंगा। एक समय आर्य समाजमें उस पत्रको लेकर बड़ा आंदोलन उठा था। पर बादमें कहते हैं, वह पत्र नष्ट कर दिया गया। हमें इस विवादमें पड़नेकी जरूरत

नहीं है लेकिन उनके जीवनका अध्ययन करनेपर हम इस निश्चयपर पहुँचते हैं कि स्वामी दयानन्दका निरन्तर विकास हुआ है। हमारा अनुमान है कि प्रारम्भमें वे वेदोंपर बहुत जोर देते थे परन्तु अन्तमें वे इस बातको समझने लगे थे कि यह बात इतनी आवश्यक नहीं है। सत्यार्थ प्रकाश लिखते या लिखाते समय उनकी जो मान्यताएँ थीं पूनाके व्याख्यानमें वह उनसे बहुत आगे बढ़ गए हैं। उन्हीं व्याख्यानोंमें उन्होंनेविधवा-विवाहको स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है।

स्वामीजी समयको भी देखते थे। खानपानमें भेद न मानकर भी उन्होंने सर सैयदके घर भोजन नहीं किया। ऐसा करेंगे, तो लोग हमें मुसलमान कहेंगे और हमारी बात न सुनेंगे। ऐसा उनका मत था। हमारा विश्वास है कि यदि वे कुछ दिनों और जीवित रहते, तो वेदोंपर उनके नए मन्तव्योंका हमें लाभ मिलता। उन्होंने पंडित हरिश्चन्द्रसे कहा था :—मेरा उद्देश्य सबको आपसमें मिलाना है। जैसे जुड़े हुए हाथ। मैं कोलसे लेकर ब्राह्मणतकमें जातीयताकी ज्योति जगाना चाहता हूँ। मेरा खंडन हित सुधारके लिए है।" इस कथनमें उनके सारे जीवनका उद्देश्य समा गया है। क्या यह आश्चर्यजनक बात नहीं है कि उन्हें मुसलमानोंका सबसे बड़ा विरोधी कहा गया है लेकिन आर्यसमाजकी नीव एक मुसलमानके बँगलेपर ही रखी गई थी। उनकी मृत्युके उपरांत सर सैयद अहमदने जिन शब्दोंमें उन्हें याद किया था वह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि स्वामीजी किसीके विरोधी नहीं थे। वे सबके मित्र थे। सबका सुधार चाहते थे।

स्वामीजीने किसी नए धर्मका न प्रचलन किया और न किसी नए दर्शनका ही प्रतिपादन किया है। बल्कि उनकी मान्यताका आधार विशुद्ध वेदान्तही है। वैसे उन्हें विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादक माना गया है। आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, वे तीनोंको स्वतंत्र रूपमें स्वीकार करते थे। लेकिन बहुतसे विद्वान मानते हैं कि वे मूलतः अद्वैतके ही उपासक थे। वस्तुतः एक महान समाज-सुधारकके रूपमें उनका जो योगदान है, दर्शनके क्षेत्रमें उनकी वैसी कोई मौलिक मान्यता नहीं जान पड़ती। उनके 'एकेश्वरवाद' को पैगम्बरी एकेश्वरवादके विरोधमें वैदिक एकेश्वारवाद कहा जाता है। पर हमारी मान्यता है कि ऐसी कोई बात नहीं थी वे द्वैतवादके समर्थक थे या अद्वैतके इस वाद-विवादमें पड़कर हम तो यह मानते हैं कि वे परम आस्तिक थे। यहाँ तक कि उन्होंने छहों दर्शनोंको एक समान आस्तिक माना। इस क्षेत्रमें उनका सबसे बड़ा योग वेदोंके अर्थ करनेकी रीतिमें है। उन्होंने महिधर, सायण और दूसरे पाश्चात्य विद्वानोंकी प्रचलित मान्यताओं का खंडन करके निरुक्त प्रणालीको स्वीकार किया। उन्होंने कहा—वेदमें केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञानकी भी सारी बातें प्रच्छन्न हैं। इस क्षेत्रमें उन्हें सबसे बड़ा समर्थन मिला योगी अरविन्दसे। उन्होंने लिखा : "वेदोंके भाष्यके विषयमें मेरा पूर्ण विश्वास है कि अन्तमें चाहे वेदोंका कोई भाष्य प्रामाणिक माना जाए, परन्तु स्वामी दयानन्दकी प्रतिष्ठा सबसे बढ़कर ही की जाएगी। क्योंकि उन्होंने सत्य अर्थोंको खोज निकाला। अर्थात् धातुका अर्थ यौगिक शब्दोंसे निकालना उसीका काम था।"

"जब भारतमें गड़बड़ और अविद्या तथा अन्धकारके घोर बादल छाए हुए थे और सदियोंसे जनता भ्रम जालमें फँसी हुई थी तब दयानन्दके चक्षुओंने दीर्घ दृष्टिसे उस दृश्यको देखा जिसने सत्यको प्रकट किया और जो कुछ भारतके लिए आवश्यक था उसपर वह

चट्टान के समान दृढ हो गए। उसने उस द्वारकी कुंजीको पा लिया जो सहस्त्रों वर्षोंसे बन्द पड़ा था। और बन्द पड़े हुए स्रोतको तोड़कर शुद्ध पवित्र जलकी धारा बहा दी।

इस प्रकार स्वामी दयानन्दमें संतोंकी नम्रता और निरहंकारिता भले ही न हो (और तत्कालीन हिन्दुत्वको निन्दित और आक्रान्त देखकर उनसे ऐसी आशा करना दुराशा ही थी), लेकिन इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन्होंने जो मार्ग अपनाया था, उसीपर चलकर नए भारतके निर्माताओंने एक ऐसे तंत्रका निर्माण किया जिसकी परिणति हमारी राजनीतिक ही नहीं मानसिक मुक्ति में भी हुई। ऊपरसे देखनेपर ऐसा लगता है कि स्वामीजीने देशमें कई नूतन अंधविश्वासोंको जन्म दिया और उनके अनुयायियोंकी संकीर्णता के कारण ऐसा हुआ भी तो नहीं, आर्यसमाज निर्जीव होकर क्यों रह जाता। लेकिन फिरभी यह दोष लगानेवाले इस बातको भूल जाते हैं कि उन्होंने ही आत्मविश्वासकी वह ज्योति जगाई थी, जिसके प्रकाशमें हमने आगे बढ़ना सीखा। विकास-क्रममें वह एक अनिवार्य कड़ी थे। जनतंत्र और तर्कके इस युगमें जिसके संस्थापकोंमें वह स्वयं थे, सबको मत प्रकट करनेकी स्वतन्त्रता है लेकिन इस तथ्यसे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि जिस सत्य की खोजमें दयानन्दने राजसी वैभवको त्यागकर फकीरीका बाना पहना था वह आज प्रकट हो चुका है कि मनुष्य सब समान हैं। जन्मसे न कोई बड़ा है न छोटा।

—:०::०:-

राजा राममोहन राय

सन् १७७२ ई० मे राजा राममोहन रायका जन्म, वर्तमान हुगली जिलाके आराम-बाग़ महकमेके खानाकूल-कृष्णनगरके निकटवर्ती राधानगर गाँवमें हुआ था। उनके दादा कृष्णचन्द्र बन्दोपाध्यायको तत्कालीन नवाबकी ओर से 'राय-रायान्' उपाधि मिली। तभीसे वे लोग 'बन्दोपाध्याय' की जगह राय उपाधि धारण करने लगे। नवाबी शासन के कर्मचारी, विशेषकर राजस्व विभागके कर्मचारी अर्थोपार्जनकी विशेष सुविधा पाते और इसी कारण अपने नामसे वे जमीन्दारी आदि ख़रीद कर जमीन्दार और ताल्लुकदार बनते। राजा राममोहन रायका परिवार भी इसी प्रकारसे बना हुआ जमीन्दारी घराना था। नवाबी शासनके कर्मचारी स्वभावत: ही अरबी और फारसीका अध्ययन कर मुसलमानी अदब-कायदा बरतते। राममोहनरायके परिवारमें भी नवाबी अदब-कायदेका प्रचलन था। कुलीन ब्राह्मणोंका घराना होते हुए भी उनके परिवारमें संकीर्णता को स्थान नहीं था।

राजा राममोहन रायके बाल्य-जीवनका पूरा विवरण नहीं मिलता। फिर भी कुछ इधर-उधरकी बातोंके आधारपर पता चलता है कि आरंभमें उनको गुरु पाठशालामें भेजा गया। घरमें वे फारसी पढ़ते थे। साधारणत: उस समय उच्च हिन्दू परिवार के बच्चोंको फारसी पढ़ानेके लिए मुंशी नियुक्त किए जाते। इसके बाद उनको पटना और काशीमें अरबी तथा संस्कृत पढ़ानेके लिए भेजा गया। वाल्यकालमें ही राममोहन रायके तीन विवाहोंकी बात बताई जाती है। कुलीन ब्राह्मण घरानेमें जन्म ग्रहण करके उन्होंने बाल-बिवाह, बहु-बिवाह और सती-प्रथाके विरुद्ध बातें जान ली थीं। बड़े होने पर उन्होंने उक्त सामाजिक कुसंस्कारोंके विरुद्ध संग्राम छेड़ा।

जीवनका अधिक समय अर्थात् प्राय: पचीस वर्ष परिवारके कार्योंमें ही बीत गया। उस समय तक उनके कार्यकलापोंसे रवीन्द्रनाथके शब्दोंमें 'भारत पथिक राममोहन राय' के लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुए थे। अंग्रेज कलेक्टरोंके साथ दीवान, मुख्तार आदि बनकर उनको भारतवर्षके अनेकों स्थानोंमें जाना पड़ा। प्राय: १८०० ई० में उनका कलकत्ता आना-जाना आरंभ हुआ। यहाँ धीरे-धीरे अंग्रेजी राज्यके कर्मचारियों और व्यवसायियोंसे उनका परिचय बढ़ने लगा। स्थायी रूपसे उन्होंने कलकत्तेमें १८१४ ई० के आसपाससे रहना आरंभ किया। उस समय वे एक धनी व्यक्तिके रूपमें थे। स्वाधीन रूप से जब वे तिजारत करने और कम्पनीके कागज़ोंकी खरीद बिक्री करने तथा भू-सम्पत्तिकी

आय-वृद्धि करने लगे थे एवं बीच-बीचमें सरकारी काम अथवा सरकारी नौकरी करने लगे थे उस समय उनकी वार्षिक आय बारह हज़ार रुपया थी। अर्थोपार्जनकी दृष्टिसे उनकी प्रवृत्ति आधुनिक यूरोपियन वणिकोंकी सी थी। अर्थ और विद्याका समन्वय एक साथ हुआ था।

मध्ययुगमें सामाजिक प्रतिष्ठाका मानदण्ड वंश गौरव और स्थायी सम्पत्ति अथवा जमींदारी था। आधुनिक अर्थयुगमें आरम्भसे ही इस मापदण्डका गौरव क्षीण होने लगा और उसके बदलेमें चल सम्पत्ति अर्थात् रुपए और विद्याने स्थान ग्रहण कर लिया। राममोहन रायने युग धर्मके अनुरूप यथेष्ट धन और विद्याका अर्जन किया था। अरबी फारसी और संस्कृतके अलावा उन्होंने अंग्रेजोंके सम्पर्कमें आकर अंग्रेजीका भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। अतः कलकत्तेमें जब उन्होंने अपना कारोबार आरंभ किया उस समय उनके पास धन तो था ही विद्याकी कमी भी नहीं थी। फलस्वरूप कलकत्ते के सामाजिक जीवनमें उनकी प्रतिष्ठा अच्छी थी।

राजा राममोहन रायके कर्म-जीवनके कुल सोलह वर्ष हम कह सकते हैं। यह अवधि १८१४ ई० से १८३० ई० है। उम्रकी दृष्टिसे विचार करने से हम कह सकते हैं कि वे जीवनके सक्रिय क्षेत्रमें ४०–४२ वर्षकी उम्रमें उतरे और ५६–५८ वर्ष तक काम करते रहे। १६ नवम्बर १८३० ई० को उन्होंने विलायत यात्रा की और २७ सितम्बर १८३३ ई० को उनकी मृत्यु हो गई। काफ़ी परिपक्व अवस्थामें उन्होंने जीवन-क्षेत्रमें प्रवेश किया था—यह उनके जीवन-चरित्रसे प्रकट है। इसके पूर्व वे धर्म-संस्कारकी ओर आकृष्ट हुए थे और इसपर उन्होंने गंभीर चिन्तन भी किया था। पटनासे लौटने के बाद उन्होंने अरबी और फारसीमें एक पुस्तक लिखी। सम्भवतः इसी पुस्तकका नाम 'मनाजेरातुल आदियान' था, जिसमें विभिन्न धर्मोंपर गंभीर आलोचना थी। उनकी 'तुहफातुल मुवाहीदीन' नामक पुस्तकमें इसका उल्लेख है। इस पुस्तकके रचना कालके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद माना जाता है। मिस कलेटका कहना है कि इस पुस्तककी रचना १८०३ ई० में हुई थी और डॉ० कार्पेन्टरका कहना है कि १८११ ई० में इस पुस्तकका मुद्रण मुर्शिदाबादसे हुआ था, किन्तु रचना कब हुई, इसके बारेमें उन्होंने विशेष कुछ नहीं बताया। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह पुस्तक एक प्रौढ़ रचना है। इस पुस्तककी भूमिका अरबीमें है और मूल फारसीमें। अरबी और फारसीके विद्वानोंका कहना है कि उनका इन दोनों भाषाओंके ऊपर असाधारण अधिकार था और उसका प्रमाण उनकी यह पुस्तक है। साथही इस पुस्तकमें वाल्टेयर और वलनी आदि प्रमुख यूरोपीय दार्शनिकोंके विचारोंका प्रभाव भी दिखाई देता है। इसी प्रकारकी बातें इस पुस्तकके सम्बन्धमें आचार्य ब्रजेन्द्रनाथ शीलने भी कही है। ढाका गवर्नमेंट मदरसेके सुपरिन्टेन्डेन्ट मौलवी अब्दुल्लाने सर्वप्रथम १८८४ ई० में इस पुस्तकका एक 'ए गिफ्ट टू डीस्ट' नामसे अनुवाद किया। भूमिकामें राजा राममोहन रायने यह लिखा है कि उन्होंने कई देशोंका भ्रमण किया और सभी जगह उन्होंने देखा कि जगतका पालनकर्त्ता एक ही है। लेकिन उसके स्वरूप और स्वभावके सम्बन्धमें सभी जगह एक ही मान्यता नहीं है। उक्त पुस्तकके अन्तमें हाफिजके दो दोहोंका उल्लेख है—जिनका भाव यह है—

"अत्याचारी मत बनो। मनुष्य-जीवनमें इससे बढ़कर कोई दूसरा पाप नहीं है।"

इसी प्रकारका एक फारसी दोहा भी उन्हें बड़ा प्रिय था—जिसका भाव है—

"जीवनमें सेवा धर्मसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। जपमाला और आसान धर्म नहीं दिखावा है।"

इस पुस्तकके अलावा भी राजा राममोहन रायने प्राचीन हिन्दू शास्त्रों (वेद-वेदान्त) और अंग्रेजोंके धर्म-शास्त्रोंकी आलोचना-प्रत्यालोचना की है। सभी स्थानोंमें उन्होंने स्वतंत्र चिन्तनपर ज़ोर दिया हैं। ज़ोर-ज़बर्दस्तीसे वे किसी पर धर्म लादनेके पक्षमें नहीं थे। धर्म प्रचारको लेकर वे केवल हिन्दू-समाजके ही कोप भाजन हुए हों सो नहीं, क्रिश्चियन मिशनरियोंका कोपभाजन उन्हें बनना पड़ा था। राममोहन रायके ऐकेश्वर-वादमें प्राचीन हिन्दू धर्म, मुसलमान धर्म और इसाई धर्मका सार तत्व समन्वित हुआ था। स्वदेशकी सभी वस्तुएँ खराब हैं और विदेशकी सारी चीज़ें अच्छी हैं—ऐसा उन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं किया। मातृभूमिके धरातलपर खड़े होकर उन्होंने नए विदेशी भावादर्शको विचार-विश्लेषण करके ग्रहण किया था।

शिक्षा और सामाजिक संस्कारके क्षेत्रमें श्री राममोहन रायने इसी आदर्शका पालन किया। अपने इसी आदर्शको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए उन्होंने 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की। बादके समाज-सुधारकोंने उनके कामको कितना आगे बढ़ाया—इस पर विचार करना अपना काम नहीं। उनके द्वारा प्रतिष्ठित 'ब्राह्म समाज' के द्वारा समाजमें जो प्रगति आई और एक नई रोशनी दिखाई दी वह आज भी याद करने लायक वस्तु हैं।

इसी प्रसंगमें राममोहन रायके एक और अवदानकी बात कह देनी है। बँगला गद्य-साहित्यके वे पहले महारथी थे। काव्यकी भाषा तो अनुभूति और आवेशकी भाषा समझी जाती है लेकिन गद्य-भाषाका विकास धरातल युक्तियाँ और विचारबुद्धि को कहा जायगा। सामाजिक जीवनमें युक्ति और विचार-बुद्धिकी प्रतिस्थापना होने के बाद गद्य भाषाका विकास हुआ है—जब कि काव्यगत-भाषाका बहुत पहलेसे ही विकास हो गया था। भारतवर्षकी सभी भाषाओंके सम्बन्धमें यही कहा जाता है और देखा भी जाता है कि १९ वीं शताब्दीसे उनके गद्य-साहित्यका विकास-कार्य आरम्भ हुआ। उन्होंने मातृभाषापर भी जोर दिया है और उसके संबंधमें भी काफी काम किया है। उनकी युक्तिवादी रचनाओंमें बंगला भाषाके गद्यका आरंभिक विकास देखा जा सकता है।

इन्हीं सब कारणोंको देखकर और उनके द्वारा देश, समाज और साहित्यमें की गई सेवाओंके कारण ही उन्हें नवीन भारत का प्रवर्तक कहा जाता है। कवि गुरु रवीन्द्र नाथकी भाषामें हम कह सकते हैं—"आज जिस नवीन भारतको हम देख रहे है, उसके निर्माणमें काम करने वालोंमें से राजा रायमोहन राय भी एक थे। उन्होंने समाजमें नए विचारोंकी क्रांति सर्वप्रथम फूंकी थी। वे विचार कोई नए नहीं थे। बल्कि प्राचीन ऋषि-महर्षियोंके विचार थे, जिन्हें आधुनिक जामा पहनानेका काम उन्होंने किया था। भारतवर्षकी यह वाणी कि 'अपावृनु' ही सत्य है—"अपना आवरण अनावृत्त करो' केवल भारतके लिए ही नहीं थी—सारे विश्वके लिए थी। और सभी कालोंके लिए थी। इसीलिए जिस किसी ने इन मनीषियोंकी वाणीका प्रचारकार्य किया है वे सर्वदेशीय और सर्वयुगीन हैं और राजा राममोहनराय भी उन्हींमें से एक थे।"

पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

जब राजा राममोहन राय कलकत्ता महानगरीमें अपने धार्मिक विचारोंका प्रचार कार्य कर रहे थे; ठीक उसी समय २६ सितम्बर, सन् १८२० ई० को पश्चिम बंगालके एक छोटेसे ग्राममें पं० ईश्वचन्द्र विद्यासागरका जन्म हुआ। उस वक्त राममोहन रायकी उम्र ४६-४८ के लगभग थी। इससे मालूम होता है कि राममोहन रायकी और ईश्वर चन्द्रजीकी उम्रके बीच काफी व्यवधान था। लेकिन दोनोंके जन्म स्थानोंमें अधिक व्यवधान नहीं है। दोनोंका जन्म हुगली नदीके जहानाबाद (आरामबाग़) परगनेमें हुआ था। दोनों ही वन्द्योपाध्याय वंशके कुलीन ब्राह्मण परिवारके थे। विद्यासागर जीका जन्म वर्तमान मेदिनीपुर जिलेके घटाल परगनेके वीरसिंह ग्राममें हुआ था। सचमुच १६ वीं सदीके इन दो महापुरुषोंके जन्मका सादृश्य आश्चर्यमें डाल देनेवाला है। यदि दोनोंके बीच कहीं फ़र्क था, तो वह केवल पारिवारिक मर्यादाओंमें था राजा राममोहन राय उस ज़मानेके अभिजात वंशमें पैदा हुए थे जिस पर नवाबी (मुसलमानी) शिक्षा-संस्कृतिका यथेष्ट प्रभाव था। दूसरी तरफ विद्यासागरजीका जन्म एक दरिद्र ब्राह्मण परिवारमें हुआ था, जिस पर तत्कालीन ब्राह्मणवादका पूरा प्रभाव था। ऐसे परिवारमें जन्म लेकर विद्यासागरजीमें उदारता, सहिष्णुता, तेजस्विता और दृढ़ताका जो अपूर्व समन्वय देखा गया, यह आश्चर्यमें डाल देनेवाली बात है।

गाँवकी पाठशालामें पढ़ लेनेके बाद विद्यासागर ८ वर्षकी अवस्थामें अपने पिताके साथ कलकत्ता चले आये। यहाँ संस्कृत कॉलेजके व्याकरणकी तृतीय श्रेणीमें उनको भरती किया गया। इस समय प्रसिद्ध हिन्दू कॉलेज और संस्कृत कॉलेज पाश्चात्य और प्राच्य विद्याके दो ऐतिहासिक केन्द्र थे। कलकत्तेके गोलदिघी (वर्तमान कॉलेज स्क्वायर) अंचलके एक ही हातेमें ये अवस्थित थे। एकही इमारतके एक भागमें संस्कृत कॉलेज था और दूसरी तरफ हिन्दू कॉलेजके जुनीयर और सीनियर विभाग थे। हिन्दू कॉलेज में धनियोंके बच्चे पढ़ते थे और संस्कृत कॉलेजमें गरीब ब्राह्मणोंके लड़के। शिक्षा-पद्धतिकी दृष्टिसे दोनोंमें विभिन्नता थी। सन् १८२६ सालके जून महीनेसे सन् १८४१ के दिसम्बर महीने तक अर्थात् १२ वर्ष ५ महीने तक विद्यासागरजीने संस्कृत कॉलेजमें अध्ययन किया। इन १२ वर्षोंके एक युगको बंगालके सामाजिक सुधारके इतिहासमें जागरण काल कहना चाहिये। १८२६ ई० में राजा राममोहन राय कलकत्तेमें थे। १८२६ ई० में बेंटिंगने सती-प्रथाको क़ानून बनाकर बन्द किया। हिन्दुओंने धर्मसभा

की स्थापना करके बेंटिंगके विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया। दूसरी तरफ हिन्दू कॉलेजके शिक्षित छात्रोंने शासनके विरुद्ध बग़ावत की घोषणा करदी। इस समय एक तरफ मिशनरियोंके द्वारा धर्म परिवर्तनकी चेष्टा भी चल रही थी। कहनेका तात्पर्य यह कि इस समय बंगालमें वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, आन्दोलन-प्रतिआन्दोलनोंकी एक बाढ़-सी आई हुई थी। संक्रमण कालके इन सुदीर्घ १२ वर्षोंमें विद्यासागरजीने अपना छात्र-जीवन व्यतीत किया। संघर्षके इन दिनोंमें उनका व्यक्तित्व प्रस्फुटित होने लगा। सामाजिक और राजनीतिक घटनाओंके इन घात-प्रतिघातोंमें ही उनके भावी जीवनका निर्माण हुआ।

छात्र-जीवन शेष होनेके बाद विद्यासागरजीकी नियुक्ति संस्कृत-कॉलेजके अध्यापक पदपर हुई। हम यह भी कह सकते हैं कि बंगालके शिक्षा विद्का जीवन विद्यामन्दिर से प्रारंभ हुआ। इसके बाद १८४६ में उनकी नियुक्ति संस्कृत कॉलेजके सहायक मंत्रीके के पदपर हुई। किन्तु कॉलेजकी पठन-पाठन व्यवस्थामें परिवर्तन करनेके विषयमें उनका कॉलेजके मंत्री श्री रसमय दत्तसे मतभेद हो गया और उन्होंनें १८४७ ई० में के जुलाई महीनेमें अपने पदसे इस्तीफा दे दिया। बादमें वे फोर्ट-विलियम कालेजके कोषाध्यक्ष बने पुन: साहित्यके शिक्षककी हैसियतसे उनकी नियुक्ति संस्कृत कॉलेजमें हुई। उस समय उन्होंने पठन-पाठनमें शिक्षा-पद्धतिमें परिवर्तन सम्बन्धी जो रिपोर्ट शिक्षापरिषद् में उपस्थित की उसका बड़ा ही ऐतिहासिक महत्व है। इस वक्त विद्यासागरजीकी उम्र ३०–३२ वर्षकी थी।

१८५१ से १८५३ तक के शिक्षापद्धतिमें आमूल परिवर्तनके महान कार्यमें जुटे रहे। सचमुच उस समय प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-पद्धतिका संयोग संस्कृत कॉलेजमें हुआ। बादमें मातृभाषाके माध्यमसे शिक्षाके प्रचलनमें, गाँवोंकी मिडिल स्कूलोंकी स्थापनामें स्वतंत्र विद्यालयोंकी स्थापनामें (मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट), स्त्री-शिक्षाके प्रसारमें और पाठ्य पुस्तकोंकी रचनामें विद्यासागरजीका पूरा हाथ रहा। इन कार्योंमें उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धिका परिचय दिया। राजा राममोहन रायने धर्मके क्षेत्रमें जो काम किया, जिस रास्तेको अपनाया उसी रास्तेको अपनाकर विद्यासागरजीने सामाजिक क्षेत्रमें काम करके आदर्श उपस्थित किया। धर्मके सम्बन्धमें विद्यासागरजीनें इसीलिए कभी कुछ नहीं कहा, न किसी धार्मिक आन्दोलनमें उन्होंने योगदान ही दिया। उन्होंने शिक्षाके द्वारा समाजके कल्याण, संस्कार और प्रगतिका काम किया। बंगालकी शिक्षाकी उन्नति का जो अजस्र स्रोत विगत एक सौ वर्षोंसे बहता चला आ रहा है, उसके प्रवर्तक थे पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर।

व्यक्तित्वकी दृष्टिसे विद्यासागरजीके समान उदार व्यक्ति बहुत कम संख्यामें पाए जाते हैं। बंगालके अधिवासियोंके लिये वे 'विद्यासागर' के रूपमें जितने परिचित हैं, उतने ही या उससे भी अधिक वे 'दया सागर' के रूपमें परिचित हैं। उनकी आयका अधिकांश भाग ग़रीबों और असहायोंकी सेवामें ख़र्च होता। सैकड़ों विद्यार्थियोंकी शिक्षाका भार वे अपने खर्चसे चलाते। अनेकों विधवाएँ उनके दानसे अपना प्रतिपालन करतीं। विधवा-विवाह क़ानूनके बन जानेपर उन्होंने अनेकों विधवाओंका पुनर्विवाह

कराया और इस पुनीत कार्यमें उनको इतना खर्च करना पड़ा कि वे ऋणी हो गए। वे कभी भी प्रकाश रूपमें दान नहीं करते। उनका दान गुप्त होता था।

एक बार माइकेल मधुसूदनने विदेशसे पत्र द्वारा विद्यासागरजीसे आर्थिक सहायता माँगी थी—"आप हमारे देशके प्राचीन ऋषियोंकी तरह ज्ञानी हैं एवं यूरोपियन लोगों की भाँति संयमी और दृढ़व्रती हैं तथा माँके समान आपका स्वभाव स्नेहयुक्त एवं कोमल है। अतः आपको छोड़कर मैं अपनी व्यथा किससे कहूँ ?" माइकलके उक्त वर्णित गुणोंका सम्मिश्रण विद्यासागरजीमें था।

बंगाल गद्य-साहित्यमें विद्यासागरजीका अवदान बड़े महत्वका है। उनके द्वारा ही बँगला भाषाकी बहुत-कुछ बुनियाद रखी गई। वे साहित्यमें नई पद्धति अथवा नई स्टाइलके प्रवर्तक के रूपमें अमर हैं। इसीलिए तो रवीन्द्रनाथने उन्हें बँगला गद्य साहित्यका आदि गद्यकार बताया है।

बंगला सन् १२९८ के १३ श्रावणको उस शिक्षा-विशारदकी मृत्यु हुई। १३०२ में विद्यासागरजीकी चतुर्थ मृत्यु वार्षिकीके अवसरपर कविगुरु रवीन्द्र नाथने कहा था—"विद्यासागरका समाज-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रहा है। जहाँ उन्होंने शिक्षाके क्षेत्रमें बड़ा काम किया है, वहीं साहित्यमें भी उनका बड़ा महत्व है। उन्होंने निर्धनों और अनाथोंको आर्थिक दान देकर समाजका जो कल्याण किया, उसे भी भुलाया नहीं जा सकता। आज वे इस संसारमें नहीं हैं—लेकिन उनके महत् चरित्रका जो अक्षयवट समाजमें फैला हुआ है—उसके नीचे बैठकर आनेवाली संतानको एक नया संकेत मिलता है—एक नई दीक्षा मिलती है।"

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हिन्दीके संत-कवियोंकी क्रांतिकारिता

'क्रांतिकारी' शब्दके अनेक अर्थ हैं। सामान्यत: स्वीकृत विचार व व्यवहारकी अस्वीकृतिका नाम क्रांति है। इस सामान्य अर्थमें तो सुधार भी क्रांति ही हैं यहाँ तक कि आज तो आदर्शवादी, यथार्थवादी सभी अपने-अपने अर्थोंमें 'क्रांति' शब्दका प्रयोग करते हैं। यहाँ तककि सामन्य अशान्ति हलचल आदिको भी लोग क्रान्तिके नामसे पुकारने लगते हैं। वस्तुत: प्रकारके परिवर्तन या उसके प्रयत्नका नाम ही 'क्रान्ति' है।

परन्तु भारतीय मेधा अपनी स्थिर-चित्तता तथा परोक्षपरकताके कारण 'क्रांति' शब्दका प्रयोग राजनीतिक-अशान्तिके प्रसंगमें ही करती हैं, विचारोंके क्षेत्रोंमें नहीं। इस विचार-धारासे जब १९वीं शताब्दीमें सर्वप्रथम योरोपीय विचारधाराका परिचय हुआ, तब योरोपीय विचारधाराको क्रांतिकारी और भारतीय आस्थावादको 'परंपरावाद' का नाम मिला। भारतीय परम्पराके रक्षकोंमें दो प्रकारके दल पुनर्जागरणकालमें दिखाई पड़े। एक—वे विचारक, जो योरोपीय विचारधाराको पूर्णरूपेण अस्वीकारकर भारतीय परम्परावादके गुण गाते थे और सभी स्थितियोंमें प्राचीन वैदिक व्यवस्थाका पुनरुत्थान चाहते थे, दूसरे—वे विचारक जो प्राचीनकी धूल झाड़कर, उसके केवल तात्कालिक परिस्थितियोंमें उपयोगी रूपको स्वीकार करते थे और योरोपीय विचारधाराको भी एक सीमा तक अपनी रुचि व दृष्टिकोणसे अपनाते थे। इनमें प्रथम परम्परा-वादी कहलाए। आजके "सनातन धर्म समाज" इसी गतानुगतिक परम्पराओंमें हैं और दूसरे वर्गमें थियोसोफ़ी, बुध-समाज, आर्य-समाज, आदि आन्दोलन आते हैं। इस दूसरी विचारधाराको उस समय क्रांतिकारी कहा गया क्योंकि वह कुछ आवश्यक परिवर्तनों की समर्थक थी। परन्तु आज उसे क्रांतिकारी नहीं सुधारवादी कहा जाता है। क्योंकि आज सबसे अधिक आमूल परिवर्तन करनेकी पुकार लगानेवाला दर्शन है मार्क्स-वाद। अत: मार्क्सवादकी दृष्टि से समाजमें, अब तक छोटे-मोटे परिवर्तनोंकी पुकार मचानेवाले लोग सुधारवादी हैं। मुख्य परिवर्तन तो आर्थिक व्यवस्थामें होना चाहिए। आर्थिक व्यवस्थाको यथावत् रखकर केवल ऊपरी बातोंमें (Super structure) छोटे-मोटे परिवर्तनोंकी पुकार 'सुधारवादी' प्रयत्न है अत: समाजके सम्मुख आज प्रश्न है कि आर्थिक क्रान्तिका, पूंजीके समान वितरणका, आज प्रश्न है परोक्षप्रियताके स्थान पर अर्थात् प्राचीन धर्म-दर्शन, तथा आचार-व्यवहार (Pattern of life) के स्थानपर एक सर्वहारा संस्कृतिके विकासका, जनवादी संस्कृतिके निर्माणका।

तब क्या सन्त कवि-कबीर, दादू, नानक, रज्जब, सुन्दरदास ग्राजके अर्थमें ही क्रांतिकारी थे ?

यदि उस समयकी परिस्थितिको ध्यानमें रखा जाय, तो पता चलेगा कि यद्यपि सन्त कवियोंके सम्मुख भविष्य ग्रस्पष्ट था, एकान्त चिन्तक होने से समाजकी व्यवस्था-संबंधी प्रश्न उनसे दूर थे ग्रौर उन्होंने "मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ"। इसलिए निश्चित रूपसे सन्त उस कालमें किसी ऐसी स्थितिमें नहीं ले जा सकते थे जिसमें हमारे सारे ग्राजके सामाजिक प्रश्न हल हो पाते परन्तु तो भी सन्त कवि तात्कालिक समाजको ग्रालोचककी दृष्टिसे तो देख ही सकते थे। ग्रौर सन्तोंने ऐसा किया भी है।

परन्तु पुनः प्रश्न उत्पन्न होगा कि ग्रालोचककी दृष्टिसे तो भक्त कवियों—सूर, तुलसी, ग्रादिने भी समाजको देखा है, विशेषकर तुलसीने ग्रनेक सम्प्रदायोंकी तटस्थ ग्रालोचना की है ग्रतः सन्तकवियोंके साथ भक्त कवियोंका ग्रंतर स्पष्ट होना चाहिए।

थोड़ा-सा पीछे से देखें, तो स्पष्ट होगा कि इस देशमें देव-सभ्यताके विनाशके पश्चात् जो ग्रार्य-सभ्यता स्थापित हुई, वह विषम-उत्पादन व विषम-वितरणके सिद्धान्त पर स्थापित हुई थी, ग्रपने प्रारम्भिक ग्रादिम रूपमें —कबीलेके भीतर ग्रवश्य ग्रादिम साम्य दिखाई पड़ता है, उदाहरणतः ऋग्वेद के प्रारम्भिक सूक्तोंमें। परन्तु ऋग्वेदके दशम मण्डलके निर्माण तक ग्रर्थात् मध्य देशमें ग्रार्य सभ्यताका केन्द्र स्थापित हो जानेपर समाजका विभाजन वर्णोंमें हो चुका था जो कि हमें सर्वप्रथम पुरुष सूक्तमें मिलता है। पुरुष सूक्तके समय ग्रार्य सभ्यताका रूप इस प्रकार था :—

(१) यज्ञवाद

(२) वर्णवाद—(पुरोहित, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, दास, ग्रसुर-राक्षस ग्रादि)

(३) पुरुष-प्रधान पारिवारिक प्रथा

(४) उत्पादनका ग्राधार—पशुचारण तथा कृषि

(५) शासनका रूप—सभा, समितिके परामर्शसे राजाग्रोंका शासन।

ये तत्व ग्रार्य सभ्यताके मुख्य ग्राधार हैं, ब्राह्मण-कालमें ये तत्व-स्थिर हो गए ग्रौर वर्णों व वर्गोंकी ग्रंतर्भुक्ति जो पहले सहज थी, वह समाप्त हो गई। ब्राह्मण कालमें समाजका संचालन पुरोहितों व विजेताग्रोंके हाथमें ग्रा गया ग्रौर वर्णोंको जातिके रूपमें स्वीकार कर लिया गया। ग्रारण्यक व उपनिषद् कालमें एक परिवर्तन या कहें क्रांति दिखाई पड़ी, जो सन्त-साहित्यकी क्रांतिकारिताका रूप निश्चित करनेमें हमारी सहायता करती है। यह क्रांति थी क्रिया व योगकी क्रांति, ग्राचार व चिन्तनकी क्रांति, व्यवहार व परमार्थकी क्रांति।

उपनिषद् युगमें तत्वज्ञानी ऋषि दिखाई पड़े। यहाँ तत्व शब्द हमारे कामका है क्योंकि ग्रागे सन्त इसी शब्दसे ग्रपना व्यक्तित्व स्पष्ट करते हैं। तत्त्वज्ञानका ग्रर्थ यह है कि कोई भी क्रिया, ग्राचार या व्यवहार ज्ञानरहित होनेसे व्यर्थ है। यह एक महान् ग्राश्चर्य था, जिसे ग्रार्योंने—ग्रार्योंमें ब्राह्मणों व विजेताग्रोंने सहज ही स्वीकार कर लिया। सहजका ग्रर्थ यह है कि क्रियाप्रधान यज्ञवादके स्थानपर संन्यासधर्म—परिव्राजकतावादका प्रचार सहज ही हो गया। शायद योरोप होता तो यज्ञवादियों व ब्रह्मवादियोंमें रक्तक्रांति हो गई होती ग्रौर इस सहजताका कारण था शायद ग्रनार्यप्रभाव। ग्रथर्ववेद

में जिस 'माया' की इतनी महिमा है, उसी 'माया' को शक्तिके रूपमें स्वीकार कर तथा ब्रात्योंकी तपस्या व अनार्य-दर्शन (सांख्य) के योगको ग्रहीतकर ब्रह्मऋषियोंने ब्रह्मवाद व परिव्राजकतावादका प्रचार किया और अपरोक्ष व परोक्ष चेतनाको एक माना, उसे नित्य शुद्ध-बुद्ध अविभाज्य, अनन्त और निर्विकार कहा। इस चेतना (चैतन्य) से अपरिचित रहकर बाह्य क्रिया व्यवहार, आचार सब व्यर्थ हैं और केवल मूर्खोंके लिए हैं इस प्रकार कर्मकाण्ड गौण हो गया और ज्ञान-योग, तपस्या-संन्यास मुख्य हो गए और विचारकके क्षेत्र में ये बातें मुख्य हो गईं :—

(१) जीवनके प्रति तटस्थता

(२) चेतनाकी उच्चतम्, अद्वय, अवाङ्मनसगोचर स्थितिकी कल्पना

(३) गौण रूपसे कर्मकाण्डकी स्वीकृति।

(४) वर्णव्यवस्था, जातिवादका व्यावहारिक जीवनमें समर्थन परन्तु साधनात्मक जीवनमें खंडन।

(५) आश्रम व्यवस्थाका विकास।

(६) जीवनका उद्देश्य आत्यन्तिक मुक्ति।

जो जाति व्यावहारिक जीवनमें जितने ही अधिक बन्धनों, द्वन्द्वों, विरोधों व दुःखोंसे पीड़ित रहती है, वह उतनी ही अधिक बंधन-रहित, द्वन्द्वरहित, तथा आनन्दमय मानसिकता की कल्पना कर लेती है। इस जीवनका क्रूर दमन पारलौकिक जीवनकी उन्मुक्त उछालमें बदल जाता है। भारतीय दर्शन व साधनाके क्षेत्रमें यही हुआ अतः उपनिषद्-युगमें इस जीवनके द्वन्द्वों व दुःखोंके दर्शनने आध्यात्मिक आनन्दमय, निर्विकल्प स्थितिकी कल्पना की और उस स्थितिकी एक झलक, एक आभास मात्र पाकर ही ऋषियों, साधकों, व दार्शनिकोंने कवित्वपूर्ण भाषामें उसका वर्णन प्रारम्भ कर दिया। जीवनका यही ध्येय स्वीकृत हो गया। विषमसे समकी ओर, द्वन्द्वसे निर्द्वन्द्वकी ओर, विकल्पसे निर्विकल्पकी ओर, और इसलिए भोगसे, रागसे, संन्यासकी ओर समाजकी गति हो गई। यदि गति है, तो गंतव्य कहाँ है ? यदि इति है, तो अथ कहाँ है ? यदि मिति है, तो अपरिमित कहाँ है, सीमा है तो निःसीमा कहाँ है, अशांति है, तो शांति कहाँ है, मर्त्य है तो अमरता कहाँ है, धागे क्यों हैं ? अँगुली क्यों है ? चरखा क्यों है ? कैसे यह सब चल रहा है ? क्यों ? इन प्रश्नोंमें समाजका एक वर्ग—अवकाश प्राप्त वर्ग लग गया और दूसरी ओर यज्ञवाद चलता रहा, सामन्तभोग करते रहे, वर्ण-व्यवस्था कसती गई, जातियाँ बनती गईं। दास, शूद्र तथा वैश्य कमाते रहे, और २५ वर्ष तक आश्रमोंमें पढ़कर, २५ तक संतान उत्पन्न कर लोग संन्यास लेते रहे वैसे जन्मसे ५० पचास वर्ष भी संन्यासकी तैयारी थी, मुक्तिके लिए बंधनको स्वीकार करना था क्योंकि पिता व गुरुका ऋण जो चुकाना था।

इस पारिव्राजकतावादमें भी वैदिक यज्ञवाद अखण्ड रहा, बौद्धों व जैनियोंके प्रयत्न से यज्ञ अहिंसात्मक होने लगे क्षत्रियोंकी जगह वैश्योंका प्रभुत्व बढ़ता गया। और गणोंमें ब्राह्मण विचारकोंकी जगह क्षत्रिय साधकोंने ले ली और वैश्योंने उसका समर्थन किया। उपनिषदयुग कल्पनाकी चरमसीमापर पहुँच चुका था उसके आगे जानेकी गुंजाइश न थी अतः बौद्ध जैन साधकोंने "चेतनाकी अन्तिम स्थिति" को स्वीकार किया

परन्तु उसे ब्रह्म नाम न दिया और चेतनाको मानकर भी उसे आत्मा नाम नहीं दिया। तथा बौद्ध-जैन-संघोंने ब्राह्मण-पुरोहितोंका स्थान ले लिया।

परन्तु समाजका मूल-ढाँचा न बदला जा सका। जातिवाद, वर्णवाद कुछ नरम हो गया। ब्राह्मणोंका एकाधिकार ढीला हो गया और पौराणिक धर्मके रूपमें, जो आगे वैष्णव धर्मके रूपमें विकसित हुआ, ब्राह्मण धर्मको अपना वेश बदलना पड़ा परन्तु मूल बातें—वर्ण व्यवस्था, कर्मकाण्ड, ब्राह्मणोंकी प्रधानता आदि वैसीकी वैसी ही रही। बौद्धोंने कठोर ब्राह्मण-व्यवस्थाको नरम कर दिया परन्तु मूल सामाजिक ढाँचा न हिला क्योंकि आर्थिक व्यवस्था अपरिवर्तित रही। कृषक व शिल्पीकी दृष्टिसे ब्राह्मणों व बौद्ध-भिक्षुओंमें केवल वेशमें अंतर था दोनों उपजीवी थे। हाँ इतना अंतर अवश्य था कि बौद्ध संघोंमें कर्ज़दारोंको छोड़कर सम्पन्न निम्न जातियोंको भी 'निर्वाण' का अधिकार मिल जाता था।

इस प्रकार बौद्ध, जैन, ब्राह्मण तथा अन्य सम्प्रदायोंमें अपने-अपने शास्त्रोंकी मान्यताओं के अनुसार विभिन्न प्रकारकी साधनाएँ चल पड़ीं। शास्त्रकी मान्यता अंतिम थी, उसे स्वीकार करनेको सब बाध्य थे। शास्त्रमें क्या था? जो व्याख्याकार समझा दे। अतः एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई।

परिस्थितिमें परिवर्तन हो जानेसे नाना सम्प्रदायोंके अनेक शास्त्र बन जानेपर प्रत्येक सम्प्रदायमें अपने प्राचीन शास्त्रोंकी व्याख्या करनेके प्रयत्न हुए और दिलचस्प बात यह है कि ये सब व्याख्याएँ भी अलग-अलग सम्प्रदाय बनाती गईं उदाहरणके लिए आर्योंमें षड्दर्शनका विकास हुआ। जिसमें एक-एकमें अनेक अवान्तर मतोंका प्रतिपादन हुआ। बौद्धोंमें प्रथम दो मत हीनयान व महायान चले और फिर उनमें शतशः भेद होते गए। प्रत्येक प्रबल व्याख्याकारने अपना मत अलग बना लिया। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुवंधु, असंग जैसे विद्वानोंके प्रयत्नोंसे यही कहना कठिन हो गया कि अंततः गौतमबुद्धका वास्तविक कथन क्या था।

इस सब शास्त्रीय प्रयत्नोंके समानान्तर बहुत प्राचीन कालसे ही योगियोंकी परम्परा चलती आ रही थी। इन्हें "अशास्त्रीय योगी" कह सकते हैं। अथर्ववेदके युगमें 'व्रात्य' यही थे परन्तु चतुर ब्राह्मणोंने 'व्रात्यस्तोम' यज्ञ कर जब इन्हें स्वीकार कर लिया तब ये आर्योंमें ही मिल गए। उपनिषद् युगके ऋषि इसी योगधारा से प्रभावित थे परन्तु उपनिषद् कर्मकाण्डको स्वीकार कर लेती है अतः उपनिषद् युगके इन ऋषियोंके समानान्तर योगियोंमें शैव या शाक्त योगी स्वीकार किये जा सकते हैं। रुद्र, शिव, शर्व मूलतः अनार्योंके देवता थे, वेदोंमें रुद्रको स्वीकार कर ब्रह्मके साथ ऋषियोंने उनको एक कर दिया था परन्तु अशास्त्रीय योगियोंने अपने योगका सम्बन्ध रुद्रसे ही जोड़ा।

श्वेताश्वर उपनिषद्में शैव योगियोंकी उपासनाको भी स्वीकार कर लिया गया। इस युगके पश्चात् अनार्य-परम्परामें विकसित अशास्त्रीय योग व उपासनाके दो रूप दिखाई पड़ते हैं (१) स्वतंत्र योगी विचारक (२) ऐसे शैव या शाक्त साधक जो अनार्य तत्वोंको स्वीकार करके भी अपना सम्बन्ध वेदसे स्थापित करते हैं और किसी न किसी प्रकार अपनेको वैदिक मतके अनुकूल ही सिद्ध करनेपर तुल जाते हैं। इनमें वैष्णव पांच रात्र मत तथा वैदिक कहलानेवाले शैव व शाक्तमत स्वीकृत किए जा सकते हैं। उदाहरण

के लिए शाक्त-उपासनाका सम्बन्ध दत्तात्रेयसे जोड़ा जाता है (देखिए परशुराम तंत्र) तथा पाँचरात्र-उपासनाका सम्बन्ध नारदसे है। नारद वैदिक युगमें वामदेव कहलाते थे और सारे अनार्य तत्वोंके आर्य-धर्ममें संनिवेश को स्वीकार करते थे इसीलिये वे वामदेव (वामधर्मका समर्थक) कहलाते थे। अब रह गए शैव सो वे स्पष्ट ही अवैदिक रुद्रके उपासक थे और शैव स्पष्टतः वामाचारके समर्थक हैं यद्यपि उसे वे वैदिक सिद्ध करते हैं। इस प्रकार रुंद्र, नारद व दत्तात्रेय ये तीन प्राचीन तथा गौतम बुद्ध-युगीन अनेक अन्य अवैदिक विचारोंने योगकी एक विशिष्ट पद्धतिको स्वीकार किया जिसमें जान-बूझकर अवैदिक आचारकोंको साधनाका माध्यम माना जाता था और जिसमें योगके साथ-साथ भावनाका भी पर्याप्त स्थान था। आगे चलकर नारदका सम्प्रदाय अपनी भावनाके लिए प्रसिद्ध होकर वैदिक परम्परामें पूर्ण रूपेण स्वीकृत हुआ। और शैवों व शाक्तोंके साथ बौद्ध साधकोंका एक वर्ग संघोंकी शास्त्रीयता व कठोर संयमसे क्लान्त होकर आ मिला। जिन्हें तांत्रिक बौद्ध कहते हैं और जिसमें वज्रयान व सहजयान स्वीकार किया जाता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि वैदिक मतोंमें योग स्वीकृत नहीं हुआ। वैदिक मतोंमें योग स्वीकृत तो हुआ पर उसका जो प्रारम्भमें कर्मकाण्डसे वैर था, ईश्वरसे वैर था (यथा कपिलके योगमें) वह मिटा दिया गया।

इस प्रकार ईसाके पश्चात् सारे देशमें वैदिक व अवैदिक सम्प्रदायोंका पुष्कल विकास हुआ। अवैदिक मत वर्णव्यवस्था, यज्ञ, जाति तथा ब्राह्मणोंके एकाधिकारको स्वीकार न करते थे। और वैदिक मतमें अनार्य तत्वोंको इस प्रकार मिलाया गया था कि मूल आर्य-सभ्यता जिसमें वर्णव्यवस्था, जातिवाद, वेदवाद आदि मुख्य तत्वोंकी प्रधानता रहती थी, वैदिक मतावलम्बी कभी-भी साहसके साथ स्मृति, सूत्र, व वेदोंका खंडन नहीं कर सकता था। पारमार्थिक सत्यके क्षणोंमें इनकी आवश्यकता नहीं थी परन्तु व्यवहारमें इनका मानना अनिवार्य था इसीलिए हिन्दीके वैष्णव कवि—सूर-तुलसी-नन्ददास, हरिदास, आदिमें से किसी कविने मूल आर्यसामाजिक व्यवस्थाका जिसमें वेद-ब्राह्मणकी प्रधानता थी, स्मृतियोंकी प्रधानता थी, सूत्रकारोंकी प्रधानता थी, खंडन नहीं किया किन्तु वर्ण-व्यवस्थाके व्यवस्थापक शंकराचार्य जिस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूतिमें सभी प्रकारके भेदोंका खंडन करते थे उसी प्रकार तुलसी भी "हरिको भजै सो हरिको होई, जाति-पाँति पूछै नहिं कोई" की भावनाको मानते थे। फिर साथ ही भक्तिमें सबका अधिकार मानकर भी यज्ञ व वेदमें ब्राह्मणोंकी प्रधानता वल्लभ भी मानते थे और तुलसीदास भी। अतः वह सामाजिक व्यवस्था जिसका आधार विभाजन व विषमता था, जिसमें कुछ वर्गोंका एकाधिकार था, जिसमें करोड़ों मनुष्योंको धन, बुद्धि, विद्याकी योग्यता, होनेपर भी केवल वर्ण व जातिके नामपर अपमानित होनेको विवश कर दिया गया था इन अशास्त्रीय अवैदिक साधकोंकी आलोचनाका विषय सदा रही है। यह बात हमें स्मरण रखना चाहिए और यही इन अवैदिक साधकों व सन्तोंकी की क्रांतिकारिता है।

अवैदिक शैव व शाक्तों व तांत्रिक बौद्ध-धर्मका सम्बन्ध ईसाकी छठी शताब्दीसे नवीं शताब्दी तक स्थापित हो चुका था। और इस सामंजस्यकी प्रतिध्वनि वैदिक शैव-मतोंमें भी मिलती है ? जिसका अकाट्य प्रमाण है काश्मीरी शैवमत। इसपर नाथ मतका भी प्रभाव था तथा इसने भी नाथ मतको प्रभावित किया था। काश्मीरी शैव-

मतका अविशिष्ट प्रभाव स्पष्टतः सन्तों व नाथोंमें दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त अवैदिक शैवमतों व बौद्धतांत्रिकोंके वामाचार विशेषतः योनिपूजा, योगिनीरमण, मदिरा पान आदिका विरोधकर नाथ पंथने शंकरके अद्वैतवाद व नागार्जुनके शून्यवादसे मायाका सिद्धान्त शंकर से ब्रह्मका सिद्धान्त लेकर तथा उसमें पातंजलि हठयोगका मिश्रण कर एक प्रबल योगमत तैयार किया था जिसका अविकल अनुवाद सन्त-कवि अपनी कवितामें करते दीखते हैं। परन्तु १० वीं शताब्दीके पश्चात् काश्मीरी शैवों व सूफियोंके प्रेम तथा आवेश सिद्धान्तों तथा वैष्णवोंकी भक्ति भावनाने भी सन्तोंको प्रभावित किया था। अतः सन्तोंमें ब्रह्म व आत्माकी एकता, जगतके मिथ्यात्वके सिद्धांत, शंकराचार्य व बौद्धों के हैं, परन्तु अलौकिक अनुभूति व सत्ताके वर्णनकी पद्धति बौद्धों व नाथोंकी है अर्थात् पूर्णतया अवैदिक है, जिसमें सर्वत्र सत्ताको भावात्मक मानने वाले ब्राह्मणोंको नीचा दिखानेकी प्रवृत्ति है क्योंकि सन्त कवि सत्ताको भाव व अभावकी कोटियोंके परे मानते हैं। शैवोंका आवेश सिद्धान्त वेदान्तियोंके तर्ककी जगह सन्तोंमें प्रतिष्ठित हुआ, जब कि सन्तोंपर सूफ़ियोंकी मस्ती व भक्तोंकी विह्वलताका भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन्तों तक आकर योग अपने अवैदिक रूपको भूलता गया क्योंकि नाथोंने उसमें बहुत-सा वैदिक अंश स्वीकार कर लिया था।

सिद्धांतकी दृष्टिसे उपनिषद्में जिस अवाङ्मनसगोचर स्थितिका वर्णन मिलता है, वही अनुभूति सन्तोंकी भी प्राप्तव्य है। और यहाँ एक बात समझ लेना आवश्यक होगा कि यह रहस्यमय परोक्ष अनुभूति समाजके साथ लड़नेका एक दृढ़ माध्यम रही है? बात विचित्र सी लगेगी किन्तु है सही। भारतमें सर्वदा रहस्यसाधकोंने ही समाजके वाह्य कठोर अनुशासनका विरोध किया है। सगुणवादी भक्त यह कार्य नहीं कर सके। यह दूसरी बात है कि जीवनके नाना पक्षोंका समावेश कर लेनेके कारण आगे चलकर उसका प्रचार अधिक हुआ और शोषितोंने भी उसे स्वीकार कर लिया क्योंकि मुसलमानों के आते ही भक्तिका अधिकार सर्वसाधारणको दे दिया गया था परन्तु हिन्दू इस्लाम दोनों धर्मोंके वाह्याचारोंके विरुद्ध खड़े होनेवाले, पंडित व मुल्ला दोनोंकी गत बनानेवाले कौन लोग थे? उत्तर होगा योगी और रहस्यवादी सिद्ध-सन्त-कवि। उपनिषत्का सूक्ष्म चिन्तन यदि यज्ञवादको गौण रूपसे स्वीकार न कर लेता, तो शायद बौद्ध धर्मकी भयंकर प्रतिक्रिया वैदिक धर्मके लिए इतनी दारुण प्रमाणित न होती परन्तु उपनिषद् के रहस्यवादी समझौतावादी निकले। आगेके अवैदिक शैवों, शाक्तों व बौद्धोंने बौद्ध थेराओं, बिहारपतियों तथा ब्राह्मण कर्मकाण्डियों, महन्तों आदिके विरुद्ध एक सर्वदेश व्यापी आन्दोलन छेड़ दिया! हमें धैर्यके साथ बौद्धसिद्धान्तों, नाथों, शैवों, शाक्तों व सन्तों के साहित्यको पढ़ना चाहिए। आपको एक ही बात मिलेगी कि ये सारे सिद्ध सन्त समाजके विधि-निषेधके भयंकर विरोधी हैं। जो समाज मानता है, उसके ये विरुद्ध चलते हैं। विरोध प्रदर्शनकी चरमसीमा बौद्धसिद्धों व कापालिकों तथा शाक्तोंके वामाचारमें दिखाई पड़ती है। ये सिद्ध नाथ–सन्त ७ वीं शताब्दीसे लेकर संगठित रूपमें १४ वीं शताब्दी तक ब्राह्मण व्यवस्था तक टकराते रहे अतः वैष्णव धर्मको भी उदार होना पड़ा था। इनकी क्रांतिका आधार तब मार्क्सवाद न होकर "अज्ञेय अनुभूति" थी, आप चाहें इसे ईश्वर का नाम दे सकते हैं। तब कहना होगा कि अज्ञेय सत्ता (ईश्वर) के माध्यमसे

सिद्धों व सन्तोंने समाजमें क्रांतिका स्वर-सन्धान किया। ईश्वर ऐसी वस्तु है कि उसके माध्यमसे क्या नहीं हुआ? यदि उसके माध्यमसे सन्तों व नाथों आदिने क्रांतिकी, तात्कालिक व्यवस्थाको चिनौती दी तो यह स्वाभाविक ही था।

विरोध निराधार नहीं चल सकता। सन्तोंको राम (निर्गुण राम) का बल था अपनी सहानुभूतिके आधारपर ही उन्होंने सारे सम्प्रदायों व उनके नेताओंको देखा। वह अलौकिक अनुभूति वही थी जिसे उपनिषद् "मुक्ति", कपिल "कैवल्य", बौद्ध "निर्वाण" शैव "समरसता" तथा सूफी "वस्ल" कहते हैं। असीमको आधार बनाकर, पिण्डमें ही ब्रह्माण्डकी झाँकी पाकर अपने अंतरमें अपरिमित शक्तिका भण्डार देखकर सन्तोंने ज्ञान-गर्दभ, वाचाल, विलासी, विषमतावादी, जातिवादी, पाखण्डी वेद-कुरान, मूर्त्ति, चन्दन, चोटी, रोज़ा, नमाज़को ही धर्म समझनेवालोंको आड़े हाथों लिया और उस उच्चतम दिव्य मानसिक राज्यमें सर्वत्र समता, सुख, अनहद नाद तथा अमर वारुणी का अपनेको अधिकारी पाया।

आप कह सकते हैं यह तो पलायन था परन्तु तब सन्त क्या करते? अंततः वाह्य जीवन की व्याकुलताका समाहार वे कहाँ करते? समाजशास्त्रसे अपरिचित सामाजिक रूपसे असंगठित सन्तोंका कार्य यह कुछ कम नहीं कि उन्होंने बड़े साहससे सभी धर्मों व सम्प्रदायों के दम्भको तोड़ दिया और अनजाने ही ऐसे धर्मकी ओर संकेत किया जो धर्म मानवीय मूल्योंमें है, निरपेक्ष मनमाने सिद्धांतोंमें नहीं। मानवीय गुण ही धर्म है। धर्मका वाह्याचार से कोई सम्बन्ध नहीं।

कुछ विचारक यह देख ही नहीं पाते कि रहस्यवादियोंका भारतीय सांस्कृतिक इतिहासमें यह उपर्युक्त रूप कितना महान रहा है। यह ठीक है कि अवैदिक मतावलम्बी बहुतसे बहक गए। आचारोंका विरोध करते-करते अनाचारोंमें फँस गए परन्तु सवाल तो अत्याचारके विरोधका है, वह वहाँ है उस युगमें उनका एकांतिक साधनाके आधार पर स्थित विरोध समाजको झकझोर ही सकता था और वह बराबर हुआ है।

कुछ लोग इस शताब्दियोंकी क्रांतिकारिताको दो रूपोंमें देखते हैं (१) परोक्ष अनुभूति, द्रविड़ोंके सम्पर्कसे आई अतः ब्राह्मणोंके विरुद्ध यह द्रविड़ या अनार्य विद्रोह था (२) सिद्ध सन्तों व नाथोंका विरोध केवल निम्न जातिका विद्रोह था जो सवर्णों के विरुद्ध था।

स्पष्ट है कि दोनों तथ्य भ्रमात्मक हैं। प्रथम तो आर्य द्रविड़ वादके पक्षपात से पीड़ित है। अनार्योंमें द्रविड़ोंके सिवा नाग, किन्नर, गंधर्व, वानर, ऋक्ष, असुर आदि अनेक थे। और फिर भारतमें शताब्दियोंके बाद जो अंतर्भुक्त समाज मिलता है, उसमें जातियोंके आधारपर वैमनस्यकी खोज करना अपराध है।

(२) दूसरे सिद्धांतमें ऐतिहासिक सत्यांश अवश्य है। यह ठीक है कि निम्न जातियाँ रहस्यानुभूतिके आधारपर सवर्णोंके विरुद्ध खड़ी हुई थीं परन्तु जातीय आधार इसे बहुत बादमें मिला था। दूसरे अनेक रहस्यवादी व मर्मी सन्त सवर्णों से भी आए हैं। यहाँ तक कि प्रथम सिद्ध सरहपाद ब्राह्मण था। अनेक ब्राह्मण जो बौद्ध हो गये थे, वे सच्चाई की खोजमें बौद्ध हुए थे, जातिका प्रश्न नहीं था अतः इस क्रांतिकारी परम्पराको मेरी समझसे राष्ट्रीय ऐतिहासिक परम्परा मानना चाहिए जिसमें अन्यायका विरोध लोग

बराबर करते रहे हैं, वर्ण व जातिसे ऊपर उठकर भी। यह माननेपर भी सवर्ण रहस्य-वादियोंकी संगति आप अछूत रहस्यवादियोंके साथ बिठा सकते हैं।

अब सन्तोंकी क्रांतिकारिताका रूप देखिए—

ब्रह्मणो हिम जाणन्त भेउ
एवइ पढ़ि अउ एच्चउ वेउ।
मही पाणी कुस लइ पढ़न्त
घर्रहि वइसी अग्गि हुणन्त
कज्जे विरहइ हुअवह होमें।
अक्खि डहाविअ कडुएँ धुम्में

सरहपाद

अर्थ—कहते हैं ब्राह्मण ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुए थे। पहले कभी हुए होंगे। किन्तु आज प्रत्यक्षमें तो वे भी दूसरे लोगोंकी तरह योनिसे ही पैदा होते हैं। तब फिर ब्राह्मणत्व कैसा? और यदि संस्कारसे ब्राह्मणत्व होता है, तो अन्त्यज भी संस्कार लेकर ब्राह्मण हो सकता है। अतः इससे जाति सिद्ध नहीं होती।

वे चारों वेद पढ़ते हैं, जातिभेद मानते हुए। वेदोंको अन्त्यज चाण्डाल भी तो पढ़ सकते हैं।

फिर ये ब्राह्मण हाथमें कुश-जल लेकर घर बैठे हवन कराते हैं। आगमें घी इत्यादि डालनेसे मोक्ष मिलता है, तो क्यों नहीं सबको, अंत्यजोंको भी डालने देते? होम करने से मोक्ष मिले या नहीं, कड़ुवा धुँआ लगने से आँखां को पीड़ा अवश्य होती है।

एहु धम्म जो आयरइ, बंभणु सुद्दु विकोई।
सो सावउ किं सावयहँ, अण्णु कि सिर मणि होई॥ —मुनिदेवसेन

धर्मका जो भी आचरण करता है, फिर चाहे वह ब्राह्मण ही हो, चाहे शूद्र, कोई भी हो वही श्रावक है। श्रावकके सिरपर क्या कोई मणि लगी रहती है?

समताका उद्घोष जैसा इन पंक्तियोंमें मिलता है, वैसा क्या कहीं और मिल सकता है?

कासु समाहि करउँ को अंचउँ
छोप अछोप भणिवि को वंचउँ
हलसहि कलह केण सम्माणउं
जहिं जहिं जोवउँ तहिं अप्पाणउं

—मुनि रामसिंह

समाधि किसकी लगाऊँ? पूजूँ किसे? छूत-अछूत कहकर किसे छोडूँ? भला कलह किसके साथ करूँ? जहाँ भी देखता हूँ, सर्वत्र अपनी ही आत्मा दिखलाई पड़ती है।

हिन्दू पूजै देहुरा, मुसलमान मसीत।
नामा सोई सेविया, जहँ देहुरा न मसीत।

—नामदेव

संतन जात न पूछो निरगुनियाँ
साध ब्राह्मन, साध छत्तरी, साधै जाती बनियाँ।
साधुन माँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ
हिन्दू तुरक दोउ दीन बने हैं, कछू नहीं पहचनियाँ।

—कबीर

साधो, पांडे निपुन कसाई
बकरी मारि भेड़िको धाये, दिलमें दरद न आई
बेद-कितेब छाँड़ि देउ पाँड़े, ई सब मनके भरमा।
कहँहि कबीर सुनहु हो पांडे, ई तुम्हरे हैं करमा।

मेरा तेरा मनुवां कैसे इक होय रे।
मैं कहता आँखिनकी देखी, तूँ कागदकी लेखी रे।
मैं कहता सुरझावनहारी, तूँ राख्यो अरुझाइ रे।

—कबीर

कृष्ण करीम राम हरि राघव, जबलगि एक न देखा।
वेद कितेब कुरान पुरानन, सहज एक नहिं देखा।
जोइ-जोइ पूजिय, सोई-सोइ काँची, सहजभाव सति होई!
कहि रैदास मैं ताहिको पूंजूँ, जाके ठाँव नाँव नहिं होई।

—रैदास

सन्तोंने शास्त्रोंकी सर्वज्ञता पर कैसा वज्र प्रहार किया है—

कवणु सुबेला बखतु कवणु
कवणु तिथि कवणु वारु,
वेल न पाइया पंडती
जि होवे लाखु पुराणु
बखतु न पाओ कादीआ
जि लिखनि लेखु कुराणु

—नानक

वह कौन सा समय था, जब सृष्टि रची गई? वह क्या तिथि थी? और कौन सा दिन था? पंडितोंको यदि पता होता तो पुराणोंमें अवश्य लिखते और काजियोंको पता होता, तो कुरानमें वे अवश्य लिखते—कोई नहीं जानता।

नाम फकीरैं पातिसाहु मूरख पंडित नाउ।
अंधे का नाउ पारखू, एवै करै गुआऊ॥

—गुरु अंगद

लो भिखमंगेको तो कहा जाता है बादशाह, और मूर्खको दे दिया है नाम पंडितका। अंधेको कहते हैं पारखी—ऐसी बातें ही जगतमें चलती हैं—

हिन्दू तुरक न जाणौं दोई।
साइं सबनका सोई है रे, और न दूजा देखौं कोई—

दादू

संतों ऐसा यह आचार ।
पाप . अनेक करें पूजामें, हिरदै नहीं विचार ।
पाती फूल सदाही तोड़ै, पूजन कूँ पाषाण ।
छार पतंगा होहिं आरती, हिरदै नहीं बिनाण
सगले जनम जबि संहारे, यह खोटे खटकर्मा ।
पाप प्रपंच चढ़ें सिरि ऊपरि, नाम कहावै धर्मा

—रज्जब

बड़ा भया सो कहा बरस सौ साठका ।
घणा पढ़्या तो कहा चतुर्विधि पाठका ।
छापा तिलक बनाय कमंडल काठका
हरि , हाँ, वाजिद एक न आया हाथ पसेरी आठका

—वाजिद

चिन्ह बिना सब कोई आए, इहाँ भये दोइ पन्थ चलाए
हिन्दू तुरक उठ्यो यह भर्मा, हम दोऊका छाड्या धर्मा—

—सुन्दरदास

पंडित ! काह करे पंडिताई
त्यागदे बहुत पढ़ब पोथीका, नाम जपहु चितलाई
पढ़ब पढ़ाउब बेधत नाहीं, बकि दिन रैन गँवाई

—जगजीवनदास साहब

भीतर महल चहलकै लागी, ऊपर तनका धोवै है
अविगत मुरति महलकै भीतर , वाका पंथ न होवै है

—दरियासाहब (बिहारी)

पंडित ग्यानी बहुत मिले, वेद ग्यान परवीन ।
दरिया ऐसा ना मिला, राम नाम लवलीन
वक्ता स्रोता बहु मिले, करते खेंचातान ।
दरिया ऐसा ना मिला, जो सम्मुख झेलै बान—

—दरिया (मारवाड़ी)

ब्राह्मन तो भयें जनेऊको पहिरि कै
ब्राह्मनीके गले कुछ नाहीं देखा
आधी सूद्रिनि रहै घरंके बीचमें—
करें, तुम खाहु यह कौन लेखा

—पलटूसाहब

इन कुछ उदाहरणोंसे ही स्पष्ट है कि यह कोरा दोष-दर्शन नहीं है । इस आलोचना के पीछे सन्तोंका स्वतः अनुभूत रामरस है जो अनिर्वचनीय है । अतः डा० नगेन्द्र का यह विचार ग़लत है कि हीनताकी भावनाने सन्तोंसे ऐसे वचन कहलवाए हैं । सन्तों को दुःख यह है कि व्यर्थका वितंडवाद धर्मके नामपर हो रहे हैं और समताके सच्चे सिद्धान्त

को लोग भूल गए हैं। सन्त आजके कोरे आलोचकोंकी तरह अहंवादी नहीं हैं न परपक्ष खंडन वे अपनी विजय-दुन्दुभी निनादित करनेके लिए करते हैं। सन्त सर्वप्रथम सन्त हैं, सहज हैं, मानवताका सहज रूप चाहते हैं, उस मनुष्यताके ऊपर शोषण, वर्ण, वर्ग, जाति, यज्ञ, रोज़ा, नमाज़ और न जाने किन-किन कुत्सित पदार्थोंकी धूलि जमा हो चुकी है। धूलिको झाड़नेके लिए ही सन्त धक्का देते हैं, किसी भी व्यक्ति या समाजकी योंही खींचतान जैसा कि आजका स्वभाव है, उन्हें इष्ट नहीं है। शताब्दियोंसे मनुष्य अपनेको धोखा देता आ रहा था, उस आत्मवंचनासे सावधान करनेवाले मर्मी सन्त ही हैं। सन्तोंका लक्षण ही है कि वे किसी भी प्रकारका कोई अत्याचार सहन नहीं कर सकते, जो अनुभव करते हैं वही कहते हैं, तोतोंकी तरह दूसरोंके उद्धरण सुनकर पांडित्य बघारना और महन्त बन जानेको वे बुरा समझते हैं। जबकि वे जीवोंके प्रति सहज प्रेम, गृहस्थ जीवनका सहज रूप ही उनकी साधना है। न संन्यास है, न चमत्कार, न विद्याका देन है न ग़रीबी व शूद्रता-जन्य हीनता। बस जैसे पूर्ण व्यक्तित्व अपूर्णताके विरुद्ध क्रांति करता है, वैसी ही क्रांति इन संतों ने की है। इन्हें कुछ नहीं चाहिए, केवल प्रेम व सद्भाव चाहिए। आजके युगमें भी इन संतोंकी वाणी सभ्यता प्रभुता व समृद्धिमें मदोन्मत्त, विनाशतत्पर जनतंत्र व फ्री वर्ल्डके अभिमानी राक्षसोंके विरुद्ध हमारे शांति-पथको प्रशस्त कर रही है। सन्तों की खरी और प्रेमसे भींगी वाणीं हमारा आज भी पथप्रदर्शन कर सकती है।

श्री प्रभातकुमार जोशी

मध्यकालीन सन्तोंकी सामाजिक क्रांतिको परम्परा

मानव इतिहासमें दो परम्पराएँ स्पष्ट दीख पड़ती हैं। वे दोनों रेलकी पटरीकी तरह समानान्तर चलती हैं। एकका सम्बन्ध उन प्रतापी राजाओं व सम्राटोंके साथ है, जो अपनी लालसा और महत्वाकांक्षाके वशीभूत हो छोटे बड़े राज्य तथा साम्राज्य कायम करनेके प्रयत्नोंमें लगे रहते हैं। दूसरीका सम्बन्ध उन साधुओं, संतों और महात्माओं के साथ है, जिन्होंने समस्त सांसारिक लालसा तथा महत्वाकांक्षापर विजय प्राप्त करके अपनेको लोक कल्याणके महान मिशनपर न्योछावर कर दिया और अपना सारा जीवन उसमें खपा दिया। यहाँ हम केवल दूसरी परम्पराके सम्बन्धमें अपने देशके मध्यकालीन इतिहासकी दृष्टिसे कुछ विचार करेंगे। हमारे देशका ही नहीं; किन्तु समस्त मानवका भी इस परम्परासे सम्बन्ध रखनेवाला इतिहास ऐसा है जिसपर आजका मानव उनका उत्तराधिकारी होनेसे कुछ गर्व और गौरव अनुभव कर सकता है। उस परम्पराके प्रवर्तक संतों महात्माओंने अपने जीवन-कालमें मानव हृदयोंको एक करके सुख शान्ति एवं समृद्धिकी वर्षा करनेवाले मानव-धर्मकी स्थापना करनेका प्रयत्न किया।

ऐतिहासिक दृष्टिसे मध्यकालके सम्बन्धमें काफी मतभेद है। इतिहासके विद्वान उसकी गणना भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे करते हैं। हम यहाँ इतिहासके इस विवादमें न पड़कर गौतमबुद्ध और महावीर स्वामीके समयसे मध्यकाल मान लेते हैं; क्योंकि उससे पहलेका काल रामायण, महाभारत तथा अन्य वैदिक ग्रंथोंकी दृष्टिसे अति प्राचीन माना जाता है। हम यहाँ जिस विषयका विवेचन करना चाहते हैं, उसका सम्बन्ध इतिहास के साथ नहीं है; किन्तु हमारे धार्मिक एवं सामाजिक जीवनके साथ है और हम यह बताना चाहते हैं कि समाज सुधार अथवा सामाजिक क्रांतिकी प्रवृत्ति उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि संत परम्परा। इस परम्पराका संबंध श्रीकृष्णके साथ भी जोड़ा जा सकता है। गीता समाज-सुधारकी दृष्टिसे एक अपूर्व ग्रंथ है। महाभारतके समय भारतका धार्मिक एवं सामाजिक जीवन अनेक दृष्टियोंसे बहुत गिरा हुआ था। यह कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं कि कुल-धर्म और जाति-धर्मके नाना भेद जात-पाँतके समान उस समय भी समाजमें घर कर चुके थे। जन्मगत वंशका अभिमान भी विषैला रूप धारण कर चुका था, ऊँच-नीचकी भावना सर्वत्र व्यापी हुई थी। स्पर्शास्पर्श अथवा छूतछात का रोग भी आरम्भ हो चुका था। स्त्रियों और शूद्रोंको अत्यन्त हीन दृष्टिसे देखा जाता था। पतिके अंधा होनेके कारण गांधारीको आजन्म आँखोंपर पट्टी बाँधकर रहना

पड़ा। द्रौपदीको पाँच पतियोंकी पत्नी बननेको लाचार होना पड़ा था। विवाहके लिए कन्या अपहरणकी घटनाएँ भी उन दिनोंमें शुरू हो गई थीं। कर्णको सूत-पुत्र कहकर अपमानित किया गया। एकलव्यको द्रोणाचार्यसे शस्त्रास्त्र विद्या सीखनेका अनधिकारी केवल नीच जातिके कारण माना गया और उसका अंगूठा उस विद्याके सीख लेनेके कारण छल-कपटसे कटवा दिया गया। जुआ राज दरबारमें खेलना, हारे हुए पांडवोंका अपनी पत्नीको दाँवपर लगा देना और उसके हारनेके बाद कौरवोंका दरबार तकमें उसको नंगा कर उसके सतीत्वके अपहरण करनेकी कुचेष्टाएँ बुरी नहीं मानी जाती थीं। धोखेसे किसी राजाके राज्यका अपहरण करना बड़ा पौरुष माना जाता था। महाभारतके कदाचित ही कोई पात्र ऐसे होंगे, जिनका जन्म वैध अथवा जायज कहा जा सकता है। धृतराष्ट्रके १०० सन्तान होना बहु-विवाहका द्योतक है। श्रीकृष्णके अपने शब्दोंमें धर्मकी ग्लानि और दुष्कृत्य किंवा अधर्माचरण करनेवालोंकी संख्या इस चरम सीमापर पहुँच चुकी थी कि उनके लिए अवतार लेना आवश्यक हो गया था। इस सारे अनर्थको दूर करने अथवा सामाजिक एवं धार्मिक क्रांतिका सुदर्शन चक्र हाथमें लेकर श्रीकृष्ण अवतरित हुए थे और अपने उस महान मिशनकी पूर्त्तिके लिए ही उन्होंने गीतामें "सर्व धर्म-परित्याग और "चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः" का शंखनाद किया था। आज धर्म परित्यागकी वात सहन नहीं की जा सकती और जन्मगत जात-पाँतकी मर्यादा का उल्लंघन धर्मके विरुद्ध माना जाता है। लेकिन अवतारी महापुरुष श्रीकृष्णने उनका प्रतिपादन करनेमें संकोच नहीं किया।

मध्यकालीन संत और महात्मा इसी मिशनको सामने रखकर कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए थे। उन सभीने जन्मगत जाति-पांति, स्पर्शास्पर्शकी संकीर्णता, रोटी-बेटीके व्यवहार की ऊँच-नीचकी भावना और ऐसे ही सब धार्मिक एवं साजिक रूढ़ियों, परम्पराओं तथा अंध धारणाओंके विरुद्ध सक्रिय क़दम उठाया था। मानवको मानवसे अलग करनेवाली समस्त धार्मिक एवं सामाजिक दीवारोंको गिराकर मानव-धर्मके सम्पादन करनेका महान् कार्य किया था। धर्मको सैद्धान्तिक रहस्यवाद और कर्मकांडके प्रपंचसे मुक्त करके उसको लोक जीवनका सीधा-सादा एवं सरल स्वरूप प्रदान किया था। वंशानुगत धर्म और जन्मगत परम्पराओंका अंत करके उन्होंने जीवनके विकासका सरल मार्ग प्रदर्शित किया था। पोथी-पुस्तक, पूजा-पाठ, पंडे-पुरोहित-पुजारीके बन्धन-परक धर्मसे उन्होंने समाज को स्वतंत्र किया था। तीर्थ-मठ, मंदिर तथा व्यक्ति पूजाके अंधकारसे उद्धार किया था: उन्होंने श्रीकृष्णके "ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" के आदर्शका प्रतिपादन "जात पांत पूछे न कोई हरिको भजे सो हरिका होई" के रूपमें किया था। वे उस लोकधर्मके प्रवर्तक थे जो लोकाचारकी रूढ़ियों और शास्त्राचारके बन्धनोंसे सर्वथा रहित था।

गौतम बुद्ध और महावीर स्वामीसे पहले हमारी धार्मिक, एवं सामाजिक स्थिति श्रीकृष्णके समयसे भी कहीं अधिक बिगड़ चुकी थी। धर्मके नामपर सब तरहका कदाचार, अनाचार और भ्रष्टाचार समाजमें व्याप चुका था। धार्मिक कर्मकांडों तक में पशु-बलि और नरबलि दी जाने लगी थी। धर्म विकृत होकर केवल विकार पैदा करनेका निमित्त बन गया था। दोनों महान संतोंने उस सबके विरुद्ध प्रचंड विद्रोह किया।

सामाजिक अपमान और तिरस्कारकी तनिकभी परवाह नहीं की। जाप-पांत, के भेद को समूल नष्ट कर दिया। पोथी-पत्रेके सिद्धान्तवादी शास्त्राचार एवं वंशानुगत लोकाचारपर आधारित धर्म कर्मका सम्पूर्ण अंत करके लोक जीवनपर आधारित धर्मका प्रतिपादन किया। इसी कारण अत्यन्त प्रचंड वेगके साथ दोनों संतोंके संदेशने भारतीय जनताको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अशोक तथा कनिष्क को पाकर बौद्ध धर्म ने अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर लिया और वह प्रायः समस्त एशियापर छा गया और महावीरके संदेशको भी भारतीय जनताके जीवनमें समरस होनेमें अधिक समय न लगा। ब्राह्मण धर्मका रूढ़िगत और परम्परागत माया-जाल सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया।

भागवत धर्मका प्रादुर्भाव भक्तिप्रधान धर्मके रूपमें हुआ। उसमें जाति-पांति परक रोटी-बेटी-व्यवहारकी संकीर्णताओंके लिए कोई स्थान नहीं था। वे यह मानते थे कि "विप्राद्विषड् गुणयुताम—चण्डालो अपि द्विज श्रेष्ठ हरि भक्ति परायणः।" भक्ति परायण होना ही उनमें श्रेष्ठतम द्विज बननेके लिए आवश्यक समझा जाता था। चैतन्य महाप्रभुको प्रेम-भक्तिके सामने जाति व सम्प्रदायका भेद स्वीकार नहीं था। अद्वैताचार्य ने यवन हरिदासको श्राद्धपात्र दिया था। श्री नित्यानन्द तो भक्तोंके हाथका जूठा खानेमें संकोच नहीं करते थे। उनको इसी कारण अवधूत कहा जाने लग गया था; क्योंकि अवधूतोंके लिए धर्म-कर्म अथवा जात-पांतका कोई बन्धन नहीं था। चैतन्य महाप्रभु शूद्रादिहीन जातियोंको ब्राह्मणादिके समान मंत्र-दीक्षा का अधिकारी मानते थे। इसी कारण वैष्णव समाजमें यह आवश्यक नहीं कि गुरुके पदपर केवल ब्राह्मणको प्रतिष्ठित किया जाय। अब्राह्मण भी उस पदपर प्रतिष्ठित किए जाते हैं और ब्राह्मण उनके प्रति वैसी ही श्रद्धा भक्ति रखते हैं।

महाराष्ट्रमें हरिजन संत, साधु और महातमा ब्राह्मणोंकी अपेक्षा भी कहीं अधिक पूजे गए। नामदेव और तुकाराम ब्राह्मण नहीं, शूद्र थे। गोस्वामी तुलसीदास सामाजिक दृष्टिसे कुछ अधिक प्रगतिशील नहीं थे, परन्तु ब्राह्मण-कुलोत्पन्न होते हुए भी उन्होंने क्षत्रिय-कुलोत्पन्न रामको आराध्यदेवके रूपमें स्वीकार किया।

दक्षिणमें श्री वसवदेव चन्नवासव और एकान्त रमय्या आदि शिव-भक्ति-प्रधान जिस परम्पराकी नींव डाली थी उसमें भी जातिभेदपर भीषण आक्रमण किया गया था। शंकराचार्यको गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी द्वारा की गयी धार्मिक एवं सामाजिक क्रांति के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी एवं प्रतिगामी और वैदिक धर्मको पुनर्जीवित करनेवाला कहा जाता है। परन्तु उन्होंने हिन्दू समाजमें फैले हुए सभी धर्मोंके स्थानमें वेदान्तके नामसे जिस विचारधाराको जन्म दिया, उसका द्वार बिना किसी धार्मिक एवं सामाजिक भेदके सबके लिए समान रूपसे खुला हुआ था। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक भेदभावको जड़से मिटानेका प्रयत्न किया। उनका वेदान्त ब्रह्म और मनुष्यमें भी विद्यमान अन्तरको स्वीकार नहीं करता था। वे "अहं ब्रह्मास्मि"के माननेवाले थे। इसी कारण उनके वेदान्तको नास्तिक तक कहा गया है और उनको प्रच्छन्न बुद्ध कहकर उनकी भर्त्सनाकी गई। उन्होंने संन्यासका विधान भी ब्राह्मणसे शूद्र तक सबके लिए समान रूपसे किया। उनका कहना यह था कि "कोई भी तत्वदर्शी मेरा गुरु हो सकता है भलेही

वह ब्राह्मण हो या चांडाल।" रामानुज ग्रादि ग्राचार्य भी एकेश्वरवाद, भक्ति, प्रपत्ति, गुरुभक्ति तथा जाति भेदका ढीलापन मानते थे।

इन ग्राचार्योंके बाद कबीर, दादू तथा नानक ग्रादिका प्रादुर्भाव होता है। इन सबको हम जनताके संत कह सकते हैं। इन्होंने जनताकी भाषामें ग्रत्यन्त सरल तरीके से धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिके ग्रादर्शका प्रतिपादन किया। कबीरकी गणना महान समाज-सुधारकोंमें की जानी चाहिए। वे सर्वथा स्वतंत्र विचारक थे। वे मतमतान्तरों के भेद ग्रौर हरतरहके कर्मकांड ग्रौर रूढ़ियोंके कट्टर विरोधी थे। हिन्दू-मुस्लिम एकताके वे ग्रन्यतम समर्थक थे। दोनोंके बीचकी दूरीको वे एकदम मिटा देना चाहते थे। वे ग्रन्धविश्वासके ऐसे विरोधी थे कि गोरखपुरसे १५ मील पश्चिममें मगहरके बारेमें यह कहा जाता था कि वहाँ मरनेवाले को गधेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है ग्रौर उन्होंने वहाँ जाकर ही ग्रपनी इहलीला समाप्त की। उनके मरनेके बाद उनको दफनाने या जलानेके सम्बन्धमें उनके ग्रनुयायी हिन्दू मुसलमानोंमें संघर्ष पैदा हो गया। वे जाति-भेदके कट्टर विरोधी थे। वेद या कुरान किसीको भी इलहाम नहीं मानते थे। उन्होंने पूरी निर्भीकतासे दोनोंमें प्रचलित रूढ़ियों, परम्पराग्रों ग्रौर ग्रंधविश्वासोंका जोरदार खंडन किया। उनका यह पद्य बहुत मशहूर है कि—

मोको कहाँ ढूंढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पासमें।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलासमें॥
खोजी होय तो तुरते मिलिहौं, पल भरकी तालाशमें।
कहैं कबीर सुनो भई साधो, सब स्वासोंकी स्वाँसमें।

जात पांत, छूग्राछूत ग्रौर ब्राह्मणोंके प्रभुत्वपर ग्राधारित समाज व्यवस्थाके वे कट्टर विरोधी थे। वे ग्रवतार वाद तथा मूर्त्तिपूजा ग्रादिको भी नहीं मानते थे। वेद तथा ग्रन्य ग्रंथोंमें ग्रंधश्रद्धा नहीं रखते थे। उन्होंने हज्ज, रोजे, नमाज कुरान ग्रौर मोहम्मद साहबमें ग्रंधविश्वासका भी उसी कठोरतासे खंडन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर ग्रौर दक्षिणमें उनके बाद हुए हिन्दू-मुस्लिम संतोंने उनकी विचारधारासे प्रेरित होकर ही मानव धर्मका प्रतिपादन कर एवं सामाजिक दृष्टिसे लोक-जीवनमें क्रांति ग्रथवा ग्रमूलचल परिवर्तन करनेका प्रयत्न किया।

गुरु नानकने भी धार्मिक ग्रौर सामाजिक क्रांतिका इसी प्रकार शंखनाद किया। उत्तर भारतमें उनके द्वाराकी गई विचार-क्रांति ग्रपने समयका सबसे ग्रधिक महत्वपूर्ण प्रयत्न है जिसने जनताकी मूढ़ ग्रंध भावनाग्रोंको झकझोर दिया। ग्रपने सुप्रसिद्ध शिष्य मरदाँना के साथ फकीर बनकर वे ३० वर्षकी ग्रायुमें घरसे निकल पड़े। दक्षिणमें लंका ग्रौर पश्चिममें ग्ररब तककी यात्रा उन्होंने की। ग्रनेक साधु संतों, फकीरों ग्रौर सूफी महात्माग्रों का सत्संग किया। वे भी कबीरकी तरह हिन्दू मुसलमानके भेदसे ऊपर उठे हुए थे ग्रौर उनके देहावसानके बाद भी उनको दफनाने या उनका दाह संस्कार करनेके सम्बन्धमें हिन्दु-मुसलमानोंमें मतभेद पैदा हो गया था। रावीके किनारे समाधि ग्रौर कब्र के रूपमें उनके दो स्मारक बनाए गए, जो कि बाढ़में बह गए। उनका धर्म भी सम्प्रदायातीत था जो एकता ग्रौर प्रेमपर ग्राधारित था। मक्का ग्रौर हरिद्वार ग्रादि जब वे गए तब वहाँ उन्होंने किसी भी सम्प्रदायकी रूढ़िका पालन नहीं किया। तीर्थयात्रा, मूर्त्ति-

पूजा, जप-तप, पूजापाठ और गंगास्नान तथा वेदशास्त्र आदि उनकी दृष्टिमें सब व्यर्थ थे अवतारवाद, जात पांत, छूतछात आदिको वे नहीं मानते थे। उन्होंने दोनोंके सम्बन्धमें यह कहा है कि—

बन्दे इक्क खुदाय वे, हिन्दू मुसलमान।
दावा राम रसूलकर, लड़ते बेईमान।

× × ×

ना हम हिन्दू ना मूसलमान
दोनों बिच्च बसै शैतान।
एकै , एको, एक सुभान,
गुरुजी कहिया सुन अब्दुर्रहमान
दावा मूलो तां इक्क पिछान।

× × ×

हिन्दू जपते राम-राम, मुसलमान खुदाय,
इक्को राम रहीम है, मनमें देखो लाय।

× × ×

तग्ग न हिन्दू पाइया, तग्ग न मुसलमान
दोए भूले राह ते, ग़ालिब भया शैतान॥

धन्ना जाट, पीपा, सेना नाई और रैदास चमार आदि भी संतोंमें गिने गए और उन सबने कबीर तथा नानकके पद-चिन्होंका अनुकरण किया। इन सबने मूर्त्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा जात-पाँत आदिका उसी प्रकार खंडन किया।

गुरु नानकके बाद सभी सिख गुरुओंने उनकी विचार क्रांतिको बल प्रदान करनेका सराहनीय काम किया और वे हिन्दू-मुसलमानके साम्प्रदायिक भेद भावसे ऊपर उठकर निरन्तर सम्प्रदायातीत मानव-धर्मका प्रतिपादन करते रहे। हिन्दू-मुसलमान दोनोंको रूढ़िवाद, परम्परावाद तथा अंधविश्वासोंसे मुक्त करनेका प्रयत्न करते रहे। और तो और अमृतसरमें गुरुद्वारेकी स्थापना की आधारशिला रखनेके लिए उस समयके लाहौर के महान मुस्लिम संत मियाँ मीरको निमंत्रित किया गया और उनके हाथोंसे वह सम्पन्न कराया गया। औरंगजेबकी धर्मान्धताकी वेदीपर नौवें गुरु तेगबहादुरकी महान बलि हो जानेके बाद भी गुरु नानककी परम्पराको छोड़ा नहीं गया। दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज ने उस परम्पराको जब धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाका मूर्त्त रूप प्रदान किया, तब पहले गुरुजी द्वारा प्रवर्तित धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिको चरम सीमा पर पहुँचा दिया। पंचप्यारोंको दी गई दीक्षा द्वारा उन्होंने एक नए मानवको जन्म देकर नए समाजकी स्थापना की। वह मानव और वह समाज पुराने धार्मिक एवं सामाजिक अंध विश्वासों और रूढ़िगत सामाजिक विचारोंसे सर्वथा निर्लिप्त था। उसके नाम रूप और शक्ल सूरत तक को उन्होंने बदल दिया था। उनका खालसा पंथ उस समय की समस्त धार्मिक एवं सामाजिक बुराइयोंसे मुक्त था। उनके अकालियोंको काल खा नहीं सकता था। क्योंकि अमृत छकाकर वे उनको मृत्युसे सर्वथा निर्भय कर देते

थे। उन्होंने पुराने नाम बदलकर सिंहपरक नाम रखनेकी प्रथा इसीलिए डाली कि जीवनमें पराजित होनेकी दीन हीन भावना जड़मूलसे नष्ट हो जाय कड़ा, कच्छ, कृपाण, केश और कंधेकी व्यवस्था मानव-जीवनकी आवश्यकताओंको सीमित कर उसको भौतिक दृष्टिसे निर्मोही बनानेवाली थी। गुरु गोविन्दसिंहजीका वह नव-निर्माण-किसी भी दृष्टिसे मुस्लिम-विरोधी नहीं था। मुसलमानोंकी अपेक्षा पहाड़ी हिन्दू राजा उससे अधिक भयभीत और उसके वैसे ही विरोधी थे, जैसे कि पुरातन पंथी सदा ही नई विचारधाराके विरोधी रहे हैं। उन्होंने ही औरंगजेवको भी उनका विरोधी बना दिया था। सरहिन्दमें पराजित होकर जब उन्होंने अज्ञातवास किया तब अनेक मुसलमानों ने उनको अपने यहाँ पनाह दी थी। उनको माननेवालोंमें मुसलमानोंकी संख्या काफी थी।

अकबरके समय हुए संतोंमें दादू प्रमुख हैं। उन्होंने भी कबीर और नानककी विचार-परम्पराको आगे बढ़ाया। वे धार्मिक संकीर्णताके विरोधी, हिन्दू मुस्लिम एकताके हामी और सम्प्रदायातीत सार्वभौम धर्मके उपदेशक थे। उन्होंने लिखा है कि—

सब घट एकै आतमा, हिन्दू मुसलमान।

× × ×

अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिन्दु तुरक भेद कछु नाहीं, देखौं दरसन तोरा।।

× × ×

दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मूसलमान।।

× × ×

ना हम हिन्दू होहिंगे, ना हम मूसलमान।
षट दरशनमें हम नहीं, हमराते रहिमान।।

पंडितों, मुल्लाओं, जातपाँत, मूर्त्तिपूजा, तीर्थस्थान, हज्ज इत्यादिके विषयमें दादूके विचार ठीक वैसे ही थे, जैसे कबीरके। बाबा मलूकदास सत्तनामी, बाबालाल, दारा शिकोह, प्राणनाथ और धरनीदास, जगजीवनदास, बुल्ला साहब, केशव, चरनदास, सहजोबाई, दया बाई, ग़रीबदास, शिवनारायण, रामसनेही इत्यादिके उपदेशोंका भी ठीक यही सार था। उनके शिष्योंमें ब्राह्मण, ठाकुर, चमार और मुसलमान सब जातियोंके लोग शामिल थे, मुसलमान फकीरों के हिन्दू शिष्य और हिन्दू फकीरों के मुसलमान शिष्य उन दिनों बहुत अधिक संख्यामें पाए जाते थे। अठारहवीं सदीमें सहजानन्द दुलहन दास, गुलाल, मींका और पलटूदास काफी प्रसिद्ध थे, पलटूदास का यह पद कैसा भावपूर्ण है :-

पूरबमें राम है पच्छिम खुदाय है,
उत्तर औ दखिन कहो कौन रहता।
साहिब वह कहाँ है, कहाँ फिर नहीं है,
हिन्दू और तुरक तोफान करता।।
हिन्दू और तुरक मिलि परे हैं खेंचि में,
आपनी वर्ग दोउ दीन बहता।
दास पलटू कहै साहिब सबमें रहै,
जुदा ना तनिक मैं साँच कहता।।

इस तरह उत्तर भारत में इन संतों ने सदियों तक धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का जो दिव्य संदेश सुनाया था उसकी लहरें बंगाल, महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारतमें भी दूर-दूर तक जा फैली थीं। बंगालमें बारहवीं सदीमें हिन्दुओंका मुसलमानोंकी दरगाहोंमें मिठाई चढ़ाना कुरान पढ़ना और मुसलमानोंके त्योहार मनाना और इसी तरह मुसलमानों का हिन्दुओंके धार्मिक रिवाजोंकी ओर क्रियात्मक आदर दिखाना आम बात थी। इसी मेल-मिलापसे बंगालमें 'सत्यपीर' की पूजा शुरू हुई। गौड़का बादशाह हुसेनशाह इसका प्रवर्तक था। दोनों हिन्दू-मुसलमान उसको पूजते थे। चैतन्य महाप्रभु पन्द्रहवीं सदीमें हुए। श्री दिनेशचन्द्र सेनने ठीक ही लिखा है कि "चैतन्यके जन्मसे पहले ब्राह्मणों का प्रभुत्व बहुत कष्टकर हो गया था। कुलीनताकी भावनाके साथ-साथ जाति-भेद और भी कठोर होता गया। ब्राह्मण लोग कहनेके लिए अपने धर्ममें ऊँचे आदर्शों का बखान करते थे, किन्तु जाति-बन्धनके कारण मनुष्य-मनुष्यमें अंतर बढ़ता जा रहा था। नीची जातियोंके लोग ऊँची जातियोंके लोगोंके स्वेच्छाचारके नीचे आहें भर रहे थे। इन ऊँची जातिके लोगोंने नीची जाति वालोंके लिए शिक्षाके दरवाज़े बन्द कर रखे थे। इन लोगोंके लिए अधिक ऊँचे जीवनमें प्रवेश करनेकी मनाही थी और नए पौराणिक धर्मपर ब्राह्मणोंका ठेका हो गया था, मानो वह कोई बाजारी चीज़ थी।" चैतन्य ने इस स्थितिको बदलनेके लिये सेवा और भक्तिका उपदेश दिया, जातिभेदका कड़ा विरोध किया और ब्राह्मणोंके कर्मकाण्डको त्याज्य बताया। उनके शिष्योंमें हिन्दू मुसलमान दोनों समान रूपसे शामिल थे। उनके सम्प्रदायके आचार्योंमें भी दोनों समान रूपसे मिलते हैं।

दक्षिण अथवा महाराष्ट्रमें भी यह लहर पहुँच गई थी। न्यायमूर्त्ति श्री महादेव गोविन्द रानाडेने लिखा है कि "इस्लामका कठोर एकेश्वरवाद कबीर, नानक इत्यादि सन्तोंके चित्तमें साफ घर गर गया था। हिन्दू त्रिमूर्त्ति दत्तात्रेयके उपासक अक्सर अपने देवताको मुसलमान फकीरके से कपड़े पहनाते थे। यह प्रभाव महाराष्ट्र जनता के चित्तपर और भी जोरोंके साथ काम कर रहा था। ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों तरहके प्रचारक वहाँ लोगोंको उपदेश दे रहे थे कि राम और रहीमको एक समझो, कर्मकांड और जातिभेदके बन्धनोंको तोड़ दो और ईश्वरमें विश्वास और मनुष्य मात्रके साथ प्रेमसे सब मिलकर अपना एक समान धर्म बनाओ।"

लोगोंको जातिभेद, कर्मकांड और धार्मिक संकीर्णताके बंधनोंसे मुक्त करके स्वतंत्रता, प्रेम और भक्तिका उपदेश देनेवाले महाराष्ट्र संतोंमें नामदेवका वही स्थान है, जो उत्तर में कबीरका है। नामदेवके गुरु खेचर थे। वे मूर्त्ति-पूजाके कट्टर विरोधी थे। उनका कहना यह था कि "पत्थरका देवता कभी नहीं बोलता, तो फिर वह हमारे इस जीवनके दुःखोंको कैसे दूर कर सकता है? पत्थरकी मूर्त्तिको लोग ईश्वर समझ बैठते हैं, किन्तु सच्चा ईश्वर बिलकुल दूसरा ही है। यदि पत्थरका देवता हमारी इच्छाएँ पूरी कर सकता, तो गिरानेपर वह टूट क्यों जाता? जो लोग पत्थरके बने हुए देवता की पूजा करते हैं, वे अपनी मूर्खतासे सब-कुछ खो बैठते हैं। जो लोग यह कहते हैं, और जो यह सुनते हैं कि पत्थरका देवता अपने भक्तोंसे बातचीत करता है, वे दोनों मूर्ख हैं।"

नामदेवके शिष्यों और अनुयायियोंमें स्त्री और पुरुष, हिन्दू और मुसलमान, ब्राह्मण और मराठा, कुनबी, दरजी, कुम्हार, अन्त्यज, महार और वेश्याएँ तक सम्मिलित थीं।

चोखा मेला नामदेव के शिष्योंमें बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। वे जातिके महार (चमार) थे। उनकी आज तक भी बड़ी मान्यता है। बहिराम भट्ट, शेख मुहम्मद और तुकाराम भी बहुत प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। तुकाराम सर्वमान्य सन्त थे। वे कबीर आदि की तरह जात-पाँत, मूर्त्ति-पूजा, यज्ञ, हवन आदि कर्मकांडके कट्टर विरोधी थे। इन संतोंके उपदेशकी महाराष्ट्रमें जो प्रतिक्रिया हुई उसके सम्बन्धमें न्यायमूर्त्ति श्री रानाडे ने लिखा है कि "नामदेव और दूसरे संतोंके उपदेशोंका नतीजा यह हुआ कि मराठी भाषा के साहित्यकी उन्नति हुई, जाति-भेद ढीला हुआ, स्त्रियोंका पद ऊँचा हुआ, उदारता और दयालुता फैली, इसलामके साथ हिन्दूमतका एक दरजे तक मेल हो गया। कर्मकांड, तीर्थयात्रा इत्यादिका महत्व घटा, प्रेमका महत्व बढ़ा, अनेक देवी-देवताओंकी पूजा कम हुई और विचारों तथा क्रियाओं दोनोंके क्षेत्रमें राष्ट्रकी ताक़त बढ़ी।"

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अकबरका 'दीने इलाही' इन संतों महात्माओं द्वारा की गई धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिका ही परिणाम था। औरंगजेबकी घोर धर्मान्धता के अंधकारमें भी दारा शिकोहके रूपमें संत परंपराकी धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति की एक किरण विद्यमान थी। उसीके कारण उसको औरंगजेबके भीषण प्रकोपका शिकार बनना पड़ा था। उनके दो महान ग्रंथ 'मजमेउल बहरैन' (दो महासमुद्रोंका संगम) और 'सिर्रे अकबर' (महान रहस्य) अनन्तकाल तक दाराके क्रांतिकारी स्वरूपकी साक्षी देते रहेंगे।

निस्संदेह इस महान संत परम्पराके कारण हिन्दू, बौद्ध और इस्लाम आदिके मंथनके लिए की गई धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिके फलस्वरूप समस्त भारतमें उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिममें एक सुन्दर सार्वजनिक सम्प्रदायातीत धर्मकी नींव रखी जा रही थी जिसका मूलमंत्र एकता, प्रेम, भक्ति और सबकी उन्नति था और जिसका मूल उद्देश्य समस्त रूढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासोंका अंत करके एक नए समाज और सामाजिक जीवनको जन्म देना था। इस धार्मिक एवं सामाजिक नवनिर्माणके साथ-साथ भाषा, साहित्य तथा संस्कृतिके क्षेत्रमें भी मिला-जुला नव-निर्माण बहुत तेजीसे हो रहा था। यह हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि इन सभी संतों, साधुओं और महात्माओंके अनुयायियोंने उनकी इच्छाके सर्वथा विपरीत उनके नामसे कितने ही नये पंथ व सम्प्रदाय चालू करके नए गिरोह और नई हदबन्दियां कायम कर लीं और इन महापुरुषोंके एकताके सारे स्वप्न एवं प्रयत्न छिन्न-भिन्न कर दिए गए। उनकी धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिका महान स्वप्न भी सर्वथा भंग कर दिया गया। उनके द्वारा प्रवाहित पवित्र धारा बाढ़की तरह इतनी गंदी, मैली और दूषित कर दी गई कि उसका वास्तविक स्वरूप सर्वथा नष्ट हो गया। उसके कारण उसके किनारोंपर एक-दूसरेपर जमनेवाली मिट्टीकी परतोंकी तरह समाजमें नए जाति-भेद, छूतछात तथा स्पर्शास्पर्शकी नई रूढ़ियों और कर्मकांड के नए प्रपंच तथा अंध-विश्वासोंके नए मायाजालकी तहें बुरी तरह जम गईं। पुराने बंधन टूटे नहीं और उन पर नई गाठें बांध दी गईं। इस प्रकार हुई प्रतिक्रियाके विस्तारमें जानेका यह स्थान नहीं है।

अँगरेजी राज्यके प्रारम्भके साथ मध्यकाल समाप्त हो गया। परन्तु मध्यकालीन संत परम्परा समाप्त नहीं हुई। वर्तमान कालीन क्रांतिकारी

समाज-सुधारक उसीकी देन है। राजा राम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, ज्योति बाबा फूले और श्री आगरकर आदिने उन्हींकी परम्पराको आगे बढ़ानेका सराहनीय प्रयत्न किया। ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाजका जन्म भी इस परम्पराके गर्भमें सेही हुआ। लेकिन, दुख यह है कि जो दिव्य-ज्योति प्रकाश-स्तम्भके रूपमें प्रस्थापित की गई थी वह टिमटिमाते दिएकी तरह छोटे-छोटे संकीर्ण सम्प्रदाय बन गई। साम्प्रदायिकता मानव-समाजकी सबसे बड़ी दुर्बलता और सबसे बड़ा अभिशाप है, जो कि इन सब महापुरुषोंके क्रांतिकारी प्रयत्नोंको राहु व केतुकी तरह ग्रस गया है फिर भी निराश होने या हार माननेका कोई कारण नहीं है। जब कि मानवने किसी भी अन्य क्षेत्रमें निराशा अथवा पराजयको स्वीकार नहीं किया तब समाज सुधारके ही क्षेत्रमें क्यों निराश अथवा पराजित हुआ जाय। मानवकी आत्मा स्वभावतः चैतन्य स्वरूप और प्रगतिशील है। प्रगतिमें ही मानव-जीवनकी शोभा और सार्थकता है। पिछले डेढ़ दो सौ वर्षोंके बाद फिर वह समय आया है जब कि राजनीतिक एवं शासकीय दृष्टिकोण भी समाज-सुधार अथवा सामाजिक क्रांतिके सर्वथा अनुकूल है। इसीलिए यह समय है, जबकि पूरे निश्चय, विश्वास और श्रद्धाके साथ समाज-सुधार अथवा धार्मिक एवं सामाजिक क्रांतिको सम्पन्न करनेमें हमें जुट जाना चाहिए। मध्यकालीन संतोंके स्वप्नको पूरा करनेका यहीं अनुकूल अवसर है।

स्वामी विवेकानन्द

उन्नीसवीं सदीके मध्यमें १८५७की राज्यक्रांतिके सर्वथा विफल हो जानेके बाद प्रत्यक्ष रूपमें भारतीय राष्ट्रीयताका प्रकट अथवा विकसित होना सम्भव न रहा। इसलिए वह स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय सरीखे महापुरुषोंके रूपमें अन्तर्मुखी होकर प्रकट हुई। अँगरेज़ कूटनीतिज्ञोंने इस देशमें अपने साम्राज्यको सुदृढ़ बनानेके लिए भारतीयोंके स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमानको सर्वथा कुचल डाला था और उसके लिए उन्होंने जिन उपायोंका अवलम्बन किया था, उनमें ईसाइयतका प्रचार और पश्चिमी शिक्षाका प्रसार मुख्य थे। दोनोंका लक्ष्य एक ही था। वह यह कि भारतीयोंमें अपनी किसी भी चीज़के लिए गर्व एवं गौरवकी अनुभूति नहीं रहनी चाहिए और पश्चिमी लोगोंकी तुलनामें उनमें दीनता व हीनता व्याप्त जानी चाहिए। इसी दृष्टिसे लार्ड मेकालेने भारतीय, भाषा, साहित्य, ज्ञान,-विज्ञान, इतिहास इत्यादि सभीको अत्यन्त तुच्छ ठहराकर पश्चिमकी भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा इतिहास आदिकी अँगरेज़ी शिक्षा पद्धति द्वारा प्रतिष्ठा की थी। ईसाई पादरी भी भारतीय धर्म, संस्कृति तथा इतिहाससे भारतीयोंको विमुख कर उनमें ईसामसीहके प्रति श्रद्धा व प्रतिष्ठा पैदा किया करते थे और उनकी तुलनामें भारतीय संतों, महापुरुषों तथा धर्म संस्थापकोंके प्रति अश्रद्धा एवं अनादर पैदा किया करते थे। इस सबका प्रतिकार करके देशवासियोंमें स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमानकी भावनाका संचार करने और राष्ट्रीयताको पुनः जाग्रत एवं प्रस्थापित करनेके लिए ही स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द सरीखे महापुरुषोंका जन्म हुआ था।

स्वामी विवेकानन्दने जो कार्य अमरीका और योरोप जाकर किया वही कार्य स्वामी दयानन्दने देशके कोने-कोनेमें घूमकर किया। वेद और वेदान्तकी प्रतिष्ठा कर दोनों ने यह सिद्ध किया कि पश्चिमकी तुलनामें भारतकी भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, संस्कृति तथा धर्म कहीं अधिक उन्नत और समृद्ध हैं। किसी भी बातके लिए भारतको इंगलैण्ड, अमरीका तथा योरपपर निर्भर रहनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वामी दयानन्द अँगरेज़ी भाषा और साहित्यसे सर्वथा अनभिज्ञ थे इसलिए उनपर यह संदेह नहीं किया जा सकता कि उन्होंने अपने विचारोंके लिए कुछ भी किसी विदेशी विद्वानके ग्रंथोंसे लिया हो। स्वामी विवेकानन्दका अँगरेज़ी भाषा एवं साहित्यपर पूर्ण अधिकार था; परन्तु उन्होंने अपने किसी भी विचारके लिए पश्चिमके किसी भी विद्वानको मान्यता प्रदान

नहीं की। अमरीका और योरप जाकर उन्होंने उनकी ही भाषामें उनको जो चुनौती दी उसका वे कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। ईसाइयतकी लहरके विरुद्ध दोनोंने जो आवाज उठाई, उसका भी कोई उत्तर उनके पास न था। थियोसोफीकी प्रवर्तक मैडम ब्लेव-त्स्कीको स्वामी दयानन्दने लिखा था कि मेरे देशमें किसी भी बातकी कमी नहीं है और अमरीकाके लोग हमें कुछ भी नई बात नहीं सिखा सकते। इसलिये यह प्रश्न पैदा ही नहीं होता कि मैं तुम्हारे साथ मिलकर काम करूँ। तुमको चाहिए कि तुम मेरे साथ मिलकर कार्य करो। स्वदेशवासियोंमें उन्होंने कूट-कूटकर यह भावना भरी थी कि हमें विदेशियोंसे कुछ भी लेनेकी आवश्यकता नहीं है। नक़ल करने वालेको बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाजकी उन्होंने पश्चिमकी नकल करनेके कारण ही तीव्र आलोचनाकी थी। वे विदेशी आचार-विचार वेश-भूषा, रहन सहन, तथा खान पान आदिके कट्टर विरोधी थे। अपने देश और देशवासियोंकी दीनता व हीनता वे किसी भी रूपमें सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने लिखा है कि लोहेको सोना बनानेवाली पारस-मणिकी बात तो झूठी है परन्तु एक पारसमणि अवश्य है और वह है मेरा देश आर्यावर्त, जिसको छूनेके साथ ही दरिद्र विदेशी मालामाल हो जाते और सोना बन जाते हैं। उनका रोम-रोम इसी प्रकारकी उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनाओंसे ओत-प्रोत था।

यही स्थिति स्वामी विवेकानन्दकी थी। जब वे शिकागोके सर्व-धर्म-सम्मेलनमें बोलनेके लिए खड़े हुए, तब उन्होंने समानताके नाते उपस्थित जनताको भाइयो और बहनों कहकर सम्वोधित किया और स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमानकी भावनासे ओत-प्रोत शब्दोंमें कहा कि मैं संसारके सबसे युवा देशको विश्वके महानतम देशकी पुरातन संन्यासी परम्पराका प्रतिनिधि बनकर उसका आशीर्वाद देने आया हूँ। दीन-हीन और प्राचीन भारतके स्वाभिमान और स्वदेशाभिमानकी विदेशियोंपर अमिट छाप लगानेवाले पहले व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द थे। एक और अवसरपर सिंह गर्जना करते हुए उन्होंने कहा था कि मेरे देशवासी यदि भारतीय महासागरका सारा कीच अपने हाथोंमें लेकर पश्चिमपर फेंकना शुरू करें तो उनका वह कृत्य इतना जघन्य नहीं होगा, जितनी जघन्यता तुम्हारे यहाँके ईसाई पादरी मेरे देशमें जाकर करते हैं। क्या तुम उनको इसी कामके लिए मेरे देशमें भेजते हो और उनपर इतना खर्च करते हो? पेरिसके सर्व-धर्म-सम्मेलन में उनको इसी कारण बोलने की स्वतंत्रता नहीं दी गई थी कि वे ईसाई धर्मकी तुलनामें भारतीय धर्मको श्रेष्ठ महान और पुरातन बनाते थे। मनुष्यको पापी माननेके ईसाई धर्मके सिद्धान्तकी निन्दा करते हुए जब वे यह कहते थे कि मनुष्यकी आत्मा दिव्य प्रकाशके पुंज परमात्माकी ही प्रतीक है और वह अपनी साधनासे परमात्मा पदको प्राप्त कर सकता है तब ईसाई धर्मके बड़ेसे बड़े विद्वान भी यह माननेको बाध्य हो जाते थे कि ईसाई धर्मके अलावा भी संसारमें कोई दूसरा धर्म है, जो उस की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन, महान तथा उन्नत है। पेरिस, इंगलैण्ड तथा योरपके अन्य देशोंमें भी उन्होंने यह बार-बार कहा कि योरप और इंगलैण्डमें भी जब जंगल खड़े थे, तब मेरे देशमें ज्ञान-विज्ञानका सूर्य अपने पूरे तेजके साथ प्रकट हो चुका था इसलिए उनका यह दावा था कि योरोप व अमरीका भारतसे आज भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। इस प्रकार अपने देशकी दीनता व हीनता और पश्चिमकी श्रेष्ठताके विरुद्ध जो विद्रोह उन्होंने किया, वह उनकी देशभक्तिका सबसे

बड़ा प्रमाण है और वह ही उनकी सबसे बड़ी देश-सेवा है। अमरीकाके लोगोंके हृदयमें उन्होंने यह भावना सुदृढ़ करदी थी कि हमें ईसाई पादरी भारत न भेजकर वहाँसे ही मिशनरी अपने देशमें बुलाने चाहिए। उनकी इस भावनाकी पूर्त्तिके लिए स्वामीजीने अमरीकाके बड़े-बड़े शहरोंमें वेदान्तके प्रचारका आयोजन किया था और अनेक विद्वान संन्यासियोंको उसके लिए वहाँ भेजा था। यह कहा जा सकता है कि पश्चिमके कूट-नीतिज्ञोंने धर्म और संस्कृतिके प्रसारकी जो धारा पश्चिमसे भारतकी ओर बहाई थी, उसके प्रवाहको स्वामीजीने बदल दिया था और भारतसे पश्चिमकी ओर एक नई धारा का प्रवाह शुरू कर दिया था। पश्चिमपर भारतकी महत्ता की छाप लगानेवाले पहले देशभक्त राष्ट्रमहापुरुष स्वामी विवेकानन्द थे।

उनका जन्म ६ जनवरी १८६२ को एक कायस्थ परिवारमें हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके परिवारके लोग वंश-परंपरासे ही धार्मिक एवं सात्विक वृत्तिके थे। उनके दादा, कहते हैं, कि जीवनके अंतिम दिनोंमें संन्यासी बन गये थे। उनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त कलकत्तामें एटौर्नी-एट-ला थे। उनकी माता अप्रतिम प्रतिभाशाली महिला थीं। उनमें गहरी साधना, मुमुक्षु दृष्टि और तीव्र प्रतिभाके बीज वंश परम्परा से ही रोप दिए गए थे। उनका जन्म-नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था और बचपनमें ही उनमें सहानुभूति-सहृदयता, सात्विकता, श्रद्धा, साधना, ईश्वर-भक्ति और आध्यात्म-वृत्ति के गुण पैदा हो गए थे; जो कि जीवनमें उत्तरोत्तर विकसित होते गए। स्वभावतः उनमें श्रद्धा, भक्ति एवं दार्शनिक दृष्टि विद्यमान थी। युवावस्थामें उन्होंने पूर्व और पश्चिम के दर्शन शास्त्रका तुलनात्मक अध्ययन किया था। हर्बट स्पैन्सर और जान स्टुअर्ट मिल आदिको उन्होंने कालेजके दिनोंमें अध्ययन किया था। हर्बर्ट स्पैन्सरको उन्होंने एक आलोचनात्मक तर्कपूर्ण पत्र लिखा था जिसकी यथार्थताको उसने भी स्वीकार किया था। उनके प्रिंसिपल मि० हेस्टीकी यह सम्मति थी कि "वे वास्तवमें ही अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न हैं। मैंने जर्मनीके विश्वविद्यालयोंमें भी उन जैसा गुणी दार्शनिक युवक नहीं देखा। वे जीवनमें अवश्य ही अपूर्व ख्याति प्राप्त करेंगे।"

युवावस्थामें उनका झुकाव नास्तिकवादकी ओर हुआ परन्तु वे तुरन्त सँभल गए। इसपर उन्होंने स्वयं ही एक व्याख्यानमें कहा था कि "मैं यह नहीं मानता कि कोई हिन्दू अनीश्वरवादी बन सकता है। पश्चिमका साहित्य पढ़कर वह भौतिकवादी बन सकता है परन्तु पाँच माससे अधिकके लिए नहीं; क्योंकि वैसा बनना उसके खूनमें नहीं है।" वह स्वभावतः भावुक, आस्तिक एवं ईश्वरवादी थे। इसके बाद उनका झुकाव ब्रह्म-वादियोंकी ओर हुआ; किन्तु उन्होंने अनुभव किया कि वे अत्यन्त संकीर्ण हैं और उनकी आत्माको उनसे संतोष नहीं मिल सकता। इसके बाद उनको उस मानसिक स्थितिमें से गुजरना पड़ा जिसमेंसे प्रायः प्रत्येक महापुरुष और क्रांतिकारी सुधारक को गुजरना पड़ता है। उस समय ही उनमें अध्यात्म क्षुधा जाग्रत होती है जो सत्यकी खोजमें उनको लगा देती है। बी० ए०पास करनेके बाद उनके पिता उनको क़ानून पढ़ाना चहते थे; परन्तु उन दिनोंमें अपनी इस मानसिक स्थितिके ही कारण वे क़ानूनका अध्ययन नहीं कर सके और उस गुरुकी खोजमें लग गए जो उनकी अध्यात्म-क्षुधाकी तृप्ति कर सकता।

इन्हीं दिनोंमें उनको श्री रामकृष्ण परमहंस वैसे ही मिल गए जैसे स्वामी दयानन्द को प्रज्ञाचक्षु गुरु विरजानन्द मिले थे।

कहते हैं कि पहली ही भेंटमें गुरु और शिष्य दोनोंने एक-दूसरेको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। गुरुने शिष्यकी योग्यता और शिष्यने गुरुकी योग्यताको भाँप लिया। शिष्य गुरुसे वेदान्तका नियमित अध्ययन करने लग गया और अपनी आशंकाओंका उनसे उत्तर पाकर सत्यकी खोजमें गहरा उतरता चला गया। श्री रामकृष्ण परमहंसका १६ अगस्त १८८६ को निधन हो गया। उनके सभी शिष्योंने संन्यास आश्रममें प्रवेश करके उनके कार्य और मिशनकी पूर्त्तिमें अपनेको खपा देनेका संकल्प कर लिया। और रामकृष्ण मिशनकी स्थापना की, जिसकी इस समय ११० से अधिक शाखाएँ सारे संसारमें विद्यमान हैं। निःसंदेह श्री नरेन्द्रनाथदत्त भी उनमें एक थे, जो संन्यास धारण करने के बाद स्वामी विवेकानन्दके नामसे प्रसिद्ध हुए। जिस व्यक्तिने विवेकके प्रकाशमें अपने जीवनका निर्माण करना प्रारम्भ किया था उसको विवेकमें ही लोकोत्तर आनन्दके दर्शन हो सकते थे,। इसी कारण उनका यह नाम सर्वथा सार्थक सिद्ध हुआ।

संन्यास धारण करनेके बाद वे हिमालयकी ओर चल दिए और तिब्बतमें रहकर उन्होंने तपस्या एवं अध्ययनमें अपनेको लगा दिया। कुछ समय बाद वे वहाँ से दक्षिणकी ओर कुमारी अन्तरीप अथवा दक्षिणेश्वर चले गए। वहाँसे मद्रास आए जहाँ कुछ मित्रोंने उनको शिकागोके सर्व-धर्म-सम्मेलनके लिए अमरीका भेजनेका निश्चय किया। कुछ चन्दा करके ३१ मई १८९३को उनको जापानके रास्ते वहाँ भेज दिया गया।

वहाँ पहुँचकर उनको भयानक आर्थिक तंगीका सामना करना पड़ा। घर-घरसे भीख माँगकर वे अपना काम चलाने लगे। एक दिन एक वृद्धा स्त्रीने कौतुहलवश उनको अपने यहाँ भोजनके लिए निमंत्रित किया और अपने कुछ साथियोंको भी इस विचार से बुलाया। वे उस युवा संन्यासीको देखकर प्रसन्न हुए। यह कौतुक उनके लिए बड़ा कीमती सिद्ध हुआ। जो वहाँ आए थे उनकी विद्वत्ता, वक्तृता, तर्कशक्ति, युक्ति तथा गम्भीर अध्ययनसे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने दर्शनके एक उपाध्यायसे उनकी चर्चा करवाई। वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उनको सर्वधर्म-सम्मेलनके अध्यक्ष डा० बैरोजके पास ले गया। कठिनाई यह भी थी कि स्वामीजी न तो किसी धर्म विशेषके प्रतिनिधि थे और न किसी धार्मिक संस्थाने ही उनको अपना प्रतिनिधि बनाकर वहाँ भेजा था। इसी कारण सम्मेलनके संयोजकोंने उनको उसमें सम्मिलित नहीं होने दिया। केवल अपनी योग्यता विद्वत्ता और वक्तृत्व-शक्तिके सहारे जब उनको उसमें प्रवेश मिला तब वे सहसा ही सबके आकर्षणके केन्द्र-विन्दु बन गए और ११ सितम्बर, १८९३ को अपने पहले ही भाषणसे सब पर छा गए। सम्मेलनमें सबकी आँखें उनपर लगी रहती थीं। सब उनका भाषण सुननेके लिए आतुर रहते थे। सम्मेलनके अध्यक्ष उपस्थितिको बनाए रखनेके लिए उनको सबके बाद समय देते थे और बीच-बीच में उनके भाषणकी सूचना देते रहते थे। वे जादूकी तरह सबको मोह लेते थे।

"न्यूयार्क हेरल्डने तब लिखा था कि "उस सर्व-धर्म-सम्मेलनमें बिना किसी सन्देहके स्वामी विवेकानन्द सबसे महान व्यक्ति थे। उनका भाषण सुननेके बाद हमें यह अनुभव हुआ कि ऐसे विद्वान् के देशमें ईसाई मिशनरी भेजना कैसी भयानक भूल है?" "न्यूयार्क

क्रिटिक" ने लिखा था कि "वे दैवी शक्ति प्राप्त वक्ता हैं। उनकी मनोहर वेष भूषामें उनका प्रतिभा सम्पन्न चेहरा कुछ कम आकर्षक नहीं है; किन्तु उनकी वाणीमें जो तेज व ओज है, वह और भी अधिक आकर्षक है।"

सर्वधर्म-सम्मेलनमें उनकी उपस्थितिका सारे अमरीकापर अद्भुत प्रभाव पड़ा। स्थान-स्थानसे निमंत्रण प्राप्त होनेपर उन्होंने अमरीकाका व्यापक दौरा किया, कई स्थानों पर भाषण दिए और वेदान्तके प्रति जनतामें आस्था पैदा की। इसमें उनको तीन वर्ष लग गए।

वहाँसे वे इंगलैण्ड आए और लन्दनमें दो मास रहकर उन्होंने वेदान्तपर अनेक व्याख्यान दिए। तब समाचार-पत्रोंमें लिखा गया था कि लन्दनमें सभी तरहके लोग रहते हैं; परन्तु इन दिनोंमें वह महत्वपूर्ण व्यक्ति यहाँ आया हुआ है जिसने शिकागोके सर्वधर्म-सम्मेलनमें हिन्दू धर्मका प्रतिनिधित्व किया था। उनके व्याख्यानोंका ऐसा प्रभाव पड़ा कि अनेक उनके शिष्य बन गए। उनमें मि० सैन्डस्बर्ग (जो बादमें स्वामी कृपानन्द कहलाए), मैडम लुई (बादको स्वामी अभयानन्द), मिस मार्गरेट नोबल (बादको सिस्टर निवेदिता), जे० जे० गौडविन और कैप्टेन सीवियर आदि थे।

१६ दिसम्बर १८९६ को वे स्वदेश लौट आए। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने पश्चिम के भौतिकवादी लोगोंके सम्मुख भारतके अध्यात्मवादका ऊँचा, महान और पुरातन आदर्श उपस्थित करके अपने देशकी महानताका चित्र उनके सामने रखा था। जो भारतको अत्यन्त दीन हीन दृष्टिसे देखते थे उनको उसके वास्तविक स्वरूपका पहली बार परिचय मिला और वे उसपर चकित रह गए।

श्रीलंकामें जहाज़से उतरकर वे स्वास्थ्य लाभके लिए अलमोड़ा गए। जगह-जगह पर जनताने उनका विजयी वीर महा सेनापतिकी तरह स्वागत एवं अभिनन्दन किया। वे केवल कोरे वक्ता हीं नहीं थे, अपने विचारकोंके प्रति उनमें बड़ी गहरी निष्ठा और आस्था थी। उनको क्रियात्मक रूप देनेके लिए वे अत्यन्त आतुर रहा करते थे। उनको यह हार्दिक अभीलाषा थी कि वेदान्त सारी मानव जातिका धर्म बन जाय और नैतिक, आध्यात्मिक एवं दैवी गुणोंमें हिन्दू जातिका सिक्का सारे विश्वपर एक बार फिर लग जाय। उन्होंने इसी दृष्टिसे हिन्दू-जातिकी अंतरात्माको जगानेका प्रयत्न किया। उसके जीवनके व्यवहार और धार्मिक आदर्शोंके बीच जो गहरी खाई बन गई थी; उसको पाटनेका भी उन्होंने यशस्वी प्रयत्न किया। उन्होंने पुरानी रूढ़ियों, कुप्रथाओं और अंधविश्वासोंको भी दूर करनेके लिए आवाज़ उठाई। रामकृष्ण मिशनका नए सिरे से संगठन करके उसकी शाखाएँ जहाँ-तहाँ स्थापित कीं। १८९७ के भयानक प्लेग और दुर्भिक्षमें सेवाका कार्य भी संगठित किया।

उनका स्वास्थ्य एकाएक बिगड़ना शुरू हो गया। डाक्टरोंकी सलाहपर वे जून १८९९ में इंगलैण्ड होते हुए फिर अमरीका गए। सान फ्रांसिसकोमें इस यात्रामें उन्होंने 'शान्ति आश्रम' और 'वेदान्त सोसाइटीकी' स्थापना की, जो इस समय खूब फल-फूल रही है। वहाँसे वे फ्रांसमें सर्वधर्म सम्मेलनमें सम्मिलित होनेके लिए आए। लौटते हुए उन्होंने योरोपके कई देशोंका दौरा किया। स्वास्थ्य कार्यका उतना भार सहन नहीं कर सका और जानेकी अपेक्षा कहीं अधिक गिरा हुआ स्वास्थ्य लेकर वे स्वदेश वापस

आए। यहाँ आकर स्वास्थ्यकी परवाह किए बिना ही फिर अपने काममें जुट गए। बनारसमें संस्कृत और वेदान्तके अध्ययनके लिए उन्होंने एक पाठशाला कायम की और कलकत्ताके सामने हावड़ाके नीचे बेलूरमें श्री रामकृष्ण परमहंसकी स्मृतिमें एक मठ कायम किया। इसी मठमें जुलाई १६०२ को उनके इस नश्वर देहको उनकी आत्मा सदाके लिए छोड़ गई। बहुत सबेरे ही उन्हें अपने शरीरान्त होनेका आभास मिल गया था। कुछका कहना यह भी है कि बहुत पहले ही उन्होंने उसके सम्बन्धमें भविष्य-वाणी कर दी थी। बड़े सबेरे सदाकी भाँति वे समाधि अवस्थामें ध्यानमग्न रहे। फिर अपने साथियोंके साथ संस्कृतमें कुछ चर्चा-वार्त्ता की। दोपहरको भी वैदिक विषयोंपर चर्चा-वार्ता की गई और शामको वे फिर समाधिस्थ हो गए। उसके बाद कुछ थोड़ा सा टहलने गए और लौटकर फिर ध्यानमग्न हो गए। यह उनकी अंतिम समाधि थी, जब कि रातको नौ बजे उनकी जाग्रत दिव्य आत्माने नश्वर शरीर का यह चोला छोड़ दिया।

पश्चिमके लोगोंपर अपने देशकी महत्ता व प्राचीनता और उसके धर्म, संस्कृति, साहित्य तथा ज्ञान विज्ञानकी गहरी छाप लगानेके साथ-साथ उन्होंने स्वदेशवासियोंमें स्वाभिमान और स्वदेशाभिमानकी जिस भावनाका संचार किया, वह उनकी बहुत बड़ी सेवा है। उसीमें उनका देश-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति समाई हुई है। वे वचपनसे ही सुधारक और प्रगतिशील विचारके थे। अपने देशके युवकोंको वे प्रायः यह कहा करते थे कि किसी भी बातको इसलिए मत मानो कि वह किसी महापुरुषने कही है अथवा किसी महापुरुषके नामसे लिखे गए ग्रंथमें पाई जाती है। हर बातको तर्क और विवेककी कसौटीपर कसनेंके बाद ही स्वीकार करो। इसी प्रकार वे यह भी कहा करते थे कि नाक पकड़कर लम्बे सांस लेने अथवा आँखें मूंदकर कोरा जाप करनेसे फुटबालके मैदान में घंटा भर खेल लेना कहीं अधिक अच्छा है। उस खेलसे पैदा होनेवाली शक्ति की देशको कहीं अधिक आवश्यकता है। बचपनमें ही उन्होंने भूत-प्रेत आदिके मिथ्या विश्वासोंको माननेसे इनकार कर दिया था। अपने पासके मकानमें लगे हुए एक पेड़ पर चढ़कर वे और उनके साथी बड़ी धूम मचाया करते थे। मकान-मालिकने लड़कों को डराने और भगानेके लिए भूतका भय बताना शुरू किया। बाकी सब साथियोंने डरकर वहाँ आना छोड़ दिया; परन्तु नरेन्द्र वहाँ जाता, सिर नीचे करके पेड़पर लटक जाता और कहता कि बताओ वह भूत कहाँ है? पढ़नेमें इतने कुशाग्र बुद्धि थे कि कहते हैं कि पुस्तकके पन्नेकी एक एक पंक्ति न पढ़कर सारा पन्ना एक साथ पढ़ लेते थे और अध्यापकों जो पाठ पढ़ाना होता था उसको वे पहले से ही स्वयं तैयार कर लेते थे। कालेजमें उनको प्रवेश नहीं मिल सका, तब उनके पुराने अध्यापकने उनकी योग्यतापर मुग्ध होकर उनको बिना पढ़े हुए ही ऊँची कक्षामें दाखिल करवा दिया और परीक्षामें भी बैठनेका अवसर दिला दिया! यही वह प्रतिभा थी, जिसने योरप व अमरीकाके लोगोंको भी मंत्रमुग्ध कर डाला।

उनकी दृष्टिमें धर्म साधनाका विषय था और इसीको वे लोगोंके दिल व दिमाग़में बैठा देना चाहते थे। वे इस विचारको जड़ मूलसे नष्ट कर देना चाहते थे कि धर्म अंध श्रद्धाका विषय है और उसमें तर्क अथवा युक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके

विपरीत वे यह बताना चाहते थे कि "यस्तर्केणानुसन्धात्ते स धर्मम् वेद नेतर:" अर्थात् जो तर्कके अनुकूल है वही धर्म है। आत्माकी प्राप्ति उनकी दृष्टिमें धर्मका लक्ष्य था। दूसरा उनका विचार यह था कि आत्मा अनन्त है। उसका कोई ओरछोर नहीं है। कुछ लोगोंका यह कहना था कि ऐसा माननेसे नैतिकताका आधार नष्ट हो जायेगा। उनका उत्तर यह था कि ऐसा सोचना पाशविक वृत्तिका सूचक है, जिसको कि केवल चाबुकसे काबू में रखा जा सकता है। वे नैतिकताका अर्थ दूसरोंकी भलाई करना किया करते थे, जो कि सभी धर्मोंका सार है। अद्वैतमें इस विचारकी सर्वोत्तम व्याख्या की गई है। उसकी मान्यता यह है कि जो भी कोई दूसरेकी हानि करता है, वह अपनी ही हानि करता है। वे इसाई धर्मके इस विचारको बिलकुल भी नहीं मानते थे कि प्रत्येक मनुष्य पापी है। इसके विपरीत वे यह मानते थे कि प्रत्येक मनुष्यमें आत्माकी दिव्य ज्योति विद्यमान है। अमरीकामें जब उन्होंने इस विचारका प्रतिपादन किया था तब वहाँके लोग स्तब्ध रह गए थे। पापात्मा होनेके विचारसे जो निराशा मानवमें छायी रह सकती है, उसको दूर करनेवाला यही विचार है कि वह अपनेको तेजोमय भगवानका अंश या उसका प्रतिनिधि माने। उनका तर्क, तथा युक्ति अत्यन्त सरल उदाहरणोंसे स्पष्ट की जाती थी। वे प्राय: कहा करते थे कि बिजलीका बटन दबाते ही उसकी जो लहर दौड़ पड़ती है और उससे जो प्रकाश होता है, उसका स्रोत कहीं दूर बने हुए बिजलीघरमें है। बिजलीघर वह भगवान है और हम सबकी स्थिति भिन्न-भिन्न बत्तियोंके समान है। स्विच ठीक हुआ कि हम सबमें सहसा ही प्रकाश का संचार हो जाता है।

वे किसी व्यक्ति-विशेष अथवा पदार्थ-विशेषको परमात्मा मानकर पूजनेके सर्वथा विरुद्ध थे! उनका कहना यह था कि जिस पूर्ण व्यक्तिमें परमात्माकी कल्पना की जाती है, वह परमात्मा नहीं हो सकता; केवल उसकी प्रतिमा ही हो सकती है। मूर्त्तिपूजामें निहित भावना यही है कि हम उसको परमात्मा नहीं किन्तु परमात्माकी केवल प्रतिमा मानकर पूजते हैं।

उन्होंने सहिष्णुताका भी निरन्तर उपदेश दिया। जोर जबर्दस्ती तथा बलात्कार उनकी दृष्टिमें धर्मके विरोधी थे। धर्मको साधनाका विषय मानते हुए विभिन्न सम्प्रदायों को वे साधन मात्र मानते थे। एक मनुष्य मुसलमान, ईसाई अथवा बौद्ध होते हुए भी पूर्ण हो सकता है; क्योंकि एक ही बिजली घरको जोड़नेवाले अनेक तार हो सकते हैं और एक ही शहरको जानेवाली अनेक सड़कें भी हो सकती हैं। इसी आधारपर वे सहिष्णुताका प्रतिपादन किया करते थे।

वे सार्वभौम धर्मका प्रतिपादन करते हुए यह कहा करते थे कि वह विध्वंसात्मक नहीं, निर्माणात्मक है। उसको प्राप्त करनेका मार्ग यह नहीं है कि किसी एक धर्मको अपनाकर दूसरोंकी निन्दा की जाय। हर एक धर्ममें अपना-अपना दर्शन, पुराण और कर्मकाण्ड है। सबका अपना-अपना महत्व है। फिर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्योंके स्वभाव भी भिन्न-भिन्न हैं? कोई विचारक अथवा दार्शनिक है, तो दूसरा भक्तिवादी, तीसरा रहस्यवादी और चौथा कर्मकांडी हो सकता है। इसीलिए योगके ध्यानयोग, राजयोग, हठयोग, भक्तियोग, और कर्म योग आदि कितने ही भेद बताए गए हैं। लक्ष्य सबका एक ही है और वह है आत्माकी प्राप्ति।

समाज-सुधारके सम्बन्धमें भी उनके विचार बिलकुल स्पष्ट थे। उन्होंने धर्मान्धता, रूढ़िवाद और मिथ्या-विश्वासोंको दूर करनेपर पूरा जोर दिया। वे लोगोंके कूप-मंडूक न बने रहकर खुली आँखोंसे दुनियाको देखनेके लिए कहा करते थे। पीछेकी ओर न देखकर आगे बढ़नेके लिए प्रेरित किया करते थे। वे कहा करते थे कि जीवन प्रगतिशील है और आजका हमारा जीवन पिछली अनेक सदियोंमें की गई प्रगति एवं विकासका परिणाम है। उनका यह भी कहना था कि समाज-सुधारका कार्य आम जनताके जीवनसे प्रारम्भ होना चाहिए। उसको केवल कुछ ऊँचे लोगों तक सीमित रखनेसे कोई लाभ नहीं मिल सकता। पिछली एक सदीमें किए गए समाज सुधारके कार्यको वे केवल शोभाकी वस्तु कहा करते थे; क्योंकि उनकी दृष्टिमें उसका सम्बन्ध केवल उच्च वर्णके लोगोंके साथ था और आम जनता तक उसकी पहुँच नहीं हो सकी थी, उनका यह भी कहना था कि ये सुधार केवल विदेशियोंके सामने बन ठन कर आनेके लिए किए जाते हैं। ये वास्तविक सुधार नहीं हैं, समाज-सुधारका आधार उनकी दृष्टिमें विदेशियोंकी नकल करना न था; अपितु वे राष्ट्रीय जीवनको उसका आधार बनाना चाहते थे। अपने जीवनमें विदेशी जीवनकी कलमें लगाना उनको बिलकुल भी पसन्द न था। वे यह भी कहा करते थे कि जो दूसरोंके लिए अमृत है, वह हमारे लिए विष हो सकता है। उनकी सामाजिक संस्थाएँ आचार, विचार, रहन, सहन आदि उनके लिए उत्तम है; परन्तु हमारे लिए वह ग्राह्य नहीं है। वर्तमान जात-पांतके सम्बन्धमें उनका कहना यह था कि ब्राह्मणोंको नीचे गिरानेकी अपेक्षा स्त्रीको उनके धरातलमें ले आना चाहिए। ब्राह्मणोंके एकाधिकारके दिन लद गए। संस्कृतके अध्ययनका वे सबको समान रूपसे अधिकारी मानते थे। उनका कहना यह था कि हर जातिको अपनेको ब्राह्मण घोषित करके संस्कृतका अध्ययन शुरू कर देना चाहिए और अपनी सामाजिक-प्रतिष्ठा उनके समान बना लेना चाहिए। ब्राह्मणोंको वे अपनी अंध-धारणाओंसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा दिया करते थे और कहा करते थे कि अपनेको ऊँचा माननेवालोंको अपने ही हाथोंसे अपनी उच्चताकी क़ब्र खोद डालनी चाहिए। वे जितनी जल्दी ऐसा कर सकेंगे, उतना ही उनका भला है।

वर्तमान शिक्षाप्रणालीके भी वे विरुद्ध थे। उनका कहना यह था कि यह शिक्षा मानव और उसके चरित्रका निर्माण नहीं करती। यह ऐसी निषेधात्मक शिक्षा है कि उससे तो मृत्यु कहीं अधिक अच्छी है। शिक्षाका अर्थ अपने दिमागमें सब तरहकी जानकारी भरकर उसको वाटरलूकी लड़ाईका मैदान बना लेना नहीं है। जीवन-निर्माण चरित्र-निर्माण और मानव-निर्माण उसका लक्ष्य होना चाहिए, जिसका कि उसमें सर्वथा अभाव है। सारे पुस्तकालयको दिमाग़में भर लेनेसे किन्हीं भी पाँच बातोंको लेकर अपने जीवनका निर्माण कर लेना कहीं अधिक सच्ची शिक्षा है। उनका यह भी कहना था कि हमारी इस समयकी हालत बिलकुल पशुओंके समान है और समाजके चाबुकका हमपर नियंत्रण है। हमारी नैतिकताका आधार पुलिस है। यदि कहीं समाज और पुलिसका भय न हो तो कौन सा ऐसा कुकर्म है जिसको करनेमें हम न लग जायँ।

अमरीकामें अपने व्याख्यानोंमें में वे प्राय: यह कहा करते थे कि "मेरे देशवासियोंको तुम्हारे धर्मकी आवश्यकता नहीं है। रोटीकी आवश्यकता है और तुम रोटी न देकर उनको पत्थर दे रहे हो।" अपने देशवासियोंसे वह कहा करते थे कि "हमारी कोमलता ने हमें रूईका गाला बना दिया है। अब हमारे देश और जातिको जिन चीजोंकी जरूरत है, वह हैं—लोहेके हाथ-पैर फौलादके पुट्ठे और दृढ़ संकल्प शक्ति, जिसको दुनियाकी कोई शक्ति रोक न सके।" अपने देशके सुधारकोंके सम्बन्धमें उनका यह कथन कितना प्रेरणादायक था कि "क्या भारतमें कभी सुधारकोंकी कमी रही है? क्या कभी तुमने भारतका इतिहास पढ़ा है? रामानुज कौन थे? शंकर कौन थे? नानक कौन थे, ? चैतन्य कौन थे? दादू कौन थे? क्या रामानुज नीची जातियोंकी ओर से लापरवाह थे? क्या वह आजीवन इस बातका यत्न नहीं करते रहे कि चमारों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करलें? क्या उन्होंने मुसलमानोंको अपनी मंडली में मिलानेकी कोशिश नहीं की थी? क्या गुरु नानकने हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों को मिलाकर एक बनाना नहीं चाहा था? इन सब महापुरुषोंने सुधारके लिए यत्न किए, और उनका नाम अभी तक कायम है। अन्तर इतना है कि वह लोग कटुवादी न थे। उनके मुँहसे जब निकलते थे, मीठे वचन ही निकलते थे। वह कभी किसीको गाली नहीं देते थे, किसीकी निन्दा नहीं करते थे। निस्संदेह सामाजिक जीवनके इन गुरुतर और महत्वपूर्ण प्रश्नोंकी हमने उपेक्षा की है और प्राचीनोंने जो मार्ग स्वीकार किय था, उससे विमुख हो गए हैं।"

स्वदेशाभिमानसे ओत-प्रोत उनके ये शब्द प्रत्येक भारतवासीको अपने हृदयपर अंकित कर लेने चाहिए कि "प्यारे देशवासियो! पुनीत आर्यावर्तमें बसनेवालो! क्या तुम अपनी इस तिरस्करणीय भीरुतासे वह स्वाधीनता प्राप्त कर सकोगे, जो केवल वीर पुरुषोंका अधिकार है? हे वीर पुरुषो! मर्द बनो और ललकारकर कहो, मैं भारतीय हूँ। भारतका रहनेवाला हूँ। हरएक भारतवासी चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अपढ़, निर्धन, ऊँची जातिके और नीची जातिके सब भारतीय मेरे भाई हैं। भारत मेरा जीवन और मेरा प्राण है। भारतके देवता मेरा भरण-पोषण करते हैं। भारत मेरे वचपनका हिंडोला, मेरे यौवनका विलास-भवन और बुढ़ापे का बैकुंठ है।"

स्वामीजीके विचार सर्वथा मौलिक थे। वे अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी तर्कशैली कमालकी थी। दृष्टि बड़ी पैनी थी। उनका व्यक्तित्व हिमालयके समान महान, पांडित्य सागरके समान अगाध और वक्तृत्व शक्तिमें गंगाकी धाराका-सा अजस्र प्रवाह था। इसी कारण उनके तेजमय और त्यागमय जीवनमें एक विचित्र आकर्षण था। जो कि हर किसीको मंत्रमुग्ध कर लेता था। उनकी साधना व तपस्या चरमसीमापर पहुँची हुई थी। उनकी सच्चाई और ईमानदारी संदेहसे सर्वथा रहित थी। उनका चरित्र स्फटिक मणिके समान पवित्र था। उन्होंने अपना सर्वस्व अपने देश और मानव-समाज की सेवामें अर्पित कर दिया था। उनका तेजस्वी जीवन और ओजस्वी विचार आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। सामाजिक जड़ता तथा धार्मिक मूढ़ता को दूर

करनेका उन्होंने वैसे ही प्रयत्न किया जैसे किसी तालाबके सड़े हुए पानीको साफ किया जाता है। ऐसे आदर्श एवं महान जीवनका केवल ४० वर्षकी आयुमें अंत हो गया। महापुरुषोंके जीवनकी ज्योति के इतनी जल्दी बुझ जानेके सम्बन्धमें उन्होंने स्वयं ही एक बार कहा था कि "उनका जीवन उस मोमबत्ती जैसा होता है, जो दोनों ओरसे जलती और जल्दी ही समाप्त हो जाती है।"

श्रीमती निर्मलारानी तनेजा

श्रीस्वामी रामतीर्थ

"बाहरी रीति-रिवाज पूरा करना, तीर्थयात्रा करना, ब्राह्मणोंको दान देना, मंदिर, स्कूल, अस्पताल, आदि बनाना धर्म नहीं है। सिर्फ पूजा-पाठमें ही समय बिताना धर्म नहीं है। यह सब बातें पाखंड, दिखलावा और दूसरोंको ठगनेका जरिया भी बन सकती हैं। सच्चा धर्म समाज-सेवा और सामाजिक उन्नतिमें है। जिस समाजकी जड़में कुरीतियों और सामाजिक दोषोंका घुन लगा हुआ है, वह धर्मका ठीक पालन कैसे कर सकता है। धर्म तो निःस्वार्थ-सेवा, समबुद्धि, निर्भयता और दलित तथा अत्याचारसे पीड़ितोंके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार में है। इस प्रकारके उच्च नैतिक-जीवनका अटूट आभास ही धर्मकी निशानी है।"

"जब राम अछूतोंका ख्याल करता है, तब उसका दिल बहुत दुखी हो जाता है।"

"जात-पाँतकी भावना बराबरीकी दुश्मन है और मानसिक उन्नतिको रोकती है। उपनिषदों और वेदान्तकी शिक्षा बहुत अच्छी है, पर आज कलके हिन्दू तो क्या खायँ, कैसे खाएँ, क्या पहिनें—इत्यादिके दलदलमें ही फँसे हुए हैं। हिन्दुओंमें गायकी पूजा का भाव भी अक्लकी सीमासे गुजर चुका है।"

ये धार्मिक और सामाजिक क्रांतिकारी शब्द १९ वीं और २० वीं सदीके संधिकालमें भारतमें हुए एक महान सुधारक स्वामी रामतीर्थ के हैं, जिन्होंने १९०२ से १९०४ तक जापान अमेरिका और मिश्रकी यात्राके बाद भारत वापस आनेपर कहे थे। शिकागोके सर्वधर्म-सम्मेलनमें आप भारतके प्रतिनिधि बनकर गये थे। स्वामी विवेकानन्दके बाद आप दूसरे संन्यासी थे, जो भारतीय व संस्कृति विद्या और आध्यात्मिक ज्ञानका प्रचार करनेके लिए विदेशोंमें गए। अमेरिकाके प्रमुख नगरोंमें आपके व्याख्यानोंकी धूम मच गई थी। आपके युक्तिसंगत प्रभावोत्पादक और तर्कपूर्ण भाषणोंका अमेरिकी जनतापर गहरा प्रभाव पड़ा। वहाँकी भौतिकवादी जनता वेदान्त और आध्यात्मिक तत्वोंकी ऐसी विशद, हृदयग्राही और दैनिक जीवनमें कार्यान्वित की जा सकने वाली व्याख्या सुनकर दंग रह गई।

अमेरिका जाते हुए स्वामी रामतीर्थ जापान भी दो सप्ताह तक ठहरे थे। आपको जापानकी तीन चीजोंने सबसे अधिक प्रभावित किया। आपने अपने प्रिय शिष्य प्रोफेसर पूर्णसिंहको एक पत्रमें लिखा—

"जापानकी तीन बातें विशेष तौरपर जिक्र करने योग्य हैं। एक तो यह कि वहाँ दस्तकारी ऊँचे दर्जेकी थी। बड़ी-बड़ी मिलोंके अलावा घरेलू धंधे इतने विस्तृत पैमाने पर थे कि मानो हर घर कारखाना बन गया था। पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे अपने हाथों से बड़े शौकसे काम करते थे। वे हम भारतीयोंकी तरह सुस्त नहीं हैं और न ही शारीरिक मेहनतसे दूर भागते हैं। दूसरी बात यह है कि वहाँ धार्मिक पागलपन नहीं। उन्हें ऐसी बातोंपर झगड़ा करनेकी फुरसत नहीं। भारतमें तो लोग निकम्मी बहसमें बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। तीसरी बात यह कि जापानी फूलोंसे बहुत ही प्यार करते हैं।"

भगवे कपड़े का त्याग

इस विदेश यात्रासे स्वामीजीके विचारोंपर गहरा प्रभाव पड़ा। देशकी परतंत्रता और सामाजिक कुरीतियोंको देखकर हृदयमें बड़ी ग्लानि हुई। भगवे कपड़ोंकी आड़ में होनेवाले पापोंको देखकर वह बड़े उद्विग्न हुए और एक दिन पूर्णजीसे बोले—

"रामको यह कभी मालूम न था कि यह भगवे-कपड़े इस देशमें अब आजादीकी निशानी नहीं रहे। गुलामोंने भी भगवे कपड़े पहनना शुरू कर दिया है। यह ऐसी दिखलावेकी चीज बन गई है कि अब जी नहीं चाहता कि इन्हें पहनूं। आजादीकी पोशाक न होनेसे मैं इन भगवे कपड़ोंको एक आम सभामें फाड़ डालूंगा।"

इस निश्चयके अनुसार स्वामी रामने भगवी पोशाकका त्याग कर दिया।

स्वामी राम के समाज का स्वरूप

स्वामी रामतीर्थ एक ऐसे भारतका स्वप्न देखते थे जिसमें जात-पांत, ऊँच-नीच और छूत-अछूतकी विषमता न हो, जहाँ बाल विधवाएँ न हों और जहाँ स्त्री-पुरुषके बीच सर्वथा समानता हो। आपने एक व्याख्यानमें कहा था—

"जब तक भारत सामाजिक दोषोंसे मुक्ति नहीं पाता है, तब तक वह विदेशी शासनसे भी छुटकारा नहीं पा सकता है। वही समाज उन्नत है, जिसमें निर्धन बच्चे और स्त्रियाँ सुखी हैं। समाजके यह तीनों अंग उसकी उन्नतिके माप-तौल हैं। भारतमें विभिन्न आन्दोलन इसीलिए विफल हुए क्योंकि समाजकी इन जड़ोंको ठीक प्रकार सींचा नहीं गया। देशभक्तोंकी ताकत समाजके ऊपर के अंश राजा, अमीर-उमराव जमींदार इत्यादिकी सेवामें ही खर्च हुई। यह तो समाजके पत्ते और शाखाओंके समान ही हैं।"

स्वामी रामके निम्नलिखत शब्द कितने सारपूर्ण हैं –

"किसीको बढ़िया दान देना हो, तो उसे ज्ञानका धन दान करो। तुम किसीको आज खाना खिला दो, कल फिर वह वैसा ही भूखा होगा। उसे कोई हुनर सिखा दो वह उम्र भरके लिए रोटी कमाने लायक हो जाएगा।"

"पहले जाओ गरीब, पतित, दलित, अछूत और अज्ञानियोंकी सेवा करो। फिर आकर मुझसे वेदान्तपर बहस करना।"

"ब्राह्मणोंने शूद्रोंपर अत्याचार किये इसीका फल यह अछूत हैं। गीता और वेदान्त को माननेवाले हिन्दुओंके माथेपर यह कलंक ही है।"

स्वामी रामतीर्थ धर्मकी आड़में, निरर्थक रीति-रिवाज और रूढ़ियोंके कट्टर विरोधी थे। यद्यपि उनका जीवन, अधिकांश, भक्तिमय और ब्रह्म-साधना तथा वेदान्त-चर्चामें

लगता था, पर हिन्दू समाजमें घर किए हुए दोषोंके निराकरण में आप किसीसे पीछे नहीं थे। धर्ममें दम्भ और छल-कपटके और किसी पुस्तक-विशेषको ही ज्ञानका एकमात्र स्रोत माननेके स्वामी राम कट्टर विरोधी थे। आप अनुभव और स्वतंत्र विचारको प्राथमिकता देते थे। आपके व्याख्यान-संग्रहमें निम्नलिखित शब्द बड़े मार्केके हैं—

"जो बात हमने अपने अनुभवसे आजमाकर देखली है, उससे बढ़कर और क्या सबूत हो सकता है? भारतकी बेबसी और गिरावटकी वजह यह है कि यहाँ लोग जीवनके अनुभवसे लाभ उठानेके बजाय पुरानी पुस्तकोंकी व्याख्याके दास बन गये हैं। धर्म-शास्त्रोंमें सच्चाइयाँ भरी पड़ी हैं लेकिन वह सबकी सब तब तक बेकार हैं, जब तक कि हम उनकी छान-बीन न करलें और निजी अनुभवसे उनके सत्य होनेकी गवाही न दे दें।"

"भारतमें विचारोंकी स्वतंत्रता एक महापाप माना जाता है। जैसे बन्दरी मरे हुए बच्चेको चिपटाए रहती है, ऐसे ही भारतवासी निर्जीव, भ्रान्त और निरर्थक सामाजिक रीति-रिवाजोंको चिपटाए हुए हैं। हम यही समझते हैं कि जो कुछ मुर्दा भाषासे आता है, वही पवित्र है।"

"अपनेको धार्मिक कहनेवाले लोग न अपनी आँखोंसे देखते हैं, और न ही अपने कानों से सुनते हैं। अपनी बुद्धिको तो वह धार्मिक बातोंमें इस्तेमाल करते ही नहीं। वह धर्म, जिसका आधार किसी औरकी गवाहीपर निर्भर हो, धर्म ही नहीं। सत्य वही है जिसका आधार तुम्हारी अपनी गवाही पर हो।"

"समाज ऐसा हो, जो युक्तिहीन और ऊटपटांग नियमोंकी कैदमें न हो।"

"किसीपर अपने विचार ठूसना मूर्खता है क्योंकि अगर आजादीकी हमें जरूरत है, तो दूसरोंको भी उन्नतिके लिए मानसिक स्वतंत्रता चाहिए। हर नर-नारीका यह अधिकार है कि वह किसी दूसरेके सत्यको स्वीकार करे या न करे और अपने अनुभवोंसे सीखे।"

गिरावट के कारण

देशकी गिरावटके कारणोंपर प्रकाश डालते हुए स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—

"भारतके लोगोंमें उद्योगसे घृणा पाई जाती है। धार्मिक विश्वास और जात-पाँतके आधारपर फिरके देखे जाते हैं। विदेश-यात्राको बुरा समझा जाता है। बचपन में शादी हो जाती है। स्त्रियोंको अज्ञानतामें रखा जाता है। इन बातोंसे साफ प्रकट होता है कि लोगोंमें अक्लकी कमी है। सुधारका काम करनेसे लड़ाई होगी। लकीर के फकीर होना और अपनी आँखोंपर पट्टी बाँधकर चलना मौतकी राह है।.... एक औसत दर्जेके हिन्दुस्तानी घरका ख्याल करें। आमदनी कम है पर हर साल नया बच्चा घरमें आ जाता है, जिसे पालना होता है। साथ ही बेकार रीति-रिवाजोंपर सामर्थ्यसे ज्यादा खर्च करना पड़ता है। यह जहरीला नियम भुला दो—कि ब्याह करो, अज्ञानतामें सन्तान पैदा किए जाओ और गुलामीमें मरो। पति पत्नीका संबंध सबसे पवित्र है। पर हम बेपरवाहीसे इस अति पवित्र कर्त्तव्यको गंदा बना लेते हैं और बड़ी संख्यामें कमजोर और नालायक बच्चे पैदा कर देशकी आबादीको बढ़ाते हैं। इन अंधाधुन्ध छोटी आयुकी शादियोंको बन्द कर देना चाहिए। इन छोटी आयुकी शादियोंसे ही विधवाएँ बनती हैं, जो हिन्दू समाजका एक और कोढ़ है।"

"हिन्दुओंमें भोजनके प्रश्नपर हद से ज्यादा जोर दिया जाता है। हिन्दू धर्मको इसीलिए कुछ लोग तानेमें रसोईका धर्म कहते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी रामतीर्थ भारतके एक प्रमुख समाज-सुधारक थे। आध्यात्मिक उन्नतिके शिखरपर पहुँचकर भी वह समाजमें प्रचलित दोषोंकी उपेक्षा नहीं कर सके। इनके निवारणके लिए वह सदा प्रयत्न करते रहे।

प्रारम्भिक जीवन

आपका जन्म जिला गुजरांवाला (अब पश्चिमी पाकिस्तानमें) के मुरालीवाला ग्राममें २२ अक्टूबर सन् १८७३को गोस्वामी हीरानन्दके घर हुआ था। माताका बचपनमें ही देहान्त हो गया था। उस समय आपका नाम तीर्थराम था। धार्मिक कथाओंमें आपकी विशेष रुचि थी। पिता निर्धन थे और अधिक पढ़ानेमें असमर्थ थे। तीर्थराम बड़ा कुशाग्रबुद्धि परिश्रमी और तपस्वी बालक था। मैट्रिक पास करनेके बाद अपने ही पैरोंपर आप खड़े होकर लाहौरके मिशन कालेजसे गतिणमें एम० ए० पास किया। वहाँ आपने अत्यन्त कष्टसे दिन गुजारे पर अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं हुए। बी० ए० में प्रथम रहे, जिससे आपको वजीफा मिलने लगा। एम० ए० में भी पंजाब विश्वविद्यालयमें प्रथम रहे। उसी कालेजमें गणितके प्राध्यापक हो गए।

२ वर्षकी आयुमें ही आपकी सगाई हो गई थी और १० वर्षकी आयुमें विवाह हो गया। पिताने दूसरा विवाह करके आपकी उपेक्षा बचपनसे ही करदी थी। पर आप अपने वजीफे और वेतनमें से सदा माता-पिताकी सेवा करते रहे।

आपका जीवन प्रारम्भसे ही वैराग्यपूर्ण था। स्वामी विवेकानन्द लाहौर आये थे। उनके सत्संगसे आपपर गहरा प्रभाव पड़ा। १९०१ में २८ वर्षकी आयुमें आपने संन्यास ले लिया और तीर्थ रामसे रामतीर्थ बन गये। १९०२ में शिकागो और टोकियोमें विश्व-धर्म-सम्मेलनमें गए। संन्यास लेकर आप उत्तराखंडकी गुफाओं में ही ध्यानमग्न रहते थे। महाराजा टिहरीकी विशेष प्रेरणापर आप इन विश्व-धर्म-सम्मेलनोंमें भारतकी ओरसे गए। विदेशोंमें आपके भाषणोंका गहरा प्रभाव पड़ा।

अब आप ऋषिकेशमें आश्रम बनाकर रहने लगे और साथ ही सारे देशमें प्रचार-यात्रापर भी जाते। आपके भाषण बड़े मधुर, अनुभूतिपूर्ण और हृदयस्पर्शी होते थे। हजारोंकी संख्यामें जनता मंत्रमुग्ध हो आपके भाषण सुनती। देशमें सर्वत्र आपके उपदेशों और व्याख्यानोंकी धूम थी।

आश्रममें आप कई दिन तक अस्वस्थ रहे। स्वास्थ्यमें तनिक सुधार होते ही आपने गंगामें जाकर स्नान करनेका निश्चय किया। १७ अक्टूबर १९०९को दीवालीके दिन ऋषिकेशमें गंगा-स्नान करते हुए आपका पैर फिसल गया और आपका शरीर गंगाकी जलधारामें ही विलीन हो गया।

आपकी इच्छा ऋषिकेषसे ऊपर किसी एकान्त और रम्य स्थानमें प्रकृतिकी गोदमें वेदान्तके लिए अंतर्राष्ट्रीय संस्था कायम करनेकी थी। उसीका स्वप्न देखते हुए आप इस संसारसे अकस्मात ही विदा हो गए।

पं० श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

सुधार-क्षेत्रमें आर्य्य-समाज

सुधारके क्षेत्रमें महर्षि दयानन्द द्वारा प्रवर्त्तित आर्यसमाजकी जो विशिष्ट देन है, उसका इस लेखमें दिग्दर्शन करानेसे पूर्व उस समयकी धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति का निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है।

वैसे तो महाभारत युद्धसे लगभग १ हजार वर्ष पूर्वसे आर्यावर्तकी अवनति प्रारम्भ हो गई थी। वेदादि सत्य शास्त्रोंकी शिक्षाको क्रियात्मक रूप देने और जीवनमें परिणत करनेकी ओर लोगोंका पर्याप्त ध्यान न रहा था, ईर्ष्या द्वेष तथा पारिवारिक कलहोंसे हमारा यह पवित्र देश रसातलमें जा रहा था, किन्तु महाभारतके पश्चात् तो भयंकर अन्धकारयुग प्रारम्भ हो गया। एक सत्य-सनातन-सार्वभौम-वैदिक धर्मके स्थानमें सैंकड़ों मतमतान्तर चल पड़े। एक पर-मेश्वरके स्थानपर सैंकड़ों पौराणिक देवी-देवताओं, स्वार्थी गुरुओं और मूर्तियोंकी पूजा प्रारम्भ हो गई। वैदिक अध्वरों अर्थात् अहिन्सात्मक यज्ञोंके स्थानपर घोर हिंसात्मक यज्ञ प्रारम्भ हो गए जिनमें घोड़ों, बकरों,भेड़ों तथा अन्य पशुओं यहाँ तक कि गौओंकी बलि कल्पित देवताओंकी तृप्तिके लिए दी जाने लगी। गुण कर्म स्वभावपर आश्रित वेदोक्त चार वर्णोंका स्थान जन्म पर आश्रित हज़ारों जाति उपजातियोंने ले लिया जिससे आर्योंका संगटन छिन्न-भिन्न हो गया। सर्वत्र परस्पर घृणा, ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोधका ताण्डव नृत्य दीख पड़ने लगा। शूद्र कुलोत्पन्न सब पुरुषों और सभी स्त्रियोंकी ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंकी वेदोक्त मर्यादा सर्वथा लुप्त हो चुकी थी और बाल-विवाह, बद्ध-विवाह, विषम-विवाह, बहु-विवाह आदि कुरीतियोंने प्रचार पा लिया था। दो तीन वर्ष तक की कन्याओंके विवाहको धर्मशास्त्रियोंने धर्मानुमोदित और रजस्वला विवाहको सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध और घोर पाप रूप घोषित कर दिया था। ब्रह्मचर्यकी प्रथा लुप्तप्राय हो जानेसे शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियोंका ह्रास हो रहा था और विधवाओंकी संख्या दिन प्रति दिन बढ़ रही थी। छुआ-छूतका भयंकर रोग सर्वत्र फैला हुआ था और लगभग ६ करोड़ व्यक्तियोंको सदाके लिए अस्पृश्य वा अछूत कह कर सवर्ण लोगोंने अपनेसे घृणापूर्वक सर्वथा पृथक कर रखा था। स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें हिन्दुओंका धर्म Kitchen Religion अथवा रसोईका धर्म रह गया था। मांस, शराब, अफीम, गांजा तथा अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करते और व्यभिचार करते हुए कोई भी आदमी जातिमें अपनी प्रतिष्ठा बनाये रह सकता था पर चौकेसे बाहर अथवा अन्य जातिके लोगोंके साथ एक पंक्तिमें बैठकर खानेपर उसे जातिसे

बहिष्कृत कर दिया जाता था। इस प्रकार जातिसे निकालनेके सब द्वार हिन्दुओंने खोल रखे थे पर किसीको अपनेमें मिलानेकी प्रवृत्ति उस समयके हिन्दुओंमें न थी। वेद-शास्त्रोंका स्थान अधिकतर पुराणों और तन्त्रोंकी साम्प्रदायिक तथा अनेक अंशोंमें कुत्सित शिक्षाने ले लिया था और बड़े-बड़े धुरन्धर संस्कृतके विद्वान् भी वेदोंके अर्थोंको समझने में असमर्थ थे। ऐसी शोचनीय धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति थी जब आर्य-समाज केप्रवर्तक वैदिक धर्मोद्धारक महर्षि दयानन्दने कार्यक्षेत्रमें पदार्पण किया। चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था।

अन्य आचार्य और सुधारक

मेरे कथनका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि महर्षि दयानन्दसे पूर्व संस्कृतके धुरन्धर विद्वान् आचार्य तथा सुधारक—महाभारतके पश्चात्‌के अन्धकारयुगमें हुए नहीं थे। श्री शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, (स्वा० आनन्द तीर्थ) वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि कई सुप्रसिद्ध आचार्य इस मध्य युगमें हुए जिन्होंने प्रस्थानत्रयी (वेदान्तशास्त्र, उपनिषदों और गीता) पर अपने-अपने सम्प्रदायकी दृष्टिसे भाष्य किये किन्तु, दुःख इस बातका है कि इनमेंसे मूल वेदोंकी ओर श्री मध्वाचार्य, स्वामी आनन्दतीर्थको छोड़कर अन्योंका ध्यान बहुत कम गया और वे भी अपने समयके पौराणिक विचारों तथा वैष्णव साम्प्रदायिक विचारोंसे बहुत अधिक प्रभावित रहे। बाल्य-विवाह, वृद्ध तथा विषम-विवाह, जन्मसिद्ध जातिभेद, बाधित-वैधव्य, दहेज-प्रथा इत्यादि कुप्रथाओंके विरुद्ध इन आचार्योंने कोई प्रबल आन्दोलन किया हो ऐसा इतिहाससे प्रतीत नहीं होता। अद्वैत-वाद, विशिष्टाद्वैत, द्वैतवाद और शुद्धा द्वैतवाद इत्यादि दार्शनिक वादोंके समर्थन और विरोधी मतोंके खण्डनमें ही अधिकतर ये आचार्य लगे रहे। प्रायः ऐसे ही विचार अन्य मध्यकालीन आचार्यों और कबीर, तुलसीदास, आदि साधु सन्तोंने प्रकट किये। मध्यकालीन सन्तों से स्वामी रामानन्दजीके शिष्य कबीरजी और गुरु नानकजी आदिकी गणना सुधारकोंमें में की जासकती है क्योंकि इन लोगोंनें मूर्त्तिपूजा, तीर्थयात्रा, मृतक-श्राद्ध और तर्पण, जाति-भेद आदिका प्रबल खण्डन करके समाजमें प्रचलित अंधविश्वासोंको दूर करनेका प्रशंसनीय प्रयत्न किया किन्तु इनके सुशिक्षित विद्वान न होनेके कारण शिक्षित मण्डलीपर उनका प्रभाव न पड़ा। सर्वसाधारण उनकी वाणियोंसे अवश्य प्रभावित हुए।

गत शताब्दी का अंग्रेजी शिक्षित सुधारक

उन्नीसवीं शताब्दीमें भी कई सुधारक हुए जिनमें ब्राह्म-समाजके प्रवर्तक राजाराम मोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर श्री राजनारायण बोस, श्री केशवचन्द्र सेन आदिका नाम विशेष उल्लेखनीय है। राजा राममोहन रायने क्रूर सती-प्रथाको क़ानून द्वारा बन्द करवाकर विशेष ख्याति प्राप्त की। जाति-भेद, बाधित वैधव्य, बहुविवाह, मूर्ति-पूजादि कुरीतियों कुप्रथाओं और अन्धविश्वासोंके विरुद्ध भी उन्होंने आन्दोलन किया किन्तु खेदकी बात यह है कि वे पाश्चात्य संस्कृति, सभ्यता और भाषासे अत्यधिक प्रभावित होकर उन्हींके प्रवाहमें स्वयं इतना बह गये कि संस्कृत शिक्षाके प्रोत्साहनके विरुद्ध सरकारको आवेदन पत्र देकर उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा पद्धतिको देशमें प्रचलित करानेमें उत्साहपूर्वक भाग लिया।

ऐसी अवस्थामें श्री राजाराममोहन राय श्री केशवचन्द्र सेन तथा उनके अनुयायियों द्वारा यद्यपि समाज-सुधारका कुछ कार्य हुआ जिसके लिये वे प्रशंसाके पात्र हैं किन्तु पाश्चात्य सभ्यता और ईसाइयतकी ओर उनका अधिक झुकाव होनेके कारण आर्य सभ्यता और प्राचीन पवित्र आर्य धर्मोंका उद्धार करनेमें वे असमर्थ रहे।

महर्षि दयानन्दको अंग्रेज़ी शिक्षित युवक वर्गकी अपने देशकी सभ्यताको तिलांजलि देकर पाश्चात्य सभ्यताके प्रवाहमें बहते जाना और समाजसुधार तथा स्वतंत्रताके नामकी दुहाई देकर उनका अन्धाधुन्ध अनुसरण बहुत बुरा लगा। उन्होंने इस नवशिक्षित वर्गके अन्दर स्वदेशभक्तिकी न्यूनता और पाश्चात्योंकी मानसिक दासताको तीव्रतासे अनुभव करते हुए बड़े दुःखके साथ लिखा 'जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाजियों ने ईसाई मतमें मिलनेसे थोड़े मनुष्योंको बचाया और कुछ पाषाणादि मूर्तिपूजाको हटाया, अन्य जालग्रंथोंके फन्देसे भी कुछ को बचाया, परन्तु इन लोगोंमें स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयोंके आचरण बहुतसे लिये हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्दको सत्यके एक वीर सैनिकके रूपमें चौमुखी लड़ाई लड़नी पड़ी। एक ओर जहाँ मूर्त्ति-पूजा, मृतक-श्राद्ध और तर्पण, यज्ञादि में पशुहिंसा,जन्मसिद्ध जाति-भेद,अस्पृश्यता पाप मिटानेके उद्देश्यसे तीर्थयात्रा बाल्य विवाह विषम-विवाह, पर्दा और दहेजकी प्रथा, बाधित-वैधव्य आदि धार्मिक और सामाजिक मिथ्या विश्वासों तथा कुप्रथाओंके विरुद्ध उन्हें प्रबल आन्दोलन करना पड़ा वहाँ दूसरी ओर जो उस समयका अंग्रेजी शिक्षित वर्ग प्राचीन आर्य सभ्यताके प्रवाहमें बहता जा रहा था तथा मांस मद्य सेवनादिको उच्च सभ्यताका चिन्ह समझकर कल्पित समाज-सुधार में तत्पर था उसका भी उन्हें विरोध करना पड़ा। ईसाई मुसलमान आदि जो विधर्मी भारतीयोंको अनेक प्रलोभन देकर तथा उनकी आन्तरिक त्रुटियोंका लाभ उठाकर अपने जालमें फँसानेका दिन-रात प्रयत्न कर रहे थे उनका भी महर्षिको डटकर मुकाबला करना पड़ा।

महर्षि दयानन्दने मृतप्राय आर्य जातिमें नव जीवनका संचार कर दिया, इसको सभी स्वीकार करते हैं यद्यपि कईयोंका सैद्धांतिक विषयोंमें उनसे मतभेद भी हो सकता है। दलितोद्धार और अस्पृश्यता-निवारणका कार्य आर्य-समाजके अतिरिक्त अन्य कुछ संस्थाओं ने भी किया। जगद्वन्द्य महात्मा गान्धीजीके नेतृत्वमें इस विषयमें जो कार्य हुआ उसको कभी भुलाया नहीं जा सकता किन्तु दुःखकी बात यह है कि हरिजनोंकी एक पृथक जाति सी बन गई है जिसको विशेषाधिकार प्राप्त है। विधानसभाओं, लोक-सभा और राज्य-सभा इत्यादिमें सर्वत्र इसका पृथक प्रतिनिधित्व है। ये लोग इस प्रकार हिन्दुओंमें घुल-मिलकर एक नहीं हो गए किन्तु उनकी एक पृथक सत्ता सर्वत्र दिखाई देती है, जो एकतामें साधक नहीं, बाधक ही है। महर्षि दयानन्दजी और उनके पीछे स्वामी श्रद्धानन्दजी, लाला लाजपतरायजी आदि के नेतृत्वमें अस्पृश्यताको पूर्णतया समाप्त करनेका कार्य किया गया। उन्हें आर्योंमें सर्वथा समानताके आधारपर सम्मिलित कर लिया गया। गुरुकुलादिमें जब उनके बालक प्रविष्ट हुए, तो किसी प्रकारका भेद-भाव न रखा गया, न किसीको उनकी जन्मगत जातिका ज्ञान तक होने पाया। उनमेंसे अनेकोंने विद्यालंकार, वेदालंकार आदिकी उपाधियाँ प्राप्तकर समाजमें अन्योंके समान, बल्कि उनसे

भी बढ़कर गौरव प्राप्त किया। यह आर्यसमाजकी इस क्षेत्रमें विशिष्ट देन है जिसकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेदोंको पढ़ने, पढ़ाने, यज्ञों और संस्कारोंके करने कराने आदिके सब अधिकार उनको प्राप्त हो गये। उनमें हजारों पण्डित और पुरोहित उपदेशक आदि प्रतिष्ठित पदोंको प्राप्त हुए और अब भी हो रहे हैं।

जाति-भेदके निवारणके सम्बन्धमें भी आर्य-समाजकी एक विशिष्ट देन है जो उल्लेखनीय है। अन्य सुधारकोंने भी जातिभेदके विरुद्ध आन्दोलन किया। किन्तु उनको वह सफलता प्राप्त न हो सकी जो आर्यसमाजको इस क्षेत्रमें प्राप्त हुई। आर्यसमाजके कार्यकर्ताओंने यज्ञोपवीतको ब्राह्मण जातिका चिन्ह नहीं समझा अपितु शरीर, वाणी और मनकी पवित्रता, शारीरिक मानसिक, और आत्मिक शक्तियोंका विकास, ज्ञान, कर्म और भक्ति तथा उनके प्रतिपादक वेदोंके अध्ययनका चिन्ह समझकर उसे स्वयं धारण किया तथा अस्पृश्य कहे जाने वाले नर-नारियोंको भी आर्य धर्मकी दीक्षा देकर धारण करवाया। इससे जात्यभिमानकी भावनाको सर्वथा समाप्त करनेका आर्यसमाजने अत्यन्त प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण कार्य किया। अन्य कुछ सुधारकोंने जातिभेदके साथ शास्त्रीय वर्णाश्रम धर्मका भी विरोध करके अपनेको सामान्य हिन्दू जनतासे पृथक् कर लिया किन्तु आर्यसमाजने जहाँ जन्मसिद्ध जाति-भेद वा जात-पाँतका घोर विरोध किया और उसके विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया वहाँ शास्त्रोक्त गुण कर्मानुसारिणी वर्णाश्रम व्यवस्थाका उन्होंने प्रबल समर्थन किया और उसे कार्य रूपमें परिणत करनेका सदा प्रयत्न किया। जात-पांत-तोड़क-मण्डल और जाति-भेद निवारक आर्य-परिवार संघ द्वारा जहाँ युवकों और युवतियोंको जान बूझकर जात पाँत तोड़कर विवाह करनेकी प्रेरणा दी गई वहाँ शास्त्रीय वर्ण-व्यवस्थाका (जो केवल गुण कर्म स्वभाव पर ही आश्रित है जिसका जन्मसे कोई संबंध नहीं) मौखिक और लिखित रूप में समर्थन किया गया जिसका प्रभाव हिन्दू जनतापर भी यहाँ तक पड़ा कि काशी आदि स्थानोंकी विद्वन्मण्डलीने यह घोषणा की कि परम्परागत जन्मपरक वर्णव्यवस्थाके समान ही 'कर्मणावर्णः' का सिद्धान्त भी भारतीय आर्य हिन्दू धर्मको मान्य है (भारतीय संस्कृति सम्मेलन प्रधान कार्यालय काशी द्वारा प्रकाशित।) यह इस जाति-भेद और अस्पृश्यताके निवारणके क्षेत्रमें आर्य-समाजकी अद्भुत देन है।

बाल्य विवाहकी कुप्रथाके निवारणमें आर्यसमाजके एक उत्साही नेता, महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित परोपकारिणी सभाके मन्त्री स्व० श्री हरविलास शारदाने सन् १९३१ में बाल्यविवाह निरोधक विधान बनाकर समाज-सुधारके क्षेत्रमें अपना नाम अमर कर दिया। वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, विषम-विवाह आदि कुप्रथाओंके विरुद्ध भी आर्यसमाजने सर्वत्र आन्दोलन किये जिनसे इनके विरुद्ध प्रबल जनमत जाग्रत हो चुका है। दहेजकी घातक प्रथाके विरुद्ध जिसकी वेदीपर स्नेहलता जैसी कई कुमारियोंने अपने जीवनकी बलि देदी आर्यसमाजों और कुमार परिषदोंने प्रबल आन्दोलन करके उसे भी दूर करनेमें पर्याप्त अंश तक सफलता प्राप्त की यद्यपि अब भी इस विषयमें बहुत कुछ करना शेष है। शिक्षा-सुधारके क्षेत्रमें आर्यसमाजके मान्य नेता महात्मा मुन्शीरामने गुरुकुल खोलकर जो अद्भुत कार्य किया और शिक्षाके क्षेत्रमें एक क्रांति करके दिखाई वह सर्वविदित है। सबसे पूर्व महर्षि दयानन्दने ही आर्यभाषा (हिन्दी) को राष्ट्रभाषा

बनानेके लिये आन्दोलन किया था और गुरुकुलोंमें उसे समस्त विषयोंकी उच्च शिक्षा का भी माध्यम बनाया था जिसके महत्वको अब भारतीय संविधानमें हिन्दीको राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करके स्वीकार किया गया है। इस विषयमें अभी अधिक उत्साह और तत्परताके साथ कार्य करनेकी आवश्यकता है। संस्कृतके प्रचारका भी सर्वप्रथम और सर्वोत्तम प्रयत्न आर्यसमाजकी गुरुकुलादि संस्थाओं द्वारा ही किया गया। स्त्री-शिक्षाके लिए सर्वोत्तम प्रबन्ध आर्य कन्या पाठशालाओं और गुरुकुलोंकी स्थापना द्वारा आर्यसमाजने किया। वेदादिशास्त्रोंकी शिक्षाका उन संस्थाओंमें विशेष प्रबन्ध करके महिलाओंमें धार्मिक भावना भरने और अपनी प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृतिकी रक्षा करनेका आदर्श अपने सामने सदा रखनेका यत्न किया गया जिसके अभावमें प्राय: अंग्रेजी शिक्षित महिलाएँ पाश्चात्य महिलाओंका अन्धाधुन्ध अनुसरण करनेमें ही अपना गौरव समझती हैं।

आर्यसमाजके शिक्षाविषयक कार्यकी निम्नलिखित तालिका जो The Arya Samaj & International Aryan League Delhi सन् १९४७ में सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तिकासे ली गई है उसके एतद्विषयक कार्य पर प्रकाश डालनेमें पर्याप्त है।

बालकोंके लिये गुरुकुल	३०
कन्या गुरुकुल	१०
आर्यमहाविद्यालय	१५
बालकोंके लिये प्रारम्भिक पाठशालाएँ	१९२
,, माध्यमिक ,,	१५१
उच्च माध्यमिक ,,	२००
कन्याओंकी प्रारम्भिक पाठशालाएँ	७००
कन्या उच्च माध्यमिक विद्यालय	१०
रात्रि पाठशालाएँ	१४२
दलित विद्यालय	३२२

शिक्षा कार्यके अतिरिक्त आर्यसमाजकी संस्थाओंकी तालिका इस प्रकार है

दलितोद्धार सभाएँ	४३
शुद्धि सभाएँ	३७
प्रकाशनालय	१००
आर्य प्रेस	३०
धर्मार्थ औषधालय ,,	१४
विधवाश्रम	४१

अनाथालयोंकी संख्या इस तालिकामें नहीं दी गई किन्तु उनकी संख्या सैकड़ोंकी होगी। प्राय: प्रत्येक मुख्य आर्यसमाज के अधीन अनाथालय विद्यमान हैं। सबसे पहले महर्षि दयानन्दजीने ही फिरोजपुरमें आर्य अनाथालयकी स्थापना कराई थी जिससे पूर्व केवल ईसाइयोंके अनाथालय होते थे।

इस प्रकार समाज-सुधारके क्षेत्रमें आर्यसमाजकी बहुत बड़ी देन है।

—:०::०:—

सप्तम् खण्ड

प्रान्तीय सुधार-आन्दोलन

बम्बई प्रांतमें समाज-सुधार आन्दोलन

सन् १८१८ ई०में किरकीके मैदानमें हुई मराठोंकी पराजयने, अंग्रेज़ोंको वहाँका एकमात्र शासक बना दिया और मराठा राज्य सदाके लिए विलीन हो गया। उसके बादके ४०–५० वर्षोंमें आनेवाली पीढ़ियोंने नई सत्ताके अधीन एक नई रोशनीका अनुभव किया। यह रोशनी और कुछ नहीं, अंग्रेज़ी शिक्षा थी, जो देशके नवयुवकोंको प्राप्त हुई। बम्बईके तत्कालीन गवर्नर माउन्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टनने शिक्षा-सम्बन्धी अपने १० मार्च, १८२४ के प्रतिवेदनमें अंग्रेज़ी शिक्षाके उद्देश्यको दर्शाते हुए कहा था —"हमें अंग्रेज़ी शिक्षाके द्वारा आफिसोंके लिए क्लर्क नहीं तैयार करने हैं, बल्कि भारतीयोंमें वे विशेषताएँ भरनी हैं और उस ज्ञानके दीपकको प्रदीप्त करना है, जिसके आलोकमें वे यूरपके अन्य लोगोंके समकक्ष खड़े हो सकें।" एलफिन्स्टन साहबकी इस आशाको बहुत हद तक नई पीढ़ीने साकार किया। १८५०–५१ ई० में शिक्षा-बोर्डने अपनी रिपोर्टमें कहा—"एलफिन्स्टन इन्स्टीट्यूशनके शिक्षत नवयुवकों द्वारा संचालित बालिका विद्यालय, आवश्यक ज्ञान-प्रसार सम्बन्धी, साहित्य और विज्ञानपर मातृभाषामें दिए जानेवाले भाषण आदि तथ्य ऐसे हैं, जिनकी एकबारगी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" इन सब बातोंसे यह साफ ज़ाहिर है कि उन नवयुवकोंने अपने कंधोंपर समाजकी बौद्धिक और नैतिक उन्नति का बड़ा काम ले रखा था और इस दिशामें वे काफी प्रयत्नशील थे। नवयुवकोंके इस दलमें दादा भाई नौरोजी, जगन्नाथ शंकर शेट, डॉ० भाऊ दाजी और मंगलदास नाथू भाई आदि थे। १८४५ ई०में शिक्षा परिषद्ने एक ट्रेनिंग कॉलेजकी स्थापना की जिसके प्रथम डाइरेक्टर प्रतिभाशाली शिक्षित नवयुवक बालशास्त्री जम्भेकर बनाये गये। जम्भेकरका शिक्षित समाजमें काफी नाम था और उनका चारित्रिक व्यक्तित्व भी अद्भुत था। तीन वर्षके बाद उन्होंने कॉलेजका कार्य शुरू किया और तभी उक्त नवयुवक दलके प्रयत्नसे छात्रोंकी साहित्य और विज्ञान परिषद की स्थापना हुई। इन परिषदोंका उद्देश्य छात्रोंमें शिक्षा और समाज सम्बन्धी सुन्दर वातावरण तैयार करना था। ट्रेनिंग कॉलेजने रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर और वामन आबाजी मोदक जैसे शिक्षाविदोंको उत्पन्न किया। इसी वर्षके सितम्बर मासमें छात्रोंकी ओरसे दो मातृभाषा सम्बन्धी संस्थाओंको जन्म दिया गया। पहली संस्थाका नाम था मराठी ज्ञान-प्रसारक सभा; और दूसरीका गुजराजी ज्ञान प्रसारक मण्डली। वैसे इन संस्थाओंका उद्देश्य ज्ञानका प्रसार करना था, किन्तु शिक्षित नवयुवकोंके दलकी प्रधानताके कारण इन संस्थाओंके द्वारा समाज-सुधार सम्बन्धी कार्य काफी बड़े परिमाणमें होने लगा।

क्रियाशील तत्त्व

उस समयके भारत-प्रसिद्ध समाज-सुधारक सर नारायण चन्द्रावरकरके शब्दोंमें कहा जा सकता है कि "शिक्षाने समाज-सुधारके कार्यको सबसे आगे बढ़ाया, अंग्रेज़ शासकों ने कई सामाजिक क़ानून बनाकर समाजमें परिवर्तन लानेमें बड़ी मदद की। हिन्दू-समाज, जो कई पुरानी रूढ़ियोंसे ग्रसित था, सुधारकी ओर प्रवृत्त होने लगा। १८२९ में सती प्रथा बन्द कर दी गई। १८३२ ई० में एक क़ानून बना, जिसके द्वारा नवजात बच्चियोंको मारा जाना बन्द कर दिया गया। यह प्रथा कुछ राजपूतोंमें उस समय बड़ी घर कर गई थी। बादमें १८५६ ई० में विधवाओंके पुनर्विवाहका क़ानून पास हुआ। तथा इसी प्रकारके अन्य सामाजिक क़ानूनोंके द्वारा समाजमें जबर्दस्त परिवर्तन दीखने लगा। इस कार्यमें न्यायालय भी पीछे नहीं रहे। जैसा कि सर चन्द्रावरकर ने कहा है, "हमारे न्यायालयों और न्यायाधीशोंका समाजकी बदलती हुई मान्यताओंमें बड़ा प्रमुख हाथ है।" साथ ही रेलके प्रचलनने भी हमारे समाजको आगे बढ़ानेमें बड़ी मदद की। रेलके द्वारा सारा भारत सिमटकर एक इकाईमें आ गया। दूर-दूरके निवासी एक-दूसरेके काफ़ी नज़दीक आने लगे। इन रेलोंने भाईचारेको बढ़ानेमें और छूआछूत तथा जाति-पाँतिके बंधनोंको काफी ढीला करनेमें बड़ा काम किया। लोग जाति-धर्म और फिरके का खयाल बिना किए ही एक ही डब्बेमें बैठकर सफ़र करने लगे। घण्टों भिन्न-भिन्न स्थानोंके रहनेवालोंको एक जगह बैठनेका ज़रिया मिल गया और इस तरह बन्धुत्वकी भावना तो बढ़ी ही, एक-दूसरे के रीति-रिवाज़ों, आचार-व्यवहारों और रहन-सहनसे परिचित होने का अवसर भी मिला। परोक्ष रूपसे इन सब बातोंका बड़ा असर होना लाज़िमी था और फलस्वरूप समाजके ढाँचेमें युगान्तर उपस्थित हो गया। एक अंग्रेज़ लेखक, जो उस वक्त पत्रकारकी हैसियतसे बड़ा प्रसिद्ध था, ने अखबारोंमें इस बात की बड़ी तारीफ़ की कि पारसी लोगोंने विभिन्न स्टेशनोंपर सोडा वगैरह बेंचकर जात-पाँत के बन्धनोंको शिथिल करनेमें बड़ा हाथ बँटाया है। ईसाई मिशनरियोंने भी समाज-सुधार के काममें बड़ा पार्ट अदा किया है। उनका उद्देश्य तो था भारतीयोंमें ईसाई-धर्मका प्रचार करना, किन्तु अनजानेमें ही उनके कुछ काम ऐसे हो रहे थे, जिनके द्वारा समाज-सुधारके कार्यको प्रगतिकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा मिल रही थी। उनके इस प्रकारके प्रचार-कार्योंसे बुद्धिमान जन-समुदायमें सामाजिक बुराइयोंके प्रति जागरूकता बढ़ी और वे दुगुने जोशके साथ समाज-सुधार आन्दोलनमें जुट गए। सचमुच यह काल हिन्दू-समाजके लिए परिवर्तनका काल था।

बदलता हुआ जमाना

यहाँ उस समयकी कुछ मज़ेदार घटनाओंका वर्णन कर देना अनुचित नहीं होगा, जिससे यह पता चल जाएगा कि समाज किन-किन दायरोंसे गुज़र कर नवीनताका जामा पहननेमें कामयाब हुआ। पूनाके एक ब्राह्मण गंगाधर दीक्षित फड़केने बम्बईमें कुछ आफिसरोंको मराठी पढ़ानेके उद्देश्यसे यात्रा की। उसे वहाँ ५–६ वर्षके अर्से तक रहना पड़ा। जब वह बम्बईसे पूना लौटा, तो समाजके व्यक्तियोंने उसका यह कहकर बहिष्कार कर दिया कि बम्बई जानेपर उसने सामुद्रिक यात्रा की है। बादमें प्रायश्चित्त करने

के पश्चात् उसे समाजमें पुनः सम्मिलित कर लिया गया। उसकी मृत्युके उपरांत जब सरकारने उसके उत्तराधिकारियोंको पेन्शनके रुपए देने चाहे, तो लोगोंने यह कह कर रुपए लेना स्वीकार नहीं किया कि वे 'म्लेच्छों' के हाथसे रुपया नहीं लेंगे। कुछ समय बाद उनके विचार बदले और वे उस रक़मके लिए सरकारके पास मिन्नतें करने लगे, जिसको उन्होंने पहले लेनेसे इन्कार कर दिया था।

इसी प्रकारकी एक घटना और है कि १८५२ ई० में एक पारसीने अपनी जातिकी एक लड़कीसे शादी की। शादीके कुछ ही दिन बाद नवदम्पती गाड़ीमें बैठकर बाज़ार में घूमने लगे और बम्बईकी अंग्रेज़ी दूकानोंमें जाने लगे। सरे आम भला समाज इस प्रकारकी निर्लज्जताको कैसे बरदाश्त करता? और पारसियोंके अखबारोंमें नव-दम्पतीकी कड़े शब्दोंमें निन्दा की जाने लगी।

तभी एक घटना और घटी, जिसको लेकर विशेष हो-हल्ला नहीं हुआ। उस समय एक सका फ्ांसरकस आया हुआ था। इसका आयोजन बम्बईके उस विशाल मैदानमें हुआ, जहाँ आज सेंट जेवियर्स कॉलेजका भवन अवस्थित है। बड़ी संख्यामें हिन्दू-समाजके लोग इसे देखनेके लिए गए। बहुतसे लोग सपरिवार सरकस देखने गए। यह बड़े ताज्जुबकी बात थी—उस समयके लिए।

दादाभाई नौरोजीके सम्बन्धमें भी एक घटना बड़ी दिलचस्प है। एक बार उनकी इंटरव्यू लेनेके लिए सर जमशेदजी जीजी भाई ने उनको बुलाया। यह इंटरव्यू पारसी पंचायतके कार्यालयमें हुई। श्री दोसाभाई सोराबज़ी मुन्शी, जो उस समयके प्रतिष्ठित और पुराने खयालातके व्यक्ति थे, वहाँ उपस्थित थे। दादा भाई नौरोजी स्त्री-शिक्षा के बड़े हिमायती थे। उनसे इसी विषयपर बात कर चुकनेके बाद सर जमशेदजीने मुन्शीजीसे कहा—"मुन्शीजी, यह नवयुवक लड़कियोंमें शिक्षा-प्रचारके लिए कहता है—आपकी क्या राय है?" मुन्शीजीने कहा—"लेकिन मैं नहीं समझता हूँ कि आख़िर लड़कियोंको शिक्षित करके हम क्या करेंगे? मेरे ख़यालसे शिक्षाके द्वारा उनका फायदे के स्थानपर नुकसान ही होगा। हमें इसे याद रखना चाहिए कि दीपकमें उतना ही तेल डालें, जितना उसमें समाए। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो परिणाम स्पष्ट है।"
जमशेदजीने जवाब दिया—"यह नवयुवक लड़कियोंको उतनी शिक्षा नहीं देना चाहता, जो उनकी आवश्यकतासे अधिक हो।"

महिला जागृति

उक्त घटनाएँ बताती हैं कि समाज-सुधारकी प्रगतिमें रूढ़िवादी दलने किस तरह रोड़े अटकाए और सुधारप्रेमियोंको कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। लेकिन इन सब बातोंसे सुधार-प्रेमी अपने पथसे विचलित नहीं हुए। वे तो दूने जोशके साथ समाज-सुधारके कार्यको अग्रसर करते रहे।

छात्रोंकी परिषदोंकी ओरसे २१ अक्टूबर, १८४७ को बालिकाओंके तीन स्कूलोंकी स्थापना की गई। साथ ही अन्य और चार स्कूल पारसी बालिकाओंके लिए खुले। बम्ईमें बालिकाओंका सर्व प्रथम स्कूल स्वनामधन्य नाना शंकर सेटकी प्रेरणासे १८४५

ई० में खुला। इस प्रकार स्त्री-शिक्षाकी प्रगतिमें इन विद्यालयोंने काफी मदद पहुँचाई। फिर भी शिक्षा-प्रेमी व्यक्ति शिक्षा-प्रचारकी दृष्टिसे और अधिक ठोस काम चाहते थे। धीरे-धीरे उन्हें महसूस हुआ कि समाजमें फैले बाल-विवाहके कारण स्त्री शिक्षामें बड़ी बाधा पड़ती है। बहुत कम उम्रमें ही उस समय लड़के-लड़कियोंकी शादी हो जाती थी। अतः उन लोगोंने इस प्रथाके विरुद्ध आवाज़ उठाई। साथ ही विधवाओं का प्रश्न भी बड़ा जटिल था और विशेषकर छोटी उम्रमें हो जानेवाली विधवा लड़कियों का सवाल तो प्रमुख था। समाज-सुधारकोंने इन प्रश्नोंको एक साथ लेकर भारी आन्दोलन का सूत्रपात किया और परिणामस्वरूप १८५६ ई० में विधवा-विवाह-क़ानून बना। इस आन्दोलनको सफल बनानेमें विष्णुशास्त्री पंडितने बड़ा काम किया, जिनके ऊपर महादेव गोविन्द रानाडेकी बड़ी कृपा थी। बम्बईमें सबसे पहला विधवा-विवाह सन् १८६२ में हुआ, लेकिन इसको गुप्त रखा गया। बादमें १८६५ ई० में विधवा-विवाह को बल देनेके लिए—"विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डली" का गठन हुआ। इस मण्डलीको श्रद्धेय माधवराव विनयुटकरका पूर्ण सहयोग प्राप्त था। मण्डलीके सेक्रटरी विष्णु-शास्त्री पंडितको बनाया गया और महादेव गोविन्द रानाडे इसके प्रमुख सदस्य रहे। रूढ़िवादियोंको यह बुरा लगा और उन्होंने विधवा-विवाहके विरुद्धमें 'हिन्दू-धर्म-व्यवस्थापक सभा' की स्थापना की। उनके इस कार्यकी शंकराचार्यने हृदयसे सराहना की। वर्षों तक इन दोनों दलोंमें काफ़ी प्रतिद्वन्द्विता होती रही, लेकिन विष्णुशास्त्री और उनके मित्र अपने पथपर दृढ़ रहे। १८६९ ई० में विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डलीकी ओरसे हज़ारों आदमियोंकी उपस्थितिमें एक विधवाका विवाह कराया गया।

विवाह योग्य आयु

१८८६ ई० में श्री वैरमजी एम० मालावारीने इस बातपर ज़ोर दिया कि बाल-विवाह को रोकनेके लिए विधान सभाएँ हस्तक्षेप करें। इस सम्बन्धमें उन्होंने अपने विचारों को प्रचारित करनेके लिए एक पुस्तिका भी लिखी। इस पुस्तिकाका बड़ा असर हुआ और उनके विधान सभा द्वारा हस्तक्षेप करनेके सुझाव के विरुद्ध बम्बईके माधव बागमें महती जन-सभा हुई और उनके विचारोंका खुलकर विरोध किया गया। श्री मालावारीका ज़बर्दस्त विरोध करनेवालोंमें एलफिस्टन कॉलेजके प्रो० वर्ड्सवर्थ और श्री के० टी० तैलंग थे। बादमें उक्त दोनों महानुभावोंने महसूस किया कि उनके इस प्रकार विरोध करनेपर प्रगतिमें काफ़ी बाधा हुई है। वास्तवमें वे खुद भी श्री मालावारी के सुधारात्मक विचारोंके अनुयायी थे और उन लोगोंने रखमाबाईके केसमें मदद दी, जिसमें उसने पुनर्विवाहकी इच्छा प्रकट की थी। श्री मालावारी अपने उद्देश्यमें लगे रहे। अंतमें १८६१ ई० में गवरनर जेनरल की—लेजिस्लेटिव कौंसिलमें बाल-विवाह बन्द करने के सम्बन्धमें एक बिल पेश हुआ। इसका विरोध करनेके लिए पूना और बम्बईमें सभाएँ हुईं। इधर श्री मालावारी और उनके साथियोंके प्रयत्न स्वरूप स्त्रियोंमें जागृति पैदा की गई और पूना तथा बम्बईकी प्रायः दो हजार महिलाओंके हस्ताक्षर युक्त एक प्रस्ताव गवरनर जेनरलके पास बिलके समर्थनमें भेजा गया। और उसी वर्ष बाल-विवाहको बन्द करनेके निमित्त बिल पास हो गया।

जाति-प्रथाके विरुद्ध अभियान

अन्य क्षेत्रोंमें भी समाज-सुधारका कार्य आगे बढ़ा। जाति-पाँतिकी बुराईको समाप्त करनेकी दिशामें भी काम हुआ। श्री पांडुरंगके द्वारा एक ऐसी संस्थाकी स्थापना हुई, जिसने जाति-प्रथाके विरुद्ध आवाज़ उठाई। १८४०में ई० पांडुरंगके द्वारा परमहंस सभाकी स्थापना हुई। इस संस्थाके वे ही व्यक्ति सदस्य बन सकते थे जो वास्तवमें जाति-प्रथामें विश्वास नहीं करते थे और इसके लिए उनको सभाकी कुछ शर्तोंको पूरा करना पड़ता था। सदस्य होनेवाले व्यक्तिको ईसाई रसोइएके द्वारा बना हुआ टोस्ट और मुसलमानके हाथका पानी पीना पड़ता था। इस सभाके द्वारा कुछ दिन तक कार्य होता रहा बादमें सभाका कार्य बन्द हो गया और सभाके भग्नावशेषोंमें से २० वर्ष के बाद एक ऐसी संस्थाका उदय हुआ, जिसने इस क्षेत्रमें क्रांति उपस्थित की। यह संस्था थी—'प्रार्थना-समाज'। ४० वर्षके बाद इसी प्रकारके कार्यको अग्रसर करनेके लिए बम्बईमें कस्मोपोलिटन क्लबकी स्थापना हुई। १८९५ ई० में क्लब द्वारा एक भोजका आयोजन हुआ। सभी जमातके लोग इकट्ठे हुए। किसी सदस्य ने भोजमें सम्मिलित होनेवालोंके नामोंको अखबारोंमें प्रकाशित करा दिया। बड़ा हंगामा हुआ और क्लब भी समाप्त हो गया। १७ वर्ष बाद 'आर्यन ब्रादरहुड' नामक संस्थाकी स्थापना हुई। बम्बईके सालीसीटर श्री दफ्तरी और सर नारायण चन्द्रावरकर ने इसमें काफी काम किया। इस संस्थाके द्वारा कई वर्षों तक जाति-प्रथाके विरोध में ठोस कार्य हुआ।

अस्पृश्यता-निवारण

सन् १८५५ ई० में कुछ शिक्षित नवयुवकोंने अछूतोद्धारका कार्य शुरू किया। १८७० ई० में ब्रह्म समाजके नेता श्री केशवचन्द्र सेन जब लन्दन से लौटे, तो बम्बईमें वे कुछ दिन रुके। इस अवधिमें उन्होंने फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूटमें भाषण दिये। उन्होंने अपने भाषणोंमें इसी समय गठित प्रार्थना समाजके सदस्योंसे इस बातकी प्रार्थना की कि वे अछूतोंकी स्थिति सुधारनेमें अपना पूरा योगदान दें। प्रार्थना-समाजने पूरे जोशके साथ इस कार्यको करनेका बीड़ा उठाया। समाजकी ओरसे कई रात्रि पाठशालाओं को प्रारंभ किया गया, जिनमें से दो पाठशालाएँ अछूतोंके लिए खुलीं। १८९१ ई० में श्री दामोदर दास सुखादवालाने अपने खर्च से एक तीसरी पाठशालाकी स्थापना बाइकुलामें की। इसके कोई १५ वर्ष बाद श्री विठल रामजी शिण्डेने अछूतोद्धार समिति नामक एक अखिल भारतीय संस्थाको जन्म दिया। जिसके प्रथम सभापति सर नारायण चन्द्रावरकर निर्वाचित हुए। इस संस्थाके द्वारा अछूतोद्धारके कई रचनात्मक कार्य हुए।

महाराष्ट्रमें हुए समाज-सुधारके इतिहासमें श्री ज्योतिराव फुल्ले द्वारा की गई सेवाएँ स्वर्णक्षरोंमें अंकित रहेंगी। उन्होंने १८७३ में सत्यशोधक समाजकी स्थापना की।

भारतीय राष्ट्रीय समाज-सुधार-सम्मेलन

शुरूमें जब बम्बईमें १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेसकी स्थापना हुई थी उस समय यह सोचा गया था कि इस संस्थाका मुख्य उद्देश्य केवल राजनीतिमें ही काम करना

नहीं होगा—बल्कि समाज-सुधारकी दिशामें भी अपना काम करती रहेगी। किन्तु बादमें कांग्रेस पूरी राजनीतिक संस्था हो गई। अतः सुधारकी इच्छा रखनेवालोंको समाज-सुधारका अभाव खटकने लगा। इसलिए भारतीय राष्ट्रीय समाज-सुधार सम्मेलन नामक संस्थाको जन्म दिया गया। इस संस्थाका वार्षिक अधिवेशन कांग्रेस के मण्डपमें ही कांग्रेस अधिवेशनोंके समाप्त होनेपर शुरू हो जाता था। महादेव गोविन्द रानाडेके तत्वावधानमें इस संस्थाने अखिल भारतवर्षीय पैमानेपर समाज-सुधारके कार्य को अग्रसर कर दिया। इसके द्वारा स्त्री-शिक्षाका प्रचार और बाल-विवाह, जाति-प्रथा आदिके विरुद्ध आन्दोलन किए गए। साथ ही अछूतोंके हितार्थभी आन्दोलन हुए। श्री रानाडे अपनी मृत्यु पर्यन्त—संस्थाके कार्योंमें प्रमुख भाग लेते रहे और संस्थाके कार्यको आगे बढ़ाते रहे। उनके स्वर्गस्थ होनेपर संस्थाके प्रधान मंत्री का भार बम्बईके ही श्री एन० जी० चन्द्रावरकरको सौंपा गया। चन्द्रावरकरने भी रानाडेकी भाँति ही कार्य किया और समाज-सुधारके कार्यको प्रगतिशील किया। बादमें लोगोंने बम्बई प्रान्तमें समाज-सुधारके कार्यको अग्रसर करनेके निमित्त, मद्रास हिन्दू समाज-सुधार एसोसिएशनके अनुसार बम्बई प्रेसिडेंसी समाज-सुधार एसोसिएशनकी स्थापना की। सर नारायण चन्द्रावरकर इसके सभापति बने और यह संस्था आज भी समाज-सुधारके काममें पूरा हाथ बँटाती है। इसने शारदा बिल, १९३५के हरिजन प्रवेश बिल आदिका समर्थन किया और हिन्दू कोडबिलका समर्थन अभी भी करती है। विधवाओंके लिए भी इस संस्थाने काफी काम किया है। सोसल वेलफेयर लीग नामकी भी एक संस्था १९११ ई० में स्थापित हुई। इस संस्थाने भी बम्बईमें पिछले ४०–५० वर्षोंमें समाज-सुधारका खूब काम किया है। इसके प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री एन० एम० जोशी, जो ट्रेड यूनियन आन्दोलनके जन्मदाता थे, ने मृत्युपर्यन्त अपनी सेवाएँ इस संस्था को अर्पित कीं।

आर्य-समाज और प्रार्थना-समाज

पुरानी संस्थाओंमें, जिन्होंने अपनी सारी शक्ति समाज-सुधारके कार्योंमें लगाई, आर्य-समाज और प्रार्थना समाजका नाम आदरके साथ लिया जा सकता है। दोनों ही संस्थाओंने पद-दलित जातियोंके उद्धारके प्रयत्न किए। प्रार्थना-समाजके संस्थापकों और नेताओंमें रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, माधव गोविन्द रानाडे, नारायण गनेश चन्द्रावरकर, सदाशिव पाण्डुरंग केलकर और वासुदेव बाबाजी नवरंगका नाम आदरके साथ लिया जा सकता है, जिन्होंने बम्बई शहरमें सबसे पहले निम्न वर्णकी शिक्षाके लिए रात्रि पाठशालाओंको आरंभ किया। इनके कार्योंसे प्रोत्साहित हो कर बादमें भारतीय पिछड़ा वर्ग-मिशन-सोसाइटीकी स्थापना हुई। इस संस्था के जन्मदाता थे—श्री विट्ठलरामजी शिण्डे। प्रार्थना समाजके प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री लाल शंकर उमीयाशंकरने १८७५ ई० में पण्ढरपुरमें अनाथालयकी स्थापनाकी। इस संस्थाके द्वारा पिछले ८० वर्षोंमें समाज की बहुत बड़ी सेवा हुई। यह भारतवर्षकी प्रमुख संस्थाओंमेंसे एक है, जिसमें हजारों-लाखों अनाथ बच्चोंको आश्रय मिला है। साथही इस संस्थाने हजारों अनाथ लड़कियों और महिलाओंको आश्रय देकर उन्हें शिक्षा आदि देनेमें बड़ा काम किया है। इस अनाथ

आश्रम और इसके अन्तर्गत और संस्थाएँ १८८१ ई० से प्रार्थना-समाजके संरक्षणमें में है।

आचार्य कर्वे और भारतीय महिला-विश्वविद्यालय

पश्चिमी भारतके समाज-सुधार आन्दोलनमें दोंडो केशव कर्वेका नाम अमर रहेगा। प्रो० कर्वे अभी भी जीवित हैं और अपने सौवें वर्षमें प्रवेश कर रहे हैं। आपने १८९३ में एक विधवासे विवाह किया था। उसके तीन वर्ष बाद आपने पूनामें बाल-विधवाओं और अनाथ बच्चोंके लिए अनाथ बालिकाश्रमकी स्थापना की। धीरे-धीरे इस संस्थाकी कई शाखाएँ खुल गईं और इसके बड़े विभागोंके रूपमें महिला-विद्यालय और भारतीय महिला-विश्वविद्यालय बादमें प्रो० कर्वेके द्वारा आरंभ हुए। प्रो० कर्वेकी शिक्षाके प्रति की गई सेवाओंको देखकर आज लोग उन्हें महर्षिके नामसे पुकारते हैं।

सेवा–सदन

दूसरी संस्था जो बड़ा अच्छा काम कर रही है—वह है सेवा-सदन—जिसकी स्थापना १९०८ में बम्बईमें श्री बी० एम० मलाबारी द्वारा हुई थी। इस संस्थामें एक महिला छात्रावास है तथा एक महिला प्रशिक्षण कॉलेज है और अन्य कई औद्योगिक कार्य भी स्त्रियोंके लिए होते हैं। पूनाके सेवा-सदनकी स्थापना श्रीमती रमाबाई रानाडे और उनके साथियोंके द्वारा १९०९ ई० में हुई थी। पूनाकी यह संस्था भी अपने-आपमें अद्वितीय है।

पत्र-पत्रिकाएँ

समाज-सुधारके इतिहासमें अगर प्रेसके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जायगा तो शायद यह लेख पूर्ण नहीं होगा। १८४९ ई० में पूनासे एक समाचार-पत्र मराठीमें प्रकाशित हुआ, इसका नाम था—ज्ञान प्रकाश। इसके बाद प्रभाकर और धूमकेतु निकले। इन तीनों पत्रोंने समाज-सुधारके कार्यमें बड़ा हाथ बँटाया। इन्होंने पुरानी रूढ़ियों और सामाजिक बुराइयोंके विरुद्ध प्रशंसनीय कार्य किया। इन्होंने शास्त्रोक्त उक्तियाँ देकर विरोधियोंका मुँह बन्द कर दिया। इसी प्रकारके कार्यको मदद देनेमें बम्बईके 'इन्दु प्रकाश' का काम भी नहीं भुलाया जा सकता। यह पत्र मराठी और अंग्रेज़ीमें एक साथ ही छपता था। गोपालहरि देशमुखको जो विशेषकर लोकहितवादीके नामसे विख्यात हैं, नहीं भुलाया जा सकता, जिनके सतत प्रयत्नसे बम्बईके इन्दुकाश और पूनाके ज्ञान प्रकाशका प्रकाशन हुआ। उनकी मनसा थी समाज-सुधार और समाज-सुधारकों के प्रचारमें हाथ बँटानेकी। और इस दिशामें उन्होंने अभूतपूर्व काम किया था। बाद में दोसाभाई फ़ामजी कामाके प्रयत्नसे 'स्त्री-बोध' निकला। इस पत्रमें दादा भाई नारोजीने १८५१ ई० में पारसी और गुजराती, जनताके लिए 'राष्ट्र गोफ्तार' का प्रकाशन किया। गोपाल गनेश आगरकर और बालगंगाधर तिलकने १८८१ ई० में पूनासे दो पत्रोंका प्रकाशन किया, जिनके नाम हैं—केशरी (मराठी) और मराठा (अंग्रेजी)। बादमें श्री आगरकरका अपने साथियोंसे मतभेद हो गया और उन्होंने उक्त दोनों पत्रों से सम्बन्ध विच्छेद करके अपना साप्ताहिक 'सुधारक' निकाला। श्री आगरकर पत्र

निकालनेके बाद केवल ७ वर्ष ही ज़िन्दा रहे——लेकिन इस बीचमें ही उनका पत्र बड़ा प्रसिद्ध हो गया था और समाजसुधारके कामोंमें तो उसने युगान्तर ला दिया था। इसके बाद प्रार्थना-समाज तथा क्रिश्चियन मिशनरियोंकी ओर से क्रमशः 'सुबोध पत्रिका' (मराठी अंग्रेज़ी) और 'ज्ञानोदय' (मराठी-अंग्रेज़ी) पत्र निकले। यहाँ श्री के० नटराजन का नाम भी श्रद्धाके साथ लिया जा सकता है जिन्होंने अपने साप्ताहिक के द्वारा लगातार ५० वर्षों तक समाज-सुधारके काममें हाथ बँटाया।

कार्य और लक्ष्य

विगत सौ वर्षोंमें बम्बईमें समाज-सुधारकका कार्य बहुत कठिनाइयोंका रहा। किन्तु एक महान् लक्ष्यको सन्मुख रख अदम्य साहस और आशावादिताके साथ वह उसे करता रहा। समाज-सुधार-आन्दोलनके एक महान् नेता रानाडेने ठीक ही कहा है कि" वाल-विवाह, वाधित-वैधव्य, दुर्व्यसनको दूर करनेकी दिशामें किये गये सुधार, अन्तर्जातीय विवाह, अछूतोद्धार, धर्म और जातिसे वहिष्कृत लोगोंको पुनः समाजमें मिला लेने और धर्मादा सम्पत्ति सम्बन्धी नियमोंमें सुधार आदिके आन्दोलनोंने पुराने विचारोंकी जगह नयी चेतना और प्रवृत्तिको जन्म दिया। वास्तवमें सुधारकको अपने आपको और अपने चारों ओरके समाज को सुधारनेका कार्य निरन्तर करते रहना, उसे अपने परिवार, गाँव और जाति तथा देशको नये साँचेमें ढालना है और इसलिए समाज-सुधार एक कर्तव्य और साधना है न कि मात्र शौककी चीज़।

अनुवादक——श्री शक्तिकुमार शर्म्मा

-:०:-

डॉक्टर सुमन्त मेहता

गुजरातमें समाज-सुधारकी प्रवृत्ति

हिन्दी भाषामें "संसार" शब्द बड़े व्यापक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ है—समस्त जगत्। गुजराती भाषामें कौटुंबिक तथा बिरादरी (जाति) के अंदर प्रचलित जीवन-व्यवहारको "संसार" कहते हैं। एक व्यक्तिको परिवार तथा जातिके घेरेमें रहकर जिन रीति-रिवाजों और रूढ़ियोंका पालन करना पड़ता है, तथा जिस प्रकार का जीवन व्यतीत रना पड़ता है, उसे गुजराती लोग "संसार" कहते हैं। उक्त "संसार" में सुधार करनेकी प्रवृत्तिके लिए गुजरातीमें "संसार-सुधार" शब्द चलता है।

समस्त हिन्दू-समाज अथवा सारी भारतीय प्रजाकी सामाजिक और आर्थिक जीवन व्यवस्थाका सुधार करनेकी प्रवृत्तिके लिए गुजरातीमें "समाज-सुधारण" शब्द व्यवहृत होता है। इसके अतिरिक्त दीनों, दरिद्रों, दु:खियों, रोगियों, पिछड़ी हुई जातियों, शोषितों और दलित जनोंके कल्याण व उत्कर्षके लिए जो कार्य किए जाते हैं, उन्हें गुजराती में "समाज-सेवा" कहा जाता है। ऊपर लिखित तीनों शब्दोंकी कार्यसीमा बहुत स्पष्ट तो नहीं है, तथापि तीनों शब्दोंका प्रयोग बहुलतासे होता है। अपने देशकी प्रजाओंके नवजागरणके प्राथमिक युगमें गुजरातमें केवल "संसार-सुधार" शब्द ही प्रयुक्त होता था, उसका स्पष्ट अभिप्राय "सामाजिक सुधारण" था।

× × ×

इस प्राकृतिक नियमकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए कि प्रत्येक जीवित वस्तु (प्राणी अथवा वनस्पति) में सदा कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। आस-पासके वातावरण के प्रति अनुकूलता स्थापित करनेके लिए ऐसे परिवर्तन आवश्यक होते हैं। निर्जीव वस्तुओंमें इस प्रकारके परिवर्तन नहीं होते। मानवीय संस्थाओंमें भी यह नियम लागू होता है। जब तक किसी संस्थामें परिवर्तित होते हुए वातावरणके साथ अनुकूलता स्थापित करनेकी वृत्ति रहती है, तब तक वह उपयोगी रहती है। उस वृत्तिके नष्ट हो जानेपर संस्थाओंमें जड़ता और सड़ाँद प्रविष्ट होने लगती है। सड़ाँद प्रविष्ट होने और उसके बढ़नेका स्पष्ट यही अर्थ है कि उस संस्थाकी संजीवनी शक्ति समाप्त हो रही है।

भारतमें हिन्दू-समाजने लगभग एक सहस्र वर्ष तक विदेशोंसे आनेवाली अनेक जातियों का पूरी तरह सामना किया। हिन्दुओंने अपनी जाति-संस्थाद्वारा अपने संस्कारों और परम्पराओंको सुरक्षित रक्खा। ग्रीक, हूण, शक, तुर्क, अफगान और ईरानी आदि

अनेक जातियाँ भारतमें आईं और हमारे साथ घुलमिलकर रहने लगीं। हिन्दुओंने उन सबको अपनेमें आत्मसात् कर लिया। उनके पश्चात् भारतमें पुर्तगीज़, डच, फ्रेंच और अंग्रेज आदि योरोपीय जातियाँ आईं! उन्होंने हमारे सामाजिक और आर्थिक, जीवनको नष्ट करनेका भयंकर प्रयत्न किया। प्रधानतः उनका हेतु आर्थिक था। क्योंकि वे यहाँसे सस्ते मूल्यमें कच्चा माल ले जाकर अपने कारखानोंमें नई-नई वस्तुएँ बनाकर मालामाल होना चाहते थे। इस प्रकार हमारे हुनर, उद्योग और गृहशिल्प नष्ट हो गए। एक धोती जैसी मामूली वस्तु भी मांचेस्टरसे बनकर आने लगी थी। निःसंदेह ये जातियाँ प्रगतिशील थीं। ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें वे अधिक अग्रसर थीं। लगभग एक हज़ार वर्षके पराये शासनमें हमने स्वराज्य तो खोया ही था अपने स्वाधीन व्यवसाय भी खोये। ज्ञानके प्रति हमारी उत्सुकता नहीं रही। हमारी धार्मिक तथा सामाजिक बातोंमें भी शिथिलता आ गई!

सन् १८५७में भारतीयोंने अँगरेज़ी शासनसे छूटनेका प्रथम प्रयास किया। परन्तु हमारा संगठन ठीक नहीं था अतः उसमें हम असफल रहे। परन्तु प्रजाकी चेतनामें स्वाधीनताकी तीव्र आकांक्षा जाग उठी। वह अपना मनोबल भी बढ़ाने लगी। परिणाम यह हुआ कि एक ओर ज्ञानप्राप्तिका यज्ञ आरंभ हुआ और दूसरी ओर धर्ममें आई हुई जड़ता और सड़ाँद दूर करनेका उद्योग होने लगा। हिन्दू लोग वेद-वेदांतका अध्ययन करके हिन्दू धर्ममें प्रविष्ट हुई अशुद्ध धारणाओं और मान्यताओंको दूर करने लगे। समझदार लोग हिन्दू-समाजमें आये हुए दुष्ट रीति-रिवाजोंको साफ करने लगे।

उस युगमें हमारे भारत देशकी राजधानी कलकत्ता थी। वहाँपर यूरोपियन विद्वानोंका भारतीय विचारकों और प्रगतिप्रिय महानुभावोंके साथ संपर्क होने लगा। उनके साथ विमर्श और विचार विनिमय होने लगा। इस संपर्कका फल यह हुआ कि समझदार भारतीयोंने आत्म-शुद्धि और समाज-संशोधनके आंदोलन प्रारंभ किये। इन आन्दोलनोंमें राजर्षि राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, पंडित प्रवर श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन जैसे मेधावी और देशभक्त प्रमुख थे। इन महानुभावोंने धर्ममें आई हुई अनिष्ट पौराणिक मान्यताओंको और सामाजिक जीवनमें घुसी हुई दूषित रूढ़ियोंको दूर करनेका भगीरथ प्रयत्न किया।

उन्हीं दिनों बंगालमें ब्राह्मसमाज नामकी धर्म-सुधारक संस्थाकी स्थापना हुई। इस संस्था द्वारा समाज-सुधारका काम भी उठाया गया। बंबई प्रांतमें भी उन्हीं दिनों बंबई, पूना और अहमदाबादमें ब्राह्म समाज जैसी प्रार्थना-समाज नामक संस्था स्थापित की गई। इसके प्रमुख विधायक महामान्य महादेव गोविन्द रानाडे, डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर और श्री भोला नाथ साराभाई जैसे सुविचारक थे। ब्राह्मसमाजने जहाँ नवीन संप्रदाय स्थापित करनेका प्रयत्न किया वहाँ प्रार्थना समाजने कुछ एक परिवर्तनोंके साथ हिन्दू-समाजके द्वारा ही सामाजिक और धार्मिक सुधारणा करना पसंद किया।

इसी प्रकार सौराष्ट्रकी वीरभूमिके प्रतापी पुत्र महर्षि दयानन्द सरस्वतीने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें प्रबल सुधारके लिए सन् १८७५ में बंबईमें आर्यसमाजकी स्थापना की। प्रस्तुत लेख में धार्मिक सुधारोंका विषय प्रासंगिक नहीं है तथापि यह कहना

आवश्यक है कि ब्राह्मसमाज प्रार्थना-समाज और आर्यसमाजके य नवीन सुधारक हज़ारों ईश्वरोंमें विश्वास न रखते हुए एक सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और निराकार परमेश्वरकी उपासनामें श्रद्धा रखते थे। लगभग १८८०के सालमें गुजरातके वीर कवि नर्मदाशंकर ने गुजराती प्रजाको आह्वान किया :—

सौ चलो जीतवा जंग बिगुल बाजे !
वा होम करीने पड़ो, फतह छे आगे !!

अर्थात्—"बिगुल बज चुका है, सब लोग जंग जीतनेके लिए चल पड़ो ! होमाग्नि में अपनी आहुति प्रदान करो, विजय तुम्हारे सामने है।"

उस युगमें गुजरातमें समाज-सुधारणामें निम्नलिखित बातोंका समावेश होता था :—

(१) विद्या-संपादनके लिए समुद्रपार करके विदेश-यात्रा करनेमें संकोच नहीं करना चाहिए।

(२) भील और कोली आदि अज्ञान और संस्कारशून्य जातियोंके संपर्कसे हिन्दू समाजमें अनेक प्रकारके वहम और दूषित मान्यताएँ प्रविष्ट हो गई हैं। उनका समूल नाश करना चाहिए। उस समय लोग माता (देवी) के नामसे सिर धुनते थे। भूत, प्रेत, चांडाल, डाकिनी, शाकिनी आदिमें विश्वास रखते थे। रोग निवारण के लिए डोरे बँधवाते थे। यह भी मानते थे कि माता (देवी) की नजर लग जानेसे अमुक-अमुक रोग हो जाते हैं। सुधारक इन सब बातोंका खंडन करते थे।

(३) सुधारक लोग बाल-विवाहका विरोध करते थे। सामान्यतया गुजरातमें ऋतु-दर्शन होनेसे पूर्व ही, आठ वर्षकी नन्हीं उमरमें ही, कन्याओंका विवाह कर देनेकी प्रथा थी। गरीबीके कारण दूसरी कन्या चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हो, उसका विवाह भी पहली कन्याके विवाहके समय ही कर डालते थे। इस प्रकारकी कथाओंका शिक्षण भी दस वर्ष की उमरके बाद बंद कर दिया जाता था। इन प्रथाओंके विरोधमें आवाज़ उठाई गई क्योंकि यदि स्त्रियाँ अशिक्षित रहेंगी, तो फिर गृहजीवन सुखी कैसे हो सकेगा ?

(४) ऊपरकी प्रथाओंका परिणाम यह हुआ था कि समझदार होनेसे पूर्व ही देशमें लाखों की संख्यामें स्त्रियाँ विधवा हो जाती थीं। विधवाएँ विवाहकी कामना न करें यह विचार ऊँचा अवश्य था परन्तु प्रत्येक बाल-विधवा पुनर्विवाहसे वंचित रहनी चाहिए इस रिवाजके कारण विधवाओंपर अनेक प्रकारके अत्याचार होते थे। यह बात स्पष्ट है कि बलात् वैधव्य पालनके दूषित रिवाजके कारण विधवाएँ मुसलमान बन जाती थीं। अतः सुधारकोंने विधवा-विवाहके पक्षमें जोरदार आवाज़ उठाई थी।

(५) उन दिनों हिन्दू समाजमें अनेक लोग स्त्री-शिक्षाके विरोधी थे। अतः सुधारकों को प्राचीन शास्त्रों तथा इतिहासके प्रमाण देकर यह प्रचार करना पड़ा कि स्त्रियों को अच्छी शिक्षा मिलनी ही चाहिए। उनके प्रयत्नोंसे गुजरातमें उन दिनों कई कन्या शालाएँ स्थापित हुईं और उनके लिए अध्यापिकाएँ तैयार करनेके लिए अध्यापन कलाके विद्यालय भी खुले। पाठकोंको यह पढ़कर विस्मय होगा कि उन दिनों गुजरातमें विधवाएँ, परित्यक्ताएँ और सधवाएँ शिक्षाप्राप्तिके लिए

विद्यालयमें जाते समय मार्गमें अपनी पुस्तकें साड़ीमें या ओढ़नीमें छिपाकर ले जाती थीं, मानो वे कोई अपराध कर रही हों।

(६) सुधारक लोग पर्दा-प्रथाके विरोधी थे। उत्तरीय भारतमें पर्देका विशेष जोर था। मुसलमान शासकोंके समयमें मुसलमान पुरुषोंसे पृथक् और अदृश्य रहने के लिए यह प्रथा प्रारंभ हुई होगी। पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, राजपूताना और मध्य प्रदेशमें पर्दे पर बहुत जोर दिया जाता था। परन्तु गुजरात और महाराष्ट्रमें इसका जोर बहुत कम था। दक्षिण भारतमें तो यह प्रथा थी ही नहीं। स्पष्ट है कि पर्देके कारण शिक्षा नहीं मिल सकती, व्यायाम नहीं किया जा सकता, खुली हवामें घूम नहीं सकते, पुरुष वर्गके साथ सहचार कम होनेसे बौद्धिक विकासमें बाधा आती है। इस प्रकारके अनेक दूषित रिवाज़ों के कारण सुधारक लोग इस प्रथाका विरोध करते थे।

(७) विचारशील लोग यह समझने लगे थे कि हिन्दुओंकी जात-पाँत (संकुचित ज्ञाति-प्रथा) के कठोर रूढ़ि बंधनोंके कारण प्रजाकी प्रगति रुक रही है। अतः सुधारक लोग जातपाँतका जोर तोड़नेके लिए भी प्रयत्न शील थे।

इन प्रवृतियांकी फलश्रुति

गुजरातमें समाज-सुधारकों द्वारा चलाये गये आंदोलनोंका समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, यह अधोलिखित विवरणसे स्पष्ट हो जायगा :—

(१) गुजरातमें परदेश-गमन (समुद्रपार) करनेवाले को क्या सहन करना पड़ता था, यह एक शिक्षण अधिकारीके उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। गुजरातके प्रसिद्ध विद्वान् और शिक्षा-शास्त्री श्रीमहीपतराम रूपराम नीलकंठ इँगलैण्डसे विद्याभ्यास करके लौटे थे। विदेशयात्राके लिए दण्ड स्वरूप उनको लगभग तीन हज़ार रुपए अपनी विरादरीको देने पड़े थे। उनसे प्रायश्चित्त विधि कराई गई थी, फिर भी बिरादरीके भोजमें उनको सम्मिलित नहीं किया गया था।

लेखकके पिताजीको भी दण्ड रूपमें रु० २८००) देने पड़े थे तथा सारी बिरादरीको भोज देना पड़ा था। परन्तु मैंने तथा मेरे भाइयोंने विदेश यात्रासे लौटनेपर किसी प्रकारका प्रायश्चित नहीं किया। सुधारकोंके बराबर प्रयत्नोंसे बादको विदेशयात्राकी सामाजिक अड़चनें दूर हो गईं।

(२) वहमों और अनार्य मान्यताओंका जोर भी अब कुछ ढीला पड़ गया है। भूत पिशाचोंका डर पहलेसे कम हो गया है। परन्तु खेदका विषय है आज सन् १९५६ में भी गुजरातके हिन्दू-समाजमें अनेक खोटी मान्यताएँ और वहम विद्यमान हैं। आज भी अधिकांश लोग सूर्य-ग्रहण और चन्द्रग्रहणके समय छूआछूत मानते हैं। अनेक लोग बुधवारको यात्रा करनेमें संकोच करते हैं। अमावस्याके दिनको अशुभ मानकर घबराहट अनुभव करते हैं। गुजराती भाषाके शिष्ट और प्रतिष्ठित दैनिक समाचारपत्रोंमें प्रति सप्ताह पूरे एक पन्नेमें भविष्य कथन की बातें छपती हैं। लाखों मनुष्योंका भविष्य बतानेका आडम्बर अभी तक चालू है। बंबईमें एक ज्योतिषीको भविष्य-कथनके कारण ही कोई बीस हज़ार रुपए मासिकसे अधिक की आमदनी होती है। यह सब कुछ वहममें हीं

सम्मिलित हैं, तो भी पढ़े-लिखे लोग उसका विरोध कर रहे हैं। अच्छा मुहूर्त निकलवाकर विवाह करनेपर भी स्त्रियाँ विधवा होती हैं। लाखों विवाह दुःखप्रद सिद्ध होते हैं। अच्छा मुहूर्त देखकर चलनेपर भी रेलगाड़ी, मोटर और वायुयानमें मनुष्योंकी मृत्यु होती है। अभी तक करोड़ों लोग इन वहमों से चिपटे हुए हैं। सुधारकोंके अथक प्रयत्नोंके बावजूद इस दिशामें समाजमें कुछ विशेष प्रगति नहीं हुई है।

(३) बालविवाहके प्रतिबंधके लिए बड़ोदाके दिवंगत महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने आजसे कोई आधी शताब्दी पूर्व १९०४में एक क़ानून बनाया था। उसमें बाल विवाह करानेवाले पिता या संरक्षकको दण्ड देनेका विधान किया गया था। उस समय इस क़ानूनपर बड़ी गरमागरम चर्चाएँ हुई थीं। परन्तु बाल-विवाहकी संख्यामें विशेष कमी नहीं हुई। कुछ वर्षोंके पश्चात् एक नया क़ानून बनाया गया और उसके द्वारा बाल-विवाह करनेवाले पुरोहितों (ब्राह्मणों) को दोषी मानकर उनके लिए दण्ड नियत किया गया। परन्तु प्रजा इस प्रथा की बुराईको समझते हुए भी, इस सुधारणाको अपना नहीं सकी।

आज तो यह अवस्था आ गई है कि शिक्षित समाज (यह वर्ग बढ़ता जा रहा है) में कन्याको अच्छा शिक्षण प्राप्त न हुआ हो तो उसका विवाह नहीं हो सकता। जो लोग पहले मना करनेपर यह बात नहीं समझ पाते थे वे अब परिस्थितियोंसे हारकर बाल-विवाहकी बुराईको समझने लगे हैं। शहरोंमें तो विवाहकी उमरमें अच्छी वृद्धि हुई है।

(४) चौथी समस्या विधवा-विवाहकी थी। सुधारकोंके प्रयत्नोंका यह परिणाम हुआ कि पहले तो अक्षत योनि विधवाओंको विवाह करनेकी छूट मिलने लगी। अब स्थिति यह पैदा हो गई है कि विवाह करनेवालेको तो कुछ सहन नहीं करना पड़ता, परन्तु उनके सगे-संबंधियोंके मन बहुत विकल रहते हैं।

बड़ोदा राज्यमें "ज्ञाति-त्रास-प्रतिबंधक" नामक एक क़ानून बनाया गया था। उसमें यह निश्चय किया गया था कि यदि बिरादरी (जाति) के लोग किसी व्यक्तिको दण्ड देंगे या उसे कष्ट देंगे, तो वे लोग अपराधी माने जायँगे। इस प्रकार बड़ोदा राज्यमें रहने वाले अट्ठाईस लाख गुजरातियोंके लिए बिरादरी द्वारा दिए जाने वाले कष्टोंका जोर कम हो गया था।

(५) स्त्री-शिक्षाके विषयमें शहरों और बड़े ग्रामों में विशेषतया शिक्षित समाजमें उन दिनों अच्छी प्रगति हो रही थी। तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि गुजरात में सन १९१६ में भी अँगरेज़ी पढ़नेकी इच्छुक कन्याओंको छात्र वृत्तियाँ देनी पड़ती थीं। अब तो स्त्री-शिक्षा इतनी अधिक बढ़ गई है कि गुजरात कॉलेज अहमदाबादमें (विज्ञानकी कक्षाओंको छोड़कर) कन्याओंकी संख्या पुरुष छात्रों जितनी ही है। विवाहके विषयमें कन्याका कॉलेजमें पढ़ा होना, प्रमाणपत्र के समान गिना जाता है।

(६) गुजरातमें राजपूत आदि थोड़ी-सी जातियोंमें पर्दा-प्रथा चालू थी। इसके अतिरिक्त परिवारके पुरुष वर्गीय बड़े बूढ़ोंके सामने एक प्रकारकी लाज (इज्जत

काढ़ी जाती थी। साठ वर्ष पहले स्त्रियां पर-पुरुषोंसे बात नहीं करती थीं। अपने स्वामी (पति) का नाम तो ले ही नहीं सकती थीं। सौराष्ट्र (काठियावाड़) और कच्छमें पर्दा और लाज काढ़नेका रिवाज अवश्य था परन्तु अब वातावरण बदल गया है।

(७) स्मरण रहे बिरादरियोंका ज़ोर जुल्म तो कम हो गया है पर बिरादरियां ज्योंकी त्यों कायम हैं। बिरादरियोंके अंदर कई उप-बिरादरियाँ हैं। उनका भी संगठन नहीं हो पाता है। पहले बिरादरीके बाहर विवाह करना बड़ा अपराध समझा जाता था। अब बिरादरीके बाहर विवाह हो सकता है और समाज उसे सहन कर लेता है या यों कहिए कि बिरादरियाँ आँख मिचौनी कर लेती हैं। तथापि यह तो स्पष्ट है कि ९०–९५ प्रतिशत विवाह अपनी बिरादरीमें या उपबिरादरीमें ही होते हैं। गुजरात अपनी उपबिरादिरियोंके लिए प्रसिद्ध है। सुधारकोंके प्रबल प्रयत्नोंके बावजूद भी बिरादरियाँ कायम हैं।

सामाजिक सुधारणाकी अन्य बातें

(१) आरम्भमें ही सुधारकोंने बेमेल विवाहोंके विरोधमें खूब प्रचार किया था। बेमेल-विवाह दो प्रकारके होते थे—(क) एक तो उमरका बेमेलपना। राजपूतोंमें कन्या पुरुषकी अपेक्षा ५–७ वर्ष बड़ी हो सकती थी। अथवा बड़ी उमरके विधुर ४०–५०, या ६० वर्ष की उमरमें १२–१३ वर्षकी कन्याके साथ विवाह करते थे। इस विषयमें लोकमत पर्याप्त शिक्षित हो चुका है और इस प्रकारके अनमेल विवाहोंकी संख्या घटती जा रही है।

(ख) अनमेल विवाहोंका दूसरा प्रकार "गुण" की दृष्टि से था। पुरुष अच्छा पढ़ा-लिखा होता था तो कन्या सर्वथा निरक्षर होती थी। एक कविने उन दिनोंके इस प्रकारके अनमेलपनेको देखकर कहा था—स्वामी तो भूगोल और खगोलकी बातें करता है और पत्नीका लक्ष्य केवल चूल्हेमें ही रहता है। यह आवस्था ग्रामोंमें तो अब भी पूर्वतवत् विद्यमान है। नगरोंमें स्थिति सुधरी है। सभी जानते हैं कि अपने भारत राष्ट्रकी ८० प्रतिशत जनता ग्रामोंमें रहती है। अतः इस दिशामें संतोषकारक सुधार नहीं हो सकता है।

(२) गुजरातमें विवाहपर और मृत्युके पश्चात् लोग अपनी सामर्थ्यसे अधिक व्यय किया करते थे। उनके विरोधमें युवकोंने समय-समयपर प्रबल आन्दोलन चलाकर कुछ सुधार करवाया है। परन्तु दूसरी ओर धनी पुरुष विशेषतया कालाबाजार आदि करने वाले लोग पुष्कल व्यय करके वातावरणको कुत्सित बनाते हैं। विवाह खर्चकी अपेक्षा मरणके बाद अधिक खर्च किया जाता था, बाधित रूपमें पुराने समयमें दो-तीन विशाल मरण भोज बिरादरीको देने पड़ते थे। युवकोंने उनको "लहूके लड्डू" कहकर उनका खूब धिक्कार किया है। जिससे लोकमतमें अच्छा जागरण हुआ है।

(३) गुजरातमें विशेषतः बड़ोदा राज्यमें विभिन्न बिरादरियोंके साथ मिलकर सहभोजन करने में खूब प्रचार किया गया था। अब सहभोजनके विषयमें समाजकी

बाधा नहीं रही है। युगके वातावरणने इस समस्याका समाधान स्वयं ही कर दिया है। बंबई तथा अन्य बड़े नगरोंमें विद्याध्ययनके लिए जानेवाले असंख्य विद्यार्थी होटलों तथा जलपानगृहोंमें भोजन करने लगे हैं।

(४) रोटी-व्यवहारकी तरह बेटी-व्यवहार (अन्तर्जातीय विवाह) के लिए भी पर्याप्त प्रचार किया गया था। परन्तु वह सीधी रीतिसे सफल नहीं हुआ। अब अन्य प्रकारोंसे अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं। स्कूलों और कॉलेजोंमें लड़कियाँ और लड़के साथ-साथ पढ़ते हैं, नाटक-गोष्ठी और संगीत-सम्मेलन आदिके सांस्कृतिक कार्योंमें साथ-साथ भाग लेते हैं। इस प्रकार एक-दूसरेके निकट परिचयमें आते हैं। इन परिचयोंके कारण अन्तर्जातीय विवाहोंकी संख्या बढ़ रहीं है। संख्या अधिक भले न हो, परन्तु अब इस प्रकारके विवाहोंको रोकनेका प्रयत्न नहीं होता। हाँ यदि लड़के-लड़कीमें अपलक्षण होतेहैं, तो रुकावट डाली जाती है।

(५) अब १७–१८ और २० वर्षकी कन्याएँ अपनी पसंदगीसे विवाह करने लगी हैं। कुछ एक विचारशील बिरादरियोंमें कन्याकी सम्मति लिये बिना उसका विवाह नहीं करते।

बड़ोदाके प्रगतिशील और सुविचारक दिवंगत महाराजा सयाजीरावके सतत प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक प्रकारके सामाजिक सुधार किये गये थे। इस क्षेत्रमें उनका नाम आदरपूर्वक याद किया जायगा। उन्होंने बाल-विवाहपर प्रतिबंध लगवाया था। सब प्रकारके बालकोंके लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षाका प्रबंध किया था। बिरादरीके त्रास-निवारणके लिए क़ानून बनवाया था और अंत्यजोंके उद्धारके लिए स्पृहणीय प्रयत्न किया था।

(६) बड़ोदा राज्यमें महाराजने इस सदीके प्रारंभमें सन् १९१० में सिविल मैरेज क़ानून लागू किया था। इस क़ानूनके द्वारा किसी भी बिरादरीके लोग किसी धार्मिक विवाह विधिके बिना भी केवल रजिस्टर्ड कराकर विवाद कर सकते थे। इस क़ानूनसे बड़ोदा राज्यके बाहरकी जनताने भी लाभ उठाया है।

(७) न्यायालयमें यदि ऐसा न्याय दिया जाता था कि अमुक परिणीता स्त्रीको अपने पतिके साथ रहना ही चाहिए तो उस स्त्रीका शारीरिक अधिकार प्राप्त करके वह पतिको सौंप दी जाती थी। यह क़ानून बादमें रद्द कर दिया गया।

(८) प्रारंभिक समाज-सुधारक मदिरा निषेधका खूब प्रचार करते थे। ५०–६० वर्षके बाद आज यह अवस्था आई है कि कई प्रांतीय सरकारोंने क़ानूनके बलसे शराबबंदीका प्रयत्न किया है। उस प्रयासकी सफलताके विषयमें मतभेद है। निःसंदेह अमुक वर्गको इस क़ानूनसे लाभ हुआ है, परन्तु गुप्त रूपसे शराब खूब बन रही है और बिक रही है। सरकार इस प्रकारके शराब बनानेके विषयमें जो प्रयत्न किया करती है, वह व्यर्थ है।

(९) बड़ोदा राज्यमें महाराजाके आग्रहसे विवाह-विच्छेद (तलाक) का कानून भी चालू हो गया था।

(१०) अब तो समस्त भारत देशमें स्त्रियोंको उत्तराधिकारके हक भी मिल गए हैं।

गुजरात सामान्यतया अधिक परिश्रमी और धनवान् है अतः यह क़ानून गुजरात के लिए विशेष उपयोगी हो सकेगा।

(११) पुराने सुधारक इस बातका विरोध किया करते थे कि शिष्ट समाजमें पेशेवर नाचने वालियाँ बुलाई जायँ। इस दिशामें सारा वातावरण बदल गया है। एक तो यह बात हुई कि पेशेवर नाचनेवाली स्त्रियोंका बुलाना बंद हो गया है। दूसरी ओर देशमें अपनी प्राचीन शिष्ट नृत्यकलाका प्रचार बढ़ रहा है और अच्छे शिक्षित और संस्कारी परिवारोंकी स्त्रियाँ शिष्ट नृत्य करने लगी हैं।

(१२) गुजरातमें विद्यालयों तथा महाविद्यालयों (कॉलेजों) में लड़के-लड़कियोंके सहशिक्षणको अब कोई हौवा नहीं समझता। स्त्रियोंकी पृथक् संस्थाएँ भी हैं तथापि सहशिक्षाके प्रति गुजरातमें विरोध नहीं है।

(१३) अंत्यजोद्धार (अछूतोद्धार) के लिए भी गुजरात और काठियावाड़में प्रबल लोकमत जाग उठा है। परन्तु लज्जापूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि गुजरातमें कुछ धार्मिक संप्रदायोंका विशेष प्रभाव होनेके कारण अस्पृश्यताका व्यवहार उग्रतासे होता था। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा अछूतोद्धारकी आवाज़ उठानेपर गुजरातपर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। महाराजा सयाजी रावने अछूतोद्धारके लिए जो प्रयत्न किये थे, वे भी अभिनंदनीय थे। अन्तमें महात्मा गाँधीजीने अस्पृश्यता निवारणकी प्रवृत्तिको राजनीतिक कार्यक्रमके साथ जोड़कर उस विकट समस्याके समाधानके लिए अच्छा प्रयत्न किया था। परन्तु हमें कहना पड़ेगा कि अभीतक अस्पृश्यताका निवारण बहुत कम हुआ है॥

अनुवादक—श्री शंकरदेव विद्यालंकार

-:०:-

श्री शोभालाल गुप्त

राजस्थानमें समाज-सुधार की लहर

राजस्थान त्याग, बलिदान और शौर्यके लिए इतिहासमें प्रसिद्ध रहा है। जब देशमें स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वाभिमानकी ज्योति मंद पड़ गई थी, या बुझ गई थी, तब भी राजस्थानने उसे जलाए रखा इसलिए राजस्थानका इतिहास देशवासियोंको सदा प्रेरणा देता रहा है और भविष्यमें भी देता रहेगा। किन्तु वह समय भी रहा, जब राजस्थान गहरी नींदमें सो गया और जब देशके दूसरे प्रान्त जागते जा रहे थे और जीवनके विविध क्षेत्रोंमें आगे बढ़नेके लिए जुट पड़े थे, राजस्थान अचेता ही पड़ा रहा। देशमें जो विविध राजनीतिक और समाज-सुधारके आन्दोलन हुए, उनके वह बहुत अंशमें अप्रभावित ही रहा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राजस्थानमें राजनीतिक और समाजसुधारके आन्दोलन हुए ही नहीं। असलमें उनको तीव्र बाधाओंका सामना करना पड़ा और उनकी रफ्तार अपेक्षाकृत काफी मंद रही।

जिस भू-भागको हम राजस्थानके नामसे जानते हैं, वह कुछ वर्षों पहले तक २०–२१ छोटी-बड़ी रियासतोंमें विभक्त था। इन रियासतोंमें राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ प्राय: एक-सी थीं। राजस्थानकी रियासतोंमें सदियों सामन्तवादी व्यवस्था का बोलबाला रहा। समाजकी सारी सत्ता, शक्ति और साधन राजा-महाराजाओंके हाथोंमें केन्द्रित रहे। राजा-महाराजाओंके बाद उनके सामन्तों अर्थात् जागीरदारों का वर्ग काफी प्रभावशाली था। रियासतोंके एक बड़े भागपर उनका कब्जा था। समाजपर उनका दबदबा छाया रहता था। वही समाजके नेता और सम्मानके पात्र समझे जाते थे। राजा-महाराजाओंको अपने ऐश-आराम और भोग-विलाससे फुर्सत नहीं थी। नये-नये कर लगाकर वे प्रजाका धन-अपहरण करते थे और उसे अपन भोग-विलासमें उड़ाते रहते थे। एक ओर प्रजा-पीड़न और दूसरी ओर शान-शौकत और उड़ाऊपनके लिए उन्होंने ख्याति प्राप्त की। जनता राजा-महाराजाओंके अत्याचारों को मूक होकर सहन करती थी और यदा-कदा सिर उठानेके अलावा जीवनका भार ढो रही थी।

राजस्थानकी रियासतोंमें राजा-महाराजाओं और उनके सामन्तोंको यह पसंद नहीं था कि लोगोंमें शिक्षा और ज्ञानकी नई रोशनी फैले और वे दुनियामें होनेवाले परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करें, उन्हें भय था कि तब उनकी मनमानी और स्वेच्छाचारिता नहीं चल पाएगी और लोग अपने अधिकारोंका दावा करने लगेंगे। उस समय शिक्षा-संस्थाएँ

इनी-गिनी ही थीं और पोलिटिकल एजेण्टोंसे प्रगतिशीलताका प्रमाणपत्र प्राप्त करनेके लिए उनकी स्थापना की जाती थी।

सामाजिक क्रांतिके अग्रदूत स्वामी दयानन्दने राजस्थानको विशेष रूपसे अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। हमारे देशमें 'यथा राजा, तथा प्रजा'की उक्ति चरितार्थ होती रही है। स्वामी दयानन्दने सोचा कि यदि राजस्थानके राजा-महाराजाओंको सीधी राहपर ले आया जाए, तो जन-जीवनको भी तेजीसे बदला जा सकेगा। उन्होंने अजमेर को अपना केन्द्र बनाया, जो उस समय ब्रिटिश राज्यके अधीन था और जहाँ अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र वातावरण था। उन्होंने राजस्थानके कई राजा-महाराजाओंके साथ सम्पर्क स्थापित किया, जिनमें उदयपुर, जोधपुर, शाहपुरा आदिका विशेष रूपसे उल्लेख किया जा सकता है। उदयपुरके महाराणा सज्जनसिंह बड़े सज्जन प्रकृतिके पुरुष थे और स्वामी दयानन्दने उन्हें मनुस्मृतिका अध्ययन कराया। जोधपुरके महाराजा विलासी प्रकृतिके थे और इसके लिए स्वामी दयानन्दको एक बार उनकी भर्त्सना भी करनी पड़ी थी। यही प्रसंग आगे चलकर स्वामी दयानन्दके प्राणोंके लिए संकटका कारण बन गया। उन्हें विष देकर उनके जीवनको समाप्त करनेकी चेष्टा की गई, जो सफल हुई और सामाजिक क्रांतिकी ज्योति बीचमें ही शान्त हो गई।

अजमेर आर्यसमाजका एक सुदृढ़ दुर्ग बन गया। वहाँ आर्यसमाजने एक हाई-स्कूल चलाया, जो अब कॉलेजका रूप धारण कर चुका है। इससे निकले हुए नवयुवकोंने समाज-सेवा और सामाजिक क्रांतिका संदेश राजस्थानमें फैलाया। राजस्थानमें आर्य समाजकी शाखाएँ स्थापित हुई और उनके द्वारा भी सामाजिक अंध-विश्वासों और रूढ़ियोंके विरुद्ध प्रचार किया गया। अजमेरमें एक बड़ा यंत्रालय भी स्थापित किया गया और उसके द्वारा वैदिक साहित्यका प्रकाशन और प्रचार हुआ। अनाथालय और विधवा-आश्रमकी भी आर्यसमाजने अजमेरमें स्थापनाकी जो देशकी प्राचीनतम संस्थाओंमेंसे है। स्वामीजीने जिस परोपकारिणी सभाकी स्थापना की थी, उसका केन्द्र भी अजमेरमें ही था। एक प्रकारसे यह कहा जा सकता है कि राजस्थानमें समाज-सुधार कार्यका श्रीगणेश करने का श्रेय आर्यसमाजको है। उसीने लोगोंमें सामाजिक चेतना पैदा की और समाज-सेवाका मंच प्रदान किया। वह धार्मिक कट्टरताका युग था। छुआछूत, ऊँच-नीच और जाति-पाँतिकी भावना समाजमें व्याप्त थी। विधवा-विवाहको अत्यन्त नीची निगाहसे देखा जाता था और बाल-विवाहोंका दौर-दौरा था। इन तमाम सामाजिक कुरीतियोंके खिलाफ आर्यसमाजने प्रचार व आन्दोलन किया। किन्तु उसे काफी प्रतिकूलता का सामना करना पड़ा। बूंदी रियासतका एक बारका जिक्र है। कोई आर्यसमाजके प्रचारक वहाँ गए और सभाकी योजना की। जब यह बात महाराजाको ज्ञात हुई तो उन्होंने पूछा—यह क्या बखेड़ा है? महाराजाके अनुचर ने उन्हें बताया कि आर्यसमाजी माजी साहिबा (राजमाता) का फिरसे ब्याह कराने आए हैं। बस फिर क्या था, सभा दरबारके हुक्मसे बंद करा दी गई और प्रचारक अपनी बात भी नहीं कह पाए।

आर्यसमाजकी प्रेरणासे और स्वतंत्र रूपसे भी राजस्थानमें कई जगह सेवासमितियोंकी स्थापना हुई। इन सेवा-समितियोंका काम मेलोंठेलोंमें व्यवस्था करना, पानी पिलाना,

दवा-दारू देना होता था। किन्तु इन सेवासमितियोंकोभी राज्य अथवा जागीरदारों के कोपका शिकार होना पड़ जाता था। सन् १९१७ में भरतपुरमें सेवासमिति इसीलिए बन्द करदी गई कि सेवासमितिके एक स्वयंसेवकने महाराजाको मंदिरमें उस द्वारसे प्रविष्ट नहीं होने दिया, जो स्त्रियोंके लिए सुरक्षित कर दिया गया। जयपुरमें बिसाऊ के ठाकुरसाहबने सेवा समितिके कार्यकर्त्ताओंको पकड़कर जेलमें डाल दिया और उन्हें रिहा करानेके लिए समाचारपत्रोंमें बड़ा आन्दोलन करना पड़ा। यह असहयोग आन्दोलनके दिनोंकी बात है। सेवासमितिके कामका भी असहयोग आन्दोलनसे संबंध जोड़ दिया गया, जो निराधार था। बीकानेरमें १९३० में राजद्रोहका जो मुक़दमा चलाया गया था, वह चूरूकी उस संस्थाको लेकर चलाया गया था जिसका मुख्य काम शिक्षा-प्रसार, समाज-सेवा आदि था। पुस्तकालयकी स्थापनाके अपराधमें दो चार और ६ वर्षकी लम्बी सजाएँ दी गई थीं। उदयपुरमें डा० मोहनसिंह मेहताने स्काउट आन्दोलन का श्री गणेश किया और बादमें विद्याभवन नामक शिक्षण-संस्थाकी स्थापना की। यद्यपि यह शिक्षा-संस्था आज विशाल रूप धारण कर चुकी है, किन्तु शुरूमें उसे सामाजिक कट्टरता और शासकीय संकीर्णताके बीचसे अपना रास्ता निकालना पड़ा।

देशमें बाल-विवाहकी प्रथा काफी व्यापक थी। छोटी और कच्ची उम्रमें लड़के-लड़कियोंकी शादी कर देनेका आम रिवाज था। इस प्रथाको शास्त्रसम्मत माना जाने लगा था। ऐसे भी उदाहरण सामने आए, जिनमें माता-पिताने अपनी गर्भ-स्थित सन्तान का संबंध स्थिर कर लिया। यह आम दृश्य देखा जा सकता था कि माता-पिता गोदमें उठाकर वर-वधूको विवाह-मण्डपमें ले जाते थे। बाल-विवाहकी इस प्रथाके विरुद्ध पुरानी केन्द्रीय व्यवस्थापक सभामें अजमेरके प्रतिनिधि श्री हरबिलासजी शारदाने एक विधेयक पेश किया, जिसमें लड़के-लड़कियोंकी शादीकी एक न्यनतम उम्र निर्धारित की गई और उससे कम उम्रकी शादियोंको अपराध ठहराया गया। लड़कीकी आयु १४ वर्ष और लड़केकी १६ वर्ष निर्धारित की गई। यद्यपि सनातनी वर्गने इस विधेयक का तीव्र विरोध किया, किन्तु उसके बावजूद वह व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया और शारदा क़ानूनके नामसे विख्यात हुआ। क़ानूनमें कुछ त्रुटियाँ थीं और वह देशी राज्योंपर लागू नहीं थी जिसके कारण राजस्थानको उसका लाभ नहीं मिला और बाल-विवाह होते रहे। फिर भी समाज-सुधारकी दिशामें यह एक बड़ा क़दम था। उसका श्रेय एक राजस्थानी समाज-सुधारकको ही देना होगा। समाज-सुधारके क्षेत्रमें उनकी सेवाओंको आदरके साथ स्मरण किया जाएगा।

सामन्ती युगमें घरमें कन्याका पैदा होना ही एक भारी अभिशाप माना जाता था। राजपूत कुटुम्बोंमें तो स्थिति इस हद तक पहुँच गई थी कि लोग अपनी नवजात कन्याका जन्मके साथ ही गला घोंट देते थे या खाटके पायेके नीचे दबाकर मार डालते थे। राजपूतोंमें अहंकारकी मात्रा विशेष होती थी और कन्या-पक्षको वर-पक्षके आगे झुकना ही पड़ता था। इस कथित अपमानसे बचनेके लिए ही नवजात कन्याओंको मौतके घाट उतारनेकी प्रथा अस्तित्वमें आई थी। यद्यपि इस प्रथाका लोप हो चुका है, किन्तु अभी भी कन्याके जन्मका आम तौरपर स्वागत नहीं किया जाता। कन्या माता-पिता के लिए एक भारी बोझ समझी जाती है। लड़के-लड़कियोंके लालन-पालनमें भेद-भाव

तो होता ही है । कन्याका उतना लाड-चाव नहीं होता, जितना पुत्रका । कन्याका विवाह माता-पिताके लिए एक सबसे कठिन समस्या बन गई है । तिलक और दहेजकी प्रथा के कारण ही यह हो रहा है । वर-पक्षकी माँगें बढ़ती ही जा रही हैं । उनके कारण समाजमें योग्य वर प्राप्त करना कठिन हो गया है । यह खेदका विषय है कि दहेजकी प्रथा के विरुद्ध कोई प्रभावशाली कानून नहीं बन सका, जो अनेक परिवारोंकी आर्थिक तबाही का कारण बन रही है ।

राजस्थानमें अनमेल विवाहकी कुप्रथाका भी जोर रहा है । वैश्य वर्गमें धनसम्पन्न व्यक्ति प्रौढ़ अथवा वृद्धावस्थामें निरीह किशोरीके साथ विवाह करनेमें सफल हो जाते हैं और माता-पिता पैसेके लोभमें अपनी कन्याका भविष्य अन्धकारमय बना देते हैं । ऐसे अनमेल विवाहोंके विरुद्ध अब समाजका अन्तःकरण जाग्रत हो रहा है । विशेषकर नवयुवकोंमें उनका विरोध करनेकी शक्ति प्रकट हो रही है । उसके फलस्वरूप कई अनमेल विवाह नहीं हो पाए हैं । राजस्थानमें राजपूत और उनसे संबंधित वर्गोंमें बहु-विवाहकी प्रथा भी प्रचलित रही । कोई बिरला ही ऐसा राजा-महाराजा या जागीर-दार होगा, जिसका एकसे अधिक विवाह न हुआ हो । इसके अलावा अनैतिक संबंधोंकी तो कोई गिनती ही नहीं । राजा-महाराजाओं और जागीरदारोंके वे पुराने ठाठ-बाट अब समाप्त हो गए हैं । उनकी आय सीमित हो गई है और क़ानूनन भी बहु-विवाहपर रोक लगा दी है, अतः यह प्रथा धीरे-धीरे मिट रही है ।

राजस्थानमें पर्दा-प्रथाका भी खूब बोलबाला रहा । इस प्रथाको उच्चता और सम्पन्नताकी निशानी समझा गया । उच्च घरानोंमें स्त्रियोंको कड़े पर्देमें रहना पड़ता है । स्त्रियाँ पुरुषोंसे ही नहीं, बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंसे भी पर्दा करती हैं । राजपूत और वैश्य वर्गमें पर्देका रिवाज विशेष है । राजस्थानके इतिहासमें राजपूत रमणियोंने युद्ध-क्षेत्रमें अपने जौहर दिखाये थे । किन्तु जब मुसलमानी शासन-कालमें स्त्रियोंकी इज्जत अरक्षित हो गई, तो उन्हें पर्देमें रखनेका रिवाज चल पड़ा । सामन्ती युगमें भी यह अरक्षाकी भावना बनी रही । यदि कहीं कोई सुन्दर स्त्री दिखाई देती, तो उसे येन-केन प्रकारेण गढ़में पहुँचा दिया जाता था और फिर उसका कोई पता न चलता था । बलात अपहरणके ऐसे किस्से होते रहते थे और राजस्थानकी एक बड़ी रियासतके महाराजाके रनवासमें ऐसी डेढ़ हजार स्त्रियाँ बंद थीं । इस रनवाससे निकली हुई एक महिलाने उसका जो हाल सुनाया, वह रोंगटे खड़े कर देनेवाला था । पर्दा प्रथाके शुरू होनेका जो भी कारण रहा हो, उसने स्त्री-समाजको पंगु और परावलम्बी बनादिया । अब जैसे-जैसे शिक्षाका प्रसार हो रहा है, पर्दा-प्रथाकी कठोरता कम होती जा रही है । जो लोग पर्दा-प्रथाको तोड़नेका साहस करते हैं, उन्हें समाजके बड़े-बूढ़े निर्लज्ज कहनेमें संकोच नहीं करते ।

मृतक भोजका भी राजस्थानमें आम रिवाज है । समाजमें अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनेके लिए मृतक भोजका आयोजन आवश्यक समझा जाता है । समाजके सभी वर्गों में यह रिवाज प्रचलित है । इसे एक धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्य मानलिया गया है और उसे पूरा करनेके लिए लोग कर्जदार तक बन जाते हैं । मृतक भोज करनेकी यह प्रथा सामाजिक अपव्ययकी निशानी बन गई है । जिन दिनों अभावके कारण

खाद्य पदार्थोंपर नियंत्रण लागू कर दिए गए थे, उन दिनोंमें चोरी-छिप इस प्रकारके बड़े-बड़े भोज होते रहते थे। राज्य कर्मचारी कुछ ले-लिवाकर उनकी ओरसे आँख बंद कर लेते थे। उस जमानेमें करौली रियासतमें एक भयंकर काण्ड हो गया। राज्य-कर्मचारियोंके एक दलने मृतक भोजको रोकनेका प्रयास किया, तो ग्रामीणोंने बीसों राज्य-कर्मचारियोंको मौतके घाट उतार दिया।

राजस्थानमें समाज-सुधारके आन्दोलनको जन्म देनेका अधिकतर श्रेय उन प्रवासी राजस्थानियोंको है, जो व्यापार-व्यवसाय तथा उद्योग आदि के लिए देशमें दूर-दूर तक चारों ओर फैले हुए हैं। राजस्थानके अधिकतर मरुभूमि ही होनेसे जीवन-निर्वाहकी समस्याको हल करनेके लिए इनको राजस्थानसे प्रवास करनेके लिए बाध्य होना पड़ा। जिन प्रदेशोंमें जाकर ये बस गए, उनके निवासियोंके जीवन तथा आन्दोलनसे इनका प्रभावित होना स्वाभाविक था। कलकत्ता, बम्बई आदिमें इनके द्वारा अनेक ऐसी सामाजिक संस्थाएँ कायम की गईं कि जिनका मुख्य उद्देश्य सामाजिक जीवनमें सुधार करना था। उनमें पैदा हुई सामाजिक चेतनाका लाभ राजस्थानको भी मिला क्योंकि उनके सामाजिक जीवनका सम्बन्ध अपने जन्म-प्रदेश राजस्थानके साथ ही था। शादी, गमी आदिके अवसरोंपर उनको यहाँ आना ही होता था। उन सामाजिक संस्थाओंमें मारवाड़ी अग्रवाल महासभा, महेश्वरी महासभा, ओसवाल महासम्मेलन, खंडेलवाल महासभा, ब्राह्मण महासभा, मारवाड़ी कार्यकर्त्ता सम्मेलन तथा अ० भा० मारवाड़ी सम्मेलन आदि मुख्य हैं। इनमेंसे अनेकके वार्षिक अखिल भारतीय अथवा प्रादेशिक सम्मेलन राजस्थानमें अनेक स्थानोंपर हुए। शेखावाटी रूढ़िवादका गढ़ है, धार्मिक व सामाजिक कट्टरताका वहाँ बोलबाला है। इसी कारण फतहपुरमें मारवाड़ी अग्रवाल महासभाका जो वार्षिक अधिवेशन हुआ, उसकी बहुत चर्चा रही। इन संस्थाओंके कारण अनेक बार कुछ शिष्ट-मंडलोंने भी राजस्थानके विभिन्न भागोंका दौरा किया। इनकी ओर से समाज-सुधार-संबंधी कुछ साहित्यका भी राजस्थानमें प्रसार किया गया, इनकी देखा-देखी अन्य जातीय संस्थाओंका भी प्रादुर्भाव हुआ। उनमें राजपूत महासभा, जाट महासभा, दिगम्बर जैन महासभा, दिगम्बर जैन परिषद आदि मुख्य हैं। धीरे-धीरे अन्य जातीय संस्थाएँ भी संगठित हुई। गुर्जर, मीणा व नाई आदि ने भी अपनी सामाजिक संस्थाओंको संगठित किया। अनेक युवक-संगठन भी जहाँ-तहाँ पनप गए। उनका विरोध भी किया गया। रींगसमें स्वर्गीय श्री बसन्तलालजी मुरारकाके सभापतित्वमें जिस युवक सम्मेलनका आयोजन किया गया था, उसका विरोध समाजके पंचों और जयपुर राज्यके अधिकारियोंने यहाँ तक किया था कि उसमें बाहरसे आनेवालोंके लिए ठहरनेके स्थान और भोजन आदिकी व्यवस्था बहुत कठिनाईसे की जा सकी थी। शेखावाटीमें जब वे दौरे पर गए तब स्थान-स्थानपर काले झंडोंके विरोधमें प्रदर्शन किए गए और लक्ष्मणगढ़में उन पर धूल, मिट्टी व पत्थर तक फेंके गए। ऐसा विरोध समाज-सुधारकोंका प्रायः सारे ही राजस्थानमें किया जाता था। फिर भी धीरे-धीरे सामाजिक चेतनाको प्रश्रय मिलता गया और पिछड़ा होनेपर भी राजस्थान समाज-सुधारकी लहर से अछूता नहीं रह सका। समयके सर्वथा अनुकूल होते हुए भी समाज-सुधारके क्षेत्रमें अभी बहुत कुछ करना बाकी है। अनेक स्थान ऐसे हैं, जिनमें समाज-सुधारकी हवाका

एक भी झोंका अभी नहीं पहुँचा और वहाँके अधिकांश लोग बाबा आदमके दिनोंकी दुनिया में रहते हैं।

राजस्थानमें सामन्तवादी व्यवस्थाके कारण हरिजनोंकी स्थिति काफ़ी दयनीय रही। छुआछूतका खूब बोल-बाला था। शिक्षा-संस्थाओं जलाशयों और देव-मंदिरोंके द्वार उनके लिए बन्द थे। राजस्थानके कुछ भागोंमें तो इतनी दयनीय स्थिति थी कि हरिजनोंको खेलसे पानी लेना पड़ता था। कुओंपर एक हौज बना होता था, जिसमें जानवरोंके लिए पानी भर दिया जाता था। उसीसे हरिजन अपनी प्यास बुझाते थे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की प्रेरणासे राजस्थानमें भी हरिजन-उत्थानका संगठित प्रयत्न हुआ। हरिजन सेवक संघकी राजस्थान-शाखा स्थापित हुई। जगह-जगह हरिजनों के लिए स्कूल खोले गए। कुएँ बनवाए गए। राजस्थानमें सबसे पहले झालावाड़के महाराजाने हरिजनोंके लिए अपने राजमन्दिरके द्वार खोले। हालमें उदयपुरका प्रसिद्ध जगदीशका मन्दिर भी हरिजनोंके लिए खुल गया है। हरिजनोंपर राजस्थानमें और भी तरह-तरहके प्रतिबंध लगे हुए थे। जैसे वे चीनीकी मिठाई नहीं बना सकते थे, घोड़ेकी सवारी नहीं कर सकते थे, चाँदी-सोनेके जेवर नहीं पहन सकते थे,। ये सब प्रतिबन्ध धीरे-धीरे टूट रहे हैं। अब तो राज्यने भी क़ानून द्वारा सब भेदभावको खत्म कर दिया है और वह उनकी उन्नतिके लिए विशेष प्रयत्न कर रहा है।

राजस्थानमें सामन्तवादने एक और कुप्रथाको जन्म दिया, जिसे दास-प्रथा कहा जा सकता है। राजा-महाराजाओं और जागीरदारोंके यहाँ बड़ी संख्यामें दास-दासी रहते थे, जिनको चाकर, दरोगा, बांदी आदि नामोंसे पुकारा जाता था। सन् १९२१ की मर्दुमशुमारीमें इनकी संख्या १ लाख ६० हजार गिनी गई थी। ये लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने मालिकोंकी ग़ुलामी करनेके लिए बँधे हुए थे और मालिकोंको उनके शरीरपर भी पूरा अधिकार प्राप्त था। मालिक अपनी लड़कियोंके दहेजमें धन-सम्पत्तिके अलावा दरोगोंके कुटुम्बके कुटुम्ब दे दिया करते थे। इन ग़ुलाम स्त्री-पुरुषोंको उनके मालिक चाहे-जैसी यंत्रणा दे सकते थे। उनकी स्त्रियोंके सतीत्वके साथ चाहे जैसा बर्त्ताव किया जा सकता था। नामके लिए उनका पति भलेही कोई हो, किन्तु वे अपने 'अन्नदाता' की इच्छाकी उपेक्षा नहीं कर सकती थीं। अलवर-राज्यमें एक बाँदीके मुक्त होजानेके विरुद्ध अदालतमें दावा दायर किया गया था और उसपर क़ानूनी अधिकार जताया गया था। अब राजा-महाराजाओं और जागीरदारोंके लिए पहले जितनी संख्यामें दास-दासी रखना संभव नहीं रह गया है। इसलिए उन्होंने बहुत-से पुराने दास-दासियोंको मुक्त कर दिया है। अब इस प्रकार मुक्त हुए दास-दासी, अपनेको निराश्रित अनुभव कर रहे हैं और समाजके स्वाभिमानी और स्वावलंबी नागरिक बननेमें अभी उन्हें समय लगेगा।

देशके स्वतंत्र होनेके बाद राजस्थानकी भी कायापलट हो गई है। सामन्तवाद समाप्त हो गया है। राजा महाराजाओंके हाथोंसे सत्ता निकलकर जनताके प्रतिनिधियों के हाथोंमें पहुँच गई है। जागीरदारी प्रथा समाप्त हो गई है। लोकसत्ताका उदय हो चुका है। सारा राजस्थान अजमेर सहित एक इकाईमें संगठित हो गया है। इन बड़े और क्रांतिकारी परिवर्तनोंसे राजस्थानके सामाजिक जीवनपर अनिवार्य रूपसे गहरा

असर पड़ेगा । आनेवाले जमानेमें स्त्री और पुरुषका दर्जा समान होगा और पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी सामाजिक जीवनमें बराबरीके नाते भाग ले सकेंगी । किन्तु हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीतिक परिवर्तनोंकी तुलनामें सामाजिक परिवर्तन धीमी गतिसे होते हैं । और सामाजिक कुप्रथाओंको तोड़नेके लिए अधिक दृढ़ता और साहस की आवश्यकता होती है । यदि पर्दा प्रथाको तोड़ना है, दहेजकी प्रथाको समाप्त करना है या मृतक भोजको बन्द करना है, तो व्यक्तिको स्वयं ही इस दिशामें प्रयत्न करना होगा । समाज-सुधारके क्षेत्रमें केवल उपदेश काफी नहीं हो सकता, बल्कि अपने व्यक्तिगत आचरण द्वारा एक मिसाल स्थापित करनी होगी । आशा है राजस्थानकी नई पीढ़ी हानिकर सामाजिक बंधनोंको तोड़ फेंकेगी और भविष्यमें कोई यह अंगुली-निर्देश नहीं कर सकेगा कि राजस्थान समाज-सुधारके क्षेत्रमें अन्य प्रान्तोंसे पिछड़ा हुआ है । राजनीतिक और आर्थिक उन्नतिके साथ उसे सामाजिक प्रगति भी करनी होगी अन्यथा वह उन्नति अधूरी ही रहेगी ।

—:०:—

श्री विनय घोष

बंगालमें समाज-सुधार आन्दोलन

जब समाजमें विकार उत्पन्न हो जाता है, तब उसके शोधन-संस्कारकी आवश्यकता पड़ती है। समाज कभी भी स्थिर नहीं रहा है और जब कभी उसकी परिवर्तनशीलता के गति-पथमें कुसंस्कारों और जड़ विचारोंके कारण बाधा आयी है, तब समाजके अन्दर से ही कुछ ऐसी परिस्थितियोंका आविर्भाव हुआ है, जिनसे प्रगति-पथको मुक्त करनेकी चेतना जाग्रत हुई है। युग-वैशिष्ट्यके अनुसार यह चेतना कभी कम और कभी अधिक होती रही है। इस प्रकारकी चेतना भारतमें प्राचीन युगसे ही चली आती है और मध्य युगमें भी वह नितान्त सुषुप्त नहीं थी। एतरेय ब्राह्मणकी एक कहानीमें राजकुमार रोहितको देवताओंने जो उपदेश दिया, वह इस प्रसंगमें स्मरणीय है। वर्षों तक चलते रहने के बाद थककर जब राजकुमार रोहित विश्रामके लिए घरकी ओर लौटने के लिए उद्यत हुए, तब पथमें वृद्ध ब्राह्मणरूपी इन्द्रने उनसे कहा—"हे रोहित, जो चलते-चलते थक जाय, उसकी श्रीका कहीं अन्त नहीं है। मैंने युगोंसे यही बात सुनी है। जो चलता है, देवराज इन्द्र भी उसके मित्र होकर साथ-साथ चलते हैं। जो चलना नहीं चाहता, वह श्रेष्ठ होते हुए भी क्रमशः अवनतिको प्राप्त होता है। अतः 'चरैवेति, चरैवेति' चलते चलो—चलते चलो। इस प्रकार इन्द्रने रोहितको यह 'चरैवेति' मंत्र पाँच बार सुनाया। आगे चलना ही मनुष्यका धर्म है—समाजका धर्म है। भारतके समाजका धर्म और आदर्श प्राचीन और मध्य युगमें भी यही रहा है। किन्तु जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में, उसी प्रकार सामाजिक जीवनमें भी आदर्श की विकृति और विच्युति हमेशा ही होती रही है। अपने लक्ष्य और नीतिके प्रशस्त राजपथको छोड़कर मनुष्य और समाज दुराचार-दुर्नीति के मार्गपर बढ़ चला है और कुसंस्कार एवं जड़ विचारकी आवर्जनासे वह पथ ढक गया है। धर्मकी विकृति हुई, सदाचारकी जगह व्यभिचारने लेली, उसी समय समाजमें संकटकी सृष्टि हुई और संकटसे मुक्तिके मार्गकी खोज आरम्भ हुई। जिन्होंने इस संकट मुक्तिका मार्ग बताया, वे ही युगपुरुष और युग सुधारक कहलाए। इसी प्रकार एक युग-संकटके संधि कालमें शंकर और चैतन्यका हमारे देशमें आविर्भाव हुआ था। आधुनिक युगमें राममोहन, रानाडे, दयानन्द और विद्यासागरने भी इसी संकट-मुक्तिके उद्देश्यसे समाज-सुधारका व्रत ग्रहण किया।

आधुनिक युगमें समाज-सुधारके जिन आदर्शोंसे नयी शिक्षा-प्राप्त भारतवासी अथवा बंगालवासी उद्बुद्ध हुए उनका सारा श्रेय केवल अंग्रेजों और उनकी शिक्षाको ही दिया

जाय तो ठीक नहीं होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि अंग्रेज़ोंने परिस्थिति और सुयोग की सृष्टि कर अप्रत्यक्ष रूपसे समाज-सुधारका पथ सुगम किया।

नई शिक्षा और पश्चिमी सभ्यताके संस्पर्शके परिणामस्वरूप ही इस प्रकारके वातावरणको पनपनेका अवसर प्राप्त हुआ। १७५७ ई० के प्लासीके युद्धसे लेकर १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-संग्राम तक प्रायः १०० वर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनीका राज्य रहा। उस समय कम्पनीके संचालकोंका प्रधान लक्ष्य भारतके घरेलू मामलोंमें और विशेषकर धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रोंमें किसी भाँतिका हस्तक्षेप करना नहीं था। इसी नीति का पालन कर वे केवल अर्थोपार्जनकी ओर उन्मुख होकर भारतवासियोंके आस्थाभाजन बनना चाहते थे। कम्पनीके शासन-कालमें राज-प्रतिनिधियोंमें कुछ लोग व्यक्तिगत रूपसे उदारपंथी और सुधारपंथी थे। उन्होंने ही यहाँके शिक्षित वर्गके लिये सुधार-सुविधा सम्बन्धी माँग की। इसी माँगको लेकर इंगलैण्डके शासकोंके साथ संघर्ष किया। और जनमत संगठित किया। इसीलिए हम देखते हैं कि सिपाही-विद्रोहके समय सभी अंग्रेज़ोंने एक स्वरसे यह कहा कि बिना सोचे-समझे कुछ राज-प्रतिनिधियोंने यहाँके शिक्षितों और धार्मिकोंके बीच हस्तक्षेप करके विद्रोहकी ज्वाला जलाई। उन्होंने सती-प्रथा बन्द करने, विधवा-विवाहका क़ानून बनाने, अंग्रेजी शिक्षाका प्रचार करने और पादरियों द्वारा धर्म-प्रचारके अत्युत्साहको ही विद्रोहके प्रधान कारणोंमें बताया है। अतः अंग्रेज शासक सरकारी तौरसे कम्पनीके शासन-कालमें समाज-सुधारका खास कार्य नहीं कर सके, यह स्पष्ट है। प्रधानतः इस देशके नव शिक्षा-प्राप्त युवकोंने ही विभिन्न प्रदेशोंमें समाज-सुधारके कार्यमें अपनेको संलग्न किया और इस दिशामें बंगाल भी पीछे नहीं रहा।

अँग्रेज़ शासकोंकी अपेक्षा पादरियोंने हमारे देशके समाज-सुधारके काममें विशेष हाथ बँटाया है। इसीलिए अँग्रेज़ शासक सजातीय होनेपर भी पादरियोंको अच्छी निगाहसे नहीं देखते थे। भारतवर्षमें आकर धर्म-प्रचार करनेकी उन्हें पूरी आज़ादी नहीं दी थी। १८३३ ई० तक पादरियोंको भारतवर्षमें आनेके लिए "लाइसेन्स" की आवश्यकता होती थी और तब भी उनको पूर्ण स्वाधीनताके साथ काम करनेका संयोग प्राप्त नहीं था। इतना होनेपर भी बहुतसे पादरी भारतवर्षके विभिन्न स्थानोंमें पहुँच गये और उन्होंने देशवासियोंके हृदयमें समाज-सेवाकी भावना जाग्रत की। १७९२ ई० में "बैपतिस्त मिशनरी सोसाइटी" की स्थापना होनेके बाद १७९३ ई० के अन्तिम दिनोंमें विलियम केरी और जौन टामस कलकत्ते आये। जौन टॉमस ही बंगालमें आनेवाले पहले बैपतिस्ट मिशनरी थे। १७८३ ई० में वे एक जहाज़के डाक्टरके रूपमें बंगालमें आये और तभी उनके मनमें धर्म-प्रचारकी भावना जागी। १७९५ ई० में लन्दन मिशनरी सोसाइटीका कार्य शुरू हुआ और सोसाइटीकी ओरसे नैथेनियल फॉरसाइद ने कलकत्तेमें प्रचार-कार्य शुरू किया। आरम्भमें लन्दन सोसाइटीका विशेष कार्य कर्नाटक प्रदेश और दक्षिण भारतमें केन्द्रित था। १८१२ ई० में उन्होंने बंगालमें पूरे जोशके साथ कार्य शुरू किया। १७९९ ई० में चर्च मिशनरी सोसाइटी'की स्थापना हुई। १८१४ ई० से इन्होंने बंगालमें एवं दक्षिण भारतमें कार्य शुरू किया। १८०४ ई० में "बाइबिल सोसाइटी" एवं १८१४ में ई० में कलकत्ता डॉयसिज सोसाइटीकी स्थापना

हुई। १८२० ई० से वेसेलियन मिशनरी सोसाइटीने अपने प्रतिनिधि भेजने आरम्भ किये। १८३० ई० में अलेक्जेन्डर डॉफके आगमनके बादसे स्कॉटिश मिशनरी सोसाइटी का काम बंगालमें आरम्भ हुआ। जैसा कि कहा गया है, १८३३ ई० तक इन मिशनरियोंको काम करनेकी पूरी स्वाधीनता नहीं थी। कम्पनीके शासकोंमें से अनेक पादरियोंका मन-ही-मन तो समर्थन करने थे, किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे वे कुछ नहीं कर सकते थे। इस देशके निवासी भी स्वभावतः ही उनको अच्छी निगाहसे नहीं देखते थे। इन बाधा-विपत्तियोंके पथसे गुजरकर भी मिशनरियोंने शिक्षा और समाज-सुधारके कार्य को किया और यह कहना अत्युक्ति न होगी कि १८ वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धसे लेकर उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्ध तक भारत और बंगालमें इन्हीं मिशनरियोंके द्वारा सामाजिक चेतनाका विकास हुआ।

मिशनरियोंके कार्य-कलापका प्रधान केन्द्र बंगाल था और उनका प्रधान कार्य था ईसाई धर्मका प्रचार करना। धर्म-प्रचारके लिये स्वभावतः ही उन्हें इस देशके आचारित धर्मकी खामियाँ निकालकर लोगोंके सामने रखना और उनको विशेष तूल देना पड़ता था। विशेषकर उन्होंने हिन्दू धर्मकी शास्त्रीय विकृति और पुँजीभूत संस्कारों के विरुद्ध आवाज़ उठायी। विकृतिका मुख्य रूप था तैंतीस कोटि देवताओंकी मूर्त्ति-पूजा, उत्कट ब्राह्मणवाद और जातिवाद। पादरी लोग बात-बातमें इन बुराइयोंका उल्लेख करते और ईसाई धर्मकी विशेषता प्रतिपादित करते थे। हिन्दू धर्मका सुधार करना उनका उद्देश्य नहीं था बल्कि उनका उद्देश्य हिन्दू-धर्मको लोक-समाजमें हेय प्रतिपन्न कर ईसाई धर्मकी प्रतिस्थापना करके इस देशके निवासियोंका धर्म परिवर्तन करना था। समाज-सुधार भी उनका प्रथम उद्देश्य नहीं था। अपने धर्म-प्रचारके कार्योंकी सफलता के लिए ही उन्हें कुछ ऐसे सुधारके कार्य करनेके लिए बाध्य हो जाना पड़ा जिनके बिना सफलता नहीं हो सकती थी। मिशनरियोंके इन कार्य-कलापोंको हम बंगालके धर्म-सुधार और समाज-सुधार आन्दोलनकी पृष्ट-भूमिका कह सकते हैं। यदि इनको भारतवर्षके सुधार-आन्दोलनोंकी भित्ति कहें, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

उन्नीसवीं शताब्दीके दूसरे दशकमें प्रायः सभी मिशनरी सोसाइटियोंने अपने प्रतिनिधि बंगालमें भेजना शुरू किया और वे धर्मके प्रचारका कार्य बड़े आत्म नियोगसे करने लगे। इनके इस कार्यके साथ ही समाज-सुधारका प्रश्न खड़ा हुआ। इसी समय १८१४ ई० के आसपास राजाराममोहन राय स्थायी रूपसे कलकत्ता आकर रहने लगे। क्यों राममोहनरायकी दृष्टि पहले पहल धर्मकी ओर आकृष्ट हुई, क्यों उन्होंने धर्म-संस्कारकी आवश्यकता अनुभव की, इन बातोंको मिशनरियोंके कार्यकलापकी पृष्ठ-भूमिमें आसानीसे समझा जा सकता है। इसके अलावा उस समय धर्म ही सम्पूर्ण सामाजिक आचार-विचार, रीति-नीति और ध्यान-धारणाका मूल उत्स था। धर्मको छोड़कर उस समय समाज-सुधारकी कल्पना करना भी सम्भव नहीं था। इसीलिए राममोहनरायने पहले मूल उत्सकी ओर ही ध्यान दिया। साथ ही ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचारने भी उनकी दृष्टि विशेष रूपसे धर्म-संस्कारकी ओर आकृष्ट कर दी थी।

कलकत्ता आनेके बाद राममोहनरायने १८१५ ई० में वेद ग्रंथोंका अनुवाद प्रकाशित करवाया। वेद-उपनिषदोंकी चर्चा उस समय बंगालमें कम होने लगी थी। संस्कृत पंडितों

के बीच ही उनकी चर्चा होती थी। बाहर उनका कोई प्रचार नहीं था। पोथियों तक वेद-उपनिषदकी वाणी बन्दी थी। राममोहनरायका युग मुद्रण-युग कहलाता है। इसके पूर्वसे ही पादरी लोगोंने छापेखाने खोलकर इसाई धर्म-ग्रंथोंको छापकर प्रचार करना शुरू कर दिया था। राममोहनरायने भी वेदान्त ग्रंथोंको बँगलामें अनुवाद करके बिना मूल्य वितरण करना आरम्भ कर दिया। पोथियोंके रूपमें जो दुर्लभ था और संस्कृत भाषा के कारण जो दुर्बोध था, वह मातृभाषामें और मुद्रित अवस्थामें आनेपर बोधगम्य और सहज प्राप्य हो गया। ज्ञान-जगतमें एक नए विप्लवकी सृष्टि हुई और उसमें सहायक थे छापनेकी मशीन और मातृभाषा। हिन्दू धर्म के विरुद्ध मिशनरियों द्वारा जो कुप्रचार हो रहा था, उसका राममोहन रायने इसी प्रकार प्रतिरोध किया। उन्होंने कतिपय उपनिषदोंका अनुवाद कर प्रकाशित कराया। उनकी यह प्रमाणित करनेकी इच्छा थी कि निराकार ब्रह्मकी साधना ही हिन्दू धर्मकी श्रेष्ठ साधना और एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद ही हिन्दू धर्मका स्वीकृत सत्य है। वही सत्य और वही साधना समय-समय पर जन-साधारणमें विकृत होती रही और शास्त्रकार तथा पुरोहित लोग ही उस विकृति के लिए मुख्यत: उत्तरदायी हैं। ईसाई धर्म भी तो इसी प्रकारसे मध्यकालीन युगमें पादरियों द्वारा विकृत किया गया था। किंतु जिस प्रकार उससे सच्चा ईसाई-धर्म उपेक्षित नहीं हुआ, उसी प्रकार हिन्दू धर्म भी उपेक्षणीय नहीं है। राममोहनरायकी इस अकाट्य युक्तिके सामने विलक्षण बुद्धिशाली पादरी लोग भी विभ्रांत हो गए। एक दिन नए इस्लाम धर्मका सामना होनेपर और हिन्दू धर्ममें प्रचलित कुसंस्कारोंसे व्यथित होकर शंकरने अद्वैतवादका प्रचार किया था। राममोहनने भी बहुत-कुछ इसी प्रकारकी ऐतिहासिक आवश्यकतावश हिन्दू धर्ममें सुधार करनेके लिए निराकार ब्राह्म-धर्मका प्रचार किया। मूर्त्ति-पूजा, बहुदेवोपासना हिन्दू धर्मका एकमात्र अथवा श्रेष्ठ सत्य नहीं है, इस बातका वेद-उपनिषद के माध्यमसे प्रचार करके राममोहनने उस समय हिन्दू धर्म और हिन्दू समाजको एक विपर्ययसे बचा लिया।

इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए ब्राह्म-समाजकी स्थापनाके बहुत पहले राममोहनरायने १८१५ ई० में 'आत्मीय सभा' नामक एक सभा प्रतिस्थापित की थी। इस सभामें नियमित तौरसे धर्मालोचना होती थी; वेद-पाठ और ब्रह्म-संगीत होता था। किंतु, चूंकि धर्म-सुधारके साथ उस समय समाज-सुधार अविच्छेद्य रूपमें जुड़ा हुआ था, इसलिए आत्मीय सभाके अधिवेशनमें धर्मके साथ सामाजिक समस्याओंकी भी आलोचना होती थी। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओंमें इस सभाके अधिवेशनोंकी जो कार्यवाही बीच-बीचमें प्रकाशित होती थी (जैसे 'कलकत्ता ज़रनल' में) उससे इसका आभास मिलता है। १८ मई, सन् १८१९ के 'कलकत्ता जरनल' में प्रकाशित विवरणसे मालूम होता है कि आत्मीय सभाके अधिवेशनोंमें नियमित रूपमें धर्मालोचनाके अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक समस्याओं की भी आलोचना होती थी। जाति-भेद समस्या, पंक्ति-भोजन और निषिद्ध खाद्यकी समस्या, बाल-विधवाओं द्वारा कठोर ब्रह्मचर्य पालनके औचित्यानौचित्य, बहु विवाहकी प्रथा, सती-प्रथा अथवा सह-मरण कुसंस्कार और मूर्त्ति पूजा-संबंधी विभिन्न प्रकारके कदाचार इत्यादिके संबंधमें इस सभाके अधिवेशनोंमें आलोचनाएँ होती थी। आत्मीय-सभा केवल ब्राह्म-धर्म-प्रचार अथवा ब्रह्मोपासनाकी सभा ही नहीं थी, समाज-सुधारकी

भी सभा थी, यह इस विवरणसे स्पष्ट मालूम होता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर राममोहनराय द्वारा स्थापित इस आत्मीय सभाको ही वर्तमान बंगदेशकी प्रथम समाज-सुधारकी संस्था कहा जायगा। बादमें बंगालमें और सारे भारतवर्षमें जिन सब सामाजिक कुप्रथाओं और जड़ विचारोंके विरुद्ध सुधारक गणने संगठित रूपसे आन्दोलन किया, राममोहनरायकी आत्मीय सभामें उन्हींके विषयमें नियमित तौरसे चर्चा-वार्त्ता होती थी।

आत्मीय सभा बहुत दिन नहीं चली, क्योंकि राममोहनरायके धार्मिक और सामाजिक मतामतका बाहर प्रचार होनेपर उनके विरुद्ध स्थितिपालक और प्रतिक्रियावादी हिन्दुओं ने तुमुल प्रतिवाद करना शुरू किया; भाँति-भाँतिके निम्नकोटिके उपायों द्वारा उनको और उनके दलके कुछेक लोगोंको अपदस्थ करनेकी चेष्टा की। इससे आत्मीय सभा बिखर गई। राममोहनने सन् १८२१ में यूनिटेरियन सोसाइटीकी स्थापनाकी और उसमें ईसाई ढंगसे उपासना करनेकी विधि आरम्भ की, किंतु उससे भी संतुष्ट न हो कर सन् १८२८ में ब्राह्म-समाजकी स्थापना की। राममोहनका यह ब्राह्म-समाज किसी दिन भी हिन्दुओंका अथवा किसी भी विशिष्ट धर्मसम्प्रदायका समाज नहीं था। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और यहूदी सब ब्राह्म-समाजकी उपासनामें सम्मिलित होते थे। तदनन्तर देवेन्द्रनाथ ठाकुरके पिता और केशवचन्द्र सेनके समयमें ब्राह्म-समाजकी नीतिमें अनेक परिवर्तन हुए। तथापि यह समझ रखना चाहिए कि ब्राह्म-समाज ही बंगालमें समस्त सामाजिक प्रगतिशील आंदोलनका अगुवा था और समाज-सुधारके कार्य में इसीने नई प्रेरणाके युगकी सृष्टि की। राममोहनरायके धर्मसे दूर चले जाने तथा क्रमशः एक नई साम्प्रदायिकताकी चहारदीवारीमें आबद्ध हो जानेके बावजूद ब्राह्म-समाज किसी दिन राममोहनकी सामाजिक नीति और आदर्शसे विच्युत नहीं हुआ। एक नयी साम्प्रदायिकता में सीमाबद्ध होजानेके फलस्वरूप जन-साधारणमें विस्तृत प्रभाव विस्तार करना ब्राह्म-समाजके लिए संभव नहीं रहा ? किंतु उसका सामाजिक आदर्श प्रगतिशील लोगोंको बराबर अनुप्राणित करता रहा।

समाज-सुधारके क्षेत्रमें सती-प्रथाका निवारण राममोहनका चिरस्मरणीय अवदान रहेगा। इस अमानुषिक प्रथाके कारण भारतके विभिन्न स्थानोंमें, विशेषतः बंगालमें ऐसी वीभत्स सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक दिन शायद भारतीय वीरांगनाओंको आत्म-रक्षाके लिए जिस क्रियाका प्रयोजन हुआ था, परवर्त्ती युगमें वही प्राणहीन स्थूल आचार और प्रथाके रूपमें परिणत हो गई, धर्मका सहारा पाकर। सती अर्थात् सहमरणकी वीभत्स प्रथाको बंद करनेके लिए मुगल बादशाह अकबरने भी चेष्टा की थी, किंतु भिन्न-धर्मी होनेके कारण उसके लिए दूसरेके धर्ममें हस्तक्षेप करना संभव नहीं था। अँगरेजोंके शासन-कालमें भी यही हुआ। एकाधिक विदेशी यात्रियों और ईसाई मिशनरियोंने इस सह-मरणकी प्रथाका आँखों देखा वर्णन लिखा है। १९ वीं शताब्दिके प्रारम्भसे ही मिशनरी लोग सती-प्रथाके विरुद्ध आंदोलन कर रहे थे। श्रीरामपुरके बैपतिस्त मिशनरियोंने १८०३-४ ई० में कलकत्ताको केन्द्र रखकर ३० मीलके दायरेमें सती-प्रथा पालन की संख्या और आनुष्ठानिक विवरण संग्रह करनेका कार्य हाथमें लिया। विलियम कैरीने फोर्ट विलियम कॉलिजके पंडितोंसे इस विषयमें शास्त्रीय मतामत भी संग्रह किया। मृत्युञ्जय विद्या-

लंकार जैसे धुरंधर संस्कृतज्ञ पंडितोंने भी यह मत दिया कि सती-प्रथा शास्त्र-सम्मत नहीं है। मिशनरियों द्वारा संग्रहीत तथ्योंका जब इँग्लैण्डमें प्रचार हुआ, तो वहाँके जन-साधारणमें हलचल हुई। इंग्लैण्डके विख्यात सुधारक विलियम विलवरफोर्सने सन् १८१३ में ईस्ट इंडिया कं० की सनदपर स्वीकृति देते समय कॉमन सभामें अपनी वक्तृतामें सती-प्रथाका विवरण प्रस्तुत किया और मानवताकी दृष्टिसे अविलम्ब इस प्रथाको बंद करनेके लिए निवेदन किया। नाना प्रकारसे सती-प्रथाको बंद करनेकी चेष्टा की गई। किन्तु क़ानूनके ज़ोरसे कोई भी गवर्नर-जनरल इस कुप्रथाको ख़तम करनेका साहस नहीं कर सका। इसका प्रधान कारण यह था कि इस देशके लोग धर्मके डरसे इस कुप्रथाके विरुद्ध खुले तौरसे आगे नहीं आए। मिशनरी विदेशी धर्म-प्रचारक थे। उनके मतामतके आधारपर कुछ भी करना विदेशी शासकोंके लिए संभव नहीं था। आख़िरमें राममोहन रायने खुले रूपमें सती-प्रथाके विरुद्ध अपने विचार व्यक्त किए और सन् १८१८ तथा १८१९ में उनके 'सह-मरणके विषयमें प्रवर्त्तक और निवर्त्तक संवाद' तथा 'सह-मरणके सम्बन्धमें प्रवर्तक और निवर्त्तकका द्वितीय संवाद' प्रकाशित हुए। संख्यामें कम होनेपर भी राममोहन रायके समर्थकोंका इस देशके लोगोंपर मिशनरियोंकी अपेक्षा अधिक असर पड़ा। सह-मरण शास्त्र-सम्मत प्रथा नहीं है, शास्त्र-विकृत कुसंस्कार है, यह राममोहनने बताया। किन्तु धर्मका व्यामोह उस समय भी प्रबल था। इसलिए राममोहनराय भी एकाएक सती-प्रथाको बंद करानेके लिए आवेदन करनेका साहस न कर सके। अंतमें विलियम बैंटिकने राममोहन रायके आंदोलनका आश्रय लेकर ४ दिसम्बर, सन् १८२९ को सती-प्रथाको ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दिया। सन् १९२९ में 'सह-मरण विषय' नामसे राममोहनने एक पुस्तिका लिखी। अँगरेज़ीमें भी उनकी कुछ पुस्तिकाएँ और अपीलें प्रकाशित हुईं। मधुमक्खीके छत्तेको छेड़नेके समान इस क़ानूनसे समाजमें एक बवंडर-जैसा खड़ा हो गया। सनातनी लोगोंने 'धर्मका नाश' नारा लगाकर प्रतिवाद करना शुरू किया और धर्म-सभा नामसे सन् १८३० में एक सभा का गठन किया गया। इंग्लैण्डमें भी इस क़ानूनको रद्द करानेके लिए आवेदन-निवेदन किया गया। उल्लेखनीय बात यह है कि बेथी नामक एक अँगरेज़ भी इस धर्म-सभाका प्रतिनिधि होकर विलायत गया। लेकिन इस सारी चेष्टासे कुछ भी नहीं हुआ। नवम्बर सन् १८३० में राममोहन राय विलायत गए और वही सन् १८३३ में उनकी मृत्यु हो गई। स्वदेश वापस आकर अपने प्रारम्भ किए हुए सुधार-कार्यको पूरा करनेका सुयोग राममोहन रायको न मिला। सिर्फ़ सहमरण ही नहीं, कुलीन प्रथा, बहुविवाह, बाल्य-विवाह, हिन्दू नारीके साम्पत्तिक अधिकार, जाति-भेद और मूर्त्ति-पूजा आदि प्रत्येक सामाजिक समस्याके विषयमें उन्होंने विचार किया था और उनके बारेमें खुले रूपमें आलोचा प्रत्यालोचना करनेमें उन्होंने कभी पीछे पैर नहीं रखा।

राममोहन रायकी मृत्युके पश्चात् १९ वीं सदीके तृतीय और चतुर्थ दशक-कालमें उनकी ज्योतिको जाग्रत रखते हुए 'यंग बंगाल' और 'तत्त्वबोधिनी सभा' के सदस्य सामाजिक सुधारके पथपर बढ़ते रहे। २० जनवरी, सन् १८१७ में हिन्दू कॉलेजकी स्थापना हुई। यह हिन्दू-कॉलिज ही बंगालमें पाश्चात्य विद्या और अँगरेज़ी शिक्षाका प्रधान प्रतिष्ठान बन गया। हिन्दू-कालेजसे ही बंगालमें नवयुगके बुद्धिजीवी वर्गका

विकास हुआ। इस विश्वविद्यालयके अँगरेज़ शिक्षक हेनरी डिरोजिओने अपने निर्भीक युक्तिवादी विचारों और जीवन-दर्शन द्वारा छात्र-समाजमें गम्भीर प्रभाव उत्पन्न किया। बेकन, लॉक, ह्यूम, रूसो, टाम पेन आदि नवयुगके मनीषियोंकी भावधाराके साथ उन्होंने विद्यालयके छात्रोंका परिचय करवाया। स्वाधीन, संस्कार-मुक्त बुद्धि और युक्तिके प्रकाशमें विचार करनेकी दृष्टि उन्होंने छात्रोंमें पैदा की। सन् १८२७–२८ में 'एकेडेमिक एसोसिएशन' नामसे एक सभाकी स्थापना कर उन्होंने विद्यार्थियोंके मध्य विभिन्न दार्शनिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयोंपर आलोचना आरम्भ की। हिन्दू कॉलेज में शिक्षित बंगाली युवकोंमें डिरोजिओके नैतिक प्रभावने प्रतिक्रियावादी सनातनी लोगों के मनमें आतंक पैदा कर दिया। डिरोजियोपंथी इन युवकोंको ही उस समय 'यंग बंगाल' कहा जाता था। १९ वीं शताब्दीमें बंगालके श्रेष्ठ प्रतिभाशालियोंमें अधिकांश लोग इस 'यंग बंगाल' दलके सदस्य थे। नया जीवन-दर्शन, शिक्षा और विद्या-बुद्धिके आलोकमें वे कुछ अंशमें अंध-पाश्चात्यपंथी बनकर दिग्भ्रांत हो गए थे, ऐसा भी कहा जा सकता है। हिन्दू-समाजकी रूढ़िवादिता और कुसंस्कारके कारण उसके प्रति श्रद्धा छोड़कर वे स्वधर्म-विरोधी हो गए थे और अलैक्ज़ेंडर डॉफकी तरह प्रभावशाली मिशनरियोंके प्रभावमें पड़कर कुछको तो ईसाई -धर्ममें दीक्षित होनेमें भी दुविधा नहीं हुई। रेवेरेण्ड कृष्ण मोहन वंद्योपाध्याय और माइकेल मधुसूदन दत्तके समान प्रतिभाशाली युवकोंके धर्मान्तरसे उस समय बंगाली समाजमें विपुल हलचलकी सृष्टि हो गई। उच्च समाजके हिन्दू युवकोंमें उस समय (१९ वीं सदीके तृतीय और चतुर्थ दशकोंमें) और भी कई लोगोंने धर्मान्तर किया था। अद्यावधि मिशनरियोंकी दृष्टि अवहेलित और उपेक्षित हिन्दू-समाजकी ओर ही निबद्ध थी और उसी वर्गमें के लोगोंको धर्मान्तरित करनेमें सफल हुए थे, किंतु उच्च वर्गके हिंदुओंमें भी जब इस प्रकारसे टूट-फूट शुरू हुई, तो स्वभावतः ही सभी लोग शंकित हो उठे। धर्म-सभा सौगुने उत्साहसे 'यंग बंगाल' के विरुद्ध विषोद्गार करने लगी। उनके आर्तनाद और प्रतिवादकी ध्वनि क्रमशः ज़ोरदार होने लगी। यंग बंगाल-दल उन लोगोंको 'गुडुम सभा' कहकर विद्रूप करता था और उनके प्रतिवाद से ज़रा भी विचलित न होकर अपना मतामत व्यक्त करता रहा। दोनों दलोंकी उग्रता समान थी। धर्म-सभाकी रूढ़िवादिता जिस प्रकार उग्र थी, 'यंग-बंगाल' का प्रगतिवाद भी उसी प्रकार उग्र था। धर्म-सभा जिस प्रकार सब-कुछको बाँधकर रखना चाहती थी, 'यंग बंगाल' उसी प्रकार सब-कुछको तोड़-फोड़कर तहस-नहस करनेके लिए उद्यत था। इसी समय 'यंग बंगाल' दल अपने मुखपत्र बँगला 'ज्ञानान्वेषण' और अँगरेज़ी-बंगला 'बँगाल स्पेक्टेटर' में बाल-विवाह और जाति-भेदके विरुद्ध और विधवाओंके पुनर्विवाहके पक्षमें निर्भय होकर क़लम चलाता था। उनके प्रचारके फलस्वरूप बंगाल के नवशिक्षित युवकोंमें हलचल मच गई और प्राचीनता भयातंकित और संत्रस्त हो गई। इधर राममोहन रायके धर्मादर्शके सुयोग्य उत्तराधिकारी महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर सन् १८३९ में 'तत्वबोधिनी सभा' स्थापित करके अपने गुरु द्वारा प्रारम्भ किए हुए कार्यको सुसम्पन्न करनेमें अग्रसर हुए। यंग बंगाल और धर्म-सभाके घात-प्रतिघातकी तीव्रताके बीच देवेन्द्रनाथ और तत्वबोधिनी सभाने बंगालके सामाजिक क्षेत्रमें संयम, शृङ्खला और मर्यादाबोध उत्पन्न किया। सभाके मुखपत्र 'तत्वबोधिनी पत्रिका' की

समालोचनामें मिशनरी लोग भी संयत होकर लिखते थे। धर्मान्तरकी तेज़ी कम हो गई। सिर्फ़ दससे शुरू करके तत्वबोधिनी सभाके सदस्योंकी संख्या दो वर्षमें ही लगभग पाँच सौ हो गई। बंगालके शिक्षित और मध्यवित्त समाजके समस्त युवक इस सभामें शामिल हो गए। देवेन्द्रनाथके ब्राह्म-धर्मने जिनको आकर्षित नहीं किया, उनको भी सभाके उदार समाज-सुधार और शिक्षाके आदर्शने आकर्षित कर लिया। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और अक्षयकुमार दत्त इसी सभा और पत्रिकाके साथ संयुक्त थे।

१९ वीं शताब्दिके मध्यमें पंचम दशकसे पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बंगालमें समाज-सुधार आंदोलनके सूत्रधार हुए। तृतीय और चतुर्थ दशकोंका आन्दोलन प्रधानतया वाक्‌वितंडा, तर्क-वितर्क और पत्र-पत्रिकाओंकी आलोचनाओं में ही सीमाबद्ध था। व्यवस्थित रूपमें कोई किसी आंदोलनका प्रारम्भ नहीं कर सका था। स्त्री-शिक्षा और मातृभाषामें शिक्षाकी उन्नतिके लिए विद्यासागर एक विराट परिकल्पना लेकर कर्मक्षेत्र में अग्रसर हुए। साथ-साथ सामाजिक-सुधार-कार्यकी दिशामें भी उनकी दृष्टि थी। सन् १८५१ में संस्कृत कॉलेजके अध्यक्ष होनेके बाद दो महीनोंमें ही उन्होंने ब्राह्मण और वैद्यके अतिरिक्त कायस्थ छात्रोंको भी कॉलेजमें प्रवेशाधिकार दे दिया। केवल ब्राह्मण और वैद्य छात्रोंको ही शास्त्रानुशीलनका एकाधिकार नहीं रहा। छः महीने बीतते-बीतते सभी हिन्दू छात्रोंको संस्कृत कॉलेजमें अध्ययनका सुयोग दे दिया गया। तत्वबोधिनी पत्रिकाकी सन् १८५४ की फाल्गुन संख्यामें विद्यासागरने 'विधवा-विवाह प्रचलित होना उचित है कि नहीं ?' शीर्षकसे से अपने नामसे एक लेख लिखा। जनवरी सन् १८५५ में 'विधवा-विवाह प्रचलित होना उचित है कि नहीं, एतद् विषयक् प्रस्ताव' और अक्टूबर महीनेमें इस विषयकी दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई। ४ अक्टूबर, सन् १८५५ में उन्होंने विधवा-विवाहको वैध करानेके लिए सरकारके पास आवेदन-पत्र भेजा। १६ जुलाई, सन् १८५६ में विधवा-विवाह-संबंधी क़ानून पास हुआ।

७ दिसम्बर, सन् १८५६ को कलकत्तेमें बंगालका प्रथम क़ानून-सम्मत विधवा-विवाह सम्पन्न हुआ। प्रसिद्ध कथक रामधन तर्कबागीशके कनिष्ठ पुत्र श्री शिरीशचन्द्र विद्यारत्न और पलाशडाँगा-ग्राम निवासी ब्रह्मानन्द मुखोपाध्यायकी द्वादश वर्षीया विधवा-पुत्री कालीमतीका विवाह हुआ। इससे पुरातनवादी हिन्दू-समाजमें फिर शोरगुल उठा। इस बार पूर्वापेक्षा कई गुना अधिक शोरगुल हुआ क्योंकि सती-प्रथाके उच्छेद और विधवा-विवाहके प्रवर्त्तनके बीच काफ़ी समयका फर्क था। विधवाओं द्वारा आजीवन ब्रह्मचर्य-पालनका संस्कार कई गुना ज्यादा बद्धमूल है। बाल-वैधव्य अथवा उम्रका सवाल सनातनी हिन्दू-समाजके सामने कुछ भी विचारणीय नहीं था। समस्त प्रतिवाद और बाधा-विपत्तिकी उपेक्षा करके विद्यासागर एकके बाद एक विधवा-विवाहका आयोजन और व्यवस्था करते रहें। एक संस्कृत पंडितकी ऐसी चारित्रिक दृढ़ता और उदारतासे साधारण लोक-समाज स्तम्भित हो गया। गंभीर श्रद्धा विस्मय और विद्रूपके विचित्र भावावेगमें उद्वेलित हो बंगालके जन-साधारणमें उस समय विद्या-सागरके बारेमें कितने लोकगीतों और कहानियोंकी रचना की गई, इसका कुछ ठिकाना नहीं।

बहु-विवाह और कुलीन-प्रथाके विरुद्ध भी विद्यासागरने यथेष्ट आंदोलन किया था। किंतु वह सफल नहीं हुआ। २७ दिसम्बर सन् १८५५ को उन्होंने बहु-विवाह बंद

करानेके लिए सरकारके पास निवेदन-पत्र भेजा था, परन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। १६ फरवरी, सन् १८६६ को बहु-विवाह बंद करनेको उन्होंने दूसरी बार भारतकी व्यवस्थापिका सभाके पास निवेदन भेजा था और उस निवेदनका समर्थन करते हुए और भी कई लोगोंने पत्र लिखे थे, परन्तु उससे भी कुछ नहीं हुआ। सरकारने किसी आवेदनपर ध्यान नहीं दिया। सन् १८७१ में विद्यासागरने एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसका नाम था 'बहु विवाह बंद होना उचित है या नहीं, एतद् विषयक विचार' इस विषयमें उनकी दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई सन् १८७३ में। विज्ञ पंडितोंके साथ इस विषयपर यथेष्ट तर्क-वितर्क हुआ और दोनों पक्षोंके विचार पुस्तकाकार प्रकाशित किए गए। तथापि क़ानून द्वारा बहु-विवाह बंद करना संभव नहीं हुआ।

उन्नीसवीं सदीके पञ्चम दशक अथवा मध्य कालमें विद्यासागरके नेतृत्वमें बंगालमें समाज-सुधार—आन्दोलनका स्वर्णयुग था। विधवा-विवाहका क़ानून पास हो जाने एवं विधि-सम्मत विधवा-विवाह प्रारंभ हो जानेके बाद बंगालके सामाजिक जीवनमें प्रतिक्रियाशीलताकी जो विक्षुब्ध तरंग उठी, उससे सुधार-आन्दोलनमें कुछ रुकावट-सी आई, ऐसा लगा। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि तत्कालीन सुधार-आन्दोलनके पीछे संगठित और सचेतन जन-समर्थन नहीं था, हो भी नहीं सकता था। उस समय तक समाजमें जन-शिक्षा, और विशेषकर नवयुगकी शिक्षाका कोई उल्लेखयोग्य प्रचार नहीं हुआ था। स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाहके आन्दोलनमें काफी सफलता मिल चुकनेपर भी विद्यासागर थोड़े ही दिनोंमें उसकी सामाजिक व्यर्थताके कारण दुखी और हताश हो उठे। तथापि उन्होंने बिलकुल हाथ-पैर नहीं डाल दिये। जीवनकी अंतिम घड़ी तक वे समाज-सुधारके अपने निर्धारित लक्ष्यको पूरा करनेका प्रयास करते रहे। किन्तु उन्नीसवीं सदीके पंचम दशकके बाद वे मुख्य तौरसे थोड़े समयमें ही समाजके अग्रगामी दलके प्रेरणा-सूत्र बने रहे; प्रत्यक्ष रूपसे आन्दोलनके संचालन और नेतृत्वसे अवसर ग्रहण कर लिया। तत्पश्चात् उनका कार्य शिक्षाके क्षेत्रमें ही सीमाबद्ध रह गया। २९ जुलाई सन् १८९१ को उनकी मृत्यु हो गई।

विद्यासागरके बाद जो लोग समाज-सुधारके कार्यमें आगे आए, वे ब्राह्म समाजके नये युवक गण थे। सन् १८६० से १८७० के बीच बंगालके समाज-जीवनमें ब्राह्म-समाजके तरुणोंने एक नई लहर पैदा की। विद्यासागरके आन्दोलनके एकदम शांत और स्थिर होनेके पूर्व ही उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी आगे आ गये। इन ब्राह्म तरुणों के अप्रतिम नेता थे केशवचन्द्र सेन। समाज-सुधारके इतिहासकी दृष्टिसे हम विद्यासागर-परवर्ती युगको "केशवचन्द्र युग" एवं "रामकृष्ण-विवेकानन्द युग" कह सकते हैं। समाज-सुधारके साथ-साथ धर्म-सुधारका आन्दोलन भी इस युगमें तीव्रतर हो उठा। "राम-मोहन—यंग बंगाल युग" के साथ बहुत कुछ सादृश्य होते हुए भी इस युगकी अपनी विशेषताएँ थीं। केशवचन्द्र और रामकृष्ण—विवेकानन्दके युगमें धर्म-सुधार तीव्रता का पथ अतिक्रमण कर क्रमशः सुस्थिर समन्वयका पथ खोजने लगा। रामकृष्ण अपने सर्व-धर्म-समन्वयके आदर्शकी उपलब्धि में उसे व्यक्त करने लगे, विवेकानन्दने तेजोदीप्त कंठसे उसी सत्यकी वाणीका देश-विदेशमें प्रचार किया, केशवचन्द्र ब्राह्म-धर्म और ब्राह्म-समाजको नये रूपमें गढ़ने के लिये बद्ध-परिकर हुए; उसकी संकीर्णताकी प्राचीर

तोड़कर, क्षुद्र गोष्ठी से बाहर लाकर समस्त जातियोंके बीच प्रसारित करनेको प्रस्तुत हुए। साथ-साथ प्रत्यक्ष सुधार-कार्यमें भी उनको आगे आना पड़ा। ब्राह्म समाजमें दो दल हो गये। सुधारपंथी लोग केशवचन्द्रके नेतृत्वमें 'प्रगतिशील' कहलाने लगे और देशके अधिकांश नवशिक्षित युवक उनके दलमें आगये। देवेन्द्रनाथ ठाकुरका दल—जो विद्यासागर-युगके सुधार-आन्दोलनके पुरोभागमें था, अब पीछे रह गया। इतिहासके प्रत्येक युगमें नव-जाग्रत युवाशक्तिके सम्मुख पूर्वकालीन लोगोंकी इसी प्रकार पराजय होती रही है। उनके आदर्शको लेकर समाजका नया दल आगे बढ़ता है; और कुछ दूर पहुँचकर वह भी रुक जाता है और प्रायः पिछड़ भी जाता है।

केशवचन्द्र सेन और उनके अनुयायी वृन्द का सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें सबसे बड़ा अवदान था स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वतंत्रताका प्रसार। स्त्री-शिक्षाके लिये आन्दोलन और विद्यालयादिकी प्रतिष्ठापना काफी पहलेसे ही आरम्भ हो गये थे और विद्यासागरने उनके लिए अविश्रान्त चेष्टा की थी किन्तु दीर्घकालीन कुसंस्कार और पर्दा प्रथा के कारण स्त्रियोंका घरसे बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जानेका अभी चलन नहीं हुआ था। ब्राह्म-समाजमें भी स्त्रियोंको उपासनाके लिये जानेका अधिकार नहीं था। किसी सामाजिक सभा अथवा अनुष्ठानमें पतिके साथ भी स्त्रीके सम्मिलित होनेका रिवाज नहीं था। केशवचन्द्रके दलके लोगोंने ही सर्वप्रथम इस सामाजिक कुप्रथाको दूर कर स्त्री-स्वाधीनताके लिये आन्दोलन किया। उपासना-मंदिरमें या सामाजिक सभा-सम्मेलनोंमें प्रत्यक्ष रूपमें भाग लेनेका स्त्रियोंको अधिकार दिलानेके लिये उन्होंने आन्दोलन किया और आगे बढ़कर खुदका उदाहरण पेश किया। इससे कार्य-सिद्धिमें बड़ी सहायता मिली। इसी आन्दोलनके फलस्वरूप सन् १८७२ में सिविल मैरेज कानून बना। नारी के व्यक्तिगत अधिकारको सामाजिक क्षेत्रमें स्वीकृति मिली।

धर्म-सुधार और समाज-सुधारका यह आदर्श और आन्दोलन राष्ट्रीय महासभा कांग्रेसकी प्रतिष्ठापनाके बाद सन् १८८५ में क्रमशः राजनीतिक स्वाधीनता-संग्राम और सामाजिक-आर्थिक स्वाधीनता-संग्रामके साथ संयुक्त हो गया। स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद आज भी उस संग्रामकी परिसमाप्ति नहीं हुई है। हमारा समाज आज भी अनेक कुसंस्कारोंसे ग्रस्त है। इसका परिचय हमें हिन्दू कोड बिलको पास करनेके आन्दोलनके समय मिला था। दहेज प्रथा आज भी उसी रूपमें मौजूद है, यहाँ तक कि शिक्षित समाजमें भी उसका आधिपत्य बना हुआ है। देशका आर्थिक तंत्र बदल रहा है। सामन्तवाद के दिन लद चुके हैं। यांत्रिक उद्योग-धंधों और विज्ञानका प्रसार हो रहा है। स्त्री-पुरुषकी अर्थनीतिक स्वाधीनता समस्त क्षेत्रोंमें प्रतिष्ठित हो रही है। परिणामस्वरूप छोटे परिवारके घेरेसे वृहत्तर समाजका रूप बदल रहा है। स्त्री-पुरुष—सम्बन्धोंमें भी परिवर्तन हो रहा है। इस अवस्थामें सामाजिक कुसंस्कारोंका बंधन बहुत दिन नहीं चल सकता। उनकी भित्ति ही जब नहीं रहेगी, तो वे अपने-आप खत्म हो जायेंगे और सामाजिक प्रगतिका पथ सुगम हो जायगा।

-:०:-

दक्षिण भारत और समाज-सुधार

भारतमें समाज-सुधारका काम नया नहीं है। वह उतना ही पुराना है, जितना कि समाजका निर्माण। जैसा हमारा समाज बना है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि देशके समाज-सुधारकोंने इसमें काफ़ी परिवर्त्तन करनेका प्रयत्न किया है। वर्णाश्रम धर्म, फ़िरकाबन्दी, तरह-तरहकी छोटी-छोटी जातियोंका निर्माण, उप-जातियोंका विकास तथा अन्य कितनी ही बातें हमारे समाजमें पाई जाती हैं। विज्ञान तथा उच्चकोटिके मनुष्यत्वकी दृष्टिका ज्ञान हमारा जितना ही बढ़ता जाता है, उतनी ही हमारे मनमें यह आतुरता उत्पन्न होती है कि हम अपनी दृष्टिसे जिसे सुधार मानते हैं, उसे अपने समाजमें भी प्रवेश करा दें और जिनको हम कुरीतियाँ समझते हैं, उनको दूर करनेका प्रबल प्रयत्न करें।

दक्षिण भारतमें समाज-सुधारका आन्दोलन बहुत ही पुराना कहा जा सकता है। यह विदित है कि दक्षिणमें कितने ही धर्माचार्योंका जन्म हुआ। उन्होंने अपने धर्मका बड़े ज़ोरसे प्रचार किया। उनमें धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही विषयोंके साथ साथ समाज-सुधारका विषय भी सम्बद्ध था। कितने ही धर्माचार्योंने समाजकी कुरीतियोंको दूर कर और विषमताओंको तोड़कर मनुष्यको ईश्वरका अंश मात्र सिद्ध कर मनुष्यत्वके महत्वको बढ़ानेका प्रयत्न किया, जैसे आदि शंकराचार्यका अद्वैतवाद, रामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद, माध्वाचार्यका द्वैतवाद। यद्यपि दर्शन और वेदान्त एकेश्वरवादकी तरफ़ मनुष्यकी दृष्टि आकृष्ट करने के लिए सबल साधन समझे जाते हैं, फिर भी उनमें समाज-सुधारके बीजोंकी कमी नहीं है। आदि शंकराचार्य, जिनका जन्म लगभग १२०० साल पहले केरलमें हुआ था, के संबंधमें यह कहा जाता है कि उन्हें समाज बड़े तिरस्कारकी दृष्टिसे देखता था। उनके सम्बन्धमें यह किंवदंती मशहूर है कि जब उनकी माताका देहान्त हुआ और वे उसके मृत शरीरकी दाह-व्यवस्था सम्पन्न करना चाहते थे, तब उनकी जात-बिरादरीने कहा कि संन्यासी होनेके कारण—वह भी बाल संन्यासी होनेके कारण—उनको माता-पिताका दहन-संस्कार करनेका अधिकार नहीं है। कोई उस मृत शरीरको उठाने के लिए साथ देने को तैयार नहीं हुआ। तब उस शरीरको खण्ड-खण्डमें काट कर उनकी दहन-क्रिया करनी पड़ी।

केरल

केरलकी कट्टरता बहुत मशहूर है। वह कट्टरता उच्च जातियोंमें ही नहीं, बल्कि प्रायः सभी जातियोंमें पाई जाती है। केरलमें भिन्न-भिन्न जातिके लोग

अपने-अपने अधिकारोंकी रक्षाके बहाने दूसरी जातियोंको नीची दृष्टिसे देखा करते थे। वहाँ पिछले १५-२० वर्षोंके पहले तक यह कुरीति प्रचलित थी कि अग्र जाति के आदमी जहाँ-कहीं खड़े हों, उनसे दस गज़की दूरीपर ही उनके बादकी जातिके आदमी खड़े हो सकते थे और उसके बादकी जातिके आदमीका हक और दस गज़के फ़ासलेपर खड़ा होना माना जाता था। इसी तरहसे अपने-अपने सामाजिक अधिकार अपनेसे निम्न जातियोंको कितने फ़ासलेपर खड़ा रखना चाहिए, इसका हिसाब गिनकर आँकते थे। केरल प्रान्तमें अस्पृश्यता ही नहीं बल्कि अदृश्यता भी अमलमें थी। अग्र जातिके आदमी नीच जातिके आदमीको देखनेसे अपनेको अपवित्र ही नहीं मानते थे वरन् उस अपवित्रताको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त भी करते थे। केरल वैसे तो बहुत ही सुन्दर देश है, लोग भी बड़े हृष्ट-पुष्ट हैं लेकिन वहाँके समाजका निर्माण सदियोंसे विचित्र-सा बना हुआ है। इसके लिए इतिहास बहुत हद तक ज़िम्मेदार है। सुदूर दक्षिणके एक कोनेमें स्थित रहनेके कारण यही कहा जा सकता है कि उत्तर-पश्चिमोत्तर तथा पूर्वोत्तरसे भिन्न-भिन्न जातियां केरलमें आकर बसीं। वे अपने-अपने रस्म-रिवाज साथ ले आईं। वहाँकी आदिम जातियोंके साथ हिल-मिलकर रहने और उनके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें काफ़ी समय लग गया। बीसवीं सदीके प्रारम्भसे केरलमें समाज-सुधारका काम जिस द्रुत गतिसे चला, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज केरलका समाज किसी भी समाजसे पीछे नहीं रहा।

केरलमें अग्र जातियोंने, विशेषकर ब्राह्मणोंने जिस तरह दूसरी जातियोंको दबाकर रखा, उसकी भीषण प्रतिक्रिया दूसरे वर्गोंपर भी हुई। राजनीतिक, आर्थिक तथा शिक्षा के क्षेत्रोंमें बहुत पिछड़ जानेके कारण वहाँकी पिछड़ी हुई जातियोंने बीसवीं सदीके प्रथम पादमें विद्रोह करना शुरू कर दिया। उसके प्रतीक डा० नायर हैं जो दक्षिण भारतके अब्राह्मण आंदोलनके जन्मदाता हैं। डा० नायरने जिस तरह बीसवीं सदीकी दूसरी तथा तीसरी दशाब्दिके अन्त तक अब्राह्मण आंदोलनको जीवित रखा और भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें अग्रतम जातियोंका धर्माधिपत्य तोड़नेका प्रयत्न किया, उसका इतिहास लिखा जाए तो बड़ा ही लम्बा होगा। एक ज़माना था जब कि अब्राह्मण लोग राजनीतिक क्षेत्रमें और खासकर विधान-सभाओंमें अपने लिए स्थानोंको सुरक्षित चाहते थे, जब कि उनकी संख्या ६० प्रतिशतसे अधिक है और ब्राह्मणोंकी संख्या १० प्रतिशत से भी कम है। आज स्थिति बिल्कुल भिन्न है। आज कोई भी जाति किसी भी जातिसे न डरती है, न अपने लिए कोई विशेष रक्षण ही चाहती है। इसका अधिकांश कारण शिक्षाका प्रचार और समाज-सुधारकोंका कार्य कहा जा सकता है।

तमिलनाड

डा० नायरके अब्राह्मण आंदोलनने कुछ दिनके बाद एक दूसरा रूप ग्रहण कर लिया जिसने तमिलनाडमें आकर बहुत बड़ा ज़ोर पकड़ लिया। इस आन्दोलन का नाम स्वयं-मर्यादा आंदोलन है जिसे अंग्रेज़ीमें (Self-respect Movement) कहते हैं। इस आंदोलनके द्वारा पिछड़ी जातियोंमें आत्म-गौरवकी ज्योति जगायी गयी। किसी ऊँची जातिका आदमी सिर्फ़ जन्मसे बड़ा होनेके कारण अपनेको बड़ा माने और

विशेष अधिकारोंको प्राप्त करना चाहे, इसके विरुद्ध स्वयं-मर्यादा आंदोलनने बलवा मचाया। जब स्वयं-मर्यादा आंदोलनने अपने कार्यमें सफ़लता पाई, उसने अपनेको द्रविड़ कड़घमके नामसे परिवर्तित किया। सन् १९५७ के आम चुनावोंमें उसकी एक शाखा द्रविड़ मुन्नेज कड़घमके नामसे निकल पड़ी। इस आंदोलनका उद्देश्य यह है कि अग्र जातियोंके आधिपत्यका अंत किया जाय जिसका आधार हिन्दू शास्त्रों तथा स्मृतियोंपर अवलंबित है और जो इसी उद्देश्यसे आर्यों द्वारा बनाई गई थीं। जब तक लोगोंमें यह विश्वास बना रहेगा कि श्रुति, स्मृति, पुराण, शास्त्र आदि देवदत्त हैं और बड़े पवित्र हैं, तब तक उनमें उनके प्रति श्रद्धा बनी रहेगी। इस श्रद्धाको नष्ट करनेसे ही आम जनता में अपने प्रति गौरव तथा आत्म-विश्वास पैदा हो सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस आन्दोलनका परिणाम क्या होगा, उसको सही रास्तेपर चलाया जा सकता है कि नहीं और उससे कितने नये दोष पैदा होंगे। लेकिन यह भविष्यके इतिहासकार अवश्य मानेंगे कि समाज-सुधारका यह एक बहुत ज़बर्दस्त आन्दोलन है जिसके द्वारा लोगोंको अपनी-अपनी बुद्धिसे अपनेको पहचानने और अपने अधिकारोंको समझने तथा उनको अनुभव करनेके लिए मौका मिला है।

आन्ध्र

आन्ध्रके समाज-सुधार आन्दोलनका आधार अधिकतर ब्राह्म-समाज ही कहा जा सकता है। दक्षिणमें जब समाज-सुधारका आन्दोलन शुरू हुआ, तब राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन आदि युगपुरुषोंके आन्दोलनने शिक्षित लोगोंको बहुत प्रभावित किया। जगह-जगहपर ब्राह्म-समाज स्थापित हुए, ईश्वरमें आस्था बढ़ी, समाजमें जो कुरीतियाँ फैली हुई थीं, उनको प्रचार और शिक्षासे दूर करनेका प्रयत्न किया गया। स्वनाम-धन्य सर आर० वेन्कटरत्नम नायडू और कंदुकुरी विदेशलिंगम पंतुलु आदिके नाम इस सम्बन्धमें विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा चरित्र, साहित्य के निर्माण और प्रचारसे आंध्रके कितने ही युवकोंके हृदयमें साहस का प्रवेश कराया और उनको कुरीतियोंके जालसे लड़नेके लिए तैयार किया। देवदासी प्रथा, शुभ समारोहोंमें वेश्याओंके द्वारा नाच, विधवाओंपर अन्याय व अत्याचार तथा छोटी-छोटी बालिकाओं का विवाह आदि कुरीतियोंसे बड़ा साहसपूर्ण युद्ध किया गया। आज ये सारी कुरीतियाँ आन्ध्र प्रदेशसे करीब-करीब ग़ायब हो गई हैं।

कर्नाटक

जब समाज-सुधारके आन्दोलनका इतिहास लिखा जायेगा, तब कर्नाटकके बसवेश्वर का नाम सबसे पहले लिया जायगा। यद्यपि ये जातिके ब्राह्मण थे, तथापि उन्होंने अब्राह्मणों को ऊपर उठानेके महान् प्रयत्न किए। उनमें ईश्वरके प्रति श्रद्धा पैदा करते हुए उन्होंने उन्हें अपनी आत्माको पहिचाननेके लिए काफ़ी सामग्री दी। बसवेश्वरके वचन कन्नड़ भाषामें बहुत मशहूर हैं। आज क़रीब-क़रीब आधा कर्नाटक बसवेश्वरके प्रभावके अन्तर्गत है। बसवेश्वरके धर्मानुयायी लिंगायत कहलाते हैं। इस धर्मको सुरक्षित रखनेके लिए लिंगायतोंके कितने ही धर्मपीठ तथा आचार्यपीठ कर्नाटक भरमें फैले हुए हैं। यद्यपि वैदिक धर्मका प्रचार भी कर्नाटकमें काफ़ी हुआ है और वैष्णव तथा शैव

सम्प्रदायोंके कारण उसकी बुनियाद हिली नहीं है फिर भी वैदिक धर्मके माननेवालोंके बीच में जात-पाँतके द्वारा जो कुरीतियाँ तथा विषमताएँ फैल सकती थीं, उनको दूर करनेके लिए बसवेश्वरके धर्मानुयायियोंने बड़ा ज़बर्दस्त काम किया।

समाज-सुधारका एक मात्र ध्येय स्वच्छ, जाग्रत, बलिष्ट तथा विषमताहीन नए समाज का निर्माण करना है। स्त्रियों और पुरुषोंके बीचमें अधिकारोंकी विशेष विषमता, जाति-जातिके बीचमें विभेद, ईश्वर तथा धर्मके नामसे होनेवाले अनुचित कार्य, मन्दिर तथा धर्मपीठोंका अड्डा बनकर उनके द्वारा कुछ स्वार्थियोंकी तरफ़से फैलाये जानेवाले सम्प्रदाय आदिके सम्बन्धमें अशिक्षित जनताको सचेत करनेका काम समाज-सुधारक करते आए हैं। उनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। महात्मा गांधीने भी अपने समाज-सुधार आन्दोलनसे दक्षिणके कोने-कोनेको प्रभावित किया। आज प्रायः पुराने सभी समाज-सुधारके आन्दोलन या तो कांग्रेसके साथ मिल गए हैं, या रचनात्मक कार्यकर्त्ताओंके आश्रयमें आ गए हैं।

---:o:---

श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय

उत्तर-प्रदेशमें समाज-सुधार

वर्तमान उत्तर प्रदेश कभी आर्यावर्तका मुख्य भाग था। बहुतसे लोग तो गंगा और यमुनाकी इस पवित्र क्रिड़ास्थली बद्रीनाथ, केदारनाथ, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग और काशी आदि तीर्थोंकी इस पुण्य भूमि तथा राम, गौतम बुद्ध, और कृष्णके के इस परम पावन जन्म प्रदेश को ही आर्यावर्त मानते हैं। आर्यावर्तकी सारी धार्मिकता इस प्रदेशको प्राचीन आर्योंसे विरासतमें मिली है। अन्य सभी प्रदेशोंसे इस की धार्मिक मान्यता अधिक है।

लेकिन, इसकी यह सब धार्मिकता धर्मान्धतामें परिणत होकर रूढ़ि, परंपरा और अंधविश्वासका रूप धारण कर चुकी है। वह जीवनके विकास, प्रगति और उन्नतिमें यत्किंचित भी सहायक न होकर ह्रास पतन और अवनतिका निमित्त बन गई है। धार्मिक मिथ्या विश्वासों और सामाजिक रूढ़ियोंका वह गढ़ बन गया है। पंडों, पुजारियों और पुरोहितोंका मायाजाल यत्र तत्र बिछा हुआ है। तीर्थ, मठ और मंदिर धर्मान्धता के आधार स्तंभ बन गए हैं। अज्ञान और अविद्याके केन्द्र जहाँ-तहाँ कायम हैं। गतानुगतिकताका चारों ओर बोलबाला है। इस प्रकार आर्यावर्तकी यह भूमि अपना आर्यत्व प्राय: खो चुकी है।

उत्तर प्रदेश एक मध्यवर्ती प्रदेश है। भारतकी सीमाओंसे बहुत दूर, बंगालकी खाड़ीसे दूर, पंजाबके पर्वतोंसे दूर, हिन्द महासागरसे दूर, कुमारी अन्तरीपसे दूर, अत: सीमान्त प्रदेशोंके सामाजिक या नैतिक परिवर्तनोंकी तरंगें वेगसे उठती हुई भी हमारे प्रान्त तक आते आते शान्त हो जाती हैं और उनका आतिक्षम्य मन्द पड़ जाता है। उत्तरी सीमा हिमालय तो इतना ऊँचा है कि वह अधिक उत्तरीय वायुको पहले ही रोक लेता है। इसलिये इस प्रदेशको मध्यवर्ती कहना अनुचित नहीं है। हम लोगोंमें अधिक जोश भी नहीं और परले दर्जेकी सुस्ती भी नहीं। हमारे यहाँ समाज-सुधार-सम्बन्धी आन्दोलनों की भी वही अवस्था और वही व्यवस्था रही। "सुव्यवस्थित और मन्द" (Sure and Steady) यह हमारे प्रान्तकी विशेषता है। यह प्रश्न नहीं कि अच्छी बात है या बुरी। जो है सो है। समाज-सुधारका आधार है सामाजिक न्याय या सोशल जस्टिस (Social Justice) अर्थात् उन कुप्रथाओंको दूर करना जिनके कारण समाजके व्यक्तियोंको यथेष्ट रूपसे अपने वैयक्तिक विकासका अवसर नहीं मिलता। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के समाज-क्षेत्रमें तीन रूप हैं। पहला स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध

है। लाठी पुरुषके हाथमें रहती है। अतः वह स्त्रियोंको अपने वशमें रखता है। पुरुष एक बार भी कई विवाह कर सकता है और एक स्त्री के मरनेपर जब तक या जितने चाहे विवाह कर सकता है। स्त्री विधवा हो जाय और दो वर्षकी ही क्यों न हो उसको आयुपर्यन्त विधवा ही रहना चाहिये। उत्तर प्रदेशमें अन्य प्रान्तोंके समान यह अत्याचार प्रचलित था। एक साथ कई पत्नियां करना तो विधिवत् होते हुये भी बहुत कम प्रचलित था परन्तु कम आयुकी विधवाओंकी संख्या तो लाखों तक पहुँचती थी। कभी-कभी कोई सती भी हो जाती थी। परन्तु इटावे आदिके क्षत्रिय-प्रधान ग्रामोंमें तो लड़कियोंको जनमते ही मार डालनेकी प्रथा ज़ोरोंपर रही। बंगालके पुराने आदिकालीन सुधारकों राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द विद्यासागर तथा उनके अनुयायियोंके काम की जो तीव्र गति उन प्रान्तोंमें रही उसका कोई तीव्र प्रभाव उत्तर-प्रदेशपर नहीं पड़ा।

इसके साथही एक बहुत बुरी प्रथा थी—विवाहोंमें "वेश्या-नृत्य"। यह "वेश्या-प्रथा" जिसका हम संस्कृत नाटकोंमें उल्लेख पाते हैं स्त्री जातिके साथ घोर अत्याचार था। इसका आँरंभ भी ऐसे समय हुआ होगा जब पत्नियोंपर घोर नियंत्रण और पतियोंको खुली छुट्टी दे दी गई होगी। उपनिषद्में लिखा है "न स्वैरी स्वैरिणी कुतः", अर्थात् उस समय कोई स्वैरी नहीं था फिर स्वैरिणीका प्रश्न ही नहीं उठता। उपनिषद् के इस वाक्यमें एक सचाई है अर्थात् स्वैरी ही स्वैरिणीयोंको बनाते हैं। वेश्याओंकी प्रथा उन लोगोंने चलाई हागी जो स्वयं तो स्वैरी बन गये परन्तु अपनी स्त्रियोंको सदैव संदेह की दृष्टिसे देखते रहे। मेरे बाल्य कालमें आर्यसमाजियोंकी ओरसे यह सुधार किया गया विवाहोंमें 'वेश्या नृत्य' बन्द किया जाय। मेरे विवाहमें मुख्य झगड़ा इसी बातपर हुआ था? उस समय लोगोंको यह सोचना भी कठिन प्रतीत होता था कि 'वेश्या-नृत्य' के बिना विवाह हो भी सकता है या नहीं। मेरे विवाहमें वेश्याका नृत्य हुआ। मैंने नृत्य नहीं देखा परन्तु मेरे बुजुर्ग लोग (मेरे पिता जीवित न थे) मेरे ऊपर टूट पड़े। उस दिन मैंने अपने परिश्रमको विफल पाकर यह प्रण किया कि आगेसे अधिक सावधानी रखी जायगी। मैं आठ वर्ष तक अपने परिवारके किसी विवाहमें भी शरीक नहीं हुआ। मेरे मामाजीने अंतमें तंग आकर अपने एक लड़केके विवाहमें केवल मेरे बुलानेके लिए नाच बन्द कर दिया। और उस बारातमें मैंने विधवा-विवाहके औचित्यपर एक ओजस्विनी वक्तृता दी। उन्हीं दिनों मैंने एक ट्रैक्ट निकाला "विवाह और रंडियाँ", इसका प्रभाव अच्छा हुआ। वेश्या-नृत्यकी कुप्रथा बन्द हो गई। उस समय यह एक बड़ा सुधार था। आज तो लोग इसको सुधार कहते हुए भी हँसेंगे।

उन दिनों विधवा-विवाहके औचित्यपर व्याख्यान तथा शास्त्रार्थ तो होते थे परन्तु किसीको आगे आनेका साहस नहीं होता था। विजनौरमें एक सज्जन थे श्री श्रोत्रिय शकरलालजी। यह आर्यसमाजी न थे परन्तु विधवा-विवाहके पक्षपाती थे। उन्होंने अपना विवाह एक बाल-विधवासे किया था। १९०४ ई० में जब मैं बिजनौरके गवर्नमेंट स्कूलमें अध्यापक था श्रोत्रियजी बड़े ज़ोरसे प्रचार करते थे उनके घरवालोंने उनका बहिष्कार कर दिया था। उन्होंने श्री विद्यासागरजीकी पुस्तकका बंगलासे हिन्दीमें शायद अनुवाद कराया था। वह केवल इस उद्देश्यसे कि सनातनियोंमें विधवा-विवाहका प्रचार हो जाय इसमें उनको बहुत सफलता मिली। फिर भी विधवा-

विवाहका विरोधभी कम नहीं हुआ। १९०७ में मेरे परिवारमें एक दुर्घटना हो गई। मेरे खास चाचाके लड़केका विवाह ११ वर्षकी आयुमें हुआ। मैंने सम्मिलित होनेसे इनकार कर दिया। उसी वर्ष उस लड़केकी मृत्यु हो गई। उन्हीं दिनों उनकी लड़की भी जो बारह या तेरह सालकी थी विधवा हो गई। मेरे हृदयपर बड़ी चोट लगी। मैंने पुर्नविवाहका प्रश्न उठाया और छ: सात साल बड़े जोरसे आन्दोलन करता रहा। अपने चाचाजीको बहुत समझाया आगा-पीछा सुझाया। शास्त्रकी बात कही, लोकलाज के नामपर अपील की, अपने संबंधियोंको फुसलाया परन्तु कोई टस से मस नहीं हुआ। अन्तको १९१४ ई० में मैं अपनी माताजी तथा अपनी पत्नीजीके सहयोग और उद्योगसे अपने भाईका विवाह एक बाल-विधवासे करनेमें सफल हुआ। परन्तु विरोधका भी कुछ हाल सुनिए। हमने विवाहकी बातको गुप्त रखा था केवल बीसके लगभग युवक ही सम्मिलित थे। लड़कीके माता-पिताको तैयार करनेमें एंड़ी चोटी का पसीना बहाया गया था। यह भाषा आलंकरिक नहीं है। १९१४ की जेठकी गर्मी और मेरी दौड़-धूप! जब विवाहका हाल लोगोंको ज्ञात हुआ तो एक बहुत बड़ी सभा एटेमें की गई। इतनी बड़ी सभा मेरी विरादरीवालोंने न पहले देखी न सुनी। मुरादाबादके पंडित ज्वाला प्रसाद तथा अन्य सनातनी उपस्थित थे। इधर आर्य समाज एटाने भी भरसक कार्य किया। पंडित अखिलानन्द उन दिनों आर्य समाजमें ही थे। उनके शास्त्रार्थके लिये चैलेंज हुआ करते थे। सभाका पूरा हाल देना व्यर्थ है। मुझे विरादरीसे निकालनेका प्रस्ताव पास हो गया। मेरे मित्रोंने मेरे भाई को बधाई दी। मैं न शरीक हुआ न मैंने किंचित परवाह की। परन्तु विधवा-विवाहकी प्रथा जारी हो गई और शीघ्र ही विरोधी कैम्प तितर-वितर हो गया। अन्य क्षेत्रोंमें भी अब यह सुधार स्थायी रूपसे हो गया। इसका श्रेय आर्यसमाजको ही है।

हमारे देशके पर्वती प्रान्तोंमें एक जाति है, जिसको 'नायक' कहते हैं। भुवाली के पास रामगढ़में एक ग्राम है 'नयकाना'। नायकलोग अपनी लड़कियोंका विवाह नहीं करते थे। सनातनी पंडितोंने बहका रक्खा था कि उनकी जातिके लिये लड़कियोंका विवाह वर्जित है। लड़कियाँ खुल्लमखुल्ला वेश्यावृत्ति करती थीं और मैदानके रईस लोगोंके छोकरे उनको ले आया करते थे! कहते हैं कि वेश्या-वृत्ति आरम्भ करनेके समय सनातनी पंडित संस्कार भी कराते थे और दान-दक्षिणा भी लेते थे। आर्यसमाज ने इस प्रश्नको उठाया। हमारे प्रदेशमें एक सज्जन थे श्री गजाधर प्रसादजी प्रयागके रहने वाले। परन्तु वह अलमोड़ेमें अधिक रहते थे। उन्होंने इस कामको उठाया। गवर्नमेंटसे मिलकर एक क़ानून बनवाया, लड़कियोंके विवाह करानेकी प्रथा डाली गई। उनकी शिक्षाके लिए हलद्वानी, मेरठ आदिमें स्कूल स्थापित हुए। इस सम्बन्धमें मेरठकी श्रीमती हीरादेवीजीने प्रशंसनीय कार्य किया। यह नायक जातिकी थीं और आर्य प्रतिनिधि सभाकी बहुत दिनों तक सदस्या रहीं। इन्होंने नायक जाति-सुधारमें बहुत कार्य किया। जबसे श्री नारायण स्वामीजी महाराजने संन्यासी होनेपर रामगढ़की पहाड़ियोंमें अपना आश्रम बनाया तबसे वह कुप्रथा बिल्कुल नष्ट हो गई। आज रामगढ़ में एक इण्टर कालेज है। और नायक जातिके शेष लोग मान और प्रतिष्ठाका जीवन व्यतीत करने लगे हैं।

सामाजिक मामलोंमें "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का दूसरा रूप है अछूत जातियाँ। जिनके पास विद्याका बल था या बाहुबल था या धन-बल था वह उच्च बन गए। शेष जातियाँ नीच, दलित और अस्पृश्य बन गईं। पौराणिक कालके अत्याचारोंका यह एक भीषण रूप था जिसने समाजको तो गंदा किया ही, जीवनके अन्य विभागोंको भी दूषित कर दिया। जाति और देशकी पराजय तथा ह्रासमें इसका मुख्य हाथ है। मेरे बाल्यकालमें इस प्रदेशके आर्यसमाजोंमें इसपर बड़ा ज़ोर दिया जाता था और सनातनियों की ओरसे तनातनी भी रहा करती थी। आर्यसमाजियोंके विरुद्ध किसी जाति, किसी बिरादरी, किसी गाँव या किसी सम्प्रदायको भड़का देनेका एक सस्ता उपाय यह था कि यह लोग चमार-मेहतरकी रोटी खा लेते हैं। पंजाबके लोगोंके समक्ष रोटीकी समस्या इतनी जटिल न थी। उत्तर प्रदेशमें तो 'आठ कनौजिया और नौ चूल्हे' की उक्ति प्रसिद्ध थी। सूलीपर चढ़ जाना आसान था, दूसरी बिरादरीकी रोटी खाना कठिन था। क्योंकि सूलीपर चढ़नेवाला तो स्वयं ही मरता था परन्तु दूसरी बिरादरीकी रोटी खाने वाला तो सन्तानके विवाह आदिके कठिन प्रश्नको उपस्थित कर देता था। मुझे अपना अनुभव है। दूसरे लोग इस कठिनाईको समझ नहीं सकते। मैं १८९६ ई० की बात कर रहा हूँ। मेरी माताजी और मेरे मामाजीको भड़का दिया गया। मेरी माता का प्रेम ही मेरा रक्षक बना! परन्तु धीरे-धीरे सुधार होता गया।

गढ़वाल और कमायूंके उच्च वर्गने निम्न वर्गको बहुत दबाया। यह प्रान्त बहुत पिछड़े हुए हैं। यहाँ क्षत्रिय और ब्राह्मण लोग छोटे लोगोंको विवाहके समय 'डोला पालकी' पर चढ़ने नहीं देते थे। सबसे पहले आर्यसमाजने इस प्रश्नको उठाया। उस समय न कांग्रेस आगे थी, न गांधीजी महाराज आये थे। श्री ठक्कर बापाका तो नाम भी न था। न जाने कितने सिर फूटे, कितनी लड़ाइयाँ हुईं और कितने मुकद्दमे हुए। बिजनौर और नजीबादके आर्य लोग गढ़वाल और कमायूंका साथ देते रहे। मुझे खेद हुआ जब मैंने श्री पट्टाभि सीतारमैयाकी पुस्तकमें डोला-पालकीके विषयपर उन आर्य वीरोंका नाम तक न देखा जो इस युद्धके आदि लड़ाका थे। अब तो उस प्रश्नकी जटिलता इतनी नहीं रही। इस प्रान्तके ग्रामोंमें आर्योंनें इस विषयमें क्या किया है, उसका एक उदाहरण दूंगा। मैं बारह वर्ष हुए अलीगढ़के "मई" ग्राममें गया। वहाँके आर्य समाजके प्रचारक थे एक क्षत्रिय। नाम नहीं याद है। मेरा गाड़ीवान था चमार। जब हम भोजन करने बैठे तो वह चमार संकोच करने लगा। उसे भय था कि ठाकुर साहेब कुपित न हो जायँ। परन्तु ठाकुर साहबने एक थाली उसके सामने रखदी और कहा कि हम आर्यसमाजी हैं छूतछात और भेद-भाव नहीं मानते। इसी प्रकार उन दिनों मैं हाथरसके निकट एक ग्राममें व्याख्यान दे रहा था। मैंने कहा कि आप लोगोंको चाहिए कि अछूत चमारोंको अपनाने का यत्न करें। मुझे तुरन्त बताया गया कि श्रोतागणमें कई सौ चमार विद्यमान थे। इस उत्थान और सुधारकी तीव्रताका श्रेय महात्मा गांधी और कांग्रेसको है।

यह है उत्तर प्रदेशके समाज-सुधारकी पिछली शताब्दीकी कहानी। यह समाज-सुधार नहीं अपितु सुधारका आरंभ मात्र है, कुछ आंशिक सुधार केवल मनोवृत्तिमें हुआ है। असली काम तो पड़ा ही हुआ है। इक्के-दुक्के विधवा विवाहको स्त्री-अधिकार-रक्षण नहीं कह सकते। इधर-उधरके धूम-धामपूर्वक मन्दिर प्रवेशको अछूतोंके प्रश्नका

समाधान नहीं कह सकते। समाज-सुधार एक अलग-थलग वस्तु नहीं है। आर्थिक सुधार, नैतिक सुधार, धार्मिक सुधार, सांस्कृतिक सुधार सभी एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। काली और खुरदरी जड़से सुन्दर फूलोंको अलग कैसे किया जा सकता है, गुलाबके काँटे भी हैं फूल भी। कांटे भी फूलोंके हितैषी ही हैं। अतः सन्त सुधारकोंकी दृष्टि सर्वतोमुखी होनी चाहिए।

इधर समाज-सुधारकी ओर कुछ उदासीनता आ गई है। देश भर का ध्यान केंद्रित है राजनीतिपर। इसीको हम परमपद समझते हैं और स्वाभाविक भी, परन्तु क्या इतने मात्रसे ही भविष्य बन सकेगा यह मीमांसनीय है। हमने गत कालमें जो परिश्रम किया है वह व्यर्थ तो नहीं हुआ परन्तु उसको पल्लवित कहते हुए भी पुष्पित या फलीभूत नहीं कह सकते। समाज-सुधारकी योजना को वैज्ञानिक रीतिपर सोचना और चलाना है।

--::००::--

श्री काशीनाथ सोमण

महाराष्ट्रमें समाज-सुधारके सौ वर्ष

सौभाग्यसे समझिए या दुर्भाग्यसे, महाराष्ट्रकी स्थिति भारतके अन्य राज्योंकी अपेक्षा कुछ भिन्न है। खैबर घाटीसे हो या सागरी मार्गसे, हमारे देशपर हुए विदेशी आक्रमणों का सबसे कड़ा मुकाबला महाराष्ट्रमें हुआ। देश-भरमें फैल जानेवाले मुगल साम्राज्य को महाराष्ट्रमें मुँहकी खानी पड़ी। "शिवाजी न होते, तो सुन्नत होत सबकी" कविवर भूषणके कथनानुसार छत्रपति शिवाजीने ही स्वाधीन राज्यकी स्थापना कर राजनीतिक ही नहीं धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिसे भी देशकी अवनतिको रोका। पोर्तुगीज, फ्रेंच और ब्रिटिश आदि पश्चिमी देशोंके आक्रमणका भी पहले बंगालमें और अन्त तक महाराष्ट्रमें मुकाबला किया गया। लगभग १८१८ में पेशवाईका अन्त हुआ और सारे भारतमें अंगरेज़ी राज कायम हो गया। अन्य प्रान्तों की अपेक्षा बंगाल और महाराष्ट्र अंगरेज़ोंसे अंत तक लड़े। अंगरेज़ोंके ख़िलाफ़ विद्रोहकी भावना इन दो प्रान्तों में ही सर्वप्रथम प्रज्वलित हुई। अंगरेज़ोंकी बराबरीमें, यहाँका समाज पिछड़ा हुआ था। हारसे समाजमें नैराश्यकी भावना फैल गई और उनकी लौकिक अमन-चैनकी सुविधाओं से जनता अँगरेज़ी राजकी ओर आकृष्ट होने लगी। कई लोग तो यहाँ तक कहने लगे कि अँगरेजोंका आगमन इस देशमें यों ही नहीं हुआ उसके पीछे कोई दैवी प्रेरणा होगी। अँगरेजोंके साथ-साथ ईसाई धर्मोपदेशक भी आ धमके। ईसाई धर्मकी आड़में यह भी प्रचार होने लगा कि यहाँका धर्म, पुराण, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति आदि सब घिनौना है। यहाँके सामाजिक रीति-रस्म हेय हैं। इन धर्मोपदेशकोंके प्रचार तथा यहाँके अंगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंके अँगरेज़ अधिकारियोंके साथ बढ़ते हुए सम्पर्कसे यह धारणा पैदा होने लगी कि हमारी इस अवनति एवं अनावस्थाका कारण सामाजिक एवं धार्मिक हीनता और सुधारोंकी कमी है। उन कमज़ोरियोंको हटाना हमारा प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए।

अन्य प्रान्तोंसे महाराष्ट्रकी स्थिति भिन्न होनेके और भी अनेक कारण हैं। अँगरेज़ी राजके प्रारम्भमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्य तथा संगीत आदि जीवनके हर क्षेत्रमें उच्च कोटिके कार्यकर्ता सामने आए। कांग्रेसकी स्थापना इसी प्रान्तमें हुई और उसके कर्णधारोंमें न्यायमूर्त्ति रानाडे, नामदार गोखले, दादाभाई नौरोजी आदि प्रमुख थे। समाज-सुधारके क्षेत्रमें लोकहितवादी अर्थात् गोपाल हरि देशमुख, गोपालरावजी आगरकर, न्यायमूर्त्ति रानाडे, डा० भांडारकर आदि अगुवा थे। स्वराज्य

के जन्मसिद्ध अधिकारका अमरमंत्र देनेवाले लोकमान्य तिलक यहीं पैदा हुए। आपने निन्यानबे वर्षमें आज भी महिलाओंकी शिक्षाके लिए काममें जुटे हुए महर्षि अण्णा साहब कर्वे उन्हीं दिनोंकी देन हैं। अनाथ महिलाओंके सुधारके लिए "सेवा सदन" नामक संस्थाकी नींव डालनेवाले श्री गोपालराव देवधर, रंगमंचके संस्थापक श्री भावेजी तथा अण्णा साहब किर्लोस्कर, भारतीय चित्रपट सृष्टिके जनक श्री फालके महाराष्ट्रमें ही पैदा हुए। इन महापुरुषोंकी मालिका मैंने महाराष्ट्रका बड़प्पन प्रकट करनेके लिए उद्धृत नहीं की किन्तु इस का उद्देश्य इतना ही दिखाना है कि अंगरेज़ोंके सम्पर्कसे जो नव विचार यहाँ प्रकट हुए उनसे तुरन्त लाभ उठानेवाले महान् नेताओंका ताँता यहाँ लगा रहा। इनके ही कारण जीवनके हर क्षेत्रमें महाराष्ट्र प्रगतिपथपर अग्रसर हुआ। किन्तु यहाँ हमें सिर्फ यही देखना है कि समाज-सुधारके मार्गपर महाराष्ट्रने किस प्रकार यात्रा की।

चारों ओर फैले हुए अंधेरेको दोष देनेकी अपेक्षा क्या यह अच्छा नहीं कि अपना-अपना दिया जलाकर उसको दूर करनेकी कोशिश की जाय। इस प्रकार बंगालमें ब्राह्म-समाज, पंजाबमें आर्य-समाज और महाराष्ट्रमें प्रार्थना-समाज, सत्यशोधक-समाज तथा आगरकर जीके सुधारकी-सम्प्रदाय आदिके द्वारा समाजकी कमजोरियाँ नष्ट करनेका प्रयत्न शुरू हुआ। वैसे १८७५ में इसी प्रान्तमें बम्बईमें आर्यसमाजकी सबसे पहले स्थापना हुई थी। हिन्दू-संस्कृतिके इतिहासमें स्फूर्तिप्रद एवं उल्लेखनीय बात यह है कि समय-समय पर उसको नया रूप देनेके लिए नव-विचारकी परिपाटी चलानेवाले सुधारक बराबर पैदा होते रहे। भागवतधर्मी संतोंके बाद महाराष्ट्रमें सामाजिक क्रांतिकी जोत जलाने वाले पाँच महर्षि पैदा हुए। ज्योतिर्वाफुले, लोकहितवादी, रानाडे, आगरकर और बिट्ठलराव शिंदे, ये हैं वे महर्षि-पंचक। बम्बई हाईकोर्टके न्यायमूर्त्ति गजेन्द्र गडकर जीके कथनानुसार आधुनिक महाराष्ट्रके सामाजिक जीवनमें क्रांति पैदा करनेके लिए किए गए प्रयत्नोंका जब भी कभी इतिहास लिखा जाएगा तब उसमें सामाजिक क्रांति के अगुवा वीरोंमें ज्योतिर्वा फुलेका ही नाम सर्वप्रथम होगा। जाति-व्यवस्थापर कड़ा प्रहार करनेवाले वे पहले विद्रोही थे। दिनांक २७ नवम्बर १८२७ में आपका जन्म हुआ। आप बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी अज्ञ एवं दीन जनताके उद्धारके लिए आपने बड़ी लगनसे काम किया। सामाजिक समताके लिए आपमें असामान्य निष्ठा थी। उसी निष्ठासे स्वार्थ त्यागपूर्ण समाज-सेवाका व्रत आपने लिया और आजीवन उस को निबाहा। १८५८में आपने ही पूनामें हरिजनोंके लिए पाठशालाकी स्थापना की। सवर्ण हिन्दुओंके पनघट हरिजनोंके लिए खोलनेका आन्दोलन सबसे पहले आपने शुरू किया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि विपदावस्थामें पड़ी कुमारी तथा विधवा महिलाओंके लिए जच्चा घर भी आपने स्थापित किया। जच्चा-घरकी विशेषता यह थी कि प्रसूतिके बाद बच्चा वहीं छोड़कर महिलाचली जा सकती थी। इसीसे प्रेरणा पाकर न्यायमूर्त्ति रानाडेके प्रयत्नसे १८७८ में पंढरपुरमें अनाथ बालकाश्रम की स्थापना की गई। विधवा विवाहके भी आप पुरस्कर्ता थे। मराठा समाजके आप उद्धारकर्त्ता माने गए। उसी उद्देश्यसे आपने २४ सितम्बर १८७३ को सत्य-शोधक-समाजकी नींव डाली। सत्यशोधक-समाजकी उद्देश्य-पत्रिकामें यह लिखा है कि ब्राह्मण

भट, जोशी एवं उपाध्याय आदिकी गुलामीसे शूद्र जनताकी मुक्ति करानेके हेतु समाजकी स्थापना की जा रही है। अपने धर्मान्धितापूर्ण ग्रंथों द्वारा लगभग हजार वर्ष तक, शूद्रों को नीच ठहराकर उनका हर प्रकारसे शोषण किया गया। उनको जाग्रत करनेके लिए इस समाजकी स्थापना की गई थी। महात्मा ज्योतिर्बा फुलेकी कार्यपद्धतिमें सामाजिक तत्वज्ञान स्पष्ट रूपमें विद्यमान था। किन्तु उसके लिए हिन्दू-धर्म-शास्त्र, संस्कृति तथा ब्राह्मण-वर्गकी बदनामी व निन्दा करनेका काम इस समाजके नामसे अनेकोंने अपने हाथमें ले लिया। इससे ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवादने महाराष्ट्र भरमें भयानक रूप धारण कर लिया। ज्योतिर्बा वास्तवमें सच्चे मानवतावादी थे। आपके धर्मकी परिभाषा यही थी कि जो धर्म एक ही घरमें बौद्धधर्मी पत्नी, इसाई-धर्मी पति, इस्लाम-धर्मी कन्या, एवं सार्वजनीन सत्यधर्मी पुत्र आदि परिवारको प्रेमसे बरताव करनेकी सीख देगा वही वास्तविक धर्म है।

बचपनमें ब्राह्मणोंसे अपमानित एवं त्रसित किए जानेसे आपके मनमें 'ब्राह्मण-द्वेष' की भावना प्रज्वलित हुई, ब्राह्मण वर्गकी प्रभुताके सम्बन्धमें आपने जो कुछ युक्तायुक्त विवेचन किया है वह ईसाई धर्मोपदेशकोंकी हिन्दू-धर्म विषयक पुस्तकें पढ़कर किया था। इस कारण हिन्दू-धर्मकी बुराइयोंकी ओर ही आपका ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ और उनके विरुद्ध आपने तीव्र आन्दोलन किया।

महाराष्ट्रके महान विचारक लोकहितवादी गोपाल हरि देशमुखजी के कार्यकी चर्चा करनेसे पहले मराठी पत्रकारिताकी नींव डालने वाले श्री बालशास्त्री जांत्रेकर का स्मरण होना स्वाभाविक है (इ० सन १८१० से १८४६)। पैंतीस वर्षकी आयुमें ही आप चल बसे। किन्तु इस अल्पावधिमें "दर्पण" साप्ताहिक और "दिग्दर्शन" मासिक पत्रिका के द्वारा महाराष्ट्रके तीन महत्व पुर्ण आन्दोलनोंका वीज आपने बोया। समाचार पत्र विधवा-विवाह, पतित-परिवर्तन इन तीन क्षेत्रोंमें महाराष्ट्रमें आज जो प्रगति दिखाई दे रही है उसका श्रेय आपको ही है।

राजनीतिक कार्यके लिए भारतमें कई गुप्त संगठन स्थापित हुए हैं किन्तु यह क्या कभी किसीने सुना है कि जाति-भेद जैसी सामाजिक संस्था नष्ट करनेके लिए गुप्त संगठन की स्थापना की गई! महाराष्ट्रमें १८५० के लगभग श्री दादोबा पांडुरंग प्रभृतिने "परमहंस-मंडल" नामक एक गुप्त संस्था बम्बईमें स्थापित की थी। लगभग १५ साल तक यह संस्था कार्य करती रही किन्तु संस्थाके सदस्योंकी सूची जब प्रकट हो गई तब सामाजिक बहिष्कारके डरसे सभी सदस्य संस्थासे अलग हो गए। इसीकी भस्ममें से १८६७ में प्रार्थना-समाजका प्रादुर्भाव हुआ।

महाराष्ट्रमें बड़े पैमानेपर समाज-सुधारका प्रचार लोकहितवादीने किया। (१८२३ से १८९२) "प्रभाकर" नामक समाचार-पत्रमें प्रकाशित 'शंत पत्रों' द्वारा निद्रित समाजको जगानेकी भरसक कोशिश लोकहितवादीने की। एक पत्रमें आपने लिखा है कि हिन्दू समाजमें जो मूर्खता बढ़ गई है, उसे हटानेके हेतु ही अँगरेजोंका यहाँ आगमन हुआ। अब हमको चाहिए कि अँगरेज़ोंको गुरु समझकर उनके चरणोंमें बैठकर उनसे अक्लमंदीके कुछ पाठ सीखें, हमारी जो संस्कृति नष्ट-भ्रष्टसी दीख पड़ती है, उसको पूर्व रूप प्राप्त करनेके लिए मानो ईश्वरी प्रेरणासे अँगरेज भारतमें पधारे हैं।

यह पूछा जा सकता है कि लोक-हितवादीके अँगरेज़ी राजके सम्बन्धमें प्रकट किए गए विचारोंका समाज-सुधारके साथ क्या सम्बन्ध है ? कुछ अर्थोंमें यह आशंका ठीक है। किन्तु लोक हितवादीने इन विचारों द्वारा सिर्फ़ यही बतलानेकी कोशिश की है कि हमारी पराधीनताका कारण हमारी सामाजिक हीनता थी। समाजकी हर एक कुप्रथापर आपने प्रहार किया। "शास्त्रात् रूढ़िर्बलीयसी" इस परिपाटीको तोड़कर "बुद्धिरेव बलीयसी" का संदेश आपने दिया। "आपने एक स्थानपर कहा है कि मनुका वचन और याज्ञवल्क्य ही क्यों ब्रह्मदेवका कहना भी ज्योंका त्यों माननेसे पहले उसे बुद्धिकी कसौटी पर परख लेना चाहिए।

हरिजनोंके सम्बन्धमें भी आपके विचार प्रगतिशील थे। हरिजनोंके प्रति आपके मनमें सहानुभूति थी और उनपर होनेवाले अन्यायके प्रति चिढ़ थी। आपने कहा था कि ब्राह्मण हरिजनोंकी निन्दा करते हैं। उन्हें छूते तक नहीं। किंतु अँगरेज़ोंके साथ बड़े प्रेमसे बैठकर बातचीत करते हैं। वास्तवमें यदि धर्म शास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय तो अँगरेज़ोंसे हरिजन हमारे अधिक निकट हैं। आपकी विशेषता यह है कि यूरोपीय राजनीतिक एवं लोकसत्तात्मक राज्यक्रांतिका विवेचन आपने किया और समाजको नव-विचारोंसे परिचित कराते हुए उसमें स्वातंत्र्य भावना जाग्रत की। आपका यह स्पष्ट कहना था कि अँगरेज़ यहाँ दो सौ वर्षसे अधिक नहीं रह सकेंगे।

समाज-सुधारके संगठित आन्दोलनका पुरस्कार तथा सामाजिक परिषद्की नींव डालनेवाले थे न्यायमूर्त्ति रानाडे (१८४२ से १९०१)। महाराष्ट्रके ही नहीं समूचे देशके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा औद्योगिक आन्दोलनका सूत्रपात न्यायमूर्त्ति रानाडेने अपने लेखों तथा व्याख्यानों द्वारा किया। इस लिए लोकमान्यने रानाडेका अभिनन्दन किया। लोकमान्य तिलकने उसके सम्बन्धमें लिखा है कि उस जमानेमें महाराष्ट्रकी अवस्था ठंडे गोलेके समान थी। उस ठंडे गोलेको किस प्रकार एवं किस किस्मकी गरमी दी जाय जिससे वह फिर सजीव होकर अपने हाथ-पैर हिला सके, इस पर रात दिन विचार कर, कतिपय उपायोंसे उसको सजीव करनेके कठिन काममें जुट जानेवालोंमें सर्वप्रथम थे माधवरावजी रानाडे।

पूनामें वक्तृत्वोत्तेजक सभा, वसन्त-व्याख्यान-माला, औद्योगिक परिषद्, फीमेल-हाई स्कूल, नेटिव-जनरल-लाइब्रेरी, प्रार्थना-समाज, सार्वजनिक सभा आदि कई संस्थाओं के सूत्रचालक न्यायमूर्त्ति रानाडे थे। सामाजिक परिषदकी स्थापना एवं उस परिषद का आन्दोलन उन्होंने शुरू किया था। परिषद्के हर अधिवेशनमें विभिन्न सामाजिक विषयों पर अभ्यासपूर्ण चर्चा वे किया करते थे। अबलाओंकी उन्नतिके जो प्रयत्न उन्होंने किए, उनमें उनके प्रेमार्द्र मनकी बेचैनी दिखाई देती थी। महिलाओंपर पुरुषवर्गकी ओरसे चलाई जानेवाली हुकूमतके वे विरोधी थे। उनके विचारोंकी आधारशिला बुद्धिवादी नहीं थीं; न्याय, दया एवं शास्त्राधार प्रमुख था। पुरानी परंपराके वे अभिमानी थे इसलिए जब कभी आधुनिक समाज-सुधारकी बात छेड़ी जाती, तो वे उसके लिए कोई ऐतिहासिक परम्परा ढूँढ़ निकालते थे।

उनके समयमें महाराष्ट्रके इतिहासमें एक महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ जिससे महाराष्ट्र में ही नहीं समूचे देशमें नया वायुमंडल पैदा हुआ। अँगरेज़ी राज देशमें स्थापित होने

के बाद पहले पचासवर्षकी कालावधिमें (लगभग १८७५ तक) समाज-सुधारकोंने समाज को नवविचारोंसे जाग्रत करनेकी कोशिश की किन्तु जिस समाजकी जागृतिके लिए वह प्रयत्न किया गया उसका रूप क्या था ? वह उच्च श्रेणीके ब्राह्मण वर्ग तथा अँगरेजी पढ़े-लिखे चंद लोगों एवं सरकारी नौकरों तक ही सीमित था । मध्यमवर्ग तथा किसान-मजदूरोंका ....बहुजन-समाज उन सुधारोंसे कोसों दूर था । इन तथाकथित उच्च श्रेणी के लोगोंमें समाज-सुधारकी भाषा केवल बोलने तक सीमित थी । आचरण करनेका समय आनेपर सब रूढ़िवादी बन जाते थे । यहाँ तक विधवा-विवाहका पुरस्कार करनेवाले श्री रानाडे भी अपने पुर्नविवाहके समय पूरे रूढ़िवादी बन गए । पिताजीके दुःखका बहाना बनाकर , उन्होंने अपने विवाहका समर्थन किया । सामाजिक परिषद के जनककी जब यह हालत थी तब औरोंका तो क्या कहना ?

अँगरेज़ी राज्यके पैर जमा लेनेके बाद महाराष्ट्रमें वासुदेव बलवंत फड़केके नेतृत्व में एक सशस्त्र विप्लव का असफल प्रयत्न हुआ । इसी कारण समाज नेताओंके विचारोंको विशिष्ट विधायक ढाँचेमें ढालनेकी कोशिश शुरू हुई । १८८५ में बम्बईमें कांग्रेसकी नींव डाली गई। कांग्रेसके जनक ह्यूम साहबका मत यह था कि कांग्रेस अपने कार्यका शुभारम्भ सामाजिक सुधारोंसे ही करे । किन्तु आपका यह मत टिक न सका । सामाजिक सुधारोंसे राजनीतिक सुधारोंको ही अग्रस्थान देनेकी आवश्यकता लोकमान्य तिलक और उनके राष्ट्रवादी सम्प्रदायने बना दी । लोकमान्य तिलकका अपने सहकारी श्री आगरकर से इसी प्रश्नपर मतभेद हुआ और अन्तमें आगरकरको तिलकका साथ छोड़ देना पड़ा ।

समाज-सुधारके सम्बन्धमें लोकमान्य तिलकने अपनी सैद्धान्तिक भूमिको स्पष्ट करते हुए कहा कि समाज-रचना चाहे जिस प्रकारकी क्यों न हो जब तक स्वाधीनता एवं राष्ट्रीयताका जोश देशमें जाग्रत है, तब तक समाजकी कमजोरियाँ राष्ट्रकी उन्नति व उत्कर्षमें रोड़े नहीं अटका सकतीं । किन्तु वह जोश ही अगर नष्ट हो गया, तो वे कमजोरियाँ रावणके धनुषके समान सीनेपर गिरकर हँसीका कारण बन जायेंगी । इस-लिए देशके हितके लिए काम करनेवाले कार्यकर्ता का पहला प्रयत्न यह होना चाहिए कि देशके प्रति तथा अपनी सामाजिक संस्थाओंके सम्बन्धमें अभिमानकी भावना जाग्रत रहे, फिर समाज रचना चाहे जिस प्रकार की क्यों न हो ।

पेड़परके तोतेकी ओर तीर चलानेकी द्रोणाचार्यकी आज्ञा होते ही, वीर अर्जुनको तोतेकी आँखके सिवा अन्य कुछ भी नहीं दिखाई दिया। लोकमान्य तिलकके बारेमें भी यही कहा जा सकता है। अँगरेज़ी हुकूमतके विरुद्ध जनतामें असंतोषकी भावना प्रज्वलित कर उन्हें उसके विरुद्ध खड़ा करना उनका लक्ष्य था । हर मौके और साधनका उपयोग लोकमान्यने उसी लक्ष्यकी पूर्त्तिके लिए किया । समाज-सुधारकी ओर उन्होंने उसी दृष्टिसे देखा ।

लोकमान्य समाज-सुधारके प्रतिकूल नहीं थे । रूढ़िवादी, कर्मठ और कट्टर सनातनी भी नहीं थे । "केसरी" का काम तथा जन जागृतिका प्रयत्न ही उनकी 'संध्या' थी । हरिजनोंके सम्बन्धमें उनके विचार कट्टर सुधारकोंसे भी अधिक प्रगतिशील थे । उन्होंने बम्बईमें अपने एक भाषणमें कहा था कि If a God were to tolerate untouchability I would not recognize him as God at all." अगर ईश्वरको अस्पृश्यता मंजूर है, तो मैं उसे ईश्वर ही माननेको तैयार नहीं ।

लोकमान्य तिलकका यह भी विचार था कि वर्तमान स्थितिमें यह आवश्यक है कि सामाजिक सुधारका उत्तरदायित्व समाजको ही उठाना चाहिए। विदेशी शासनकी सहायतासे किसी क़ानून द्वारा आवश्यक सुधार तुरन्त किया जा सकता है किन्तु इससे घातक प्रथाका श्रीगणेश होकर समाजकी उससे हानि होगी क्योंकि हम अपने ही हाथोंसे विदेशी शासनको अपनी अन्तर्गत व्यवस्थामें हस्तक्षेप करनेका अधिकार दे देते हैं।

श्री गोपालराव आगरकर (१८५६ से १८९५) महाराष्ट्रके समाज-सुधारके स्फूर्ति-दाता थे। आप व्यक्तिवादी तथा बुद्धिप्रामाण्यवादी थे। सामाजिक क्षेत्रके समान ही राजनीतिक क्षेत्रमें भी आपके विचार क्रांतिकारी थे। समाजवादी समाज-रचना के जो नारे आज लगाए जा रहे हैं वे आगरकरके लेखोंमें स्पष्ट दिखाई देते हैं। आप चाहते थे कि पहले घरमें सब तरहके सुधार हों जिससे जनताको अंगरेज़ोंसे लड़ने के लिए बल प्राप्त होगा। पर तिलकका कहना था कि जिस घरकी बात आगरकर कर रहे हैं वह घर ही अपना नहीं है। अँगरेज़ोंको यहाँसे हटा देनेपर ही जनताको वह घर प्राप्त हो सकेगा और जनता फिर अपनी प्रगतिके लिए आवश्यक सुधार कर लेगी। एक था राजनीतिक नेता तथा राष्ट्रीय दल संगठनकर्ता और दूसरा था सैद्धांतिक संस्कृति सुधारक। लोकमान्य थे देशभक्त पंडित तो आगरकर सुधारवादी सुधारक कवि।

न्यायमूर्ति रानाडेका था नरम सर्वांगीण सुधारवाद, आगरकरका था गरम सर्वांगीण सुधारवाद और चिपलूणकर तथा लोकमान्य तिलकका था गरम राजनीतिक राष्ट्रवाद। इस प्रकार विचारोंके तीन स्वतंत्र प्रवाह उन दिनोंमें थे। १८९५ के पूर्व महाराष्ट्रमें १०–१५ साल जो विचार-मंथन हुआ उसमें इन तीनों विचार प्रवाहोंकी त्रिधारा थी। बादमें आगरकरके विचारोंकी सरस्वती लुप्त हो गई। रानाडेका नरम दल और तिलक का गरम दल महाराष्ट्रमें कार्य करते रहे। पर उनमें भी आगे चलकर तिलकके गरम दलने सब ओर अपना सिक्का जमा लिया।

१८१८से १९०० तक की यात्रा अब हम कर चुके हैं। लोकमान्यके प्रभावशाली नेतृत्वसे अब राजनीतिक विचारोंकी प्रधानता होनेपर भी समाजमें फिरसे नव जागृति पैदा होने लगी। शुरूमें वह जागरण सिर्फ उच्च श्रेणीके ब्राह्मण वर्ग तक सीमित था। अब मध्यम श्रेणीका समाज भी उसमें शामिल हुआ। १८९४ में लोकमान्यने गणेशोत्सवको सामूहिक रूप दिया। १८९५ में शिवाजी-महोत्सवकी नींव डाली। इस प्रकार जनताकी धर्म-भावना एवं ऐतिहासिक विभूतिके प्रति होनेवाली पूज्य भावनाको परिष्फुटित कर उसका उपयोग उन्होंने राजनीतिक आन्दोलनको बल-प्राप्त करानेके लिए किया।

१८८५ में स्थापित कांग्रेसके सूत्रचालकोंमें यह एक विचारधारा थी कि सामाजिक सुधारका ही कार्यक्रम पहले हाथमें लिया जाय। किन्तु वह विचारधारा टिक न सकी। दो साल बाद १८८७ में मद्रासमें कांग्रेसके साथ इन विचारोंके सूत्रचालकोंने सामाजिक परिषद्की स्थापना की। १९०१ तक यानी अपनी मृत्यु तक न्यायमूर्ति रानाडेने परिषद् का सूत्रचालन किया। १९१७ तक कांग्रेस अधिवेशनके साथ सामाजिक परिषद् होती रही। १९१८ में कांग्रेससे नरम दलके लोग अलग हो गए और उनके नेशनल लिबरल फेडरेशन के साथ भी सामाजिक परिषद् होने लगी। लगातार १० साल तक क्रम चला। उसके

बाद राजनीतिक आन्दोलनपर देशका ध्यान केन्द्रित हो जानेसे सामाजिक परिषद् फिर कांग्रेसके साथ होने लगी; परन्तु उसका सिलसिला अधिक वर्ष नहीं चल सका। अंतर्जातीय भोज इस परिषद्का आवश्यक अंग होता था। नागपुरमें हुई सामाजिक परिषद् में भाषण करते हुए लोकमान्यके अन्यतम साथी दादा साहब खापर्डेने कहा था कि सुधारकी प्रेरणा दिलसे होनी चाहिए। सुधारोंके लिए जब अन्य मार्ग खुले हैं, तो कानून का उपयोग करना लाभकारक नहीं होगा। उससे तो विरोधके लिए विरोध पैदा होता है। सुधारोंको अपने बर्तावमें व्यक्त कर उससे व्यक्तिके स्वावलम्बनको बढ़ावा मिलना चाहिए। किन्तु सुधारकी यह उद्देश्यपूर्त्ति क़ानून द्वारा बिलकुल भी नहीं हो सकती। लगभग २५ सालके बाद बम्बईमें १९१२ में प्रांतिक समाज-सुधार-परिषद् हुई। ५० सालके समाज-सुधारके कार्यका सिंहावलोकन किया गया। सामाजिक सुधारोंके आन्दोलनका लक्ष्य निश्चित करनेके हेतु एक उप-समिति बनाई गई।

१८९० में लोकमान्यकी ओरसे एक निवेदन प्रकट किया गया था जिसमें कहा गया था कि विवाहके लिए लड़की की आयु १६ और लड़केकी २० हो; उससे कम उम्रमें विवाह न किया जाय। ४० वर्षकी आयुके बाद पुरुष विवाह न करे। अगर उसे करना ही हो तो वह विधवा-विवाह करे। शराब पीना बंद किया जाय। दहेजकी प्रथा बंद हो। हर एक आदमी अपने आयका दसवाँ हिस्सा सार्वजनिक काममें लगाए। लगभग ६५ साल पूर्व व्यक्त किए गए तिलकके इन विचारोंको आज स्वाधीनता प्राप्त हुए ९ साल बीतनेपर भी स्वीकार नहीं किया जा सका है। विवाहकी आयु-मर्यादाके बारेमें खींचतान बराबर चल रही है। शराबखोरी अब भी बन्द नहीं हुई। दहेज की कुप्रथाने तो समाजके नाकों दम कर रखा है और आचार्य विनोबा समाजमें जीवन-दान, श्रमदान व सम्पत्तिदानका उपदेश आज भी कर रहे हैं। इन विचारोंसे स्पष्ट है कि तिलक समाज-सुधारके प्रतिकूल नहीं थे। उनका कहना सिर्फ यह था कि हमें जन-समूहमें सुधार करना है। पर कहीं सुधारके हेतु जन-समूहमें फूट न पड़ जाय।

चिपलूणकरकी प्रेरणासे तिलक और आगरकरने जिस राष्ट्रीय शिक्षाकी नींव डाली थी वह विकसित होती गई। महिलाओंकी शिक्षाके लिए भी पाठशालाएँ खुलीं। १८९६ में पूनामें अनाथ-बालिकाश्रम (हिन्दू विडोज़ होम) की स्थापना की गई। १९०८ में श्री गोपाल कृष्ण देवधरने सेवासदनकी नींव डाली। राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ताओंके साथ साहित्यिकोंका भी समाज-सुधारमें बड़ा हाथ रहा। श्री हरि नारायण आपटेके सामाजिक उपन्यासोंने मध्यम श्रेणीके समाजमें खलबली मचा दी। रंग-मंचने भी और खासकर 'शारदा' जैसे नाटकोंने समाज-सुधारके कार्य में बड़ी मदद की। फिर भी यह सब जागरण मध्यम श्रेणीके समाज तक ही सीमित रहा। सामाजिक विचारोंकी अपेक्षा तिलकके राजनीतिक विचारोंसे सर्वप्रथम किसान मजदूरमें अर्थात् महाराष्ट्रके बहुजन-समाजमें जागृति पैदा हुई। १९०८ में लोकमान्यको राजद्रोहके अभियोगमें ६ सालकी सजा हुई और उनको मांडले भेज दिया गया। बम्बईके मिल-मजदूरोंनें लोकमान्यके प्रति अपना प्रेम तथा शासनके विरुद्ध अपना असंतोष प्रकट करनेके लिए हड़ताल की। राजनीतिक कारणसे हुई वह पहली स्वयं स्फूर्त हड़ताल थी जिसे सुनकर लेनिनने भी कहा था कि भारतके किसान मजदूरोंके जाग्रत होनेकी यह निशानी है।

चार साल पूर्व १९५३ में पूनामें महाराष्ट्र-सामाजिक परिषदका फिरसे श्रीगणेश हुआ। उस परिषद्के सभापति थे बम्बई हाईकोर्टके न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर। आपने अपने भाषणमें कहा था कि महाराष्ट्रमें आत्माभिमान तथा देशाभिमान जाग्रत करनेका काम चिपलूणकरने अपनी तेज लेखनीसे किया। उन्हें अगर स्वामी दयानन्द सरस्वती या ज्योतिर्बा फूलेके विचारोंके ध्येयवादके लिए कुछ न कुछ सहानुभूति एवं श्रद्धा होती और तिलक आगरकर एक-दूसरेके प्रति स्पर्धा करनेके बजाय सहकारी होते और उनके संयुक्त नेतृत्वमें सामाजिक तथा राजनीतिक जागरणका आन्दोलन शुरू रहता, तो महाराष्ट्रका ही नहीं समूचे देशका इतिहास बदल जाता। देशके स्वाधीन होनेके बाद सामाजिक प्रगतिका रथ जो अटका हुआ या धँसा हुआ दिखाई देता है, वह न दीखता पर "Of all sad words of pen and tongue the saddest are these : "It might have been". इस कविके वचनके अनुसार "अगर ऐसा होता तो" ऐसे विचारोंको मनमें स्थान देना व्यर्थ है।

न्यायमूर्त्ति गजेन्द्र गड़करके इन विचारोंकी तरह मन कभी-कभी सोचने लगता है कि महाराष्ट्रके आद्य क्रांतिकारी सुधारक महात्मा फुलेका बचपन में ब्राह्मणवर्ग से अपमान न होता, आप इसाई धर्मोपदेशकोंके चंगुलमें फँस न जाते और कोल्हापुरके छत्रपति महाराज के वेदोक्त प्रकरण में महाराष्ट्र के सुधारकोंने उनका साथ दिया होता तो महाराष्ट्रमें ब्राह्मण ब्राह्मणेतर वाद कभी न पनप पाता और महाराष्ट्रका स्वरूप बदल जाता परन्तु होनी तो होकर ही रहती हैं।

मानवतावादी महात्मा ज्योतिर्बा फुलेने १८७३ में सत्यशोधक समाजकी नींव डाली और आजीवन समाजकी सेवा की किन्तु १८८९ में आप चल बसे और आपके साथ समाज-सुधारका कार्य रुक गया। १९१२ तक कोई प्रभावशाली नेता समाज-सुधार के क्षेत्रमें प्रकट नहीं हुआ। इसी बीच १९०२–३ में कोल्हापुरमें निर्माण हुए वेदोक्त प्रकरण से सत्यशोधक समाजको नया जीवन मिला। कोल्हापुर के साहू महाराजकी यह इच्छा थी कि मराठा क्षत्रिय होनेसे उसके सभी संस्कार ब्राह्मणोंके समान वेदोक्त विधिसे होने चाहिए, न कि पुराणोंकी पद्धतिसे। कोल्हापुरके साहू महाराजको जिस परिवारसे गोदमें लिया गया था वह मराठाओंकी परम्पराके अनुसार 'कुलीन' क्षत्रिय घराना नहीं था। कोल्हापुरके ब्राह्मणोंके विरोधका कारण यही था। इसका निर्णय शंकराचार्यजी से करवानेका प्रस्ताव किया गया था पर करवीर स्थित पुरोहितोंका यह कहना था कि इसमें दखल देनेका श्री शंकराचार्यको कोई अधिकार नहीं है। फिर भी संकेश्वर पीठके आचार्य ब्रह्मनाल स्वामीने यह आदेश दिया कि महाराज कोई भी संस्कार वेदोक्त विधिसे नहीं कर सकते। महाराजके आत्माभिमानपर सामाजिक विषमता की यह पहली चोट थी। कोल्हापुरमें स्वतंत्र धर्मपीठकी स्थापना की गई। संकेश्वर धर्मगुरुसे सम्बन्ध विच्छेद किया गया। ब्राह्मण आचार्य के बदले ब्राह्मणेतर धर्मगुरु की स्थापना करनेकी प्रार्थना महाराज से १९०४ में की गई। आगे चलकर करवीर में क्षत्रिय धर्मगुरु की स्थापना हुई और इसी आचार्य द्वारा वेदोक्त विधि शुरू करदी गई। १९१२ में २१ अगस्तको कोल्हापुरमें सत्यशोधक समाजकी स्थापना की गई और ब्राह्मण पुरोहितके बिना ही व्याह-विधि सम्पन्न करनेके आन्दोलनको बल मिला।

१६१३ में केवल कोल्हापुरमें १५१३ विवाह-संस्कार बिना ब्राह्मण-पुरोहितके, वेदोक्त पद्धतिसे किए गए।

समाज-सुधारके आन्दोलनका केन्द्र पूनासे कोल्हापुर चला गया। साहू महाराज की सहायतासे समाज-सुधारका आन्दोलन तो पनपने लगा किन्तु उसका महान तत्व ही पैरों तले कुचल दिया गया। महात्मा जोतिर्बाकी विचारधारा यह थी कि शिव और जीवकी एकतामें किसी साध्यकी आवश्यकता नहीं या ईश्वर और भक्तके बीच किसी आढ़तिए व दलालकी ज़रूरत नहीं। केवल ब्राह्मण-पुरोहितके स्थानपर क्षत्रिय पुरोहित स्थानापन्न होनेसे सामाजिक समता प्रस्थापित नहीं हो सकती थी। १६१७ में खामगाँव (विदर्भ) में साहू महाराजकी अध्यक्षतामें मराठा-शिक्षा-परिषदका अधिवेशन हुआ। इसी समय मान्टेग्यूके राजनीतिक सुधारोंकी घोषणा हुई थी। उसका निर्देश कर साहू महाराजने कहा था कि विशिष्ट लोगोंके ही हाथमें अधिकार न चले जायँ, इसलिये करीब १० साल तक सभी जातिके प्रतिनिधि लिए जायँ। सत्य-शोधक समाजके आन्दोलनका रुख प्रधानतया ब्राह्मणवर्गके विरुद्ध था। बहुजन-समाजमें यह धारणा पैदा करनेकी कोशिश की गई कि छत्रपति शिवाजी महाराजने स्वाधीन राज्यकी स्थापनाकी थी किन्तु पेशवाओंने उसे हड़पकर अन्त में डुबा दिया। अँगरेज़ोंका राज स्थापित होनेपर फिर वही ब्राह्मण-समाज उनके कारोबारमें अधिकारपद पर आसीन हो गया। मराठा-समाज के पिछड़ा रहनेका कारण भी ब्राह्मण वर्गको बताया गया। कुछ समय तक ब्राह्मण-विरोधका यह जहरीला प्रचार यहाँ तक बढ़ गया कि देहातोंमें उनके लिए जीवन बिताना दूभर हो गया। किन्तु राजनीतिक विचारोंके वायुमण्डलमें वह जहरीला प्रचार लुप्त हो गया। महात्माजीकी हत्याके बाद महाराष्ट्रमें जो अग्निकांड हुआ, उसका निशाना प्रधानतया ब्राह्मणवर्ग ही था। यह स्पष्ट है कि उस मौकेका उपयोग परम्परागत द्वेष का बदला लेनेके हेतु किया गया।

१८८५ में कांग्रेसकी स्थापना की गई। कांग्रेसके नेतृत्वकी बागडोर भी ब्राह्मण-वर्गके हाथोंमें चली गई। इस कारण कांग्रेसको ब्राह्मण-वर्गकी संस्था समझकर मराठा 'समाज' उससे दूर रहा। क्रांतिकारी आन्दोलन पेशवाईके पुनरुज्जीवनके लिए ही है इस आकांक्षासे मराठा-समाजके कार्यकर्ता उससे न केवल दूर रहे; किन्तु उसके विरुद्ध उन्होंने विदेशी शासनको सहायता देनेमें भी संकोच नहीं किया। लगभग १६२० तक यही स्थिति रही। तब देशका सामाजिक स्वरूप राजनीतिक स्वरूपमें परिणत हो गया। १६२०, १६२३ तथा १६२६ मे कौंसिलोंके चुनावमें ब्राह्मणेतर दलको सफलता मिली। कांग्रेसकी असहकार नीतिके कारण अनेक प्रान्तोंमें इस दलके मंत्रिमंडल, मुस्लिम प्रतिनिधियोंकी सहायतासे स्थापित हुए। श्री भास्करराव जाधव जैसे कार्यकर्त्ताके हाथ बम्बईका शिक्षा मंत्रालय आ जानेसे ब्राह्मणेतर समाजमें आपने शिक्षा का विशेष प्रचार किया। अकेले सतारा जिलेमें छात्रोंकी संख्या ३० हजारसे ६० हजार पर पहुँच गई। १६२० से ३० तकके १० सालके समाज-सुधारके कार्यका सिंहावलोकन किया जाय, तो यह दिखाई देता है कि अपने समाजके हितके लिए इस दलने बहुत सराहनीय कार्य किया। सरकार शासकीय नौकरियोंका दरवाजा खोल दिया गया। इस प्रकार आर्थिक एवं शैक्षणिक दृष्टिसे ब्राह्मणेतर समाजमें विशेष प्रगति हुई। उसमें

आत्माभिमानकी भी प्रबल भावना पैदा हुई। ब्राह्मणेतर आन्दोलन दक्षिणमें बम्बई, नागपुर, पूना और मद्रासमें अधिक प्रबल था। इन सभीमें ऐसा ही हुआ।

१९२० में देशके नेतृत्वकी बागडोर गाँधीजीके हाथोंमें आ गई। गांधीजीने राजनीतिके साथ समाज-सुधारका अद्भुत मिश्रण इस ढंगसे किया कि लोकमान्यको उससे जनतामें बुद्धिभेद पैदा होनेकी जो आशंका थी वह निर्मूल सिद्ध हो गई। अपने रचनात्मक कार्यक्रममें उसको उन्होंने प्रमुख स्थान दिया। ब्राह्मणेतर समाजपर भी इसका अद्भुत असर पड़ा। १९३८ के अक्तूबरमें नागपुरमें विदर्भ-मध्यप्रान्त-ब्राह्मणेतर-परिषद् हुई। लगभग २००० कार्यकर्त्ता परिषद्में उपस्थित थे। श्री केशवराव जेघेने अपने अध्यक्षीय भाषणमें कहा था कि सामाजिक समता प्रस्थापित करनेका कार्यक्रम सत्यशोधक समाजका था। किन्तु राजनीतिक क्षेत्रमें महात्माजीके आगमनसे सत्यशोधक समाजका कार्यक्रम ही मानो कांग्रेसने स्वीकृत किया है। इसलिए अब कांग्रेससे दूर रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। १९३५ के क़ानूनसे हिन्दी जनताको जो अधिकार प्राप्त हुए हैं उनमें हमारा उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। फिर भी भारतकी ३।। करोड़ जनताको मतदानका हक प्राप्त हो गया। उस हिसाबसे महाराष्ट्रके ११ जिलोंमें लगभग २० लाख मतदाता होंगे। अब देशका कारोबार जनमतपर ही निर्भर है। अतः प्राप्त अधिकारका उपयोग बहुजन समाजके हितके लिए किया जा सकेगा। उसी दृष्टिसे मैं अपने हमराहियोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे सब कांग्रेसमें शामिल हो जायँ। सत्यशोधक-समाजके तत्वावधानमें काम करनेवाला महाराष्ट्रका ब्राह्मणेतर समाज कांग्रेसमें समाविष्ट हो गया।

सत्यशोधक-समाजकी स्थापना जिस प्रकार मराठा-समाजकी प्रगतिके लिए थी उसी तरह हरिजनोंके उद्धारके लिए भी थी। महात्मा फुलेने आजीवन अस्पृश्योद्धारके लिए प्रयत्न किया। महात्माजीके नेतृत्वमें भी महाराष्ट्रमें हरिजनोंद्धारके लिए भरसक कोशिश की गई; मन्दिर-प्रवेशके लिए पूनाके इतिहास-प्रसिद्ध पर्वती-मंदिरमें तथा नासिकके ख्यातनाम राम-मन्दिरमें सत्याग्रह हुए जिनमें महाराष्ट्रके कई कार्यकर्त्ता शामिल हुए थे। चंद साल पहले पंढरपुरमें मन्दिर प्रवेशके लिए स्वर्गीय साने गुरुजी ने तो अनशन शुरू कर अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी थी। हरिजनोद्धारके लिए आजीवन कष्ट उठानेवाले स्वर्गीय बिट्ठलरामजी शिंदेके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित किए बिना आगे बढ़ना असम्भव है। एकही वाक्यमें कहा जाय, तो महाराष्ट्रमें महिला-शिक्षाके लिए महर्षि अण्णा-साहब कर्वेने जो तपस्याकी वही कर्मवीर शिंदेने हरिजनोंकी सेवाके लिए की। अपना जीवन कार्य समझकर शिंदेने अपना तन, मन, धन उसमें लगा दिया। १९२४ से १९३७ तक क्रांति-वीर सावरकर रत्नगिरिमें नजरबन्द थे। उन्होंने उन दिनोंमें वहाँ हरिजनोंके उद्धारका सराहनीय कार्य किया। वहाँ पतित-पावन-मन्दिरकी नींव डालकर उन्होंने मन्दिर-प्रवेश का सफल प्रयत्न किया। सार्वजनिक रूपमें हरिजनोंके साथ सह-भोजनका आन्दोलन भी उन्होंने शुरू किया, जो आज भी बम्बईके श्री अनन्त हरि गद्रे चला रहे हैं। सावरकरने "किर्लोस्कर" मासिक पत्रिकामें एक लेख-माला भी लिखी। उसमें अस्पृश्यता निवारण के अलावा हिन्दू-समाजकी रूढ़िवादी परम्पराओंके विरुद्ध भी विचार प्रकट किए।

महर्षि कर्वेके कारण महाराष्ट्रमें महिलाओंनें शिक्षाके क्षेत्रमें उल्लेखनीय प्रगति की। अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा महाराष्ट्रकी महिलाओंको बहुत अधिक स्वाधीनता है। यहाँ परदेकी प्रथा नहीं है। शिवाजी महाराजसे लेकर पेशवाओं तक महाराष्ट्रीय महिलाओं ने समाजमें ही नहीं समरभूमिमें भी अपना तेज प्रकट किया है। वही परिपाटी आज भी सुचारु रूपसे चालू है।

हिन्दू-समाजकी कमज़ोरीके जो कतिपय कारण हैं, उनमें निवृत्ति भी एक है। साधु-महात्मा बनकर भोलीभाली जनताको अपने चंगुलमें फँसानेवालोंके विरुद्ध भी आन्दोलन किया गया। श्री महादेवशास्त्री दिवेकरका इसमें प्रथम स्थान है। आपने "किर्लोस्कर" मासिक पत्रिकामें एक लेखमाला लिखकर इस गुरुडमपर कड़ा हमला किया। उसके पहले १९११ में श्री रंगकर परांजपेने "टाइम्स" में एक पत्र लिखकर इस आन्दोलन का सूत्रपात किया था। उसके बाद केसरीमें 'भोंदू गुरुंची साथ' इस शीर्षकसे टीका-टिप्पणी की गई। अज्ञान एवं दारिद्र्य इस कुप्रथाकी जड़में है उसे नष्ट करनेपर समाज इनके हाथोंसे छूटकारा पा सकेगा।

महात्मा गांधी केवल राजनीतिक नेता नहीं थे और न केवल संत ही थे। देशके नेतृत्वकी बागडोर अपने हाथोंमें लेनेपर १९२१ की "यंग इंडिया" में Neither a saint nor a politician" शीर्षकसे आपने लिखा था कि राजकरणको धर्म की पृष्ठभूमिपर स्थापित करनेका प्रयोग मैं अपने मित्रोंकी सहायतासे कर रहा हूँ। सब धर्मोंमे हिन्दू धर्म मुझे अधिक प्रिय है किन्तु मेरी धर्मकी परिभाषा हिन्दू धर्मसे भिन्न और श्रेष्ठ है। महात्माजीने सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्मका अधिष्ठान अपनी राष्ट्रीयताको दिया। मानवके हृदयमें असत्यसे सत्यकी ओर, अज्ञानसे ज्ञानकी ओर तथा अपूर्णतासे पूर्णता की ओर जानेकी एक सनातन प्रवृत्ति है। उसीसे मनुष्यकी स्वार्थपूर्ण अहंकारकी भावना नष्ट होकर वह परार्थी लोकसेवक बन जाता है। उसीको महात्माजी धर्मप्रवृत्ति या धर्म कहते थे। हिन्दू-समाजकी विषमता नष्ट करनेके प्रतीक के रूपमें महात्माजीने अस्पृश्यता-निवारण तथा हरिजनोद्धारको राष्ट्र निर्मित्तके रचनात्मक कार्यमें अग्रस्थान दिया। हिन्दुओंसे हरिजनोंको अलग करनेकी विदेशी शासनकी चाल अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर महात्माजीने विफल करदी। लोकमान्य तिलक, महात्मागांधी और जवाहरलाल नेहरू जैसे एकके बाद एक प्रभावशाली नेता पानेवाला भारत जैसा कोई विरला ही देश होगा। इन भाग्य-विधाताओंके भगीरथ प्रयत्नसे १९४७ में देश स्वाधीन हुआ।

१८७८ से देशके स्वाधीन होने तक की महाराष्ट्रकी समाज-सुधार सम्बन्धी प्रवृत्तियों का सरसरी तौरपर सिंहावलोकन करनेका प्रयत्न यहाँ किया गया है। देशको आजाद हुए अब ९ साल बीत चुके हैं। राजनीतिक क्रांति पूरी होनेपर भी सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति हुए बिना स्वाधीनता अधूरी ही समझी जाएगी। इसीलिए तो अब समाजवादी-समाजकी स्थापना करने की कोशिश शुरु हुई है। विदेशी शासनको समाजके आन्तरिक व्यवहारमें हस्तक्षेप करनेका मौका न मिले इसी कारण कानूनसे समाज-सुधार करनेका विरोध किया गया था। अब जनताका शासन हो जानेसे समाज-सुधारके हेतु बनाये जानेवाले क़ानूनोंका स्वागत किया जाता है। अस्पृश्यता-निवारण और मद्य-निषेधका उल्लेख संविधानमें कर दिया गया है। हिन्दू-

कोड जैसे विधेयकों द्वारा महिलाओंको समान अधिकार देनका सफल प्रयत्न किया गया है। बम्बई राज्यमें क़ानूनसे शराब तथा बहुपत्नी विवाहपर प्रतिबंध लगाया गया है। सारांश यह है कि समाज-सुधारका प्रयत्न अब सुधारकोंके द्वारा ही नहीं, शासनके द्वारा भी किया जा रहा है।

फिर भी यह कहना आवश्यक है कि आज भी समाज-सुधारकोंके प्रयत्नकी वैसी ही परम आवश्यकता है। आजादीके बाद महाराष्ट्रकी सामाजिक स्थितिका विचार करने पर क्या दीख पड़ता है? समाज-सुधारका विचार करते समय प्रधानतया जाति-संस्था, विवाह-संस्था तथा कुटुम्ब संस्थाका विचार करना पड़ता है। जाति निर्मूलन का गुप्त या प्रकट प्रयत्न हुआ किन्तु आज भी समाज जाति बंधनोंमें पूर्ववत् जकड़ा हुआ है। लगभग ३०० जातियाँ महाराष्ट्रमें मौजूद हैं। विवाह-संस्थामें भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। कई वर्षोंसे "रजिस्टर्ड" विवाह करनेकी सुविधा होनेपर भी परम्परागत संस्कारयुक्त विवाह ही होते हैं। विवाहके संबंधमें व्यक्तिगत रूपसे पूर्ण स्वतंत्रता है जिससे कुछ अंतर्प्रांतीय तथा अंतर्जातीय विवाह हुए हैं; किन्तु उनके पीछे समाज-सुधारकी जैसी चाहिए वैसी भावना नहीं है। सुशिक्षित समझे जानेवाले ब्राह्मण-वर्ग में भी विवाहकी बात करते समय उप जातिका विशेष ख्याल किया जाता है। बहुजन समाजमें भी वही बात है। छुआछूत सार्वजनिक रूपसे बहुत कम हो गई है यहाँ तक कि पूनामें जूतोंका व्यापार ब्राह्मण करने लग गये हैं। फिर भी घरोंमें परंपरागत संस्कार कायम हैं। क़ानूनसे अस्पृश्यता नष्ट हो चुकी है किन्तु प्रत्यक्ष रूपमें वह आज भी विद्यमान है। विधवा-विवाहको सहूलियत होनेपर भी विधवा-विवाह मंडल द्वारा हुए विवाहों की संख्या उल्लेखनीय नहीं है। बाल-विवाह बंद हो चुका है। किन्तु अब नई समस्या प्रौढ़-विवाहकी पैदा हो चुकी है। युवावस्थामें ठीक समयपर विवाह न होनेसे अनेक समस्याएँ समाजके सामने उपस्थित हो गई हैं। बाल-विवाह बन्द हो जानेसे विधवाओं की संख्या बढ़नी रुक गई है। किन्तु प्रौढ़ विवाहोंसे अब परित्याक्ताओंकी नई समस्या पैदा हो गई है। कुटुम्ब-पद्धतिमें भी काफी अंतर पैदा हो गया है। व्यक्तिगत स्वातंत्र्यके इस जमानेमें विभक्त परिवारोंकी संख्या बढ़ती ही जाती है जिससे समाज-संगठनमें एक प्रकारसे शिथिलता पैदा हो रही है।

तर्क तीर्थ श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशीने कहा है कि महाराष्ट्रके सुशिक्षितोंके बीच जीवन की विशेषता यह है कि उनके विचार और व्यावहारिक जीवनमें विसंगति दिखाई देती है। महाराष्ट्रके सुशिक्षित आदमी के विचार बुद्धिवादी, व्यापक तथा मूर्त्तिभंजक और क्रांतिकारी होते हैं; नए सुधार तथा विज्ञानका स्वागत करनेके लिए वह लालायित रहता है किन्तु उसका व्यावहारिक जीवन परम्परागत रूढ़ियोंमें ही घूमता रहता है। विचार और बर्त्ताव में मेल नहीं है। मस्तक हस्तकके रूपमें काम नहीं करता। विचारोंसे प्रकट होनेवाली भावनाको कार्यमें परिणत करनेवाली सामाजिक स्थिति उपलब्ध नहीं है। इसीलिए सामाजिक स्थितिमें सुधारके लिए प्रयत्न करनेवाली सामाजिक संस्था की महाराष्ट्रमें आज विशेष आवश्यकता है।

महाराष्ट्रके ख्यातनामा अर्थशास्त्री आचार्य धनंजयराव जी गाडगिलके अनुसार हमारी सामाजिक स्थिति ही भारतकी प्रगतिमें बाधक हो रही है। मराठा, महार

(अस्पृश्य जाति) और ब्राह्मण ये ही महाराष्ट्रके प्रमुख तीन घटक हैं। उनमें परस्पर स्नेहपूर्ण, सहृदय सम्बन्ध कायम हुए बिना महाराष्ट्रकी प्रगति असम्भव है। किन्तु महाराष्ट्रके हरिजनोंके नेता स्वर्गीय श्री भीमराव अम्बेदकरने बौद्ध धर्म स्वीकार करने की नई प्रणाली चला दी है। बौद्ध धर्म स्वीकार करके भी हिन्दू-धर्मसे पृथक् नहीं हुआ जा सकता क्योंकि बौद्ध धर्म भी हिन्दू धर्मका ही एक अंग है। पहले भी अनेक हरिजनोंने ईसाई तथा मुस्लिम धर्मोंको स्वीकार किया किन्तु वहाँ भी उन्हें संतोष नहीं मिला क्योंकि धर्मान्तरके बाद भी उनमें जातिभेद ज्योंका त्यो रह गया। इसीलिए तो सामाजिक सुधारकी आज भी आवश्यकता है। जड़को सुधारे बिना शाखाओं और पत्तियोंको सुधारना कुछ भी अर्थ नहीं रखता।

-::००::-

मध्य-प्रदेशमें समाज-सुधार

नवीन प्रदेशका निर्माण होनेसे पहले यह प्रदेश मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त था। एक बरार, दूसरा मराठी-भाषी नागपुर और तीसरा हिन्दी भाषी। सरकारी कामकाजके लिए केवल दो भाग थे। एक बरार और दूसरा सेंट्रल प्रोविन्सेज़। अब बरार तथा विदर्भको उससे अलग करके बम्बई राज्यमें मिला दिया गया है। महाकोशल को मध्य भारत, भोपाल और विंध्य से मिलाकर नए मध्य प्रदेश का निर्माण किया गया है।

सामाजिक एवं राजनीतिक प्रगतिका बरार तथा नागपुरका इतिहास महाराष्ट्रके इतिहासके साथ जुड़ा हुआ है। यहाँके नेता, कार्यकर्ता, समाचारपत्र तथा सार्वजनिक संस्थाएँ सबकी सब पूनासे स्फूर्त्ति, चेतना एवं प्रेरणा प्राप्त करती थीं। अमरावती के दादा साहब खापर्डे, यवतमालके श्री माधव श्रीहरि अणे और नागपुरके डाक्टर मुंजे आदि पूनासे ही प्रेरणा प्राप्त किया करते थे। इसलिए बरार अथवा विदर्भकी समाज-सुधार सम्बन्धी प्रवृत्तियोंका इतिहास महाराष्ट्रके इतिहाससे भिन्न अथवा स्वतंत्र नहीं है। सम्भवतः यही कारण है कि इस प्रदेशमें ज्योतिर्वा फूले, गोपालराव आगरकर, न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे तथा महर्षि अण्णा साहब कर्वे सरीखा कोई पहली श्रेणीका तेजस्वी समाज-सुधारक नेता पैदा नहीं हुआ। जो हुए वे सब पूनाके नेताओंके पद-चिन्होंपर चलनेमें ही अपनेको कृतार्थ समझते रहे। शिक्षित उच्च वर्णीय ब्राह्मण समाजमें लोकमान्यकी विचारधारा बहुत तेजीसे फैल गई और वही पूरी तरह राजनीतिमें रँग गई। समाज-सुधारके कार्यकी ओरसे उसका ध्यान प्रायः हट गया। हरिजनोंमें सत्यशोधक समाजका फैलाव कुछ अवश्य हुआ और डा० भीमराव अम्बेदकरका भी काफी प्रभाव रहा। ब्राह्मणेतर आन्दोलन ने मराठा समाजमें गहरी जड़ें जमाई थीं और वह पूनाके ब्राह्मणेतर आन्दोलनके समानान्तर चलता रहा। १९२० में यहाँ भी ब्राह्मणेतर दलने चुनाव लड़कर राजनीतिक सत्ता हस्तगत की परन्तु बादमें ब्राह्मणेतर नेता गांधीजीके आन्दोलनसे प्रभावित होकर सामूहिक रूपमें कांग्रेसमें सम्मिलित हो गए। इसका एक कारण यह भी था कि बरारके महा राष्ट्रीय ब्राह्मण नेता गांधीजीके विरोधी थे और वे उनपर तरह-तरहके आक्रमण सदा ही करते थे। उनके इस विरोधके कारण ब्राह्मणेतर समाज और उसके नेता गांधीजीके साथ होकर कांग्रेसमें सम्मिलित हो गए। प्रार्थना-समाजका कोई विशेष प्रभाव इस प्रदेशपर नहीं पड़ा। उसकी अपेक्षा आर्यसमाजका प्रभाव कुछ अधिक पड़ा और प्रायः सभी बड़े शहरोंमें आर्य-समाजकी स्थापना हुई।

सार्वजनिक गणपति-उत्सव और शिवाजी-उत्सवकी परिपाटी भी विशाल और व्यापक रूपसे अपनाई गई। सार्वजनिक गणपति-उत्सवके अवसरपर सामाजिक विषयोंकी चर्चा भी विशेष रूपसे की जाती थी। १९२० के बाद गाँधीजीके समाज-सुधार आन्दोलन का इस प्रदेशपर विशेष प्रभाव पड़ा। हरिजन-आन्दोलन उग्र रूपमें हुआ। गांधीजी के साबरमतीसे वर्धा आ जानेका भी विशेष प्रभाव पड़ा और वर्धाका सत्याग्रह आश्रम न केवल गांधीजीकी राजनीतिक किन्तु रचनात्मक प्रवृत्तियों और सर्वोदयी (समतावादी) विचारधाराका भी प्रेरणादायक और स्फूर्त्तिप्रद केन्द्र बन गया। सामाजिक क्षेत्रपर उसका विशेष प्रभाव पड़ा।

विदर्भ, महाकोसल तथा मध्य भारतमें भी राजस्थानी लोग अत्यधिक संख्यामें रहते हैं। सच तो यह है कि पिछले पचास वर्षोंका इस प्रदेशका समाज-सुधारका आन्दोलन मुख्यतः इन प्रवासी राजस्थानियोंसे ही सम्बन्ध रखता है। उनकी अनेक अखिल भारतीय समाज सुधारक संस्थाओंका प्रादुर्भाव अथवा जन्म इसी प्रदेशमें हुआ। जैसे कभी भारतके राजनीतिक क्षेत्रमें लाल, पाल, बालकी त्रिमूर्त्तिका बोलबाला था वैसे ही १९२० के समाज-सुधार आन्दोलनके मुख्य नेता, बजाज, बियाणी, मालपाणी थे। इस त्रिमूर्त्तिका प्रभाव न केवल इस प्रदेशके राजस्थानी समाजपर, अपितु बम्बई, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिणपर भी पड़ा और यहाँ प्रादुर्भूत समाज-सुधार-संस्थाओंने इनके विशिष्ट व्यक्तित्वके कारण सहजमें अखिल भारतीय स्वरूप एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करली। वैसे सामान्य राजस्थानी समाज अन्य समाजोंसे तुलनात्मक दृष्टिसे समाज-सुधारके क्षेत्रमें यहाँ भी वैसा ही पिछड़ा हुआ था जैसा कि देशके अन्य भागोंमें। मराठी-भाषी महिलाओंमें परदा-प्रथा उतनी कठोर नहीं है, जितनी कि राजस्थानी महिलाओंमें थी। अशिक्षा भी उनमें विशेष थी। विवाह-संबंधी अनेक कुरीतियाँ भी उनमें जड़ पकड़े हुए थीं। दहेज और औसर मौसरकी अत्यधिक प्रबलता थी। इन और ऐसी ही अनेक सामाजिक कुरीतियोंके कारण दूसरोंकी तुलनामें राजस्थानी समाजको बहुत नीचा देखना पड़ता था और बड़ी दीनता व हीनता अनुभव करनी पड़ती थी। उसकी शक्ति, साधनों तथा व्यापार-बुद्धि और औद्योगिक प्रतिभाका यथेच्छ लाभ सारे राष्ट्रको इसी कारण नहीं मिल सकता था। उसका प्रदेश के सार्वजनिक जीवनमें सामाजिक चेतना के अभावके कारण कोई स्थान अथवा महत्व नहीं था। उसपर पास पड़ोसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अन्य समाजोंकी प्रगतिशीलतासे राजस्थानी समाज भी प्रभावित हुआ और उसमें सामाजिक चेतना विकसित होनी शुरू हुई।

उसके फलस्वरूप १९०५ में माहेश्वरी महासभाकी स्थापना हुई। उसमें स्व० सेठ जमनालालजी बजाज भी उपस्थित थे जो तपोधन जाजूजीके शिक्षा-प्रचारमें योग दे रहे थे। शिक्षा-प्रचारका मुख्य केन्द्र वर्धा था परन्तु अर्थाभावके कारण उसकी प्रगति रुकी हुई थी। इस कोशमें उसी समय करीब १ लाख रुपएका चन्दा हुआ और इसमें सबसे बड़ी धनराशि ब्यावरके देशभक्त सेठ दामोदरदासजी राठीने प्रदान की थी। यही कोश आगे चलकर मारवाड़ी शिक्षा मण्डल वर्धाकी स्थापनाका निमित्त बना जिसके द्वारा अनेक स्थानों पर छात्रावास तथा विद्यालय स्थापित किए गए और उनमें अध्ययन करके अनेक होनहार मारवाड़ी नवयुवक निकले। आज यह संस्था इस प्रान्तमें अनेक कालिज

श्रौर स्कूलोंका संचालन कर रही हैं। इसकी स्थापना पूनामें लोकमान्य तिलक और उनके साथियों द्वारा स्थापित डेक्कन एजुकेशन सोसाइटीके ढंगपर की गई थी। इसके कारण समस्त राजस्थानी समाजमें शिक्षा श्रौर श्रध्ययनकी एक विशेष लहर बड़े वेगसे पैदा हो गई श्रौर श्रनेक नवयुवक शिक्षित होकर समाज-सुधारके क्षेत्रमें काम करने लग गए।

माहेश्वरी महा सभाका तीसरा श्रधिवेशन सेठ दामोदरदासजी राठीकी श्रध्यक्षतामें पालीमें होनेवाला था परन्तु उससे कुछ समय पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्थानपर रा० सा० करोड़ीमल जी मालू महासभाके श्रध्यक्ष चुने गए। महासभाका चतुर्थ श्रधिवेशन पुनः विदर्भ (श्रकोला) में १९२१ में हुश्रा। इस श्रधिवेशनके श्रध्यक्ष जबलपुरके दीवान बहादुर सेठ वल्लभदासजी मालपाणी थे श्रौर इसपर महात्मागांधीके नेतृत्वमें प्रारम्भ हुए श्रसहयोग श्रान्दोलनकी छाया स्पष्ट रूपमें दीख पड़ती थी। श्रनेक नवयुवक उससे श्रनुप्राणित होकर समाज-सुधारके क्षेत्रमें काम करनेके लिए श्रागे बढ़े थे। श्रौसर मौसरकी कुप्रथाके विरुद्ध इसमें विशेष श्रावाज उठाई गई श्रौर उसको त्यागनेके प्रतिज्ञापत्रोंपर हस्ताक्षर करवाए गए। स्व० श्री श्राइदानजी मोहता स्वागताध्यक्ष थे। वे श्रौर उनका घराना पुरातनपंथी माना जाता था। इस कारण उनका इसमें सम्मिलित होना श्रौर समाज-सुधारकी प्रवृत्तियोंका उन द्वारा समर्थन किया जाना विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध हुश्रा। श्री ब्रिजलालजी बियाणी वकालतकी श्रन्तिम वर्ष की पढ़ाई श्रसहयोग श्रान्दोलनके कारण छोड़कर श्रौर श्री गोविन्ददासजी मालपाणी राजघरानेके से वैभवका परित्याग कर सामाजिक क्षेत्रमें श्रागे श्राए थे। उसका भी समाजपर विशेष प्रभाव पड़ा।

इस श्रधिवेशनमें माहेश्वरी महासभाको संगठित रूप मिला श्रौर इसी समय इसने श्रखिल भारतीय रूप धारण किया। महासभाकी नियमावलीको व्यवस्थित तथा विस्तृत बनाया गया। उक्त चारों श्रधिवेशनोंके पीछे तपोधन जाजूजी की बलवती प्रेरणा काम कर रही थी श्रौर उन्हींके प्रोत्साहनसे श्रनेक युवक समाज सेवाके कार्यमें श्रग्रसर हुए थे। श्रद्धेय जाजूजी ही इस समय महासभाके सूत्रधार थे। उनके दो श्रन्य सहयोगी सेठ रामनारायणजी राठी श्रौर सेठ दामोदरदासजी राठी स्वर्गस्थ हो चुके थे। ये दोनों व्यक्ति मारवाड़ी समाजकी विभूति श्रौर सामाजिक जागरणके प्रबल स्तम्भ थे।

श्री रामनारायणजी राठीने नागपुरमें मारवाड़ी प्रेसकी स्थापना करके मारवाड़ी पत्रका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। वह विशुद्ध रूपसे राष्ट्रीय पत्र था। समाजमें राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना पैदा करनेका उसने सराहनीय काम किया। बम्बईके "श्री वेंकटेश्वर समाचार पत्र" के बाद यह दूसरा पत्र था जिसका प्रकाशन उन दिनों में एक मारवाड़ी सज्जनने प्रारम्भ किया था। हिन्दीके श्रनेक ख्यातनामा विद्वान इसके सम्पादक रहे। उनके भाई स्वर्गीय श्री शिवनारायणजी राठी सुप्रसिद्ध गो-सेवक थे। स्वर्गीय श्री सतीसदासजी मूँदड़ाने भी नागपुरसे "प्रणवीर" श्रौर "समाज सेवक" नामसे राष्ट्रीय श्रौर सामाजिक पत्रोंका प्रकाशन स्व० श्री राधामोहन गोकुलजीके सम्पादकत्व में प्रारम्भ किया था। वे कट्टर समाज-सुधारक थे। कलकत्तेमें उन्होंने समाज-सुधारके कारण श्रनेक यातनाएँ सहन की थीं।

यद्यपि १९०५ में माहेश्वरी महासभाके नामसे माहेश्वरी समाजका प्रथम सम्मेलन अमरावतीमें हुआ परन्तु माहेश्वरी समाजमें सामाजिक जागरणका शंखनाद सन् १८८८ में ही अजमेरमें "माहेश्वरी महासभा" के नामसे हो चुका था। स्व० रा० ब० श्याम-सुन्दरलालजी लोईवाल, रा० सा० रामबिलासजी शारदा और स्व० मथुरा प्रसादजी भट्टड़ आदि महानुभावोंके प्रयत्नसे अजमेरमें "माहेश्वरी महत सभा" का जन्म हुआ और इस संस्थाने उत्तर भारतके माहेश्वरी समाजमें समाज-सुधारके आन्दोलनका सूत्रपात किया था। इस संस्थाको "माहेश्वरी सदर सभा हिन्द" भी कहा जाता था। आरम्भ में इस संस्थाके विराट अधिवेशन नहीं हुए परन्तु इसके द्वारा जगह-जगह प्रचार किया गया, पंचायतें गठित की गईं और स्थानिक परिस्थितिके अनुसार सामाजिक रीति-रिवाजों की मर्यादाएँ बाँधी गईं। आगे चलकर वैश्य महासभाके साथ माहेश्वरी महत् सभाके विराट अधिवेशन हुए। सहारनपुरमें वैश्य महासभाके साथ सन् १८९४ में प्रथम माहेश्वरी महासभा कांफ्रेंस हुई। इसमें देशके अनेक स्थानोंसे करीब १००—१५० माहेश्वरी सज्जन पधारे और अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए। बाल-विवाह-निषेध के बारेमें भी एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ जिसमें समाजसे अनुरोध किया गया कि "लड़कीका विवाह कम से कम १४ और लड़के का १८ वर्षकी उम्रके बाद किया जाय। यदि माता-पिता इससे बड़ी उम्रमें विवाह करें, तो सराहनीय है।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लड़के-लड़कियों के १८—१४ से कम आयुके विवाहोंको ग़ैर-क़ानूनी करार देनेवाला शारदा-क़ानून जिसको राजस्थानी समाज सुधारक श्री हरविलासजी शारदाने प्रस्तुत किया था १९२९ में पास किया गया था जब कि उससे ३५ वर्ष पूर्व सन् १८९४ में ही माहेश्वरी महत सभा इस आशयका प्रस्ताव पास कर चुकी थी। इससे प्रकटहै कि माहेश्वरी समाजके नेता आजसे ३५ वर्ष पूर्व समाज-सुधारके लिए कितने सजग और प्रयत्नशील थे।

स्व० रा० ब० श्यामसुन्दरलालजी लोईवाल पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने राजस्थानी समाजमें सर्वप्रथम जन जागृतिका शंखनाद किया। उन्हींकी प्रेरणासे सन् १८९२ में "माहेश्वरी पत्र" का प्रकाशन आरम्भ हुआ। माहेश्वरी महासभाके कार्यालयके साथ-साथ इसका प्रकाशन अलीगढ़, कलकत्ता और बादमें १९३६ में बम्बईसे होता रहा। माहेश्वरी महत सभाकी अनेक स्थानोंपर शाखाएँ स्थापित हुई और अलीगढ़, हाथरस, मथुरा, देहली तथा अजमेरमें इसके अधिवेशन हुए। एक अधिवेशन इसका कलकत्ता में भी हुआ। बादमें यह संस्था शिथिल हो गई। कुछ वर्षोंकी शिथिलताके बाद माहेश्वरी समाजमें पुनः सामाजिक चेतना जागी। १९०५ में अमरावतीमें श्री जाजूजी व श्री रामनारायणजी राठीके सदुद्योगसे माहेश्वरी महासभाने जन्म लिया। "माहेश्वरी' पत्रका प्रकाशन भी इसी समय स्व० भागीरथदासजी मूंधड़ाने अलीगढ़से पुनः आरम्भ किया था।

माहेश्वरी महत सभा और माहेश्वरी महासभाके संगठनोंको एक करके अकोलामें अ० भा० माहेश्वरी महा सभाका चतुर्थ अधिवेशन १९२१ में किया गया, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उसके बाद कलकत्ता, इन्दौर और बम्बईमें महासभाके पंचम, षष्ठ और सप्तम अधिवेशन हुए। इन्दौर महासभा तक समाजमें समाज-सुधारके

प्रश्नोंपर कोई खास मतभेद नहीं था और सारा समाज महासभाके मंचपर संगठित था। इन्दौरके बाद समाजमें कोलवार प्रकरण उठ खड़ा हुआ। कोलवार सज्जन अपनेको माहेश्वरी कहते थे। उनकी जाँचके लिए महासभाने एक कमीशन बिठाया था। इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी थी और उसपर बम्बई महासभामें विचार होनेवाला था। इसी बीच बम्बई महासभाके स्वागताध्यक्ष श्री रामेश्वरदासजी बिड़लाने कोलवारोंके यहाँ अपना विवाह कर लिया। इसपर समाजमें एक भीषण संघर्ष उठ खड़ा हुआ। बम्बई महासभामें इस प्रकरणको शांत करनेकी बहुत कोशिश की गई परन्तु विरोध बढ़ता ही गया। यद्यपि महासभाकी विषय निर्वाचिनी समितिने कोलवारोंकी दोबारा जाँच करानेका प्रस्ताव पास कर दिया था परन्तु पंचायत पक्षके लोग इससे संतुष्ट न हुए। वे कोलवारोंको माहेश्वरी माननेको तैयार न थे और उन्हें तत्काल ग़ैर-माहेश्वरी घोषित करनेपर तुले हुए थे। यही नहीं वह बिड़लाजीका जाति-बहिष्कार करनेकी माँग कर रहे थे। इसी संघर्षमें महासभाका अधिवेशन स्थगित हो गया। पंचायत पक्षके लोगों ने वहीं अ० भा० डीडू माहेश्वरी महापंचायतकी स्थापना कर डाली। नागपुरके वयोवृद्ध सेठ शिवनारायणजी राठीको उसका अध्यक्ष चुना गया। कोलवारोंको ग़ैर-माहेश्वरी घोषित करके उससे सम्बन्ध रखनेवालोंका जाति-बहिष्कार किया गया। दूसरे पक्षने अ० भा० माहेश्वरी युवक मण्डल स्थापित करके कोलवारोंको शुद्ध डीडू माहेश्वरी घोषित किया। इस संघर्षने व्यापक रूप धारण किया। और कोलवारोंसे संबंध करनेवालों तथा उनके संबंधियोंका भी सामाजिक बहिष्कार करके समाजमें सर्वत्र भीषण सामाजिक कलह उत्पन्न कर दिया।

यह संघर्ष काफी समय तक चला परन्तु अन्तमें सुधार पक्षकी विजय हुई। १९२७ में पंढरपुरमें महासभाने वयोवृद्ध सेठ रामगोपालजी मोहता, बीकानेर, की अध्यक्षता में कोलवारोंको माहेश्वरी घोषित कर दिया और सामाजिक बहिष्कारकी प्रथाका हमेशा के लिए अन्त हो गया.। इसके परिणामस्वरूप न केवल कोलवारों बल्कि गुजराती एवं अन्य माहेश्वरी सज्जनोंके साथ भी सामाजिक सम्बन्ध खुल गए। इस संघर्षसे जहाँ सामाजिक संगठनकी थोड़ी क्षति हुई वहाँ समाज-सुधारकी दृष्टिसे माहेश्वरी समाज बहुत आगे बढ़ गया। विलायत-यात्रा, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, ओसर-मौसर त्याग, दहेज और परदा-प्रथा-बहिष्कारके संबंधमें प्रस्ताव स्वीकृत हुए। पंढरपुरके बाद महासभाके दो अधिवेशन लगातार विदर्भमें धामनगाँव और देवलगाँवमें हुए। इसके बाद महासभाके अधिवेशन अजमेर, कानपुर, सूरत और ग्वालियरमें होते रहे। ग्वालियरमें श्री दामोदरदासजी नागोरीकी अध्यक्षतामें उसका स्वर्णजयन्ती महोत्सव मनाया गया।

माहेश्वरी महासभाने अपना दृष्टिकोण सदा राष्ट्रीय रखनेका प्रयत्न किया और कांग्रेसकी रीति-नीति तथा महात्मा गांधीजीके नेतृत्वमें अखंड निष्ठा रखी। इसका कारण माहेश्वरी महासभाके नेताओंका राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख भाग लेना था। तपोधन जाजूजी, श्री ब्रिजलाल बियाणी और सेठ गोविन्ददासजी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनके सम्मानित सूत्रधार रहे और यही महानुभाव महासभाके भी सूत्रधार थे। बा० गोविन्ददासजीने अजमेरमें महासभाका अध्यक्ष स्थान ग्रहण किया। श्री बियाणीजी

देवलगाँव महासभाके अध्यक्ष थे। इन महानुभावोंके पथ-प्रदर्शनके कारण समाजके अनेक नवयुवक राष्ट्रीय आन्दोलनमें आगे आये और उसके लिए उत्सर्ग किया।

माहेश्वरी महासभाकी इस चहुँमुखी सफलताका एक बड़ा कारण यह भी था कि उसने धनकी पूजा नहीं की। यद्यपि कुछ करोड़पति भी माहेश्वरी महासभाके अध्यक्ष हुए परन्तु इसका नेतृत्व सदा उन्हीं महानुभावोंके हाथोंमें रहा जो राष्ट्र तथा समाजकी सेवामें तप चुके हैं। माहेश्वरी महासभाने न केवल माहेश्वरी समाजमें जीवन और जागृतिका संचार किया बल्कि इतर समाजोंमें भी समाज सुधारकी भावना जाग्रत की और इसके लिए सदा उसका स्मरण किया जायेगा।

माहेश्वरी समाजकी जन-जागृतिका प्रभाव प्रदेशके अन्य राजस्थानी समाजोंपर पड़ा। अग्रवाल, ओसवाल, खंडेलवाल और ब्राह्मण- समाजोंमें भी सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। अग्रवाल महासभाकी जन्मभूमि भी यही प्रदेश है। १९१८ में स्व० सेठ जमनालालजी बजाजके शुभ प्रयत्नोंसे वर्धामें अ० भा० मारवाड़ी अग्रवाल महासभाकी स्थापना हुई और इसका प्रथम अधिवेशन श्रीमान सेठ खेमराज श्री कृष्णदास बम्बईकी अध्यक्षतामें संपन्न हुआ। १९२१ में दूसरा महत्वपूर्ण अधिवेशन इन्दौरमें अमलनेरके श्रीमान प्रतापजी सेठकी अध्यक्षतामें हुआ जिससे मध्यभारतके अग्रवाल समाजमें विशेष जागृति पैदा हुई। छठा अधिवेशन १९२६ में श्री सेठ जमनालालजी बजाजकी अध्यक्षतामें दिल्लीमें हुआ। १९२८ में अजमेरमें बम्बईके राजा गोविन्दलाल शिवलालजी पित्तीकी अध्यक्षतामें विशेष अधिवेशन हुआ। अग्रवाल महासभा भी सदा राष्ट्रीयताकी समर्थक रही और इसके द्वितीय अधिवेशन बम्बईमें महात्मा गांधीको राष्ट्र भाषा हिन्दीके प्रचारार्थ ५० हजार रुपयेकी थैली भेंट की गई।

माहेश्वरी समाजमें कोलवार माहेश्वरियोंके साथ विवाह-सम्बन्धको लेकर जो सामाजिक संघर्ष हुआ था उससे अग्रवाल समाज भी बच नहीं सका। अग्रवाल-समाजमें इस संघर्षका सूत्रपात कलकत्तामें विधवा-विवाहको लेकर किया गया था। स्वर्गीय श्री पद्मराजजी जैन, श्री बसंतलालजी मुरारका और विश्वमित्र-संचालक श्री मूलचन्द्र जी अग्रवाल विधवा-विवाहके अन्यतम समर्थक थे। उनके सहित १२ सज्जनोंको अग्रवाल महापंचायतने जाति बहिष्कृत किया था; परन्तु ये महानुभाव विधवा-विवाहके सक्रिय आन्दोलनमें लगे रहे और कुछ विधवा-विवाह भी सम्पन्न किए गए। जिनमें झरियाके श्री नागरमल ल्हीलाका विवाह उल्लेखनीय था। अग्रवाल-पंचायतकी स्थापना डीडू माहेश्वरी महापंचायतके ढंगपर की गई थी और उसीके पद-चिन्होंपर उसका संचालन किया गया था। कुछ समय तक कलकत्तामें भयानक संघर्ष मचा रहा था। परन्तु अंतमें सुधारकोंकी दृढ़ता काम आई। मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभापर इस संघर्षका अत्यन्त विपरीत असर पड़ा और उसका संगठन एवं कार्य बहुत शिथिल पड़ गया। आठ वर्ष बाद १९३६ में सेठ रामकृष्णजी डालमियाकी अध्यक्षतामें कलकत्तामें उसका अधिवेशन सम्भव हो सका। इसमें एक बड़ा क़दम यह उठाया गया कि महासभाकी नियमावली और नाममें संशोधन करके मारवाड़ी और देशवालीका भेदभाव मिटा दिया गया और उसके द्वार अग्रवाल मात्रके लिए खोल दिए गए। राजस्थानके अतिरिक्त पंजाब, दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश आदिमें रहनेवाले अग्रवालोंको मारवाड़ी नहीं माना जाता था

और वे प्रायः महासभासे उदासीन थे। महासभामें "अग्रवाल महासभा" के नामसे नई चेतनाका संचार किया गया। १९३७ में स्वर्गीय श्री मूलचन्द्रजी अग्रवालकी अध्यक्षतामें जबलपुरमें अधिवेशनका आयोजन किया गया और उनको सभापति मनोनीत करके यह स्पष्ट कर दिया गया कि महासभाके क्षेत्रमें अग्रवाल-संबंधी भेद-भाव मिटा दिया गया।

देहलीके मित्रोंके प्रयत्नसे १९४८ और १९५० में इसके अधिवेशन देहली तथा अग्रोहा में हुए, परन्तु संगठनमें पहले-जैसी व्यापकता और तेजस्विता न आई। फिर १९५३ में महासभाका अधिवेशन नागपुरमें श्री ईश्वरदासजी जालानकी अध्यक्षतामें किया गया। इस अवसरपर अ० भा० अग्रवाल युवक सम्मेलन भी हुआ और इसका अध्यक्ष-स्थान श्री बसंतलालजी मुरारकाने, ग्रहण किया। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण द्वारा नवयुवकों को द्रुतगतिसे सामाजिक क्रांतिकी ओर अग्रसर होनेकी प्रेरणा दी।

मध्य-प्रदेश राजस्थानी-समाज-सुधारकी दृष्टिसे बहुत आगे रहा है। कलकत्ते के बाद सबसे अधिक बिना परदेके विवाह इसी प्रान्तके राजस्थानी समाजमें हुए हैं और दहेज आदि कुप्रथाओंका बहिष्कार किया गया है। श्री बियाणीजी के नेतृत्वमें १९२० में जिस मारवाड़ी-सेवा-संघकी स्थापना नागपुरमें कांग्रेसके अधिवेशनके अवसरपर हुई थी वह भी उल्लेखनीय है। इस संस्थाने अनेक वर्षों तक सामाजिक क्रांतिका शंखनाद किया और मृतक भोजोंको बंद करनेके लिए पिकेटिंग किये। अग्रवाल और माहेश्वरियोंके पारस्परिक सम्बन्ध खोलनेमें सबसे पहले अगवानी इसी प्रान्तने की और इस दिशामें तपोधन जाजूजीने अपनी सुपुत्रीका विवाह सेठ जमनालालकी बजाजके भतीजे श्री राधाकृष्ण बजाजके साथ करके आदर्श प्रस्थापित किया।

महासभाकी ओरसे "अग्रवाल" नामसे एक मासिक पत्र प्रकाशित किया जाता था, जो समाज-सुधारकी उग्र भावना एवं विचारोंसे ओत-प्रोत रहता था। एक लम्बे समय तक स्वर्गीय श्री पद्मराजजी जैन, श्री तुलसीदासजी सरावगी तथा श्री राधाकृष्ण जी नेवटिया उसका सम्पादन करते थे। विधवाविवाहके संघर्षसे छुट्टी पाकर महासभा की ओर से परदा निवारण आंदोलन हाथमें लिया गया। श्री पद्मराजजी जैन, श्री बसंतलालजी मुरारका और श्रीमती रमादेवी मुरारकाके एक शिष्ट मण्डलने बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बरार और उड़ीसा आदिका व्यापक दौरा किया।

माहेश्वरी और अग्रवाल महासभाओंकी तरह गोंदियामें मारवाड़ी ब्राह्मण महासभा के अधिवेशनका आयोजन विशेष धूमधामसे किया गया और ओसवाल समाजके भी कुछ सम्मेलन प्रमुख स्थानोंमें हुए। वर्धामें श्री ऋषभदासजी रांकाकी अध्यक्षतामें स्थापित जैन महामण्डलने भी समाज-सुधारके क्षेत्रमें उल्लेखनीय काम किया।

इन महासभाओं द्वारा पैदा की गई सामाजिक चेतनाका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राजस्थानी जनतामें विभिन्न समाजोंकी भावनाका अंत होकर राजस्थानी अथवा मारवाड़ीके नाते सामूहिक चेतनाका संचार हुआ। भिन्न-भिन्न समाजोंकी महासभाओं का स्थान अखिल समाजकी संस्थाने ले लिया। पहले मारवाड़ी कार्यकर्त्ता सम्मेलन के नामसे और बादमें मारवाड़ी सम्मेलनके नामसे ऐसे संगठन स्थापित किए गए जिनका

स्वरूप और कार्यक्षेत्र सारा राजस्थानी समाज बन गया। इस व्यापक भावनाके सम्मुख भिन्न-भिन्न समाजोंकी महासभाओं सरीखी संस्थाएँ कायम न रह सकीं, फिर भी वे संस्थाएँ सामाजिक चेतना पैदा करके जो काम कर गई वह अपना ही महत्व रखता है। निस्संदेह मध्यप्रदेशको उसका अधिकांश श्रेय प्राप्त है।

मध्य प्रदेशका एक बड़ा भाग विंध्य, छत्तीसगढ़, भोपाल और मध्यभारतके रूपमें देशी नरेशोंके आधीन रहा। जहाँ-तहाँ समाज-सुधार संबंधी कुछ थोड़ा-सा काम हुआ पर वह अँगरेज़ी राजमें बनाए गए समाज-सुधार संबंधी क़ानूनोंको लागू करने तक ही सीमित रहा, परन्तु उनका पालन भी पूरी सचाई, ईमानदारी और दृढ़ताके साथ नहीं किया गया। बड़ौदा और कोल्हापुर सरीखें समाज-सुधारक और प्रगतिशील किसी राज्य का नाम मध्यप्रदेशमें नहीं लिया जा सकता। लेकिन मध्यप्रदेशके देशी राज्योंकी जनता राज्यके अन्य भागोंमें पैदा होनेवाली सामाजिक-चेतनासे अवश्य ही अनुप्राणित होती रही। इन्दौरमें अग्रवाल महासभा तथा माहेश्वरी महासभा और ग्वालियरमें माहेश्वरी महासभाके अधिवेशनका आयोजन इसीका सूचक है। इस महाप्रदेशमें महाराष्ट्रीय जनताकी विशेष संख्या है। मध्य भारतके ग्वालियर, इन्दौर, धार और दोनों देवास मराठी राज्य थे। इन राज्योंकी जनता महाराष्ट्रमें पैदा हुई सामाजिक जागृतिसे निरंतर प्रभावित होती रही और अनेक महाराष्ट्रीय प्रवृत्तियोंमें इन राज्योंके राजाओं ने भी प्रमुख भाग लिया। शिक्षा संबंधी कार्योंमें उन्होंने मुक्त हस्त से आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया। शैक्षणिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियोंसे भी इन राज्योंकी जनतामें सामाजिक चेतनाका संचार हुआ। उनमें ग्वालियर, इंदौर तथा देवास का मुख्य स्थान था।

इस प्रकार मध्यप्रदेशको न केवल वर्धाके महात्मा गांधीके सत्याग्रह आश्रमके कारण देशके सामाजिक एवं राजनीतिक जीवनमें विशेष महत्व प्राप्त हुआ; अपितु उसकी अपनी भी सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना, जागृति एवं प्रगतिकी पुरानी परम्परा रही, जिसके लिए वह यथेच्छ गर्व अनुभव कर सकता है।

-:०.-

श्री गटुभाई ध्रू

प्रार्थना-समाज

भारतके अन्यान्य प्रदेशोंकी अपेक्षा गुजरातमें जाति-उपजातिकी बाडेबंदी बहुत अधिक रही है। पंजाब, राजस्थान और उत्तरप्रदेशमें घूंघट निकालनेका जितना रिवाज था, उतना तो गुजरातमें नहीं था, परन्तु दक्षिणकी अपेक्षा यह रिवाज भी कहीं अधिक था। गमीके मौकोंपर आम सड़कों, गलियों और मोहल्लोंमें छाती पीटनेका रिवाज़ जितना गुजरातमें था, उतना भारतके किसी दूसरे प्रदेशमें न था। मरनेके बाद बारहवीं, बरसी वगैरह करने—जीमनवार और उसपर भारी खर्च करनेका रिवाज यहाँ जितना था, उतना अन्यत्र कहीं नहीं था। बाल-विवाह, विधवा-विवाहका प्रतिबन्ध, विदेश-यात्राके कारण जाति-बहिष्कार, एक पत्नीके होते दूसरा विवाह, कन्या-विक्रय, वय-विक्रय, अनमेल-विवाह और बहिन-भाईका आटा-साँटा—ये सारे रिवाज़ लगभग भारतवर्षके सभी प्रान्तोंमें प्रचलित थे। थोड़े दिनोंसे शहरोंमें से ये उठ गये हैं। परन्तु गाँवोंमें अल्पाधिक रूपमें यह अभी भी चालू हैं, हालाँकि इनमेंसे कुछ रिवाजोंपर प्रतिबन्ध लगाने के लिए कानून भी बन गये हैं।

इन सब सामाजिक रिवाजोंका एक जमानेमें बहुत जोर था। अंग्रेज़ अध्यापकोंसे शिक्षा प्राप्त और मिल, स्पेन्सर जैसे निरीश्वरवादियों और अज्ञेयवादियोंकी पुस्तकोंके अध्ययनसे प्रभावित गुजरातके नवशिक्षित वर्गमें बहुतसे युवक नास्तिकता निरीश्वरवाद की तरफ ढलते जा रहे थे; कुछ युवक स्वच्छंद और दुर्व्यसनी भी बन रहे थे; कुछेक इन सबके प्रत्याघातके फलस्वरूप जड़ और वहमी होकर मूर्त्ति-पूजा जैसे प्राचीन रिवाजों और रूढ़ियोंको अर्थहीन और केवल बहम बढ़ानेवाली मानते हुए भी उनके प्राचीन होने के कारण ही दुराग्रहसे पकड़े हुए थे; पर धर्मके प्रति सहिष्णुताका बड़ा अभाव था; प्राचीन आध्यात्मवाद, उपनिषदों तथा भक्ति-मार्गके ग्रंथोंका अध्ययन बहुत थोड़ा रह गया था; शाक्त मार्गके अधम और अनीतिमय अंगोंका भी समाजके कतिपय भागोंमें प्रवेश हो गया था; वल्लभीय सम्प्रदायके कतिपय मन्दिरोंके गोस्वामी महाराजोंमें से कुछ लोग धर्म के नामपर दुराचार-लीलामें फँस गये थे—इस प्रकारके विषम संयोगोंमें अहमदाबादमें प्रार्थना-समाजकी स्थापना हुई थी। बंगालमें ब्राह्म-समाजकी स्थापना इस समयसे लगभग ४५ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। बंगालमें ब्राह्म-समाजकी और बम्बईमें प्रार्थना-समाजकी स्थापनाका असर अहमदाबादके प्रार्थना-समाजपर हुआ माना जा सकता है। परन्तु जहाँ बंगालमें और कुछ अंशोंमें बम्बईमें भी ईसाई-पादरियोंके सहवास और उपदेश

से कुछ नवशिक्षित युवक ईसाई-धर्म अंगीकार करनेकी दिशामें भी प्रेरित हुए थे। गुजरातमें वैसा भय नहीं था।

अहमदाबादमें प्रार्थना-समाजके संस्थापकोंमें युवक नहीं थे। ४० वर्षसे ऊपर की उम्रके प्रौढ़ विचारवान, धीर-गंभीर, धर्मपरायण, सदाचारी, नीतिवान, सुशिक्षित और संस्कारी वर्गके लोग थे। स्वर्गीय डा० रा० ब० भोलानाथ साराभाई, रा० सा० महीपतराम रूपराम और रा० ब० रणछोड़लाल, इन तीनों मित्रोंने मिलकर सन् १६७२ में प्रार्थना-समाजकी स्थापना की थी।

इस समाजकी स्थापना एक खास घटनाको लेकर हुई थी। सन् १८७१में महारानी विक्टोरियाके ज्येष्ठ पुत्र प्रिंस ऑफ वेल्स, जो बादमें सप्तम एडवर्डके नामसे सम्राट हुए, वे अत्यन्त बीमार हो गये। राज्यके अधिकारियों और स्थानीय अफसरोंकी ओरसे प्रिंस ऑफ वेल्सके आरोग्य-लाभके लिए प्रार्थना करनेकी अपील की गई। उक्त तीनों मित्रोंने मिलकर विचार किया कि इस अवसरपर ऐसी प्रार्थनाकी व्यवस्था हो सके तो बहुत अच्छा हो जो समस्त जातियों और कौमोंके लोगोंको अनुकूल पड़े और जिससे किसीके धर्म-सिद्धांत और मान्यतामें बाधा न आवे और जिसको सब साथ मिलकर समूह रूपमें कर सकें। इस प्रकारकी व्यवस्था की गई और प्रेमचन्द प्राथमिक ट्रेनिंग कालेज के मैदानमें सब जातियोंके लोगोंने प्रार्थना की। गुजरातमें सामूहिक प्रार्थनाका यह सर्वप्रथम आयोजन था।

इस प्रार्थनाका समारोह हो चुकनेके बाद तीनों मित्रोंने यह विचार स्थिर किया कि सामूहिक प्रार्थनाका क्रम प्रति सप्ताह चलता रहे और उसमें सब जातियोंके स्त्री-पुरुष भाग ले सकें, इसलिए एक संस्थाकी स्थापना की जाये। इस विचारको सक्रिय रूप मिला और ता० १७ सितम्बर सन् १८७१ में प्रार्थन-समाजकी स्थापना हुई। बादमें ३ मई सन् १८७६ को प्रार्थना-समाज अपने वर्तमान मन्दिरमें शुरू हुआ।

प्रार्थना-समाजके सिद्धान्त मुख्यतया उपनिषदोंमें उल्लिखित धर्म और तत्व-ज्ञानके सिद्धान्तोंके अनुसार बनाये गये। अमूर्त, निराकार, अव्यय, अविकारी—ऐसे परमेश्वर की मानसिक उपासना करना इस समाजका उद्देश्य था।

प्रार्थना-समाज थोड़े ही दिनोंमें सारे गुजरातमें एक लोकप्रिय संस्था बन गई। उस समयके अनेक उच्च शिक्षित विशिष्ट व्यक्ति समाजके सदस्य बने और वहाँ जाकर व्याख्यान भी दिए। जो सदस्य नौकरी-धंधे करनेके लिए अहमदाबादके बाहर गये, उन्होंने उन-उन स्थानोंमें प्रार्थना समाजकी नाना रूपोंमें स्थापना की। इस तरह बड़ौदा, पेटलवाद, कपड़वंज, भड़ौच, सूरत, खेड़ा, आदि स्थानोंमें भी प्रार्थना-समाज स्थापित हो गया।

धर्मके विषयमें उदार तथा विशाल दृष्टि होनेके परिणामस्वरूप सामाजिक विचारों और रूढ़ियोंके विषयमें भी संकुचित और अर्थहीन प्राचीन प्रणालीका अनुसार चालू आचार विचारकी जगह स्वभावतः ही विशाल दृष्टि, न्याय-वृत्ति, समताकी भावना, उदार मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई।

अतएव अहमदाबादमें एवं गुजरातमें हिन्दुओंमें प्रचलित रूढ़ियों, अन्यायपूर्ण आचरण, समानताके अभाव, रूढ़िके या दासत्व आदिको खत्म करनेका महान् कार्य भी प्रार्थना-समाजके सदस्योंने ही किया था। प्रार्थना-समाज वैसे तो मात्र धार्मिक संस्था ही थी

परन्तु उदार धर्म-भावनाके परिणामस्वरूप सामाजिक-सुधारकी प्रेरणा भी स्वभावतः ही उसमेंसे उत्पन्न हो गई।

सामाजिक कुप्रथाओंको दूर करनेके लिए बाल-विवाह प्रतिबन्धक सभा, अनमेल और बृद्ध-विवाह रोकनेके लिए व्यवस्था विधवा-विवाहको प्रोत्साहन देनेवाली संस्था, मद्य-निषेधकी सभा, स्त्री-शिक्षाका प्रचार करनेवाली संस्था, मृत्युके बाद की क्रियाओं में जीमनवार करनेके रिवाजको बन्द करनेवाली संस्था, विदेश-यात्राको प्रोत्साहन देने वाला मण्डल, विवाह तथा दूसरे मांगलिक अवसरों पर वेश्या-नृत्यकी प्रथाके विरुद्ध जात-पाँतकी संकुचित बाड़ाबंदीको तोड़नेकी प्रवृत्ति, वगैरह अनेक प्रकारकी सामाजिक सुधारकी संस्थाएँ प्रार्थना-समाजके सदस्योंने अहमदाबादमें शुरु कीं। इन विभिन्न संस्थाओंको मिलाकर बादमें 'गुजरात-संसार-सुधार-समाज' नामकी संस्था स्थापित करने वाले भी प्रार्थना-समाजके सदस्य ही थे।

इन धर्मनिष्ठ और सामाजिक कल्याणका कार्य शुरू करनेवाले प्रार्थना-समाजके विशिष्ट सदस्योंके कार्योंका प्रभाव जन साधारणपर काफी पड़ा। गुजरातमें सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें जो-कुछ हुआ है, उसको शुरू करनेका श्रेय प्रार्थना-समाजके मूल स्थापकों और उनके परवर्ती अनुयायियोंको है।

वर्तमान समयमें सामाजिक सुधार और धार्मिक-सुधार दोनों अलग-अलग प्रवृत्तियाँ हो गई हैं। सामाजिक सुधारके कार्य करनेवाले—जीवनमें इन सुधारोंको क्रियान्वित करनेवाले स्त्री-पुरुष आजकल धार्मिक सुधारकी संस्थाके या प्रार्थना-समाजके सदस्य नहीं हैं, उनमें भाग भी नहीं लेते परन्तु सामाजिक सुधारोंके प्रति जन-साधारणका ध्यान आकर्षित करनेवाले—इन प्रवृत्तियोंको शुरू करनेवाले अगुआ (Pioneers) के रूपमें प्रार्थना-समाजके संस्थापकोंका स्थान सबसे ऊपर है, यह निर्विवाद है।

-:०:-

अष्टम खण्ड

नये समाजकी ओर

श्री सुरेन्द्र मोहन

नव-निर्माणका आधार

नये समाजका निर्माण नये व्यक्ति करते हैं। नये व्यक्ति पुराने व्यक्तियोंसे शारीरिक या प्राणिशास्त्रिक दृष्टिसे भिन्न नहीं होते हैं। प्राणी समाजमें रहकर ही सीखता है, उसीमें रहकर, उसके प्रशिक्षणसे प्रभावित होकर और उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें वह अपने अंदर कुछ विशिष्टताओं और कुछ सामान्यताओंका अनुभव करता है; तभी धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्वका विकास होता है, और वह व्यक्ति बनता है। व्यक्ति एक सामाजिक तत्व है और उसका विकास सामाजिक या मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। ज्यों-ज्यों वह अपने प्रति दूसरे लोगोंके व्यवहारोंका आभास पाता है, ज्यों-ज्यों वह इस बातकी चेतना प्राप्त करता है कि वह दूसरोंसे पृथक् कुछ है, त्यों-त्यों उसमें 'स्व'का विकास होने लगता है। वह अपने हितों, अपनी आवश्यकताओं और अपनी माँगोंके प्रति चेतन होता है। वह उनकी पूर्त्तिके लिए समाज द्वारा निहित व्यवहारोंको अपनाता ह, और उन सामाजिक संस्थाओंसे अपनापन महसूस करता है, जो उसकी माँगोंको पूरा करती हों या इस कार्यमें उसकी सहायता करती हो। इसी प्रकार वह उन मान्यताओंको अपने आचारमें धारण कर लेता है जो समाज-द्वारा स्वीकृत होती हैं। प्राणी एक ओर व्यक्तित्व का विकास करके समाजका एक सदस्य भी होता जाता है और सामाजिक व्यवहारों, मूल्यों और संस्थाओंको मानने लगता है और दूसरी ओर वह अपने अनुभवों द्वारा समाजके ज्ञान की वृद्धि भी करता है। समाजके दूसरे व्यक्तियोंके साथ वह एक धनिष्टता, एक सामान्यता और एकता महसूस करता है; परन्तु वह समाज के किसी सदस्यसे एकरूप नहीं होता और चूँकि वह एक 'स्व' है एक व्यक्तित्व है, और दूसरे लोगोंसे कुछ विशिष्ट है, इसलिए वह समाजमें रहकर भी कुछ अलग रहता है।

समाजके प्रमाणित या विहित व्यवहारोंमें कुछ आधारभूत मान्यताएँ निहित होती होती हैं। ये मान्यताएँ उस समाजके सदस्योंके पुराने, संगृहीत और परंपरागत अनुभवोंके आधारपर बनती हैं। सामाजिक संस्थाएँ जो सामाजिक संगठनकी ठोस, रीढ़की हड्डी-जैसी भित्तियाँ होती हैं, और जो व्यक्तियोंको समाजमें रहकर अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने, अपने प्रति दूसरोंके व्यवहार और अपने व्यवहारको समझने, व्यक्तियों को समाज-विरोधी-कार्योंसे रोकनेके महत्वपूर्ण कार्योंको पूर्ण करती हैं, इन आधारभूत मान्यताओंका प्रतिनिधित्व करती है। प्राणी अपने व्यक्तित्वका विकास इन्हीं संस्थाओं के अंतर्संबंधोंमें रहकर करता है; इन्हींके साथ बार-बार व्यवहार करके वह समाजका

सदस्य बना रहता है और इस घनिष्ट व्यवहारसे उसके व्यक्तित्वमें इन मान्यताओंकी एक घनिष्ट रूप-रेखा बन जाती है। कोई भी व्यक्ति इन मान्यताओं, इन सामाजिक संस्थाओं और समाजका तब तक अपमान नहीं करता, जब तक कि उसके व्यक्तित्व, उसकी माँगों और उसके स्वार्थोंका इनके साथ तादात्म्य बना रहता है।

व्यक्ति एक प्राणी है, एक विशिष्ट इकाई है। वह अनुभव करता है, और उस अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करता है। वह प्रत्येक अनुभवको अपने पहले अनुभवोंकी रोशनी में देखता है। अपने अनुभवोंसे कुछ परिणाम निकालकर वह वर्तमान अनुभवोंकी इन परिणामोंके आधारपर परीक्षा करता है। अपने अनुभवोंके आधारपर, अपने बढ़ते हुए ज्ञानके आधारपर ही वह सामाजिक मूल्यों और मान्यताओंको स्वीकार करता है। यदि उसके अनुभव उस पर यह ज़ाहिर करने लगें कि सामाजिक मान्यताएँ या संस्थाएँ उसके हितोंको पूर्ण नहीं करतीं, उसकी आवश्यकताओंकी तृप्ति नहीं करतीं और उसके अनुभव जनित ज्ञानकी कसौटीपर पूरी नहीं उतरतीं, तो वह उन मान्यताओं और संस्थाओं का विरोध करने लगता है। वह पुराने समाजका विरोधी हो जाता है।

व्यक्तिकी माँगें, आवश्यकताएँ, हित, स्वार्थ और अनुभव-जनित ज्ञान, सभी उसके व्यक्तित्वमें समाहित होते हैं और उसके रुझानों, संवेगों और विचारोंमें संगठित होते हैं। उसकी कोई एक माँग पूरे व्यक्तित्वकी ही माँग होती है पूरे व्यक्तित्वकी ही प्रतिक्रिया होती है। कोई एक सामाजिक संस्था उसकी किसी एक खास माँगको पूरा करती हो; पर उस संस्थाके साथ व्यक्तिका संबंध अपनी उस खास माँग और उसकी पूर्त्तिपर ही आधारित नहीं रहता। वैसे भी व्यक्तित्वके अलग-अलग रुझान, भावनाएँ, संवेग और माँगें एक-दूसरेसे संबंधित होते हैं; उसी तरह सामाजिक संस्थाएँ भी एक-दूसरेसे सम्बन्धित होती हैं। जब कोई व्यक्ति अपने अनुभव और ज्ञानके कारण समाज की त्रुटियोंके प्रति सचेत हो जाता है, तो वह केवल एक माँग या एक ही हितसे प्रेरित नहीं होता, न ही वह किसी एक संस्थाके विरुद्ध होता है। व्यक्ति न तो केवल आर्थिक है न प्राणिक और नहीं वह कुछ विचारोंका संघटन मात्र है। समाज भी केवल आर्थिक या प्राणिक संगठन नहीं है। समाज अपने पूर्ण रूपमें व्यक्तिके समक्ष होता है, व्यक्ति भी उसका अनुभव अपने सभी ज्ञान-अनुभवोंपर करता रहता है।

समाज और व्यक्तिके इस घनिष्ट अन्तर्संबन्धको न समझ पाकर समाजके नवनिर्माण के जो सिद्धांत उपस्थित किये गये हैं, उनमें एक है समाजको व्यक्तिसे विशिष्ट, उच्च और आधारभूत मानकर उसे बदलनेका सिद्धांत। हम केवल सामाजिक संस्थाओंको या सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्थाको बदलनेकी बात करने लगते हैं और चूंकि व्यक्तिको समाज का अंग माना जाता है, इसलिए यह विचार करते हैं कि शायद समाजको बदलकर व्यक्ति को बदलेंगे। या हम सामाजिक परिस्थितियोंको पलट देना चाहते हैं,; और चूंकि व्यक्तित्व इन परिस्थितियोंमें ही विकसता है, इसलिये यह मान लेते हैं कि इन परिस्थितियों को पलटकर या सुधारकर हम व्यक्तिको भी सुधार लेंगे। किंतु क्या समाज-व्यक्तियोंके परस्पर अंतर्संबंधोंका ही नाम नहीं है? क्या सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियोंकी सामाजिक मान्यताओं और विश्वासोंपर ही आधारित नहीं है? और क्या सामाजिक संस्थाएँ समाजके सदस्योंके सहकारी उद्योगों और कार्य-व्यवहारोंके ठोस रूप नहीं हैं?

सामाजिक परिस्थितिको बदलनेके लिए उन मान्यताओं, रिवाजों, विश्वासों और सम्मानोंको बदलना ज़रूरी है जिनपर कि यह परिस्थिति टिकी हुई है; व्यक्तियोंके परस्पर संबंधोंके मूलमें जो मान्यताएँ विद्यमान हैं, उनको बदलकर ही संस्थाओंका रूप परिवर्तित किया जा सकता है। समाज-व्यक्तियोंका समूह-मात्र ही नहीं है; यह मान लेनेपर भी तो इस तथ्यकी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि समाज व्यक्तियों द्वारा ही सम्भव है और समाजके रचयिता व्यक्ति ही होते हैं। कुछ समाज-शास्त्रियोंने समाज या व्यक्तियोंके समूहको व्यक्तिसे उच्च समझकर उसमें चेतना, मनस और चिंतनशक्तिको विद्यमान माना है। किन्तु चेतना और मनस और चिंतन शक्ति के लिए जिन भौतिक प्राणिक और रासायनिक तत्वोंका होना ज़रूरी है, वह समाजमें न होकर व्यक्तिमें ही विद्यमान होते हैं। 'सामाजिक चेतना' व्यक्तिगत चेतना का ही एक रूप हो सकती है।

समाजकी सम्पूर्णता और व्यक्तित्वकी संगठित सत्ता को भूलकर भी कुछ विद्वानोंने अधूरे सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया है। यहाँ यह बात दुहराना ज़रूरी है कि समाजकी सभी संस्थाएं एक दूसरीसे संबंधित होती हैं और कुछ एक जैसी ही मौलिक मान्यताओंपर आधारित होती हैं, लेकिन चूंकि समाज एक प्रक्रिया है, एक गतिशील अवस्था है, इसलिए उसमें परिवर्तनका नियम सदा लागू होता है, अतः कई बार अलग और विरोधी मान्यताएँ उसमें उपस्थित रहती हैं। फिर भी एक समाजकी प्रमाणित-संस्थाएँ एक जैसी ही मान्यताओंपर आधारित होती हैं। लेकिन जब केवल एक या दो संस्थाओंका सुधार या परिवर्तन करनेकी चेष्टा की जाती है, एक या दो मान्यताओंपर कुठाराघात किया जाता है तब अकल्याण ही उसका परिणाम होता है। जिस प्रकार एक समाज संगठित होता है, उसी प्रकार व्यक्तित्वके अलग-अलग स्थान, आवश्यकताएँ, चाहें इत्यादि भी संगठित होती हैं। व्यक्तिकी किसी एक माँग या चाहको ही तृप्त करनेकी चेष्टा या उसीको सम्पूर्ण व्यक्तित्व और व्यवहारका आधार माननेकी प्रवृत्तिसे भी वही परिणाम निकलते हैं जो एक संस्था को पूरे सामाजिक व्यवहारका आधार माननेसे निकलते हैं। मनुष्यकी आर्थिक माँगोंको ही उसके व्यवहारका मूल मानकर चलनेवाले आन्दोलनों ने भी मनुष्यकी दूसरी मांगों को कुचल कर व्यक्तित्व के विकास की दशाओं का लोप करके और व्यक्तिकी विशिष्टताको भूलकर जिस समाजकी रचना की है, वह समाज नया नहीं है, वह मानवके चिरंतन सपनोंका समाज नहीं है। केवल राजनीतिक संस्थाओं, शासन, दल या राज्यको ही जिन्होंने सामाजिक व्यवस्थाका आधार मानकर उसे महत्व प्रदान किया, वे भी व्यक्तिकी स्वतंत्रतामें बाधक हुए; उन्होंने भी समाजके दूसरे अंगों और प्रक्रियाओं को सिकोड़कर, रोककर, समाजकी गतिमें अवरोध उत्पन्न किए।

यह भूलना नहीं चाहिए कि समाजमें परिवर्तन की माँग कहांसे आती है। व्यक्ति सामाजिक जीवनके अनुभवोंसे असंतुष्ट होकर परिवर्तन की माँग करते हैं। अपने अनुभवोंको अपने बढ़ते हुए ज्ञानकी कसौटीपर परखकर वे कुछ परिणाम निकालते हैं। अतः पविर्तनका मूल व्यक्तियोंके सामाजिक अनुभवों और सामाजिक ज्ञानमें ही तो निहित होता है।

नए सामाजिक निर्माणके लिए यह श्रेयस्कर है कि (१) केवल एक या दो संस्थाओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया जाय; या (२) व्यक्तिकी किसी एक माँगको सबसे अधिक

महत्व दिया जाय; और (३) केवल समाजके ऊपरी ढाँचेको बदलनेकी चेष्टामें व्यक्तियों की उपेक्षा करके, व्यक्तिको समाजसे अलग करके, उसे नए ढाँचोंका दास बना दिया जाय।

नई मान्यताओं, नए आधारभूत सिद्धांतों, नए चिंतनपर ही नई सामाजिक व्यवस्था का विकास हो सकेगा।

नये व्यक्तियों या नई मान्यताओं, नए विश्वासों और विचारों वाले व्यक्तियोंका विकास कैसे होगा ?

व्यक्तियोंके विचार और उनकी मान्यताएँ उनके अनुभवोंपर बनती हैं। वह अनुभव प्रत्यक्ष भी हो सकता है, परोक्ष भी। शिक्षकके यह बता देनेपर कि बम गिराने से लाखों लोगोंकी हत्या की जा सकती है, विद्यार्थी इसे मान लेगा, और बमके गिरनेके बाद उसके परिणामोंको देखकर भी। हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष अनुभव अधिक स्पष्ट स्थायी और प्रभावोत्पादक हो। जब व्यक्ति अपने अनुभवोंसे संतुष्ट नहीं होते, तो वे उनका विश्लेषण करने लगते हैं, नए अनुभवोंकी खोज करते हैं, नई परिस्थितियाँ पैदा करना चाहते हैं। यह सब-कुछ वह अपने पुराने अनुभवोंसे अर्जित ज्ञानके आधारपर ही करते हैं। यदि व्यक्तियोंके अनुभवों और उनके ज्ञानका एक नया सम्बन्ध एक नया समन्वय स्थापित हो जाय, तो वे पुरानी मान्यताओंको छोड़कर नई मान्यताएँ मानने लगते हैं। अतः नई मान्यताएँ मनुष्योंके ज्ञान और अनुभवकी परिधिके बाहरकी वस्तुएँ नहीं होतीं; वे किसी दैवी चमत्कार, कुशाग्र दार्शनिक बुद्धि या मसीहाई योग्यताके कारण प्रस्फुटित नहीं होतीं। अतः जब तक व्यक्तियोंके अनुभवोंमें से ही नई मान्यताएँ नहीं उभरतीं, तब तक न तो वे स्वयं उन मान्यताओंको स्वीकार करते हैं, और न वे मान्यताएँ एक सामाजिक व्यवस्थाका धरातल प्रस्तुत कर सकती हैं। नयी मान्यताओंका आधार, अनुभव, ज्ञान द्वारा, सुलझाया गया अनुभव ही हो सकता है। बुद्धि भी अनुभव की सहगामिनी होती है; वह उसीके साथ, उसीमें से विकसित होती है, और वही उसका पथ-प्रदर्शन भी करती चलती है।

इसका अर्थ यह है कि व्यक्तियोंके अनुभवोंका स्वतंत्र आदान-प्रदान, उनपर तर्क-वितर्क-युक्त विचार-विनिमय होना समाजके नवनिर्माणकी पहली शर्त है। जिस व्यवस्थामें इसपर प्रतिबंध लगा दिए जाते हैं, वह व्यवस्था न तो स्वयम् बदलनेकी क्षमता रखती है, न ही उसकी गति, चेतना और उसके प्राण सुरक्षित रह पाते हैं।

परन्तु चूंकि व्यक्तियोंके अनुभव सामाजिक संस्थाओंसे सम्बन्धित होते हैं, अतः उनके व्यक्तियों और उनकी बुद्धियोंपर भी उन संस्थाओंका प्रभाव पड़ता है। जिस व्यवस्थामें बच्चेकी ताड़ना होती है, उसमें वह असंतुष्ट, संवेग-ग्रसित व्यक्तित्वको लेकर समाजमें विकसित होता है। क्या उसकी बुद्धि उसके शैशवके अनुभवोंसे प्रभावित नहीं होती ? इसी प्रकार एक व्यक्ति आर्थिक कठिनाईसे परेशान, बेकारी और भूखका शिकार होकर अपने व्यक्तित्वमें आक्रमणकारिता, आवेशभर समाज-विरोधी भावनाको प्रश्रय दे लेता है। क्या उसके चिंतन और ज्ञानका आधार यह और इसी प्रकारकी भावनाएँ न हो जायँगी ? और क्या एक संतप्त व्यक्तित्व बुद्धिका ऐसा प्रयोग कर पायेगा जिससे कि वह कुछ सही नतीजोंपर पहुँच सके ? जाहिर है कि आधुनिक युगमें जब कि व्यक्ति

संवेगोंपर अपनी बुद्धिका अधिकार स्थापित नहीं कर पा रहा है, नए समाजका निर्माण संवेग ग्रसित बुद्धिके आधारपर ही तो होगा। यदि मनुष्य अपनी बुद्धिपर ही चल सकता, तो क्या आजके से हालातसे मानवता दो चार होती? व्यक्ति जब अपने अनुभवोंके कुछ आर्थिक परिणाम नहीं निकाल पाता, तो वह संवेगोंका, सहारा लेता है; संवेग अबौद्धिक नहीं होते, बल्कि वे बुद्धिके अपूर्ण, भ्रांत प्रयोगोंकी उपज होते हैं।

व्यक्तियोंके अनुभवोंको बदलनेके लिए न केवल उन अनुभवोंके बारेमें उनका दृष्टिकोण बदलना होगा, बल्कि उन परिस्थितियोंको भी उस मात्रामें बदलते रहना होगा जिस मात्रामें व्यक्तियोंके दृष्टिकोण और उसकी मान्यताएँ बदलती रहें। यों तो ज्यों-ज्यों व्यक्ति अपनी मान्यताओंको बदलेंगे, लोगोंकी परिस्थितियोंको और सामाजिक संस्थाओंको भी बदलेंगे। तो भी समाजके निर्माणमें व्यक्तियोंके अनुभवोंको बदलनेके लिए धीरे-धीरे नीचेसे व्यक्तियोंके सहयोगके द्वारा नई संस्थाओंको विकसित करनेकी चेष्टा करनी होगी। नई मान्यताओंको परस्पर व्यक्तिगत व्यवहारोंमें समाविष्ट करना होगा। यदि सहयोग को नए समाजकी मान्यता बनाना अभीष्ट है, तो सहयोगी संस्थाओंका विकास करके ही व्यक्ति अपने अनुभवों, बुद्धि और ज्ञानको एक नई दिशा दे सकेंगे। व्यक्तिका व्यक्तित्व समाजमें ही विकसित होता है; संस्थाओंके माध्यमसे ही यह समाजके कार्यक्रम में भाग लेता है; अतः स्थापित संस्थाओंको बदलते रहना और नई संस्थाएँ विकसित करते रहना समाजके नवनिर्माणके लिए आवश्यक है।

नए व्यक्तियोंके विकासके लिए यह उपादेय है कि :—

(१) व्यक्ति अपने अनुभवोंके प्रति अपने रुख या दृष्टिकोणको बदले और बुद्धिको उनके समझनेमें महत्वपूर्ण स्थान दे।

(२) वह धीरे-धीरे अपने बदलते हुए दृष्टिकोणको अपने व्यवहारमें समाविष्ट करे।

(३) बदलते हुए दृष्टिकोणके साथ-साथ पुरानी संस्थाओंके परिवर्तन और नई संस्थाओं के विकासकी चेष्टा करे।

नए समाजकी मान्यताएँ क्या होंगी?

हमारे अनुभव आज सामाजिक वातावरणमें व्यक्तिकी घटती हुई प्रतिष्ठा, उसके अधिकारोंके सिकुड़ते हुए प्रांगणमें और उसकी सहायतामें चित्रोंको हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। आज साधारण व्यक्ति न तो क़ीमतों के घटने-बढ़नेपर रोक लगा पा रहा है न ही युद्धों और शान्तिके प्रश्नोंका निदान कर पा रहा है; सैन्यीकरण, राजनीतिक दलोंके कार्यक्रम उत्पादन प्रक्रिया, गोया कि किसी भी सामाजिक क्षेत्रमें घटनेवाली घटनाओं को न तो वह प्रभावित कर पा रहा है और न ही समझ पा रहा है। हमारे अनुभव आज साधारण व्यक्तिके असंतोष अतृप्त, संवेगात्मकता और भीड़ व्यवहारसे भी हमें अवगत कराते हैं और सांप्रदायिक दंगों, भाषाके प्रश्नपर बलवों और सरकारके गोली-बारूद द्वारा जनता के दमन से भी हम यही परिणाम निकाल सकते हैं। एक दूसरे पर अविश्वास और एक-दूसरेके प्रति रोषपर हमारे परस्पर संबंध आधारित हैं। परन्तु क्या नया समाज अविश्वास, हिंसा, रोष, संवेगात्मकता अज्ञान और उत्तेजनाकी मान्यताओं पर बनेगा? अपने अनुभवोंको मानवकी बुद्धिके अनुसार समझनेकी चेष्टा शायद हमें यह बताएगी कि आजके युगमें जब कि हिंसा और अविश्वास मानवताको तहस नहस कर

रहे हैं सहयोग और परस्पर विश्वासके बिना काम न चलेगा। परन्तु सहयोग और परस्पर विश्वास स्वतंत्र और समानाधिकारवाले व्यक्तियोंमें होता है, न कि स्वामी-दास और उच्च-नीचके सम्बन्धोंवाले व्यक्तियोंमें। सहयोग, स्वतंत्रता और समानतापर आधारित व्यवहार ही परस्पर विश्वासको जन्म दे सकेंगे। किन्तु जब तक सभी व्यक्ति स्वयम् पर और अपनी बुद्धिपर विश्वास न करेंगे, न तो वे स्वतंत्रताके मूल्यको पहचानेंगे, न ही उसका उपयोग कर सकेंगे और दूसरोंपर भी विश्वास करना उनके लिए संभव न होगा। नए समाजकी मान्यताएँ यह हो सकती हैं:—परस्पर सहयोग, बौद्धिक आचरण, समता, स्वतंत्रता और उदारता।

इन मान्यताओंपर आधारित समाजकी व्यवस्थाका क्या रूप होगा? इसकी संस्थाएँ किस प्रकारकी होंगी?—यह बातें तो इन मान्यताओंको स्वीकार करनेवाले समाजके सदस्य ही बता सकेंगे। आज तो उनका निर्माण की प्रेरणाओंकी बात ही मुख्य है।

श्री सुन्दरलाल

नया समाज

एक दिन गांधीजीने मुझसे "हरिजन" के लिये एक लेख लिखनेको कहा। मैंने वह लिखकर उनके सामने पेश किया। लेखमें एक वाक्य इस तरहका आता था—"यदि हम....करें तो इस देशको फिरसे स्वर्ग बना सकते हैं।" गांधीजीने लेखको पढ़ा और 'फिरसे' इन शब्दोंके नीचे लकीर खींचकर मुझसे पूछा—"स्वर्ग कब था ?" चन्द सैकण्डके अन्दर हज़ारों बरसका इतिहास मेरी आँखोंके सामने से फिर गया। ज़रा सोचकर मैंने जवाब दिया—"सचमुच, बापू! स्वर्ग तो कभी नहीं था।" उन्होंने फिर कहा—"तो 'फिरसे' शब्दोंको निकाल दो।" मैंने ऐसा ही किया। अब वह वाक्य इस तरह रह गया—"यदि हम....करें तो इस देशको स्वर्ग बना सकते हैं।" इस सुधारके साथ वह लेख "हरिजन" में छप गया।

बात छोटी-सी पर मारकेकी थी। देशमें जब कभी भावी समाजके निर्माणकी बात आती है, तो कई तरहके विचारोंके लोग मिलते हैं, उनमें दो तरहके लोग खास हैं। एक वह जो देशमें वेदों या पुराणों, रामायण या महाभारतका समय फिरसे लाना चाहते हैं और दूसरे वह, जिन्हें देशकी हर पुरानी बात बुरी और निकम्मी मालूम होती है, और जो इसे यूरपके किसी न किसी देशकी एक नक़ल बनाना चाहते हैं ? यह दोनों विचार-धाराएँ ग़लत और ख़तरनाक हैं। पर इनमें पहली विचारधारा दूसरीकी अपेक्षा अधिक ग़लत और ख़तरनाक है।

कुछ कट्टर या भोले लोग इस मामलेमें इतने बहके हुए हैं कि उन्हें यह ठीक-ठीक जाननेकी आवश्यकता भी अनुभव नहीं होती कि हमारा भूतकाल कब, कैसा और क्या था। वेदोंके समय की मैं अधिक चर्चा करना नहीं चाहता। जिन्हें वैदिक कालके सामाजिक जीवनको जाननेका शौक़ हो, वह सनातन विचारके सबसे बड़े वेदवेत्ता सायनाचार्य के भाष्यको पढ़लें। कुछ बरस हुए दरभंगासे निकलनेवाली शायद "गंगा" नामकी हिन्दी पत्रिकाने अपना एक 'वेदांक' निकाला था। उसमें भारत-भरके बड़े से बड़े वैदिक पंडितोंके लेख वेदों और वैदिक कालके जीवनके बारेमें संकलित किये गए थे। 'गंगा' का वह विशेषांक भी इस बारेमें पढ़नेके योग्य है।

आर्य-समाजके साथ मेरा बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। इसमें संदेह नहीं कि आर्य-समाजने अनेक बातोंमें देशका बहुत बड़ा उपकार किया है। अनेक इलाक़ोंमें देशके अन्दर आज़ादीकी भावनाको जगानेका सेहरा भी आर्य-समाजके सर है।

इसमें भी संदेह नहीं कि वेद बड़े मूल्यवान ग्रंथ हैं। दुनियाके साहित्यमें उनका बहुत ऊँचा और अमर स्थान है। वेदोंके ज्ञान काण्ड यानी उपनिषदोंसे बढ़कर पुस्तकें दर्शन और आध्यात्मपर शायद अब तक दुनियामें नहीं लिखी गईं। लेकिन हर चीज़की एक हद होती है। जो आर्यसमाजी वेदोंको "सब सत्यविद्याओंकी पुस्तक" मानते थे और मानते हैं, वे अनेक गुरुकुलों और उनके सैकड़ों स्नातकोंके होते हुए भी आज तक कोई नई वैज्ञानिक या दूसरी ईजाद वेदोंमें से न निकाल पाए। हमारे गुरुकुलोंमें भी हमें फ़िज़िक्स और कैमिस्ट्री पढ़ानेके लिये अँगरेज़ी पुस्तकों या उनके अनुवादोंका ही सहारा लेना पड़ता है।

जो भोले लोग वैदिक कालको फिरसे दुनियामें लानेका विचार रखते हैं, उनसे मैं केवल इतना कहूँगा कि यदि वैदिककालके कुछ ऋषियों और दूसरे लोगोंका एक गिरोह उसी समयका खान-पान और रहन-सहन लिये हुए कहीं शून्यसे उतर आवे, तो आज उसे किसी मुसलमान, ईसाई, पारसी या सिख घरमें जगह भले ही मिल जावे, उत्तर-भारतके किसी धर्मनिष्ठ हिन्दूके घरमें जगह मिल सकना सर्वथा असम्भव है।

कुछ भारतवासी महाभारतके समयकी भी दुहाई देते हैं। महाभारत एक खुली पुस्तक है, जिसके अर्थों में बहस की कोई गुंजाइश नहीं। महाभारतका समय वह समय था, जब सब वर्णों और सब आश्रमोंके लोगोंमें लगभग सब तरहके पशुओंका मांस खाया जाता था, खुले तौरपर शराब पी जाती थी, दरबारोंमें जुएँ खेले जाते थे, स्त्रियाँ, विवाहित स्त्रियाँ तक रुपयेकी थैलियोंकी तरह बाज़ी पर लगाई जा सकती थीं, एक पतिके कई स्त्रियाँ और एक स्त्रीके कई पति, दोनों रिवाज जायज थे, इत्यादि अनेक बातोंमें समाजका तत्कालीन आदर्श आजके आदर्शसे कहीं गिरा हुआ था। स्वयं गीतामें श्रीकृष्णने उस समयको "धर्मकी ग्लानि और अधर्मके अभ्युत्थान" का समय कहा है। स्त्री-पुरुषके सम्बन्धके बारेमें तो समाज इतना गिरा हुआ था कि महाभारतमें एक स्थानपर महा-भारतके लगभग सब पात्रोंकी पैदाइश की जो चर्चा की गई है, वह अगर सच्ची है, तो महाभारतके सारे पात्रों में अधिकांश ऐसे थे, जिन्हें आजकलके अर्थोंमें हलालकी पैदाइश नहीं कहा जा सकता।

कोई-कोई भोले लोग तो कभी-कभी बड़े गर्वके साथ कह बैठते हैं कि उनकी नाड़ियोंमें भीम और अर्जुनका रक्त है। सुनकर अचरज और दुःख होता है। हमारे किसी पूर्वजमें यदि कोई दोष था, तो उसके कारण उस पूर्वजके वंशज होनेमें हमें शरमानेकी कोई बात नहीं। गुण-दोष सबमें होते हैं। पर उस आदमीका अपनेको वंशज माननेमें कोई विशेष अभिमान की भी बात नहीं है, जो सब तरहका मांस खाता था, शराब पीता था, जुआ खेलता था, जिसने चार और भाइयोंके साथ मिलकर एक बीवी रख रखी थी, और जो अपनी बीबीको जुएमें लगा सकता था।

पुराणों या रामायणके समयकी, या बादके हिन्दू या मुसलमान राजाओंके ज़माने की चर्चा करना इस सम्बन्धमें और भी ग़लत और बेमानी है।

इसका यह मतलब नहीं है कि उस पुराने ज़मानेमें या किसी भी ज़मानेमें कोई बात अच्छी थी ही नहीं। अच्छी और बुरी बातें भी हर ज़मानेमें होती हैं। किसी बातमें कोई एक ज़माना अच्छा और किसी दूसरी बातमें कोई दूसरा ज़माना अच्छा, मतलब केवल

इतना है कि 'स्वर्ग' यह देश कभी नहीं था। शायद कभी कोई देश भी नहीं था। हमारे लिये इन बातोंमें न आँख बंद करके प्राचीनताको पूजना कल्याणकर है और न सब पुरानी बातोंको एक सिरेसे बुरा समझकर त्याग देना अक्लमन्दी है। अपने आगे और पीछे, दाएँ और बाएँ, सब तरफ निगाह डालते हुए, विवेक, साहस और निष्पक्षताके साथ हमें अपना आगेका रास्ता तय करना चाहिए। पुरानी हो या नई, जो चीज़ अच्छी है और हितकर है उसे अपनाना चाहिए और जो आगेके विकासमें बाधक है, उसे त्याग देना चाहिए।

इस संबंधमें एक और बात ध्यानमें रखना जरूरी है। कोई भी एक विचार, रिवाज, या संस्था एक समय के लिये हितकर और अच्छी हो सकती है और दूसरे समय के लिये अहितकर और बुरी। एक संस्कृतके कविने इसे बड़ी सुन्दरतासे यों बयान किया है— अगर किसीके दादाने कोई कुँआ खुदवाया था, जिसका पानी उस समय मीठा था और अब नीचे का सोता बदल जानेके कारण खारी हो गया है, तो जो कोई यह समझकर कि कुँआ मेरे दादाका बनवाया हुआ है, उसी खारे पानीको पीता रहे, वह कायर और निकम्मा है। नए समाजकी रचनाके लिये हमें अपनी इस समयकी हालतको ध्यानसे देखना और आगेकी ज़रूरतोंको समझना होगा।

पहली प्रश्न यह कि हमारे समाजका इस समयका रूप है क्या?

सबसे पहली बात यह है कि इस देशमें अनेक धर्म और अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें हर धर्म या सम्प्रदायवाला अपनेको ठीक और दूसरोंको ग़लत मानता है। हर एक अपनी-अपनी विशेष रूढ़ियों और रीति-रिवाजोंसे चिपटा हुआ है। जहाँ तक चरित्र या नेकी बदीका सम्बन्ध है, मोटे तौरपर, किसी धर्म या सम्प्रदायके लोग किसी दूसरे धर्म या सम्प्रदायवालोंसे अधिक अच्छे नहीं हैं।

सन् १९४७ के सांप्रदायिक दंगोंमें हमने भारतमें और पाकिस्तानमें, सरहदके इस पार और उस पार, हज़ारों मील घूमकर उन दंगोंके रूपको देखा है। कोई बुरे-से बुरा पाप ऐसा नहीं था जो हिन्दुओंने न किया हो, जो मुसलमानोंने न किया हो या जो सिखोंने न किया हो; और तीनोंने जो-कुछ किया, वह अपने-अपने धर्मकी रक्षाके नामपर किया। यदि किसी ने यह सुन लिया कि किसी दूसरे शहर या गाँवमें किसी दूसरे धर्मवालेने सुननेवालेके धर्मके किसी बच्चेको जिंदा भून डाला, या सुननेवालेके धर्मकी स्त्रीका सतीत्व नष्ट कर डाला, या और कोई इसी तरहकी बुरी हरकतकी तो सुननेवालेने अपना यह धर्म और अधिकार समझा कि वह अपने नगर या गाँवके अन्दर उस दूसरे धर्मके माननेवाले किसी भी बच्चे या स्त्रीको पकड़कर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करे। तीनों धर्मवालोंने ऐसा ही किया भी।

तीनों धर्मोंके लोगोंमें इस तरहके नेक, इनसाफ़पसन्द और बहादुर लोग भी थे जिन्होंने स्वयं अपने धर्मवालोंसे लड़कर, अपनी जान जोखममें डालकर, अपने धर्मवालोंके अत्याचारोंसे दूसरे धर्मवालोंकी रक्षाकी। ऐसा न होता तो परिणाम कहीं अधिक भयंकर होता। मनुष्य के अन्दरसे न्याय और प्रेमका अंश मिटा नहीं है। वास्तवमें उसी अंशको जगाने और बढ़ाने तथा अन्याय और नफ़रतके अंशको मिटानेकी आवश्यकता है। पर इस मामलेमें भी तीनों लगभग एकसे साबित हुए।

दूसरी ओर बुरेसे बुरे विचार और गन्दीसे गन्दी भावनाएँ भी हमारे अन्दर से अभी तक मिटी नहीं हैं। दूसरे धर्मवालोंके ख़िलाफ़ जान-बूझकर झूठी ख़बरें उड़ाना, कोई बुरा काम ख़ुद करके उनके सर थोप देना और उसे बहाना बनाकर उनपर हर तरहके अत्याचारोंको दबा रखना और कर डालना आज भी हमारे सामाजिक जीवनका एक लज्जाजनक अंग बना हुआ है।

इसके अलावा हम अपने बाज़ारों, दूकानों, कचहरियों, अस्पतालों या नगरोंके गन्दे कोनोंमें कहीं भी जाकर देखें या सरकारी रिपोर्टोंके आँकड़ोंको पढ़ें, शायद कोई जुर्म या कोई पाप ऐसा नहीं है जिसमें अपनी आबादीके हिसाबसे किसी सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदायवालोंसे कम हों। यदि अकस्मात किसी कारण एक जुर्ममें एक बढ़ा हुआ है तो तो दूसरेमें दूसरा बढ़ा हुआ है।

डेढ़ सौ बरस तक अँगरेज़ोंकी ख़ुफ़िया पुलिसमें हिन्दू, मुसलमान और सिखोंमें से किसीने किसीसे कम भाग नहीं लिया। जिन लोगोंने देश और देशवासियोंके साथ विश्वासघात करके समय-समयपर विदेशियोंका साथ दिया उनमें भी हिन्दू, मुसलमान, सिख और जैन सब धर्मवालोंके नाम चमकते हुए मिलते हैं। सारांश यह कि हम किसी पहलूसे देखें यह बात बिलकुल सच है कि इन धर्मों और सम्प्रदायोंका उनके मानने-पालने वालोंके चरित्रपर, उनकी नेकी और बदीपर कोई ख़ास असर नहीं पड़ा। इन अलग-अलग धर्मोंने किसी समयमें दुनियाको कितना ही लाभ पहुँचाया हो, और अवश्य पहुँचाया होगा, पर आज यह केवल मनुष्य समाजके टुकड़े-टुकड़े करके, दिलोंको एक-दूसरेसे फाड़नेका ही काम दे रहे हैं।

दूसरी ख़ास बात जो इस समय हमें अपने समाजमें दिखाई देती है, वह जात-पाँत, ऊँच-नीच और छुआछूत है। हिन्दू, जैन, मुसलमान, सिख और ईसाई कोई इस रोगसे खाली नहीं हैं, पर मुख्यकर यह रोग हिन्दुओंका रोग है। हो सकता है किसी समय इस जात-पाँतका भी कुछ अर्थ रहा हो और यह किसी रूपमें किसी दरजे तक समाजके लिये हितकर भी रही हो; पर आज सैकड़ों बरससे इस जात-पाँतका नतीजा सिवाय समाज में फूट और विनाशके और कुछ नहीं। आज भी इन जातियोंके नामोंपर संगठन बढ़ते और मज़बूत होते जा रहे हैं। जगह-जगह ब्राह्मणों और अब्राह्मणोंके भेदने एक ख़तरनाक सामाजिक, और राजनीतिक रूप धारण कर रखा है। यह हमारे समाजका एक बहुत ज़हरीला रोग है।

हमारा तीसरा बड़ा रोग इस समय समाजमें फैली हुई भयंकर आर्थिक असमता है। शहरों और गाँवोंके जीवनमें तो आकाश-पातालका भेद है ही, स्वयं शहरोंके अन्दर भी अमीरों और ग़रीबोंमें वैसा ही अन्तर है। थोड़े-से मुट्ठीभर लोगोंके पास आवश्यकतासे कहीं अधिक है और करोड़ों जनता दरिद्रता और नादारीमें डूबी हुई है। ऊँचीसे ऊँची अटारियाँ, महल और बँगले और गन्दीसे गन्दी झोपड़ियाँ देशमें साथ साथ देखने को मिलती हैं।

इन तीन बड़े रोगोंके अलावा स्वार्थ, बेईमानी, चरित्रहीनता आदि और भी अनेक दोष हैं जो हमारे समाजके विकास और उन्नतिमें रुकावट डालते हैं पर इस तरहके दोषों की भी असली जड़ हमारे सामाजिक विभाजन और आर्थिक असमतामें ही है।

अब सवाल यह है कि हमारे नए समाजका रूप क्या होना चाहिये ? जवाब साफ़ है—सबसे पहले वह सब दीवारें जिन्होंने देशकी मानवताके टुकड़े-टुकड़े कर रखे हैं, टूटें; अलग-अलग धर्मों और सम्प्रदायोंकी जगह एक मानव-धर्म हम सबका धर्म हो।

गांधीजी 'सर्वधर्म समभाव' यानी 'सब धर्मोंका बराबर आदर' के सिद्धांतके मानने वाले थे। किसी भी पुस्तक या पद्धतिको स्वतः प्रमाण न मानते हुए भी वह कहा करते थे—"मैं हिन्दू हूँ, इसीलिए मैं मुसलमान भी हूँ, मैं इसाई भी हूँ, इत्यादि" वह सत्य और अहिंसा को सब धर्मोंका सार मानते थे। और "सत्य और अहिंसा" ही उनका धर्म था।

नए चीनने "ईमानदारी, सादगी और जन सेवा" को अपना राष्ट्रीय धर्म बना रखा है।

यही धर्म हम सबका असली और मुख्य धर्म होना चाहिये।

इसका यह मतलब नहीं कि धार्मिक विचारों या क्रियाओंके मामलेमें किसीके साथ किसी तरहकी ज़बर्दस्ती की जावे। लोगोंके विचारों और विश्वासोंमें फ़रक रहेंगे और रहने चाहिए। व्यक्तिगत हैसियतसे हर एकको अपने ढंगसे, अपने इष्टदेवको पूजने या न पूजने और अपना रिवाज पालने या न पालनेकी पूरी आज़ादी होनी चाहिये, पर सामाजिक मामलों और सार्वजनिक जीवनमें हम अपनेको केवल आदमी समझें और केवल आदमी ही गिने जावें।

इसके साथ ही हमें अपने अब तकके इतिहासको पढ़ने और समझनेके ढंगको भी बदलना होगा। हमें उन सब विचारों, भावों और व्यक्तियोंको अपना आदर्श बनाना होगा, जो हमें इन अलग-अलग धर्मों और सम्प्रदायोंकी दीवारोंसे निकलकर एक संयुक्त राष्ट्र और एक मानवताकी तरफ ले जानेकी कोशिश करते रहे हैं, और ऐसे विचारों, भावों और व्यक्तियोंके मोहको छोड़ना होगा, जो हमें एक-दूसरेसे अलग रखकर इन्हीं अलग-अलग धर्मों और सम्प्रदायोंके नाशकर घेरोंमें बाँधकर रखना चाहते थे या चाहते हैं। जात-पाँत और छुआछूत जड़से मिटनी चाहियें। गुण, कर्म, स्वभाव और रुचिके अनुसार सबके साथ खान-पान और शादी-ब्याहका खुला सम्बन्ध होना चाहिये। आर्थिक असमानताकी जड़ें भी एक दरजे तक जात-पाँतके अन्दर हैं, आर्थिक समानता लानेके लिए अलग आर्थिक योजनाएँ भी बनानी होंगी। सोच-समझकर हमें इस तरहकी नई आर्थिक व्यवस्था क़ायम करनी होगी जिसमें यह महलों, अटारियों और झोंपड़ोंके फ़रक़ मिटें, एक बड़े दरजे तक आदमी आदमी बराबर दिखाई दें और सब सुखी और ख़ुशहाल हों।

जातियों, धर्मों या सम्प्रदायोंके नामपर स्कूलों, कालिजों, यूनिवर्सिटियों और किसी भी तरहकी सार्वजनिक संस्थाओंका रहना और बनना बन्द होना चाहिये।

देशकी सरकार, सरकारी महकमों और शासकों की हैसियतसे, किसी अलग धर्म या जातिके साथ किसी तरहका सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। यही धर्म निरपेक्ष राज्य यानी सेकुलर राज्यका असली मतलब है।

यही वह दिशा है, जिसकी ओर हमें हिम्मतके साथ बढ़ना है। हम ठंडे दिलसे देखें, तो अपने देशके गांधीजीके सिद्धान्तों और पश्चिमके कार्लमार्क्सके आदर्शोंसे मिलाकर हमें इसके लिए काफ़ी मार्गदर्शन मिल सकता है। कल्याणका हमारे लिए यही एक रास्ता है। नए समाजकी रचनाका यही रूप हो सकता है।

श्री जगजीवन राम

सामाजिक समता और समानता

जहाँपर आर्य समाजका प्रवर्तक दयानन्द, और समानताकी गंगा बहानेवाला गांधी पैदा हो, वहाँ भी अस्पृश्यता रहे, इसका कारण जल्दी समझमें नहीं आता। लेकिन वह है। जिस दिन, जिस घड़ी छुआछूतका प्रादुर्भाव हुआ, उसी दिन, उसी घड़ी इसके विरुद्ध विद्रोह भी पैदा हुआ। हिन्दू-समाज और धर्मके इतिहासमें कोई भी काल ऐसा नहीं मिलता, जिसमें इस कलंकके विरुद्ध विद्रोह नहीं चलता रहा हो। यह विद्रोह उन लोगोंकी तरफसे अधिक रहा जो सवर्ण थे। यह बात भी याद रखनी चाहिए कि जब तक वर्ण-व्यवस्था कायम रहेगी, तबतक छुआछूत कायम रहेगी। एक रहे, और दूसरा न रहे, यह असम्भव है। वर्णव्यवस्थाका आधार असमानता है और जाति-प्रथा उससे भी अधिक असमानताके ऊपर आधारित है। छुआछूतकी व्यवस्था भी इस असमानता का ही प्रतीक है। बहुतसे लोग कहते हैं कि जाति-प्रथाको भले ही मिटा दें, लेकिन व्यवस्था तो कर्मोंके अनुसार है। मुझे यह दलील मजाक-सी मालूम पड़ती है। आप हिन्दू-धर्मके इतिहासको पढ़ जायें तो कहीं यह नहीं मिलता कि किसीका वर्ण कर्मके अनुसार माना गया हो। विश्वामित्र क्षत्रिय थे पर उनकी तमन्ना थी कि ब्राह्मण बन जायँ। क्षत्रियसे ब्राह्मण बननेमें सिर्फ एक सीढ़ी चढ़नी थी। वशिष्ठ मुनि विरोध करने लगे, तो पुराणोंमें पढ़नेको मिलता है, विश्वामित्रने कहा कि हम एक और सृष्टि बना लेंगे। उन्होंने अलग दुनिया बनानेकी ठान ली। यह सब होनेके बावजूद भी वे राजर्षिसे ब्रह्मर्षि नहीं बन सके। यदि कभी कोई अछूत जगजीवनराम जैसा हो जाता है, तो लोग कहते हैं कि वह पिछले जन्ममें ब्राह्मण था, अब भ्रष्ट हो गया अर्थात् पिछले जन्मका ब्राह्मण था, अब पाप किया तो अछूत हो गया। इसका अर्थ यह कि ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिभाशाली हो ही नहीं सकता।

विचार परम्पराको बदलें

भगवान बुद्ध आये; महावीर आये; आजके युगमें राममोहन राय, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ, महात्मागांधी आदि आये। सबने इस कलंकके विरुद्ध विद्रोह किया। सबसे अधिक सफलता मिली गांधीजीको। इसका क्या कारण है? मैं तो कहता हूँ कि गांधीजी जितने बड़े राजनीतिक नेता थे, उससे कहीं अधिक बड़े धार्मिक नेता थे। इस बातको हम लोग जानते हैं। उन्होंने हिन्दू-समाजको छिन्न-भिन्न होने से बचाया। मैं विस्तारमें न जाकर एक बात कह दूं और वह यह है कि सब सुधारकोंका एक अलग

सम्प्रदाय बन गया लेकिन गांधीजीका कोई सम्प्रदाय नहीं बना। सब सम्प्रदाय रह गये और उनमें फिर पुरानी चीज़ वैसीकी वैसी ही रह गई। हिन्दू-धर्मकी वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथाका प्रभाव इतना प्रबल रहा कि जो भी इसके सम्पर्कमें आया, इससे कलुषित हो गया,। कोई बाकी नहीं बचा। इस्लाम व क्रिस्चियनिटी जैसे मज़हब यहाँ आये, जिनके अनुयायियोंमें भेदभाव नहीं था लेकिन उनपर हिन्दू-धर्मने असर डाला और मुसलमान और ईसाइयोंमें भेदभाव पैदा हो गया। धर्म-परिवर्त्तनके मामलेमें विशेष कहना नहीं चाहता क्योंकि यह मेरी दृष्टिमें कोई महत्वकी चीज़ नहीं है। लेकिन जब तक हम बुनियादी चीज़ नहीं बदलते हैं, समाजका नव-संस्कार नहीं हो सकता। अगर हम नया मकान बनाना चाहें, और बुनियाद पुराने मकानकी ही रहने दें तो ऊपर की इमारत सुन्दर हो सकती है लेकिन नींव की जो खामियाँ रहेंगी, वे ऊपर भी आ जायेंगी। अस्पृश्यता मिटानेके लिए जब तक हम बिचारपरम्पराओंको नहीं बदलते हैं, तब तक इसमें सफलता नहीं मिलेगी। हम तो आदमी की छुटाई-बड़ाई इससे देखते हैं कि उसने किस जातिमें जन्म लिया है। कुछ लोग कहते हैं 'हम भंगीके हाथका जलपान कर लेते हैं।' मैं कहता हूँ कि जब तक यह कहा जाता है तब तक हमारे अन्दर द्वेष है। यह तो कोई भी नहीं कहता कि मैं ब्राह्मणके हाथका पानी पी लेता हूँ। उसको मिटानेके लिए विचार से ही विचारका मुकाबला किया जाना जरूरी है। जो परम्परा चली आ रही है, उसके बदलनेके लिए नए दर्शनकी जरूरत है। गांधीजीने जो सबसे बड़ा काम किया, वह यह कि हमारे यहाँ मूल्यांकनका जो तराज़ू था, उसको उन्होंने बदला। भंगी म्यूनिसिपल कमेटीका सबसे बुनियादी काम करनेवाला है। उसकी तनख्वाह बढ़ानेकी बात होती है तो लोग कहते हैं कि रुपया नहीं है। इनकी तनख्वाह बढ़ाई जाय, तो स्कूल बंद करने पड़ेंगे। लेकिन हम जड़को नहीं, पत्तोंको सींचते हैं। सोचिये कि जहाँपर सफाई नहीं होगी, वहाँ स्वास्थ्य कैसे ठीक रह सकता है और जहाँ स्वास्थ्य ठीक नहीं, वहाँ स्कूल क्या चलेंगे ?

सफेदपोशोंसे संघर्ष

इस दुनियामें हमेशा सफेदपोश और मेहनकशका संघर्ष रहा है। सफेदपोश सदा तिकड़मबाजीसे काम लेते हैं। अगर मेहनतकश वही तिकड़मबाजी करने लगे, तो सफेदपोश ख़त्म हो जायेंगे। परन्तु मेहनतकशका समाजमें कोई स्थान नहीं है। उसको भरपेट खाना भी नहीं मिलता। लेकिन यदि वही मेहनतकश काम करना बंद कर दें तो बड़े-बड़े कारखानोंके धुँएँ बंद हो जायेंगे। और समाज-सेवाके जितने उपक्रम हैं, सब पर ताले लग जायेंगे। आज हम कहते हैं कि लोगोंका जीवन-स्तर ऊँचा नहीं। लेकिन जीवनको ऊँचा उठानेवालेकी तरफ किसी का खयाल नहीं है। इसलिए मैं कह रहा था कि स्टैण्डर्डको बदलनेकी आवश्यकता होती है। और वह तभी बदला जा सकता है, जब कि विचारोंमें क्रांति आती है। जब तक हमारे विचारोंमें क्रांति नहीं आती है, तब तक हम कुछ नहीं कर सकते। जब तक हमारे दिमाग़में पुरानी चीज भरी है तब तक नये समाजकी रचना कैसे हो सकती है ? हमारे विचारोंमें क्रांति नहीं है, इसलिए हम मरहम-पट्टी वाला काम करते हैं। गांधीजी और दूसरे लोगोंमें यही मौलिक अन्तर था। गांधीजीका कहना था कि यदि जख्मको आराम कर सकते हैं,

तो आराम करें और यदि आराम नहीं हो सकता तो काटकर फेंक दें। लेकिन हम तो उसपर रेशमी पट्टी बाँधकर दूसरोंको धोखा देते हैं। हमारी नीति कहती है कि सत्य बोलो कटुसत्य न बोलो। लेकिन अगर सत्य है, तो कहना ही चाहिए। वर्ण-व्यवस्थाका सीधा सम्बन्ध हिन्दू धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंसे है और वह सिद्धान्त कर्म और पुनर्जन्मका है। मैंने अधर्म या पाप किया तो हरिजनके घरमें पैदा हुआ और आपने पुण्य किया, तो ब्राह्मणके घरमें। लेकिन बातें तो इससे उल्टी मिलती हैं। एक भंगी वेद जानता है और ब्राह्मण यह भी नहीं जानता है कि वेद चार हैं या चौबीस।

पुनर्जन्मका सिद्धान्त

मुझे ऐसा मालूम होता है कि जिन लोगोंको दबाया गया, उनके अन्दर विद्रोहकी भवना न जगे इसलिए कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका निर्माण किया गया था। हमें छुआछूत मिटानी है, वर्ण और जाति-व्यवस्था मिटानी है। एक बार जो परम्परा हमारे दिमागमें बैठ जाती है, उससे उल्टी बात हम सुननेको तैयार नहीं।

हमको अपने देशमें नवीन समाजकी रचना करनी है जिसकी बुनियाद समानताके ऊपर होगी। जब तक जाति-प्रथा रहेगी तब तक समाजवाद आ नहीं सकता। दोनों एक साथ चलनेवाली चीज़ नहीं हैं। दर्शनके जगतमें चल सकती हैं, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के नारेमें चल सकती हैं। सोशलिस्ट पैटर्नके माने क्या हैं? समाजवाद का अर्थ कि सब लोग बराबर हो जायें, गलत है। समाजवादके असली माने होते हैं कि हम सबको समान अवसर दें; अपना विकास करनेमें कोई कुंठित न रहे।

समाज-सुधार और कानून

आज लोग कहते हैं कि धार्मिक और सामाजिक मामलोंमें कानून नहीं होना चाहिए। मैं पूछता हूँ कि क्या कभी क़ानून या राजदण्ड के बिना व्यवस्था कायम रही? बराबर राजदण्डका भय रहा है। पहले तो भिन्न जातिकी सन्तानको दौलत आदिसे वंचित कर दिया जाता था लेकिन अब उनको अधिकार दे दिया गया है। एक ही जातिके स्त्री और पुरुष के विवाहकी परिपाटी यदि न रहे तो जाति-प्रथा बहुत जल्द खत्म हो जायगी। आज तो इस चीज़की आवश्यकता है और तभी हम उस बुनियादी कामको कर सकेंगे। जितना इस देशको जाति-व्यवस्थासे नुकसान है, उतना न तो मुसलमानोंके आक्रमणसे और न ईसाइयोंके आक्रमणसे हुआ है। प्राचीन परम्पराको तोड़ना होता है, तो कष्ट होता ही है।

अगर हम चाहते हैं कि हर इन्सानको अपनी योग्यताके विकासका अवसर प्राप्त हो सके तो इस बातको बदलना है और इस बातको बदलेंगे तो बहुत चीज़ें बदल जायेंगी। समाजका कोई क्षेत्र ले लें सबको समान अवसर प्राप्त नहीं हैं। मानलीजिए कि दो आदमी बेरोजगार हैं। एक सवर्ण है और दूसरा हरिजन। दोनोंके पास दो रुपए हैं। नौकरी किसीको भी नहीं मिली। सवर्णने तेल-बेसन आदि खरीदकर शहरमें सड़कके किनारे पकौड़ी-चाट बनाना शुरू कर दिया और दो रुपए से ८ आने कमा लिये लेकिन हरिजन ऐसा करें, तो उसपर डंडे पड़ जायेंगे। तो समाजकी व्यवस्था उसके रास्तेमें रुकावट होती है। ऐसे कितने ही उदाहरण मैं दे सकता हूँ। आर्थिक क्षेत्र में आप ले लीजिये। अमीर बापका बेटा फेल होकर भी पढ़ता है और ग़रीब बापका

बेटा पास करके भी टैक्सटाइल मिलका क्लर्क बनता है। अगर हम चाहते हैं कि समाजवादी व्यवस्था समाजमें कायम हो और समाजके लोगोंको समान अवसर मिल सकें, तो समान अवसरके रास्तेमें जो जो चीज़ें रुकावट पैदा करती हैं, उनको दूर करनेकी आवश्यकता होती है। रूसमें महान क्रांति हुई, चीनमें महान् क्रांति हुई। उनके यहाँ केवल आर्थि क्रांति थी। हमारे यहाँ केवल आर्थिक क्रांतिसे काम नहीं चलेगा। हमारे यहाँ सबसे बड़ी सामाजिक क्रांति गांधीजीने की। इसको और तेजीसे चलानेकी जरूरत है।

आजकी व्यवस्था सड़ गई है। इसको बदलना है। चाहे धार्मिक क्षेत्र हो, चाहे सामाजिक हो, इनमें हमने अबतक जो क्रांतिकारी क़दम उठाया है, उसका मक्सद यही है कि हम सभी लोगोंको समान अवसर दे सकें। समाजमें परिवर्तनका जो भी कार्य होगा, वह सिर्फ सरकारके ऊपर छोड़ देनेसे ही नहीं होगा। सरकारी और गैर-सरकारी दोनोंके सहयोगसे ही हो सकता है।

मैं यह चहता हूँ कि जो शोषित वर्ग है, वह ऐसी क्रांति लाये जिसमें सारे राष्ट्रका भला हो। चाहे वह ग़रीब ब्राह्मण है या भंगी, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। दोनोंका उत्थान करना है। जो जमानेसे शोषित रहा है, वह कष्टोंको जानता है। जिसपर अन्याय हुआ है वह किसीका शोषण नहीं करना चाहेगा। हम ऊपर उठना चाहते हैं किसीको गिरानेके लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि हम उठें, तो सब उठ जायें।

समाज-निर्माण और सर्वोदय

जिसे समाज कहते हैं, वह वस्तु हमारे देशमें शायद आज तक बन नहीं पाई है। हमारे यहाँ परिवार है—एकसे एक बड़ा और समरस परिवार है। मगर 'समाज' के दर्शन नहीं मिलते। यों व्यक्तियोंके झुण्ड या परिवारोंके समूह तो मिलते हैं लेकिन उन्हें 'समाज' मानना न्यायसंगत नहीं है।

मान लीजिए धानका एक ढेर कहीं रखा है। उसमें से मुट्ठीभर दाने कोई निकालता है। हाथ लगते ही ढेरमें गढ़ा पड़ जाता है। वह गढ़ा भरता नहीं, गढ़ा ही रह जाता है। कुछ महात्मा-वृत्तिके दाने गढ़ेमें ढुलक पड़ते हैं—लेकिन दूसरे दाने अपनी जगह से टससे मस नहीं होते। इस वजहसे गढ़ा साबित बना रहता है। इसके खिलाफ़ किसी बरतनमें पानी लीजिये। उस पानीमें से कटोरा-भर या चुल्लू-भर पानी निकाल लीजिये। पानी निकाल लेनेके बाद भी बरतन के पानीमें कोई गढ़ा नहीं पड़ता। जैसे ही पानी निकाला, आसपासकी बूंदें गढ़ेको तुरन्त भर देती हैं। बरतनके पानीकी सतह भले नीची हो जाए, मगर पानीके कणोंको असलमें गढ़ा रखना बर्दाश्त नहीं है। धानके दानोंकी वृत्ति झुण्डके जैसी है, पानीके कणोंकी समाज-जैसी। भारतकी हालत देखते हुए ऐसा लगता है कि हम अपनेको समाज भले कहलें, लेकिन दानोंकी जैसी व्यक्तिगत और दयनीय स्थितिमें हम हैं, पानीके कणोंकी जैसी समाजनिष्ठ और गौरवपूर्णमें नहीं।

यह सब देखते हुए ऐसा लगता है कि भारत-भूमिमें 'समाज सुधार' का काम तो बादको होगा, पहली ज़रूरत 'समाज-निर्माण' की है। जिस देशमें लाखों-करोड़ों आदमी अछूत समझे गये, दूसरे लोगोंको जिनकी हवा भी बर्दाश्त न हो—उस देशके बारेमें क्या कहा जाय? तमिलनादके तन्जौर जिलेमें ऐसे ब्राह्मण आज भी मिलते हैं, जिन्हें हरिजन की शक्ल दिखना अपशकुन है। यही नहीं जिनकी दृष्टिमें अब्राह्मण अछूत है! अछूतोंमें भी आपसमें छुआछूत चलती है। यानी अगर सवर्ण अछूतोंसे बचते हैं तो अछूत भी अछूतोंसे बचते हैं। इस तरह हमने जात-पाँत छुआछूत आदिके अनेक छोटेसे छोटे घरोंदे बना लिये हैं और उन्हींमें पड़े सड़ते रहते हैं। जिस तरह तालाबका पानी न बहनेके कारण गन्धाता है, उसी तरह हमारी प्रेम-भावना परिवारके बाहर नहीं बहने के कारण अन्दर ही अन्दर गन्ध देने लग जाती है। यही हमारी असामाजिक प्रकृतिके लिये जिम्मेदार है।

हमारे देशके साधुओंने इस दोषको पहचान लिया। उन्होंने इसके खिलाफ़ आवाज़ उठाई। कबीरने यहाँ तक कहा—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढ़ाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥

कबीरके अलावा दादू, नानक आदि अनेक संतोंने हमारी इस असामाजिकतापर प्रहार किया। लेकिन हमने एक अनोखी चाल चली। वह यह कि जन-समूहको दो भागोंमें बाँट लिया। एकमें साधु-संन्यासी, दूसरेमें गृहस्थ। हमने यह बँटवारा किया कि साधुकी मालकियत रहेगी नैतिक शक्तियोंपर —जैसे सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि। और गृहस्थकी मालकियत रहेगी नैतिक शक्तियोंपर—जैसे धन, धरती, सम्पत्ति, उद्योग-धन्धे आदि। हमने यह भी मान लिया कि साधुको श्रम या सेवा करनेकी ज़रूरत नहीं है। गृहस्थ उसका पालन-पोषण कर देगा। और गृहस्थको सत्य, अहिंसा, प्रेम, संयमकी पाबन्दी रखनेकी जरूरत नहीं है। यही नहीं बल्कि यह भी मान लिया गया कि गृहस्थको असत्य, हिंसा, बैर, असंयमसे कोई परहेज़ करनेकी ज़रूरत नहीं है। इसका परिणाम यह था कि संतोंके बंधनोंको 'आदर्श' या 'वास्तविकतासे परे' की चीज़ कहकर गृहस्थ हँसते हुए उड़ा देता था। चीज़को अच्छी तो ज़रूर बतलाया, मगर उसपर "अव्यावहारिक" की मुहर लगा दी। इसका नतीज़ा यह हुआ कि —मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।

उन्नीसवीं सदीके अंत तक देशकी यह दुर्दशा चलती रहीं। उन्नीसवीं सदी के हमारे महापुरुषोंने—राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती और श्री रामकृष्ण परमहंसने जात-पाँत और छुआछूतके धरौंदोंको शैतानी और हैवानी कहकर उनको ग़लत बताया। इसके कारण कुछ लोगोंकी, विशेषकर शिक्षितोंकी मनस्थितिमें फर्क पड़ना शुरू हुआ। लेकिन असली दुनियामें हालत वैसी ही बनी रही।

उन्नीसवीं बीसवीं सदीके शुरूमें स्वामी विवेकानन्दने ज़ोर की ललकार दी ऐसे धर्मको —जो भेद-भाव बढ़ावे, निष्क्रियता पैदा करे, आलस्यको प्रोत्साहन दे—निषिद्ध बताया। उन्होंने "दरिद्र नारायण" शब्दका आविष्कार और उसकी सक्रिय सेवा करनेके लिये अपने देश-वासियोंका आवाहन किया। इससे शिक्षितोंके बीच पूरी खलबली मच गई और उनका मानस तैयार हो गया।

इस गरम लोहेपर एकसे एक करारी चोटें महात्मागांधीने लगाईं। जानकी बाज़ी लगाकर अछूतोंके अधिकारके लिये और सवर्णों के अन्यायके खिलाफ वह खड़े हो गए। जात-पाँत और छुआछूतकी बुनियादें हिल गईं और सदियों पुराने क़िलेकी दीवारें ढहने लग गईं। तिसपर भी साम्प्रदायिक भावना अन्दर घर बना चुकी थी और अंग्रेज़ी सरकार ने उसे और ज़हरीला व गहरा कर दिया था। देश आज़ाद हुआ—लेकिन उसके दो टुकड़े हो गए।

× × × ×

अब सवाल यह है कि आज़ादीके बाद असामाजिकताको कैसे मिटाया जाये, 'असमाज' का 'समाज' में रूपान्तर कैसे हो ?

लोकतंत्रमें शासनका यह कर्त्तव्य होता है कि जनताको दुःख देनेवाले, उसके अन्दर असमानता और विषमताका बीज बोने वाले साधनोंका पता लगाकर उन्हें नष्ट करे ताकि लोग सुखी जीवन बिता सकें। यही वजह है कि क्या हमारी पार्लियामेंटमें क्या प्रान्तीय विधान-सभाओंमें, आये दिन सुधार-संबंधी क़ानून बनते हैं। वैलफेयर स्टेट या कल्याणकारी राज्य अपना यह धर्म समझता है कि जनताकी सारी प्रवृत्तियोंका भार वह खुद उठाकर जनताका संकट निवारण करे।

लेकिन कष्ट-निवारण एक बात है, समाज-निर्माण दूसरी। लोगोंका ऊपर-ऊपरसे दुःख मिटाना एक चीज़ है, दुःखकी जड़को ही उखाड़ फेंकना दूसरी। पिछले सौ सालमें देशमें जो बीता सो किसीसे छिपा नहीं है। जिस जाति-भेदपर राजा राम-मोहन रायसे लेकर महात्मागांधी तकने प्रहार किये, लोकतंत्रकी चुनाव-प्रणाली ने इस जातिवादको फिरसे जिला दिया। कौन नहीं जानता कि आज चुनावमें जात-पांतका ज़ोर और शराबकी बोतलें तक चलती हैं? सत्ताको अपने हाथमें रखनेके फेरमें सत्तारूढ़ पार्टीका कोई सिद्धान्त ही नहीं रहता—सिर्फ़ यह कि सत्ता उसकी चेरी रहे। इस वास्ते जा या बेजा, जात-पांत या छुआछूत आदि का कोई परहेज़ उसे नहीं रहता। और जब सत्ताधारी यह करते हैं, तो सत्ताकांक्षी, विरोधी पक्षोंके सामने तो कोई पैमाना रह ही नहीं जाय। सब एक ही देवताके—सत्ताके उपासक ठहरे। उसकी धारणा में प्रेम, सद्भावना, अभेद आदि सारे गुणोंकी बलि दी जा सकती है। और दी जा रही है। सत्ता स्वामिनी बनी है—सब उसके दास-दासियाँ हैं!!

इसलिए यह घड़ी बड़ी नाजुक बन गई है।

कौन जाने कि आजके कायदे-क़ानून, आजकी सुधार योंजनायें असामाजिक भारत को और भी ज्यादा अति-असामाजिक बना दें। देखनेमें तो ऊपरसे चोखा रंग दीखे, लेकिन अन्दर ही अन्दर मैला पड़ता सड़ता और फूलता जाये।

हमारे इस डरका एक विशेष कारण है। वह है भी स्पष्ट। यह कि नये-नये क़ायदे-क़ानून या सुधारक- प्रोग्रामोंके कर्त्ता-धर्त्ता कौन हैं? वही हैं जिनके हाथमें सत्ता है, जिनके पास सम्पत्ति है, जिनका उत्पादनके साधनोंपर कमोवेश स्वामित्व है। इनमेंसे ज्यादातर लोग यह मानते हैं कि संघर्ष और प्रतियोगिताही जीवनके आधार हैं। वे यह भी मानते हैं कि कुछ लोगोंका ज्यादासे ज्यादा भला हो सकता है, मगर सबका भला करना नामुमकिन है। दूसरे शब्दोंमें—आजके अधिकांश सार्वजनिक कार्यकर्त्ता 'अल्पोदय वादी हैं। उनकी सर्वोदयमें—सबके हितमें—श्रद्धा नहीं है। उनका विश्वास है कि सब अंगोंको तो संतुष्ट नहीं किया जा सकता, कुछको किया जा सकेगा और कुछकी खातिर बाकी थोड़े-सोंकी अवहेलना करनी ही पड़ेगी। आज सारी दुनियामें अल्पोदय-वादियों का ही राज है—चाहे उनका रूप अमरीकाके जैसा पूंजीवादी हो, इंगलैण्डके जैसा लोकतंत्रवादी हो या रूसके जैसा साम्यवादी हो। सबका गुरुमंत्र है, 'अल्पोदय'।

अनेक कारणोंसे—खासकर साम्राज्यवादी, गोचर या अगोचर, सुविधाओंका इस अल्पोदयके आधारपर चलकर भी कुछ ज्यादा बिगाड़ नहीं हुआ। वहांकी साधारण जनता दुःखी है, वहां विषमता है, वहां शोषण चलता है। मगर साम्राज्यकी लूटकी

बदौलत वह दुखड़ा ज्यादा उग्र रूप नहीं ले सका। लेकिन आज हमारे देशको वह सहूलियत हासिल नहीं है—भगवान न करे कभी हो।

फिर अल्पोदयके अनुसार, आठ-नौ बरसमें जो 'विकास' हुआ है, उससे विषमता और असमानता बढ़ी ही है। यही नहीं आपसमें दिल फटे हैं, दरारें चौड़ी हो गई हैं। बम्बई, कटक और अहमदाबादकी घटनायें रह-रहकर यह सन्देश दे रही हैं। ऐसी हालतमें कुछ दु:खका सुधार भले हो जाये, समाज-निर्माण कैसे हो सकता है? भंगी को वेतन ज़रूर ज्यादा मिलने लगेगा, लेकिन भंगीकी जाति नहीं मिट सकती। लोक-जीवनके विभिन्न अंगोंको जीवन-सामग्री आजसे अच्छी मिल सकती है, लेकिन 'समाज' रूपी फूल नहीं खिल सकेगा।

हमारा विनम्र निवेदन है कि वर्त्तमान भयानक परिस्थितिका सफलतापूर्वक सामना करनेका एक ही उपाय है। यह कि "अल्पोदय" की बजाय "सर्वोदय" को अपनी आधार-शिला बनायें। स्वराज्यप्राप्तिके पहले ही महात्मागांधीने "सर्वोदय" का मंत्र हमें दे दिया था। और उस दिशामें आर्थिक, सामाजिक व नैतिक दृष्टिसे कुछ रूपरेखा भी खींची थी। लेकिन विदेशी सत्ताकी मौजूदगीमें हम वह आगेका कदम रखनेसे मजबूर थे। उसकी विदाईके बाद जब नये क़दम उठानेका समय आ रहा था कि हमारे बीच से वह चले गये। मगर करना क्या है—वह क्या चाहते थे—इसका चित्र तो वे बता ही चुके थे। वास्तवमें उनका जीवन ही उसका सर्वोत्तम दृष्टान्त था।

तेजीके साथ देशका मानस बदल रहा है। असामाजिकतासे तंग आकर भारत अब नई करवट ले रहा है। अल्पोदयके नाटकके भयानक परिणाम विदेशमें और स्वदेशमें भी देखकर, भारतकी जनता अब सर्वोदयकी तरफ क़दम रख रही है। हमें आशा और विश्वास है कि "वसुधैव कुटुम्बकम्" के मंत्रका प्रथम उच्चार करनेवाला भारत एक परिपूर्ण कुटुम्बके रूपमें निखर उठेगा। और फिर उस प्राचीन मंत्रको साकार रूप देनेमें भी समर्थ होगा। यही सच्चे सुधार और समाज-निर्माणका सुनिश्चित मार्ग है।

—::००::—

सामाजिकताके नये मल्य

सामाजिकताके नये मूल्योंपर विचार करते समय हम दो मार्गोंका अनुसरण कर सकते हैं। एक तो हम अपने देशके नवीन संविधानके निर्देश-सिद्धांतों, मौलिक अधिकारों और अन्य संरक्षण-अधिकारोंको स्वीकार करलें, साथ ही संसदने देशमें समाजवादकी स्थापनाका जो लक्ष्य घोषित किया है, उसको भी अपना आधार मानलें और वर्तमान समाजपर पड़नेवाले विभिन्न प्रकारकी प्रतिछायाओंका मूल्यांकन करनेके चक्कर में ही न पड़ें और दूसरा रास्ता यह है कि हम वर्तमान समाजकी विवेचना करें। समाज की धार्मिक निष्ठा, राजनीतिक चेतना, आर्थिक श्रृङ्खलाएँ और भविष्यकी आशाओं और आकांक्षाओंको मूर्त करनेवाले विचारोंकी विवेचना करें, वर्तमान मनुष्य और उसकी सामाजिकताकी परीक्षा करें और मनुष्यके सम्यक् चरित्रके निर्धारणके लिए आवश्यक नियमोंकी खोज करें। एक लेखकी सीमामें दोनों प्रकारकी विवेचना के साथ पूर्ण न्याय किया जा सकेगा, इसमें संदेह है। हम विशद् विवेचना तो नहीं कर सकेंगे, लेकिन नैतिक आचरणके नियमोंको ढूढ़नेके लिए इस प्रकारकी विवेचनाकी अवहेलना भी नहीं की जा सकती।

सबसे पहले हम संविधानके निर्देश-सिद्धान्तोंपर विचार करेंगे। संविधानकी १५ धाराओंमें (३६ से ५१) तक इनका उल्लेख है। इनमें कहा गया है कि राज्यको नागरिकोंके कल्याणके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये, सभी नागरिकों की जीविकाका प्रबन्ध किया जाना चाहिये, जच्चा-बच्चाकी समुचित व्यवस्था और सुविधाका प्रबन्ध करना चाहिये, राज्यको सभी नागरिकोंके लिए एक प्रकारका क़ानून बनाना चाहिए, १४ वर्षकी आयु तक सभी बच्चोंको निःशुल्क शिक्षाकी व्यवस्था, मद्य-निषेधका प्रबन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय जगतमें शान्ति और सुरक्षाका समर्थन करना राज्यका कर्त्तव्य होगा। स्मरण रहे कि निर्देश-सिद्धांत मौलिक अधिकारोंसे भिन्न हैं और इनको लागू करानेकी माँग नहीं की जा सकती। राज्यको इनकी ओर अग्रसर होनेका अधिकार रहेगा।

भारतीय संविधानमें मौलिक अधिकारोंकी जो घोषणा की गयी है, उसमें समानता, स्वतंत्रता, शोषणसे मुक्ति, धार्मिक स्वतंत्रता, सम्पत्तिका अधिकार; संस्कृति और शिक्षा के अधिकारका और इन अधिकारोंकी रक्षाकी विधिका उल्लेख हैं। संविधानकी धारा १७ के अन्तर्गत अस्पृश्यता समाप्त की गयी है। धारा १९ के अंतर्गत भाषण और

अभिव्यक्तिकी स्वतंत्रता, सभा और संघ बनानेकी स्वतंत्रता, आवागमनकी स्वतंत्रता, सम्पत्ति अर्जन और विसर्जनका अधिकार, पेशे और व्यापारकी स्वतंत्रताका उल्लेख है। राज्यकी ओरसे जिन नौकरियोंकी भर्त्ती की जायेगी उनमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं किया जायेगा। बिना किसी क़ानूनी अपराधके कोई व्यक्ति गिरफ्तार नहीं किया जायेगा और किसी व्यक्तिका जीवन या उसकी सम्पत्तिका बिना क़ानून अपहरण नहीं किया जायेगा।

संविधानके इन अंशोंको पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतके प्रत्येक नागरिक को सामाजिकता, आर्थिक और राजनीतिक न्यायका अधिकार है। उसे अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा और उपासनाकी स्वतंत्रता है। सभी नागरिक समान हैं, और व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी सुरक्षित है। संसदने देशमें समाजवादी समाजकी स्थापनाका लक्ष्य घोषित किया है और पंचवर्षीय योजनाओंके माध्यमसे उसे स्थापित करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। इस पृष्ठभूमिपर हमें देखना चाहिये कि समाजवादी समाजमें सामाजिकता के क्या मूल्य होने चाहिये। इस प्रश्नका उत्तर देनेके पूर्व हमें दूसरी पद्धतिकी भी विवेचना कर लेनी चाहिये।

यह कहना तो निर्विवाद है कि मानव-समाज चिर-परिवर्तनशील है। मानव-समाजका अविच्छिन्न इतिहास विभिन्न युगोंमें बँटा हुआ है। प्रत्येक युगकी कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं और ये विशेषतायें उस युगके सामाजिक संगठन और आचार-विचार को भी प्रभावित करती हैं। इन आचार-विचारोंको ही युग-धर्म कहा जाता है। युग धर्ममें दार्शनिक सिद्धान्तकी आधारशिलापर निर्मित प्रासाद है, जिसमें आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तथा धार्मिक चार खंड हैं। इनमेंसे कौन प्रथम और कौन द्वितीय है, इस सम्बन्धमें मतभेद चाहे भले हो लेकिन इनके अस्तित्व एवं महत्वसे इंकार नहीं किया जा सकता।

वर्तमान युग-धर्मका स्वरूप स्थिर करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम वर्तमान समाजका विश्लेषण करें। आज धर्म और दर्शनकी भावनामें वैसा ही संकट है, जैसा हमें सामाजिकताके क्षेत्रमें दिखायी देता है। भारतीय धर्म और दर्शन की विविधता होते हुए भी उसका पुराना स्वरूप नष्ट हो गया है। प्रारम्भमें दर्शन समग्र ज्ञानके आधार पर निश्चित ऐसा सिद्धांत माना जाता था जिससे संसारकी समस्त समस्याएँ सुलझायी जा सकती थीं। धर्म उन्हें विश्वास मानकर आचरणके नियम स्थिर कर देता था। गीताके लिए तो स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि उसमें सभी दर्शनोंका सार है। ज्ञान अनन्त है और नवीन वैज्ञानिक अनुसंधान, अनेक दार्शनिक मान्यताएँ शिथिल पड़ती जा रही हैं। भारतमें दर्शनके विकासका बहुत कम काम हुआ है। फिर धार्मिक क्षेत्रमें तो और भी कलह है। अनेक धर्म और उनकी विभिन्न अवस्थाओंके बीचमें भी कुछ ऐसे नियम चले आते हैं, जिन्हें सभी धर्मोंमें आदर प्रदान किया गया है। इनमें दया, क्षमा, दान, धृति, अस्तेय, अपरिग्रह, अपरिहार्य, और सत्य शामिल हैं। गाँधीजी ने अहिंसाको इसमें और जोड़ दिया है। विभिन्न धर्मोंकी विविधता तथा विरोधको छोड़कर सामाजिकताके नियमोंके लिए इन्हें आधार बनाया जा सकता है।

राजनीतिक चेतनाके संबंधमें इतना कहा जा सकता है कि भारतने लम्बे संघर्षके बाद स्वतंत्रता प्राप्त की है। संघर्षके दिनोंमें प्रजातांत्रिक चेतना और समाजवादी सिद्धान्त से हम प्रभावित हुए थे। राजनीतिक क्षेत्रमें व्यक्तियोंकी समानताका सिद्धान्त तो प्रजातंत्रमें ही स्वीकार कर लिया गया है। समाजवादमें तो आर्थिक क्षेत्रमें भी इसको माननेपर जोर दिया जाता है। विभिन्न राजनीतिक मतवादोंको लें, तो उन सबमें मानवको केन्द्रमें रखे बिना काम नहीं चलता। अधिनायकशाहीमें अतिमानवकी ओर से यह घोषणा की जाती है कि वह मानव समाजके कल्याणके लिए शासन करता है। यह घोषणा भी राजाके शासनके ईश्वरीय अधिकारसे भिन्न नहीं है। प्रजातांत्रिक सिद्धांतों का आधार बहुजन हिताय बहुजन सुखाय माना गया था लेकिन हमारे राष्ट्रपिता गांधीने तो इसे और अधिक विस्तृत करके सर्वजन हिताय बना दिया है और इसी आधारपर उन्होंने अपना सर्वोदय सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वे कार्लमार्क्सकी वर्गकी लघु सीमासे आगे बढ़ गये हैं। स्वर्गीय श्री मानवेन्द्रनाथ रायने भी समस्त मानवसमाजके विकास का सिद्धान्त अपनाया। उन्होंने मानव-समाजके नैतिक आचरणके नियमोंके लिए धार्मिक विश्वासको अपना आधार नहीं बनाया। उनका कहना है कि मनुष्यमें सद्बुद्धि और सद्विवेक है। इसी आधापपर वह अपना सम्यक् चरित्र बना सकता है। सम्यक चरित्र का आधार धर्म या राजसत्ता हो ऐसा आवश्यक नहीं है क्योंकि इन दोनों का मूल भय है और भय मानवताके लिए लांछन है। मानवताको विकसित करने के लिए मानवकी स्वतंत्रताकी आवश्यकता है और सम्पूर्ण मानव इतिहास इसी स्वतंत्रता का संघर्ष है। वर्ग-रहित समाजकी स्थापनाके लिए भी वर्ग संघर्ष और उसके लिए वर्ग संगटनकी नहीं अपितु मानव चेतनाको उद्बुद्ध करनेकी आवश्यकता है। विवेक ही इसका एकमात्र मार्ग है। अतः मनुष्यमें सम्यक् ज्ञान, विवेक और आचरणके द्वारा ही स्वतंत्र मानवसमाजकी स्थापना हो सकती है जिसमें समाजकी वर्तमान विकृतियाँ नष्ट हो जायँ। आर्थिक शोषणका विष तो नष्ट ही करना पड़ेगा क्योंकि इससे दोहरी हानि होती है। यह मनुष्यको हीनतम दशामें ले जाती है। जिसका शोषण होता है और जो शोषण करता है वे दोनों ही मानवके सहज रूप स्वभावसे वंचित हो जाते हैं। लोभ और स्वार्थ एक को अंधा बना देता है और दूसरेके हाथ पाँव जकड़ देता है। फिर भी यदि मानव-समाजके विकासकी विभिन्नता स्थितियोंकी परिसीमाओंको भी स्वीकार कर लिया जाय, तो भी उन्हें शाश्वत नहीं माना जा सकता। अतः मनुष्यको अपनी युक्तिके लिए लोभ, स्वार्थ, मोह, वासना, घृणा और क्रोधको दया, क्षमा, दान, करुणा, अपरिग्रह, अस्तेयसे जीतना पड़ेगा।

ऊपरकी विवेचनाके विरोधमें कुछ क्षेत्रोंसे यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समाज का मनुष्य अंग्रेज विचारक हाब्सके उस कथनसे भिन्न नहीं है, जिसे उसने मनुष्यकी प्राकृतिक स्थिति बतलायी है। व्यक्ति-स्वार्थ, वर्ग-स्वार्थ, जाति-स्वार्थ, धर्म-स्वार्थकी जड़ताने जीवनके सभी अंगोंको विकृत कर रखा है। सामाजिक जीवनमें ईमानदारी दिखलायी नहीं देती। अरक्षा और प्रतिस्पर्धाकी भावनामें ईमानदारी दिखलायी नहीं देती। अरक्षा और प्रतिस्पर्धाकी भावनाके कारण सामाजिकताके मूल्य-नीति अनीति का विचार नष्ट सा हो गया है। सत्यका पालन तो दूर, लोग उसका अर्थ ही भूल गये

हैं और कुछ क्षेत्रोंमें तो स्वार्थका ही दूसरा नाम सत्य कर दिया गया है। इस प्रकारके मनुष्यको क्या सुधारा जा सकता है? उसको यदि राज-दंड और नरक-दंडका भय न रहे, तो क्या वह सुधर सकता है? इन दोनों प्रश्नों केउत्तरमें इतनाही निवेदन है कि राजदंड और नरकदंड इन दोनोंमें कोई पारलौकिक शक्ति नहीं है। अधिकतमसे अधिकतम सामाजिक चेतनाका नियंत्रण इन्हें कहा जा सकता है और यह सामाजिक चेतना भी वर्ग-स्वार्थ और निहित-स्वार्थोंकी रक्षा करने लगती है अतः नवीन संघर्षोंमें इनकी सत्ताका मूलोच्छेद हो गया है। वर्तमान समाजकी विशृंखलता तो इतनी बढ़ गयी है कि मनुष्य अपने स्वाभाविक गुणोंसे वंचित हो गया है। विकृत मनुष्यको सामान्य मनुष्य मानना ही अनुचित है। अतः यह कहा जा सकता हं कि यदि मानव-समाजको अमानवीय तत्वोंसे मुक्त कर दिया जाय, तो उसमें फिरसे सम्यक चरित्र उत्पन्न हो सकता है।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि भारतमें अधिकारकी अपेक्षा धर्म या कर्त्तव्य पर अधिक ज़ोर दिया गया है। इस बातकी परीक्षा करें, तो हमें मालूम होगा कि कृषि समाज और सामन्त-समाजमें इस प्रकारकी मान्यतायें समाजपर लाद दीं जाती हैं। वैसे कर्त्तव्य और अधिकार एक ही प्रक्रियाके दो नाम हैं। नैतिक व्यवहारके नियमोंके सम्बन्धमें कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्तिको दूसरेके साथ सत्‌व्यवहार करना चाहिये। यह कर्तव्य समझा जाता है लेकिन क़ानूनकी दृष्टिमें इसे थोड़े अन्तरके साथ स्वीकार कर लिया गया है कि दूसरेके साथ दुर्व्यवहार करना दंडनीय है। यहाँ दूसरेका अर्थ केवल उस व्यक्तिसे है, जो एकके दुर्व्यवहारसे कुछ क्षति या हानि उठाता है। इस उदाहरणसे नैतिक नियम क़ानूनका स्वरूप कैसे ग्रहण कर लेते हैं यह साफ हो जाता है।

समाजकी इस समयकी सबसे महत्वपूर्ण मान्यता है समानता। इस मान्यताके पीछे इस अधिकारके लम्बे संघर्षकी कहानी है। इस्लाम, ईसाई धर्मोंमें मनुष्यको समान माना गया है। वेदान्तमें सभी व्यक्तियोंमें समान आत्मा मानी गयी है फिर भी तत्कालीन समाजमें वेदान्तके प्रतिपादकों ने श्रेष्ठ और हीन जातियोंका समर्थन किया। बौद्ध धर्म और सन्त परंपरामें व्यक्तिको समान माननेका प्रयास किया गया। प्रजातंत्रतो इसी आधारको लेकर चलता है। इसके पूर्व धार्मिक पुनर्जागरणके कालमें महर्षि दयानन्द सरस्वतीने अछूतोद्धारकी आवाज़ उठायी जिसे बादमें गांधीजीने आगे बढ़ाया। व्यक्ति की समानताके सिद्धान्तके आधारपर वर्ग, जाति, वर्ण, धर्म और लिंगकी असमानताका तिरस्कार किया जाने लगा है। पुरुष और स्त्रियोंके अधिकार समान होने चाहिये। समान कार्यके लिये समान पारिश्रमिक मिलना चाहिये। क़ानूनके समक्ष सभीको समान संरक्षण मिलना चाहिए। इस दृष्टिसे देखा जाय, तो कहना पड़ेगा कि दो-तीन वर्ष पूर्व इलाहाबादके कुम्भ मेलेमें विशेष व्यक्तियोंकी ओर पुलिसने विशेष ध्यान देकर और सामान्य व्यक्तियोंकी उपेक्षा करके जिसके फलस्वरूप बहुतसे व्यक्ति मर गये जघन्य अपराध किया था।

नये नैतिक मूल्योंमें दो-तीन बातें स्पष्ट रूपसे सामने आ रही हैं। पहली तो यह कि सम्पत्तिके उत्तराधिकारमें पुत्रके समान पुत्रीका भी अधिकार माना जाने लगा है। पुरुष और स्त्रीके विवाह सम्बधमें अभी दोनोंका स्तर समान तो नहीं हो गया है फिर भी

समानताकी दिशामें ही प्रयास हो रहा है। अब पुरुष एकसे अधिक स्त्रियोंके सहवास का सुख लूटे इसे अनैतिक माना जाने लगा है और जहाँ एकको छोड़कर दूसरे साथीको ढूंढ़नेकी बात है, वह अधिकार पुरुषके समान स्त्रीको भी मिल गया है। अशिक्षा और आर्थिक दृष्टिसे पराश्रित होनेके कारण आज स्त्री चाहे अपने अधिकारका उपयोग न कर सके लेकिन भावी समाजमें उसे इन अधिकारोंसे वंचित नहीं रखा जा सकेगा। भविष्य में स्त्री और पुरुष समानताके आधारपर एक-दूसरेके साथ सहयोग करेंगे यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है।

इन बातोंके अतिरिक्त आचार, व्यवहार, आहार और बिहारके नियमोंमें नवीन स्थितिमें परिवर्तन हो रहे हैं। व्यक्तिके निजी स्वार्थ और समाजके सम्बन्धोंमें जो नया संतुलन स्थापित करनेकी दिशामें हम आगे बढ़ रहे हैं उसमें वर्तमान समाजकी विषमताजन्य दैन्य या अमानवीय लक्षणोंका ह्रास होगा और व्यक्ति अपनेको समाजके बड़े कुटुम्ब का सदस्य समझ सकेगा। समाजको व्यक्तिके हितोंका संरक्षण करना है अतः पुराने बन्धन समाप्त होनेपर पुरानी क्षुद्र वृत्तियाँ भी नष्ट हो सकेंगी। आचार और व्यवहार में सम्यक ज्ञान, सम्यक् विवेक और सम्यक् चरित्रके आधारपर नवीन भ्रातृत्व भावना का उदय होगा।

आहार और विहारके सम्बन्धमें समाजकी वर्तमान मान्यताओंपर एक ओर अतीत की धार्मिक भावनाओंका प्रभाव है और दूसरी ओर नवीन ज्ञानका। दोनोंने वर्तमान मनुष्यको किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया है। पुरानी मान्यताओंमें प्रत्येक धर्ममें खानपान पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे। प्रतिबन्ध लगानेके कारण की खोजका प्रयत्न तो इस लेख में नहीं किया जा सकता फिरभी भौगोलिक कारणोंके अतिरिक्त धार्मिक मूढ़ाग्रहोंके कारण भी बहुत-सी मान्यताएँ स्थिर की गई थीं। आधुनिक शोधोंमें खानपानकी सीमायें—अमुक वस्तु खाओ और अमुक न खाओ यह माननेके लिए कोई सबल तर्क नहीं है। कहीं मांस खाया जाता है और अंडा नहीं खाया जाता। कहीं अंडा खाया जाता है मांस नहीं खाया जाता। कहीं मछली खायी जा सकती है और मांस तथा अंडा नहीं खाया जा सकता। कहीं हंसेर डिम्ब (बत्तखका अंडा) खाया जा सकता और मुर्गीका अंडा नहीं खाया जा सकता। इन बातोंके संबंधमें कोई आन्दोलन तो नहीं हुआ लेकिन पुराने प्रतिबन्ध शिथिल होते जा रहे हैं। पहले ये प्रतिबन्ध होटलों और रेस्ट्राओंमें टूट रहे हैं फिर छिपे रूपसे घरोंमें टूटेंगे और कुछ पीढ़ियों बाद शायद आसानी से टूट जायेंगे।

विहारके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक हो गया है! हमारे देशमें ब्रह्मचर्यपर अतिशय ज़ोर दिया जाता रहा है, लेकिन फिर भी सृष्टिसर्जनमें भारत संसारके अन्य देशों से आगे है। ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विश्वासका आधार शरीर विज्ञान सम्बन्धी वह ज्ञान है जो हजारों वर्षों पुराना है। शरीर-विज्ञानने काफी प्रगति की है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि बालक या बालिका जब युवा होती है, तो उसमें कामेच्छा उत्पन्न होती है, कामेच्छा पुरुष और स्त्रीकी वयस्कताका लक्षण है। वयस्क होते समय जिस प्रकार स्त्री रजस्वला होती है उसी प्रकार युवकका भी वीर्य पात होता है। हमारे देशमें काम-संबंधी बात करना पाप समझा जाने लगा है और युवक और युवतीको जब रज या वीर्य

पात होता है तो वह घबड़ा उठती है और वह समझती है कि न मालूम किन पापोंका उदय हुआ। काम या यौन संबंधी ज्ञान किसीको नहीं बताया जाता और उल्टे उसमें पाप की भावना दृढ़ कर दी जाती है। इसकी अपेक्षा आवश्यकता इस बातकी है कि हम युवक और युवतियोंको शरीर-विज्ञानकी मोटी-मोटी बातें उनके युवा होनेके पूर्व ही बतला दें। यौन और कामके सम्बन्धमें भी आवश्यक बातें स्वास्थ्य और सफाईके नियमोंके अनुसार बतला दें। इससे दो लाभ होंगे एक तो युवकों और युवतियोंमें पाप-वृत्ति उत्पन्न नहीं होगी और दूसरे वे इस प्रकारके सम्बन्धोंके लिए कुसंगतिमें नहीं पड़ेंगे। वर्तमान चिकित्सकोंके मतानुसार युवक और युवतीके वयस्क होनेपर रज-दर्शन होने या स्वप्नदोष अथवा किसी अन्य प्रकारसे वीर्यपात हो जानेमें खतरेकी कोई बात नहीं है। कुछ डाक्टरोंका तो कहना हं कि वीर्यपातसे उतना ही नुकसान होता है जितना थूक थूकनेसे होता है। यह सब कहनेके साथ ही कुसंगतिमें न पड़नेकी चेतावनी दे देना आवश्यक है। इस सम्बन्धमें यह समझ लेना चाहिये कि युवक और युवतियों को कुसंगतिमें डालनेकी जिम्मेदारी बहुत कुछ अंशमें माता-पिताकी होती है। वे अपनी निर्लज्जता छिपा नहीं पाते और लड़कोंपर उसका बुरा असर पड़ता है। फिर कुछ ऐसे पुरुष या स्त्रियाँ, जो स्वयं कुसंगतिका शिकार हो चुकते हैं, उन्हें भी कुसंगतिमें घसीटते हैं। इन सबसे बचनेका एक ही तरीका है कि युवक-युवतियोंको यौन अथवा काम संबंधी बातें बतला दी जायँ। अज्ञान-मूलक ब्रह्मचर्यकी भावनासे स्वास्थ्य-रक्षा होने की अपेक्षा पाप-वृत्ति ही अधिक बढ़ती है। पाप-वृत्तिका एक ही लक्षण है। वह है उसको गुप्त रूपसे करना।

विहारका हमें संकुचित अर्थ नहीं लेना चाहिये। युवक और युवतियोंके मिलने पर जो प्रतिबन्ध हमारे यहाँ थे, उनके पीछे भी असमानताकी ही भावना है। ब्रह्मचर्य के पालनकी बात तो दूर रही, यहाँ तो संयमका निर्वाह भी नहीं होता और छोटी आयुमें ही सन्तानोत्पत्ति आरम्भ हो जाती है। नवीन परिस्थितिमें युवक और युवतियोंके मिलने पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। इस प्रतिबन्धके कारण एक ओर आधी आबादीको पंगु बना दिया जाता है और दूसरी ओर उसे केवल सन्तानोत्पत्तिकी मशीनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं बनने दिया जाता। नवीन समाजमें पुरुष और स्त्री दोनोंको समाजका सहभागीदार बनना है। स्त्रीको जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पुरुषसे होड़ लेनी है। मेहनत और उत्पादनके कार्यमें उसे घरसे बाहर निकलना है। अत: उसे प्रतिबन्धोंसे बाँधना उचित नहीं है। युवक और युवतियोंमें परस्पर आकर्षण होना स्वाभाविक है। दोनोंमें मित्रता होना भी वैसा ही स्वाभाविक है। जहाँ कहीं युवक और युवती मिलें, वहीं यह आरोप करना कि वे दोनों कुसंगतिमें पड़ गये हैं, मिथ्या और आधारहीन है। फिर वयस्क युवक-युवतियोंके मेलके बाद यदि उनमें दाम्पत्य सम्बन्ध विकसित हों, तो इससे घबरानेसे काम नहीं चलेगा। अतीतके स्वयंवरोंकी कहानियाँ हमें अच्छी लगती हैं लेकिन अपनी आँखके सामने हम इसे बुरा समझते हैं। सामाजिकताके नामपर हम १४ वर्षकी युवतीको ६० वर्षीय वृद्धसे व्याहनेमें संकोच नहीं करते, विधवा-विवाहको बुरा कहते हैं और विधवाको आत्मनिर्भर बननेका अवसर न देकर उसे पापाचरणमें प्रवृत्त करने को तत्पर हो जाते हैं। ऐसी निष्ठा और विश्वास चूल्हा जलानेके काममें ही लाया जा

सकता है। इस विषमताके बीच नवीन सामाजिकताकी नवीन रश्मियाँ फूट रही हैं। अभी हालमें अहमदाबादमें एक युवक और युवतीपर एक पार्कमें चुम्बन लेने के अपराधमें निर्लज्जताका मुकदमा चला। मजिस्ट्रेटने उनपर जुर्माना किया। सेशन अदालतने उन्हें छोड़ दिया और बम्बई हाईकोर्टमें अपील हुई तो माननीय न्यायाधीश ने कहा कि सार्वजनिक स्थानमें चुम्बन लेना अपराध नहीं है क्योंकि सामाजिक चेतनाका आधार बदल चुका है। माता सार्वजनिक स्थानपर अपनी संतानका चुम्बन लेती है। बिदाईके समय स्टेशनपर पिता अपनी पुत्रीका चुम्बन लेता है। फिर चुम्बन लेना मात्र अपराध नहीं समझा जाता। इस प्रकारके अनेक उदाहरण आगे और मिलेंगे।

नवीन सामाजिक चेतनाकी हवामें युवक और युवतियाँ सजग मनसे एक दूसरेका वरण करेंगी तो उससे जो दाम्पत्य जीवन आरम्भ होगा, उसमें दोनोंके व्यक्तित्वका विकास होगा और सच्चे अर्थमें एक-पति या एक-पत्नी भाव विकसित होगा। फिर औरत पैर की जूती नहीं समझी जाएगी; वह वास्तवमें घरकी लक्ष्मीका आसन ग्रहण करेगी। व्यक्ति-स्वातंत्र्यसे दोनों—पति और पत्नी—में स्नेह-बंधन दृढ़ होंगे और वे दोनों एक-दूसरेका सम्मान कर सकेंगे। जहाँ यह स्पष्ट हो जायेगा कि दो व्यक्तियोंमें सामंजस्यके स्थान पर वैषम्य ही अधिक है, वहाँ निरन्तर एक-दूसरेकी छातीका पीपल बननेके बजाय, वे अलग हो जायेंगे और इस प्रकार के अलगावको कोई हीन दृष्टिसे नहीं देख सकेगा।

सामाजिकताके नये मूल्योंका उदय नवीन समाजकी आवश्यकताओं, परिसीमाओं और आकांक्षाओंके त्रिविध-संतुलनसे ही हो सकेगा। इस संतुलनको किसी शोधशालामें बैठ कर निश्चित नहीं किया जा सकता। इसके लिए तो समाजमें प्रत्येक व्यक्तिको सम्यक ज्ञान, सम्यक विवेक और सम्यक् चरित्रका अनुसरण करना चाहिये। प्रत्येक सामाजिक समस्याके निदानके लिए वर्तमान ज्ञान और उसके प्रयोगको आधार मानना चाहिये और साथ ही व्यक्ति-स्वार्थकी सीमाओंको छोड़कर उनका निराकरण करना चाहिए। इस प्रकारके आचरणको सम्यक् प्रज्ञापूर्ण या स्थितप्रज्ञ आचरण कहा जा सकता है। सामाजिकताके नये मूल्यों, नीति-अनीतिकी नयी मान्यताओंके निर्धारण के पूर्व समाजमें सामाजिकताकी शिक्षा के प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। इस प्रकारके सम्यक् ज्ञानसे सम्यक् विवेक और सम्यक् विवेकसे सम्यक् चरित्र विकसित होगा और सम्यक् चरित्रके नियमोंको समाजकी नवीन मान्यतायें कहा जा सकेगा।

—:०:—

समाजको बदल डालो !

"समाज परिवर्तनशील है। उसमें नित्य नयी बातें होना आवश्यक है। पुरानी बातें अनुपयोगी हो जाती हैं। उनका असली मतलब हम भूल जाते हैं या उनका स्वरूप बदल जाता है। उनका ठाट तो बना रहता है परन्तु प्राण निकल जाता है। जो रीतियाँ या प्रथाएँ अनावश्यक हैं, उन्हें दूर करना ही होगा।"

—प्लेटो

"रूढ़िका विनाश ही नीति और सदाचारका प्रथम सोपान है।"

—कान्त

"न केवल सदियोंका ज्ञान, बल्कि सदियोंका पागलपन भी हममें फूट निकलता है; वारिस होना खतरनाक है।"

—नीत्से

"अज्ञान और अन्ध-विश्वासकी कट्टरता युग-युगसे मानव-जातिको बीमार करती आ रही है।"

—वाल्टेयर

"ऐसा एक भी शास्त्र नहीं है, जिसको सदियों तक माननेके पश्चात् मानव-जातिने उससे अच्छे किसी दूसरे शास्त्रकी खोज और प्रचारमें भुला नहीं दिया हो और आज मानव-जाति अपने इस स्वभावको बदल देगी, यह माननेका कोई कारण नहीं दिखाई देता।.... मानव-जातिको प्रगतिकी ओर लेजानेवाले सब बड़े-बड़े सिद्धान्त आरम्भमें मानव-जातिके प्रचलित विश्वासोंके प्रतिकूल ही थे और ऐसे व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित किए गए थे जिनको तत्कालीन समाजने अपमानित किया, सताया और फाँसी तक पर चढ़ाया है।"

—जोसेफ मैज़िनी

"परम्परासे चली आनेवाली निर्जीव रूढ़ियाँ—मुर्दा बातें—किसी सजीव विश्वास का थोड़ा-सा भी धक्का लगनेसे चूर-चूर हो जायँगी। वे उसे बरदाश्त न कर सकेंगी। नई और जिन्दा बातोंके चक्केको पुरानी मुर्दा बातें किस तरह बरदाश्त कर सकती हैं?"

—जॉन स्टुअर्ट मिल

"गुजरे वक्तपर गुजरे वक्तकी तह अपने आप बराबर जमती रहती है।"

—बर्गसन

"जो इस समय नये काम कर रहे हैं, उन्होंने धीरे-धीरे टटोलते हुए वर्तमान नीति निश्चित की है। हमसे पहलेके लोग अपने समयके लोकमतका अनुकरण करते थे, किन्तु आजकल की ज्योतिमें वे बातें मन्द पड़ गयी हैं। हमने उन बातोंको कृत्रिम समझा और उन्हें छोड़ दिया। यह हमारे पूर्वजोंपर आक्षेप नहीं है।....जो काम वे अधूरा छोड़ गए हैं, हमें उसे हाथमें लेकर पूरा करना चाहिए।.... इस समय जो गड़े मुर्दे उखाड़ रहे हैं, वे शीघ्र नष्ट होंगे, और उनका स्थान लेने कोई दूसरा आयेगा।"

—स्टेरेन्स मेक्स्विनी

"और निस्संदेह वह वक्त आयेगा, जब हम अपने मस्तिष्क और शरीरको इस रोगी-खानेसे, जहाँ हमने अपनेको कारागारमें डाल रखा है और खुद ही जेलके दरोगा बन बैठे हैं, मुक्ति प्रदान करेंगे।"

—एडवर्ड कारपेन्टर

"जो वास्तविक सत्य है, उसकी प्रतिष्ठा और स्थापना तभी होगी, जब विचार स्वतन्त्र और निर्बन्ध होंगे।"

—टामस पेन

"सनातन सत्य जैसी कोई वस्तु नहीं होती। प्रत्येक दर्शन या तत्वज्ञान सिर्फ अपने युगके भाव और विचारोंकी व्याख्या होता है। किन्हीं भी दो कालों या युगोंका तत्व-ज्ञान समान नहीं होता। जो अन्तर होता है, वह अमर और नाशवान सिद्धान्तोंके बीच नहीं होता बल्कि जो सिद्धान्त अपने कालमें मनुष्यके जीवनमें उतरे और जो कभी नहीं उतरे, उनके बीचका फर्क है। अतएव मेरे निकट किसी भी विचारकके तत्वज्ञानकी कसौटी यह है कि उसने अपने कालकी समस्याओं और तथ्योंकी कितनी व्याख्या की है। जो विचारक अपने युगकी वास्तविक समस्याओंको समझकर उनका हल नहीं बता सकता, वह महान हो ही नहीं सकता। जो सिद्धान्त अपने युगकी समस्याओंके निराकरणमें मदद नहीं देता, वह नितान्त फिजूल है और ऐसे सिद्धान्तके रहनेकी कल अगर कोई सम्भावना थी, तो आज बिलकुल नहीं रही।"

ऑसवाल्ड स्पेंगलर

"संघर्ष करो! संघर्षके मानी जिन्दगी है और जितना ही घोर संघर्ष होगा, उतना ही जीवन परिपूर्ण तथा गम्भीर बनेगा। तब तुम दरअसल जिन्दा बनोगे और इस तरहकी जिन्दगीके चन्द घण्टे घास-फूसकी तरह वर्षोंके जीवनसे ज्यादा गौरवयुक्त है।

संघर्ष करो! ताकि सारी दुनिया उभरता हुआ और भरापूरा जीवन बिता सके। विश्वास रखो कि इस संघर्षमें तुम्हें वह आनन्द मिलेगा, जो और कोई चीज नहीं दे सकती।"

—क्रोपाटकिन

"सामाजिक जीवनके आदर्श, जिनके ऊपर मनुष्योंके सारे काम-काज होते हैं, बदलते रहते हैं और उन्हींके साथ-साथ मानव-जीवनका व्यवस्था-क्रम भी बदलता रहता है।"

—टाल्सटाय

"दार्शनिकोंने दुनियाकी व्याख्या की है; जरूरत इसको बदलनेकी है।

—कार्ल मार्क्स

"आदमीकी सबसे ज्यादा प्यारी दौलत जिन्दगी है, और चूंकि आदमीको जिन्दगी सिर्फ एक बार ही मिलती है, इसलिए उसको यह जिन्दगी इस ढंगसे बितानी चाहिए कि उसको ओछेपन और बुजदिलीसे भरे हुए गुजरे जमानेकी शर्मकी तपन न हो, उसे इस तरह रहना चाहिए कि मरते वक्त कह सके—मैंने अपनी सारी ताक़त, अपनी सारी जिन्दगी दुनियाके सबसे बड़े आदर्श—मानव-जातिकी आजादीके लिए न्योछावर करदी।"

—लेनिन

"संस्कृतिका पौधा बेहद नाज़ुक होता है। अनेक यत्नों और सावधानियोंके बाद ही वह किसी समाजमें फ़लता-फलता है। उसके लिए व्यक्तिका अभिमान, राष्ट्रका अभिमान और कौम का अभिमान सबोंको तिलाञ्जलि देनी पड़ती है। मानव-जाति जिस दिन संस्कृतिके महत्व को समझेगी, उसी दिन वह अपनी आत्माके साथ साक्षात्कार करने के योग्य हो सकेगी। संस्कृति न तो भौगोलिक सीमा-बन्धनोंको महत्व देती है, न राजनीतिको ही। संस्कृतितो अखिल मानवताकी सम्मिलित पूँजी है!"

"पुराने जमानेमें समाजका उपयोगी सदस्य बननेके लिए व्यक्तिको केवल आत्माभिमान ही छोड़ना पड़ता था किन्तु आज उसे वर्ग और राष्ट्रका अभिमान भी छोड़ना पड़ेगा। इन थोथे अभिमानोंको दूर करके ही मानव-संस्कृतिकी ठोस बुनियादें डाली जा सकती हैं और तभी मानवताको उन्नत बनाया जा सकता है। तभी उसका कल्याण हो सकता है।"

—आईंस्टीन

"बढ़े चलो!
पुरानी दुनियाके गुजरे हुए ख्यालके आदर्शोंको छोड़कर बढ़े चलो।
रुको मत, मुड़ो मत
अतीतकी मरी हुई आवाजोंको सुननेके लिए थमो मत।
बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

—रोमाँरोलाँ

"आज जो घटनाएँ हो रही हैं, उनसे मुड़कर हम पीछेकी ओर नहीं देख सकते। जो लोग ऐसे अवसरोंपर भूतकालीन अनुभवका आधार ढूँढ़ते हैं, वे यह नहीं जानते कि भूतकालके अनुभवने ही तो इस स्थितिको उत्पन्न किया है। उनको नये विचारोंका डर

लगने लगता है; परिवर्तन उनको न केवल अवांछनीय ही, बल्कि अनावश्यक भी लगते हैं। पूर्वजोंकी तरह वे यह धारणा बनाये रखते हैं कि हमारा सामाजिक विधान शाश्वत काल के लिए है। वे समाजके ऊपरी ढाँचेमें तो फिर भी परिवर्तन स्वीकार कर लेते हैं पर बुनियादी परिवर्तनोंको हमेशा आशंकाकी दृष्टिसे देखा करते हैं।"

—हैरालड जे० लास्की

"आज विचारकी महत्ता ही स्वीकार करनी होगी, जिसकी अग्निमें युगोंसे बटोरा हुआ कूड़ा जल जायगा। इसलिये आज युगानुकूल नये धर्मके लिए बहुत कुछ संहारका काम पड़ा है। संहार और विनाशके बाद ही नयी जीवन-संस्कृतिका विकास होगा।"

—बरट्रेन्ड रसल

"जब आजके शासन-तंत्र, जीवनके विचार, धर्म और राजनीतिक विचारधाराओं की प्रतिष्ठा मिट जायगी, तभी संसारमें नव-निर्माणका कार्य शुरू होगा। और इस निर्माणका कार्य वे ही कर सकेंगे, जिनमें नई दृष्टि और नई शक्ति एवं साधना होगी।"

—एच० जी० वेल्स

"जब हम लाखों पौंड खर्च करके और अथाह परिश्रम द्वारा किसी नये युद्ध-पोत अथवा दूसरे प्रकारके शस्त्रास्त्रोंका निर्माण करते हैं और जब उसमें कोई भूल रह जाती है तो हम क्या करते हैं? बिना जरा भी समय गँवाए उसको तोड़कर नया बनाते हैं। उसी तरह आज हमने धर्म और सदाचार और न मालूम दूसरे क्या-क्या नाम देकर जो कुछ गढ़ रखा है, वह जीवनके तथ्योंसे विपरीत है, परिस्थितियोंके जरा भी अनुकूल नहीं है। इन सबको तोड़ डालिये—तोड़ डालिये और नयेका निर्माण कीजिए। आजकी दुनियामें यही खराबी है कि वह अपने पुराने इंजिनों—डायनेमोंको तोड़नेको तैयार है, लेकिन जो धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक विचार आजकी परिस्थितियोंकी दृष्टिसे बेमतलब हैं, उन्हें तोड़ने और बदलनेको तैयार नहीं।"

—बर्नार्ड शा

"जो सभ्यता अपने सवाल हल हो जानेपर सुस्त बन जाती है, और नई परिस्थितिका मुकाबला नये ढंगसे नहीं करती, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं।

हमारा अपना युग भयंकर हो गया। इसका एक बड़ा कारण यह है कि हमें अपने राष्ट्र, अपने झंडे और अपने इतिहासकी पूजा करना सिखाया गया है....जब हम अपने भूतकालकी पूजा करने लगते हैं, तब मानों हम असफलताको न्योता देते हैं।"

—आर्नोल्ड टायन्बी

"इतिहास आज पहलेके किसी भी युगकी अपेक्षा अधिक तेज गतिसे बदल और बन रहा है। अगर हम भी इतनी ही गतिसे परिवर्तनशील हो जायेंतो हम इतिहासके निर्माण में योगदान करनेका गौरव पा सकते हैं। जो परिवर्तन और क्रांति अवश्यंभावी है, उसे कोई रोक नहीं सकता; उसमें जितना विलम्ब करनेकी कोशिश की जायगी, उतनी ही दुनियामें हिंसा और रक्तपातकी वृद्धि होगी।"

—जूलियन हक्सले

"किसी धर्मको इसलिए अंगीकार मत करो कि वह सबसे प्राचीन है। इसका सबसे प्राचीन होना इसके सच्चे होनेका कोई प्रमाण नहीं है। कभी-कभी पुरानेसे पुराने घरोंका गिराना उचित होता है और पुराने वस्त्र अवश्य बदलने पड़ते हैं।

यदि आप नई रोशनीको ग्रहण करनेको राजी और तैयार नहीं हैं, तो जाओ पितृ लोकमें पूर्व-पुरुषोंके साथ निवास करो। यहाँ ठहरनेका कौन काम है?

अपनी स्वतन्त्रताको बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और कृष्णके हाथ न बेच डालो।"

—स्वामी रामतीर्थ

"आनेवाले समाजकी नव-रचनामें जो धर्म संकुचित रहेगा और बुद्धिकी कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा, वह टिक न सकेगा क्योंकि उस नव-निर्माणमें हरेक चीजका मूल्य नये ढंगसे ही कूता जायगा।

कोई भी सुधार तब ही हुआ है, जब साहसी व्यक्तियोंने समाजमें प्रचलित अमानवीय प्रथाएँ और रस्में स्वयं ही तोड़ डाली हैं।"

—महात्मा गांधी

हमारी समस्याका समाधान कहाँसे आयेगा? मनके परिवर्तनसे—युगके परिवर्तनसे। जिस तरह यूरोप सत्यकी साधना और ज्ञानकी व्याप्तिके द्वारा मध्य युगके भीतरसे गुजर कर आधुनिक युग तक आ पहुँचा है, उसी तरह हमको भी अपने संकीर्ण दायरोंसे निकलकर बाहर की ओर यात्रा करनी होगी, धर्मको कब्रकी तरह चुनकर समूची जाति को हमेशाके लिए भूतकालके भीतर दफना देनेसे उन्नतिके पथपर चलना असम्भव है। हमारी मानसिक प्रकृतिके भीतर जो अवरोध क्रमशः दृढ़ हो गया है, उसे संपूर्णतया मिटाए बिना हम किसी प्रकारकी कोई स्वाधीनता उपलब्ध नहीं कर सकेंगे। शिक्षाके द्वारा, साधनाके द्वारा हमें यही बुनियादी परिवर्तन लाना होगा।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"दुनियाके दूसरे राष्ट्रोंसे हमारी अलहदगी अधःपतनका कारण है और उसका इलाज सिर्फ यही है कि हम फिरसे बाकी दुनियाकी धारामें शामिल हो जायँ। गतिशीलता जीवनका चिन्ह है।"

—विवेकानन्द

"इस समूचे बीहड़के बीच विश्वासकी आँखें देख पा रही हैं कि एक अनगढ़ लेकिन विपुलाकार परिवर्तनका श्रीगणेश हो गया है। मनीषा और ज्ञान—अभी न सही सौन्दर्य, की वाणी अब सुनी जाने लगी है और तेजीके साथ किसी विस्तृत, धुंधली लेकिन अन्तमें कार्यकरी संकल्प शक्तिको भी अपने उद्देश्य-साधनके लिए उत्पन्न करनेमें समर्थ होने लगी है।"

"अगर उपनिषदों या बुद्धके जमानेका या बादके संस्कृति-युगका कोई पुराना हिन्दुस्तानी आज के हिन्दुस्तानमें ला बिठाया जाय, तो वह देखेगा कि उसकी जाति पुराने वक्त

के बाहरी रूपों, छिलकों और चिथड़ोंसे चिपटी हुई है, और उसके ऊँचे मतलबके दस हिस्सों में से नौ को खो बैठी है। उसे अचरज होगा कि यहाँ इतना दिमागी लचरपन, इतनी जड़ता है, बातोंका दोहराते रहना है, जो हमें आगे नहीं बढ़ाता। विज्ञानका खात्मा हो गया है; कला बहुत दिनोंसे बाँझ हो रही है और रचनात्मक बुद्धि कितनी कमजोर हो गई है।"

—श्री अरविन्द

"शांति, शांति, शाति सुनते-सुनते कान बहरे हो गये। परन्तु इस असत्य का कौन लोग प्रचार करते हैं, जानते हो? इस मिथ्या मंत्रके ऋषि वही हैं, जो दूसरोंकी शांति लूटकर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ और प्रासाद बनाकर रास्ता रोके बैठे हैं। बँधी हुई गाय भूखे मरते देखी है? वह खड़ी-खड़ी मर जाती है मगर उस पुरानी कमजोर रस्सीको तोड़कर मालिककी शांति नष्ट नहीं करती? यही तो हुआ है। इसीसे तो दीन-दरिद्रोंके चलनेका रास्ता एक दम बन्द हो गया है। फिर भी उन्हींकी अट्टालिकाओं और प्रासादोंको तोड़नेके काममें अगर हम भी उन्हींके साथ स्वर मिलाकर अशान्ति, अशान्ति कहकर रोने लगें, तो रास्ता नहीं मिलेगा? नहीं, यह नहीं हो सकता। वह संस्था चाहे जितनी प्राचीन हो चाहे जितनी पवित्र हो, चाहे जितनी भी सनातन हो, मनुष्यसे बड़ी नहीं हो सकती। आज हमें उसे तोड़ ही डालना होगा। धूल तो उड़ेगी ही, बालू-चूना तो झरेगा ही, ईंट-पत्थर तो खिसक-खिसककर आदमीके सिरपर गिरेंगे ही, यह तो स्वाभाविक है।"

—शरत् चन्द्र चटर्जी

"संसारमें ऐसी कोई रचना हो ही नहीं सकती, जिसमें कोई क्रांतिकारी संशोधन करना ही न पड़े, जो कभी क्षीण या जीर्ण ही न हो या जिसमें कोई अशुभ तत्व न हो। नव दर्शन हो जाने पर प्राचीन दर्शनको और उसपर खड़ी हुई धर्म-रचनाको पकड़े रहने में दोष है। उस नये दर्शनमें भी दोष तो होंगे ही; फिर भी नये युगमें वही काम दे सकेगा, पुराना नहीं। उस नयेमें पुरानेका समूचा स्वरूप नष्ट नहीं हो सकता; परन्तु उसमें पुराना उसी हद तक रह सकता है, जिस हद तक नये दर्शन और विवेचनने उसे स्वीकार किया होता है, अथवा अस्वीकार नहीं किया होता। वर्तमान धर्म-सम्प्रदायोंके स्थानपर अपने ही सत्यके बलको प्रमाण मानकर उसके आधारपर नये धर्मका निर्माण हुए बिना मुझे नहीं लगता कि शुभकी ओर हमारी कोई प्रगति हो सकेगी।"

—किशोरलाल घ० मशरूवाला

"देश-काल-भेदसे आचार-विचार बदलते रहते हैं। समाजको गति देनेवाला मूल तत्व यह है कि आर्थिक संगठनके बदलनेसे सामाजिक सम्बन्ध बदलते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि नवीन उद्देश्य और आकांक्षाओंका जन्म होता है। इनकी पूर्त्तिके लिए जीवनके नये मूल्योंको स्वीकार करना पड़ता है।"

—आचार्य नरेन्द्र देव

LIBRARY

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. 121792

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.